ओ३म्

भूमिका भास्कर

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

11.2

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

28-5-94

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिकाभास्कर

(भाग २)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी जी की अन्य रचनाएँ—

१. वेदमीमांसा
२. ईशोपनिषद् रहस्य अथवा अध्यात्म मीमांसा
३. त्यागवाद
४. अनादि तत्त्व दर्शन
५. तत्त्वमसि
६. प्रस्थानत्रयी और अद्वैत वेदान्त
७. द्वैतसिद्धि
८. आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता
९. आर्यों का आदिदेश—देश की सभी भाषाओं में
१०. चत्वारो वै वेदाः
११. सृष्टिविज्ञान और विकासवाद
१२. स्वराज्य दर्शन
१३. राजधर्म
१४. खट्टी-मीठी यादें

1. Vedic Concept of God
2. The Brahmasutra—a new approach
3. Theory of Reality
4. Anatomy of Vedanta
5. The Age of Shankara
6. Original Home of the Aryans
7. Political Science

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओ३म्

भूमिकाभास्कर

महर्षि दयानन्द विरचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का विस्तृत भाष्य

(द्वितीय भाग)

भाष्यकार
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

संख्या 1220
दिनांक 23.5.94
लालबाग, फैजाबाद उ० प्र०

इण्टरनेशनल आर्यन फ़ाउण्डेशन, बम्बई

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक :
इण्टरनेशनल आर्यन फ़ाउण्डेशन
३०२, कैप्टन विल्ला मौंट मेरी रोड,
बांदरा बम्बई-४०००५०

© सर्वाधिकार लेखकाधीन

संस्करण : प्रथम, १९८९

मूल्य दोनों भाग : तीन सौ रुपये

मुद्रक :
पृ० ६०० से १०४८ तक सैनी प्रिंटर्स, पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६
पृ० १ से ४ तथा १०४९ से १०९७ तक दुर्गा मुद्रणालय, सुभाषपार्क एक्सटेंशन,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां
परमविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां
पादाम्बुजेभ्यः प्रविनतशिरसा
श्रद्धया च
समर्पितम् ।

—विद्यानन्द सरस्वती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशकीय वक्तव्य

महर्षि दयानन्द ने परोपकारिणी सभा की स्थापना अपने अधूरे कार्यों को पूरा करने के लिए की थी। उनमें एक काम उनके ग्रन्थों का व्याख्यान करना-कराना था, परन्तु सौ वर्ष बीत जाने पर भी उक्त सभा ने इस दिशा में कुछ नहीं किया। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पठन-पाठन का प्रचलन एक शताब्दी पुराना है, परन्तु महर्षि के प्रस्थानत्रयी (वृद्धत्रयी)—सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा संस्कारविधि—में इस अत्यधिक महत्त्वपूर्ण, कालजयी तथा वेदविद्या के आकर ग्रन्थ पर विस्तृत व्याख्या या भाष्य लिखने का कोई सार्थक प्रयास आज तक नहीं हुआ था। महर्षि की निर्वाण शताब्दी पर पूज्य स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती का ध्यान इस ओर गया और इस अवसर पर उन्होंने महर्षि के प्रति अपनी श्रद्धांजलि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के भाष्य के रूप में भेंट करने का संकल्प किया। उस संकल्प की परिणति 'भूमिकाभास्कर' के रूप में हुई। प्राचीन आचार्यों की शैली में लिखा गया १२०० पृष्ठों का बृहदाकार यह ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का विवेचना-मूलक अधिकृत भाष्य है जो स्वामीजी की निरन्तर तीन वर्ष की अनवरत कठोर साधना का परिणाम है।

स्वामी विद्यानन्द जी महाराज वैदिक वाङ्मय के मूर्धन्य विद्वान् हैं। 'वेदमीमांसा' के नाम से स्वामीजी का वेद-विषयक एक अन्यतम ग्रन्थ कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था जिसे पढ़कर संस्कृतविद्या के केन्द्र के नाम से प्रतिष्ठित काशी की पण्डितसभा के अध्यक्ष महामहोपाध्याय श्री श्रीगोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी ने लिखा था—"यह ग्रन्थ लिखकर स्वामी विद्यानन्दजी ने भारत पर बड़ा ही उपकार किया है। इस ग्रन्थरत्न से वेद के पढ़ने के लिए अन्धों को भी आँख मिल जाती है। मैं चाहता हूँ कि इसकी एक प्रति (वेदार्थपारिजात के लेखक) हमारे मान्य सनातनी विद्वान् करपात्रीजी को अवश्य भेजी जाए।"

स्वामी विद्यानन्दजी की लेखनी से निःसृत यह अनूठा ग्रन्थ उनके गम्भीर तथा व्यापक अध्ययन का परिणाम है। निश्चय ही इस भाष्य से मूल ग्रन्थ की अनेक गुत्थियाँ सुलझी है। अनेक दुरूह स्थलों का स्पष्टीकरण हुआ है। मूल में उद्धृत वेदमन्त्रों की विस्तृत व्याख्या करने में स्वामीजी का परिश्रम स्पष्ट दीख पड़ता है। सामान्य पाठक को इससे मन्त्रगत अभिप्राय को जानने में सुविधा होगी।

अवतरणिका को पढ़कर वैदिक वाङ्मय के उद्भट विद्वान् महामहोपाध्याय पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने तत्काल स्वामीजी से कहा कि इसे अलग से पुस्तकरूप में प्रकाशित कराएँ जिससे १२०० पृष्ठ का सम्पूर्ण ग्रन्थ न पढ़ सकनेवाले लोग भी उससे लाभ उठा सकें और वेद के सम्बन्ध में आधारभूत सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर सकें। श्रद्धेय मीमांसकजी ने यह भी निर्देश दिया कि शीघ्र ही इसे संस्कृत तथा इंगलिश में भी प्रकाशित किया जाय जिससे दाक्षिणात्य तथा पाश्चात्य विद्वान् भी वेद के वास्तविक स्वरूप को जान सकें और उनकी वेदविषयक भ्रान्तियों का निवारण हो सके।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को प्रकाशित करने का सौभाग्य इण्टरनेशनल आर्यन फ़ाउण्डेशन को प्राप्त हुआ है। इसके प्रकाशन के लिए अधिकांश धनराशि भी स्वामीजी की प्रेरणा से प्राप्त हुई है। पहला भाग दो वर्ष पूर्व प्रकाशित हो गया था। दूसरा भाग दुर्भाग्यवश श्री चन्द्रमोहन शास्त्री के सैनी प्रिन्टर्स में छपने दे दिया गया। इस कारण इसके प्रकाशन में दो वर्ष लग गये और जैसा चाहिए था वैसा छप भी नहीं सका। इसका हमें खेद है। हम विवश थे, तथापि इस कारण पाठकों को हुई असुविधा के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। यह दूसरा भाग पाठकों की सेवा में समर्पित है।

स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का अनेकशः धन्यवाद करते हुए हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि 'शतं जीव शरदः वर्धमानः', जिससे वे चिरकाल तक अपनी सशक्त लेखनी से इस प्रकार का उच्चकोटि का साहित्य प्रदान करते रहें।

देवेन्द्रकुमार कपूर
अध्यक्ष
इण्टरनेशनल आर्यन फ़ाउण्डेशन, बम्बई

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

अथ विवाह विषयः संक्षेपतः ६०१
अथ नियोग विषयः संक्षेपतः ६०८
अथ राज प्रजा धर्म विषयः संक्षेपतः ६२३
अथ वर्णाश्रम विषयः संक्षेपतः ६५७
अथ पञ्चमहायज्ञ विषयः संक्षेपतः ६८६
ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषयः ७२१
अथाधिकारानधिकार विषयः संक्षेपतः ७८८
अथ पठनपाठन विषयः संक्षेपतः ८००
अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादि विषयः ८१०
अथ प्रतिज्ञा विषयः संक्षेपतः ८५२
अथ प्रश्नोत्तर विपयः संक्षेपतः ८६०
अथ वैदिक प्रयोग विषयः संक्षेपतः ८९०
अथ स्वरव्यवस्था विषयः संक्षेपतः ९००
अथ व्याकरणनियम विषयः ९०७
अथालंकार विषयः संक्षेपतः ९४२
अथ ग्रन्थ संकेत विषयः ९४६

परिशिष्ट—१

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का मैक्समूलर पर प्रभाव ९५१

परिशिष्ट—२

ऋग्वेदः ९६२
वेद भाष्य-सम्बन्धी पत्र ९८१
ऋषि दयानन्द का पत्र ९८७
भ्रान्ति-निवारण ९९०
भ्रमोच्छेदन १०२३
अनुभ्रमोच्छेदन १०४०
उर्दू ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की भूमिका १०५१
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का इतिहास १०५६
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची १०६२
प्रमाण-सूची १०६८
विषय निर्देशिका १०९०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ विवाहविषयः संक्षेपतः

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्य्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ १ ॥

विवाह का अपर नाम पाणिग्रहण है, क्योंकि वैदिक विवाह संस्कार की मुख्य विधि पाणिग्रहण से प्रारम्भ होती है। सामान्य हवन-विधि के सम्पन्न होने पर वर अपने आसन से उठ, पूर्वाभिमुख बैठी कन्या के सम्मुख खड़ा होकर अपने हाथ में उसका हाथ लेता है और मन्त्रोच्चारण करके कुछ प्रतिज्ञाएँ करता है। वर द्वारा वधू का हाथ पकड़ने की विधि किसी-न-किसी रूप में प्रायः सर्वत्र प्रचलित है। पारसियों में भी विवाह के समय वर वधू का हाथ पकड़ता है। वे इस विधि को 'हाथ वरो' कहते हैं जो पाणिग्रहण का ही पर्याय प्रतीत होता है। रोमन लोगों में भी विवाह के समय स्त्री अपने दायें हाथ को वर के दायें हाथ पर रखती थी। यूरोप की अन्य जातियों में भी इस प्रथा का विविध रूपों में प्रचलन है।

पाणिग्रहण के मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें जो कुछ कहा गया है वह सुखी गृहस्थाश्रम के लिए एक तरह से आदर्श है। यहाँ उद्धृत पहले मन्त्र में इन बातों का निर्देश किया गया है—

१. पति-पत्नी का गृहाश्रम में सुख के लिए परिणय-सूत्र में बँधना।

२. वृद्धावस्था तक एक-दूसरे का साथ निभाने का संकल्प।

३. एक दूसरे के प्रति अप्रियाचरण न करने की प्रतिज्ञा।

४. परमेश्वर के साक्ष्य में विवाह-बन्धन।

५. विद्वानों के सहयोग से सम्बन्ध निश्चित होना।

६. गृहाश्रम में रहते धर्माचरण।

७. सन्तानोत्पत्ति व सन्तानों का पालन-पोषण व शिक्षा-दीक्षा।

८. मन से भी पर-पुरुष अथवा पर-स्त्री का चिन्तन न करना।

९. गर्भस्थिति के बाद से एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन।

वैदिक विवाह एक धार्मिक संस्कार है। इसलिए संस्कार के रूप में अनेक ऐसे विधि-विधान किये जाते हैं जिनसे विवाह की धार्मिकता की नींव दृढ़ होती है। सगे-सम्बन्धियों और इष्ट-मित्रों को बुलाकर सबके सामने संस्कार किया जाता है। पाणिग्रहण, परिक्रमा, सप्तपदी आदि अनेक विधियों के द्वारा संस्कार पूर्ण होता है। यह सब कुछ इसलिए किया जाता है, क्योंकि आर्यों के लिए विवाह को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्म भर का सम्बन्ध माना जाता है। विवाह में उपस्थित सभी स्त्री-पुरुषों को भी एकाग्रचित्त ध्यानावस्थित होकर ईश्वर का चिन्तन करने की प्रेरणा की गई है। (संस्कार विधि-विवाहप्रकरण)

सुखी गृहस्थ जीवन के लिए ग्रन्थकार ने कुछ आवश्यक निर्देश दिये हैं जो इस प्रकार हैं—"चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुंवारे रहें, परन्तु असदृश अर्थात् विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाववालों का विवाह कभी न करें" (सत्यार्थप्रकाश समु० ४)। "जब विवाह करने का समय निश्चय हो चुके तो कन्या चतुर पुरुषों से वर की, और वर चतुर स्त्रियों से कन्या की परीक्षा में परीक्षा करावे। तत्पश्चात् उत्तम विद्वान् स्त्री-पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें" (संस्कारविधि)। विवाह सम्बन्ध का निश्चय करने में लड़का-लड़की के माता-पिता, अध्यापक-अध्यापिका तथा स्वयं लड़का-लड़की इन आठ की सहमति होना वांछनीय है। तथापि ग्रन्थकार ने लड़का-लड़की की सहमति पर बल देते हुए लिखा है—"लड़का-लड़की के अधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना विचारें तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिए, क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध कम होता है और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, माता-पिता का नहीं। क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे, तो उन्हीं को सुख, और विरोध में उन्हीं को दुःख होता है। ···जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें तब विद्या-विनय-शील-रूप-आयु-बल-कुल शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिए। जबतक इनका मेल नहीं होता, तबतक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता।" (सत्यार्थप्रकाश समु० ४)

अपने वेदभाष्य में भी उन्होंने मन्त्रों के भावार्थ में अनेक स्थलों पर स्त्री-पुरुष की सहमति से ही विवाह सम्बन्ध किये जाने पर बल दिया है। उदाहरणार्थ—

"स्त्री और पुरुष विवाह से पहले परस्पर एक-दूसरे की परीक्षा करके अपने गुण, कर्म, स्वभाव, रूप, बल, आरोग्य, पुरुषार्थ और विद्या से युक्त होकर स्वयंवर विधि से विवाह करके ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को प्राप्त हों।"—यजुर्भाष्य ८।९

"जैसी विद्या, गुण, कर्म और स्वभाववाले पुरुष हों उनकी स्त्री भी वैसी ही होनी ठीक है।[1] क्योंकि जैसा तुल्य रूप, विद्या, गुण, कर्म, स्वभाववालों को सुख का सम्भव होता है, वैसा अन्य को कभी नहीं हो सकता। इससे स्त्री अपने समान पुरुष और पुरुष अपने समान स्त्री के साथ आपस में प्रसन्न होकर स्वयंवर विधान से विवाह करके सब कार्यों को सिद्ध करें।—ऋ० भा० १।२२।११

"जो वधू और वर स्वयंवर विवाह से परस्पर प्रसन्न होकर विवाह करते हैं, वे सूर्य और उषा के समान गृहाश्रम को उत्तम आचार से अच्छे प्रकार प्रकाशित कर सर्वदा आनन्दित रहते हैं।
— ऋ० भा० ६।६४।६

1. If the parents are about the same class the child would be practically the equal of the parents.

An interesting record of one Martin kallakak appeared in 'Popular Science Siftings,—'Martin kallakak was a young soldier in the Revolutionary War. His ancestory was excellent. But in the general laxity and abnormal social conditions of wartime he forgot his noble blood. He met a physically attractive but feeble-minded girl. The result of the meeting was a feeble-minded boy. This boy grew up and married a woman who was apparently of the

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु एक देह में रहनेवाले चेतन की स्थिति दूसरे देह में रहनेवाले के साथ नहीं मिलती। संसार में कोई भी दो व्यक्ति ऐसे नहीं मिल सकते जो सब बातों में एक-दूसरे के समान हों। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' - सबकी रुचि अलग-अलग होती है। इसी प्रकार 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'—सबके विचार भी मेल नहीं खाते अर्थात् एक-से नहीं होते। ऐसी स्थिति में पति-पत्नी के विचारों और रुचियों एवं प्रवृत्तियों में पूर्ण समानता होने की आशा कैसे की जा सकती है? विषमताओं के होते हुए भी एक दूसरे की भावनाओं का आदर करते हुए हँसते-खेलते जीवन बिताने में ही गृहस्थ जीवन की सफलता है। समन्वय अथवा सामंजस्य से ही यह सम्भव है।'

---

same low stock as himself. They produced numerous proginy. The children in turn married others of their kind, and now for six generations this strain has been multiplying. Since that night of dissipation long ago the population has been augmented by 480 souls who trace back their ancestory back to Martin Kallakak and the nameless girl. Of these 143 have been feeble-minded, 33 have been immoral, 36 illegitimate, 3 epileptics, 3 criminals and 8 brothel keepers. The same original Martin, however, after sowing this appaling crop of wild oats, finally married a young quaker girl of splendid talents and noble ancestory. From this union there have been 496 direct descendants. Many of them have been governors, one founder of a great university, doctors, lawyers, judges, educators, land-holders and useful citizens and admirable parents prominent in every phase of social life. The last one in evidence is now a man of wealth and influence."

—Radhakrishnan : Hindu View of Life. P. 73

सारांश—मार्टिन नामक एक व्यक्ति ने दो विवाह किये—पहला एक सुन्दर, किन्तु निर्बुद्धि लड़की से और दूसरा एक सुयोग्य एवं कुलीन लड़की से। पहली पत्नी और उससे उत्पन्न सन्तानों से कुल ४८० बच्चे हुए जो प्रायः सभी मूर्ख, चरित्रहीन, रोगी, अपराधी और वेश्यालयों के संचालक निकले। दूसरी पत्नी से उत्पन्न सन्तानक्रम में ४९६ बच्चे हुए जिनमें अधिसंख्य गवर्नर, डाक्टर, वकील, जज, शिक्षा-शास्त्री, उद्योगपति और यूनिवर्सिटी के संस्थापक हुए।

1.—The Hindu ideal emphasises the individual and the social aspects of the institution of marriage. Man is not a tyrant, nor is woman a slave, but both are servants of a higher ideal to which their individual inclinations are to be subordinated. Except in the pages of fiction we do not have a pair agreeing with each other in everything—tastes and temper, ideals and interests. Irreducible peculiarities there will always be, and the task of the institution of marriage is to use these differences to promote a harmonious life. Instincts and passions are the raw material which are to be worked up into an ideal whole. Though there is some choice with regard to our mates, there is a large element of chance in the best of marriages. Carve as we will that mysterious block of which our life is made, the black vein of destiny or chance, whatever we may call it. appears again and again in it. That marriage is successful which transforms a chance-mate into a life companion. Marriage is not the end of the struggle, it is but the begining of a strenuous life where we attempt to realise a larger ideal by subordinating our private interests and inclinations. Service of a common ideal can bind together the most unlike individuals. Love demands its sacrifices. By rastraint and endurance, we raise love to the

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा काल की समाप्ति पर गुरुकुल से बिदा होते समय समावर्त्तन संस्कार के अवसर पर आचार्य द्वारा स्नातक को दिया गया उपदेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली, अनुवाक् ११, कं० १-४)। क्योंकि यह उपदेश ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर घर को लौटने के समय दिया जाता है, इसलिए इसका प्रयोजन उन बातों का निर्देश करना है जिनकी उपेक्षा करने पर अगले गृश्रहाम में वह सुखी नहीं रह सकेगा। उपदेश का प्रारम्भ **'सत्यं वद, धर्मं चर'** से होता है। सत्य और धर्म पर दृढ़ रहने की बात पर बल देने के लिए आचार्य एक बार फिर इन शब्दों में उसे दोहराता है—**'सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्'** ताकि वह यह न समझ बैठे कि ब्रह्मचर्याश्रम की बातें परिवार व समाज में काम नहीं देतीं—वहाँ झूठ और पाप के बिना काम नहीं चलता। इसीलिए ग्रन्थकार ने भी यहाँ 'मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म में वर्त्तने' पर बल दिया है।

'सन्तानोत्पत्यादिप्रयोजनसिद्धये' लिखकर ग्रन्थकार ने विवाह का एक प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति बताया है। तैत्तिरीयोपनिषद् के दीक्षान्त भाषण में आचार्य स्नातक को सम्बोधित करते हुए अन्य बातों के साथ यह भी कहता है—**'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'** अर्थात् वंश-परम्परा को मत काट देना। प्राचीन वैदिक आदर्श दो आत्माओं के परस्पर विवाह-बन्धन में जकड़ जाने पर ही समाप्त नहीं हो जाता। दो आत्मा अपने को एक सूत्र में इसीलिए बाँधते हैं ताकि अन्य आत्माओं को भी इस सूत्र में बाँधा जाए। इसलिए विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श सन्तानोत्पत्ति है। वेद में जहाँ भी स्त्री और पुरुष का एक साथ वर्णन आता है, वहाँ सन्तान का उल्लेख अवश्य होता है।

यह माना जाता है कि मनुष्य पर तीन ऋण होते हैं—ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण। हमारे प्राचीन ऋषियों ने ज्ञान सम्पादन करके हम तक पहुँचाया, हम उनके ऋणी हैं। समाज के विद्वान् लोग हमारे लिए सामाजिक व्यवहार को बनाये रखते हैं, इसलिए हम इन देवों (विद्वांसो वै देवाः) के ऋणी हैं। माता पिता ने हमें जन्म दिया और हमारा पालन-पोषण किया, इसलिए हम उनके भी ऋणी हैं। जैसे उन्होंने हमें जन्म दिया, वैसे ही हमें भी विवाह करके सन्तान के क्रम को वंश-परम्परा को आगे चलाना है। वंश-सूत्र टूटने न पाये, इस दृष्टि से विवाह करके सन्तति-प्रवाह को जारी रखना हमारा धर्म है। पितृ-ऋण चुकाना एक धार्मिक कर्त्तव्य है जो विवाह को एक धार्मिक संस्कार मानकर ही पूरा हो सकता है, ठेका (contract) मानकर नहीं।

विवाह के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोण के अनुसार विवाह एक ठेका है जिसमें स्त्री-पुरुष एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मानो एक सौदा करते हैं। ठेके के साथ

---

likeness of the divine. In an ideal marriage the genuine interests of the two members are perfectly reconciled.

—The Hindu View of Life p. 60

सारांश—वैदिक विवाह में व्यक्तियों के साथ-साथ सामाजिक पक्ष पर भी बल दिया जाता है। न पुरुष को अत्याचारी कहा जा सकता है, न स्त्री को उसकी दासी माना जा सकता है। व्यावहारिक जीवन में कोई भी दम्पती ऐसे नहीं मिलेंगे जो प्रत्येक दृष्टि से एक दूसरे से मेल खाते हों। भेद के होते हुए भी एक-दूसरे की भावनाओं का सम्मान करते हुए समन्वय और सामंजस्य के द्वारा ही दाम्पत्य जीवन सुखी हो सकता है। एक सामान्य लक्ष्य ही दोनों को जोड़े रहता है। प्रेम बलिदान माँगता है। संयम तथा सहिष्णुता के बिना काम नहीं चल सकता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इहैव स्तं मा वि यौंष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ।। २ ।।

ऋ० अ० ८ । अ० ३ । व० २७, २८ । मं० १, २ ।।

भाष्यम् – अनयोरभिप्रायः—अत्र विवाहविधानं क्रियत इति ।

हे कुमारि युवते कन्ये ! (सौभगत्वाय) सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धये (ते हस्तम्) तव हस्तं (गृभ्णामि) गृह्णामि, त्वया सहाहं विवाहं करोमि, त्वं च मया सह । हे स्त्रि ! येन प्रकारेण (मया पत्या) सह (जरदष्टिः आसः) जरावस्थां प्राप्नुयास्तथैव त्वया स्त्रिया सह जरदष्टिरहं भवेयं वृद्धावस्थां प्राप्नुयाम् । एवमावां सम्प्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं[1] कुर्य्यावहि । (भगः) सकलैश्वर्य्यसम्पन्नः (अर्य्यमा) न्यायव्यवस्थाकर्त्ता (सविता) सर्वजगदुत्पादकः (पुरन्धिः) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः (मह्यं त्वादुः गार्हपत्याय) गृहकार्य्याय त्वां मदर्थं दत्तवान् । तथा (देवाः) अत्र सर्वे विद्वांस साक्षिणः सन्ति । यद्यावां प्रतिज्ञोल्लङ्घनं 'कुर्य्यावहि तर्हि परमेश्वरदण्डयौ विद्वद्दण्डयौ च भवेवेति ।।१।।

विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषौ कीदृशवर्त्तमानौ भवेताम्, एतदर्थमीश्वर आज्ञां ददाति—(इहैव स्तम्) हे स्त्रीपुरुषौ ! युवां द्वाविहास्मिल्लोके गृहाश्रमे सुखेनैव सदा वस्तं निवासं कुर्याताम् (मा वियौष्टम्) तथा कदाचिद्विरोधेन देशान्तरगमनेन वा वियुक्तौ वियोगं प्राप्तौ मा भवेताम् । एवं मदाशीर्वादेन धर्मं कुर्वाणौ सर्वोपकारिणौ मद्भक्तिमाचरन्तौ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) विविधसुखरूपमायुः प्राप्नुतम् । पुनः (स्वे गृहे०) स्वकीये गृहे पुत्रैर्नप्तृभिश्च सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्राप्नुवन्तौ (क्रीडन्तौ) सद्धर्मक्रियां कुर्वन्तौ सदैव भवतम् ।।२।।

इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रिया एक एव पतिर्भवत्वेकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति । अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य, तथाऽनेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रियाश्चेति, सर्वेषु वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात् । एवं विवाहविधायका वेदेष्वनेके मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम् ।

ठेका टूटने का भाव जुड़ा रहता है । जाने-अनजाने ठेके की किसी शर्त का उल्लंघन होते ही ठेका टूट जाता है और स्त्री-पुरुष विवाह के बन्धन से छूट जाते हैं । दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार विवाह एक धार्मिक संस्कार है । एक बार सम्बन्ध हो गया तो हो गया । इसे जीवनभर निभाना होता है । जीवन पर्यन्त एक दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार होना पड़ता है । वह भी किसी विवशता के कारण नहीं, अपितु कर्त्तव्यभावना से प्रसन्नतापूर्वक ।

'इहैव स्तम्' विवाहयज्ञ में विनियुक्त यह मन्त्र विवाह के उच्च आदर्श को दर्शाता है और पति-पत्नी के सम्बन्ध विच्छेद का सर्वथा निषेध करता है । इस मन्त्र का अभिप्राय है—"एक-दूसरे की भली प्रकार परीक्षा करके स्वेच्छापूर्वक दाम्पत्य स्नेह में आबद्ध रहने की तुमने प्रतिज्ञा की है, उसमें जीवनभर आबद्ध रहना, क्षणिक आवेश में आकर कभी एक-दूसरे का त्याग न कर बैठना । अपने घर में रहते हुए, नाती-पोतों के साथ हँसते-खेलते, प्रमुदित मन से पूर्ण आयु को प्राप्त करना ।" पाणिग्रहण के प्रथम मन्त्र का उच्चारण करते हुए वर वधू दोनों इस बात की घोषणा करते हैं कि—

१—हम दोनों का यह सम्बन्ध बनाने—हमें एक-दूसरे को सौंपने में सकल ऐश्वर्य से युक्त, न्यायकारी, सब जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता और सब जगत् को धारण करनेवाले परमेश्वर का हाथ है ।

---

१. द्रष्टव्यम्—पञ्चमहायज्ञविधौ 'सायंसायं' मन्त्रव्याख्याने 'कुर्यामहि' पदम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं०) हे स्त्रि ! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिए तेरा हस्त ग्रहण करता हूँ । और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूँ कि जो काम तुझको अप्रिय होगा उसको मैं कभी न करूँगा । ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आपको अप्रिय होगा, उसको मैं भी न करूँगी । और हम दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होके वृद्धावस्थापर्य्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे । हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इससे उलटा काम कभी न किया जाएगा । (भगः) जो ऐश्वर्यवान् (अर्यमा) सब जीवों के पाप-पुण्य के फलों को यथावत् देनेवाला (सविता) सब जगत् का उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य का देनेवाला तथा (पुरन्धिः) सब जगत् का धारण करनेवाला परमेश्वर है, वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है । तथा (मह्यं त्वा०) परमेश्वर और विद्वानों ने मुझको तेरे लिए और तुझको मेरे लिए दिया है, कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे, तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे, और मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में बरतेंगे । सब जगत् का उपकार करने के लिए सत्य विद्या का प्रचार करेंगे और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उनको सुशिक्षित करेंगे, इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक-ठीक पालन करेंगे । दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे । (देवाः) हे विद्वान् लोगो ! तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम गृहाश्रम के लिए विवाह करते हैं । फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़के मन, वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूँगी, तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन, कर्म और वचन से कभी न चाहूँगा ।।१।।

२—सभामण्डप में उपस्थित विद्वान् लोग इस सम्बन्ध के साक्षी हैं ।

३—हम दोनों स्वेच्छा से वृद्धावस्था तक सुखपूर्वक एक-दूसरे का साथ निभाने की प्रतिज्ञा करते हैं ।

इतने पवित्र बन्धन को तोड़ना तो दूर, मन से भी वैसा चिन्तन करना पाप है । इस आचार-संहिता की अवहेलना करके कोई समाज सुखी नहीं रहता ।

इस मन्त्र के आधार पर अनेक विद्वान् कहते हैं कि वेद सम्पूर्ण आयु गृहस्थ में ही रहने का विधान करता है, अतः वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमों की व्यवस्था अवैदिक है किन्तु वैदिक साहित्य में अनेकत्र वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों का विधान स्पष्टतः उपलब्ध है । शतपथ ब्राह्मण में कहा है—**ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।**' इसी का विस्तार करते हुए मनुस्मृति में लिखा है—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ।।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलिपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।।

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ।।

—मनु० ६।१-३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(इहैव स्तम्) विवाहित स्त्री पुरुषों के लिए परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहाश्रम के शुभ व्यवहारों में रहो। (मा वियौष्टम्) अर्थात् विरोध करके अलग कभी मत होओ, और व्यभिचार भी किसी प्रकार का मत करो। ऋतुगामित्व से सन्तानों की उत्पत्ति, उनका पालन और सुशिक्षा, गर्भस्थिति के पीछे एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य और लड़कों को प्रसूता स्त्री का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना, इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से (विश्वमा०) सौ १०० वा १२५ वर्ष पर्यन्त आयु को सुख से भोगो। (क्रीडन्तौ०) अपने घर में आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्मपूर्वक क्रीडा करो। इससे विपरीत व्यवहार कभी न करो और सदा मेरी आज्ञा में वर्त्तमान रहो।।२।।

इत्यादि विवाहविधायक वेदों में बहुत मन्त्र हैं। उनमें से कई एक मन्त्र संस्कारविधि' में भी लिखे हैं, वहाँ देख लेना।

इति संक्षेपतो विवाहविषयः

इन प्रमाणों से जीवनपर्यन्त गृहस्थ में न रहकर यथासमय पत्नी तथा पुत्र-पौत्रों को छोड़कर वन में चले जाना सिद्ध है। ऐसी अवस्था में गृहस्थाश्रम में विश्व - सम्पूर्ण आयु व्यतीत करने का जो निर्देश है, उसका क्या तात्पर्य है? वैदिक वचनों में जहाँ परस्पर विरोध की प्रतीति हो, उसके समाधान के लिए जैमिनि ने पूर्वमीमांसा शास्त्र की रचना की है। यहाँ उसी की सहायता से ऐसे वचनों का अभिप्राय जानने का यत्न करना चाहिए। ब्राह्मण का एक वचन है—**'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति।'** यदि इस वाक्य का सामान्य अर्थ ग्रहण किया जाए, तो अग्न्याधान की पूर्णाहुति से ही सब कामनाएँ पूर्ण हो जाने से अन्य यज्ञ-कर्म अनर्थक हो जाएँ, अतः भगवान् जैमिनि ने सूत्र की रचना की—**'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** (१।२।१६)। इसका भाव यह है कि जिस कर्म का जितना अधिकार क्षेत्र है, तद्विषयक वहाँ सर्वत्व ग्रहण किया जाता है। अग्न्याधान की पूर्णाहुति से श्रौत अग्नियों का आधान कर्म निष्पन्न हो जाता है, अतः उससे उत्तर सब कर्मों के करने में अधिकार प्राप्त हो जाता है। इतना ही उसका सर्वकामत्व जानना चाहिए।

'सर्व' और **'विश्व'** शब्द एकार्थक हैं। अतः **'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** नियम के अनुसार इसका अर्थ होगा कि 'इह' इस गृहाश्रम में स्थित रहने की जितनी आयु शास्त्रसम्मत है, उतने पूर्णकाल तक गृहस्थ में रहो। उस अवधि में पति-पत्नी का वियोग कभी न हो। ग्रन्थकार की भावना अन्यत्र (संस्कारविधि-गृहाश्रमविधि) इसी मन्त्र के भाष्य से विस्पष्ट हो जाती है। वहाँ लिखा है—

"हे स्त्री और पुरुष! मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूँ कि जो तुम्हारे लिए विवाह में प्रतिज्ञा हो चुकी है, जिसको तुम दोनों ने स्वीकार किया है, (**इहैव**) इसी प्रतिज्ञा में (**स्तम्**) तत्पर रहो, (**मा वियौष्टम्**) इस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होओ। (**विश्वमायुर्व्यश्नुतम्**) ऋतुगामी होके, वीर्य का अधिक नाश न करके, सम्पूर्ण आयु, जो १०० वर्षों से कम नहीं है, उसको प्राप्त होओ।"

---

१. ग्रन्थकार ने संस्कारविधि का प्रथम संस्करण सं० १९३२ में प्रकाशित किया था और पुनः संशोधित संस्करण सं० १९४० में प्रेस में भेजा था, अतः यह संकेत संस्कारविधि के प्रथम संस्करण की ओर है, न कि द्वितीय वार संशोधित प्रामाणिक माने जानेवाले संस्करण की ओर।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ नियोगविषयः संक्षेपतः

प्राणिमात्र में आत्मरक्षा के साथ-साथ आत्मविस्तार की भी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यह विस्तार सन्तान के द्वारा होता है। सन्तान शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक **'तनु विस्तारे'** धातु से निष्पन्न है। **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** में सन्तान के माध्यम से अपने विस्तार की भावना विद्यमान है। पुत्र के शरीर में जीवात्मतत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता है, किन्तु उसके शरीर की रचना में पितृशरीर के अंशों का उपयोग होता है। इसी आधार पर पुत्र-पिता में अंशांशिभाव की कल्पना की जाती है और **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** कथन सार्थक होता है।[1] विद्याध्ययन की समाप्ति पर गुरुकुल से विदा करने के अवसर पर आचार्य अपने अन्तेवासी को यह कहना नहीं भूलता—**'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'** (तै. उप. शिक्षावल्ली अनु. ११) अर्थात् वंश-परम्परा को मत काट देना। विवाह का मुख्य प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति है। सप्तपदी विवाह संस्कार का अनिवार्य अंग है—उसके बिना विवाह सम्पन्न हुआ नहीं माना जाता। इस विधि के द्वारा दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करते समय वर-वधू मिलकर सन्तानोत्पत्ति के लिए वचनबद्ध होते हैं—**'प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव'**[2]। वंश परम्परा को चालू रखने के लिए यह आवश्यक है, परन्तु विवाहोपरान्त कभी-कभी ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं कि चाहते हुए भी वे उसमें सफल नहीं हो पाते। ऐसी असाधारण परिस्थिति में सन्तान प्राप्ति के लिए शास्त्रों ने नियोग का विधान किया है। शास्त्रसम्मत होने के साथ-साथ वह परम्परा द्वारा भी समर्थित एवं प्रतिष्ठित है।

'कुहस्विद्दोषा' इत्यादि मन्त्र में 'देवर' शब्द का निर्वचन करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं—'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते'। देवर को देवर क्यों कहते हैं? इसलिए कि वह विधवा स्त्री का दूसरा वर होता है। सायणाचार्य ने भी ग्रन्थकार के अर्थ की पुष्टि करते हुए निरुक्त के इस पाठ को उद्धृत किया है, तथा निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी **'विधवेव देवरम्'** तथा **'मर्यं न योषा'** की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार के सिद्धान्त का अनुमोदन किया है—

१—पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ मनु० ९।८
पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वा स मातरं तस्यां पुनर्नवो भूत्वा
दशमे मासे जायते, तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।—ऐतरेय ब्राह्मण ७।१३
आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माज्जाया
अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते।—गो० ब्रा० पू० १।२
अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ —निरुक्त ३।१।४

२—क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥ —मनु० ९।३३
प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः। —मनु० ९।९६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥१॥
—ऋ० अ० ७ अ० ८ । व० १८ । मं० २

सायणभाष्य—हे अश्विना, अश्विनौ कुहस्वित् क्वचित् दोषा रात्रौ भवथ इति शेषः । कुह वस्तोः क्व वा दिवा भवथः । कुह क्व वा अभिपित्वं अभिप्राप्तिं करतः कुरथः । कुह क्व वा ऊषतुः वसथः । किञ्च युवां वां क्व यजमानः सधस्थे सहस्थाने वेद्याख्ये आकृणुते आकुरुते । परिचरणार्थमात्मानमभिमुखीकरोति । तत्र दृष्टान्तौ दर्शयति । शयुत्रा शयने विधवेव यथा मृतभर्तृका नारी देवरं भर्तृ भ्रातरमभिमुखीकरोति । मर्यं न यथा च सर्वं मनुष्यं योषा सर्वा नारी सम्भोगकालेऽभिमुखीकरोति तद्वदित्यर्थः । तथा च यास्कः—'क्वस्विद्रात्रौ भवथः क्व दिवा क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः क्व वसथः । को वां शयने विधवेव देवरम् । देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते । विधवा विधातृका भवति विधवनाद्वा, विधावनाद्वेति चर्मशिरा अपि वा धव इति मनुष्यनाम तद्वियोगाद्विधवा । देवरो दीव्यति कर्मा । मर्या मनुष्यो मरणधर्मा । योषा यौतेः आकुरुते सहस्थाने (निरुक्त ३।१५) इति ।'

दुर्गाचार्य—शयुत्रा शयने किं विधवा इव देवरं यथा विधवा मृतभर्तृका काचित् स्त्री शयने रहस्यतितरां यत्नवती देवरमुपचरति, स हि परकीयत्वात् नार्या दुराराध्यतरो भवतीति यत्नेनोपचर्यते न तथा निजो भर्ता । तस्मात्तेनोपमिमीते अश्विनौ । तथा मर्यं मनुष्यं देवरं सैव मृतभर्तृका योषा आकृणुत आभिमुख्येन कुरुते । को वाम् एवम् आभिमुख्येन सधस्थे सहस्थाने समाने सहयोगिनावात्मना कृत्वा परिचचार ।

भाषार्थ—हे अश्विनौ ! तुम दोनों रात्रि में कहाँ होते हो, दिन में कहाँ होते हो, और कहाँ प्राप्ति करते हो ? तुम दोनों को कौन यजमान वेदी में सेवा करने के लिए सन्मुख होता है ? यहाँ दो दृष्टान्त दिये जाते हैं । जैसे सोने के स्थान में विधवा स्त्री पति के भाई को अभिमुख करती है और जैसे सब मनुष्यों को स्त्रियाँ सम्मुख करती हैं, उसी प्रकार, इत्यादि ।—सायणभाष्य

जैसे कोई विधवा स्त्री सेज पर अत्यन्त एकान्त में यत्न से देवर को प्रसन्न करती है: वह दूसरी स्त्री का पति होने से विधवा स्त्री से प्रसन्न करना बहुत कठिन होता है, इसलिए यत्न से प्रसन्न करती है, वैसे अपने पति को नहीं । इसलिए उससे अश्विनी कुमारों की उपमा दी है और मनुष्य देवर को वही विधवा स्त्री सम्मुख करती है, इत्यादि ।—दुर्गाचार्य ।

'विधवेव देवरम्'—यह उपमा नियोगपरक है । वर्णाश्रमधर्म में द्विजों में विधवा का विवाह वर्जित है । वह नियोगधर्म का पालन कर सकती है । इस उपमा का नियोगपरक अर्थ आचार्य विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृति की बाल-क्रीडा टीका में किया है । ग्रन्थकार ने भी ऐसा ही अर्थ किया है । अंग्रेजी में widower शब्द विधवा का अपभ्रंश है । परन्तु widower शब्द को widow शब्द से er प्रत्यय लगाकर नहीं बनाया गया है । यदि widow के साथ er प्रत्यय लगा होता तो widower का अर्थ widow (विधवा) करनेवाला होता । इसलिए widower शब्द 'विधुर' का अपभ्रंश हो सकता है ।

'गत रात्रि को आप कहाँ थे ? कल दिन में कहाँ रहे ?' इत्यादि प्रश्नों का विधान शुक्रनीति (१, २६१) में पाया जाता है । वहाँ लिखा है कि राजा प्रति दो ग्रामों में एक पान्थशाला (वर्त्तमान में धर्मशाला) बनवावे और शाला का व्यवस्थापक प्रत्येक पान्थ (यात्री) से प्रश्न करे—तुम कहाँ से आये,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥२॥
—अथर्व० कां० १८। अनु० ३। व० ३। मं० १॥

क्यों आये, कहाँ जाना है, तुम्हारी जाति और कुल क्या है, तुम कहाँ के रहनेवाले हो? इत्यादि। शयुत्रा' शयने, शयनवाची 'शयु' से सप्तम्यर्थ में 'त्रा' (पा० ५।४।५६)।

'विधवा' (क) विधातृका—विधवा अर्थात् पति-विहीना। (ख) 'वि' पूर्वक 'धूञ् कम्पने' धातु से 'अप्' प्रत्यय और टाप्। निराश्रित होने से विधवा सदा कम्पायमान रहती है। (ग) चर्मशिरा आचार्य कहता है कि 'वि' पूर्वक गत्यर्थक धावु धातु से विधवा शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि परिस्थितिवश विधवा चलायमान चित्तवाली रहती है। (घ) अथवा 'धव' शब्द मनुष्यवाची है। उस स्वकीय मनुष्य के वियोग से वह विधवा कहलाती है। देवर—स्तुत्यर्थक 'दिवु' धातु से 'अर' प्रत्यय (उणादि० ३।१३२)। पति का छोटा भाई भावज का आदर करता है, अतः उसे देवर कहा गया। इस 'देवरम्' पद का सम्बन्ध 'विधवा' और 'योषा' दोनों के साथ है, अतः यास्क ने अपने-अपने स्थान पर 'देवर' के दो निर्वचन करते हुए इसके भिन्न अर्थ ज्ञापित किये हैं। 'विधवा' के 'योषा' के पाठ से यहाँ 'योषा' का अर्थ सुहागिन या अक्षत-योनि स्त्री है, एवं 'मर्य' शब्द ऐसे पुरुष के लिए विवक्षित है जिसकी विवाहिता स्त्री जीवित हो। 'योषा' के साथ 'देवर' तथा 'मर्यम्' दोनों का सम्बन्ध है।

आजकल देवर शब्द केवल पति के छोटे भाई के साथ रूढ़ हो गया है। इसका कारण कदाचित् यह है कि स्त्री के विधवा हो जाने पर अधिकतर मृत-पति के छोटे भाई से विवाह सम्बन्ध कर दिया जाता है। मनु ने इसका विधान इस रूप में भी किया है—

यस्य म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥ मनु० ९।६९

अर्थात् सगाई करने के बाद (और विवाह से पूर्व) जिसका पति (वस्तुतः उसकी संज्ञा वर है) मर जाए, उस कन्या को पति का छोटा भाई इससे (विवाह-विधान से) प्राप्त कर ले।

इस श्लोक से ग्रन्थकार के "जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाए तो पति का निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है" (सत्यार्थप्रकाश), इस मन्तव्य की भी पुष्टि होती है।

श्रेष्ठोपमाएँ तो संस्कृत साहित्य में भी बहुत अधिक पाई जाती हैं, पर जहाँ छोटे से बड़े को उपमाएँ दी हों ऐसी हीनोपमाएँ संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त नहीं होतीं। वेद में उनका प्रयोग बहुत पाया जाता है। जब मनुष्य वेद का अध्ययन प्रारम्भ करता है, तब उसे लौकिक-व्यवहार और संस्कृत-साहित्य से प्रभावित होने के कारण ऐसी हीनोपमाएँ बहुत खटकती हैं। उसके मन में यह बात जमी होती है कि उपमाएँ सदा उच्च ही होनी चाहियें। इसीलिए वेदाध्ययन करते समय जब उससे विपरीत हीनोपमाएं दीख पड़ती हैं तो वे उसे असंगत जान पड़ती हैं। उपमा का प्रयोजन यही होता है कि किसी वस्तु के गुण को दूसरी प्रसिद्ध वस्तु के गुण द्वारा स्पष्ट करके समझा सकें। यह स्पष्टता जहाँ भी हो सके, की जा सकती है—चाहे वह हीनोपमा हो, चाहे श्रेष्ठोपमा। प्रस्तुत मन्त्र पर चिन्तन करते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

'इयं नारी' इत्यादि मन्त्र में आये **'पुराणमनुपालयन्ती'** शब्दों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियोग का विधान यदृच्छया अपनी ओर से नहीं किया है। वह सनातनधर्म है—पहले से चली आ रही परम्परा के अनुकूल है। धर्माधर्म=कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करने के लिए श्रुति (वेद) का प्रामाण्य सर्वोपरि है **'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'** -(मनु० २।१३)। वेद के पश्चात् मनुस्मृति का प्रामाण्य है। वहाँ लिखा है—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया। प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये।
यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमत्पादयेद्यदि। समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥
हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः। क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः॥
धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च। सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम्॥
यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ। यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः॥

—मनु० अ० ९।५९, १२०, १४५, १४६, १६२

भाषार्थ—सन्तान के क्षय हो जाने पर, देवर से या सपिण्ड से विधिपूर्वक नियोग करके सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिए। छोटा भाई यदि बड़े भाई की स्त्री में पुत्र पैदा करे तो समान विभाग होगा, धर्म की यही व्यवस्था है। वहाँ नियोग करनेवाली में पैदा हुआ पुत्र औरस पुत्र के समान दायभागी है, वह खेतवाले का ही बीज गिना जाएगा और वह धर्म की सन्तान माना जाएगा। यदि कोई मनुष्य मरे हुए भाई के धन और स्त्री को धारण करे तो भाई के लिए सन्तान पैदा करके उस भाई का धन उस सन्तान को दे दे। यदि औरस और क्षेत्रज पुत्र एक हो जायदाद के उत्तराधिकारी हो जाएँ तो जो जिसके पिता का धन है, वही उसको ग्रहण करे, दूसरा नहीं॥

नियोग का विधान करते हुए महाभारत में लिखा है—

उत्तमाद्देवरात् पुंसः कांक्षन्ते पुत्रमापदि ॥३४॥
अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवाः।
आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥३५॥ —महा० आदि०अ० १२०

भाषार्थ—आपत्तिकाल में लोग उत्तम देवर से पुत्र की इच्छा करते हैं। हे कुन्ती! मनुजी का कथन है कि अपने वीर्य से पैदा हुए पुत्र से भी अधिक श्रेष्ठ फलदायक पुत्र को मनुष्य नियोग विधि से प्राप्त करते हैं॥

इसके विपरीत ऋग्वेद ७।४।७ में **'अन्यजातम्'** तथा ७।४।८ में **'अन्योदर्यः'** अर्थात् अन्य के वीर्य से उत्पन्न तथा अन्य क्षेत्र में उत्पन्न सन्तान के सम्बन्ध में कहा है कि **'न मनसा उ प्रभाय मन्तवै'** उसे अपनाने की बात मन से भी नहीं सोचनी चाहिए। इन मन्त्रों में नियोग के द्वारा सन्तान उत्पन्न करने का निषेध किया गया प्रतीत होता है, परन्तु निरुक्त में इन मन्त्रों का विनियोग दायभाग के प्रकरण में किया है। यास्क ने आशंका व्यक्त की है कि ऐसा पुत्र **'अध पुनः इत् ओकः चित् एति'** फिर अपने उसी स्थान को चला जाता है जहाँ से वह आया होता है। इस प्रकार यहाँ दूसरे कुल में उत्पन्न बालक के गोद लिये जाने के सम्बन्ध में कथन किया गया है। गोद लेने की अवस्था में पहले से उत्पन्न **(अन्यजातम् अथवा अन्योदर्यः)** बालक को कालान्तर में अपनाया जाता है, जबकि नियोग की अवस्था में संकल्पपूर्वक अपने लिए ही बालक उत्पन्न किया जाता है। दोनों अवस्थाओं में स्पष्ट भेद है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक मृतभर्तृका स्त्री तथा मृतपत्नीक पुरुष के लिए नियोग करना अनिवार्य नहीं है। यह इच्छा और परिस्थिति पर निर्भर करता है। ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश (समु० ४) में लिखा है—"जो जितेन्द्रिय रह सकें वे विवाह व नियोग न करें तो ठीक है, परन्तु जो ऐसे नहीं है, उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिए।" इस प्रकार नियोग धर्म नहीं, आपद्धर्म है। पुनः नियोग का लक्षण करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—"नियोग विवाह के पश्चात् पति या पत्नी के मर जाने अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा पुरुष का आपत्काल में स्ववर्ण अथवा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना।"—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश।

हनुमान् जैसा वीरपुरुष नियोग द्वारा उत्पन्न था। जाम्बवान् हनुमान् से कहते हैं—

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः ॥२९॥
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः ॥३०॥

—वाल्मीकि, कि० का० सर्ग ६६

हे हनुमान्! तू भयंकर बलवाला केसरी का क्षेत्रज पुत्र है और पवन का औरस पुत्र है तथा तेज में भी उसके समान है।

इस प्रकार हनुमान् केसरी और उसकी पत्नी अंजना का नियोगज पुत्र था। **'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्'** के अनुसार केसरी की इच्छा से उसकी पत्नी में पवन द्वारा उत्पन था। इसी आधार पर हनुमान् को पवनसुत कहा जाता है। बल-पराक्रम में पवन के समान होने से उसका यह नाम अधिक प्रसिद्ध है।

महाभारत काल के कौरव वंश में तो नियोगज सन्तानों की भरमार है। महाभारत में लिखा है—

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा॥ महा० आ० १०२।६५
ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः ॥४॥
सम्बभूव तया सार्द्धं मातुः प्रियचिकीर्षया ॥५॥
ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत।
अम्बालिकायामथाभ्यगादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम् ॥१५॥

—महा० आदि, १०६

भावार्थ—भीष्म ने विधिपूर्वक अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के लिए अम्बिका व अम्बालिका दो पत्नियाँ दीं। तत्पश्चात् सत्यवादी व्यास मुनि ने माता को प्रसन्न करने की इच्छा से नियुक्त होकर पहले अम्बिका से और फिर अम्बालिका से समागम किया।

पुनः अध्याय १२३ में लिखा है—

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्त्तिधरेण ह ॥५॥
युधिष्ठिर इति ख्यातः पाण्डोः प्रथमजः सुतः ॥६॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदी॑र्ष्व ना॒र्य॒भि॒ जी॒वलो॒कं ग॒तासु॑मे॒तमुप॑ शेष॒ एहि॑ ।
ह॒स्त॒ग्रा॒भस्य॑ दिधि॒षोस्तवे॒दं पत्यु॑र्जनि॒त्वम॒भि सं ब॑भूथ ॥३॥

—ऋ० मं० १० । सू० १८ । मं० ८ ॥

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—अत्र विधवावस्त्रीकनियोगव्यवस्था विधीयत इति ।

(कुहस्विद्दोषा०) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ ! युवां (कुह) कस्मिन् स्थाने (दोषा) रात्रौ वसथः (कुह वस्तोः अश्विना) दिवसे च क्व वासं कुरुथः (कुहाभि०) क्वाभिपित्वं प्राप्तिं (करतः) कुरुथः । (कुहोषतुः) क्व युवयोर्निजस्थानवासोऽस्ति[१] । (को वां शयुत्रा) शयनस्थानं युवयोः क्वास्ति इति स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्त्तुं योग्यास्ति, तथैकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च । द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेन्न कदाचिद् वियोगव्यभिचारौ भवेतामिति द्योत्यते । (विधवेव देवरम्) कं केव ? यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवा इव । अत्र प्रमाणम्—

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते ।। --निरु० अ० ३ । खं० १५ ।

विधवाया द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवया सह । विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यान्न कुमारेण सह, तथा कुमारस्य विधवया सह च[२] अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात्, पुनरेवं नियोगश्च । नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते । पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात् । नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्तेतामित्यत्राह—

(मर्यं न योषा) यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कृणुते) आकृणुते, तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद् वर्त्तेयाताम् ।।१।।

ततस्तयोक्ता भर्त्रा तु वायुमेवाजुहाव सा ।।११।।
तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।।१४।।

एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी ।
अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ।।३४।।

अर्थात्—कुन्ती ने धर्म, वायु तथा इन्द्र नामक पुरुषों से नियोग करके क्रमशः युधिष्ठिर, भीम व अर्जुन को जन्म दिया । और यह सब उसने अपने विवाहित पति पाण्डु की अनुमति से किया, जैसा कि 'तथोक्ता भर्त्रा' शब्दों से विस्पष्ट है ।

पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री ने भी नियोग द्वारा ही नकुल और सहदेव को उत्पन्न किया था अध्याय २४ में लिखा है —

ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ ।
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ।।१६।।

---

१. वासस्य स्थानं स्थानवासम्, राजदन्तादित्वात् (२।२।३१) परनिपातो द्रष्टव्यः, तस्याकृतिगणत्वात् । निजश्चासौ स्थानवासश्चः निजस्थानवासः । २. नियोग मा भवत्विति शेषः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(इयं नारी) इयं विधवा नारी (प्रेतम्) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकं) पतिसुखं (वृणाना) स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्य) हे मनुष्य ! (त्वा०) त्वामुपनिपद्यते, त्वां पतिं प्राप्नोति, तव समीपं नियोगविधानेनागच्छति, तां त्वं गृहाणाऽस्यां सन्तानान्युत्पादय। कथम्भूता सा ? (धर्मं पुराणं०) वेद-प्रतिपाद्यं सनातनं धर्म्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पतिं वृणुते, त्वमपीमां वृणु। (तस्यै) विधवायै (इह) अस्मिन् समये लोके वा (प्रजां धेहि) त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु, (द्रविणम्) द्रव्यं वीर्यं (च) अस्यां धेहि, अर्थाद् गर्भाधानं कुरु ॥

(उदीर्ष्वं ना०) हे विधवे नारि ! (एतं गतासुम्) गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा (अभिजीवलोकम्) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि (उपशेषे) तस्यैवोपशेषे सन्तानोत्पादनाय वर्त्तस्व। तत्सन्तानं (हस्तग्राभस्य) विवाहे संगृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात्। यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि (दिधिषोः) तस्यैव सन्तानं भवति। हे विधवे ! विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोग-करणार्थं त्वं (उदीर्ष्व) विवाहितपतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ। तथा (अभिसंबभूथ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव ॥३॥

महाभारत आदिपर्व अध्याय १०४ में बताया है—

एवमुच्चावचैरस्त्रैर्भार्गवेण महात्मना।
त्रिसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ॥४॥

एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा।
उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥५॥

पाणिग्राहस्य तनयं इति वेदेषु निश्चितम्।
धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणास्ता समभ्यूयुः ॥६॥

भाषार्थ—परशुराम ने २१ बार पृथिवी को क्षत्रियरहित किया। तब वेदों के पारगामी ब्राह्मणों ने नियोग करके सन्तान उत्पन्न की। ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों की स्त्रियों में उत्पन्न हुए वे सब क्षत्रिय हुए, क्योंकि वेद में कहा है कि जिसका क्षेत्र हो, उसी का पुत्र माना जाता है।

यहाँ छठे श्लोक में **'पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम्'** कहा है, अर्थात् जिससे पाणि-ग्रहण=विवाह हुआ हो उसी का पुत्र माना जाता है। अगले मन्त्र **'उदीर्ष्व नारी'** इत्यादि में **'हस्तग्राभस्य'** पाठ है। हस्त और पाणि पर्यायवाची हैं। इससे स्पष्ट है कि **'इति वेदेषु निश्चितम्'** कहकर भीष्मजी ने **'उदीर्ष्व नारी०'** इस वेदमन्त्र का प्रमाणरूप में संकेत किया है।

'उदीर्ष्व नारी०' इस वेदमन्त्र के अर्थ में 'इस' **(एतम्)** शब्द से वह मृत पति अभिप्रेत है जिसको मरे कुछ समय व्यतीत हो चुका है। जीवात्मयुक्त शरीर का नाम पुरुष है। उसी से हमारा सम्बन्ध होता है। शरीर से जीवात्मा के वियुक्त होते ही वह समाप्त हो जाता है। इसीलिए 'जीते-जी का नाता' कहने-सुनने में आता है। पति के मरने के कुछ काल पश्चात् परिवार-समाज के वृद्ध-विवेकी जन (पंचायत) पतिविहीना (विधवा) स्त्री को सान्त्वना देने के साथ-साथ भविष्य के लिए कर्त्तव्य का बोध कराते हुए उसे कहते हैं—इस मृत पति को पुनर्जीवित करना या इससे सम्बन्ध बनाये रखना तेरे वश में नहीं है। इसलिए अब इसकी आशा छोड़कर अपने भविष्य की चिन्ता कर।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—'नियोग' उसको कहते हैं, जिससे विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो वह पुरुष—ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं। नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष या जिस पुरुष की स्त्री मर जाए, अथवा उनमें किसी प्रकार का स्थिर रोग हो जाए, वा नपुंसक वन्ध्यादोष पड़ जाए, और उनकी युवावस्था हो, तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो, तो उस अवस्था में उनका नियोग अवश्य होना चाहिए, इसका नियम आगे लिखते हैं—

(**कुहस्वित्०**) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री-पुरुषों ने (**दोषा**) रात्रि में कहाँ निवास किया था ? (**कुह वस्तोरश्विना**) तथा दिन में कहाँ बसे थे ? (**कुहाभिपित्वं करतः**) तुमने अन्न धन वस्त्र आदि की प्राप्ति कहाँ की थी ? (**कुहोषतुः**) तुम्हारा निवास स्थान कहाँ है ? (**को वां शयुत्रा**) रात्रि में तुम कहाँ शयन करते हो ?

वेदों में पुरुष और स्त्री के विवाहविषयक प्रश्न में द्विवचन के ही प्रयोग करने से यह निश्चित हुआ कि वेद की रीति से एक पुरुष के लिए एक ही स्त्री और एक स्त्री के लिए एक ही पुरुष होना चाहिए, अधिक नहीं और न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा वियोग होना चाहिए।

(**विधवेव देवरम्**) जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है, वैसे तुम भी करो। विधवा का जो दूसरा पति होता है, उसको 'देवर' कहते हैं। इसमें यह नियम होना चाहिए कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में दो-दो सन्तानों के लिए नियोग होना और शूद्रकुल में पुनर्विवाह मरण-पर्य्यन्त के लिए होना चाहिए, परन्तु माता, गुरुपत्नी, भगिनी, कन्या, पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है। यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से हो सकता है। जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाए, और जो कोई इस नियम को तोड़े उसको द्विजकुल में से अलग करके शूद्रकुल में रख दिया जाए ॥१॥

(**नारि**) हे विधवे नारि ! (**गतासुम्**) गतप्राण अर्थात् मृत (**एतम्**) इस पति को छोड़कर (**उदीर्ष्व**) उठ, (**जीवलोकम् अभि**) और जीवित देवर अर्थात् द्वितीय वर पति को (**एहि**) प्राप्त कर। (**उपशेषे**) उसी से सन्तानोत्पादनार्थ व्यवहार कर। (**हस्तग्राभस्य पत्युः दधिषोः**) पाणिग्रहण करनेवाले द्वितीय पति की तथा (**तव**) अपनी (**इदं जनित्वम्**) इस सन्तान को लक्ष्य कर (**संबभूथ**) सुख से संयुक्त हो।

इस सन्दर्भ में अथर्ववेद का यह मन्त्र भी द्रष्टव्य है—

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥

—अथर्व० १८।३।३

भाषार्थ—(**नीयमानाम्**) शवयात्रा में ले-जाई जाती हुई, और (**मृतेभ्यः**) मृतकों से (**परि**) पृथक् कर (**नीयमानाम्**) वापस लाई हुई (**जीवां युवतिम्**) जीवित युवति को (**अपश्यम्**) मैंने देखा है। (**यत्**) जोकि पहले पति की मृत्यु के कारण (**अन्धेन तमसा**) गहरे शोकान्धकार से (**प्रावृता आसीत्**) घिरी हुई थी। (**तत्**) इसलिए (**एनाम्**) इस विधवा को (**प्राक्तः**) शवयात्रा में आगे बढ़ने से (**अपाचीम्**) पीछे की ओर (**अनयम्**) मैं लाया हूँ।

मन्त्र में प्रसङ्ग 'दिधिषोः पत्युः' का है (१८।३।२)। **परिणीयमानाम्** = परि (**वर्जने**) + **नीयमानाम्**, '**अपपरी वर्जने**' (अष्टा० १।४।८७)। '**परिणीयमानाम्**' में **श्लेषविधया** 'नियोग विधि द्वारा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(इयं नारी पतिलोकं०) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा करके नियोग किया चाहे, तो **(प्रेतम्)** अर्थात् वह पति मरजाने के अनन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो। **(उप त्वा मर्त्यं०)** इस मन्त्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आज्ञा देता है, कि हे पुरुष! **(धर्मं पुराणमनुपालयन्ती)** जो इस सनातन नियोग धर्म की रक्षा करनेवाली स्त्री है, उससे सन्तानोत्पत्ति के लिए **(तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि)** धर्म से वीर्य्यदान कर, जिससे वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिए भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मर जाए और वह सन्तानोत्पत्ति किया चाहे, तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त कर दे। इसलिए मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम मन, कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मत करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो ॥२॥

(उदीर्ष्व नारी) हे स्त्री! अपने मृतक पति को छोड़के **(अभि जीवलोकम्)** इस लोक में **(एतमुपशेष एहि)** जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो, नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढ़ाया कर। नियुक्त पति की संज्ञा 'दिधिषु' है **(तवेदं)** वह तेरे सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो, और जो तेरे लिए नियोग किया गया हो तो वह तेरा सन्तान हो। **(पत्युर्जनित्वम०)** और जो नियुक्त पति के लिए नियोग हुआ हो, तो वह सन्तान पुरुष का हो। इस प्रकार नियोग से अपने-अपने सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो ॥३॥

पुनर्विवाहित होती हुई' भी हो सकता है। ग्रन्थकार द्वारा पुनर्विवाह अनुमोदित है, किन्तु अक्षतवीर्य पुरुष व अक्षतयोनि स्त्री का। अन्यथा ग्रन्थकार ने पुनर्विवाह को शूद्र-विवाह कहा है।

'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद् वा' (अष्टा० ३।३।१३१)—वर्त्तमान के समीप—(भूत अथवा भविष्यत्)—वाले समय का वर्त्तमान की भाँति ही प्रयोग किया जाता है, व्याकरण के इस नियम के अनुसार भूतकाल के वाचक 'इस' शब्द का वर्त्तमान की भाँति प्रयोग हुआ है। इससे मृत पति के शव की विद्यमानता में बोलने या स्त्री से पूछने का भाव व्यक्त नहीं होता। कुछ समय पश्चात् ही विधवा स्त्री से उसकी इच्छा जानने के लिए पूछा जाता है कि वह ब्रह्मचारिणी रहना चाहती है या किसी रूप में दूसरा पति स्वीकार करना चाहती है?

सायणाचार्य ने भी बंगाल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता द्वारा सन् १८७२ (स्वामी दयानन्द से पूर्व) में प्रकाशित तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्य में इस मन्त्र का यही भाष्य किया है—

हे नारि! त्वं गतासुं गतप्राणं एतं पतिं उपशेषे उपेत्य शयनं करोषि। उदीर्ष्व अस्मात् पति-समीपादुत्तिष्ठ जीवलोकमभिजीवन्तं प्राणिसमूहमभिलक्ष्य एहि आगच्छ। त्वं हस्तग्राभस्य पाणिं ग्राहवतोः दिधिषोः पुनर्विवाहेच्छोः पत्युरेतत् जनित्वं जायात्वं अभिसम्बभूव आभिमुख्येन प्राप्नुहि।

—प्रपाठक ६, अनुवाक् १, मन्त्र १४

भाषार्थ—हे नारि! तू इस मरे हुए पति के पास सोई हुई (लेटी हुई) है। इसके पास से उठ, इस जीवित प्राणिसमूह को देख और पुनर्विवाह की इच्छा करनेवाले, पाणिग्रहण करनेवाले पुरुष के जायात्व (पत्नीत्व) तथा जनित्व (सन्तान उत्पन्न करने) के लिए इसको प्राप्त हो—इसके साथ संबद्ध हो।

सायणाचार्य ने यहाँ **दिधिषोः** का अर्थ **पुनर्विवाहेच्छोः** किया है। मनुस्मृति (३।१७३) में कहा है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ।।४।।

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः ।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषू पतिः ।।

अर्थात्—नियोग धर्म के अनुसार नियुक्त होकर भी जो मरे हुए भाई की पत्नी से काम के वशीभूत होकर संयोग करता है, वह **दिधिषूपति** कहाता है ।

इसी प्रकार अमरकोष (काण्ड २, मनुष्य वर्ग, श्लोक २३) में लिखा है—

पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः ।

पहले एक की स्त्री होकर फिर किसी अन्य की भार्या होती है, उस दो वार ब्याही स्त्री के पति को **'दिधिषूः'** कहते हैं ।

शौनककृत ऋग्विधान में इस मन्त्र का नियोग में विनियोग इस प्रकार किया है—

भ्रातुर्भार्यामपुत्रस्य सन्तानार्थं मृते पतौ ।
देवरोऽन्वारुरुक्षन्तीम् उदीर्ष्वेति निवर्त्तयेत् ।।
ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते घृताभ्यक्तोऽथ वाग्यतः ।
एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ।।

—बर्लिन (जर्मनी) तथा मोतीलाल बनारसीदास
लाहौर द्वारा प्रकाशित ।

भाषार्थ—भाई के मर जाने पर उसकी पत्नी को देवर रोने आदि से रोके और **'उदीर्ष्व नारी०'** इस मन्त्र को बोलकर उठाये और ऋतुकाल आने पर उसमें एक पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा कदापि नहीं ।

आश्वलायनगृह्यसूत्र, अध्याय ४, कण्डिका २, सूत्र १८ में कहा है—

तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वोदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकमिति ।।

इसपर नारायणीयवृत्ति—

अथ पत्नीमुत्थापयेत् । कः ? देवरः पतिस्थानीयः स पतिस्थानीय इत्युच्यते । अनेन ज्ञायते पति-कर्त्तृकं कर्म (गर्भाधानं) पुंसवनादि देवरः कुर्यादिति । —सरस्वती यन्त्रालय कलकत्ता से श्री जीवानन्द विद्यासागर द्वारा प्रकाशित, सन् १८९३ ईसवी ।

इमां त्वमिन्द्र०—इस मन्त्र के संस्कृत भाष्य के **"अर्थात् कस्यांचित् .... चेन्मा कुरुताम्"** इस अंश का भाषा में अर्थ नहीं किया गया है । यह अंश बड़ा महत्त्वपूर्ण है । इसका भाषार्थ इस प्रकार है—

"अर्थात् किसी आपत्कालीन अवस्था के प्राप्त होने पर एक-एक के अभाव में सन्तानोत्पत्ति के लिए दसवें पुरुषपर्यन्त नियोग कर ले तथा पुरुष भी विवाहित स्त्री के मरने पर सन्तान के अभाव में दशवीं पर्यन्त विधवा के साथ नियोग करे । यदि इच्छा न हो तो न करे ।"

जो चाहें उनके लिए शास्त्र में निषेध नहीं है । अथर्व (९।५।२७-२८) में कहा है—

या पूर्वं पतिं वित्त्वा[1]ऽथान्यं विन्दतेऽपरम् ।
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।।

१— **'विद्लृ लाभे'** धातु से **'वित्त्वा'** शब्द सिद्ध होता है, **'विद् ज्ञाने'** से नहीं । इसलिए इसका अर्थ 'पति को जानकर' नहीं, 'पति को प्राप्त करके' ही बनता है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ।।५।।
—ऋ० अष्ट० ८ । अ० ३ । व० २८, २७ । मं० ५, ५ ।।

अर्थात्—जो स्त्री पहले पति को प्राप्त करके पुनः उससे भिन्न पति को प्राप्त करती है, पुनः पत्नी होनेवाली स्त्री के साथ यह दूसरा पति एक ही गृहस्थलोक में वास करनेवाला हो जाता है ।

पराशरस्मृति में ४।३० कहा है—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ[1] ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।।

पति के लापता होने, मर जाने, संन्यासी बन जाने, नपुंसक होजाने अथवा पतित होजाने रूप पाँच आपत्तियों में स्त्रियों को दूसरे पति का विधान है ।

वहीं श्लोक ३१ में कहा है—

मृते भर्त्तरी या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
सामृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः ।।

अर्थात्—पति के मरने पर जो स्त्री ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित रहती है, वह मरने पर ब्रह्मचारियों की भाँति स्वर्ग को प्राप्त करती है ।

कुछ ऐसा ही संकेत ग्रन्थकार ने **'उदीर्ष्व नारी'** इस मन्त्र के भाष्य में इन शब्दों में दिया है—"जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो, नहीं तो ब्रह्मचर्य आश्रम में स्थिर होकर स्त्रियों और कन्याओं को पढ़ाया कर ।"

सोमः प्रथमो०—कतिपय पौराणिक विद्वान् इस मन्त्र का नियोग या विधवा-विवाह-परक अर्थ करना ठीक नहीं मानते । उनका कहना है कि सोम, गन्धर्व और अग्नि ये मनुष्य नहीं, देवता हैं । पहले ये तीनों कन्या को भोगते हैं, पश्चात् उसका विवाह मनुष्य के साथ होता है । उनका यहाँ तक

---

[1] पौराणिक विद्वानों का कहना है कि व्याकरण के नियम से **'पतौ'** शब्द नहीं बनता, **'पत्यौ'** शुद्ध शब्द है । इसलिए यहाँ **'पतिते पतौ'** के स्थान पर **'पतितेऽपतौ'** ऐसा मानना चाहिए । तब उसका अर्थ होगा—'जो अभी पति नहीं बना, वाग्दानमात्र हुआ है, वह यदि लापता हो गया है······।' इत्यादि पर यह श्लोक पराशरस्मृति में ही नहीं, नारद संहिता तथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराण (१।४।११२, ११४) में भी आया है । सर्वत्र **'पतौ'** शब्द पढ़ा गया है जिसे **'अपतौ'** नहीं बनाया जा सकता । दूसरे किसी भी प्राचीन टीकाकार ने ऐसी कल्पना नहीं की । यह आर्ष प्रयोग भी हो सकता है । परन्तु वाग्दानमात्र से किसी की 'पति' संज्ञा नहीं हो जाती । कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ्य काण्ड में उद्धृत यमस्मृति के वचन में कहा है—

नोदकेन न वा वाचा कन्यायाः पतिरुच्यते ।
पाणिग्रहणसंस्कारात्पतित्वं सप्तमे पदे ।।

अर्थात्—उदक (अर्घ्य, पाद्य तथा आचमनीय जल देने) से अथवा वाणी (वाग्दान) से कन्या का पति नहीं बनता, अपितु पाणिग्रहण (विवाहसंस्कार) द्वारा सप्तपदी के सातवें पद के हो चुकने पर ही 'पतित्व'=पतिपन आता है । तात्पर्य यह कि वाग्दानमात्र से कोई पति नहीं बन जाता । इसलिए उक्त श्लोक में जो कुछ कहा गया है, विवाहित पति को लक्ष्य करके ही कहा गया है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥६॥

—अथर्व० का० १४ अनु० २ मं० १८

भाष्यम्—इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्च परिगणनं क्रियते—कतिवारं नियोगः कर्त्तव्यः, कियन्ति सन्तानानि चोत्पाद्यानीति । तद्यथा - (इमां त्वमिन्द्र०) हे इन्द्र विवाहितपते ! (मीढ्वः) हे वीर्य्यदानकर्त्तस्त्वमिमां विवाहित स्त्रियं वीर्य्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु। तां (सुपुत्राम्) श्रेष्ठपुत्रवतीं (सुभगाम्) अनुत्तमसुखयुक्तां (कृणु) कुरु। (दशास्यां०) अस्यां विवाहितस्त्रियां दश पुत्रानाधेहि उत्पादय, नातोऽधिकमिति। ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम् तथा (पतिमेकादशं कृधि) हे स्त्रि ! त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्य्यन्तं नियोगं कुरु, अर्थात् कस्याञ्चिदापत्कालावस्थायां[2] प्राप्तायामेकैकस्याभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्य्यन्तं नियोगं कुर्य्यात् । तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्विति, इच्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम् ॥४॥

अथोत्तरोत्तरं पतीनां संज्ञा विधीयते—(सोमः प्रथमः०) हे स्त्रि! यस्त्वां प्रथमं[3] (विविदे) विवाहितः पतिः प्राप्नोति स सौकुमार्य्यादिगुणयुक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति। (गन्धर्वो वि०) यस्तु उत्तरः द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे प्राप्नोति स गन्धर्वसंज्ञां लभते। कुतः ? तस्य भोगाभिज्ञत्वात् (तृतीयो अ०) येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते। कुतः ? द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां भुक्तभोगया त्वया सह नियुक्तत्वादग्निदाहवत्तस्य शरीरस्थधातवो दह्यन्त इत्यतः। (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) हे स्त्रि ! चतुर्थमारभ्य दशमपर्य्यन्तास्तव पतयः साधारणबलवीर्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्तीति बोध्यम्। तथैव स्त्रीणामपि सोम्या, गन्धर्व्याग्नायी, मनुष्यजाः संज्ञास्तत्तद्गुणयुक्तत्वाद्भवन्तीति ॥५॥

कहना है कि "अभुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका न प्रशस्यते"—सोमादि द्वारा न भोगी हुई कन्या विवाह के लिए उत्तम नहीं होती। नियोग तो मानवी का मानव से होता है, देव से नहीं।

वास्तव में सोम आदि मनुष्यों की ही संज्ञाएँ हैं। अथर्ववेद (१४।१।९) में लिखा है—

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्ती मनसा सवितादादात् ॥

अर्थ—जब सोम अर्थात् वीर्यवान् पुरुष वधू की कामना से युक्त हो तो स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर एक-दूसरे का वरण करनेवाले हों ....। यहाँ स्पष्ट ही पुरुष सोमसंज्ञक है। मन्त्रगत 'मनुष्यजाः' शब्द बहुवचनान्त है। यदि पहले तीनों—सोम, गन्धर्व ओर अग्नि देव होते ओर अन्तिम चौथा मनुष्य होता तो उसे 'मनुष्यजः' कहा गया होता, 'मनुष्यजाः' नहीं। 'मनुष्यजाः' के बहुवचनान्त प्रयोग से स्पष्ट है कि यह शब्द सोमादि चारों का परामर्शक है। इस प्रकार चारों पति मनुष्य हैं। यदि वादोतोषन्याय से सोमादि को देवसंज्ञक ही मान लिया जाए तो इसका यह अर्थ होगा कि देवों में नियोग और पुनर्विवाह शास्त्रसम्मत हैं, फिर मनुष्य इसका अपवाद क्यों होने लगे ?

अदेवृघ्न्यपतिघ्नी—सामान्य दृष्टि से स्वरशास्त्रानुसार मन्त्रस्थ **'अदेवृघ्नी व अपतिघ्नी'** पद प्रथमान्त हैं। पदकार ने भी इन्हें प्रथमान्त ही दर्शाया है—परन्तु ग्रन्थकार ने यहाँ सम्बोधनान्त मान

---

१. अथर्व १४।२।१८॥ २. अर्थात् सन्तानाभावे, उत्तरवाक्ये तथैव दर्शनात् ।

३. क्रियाविशेषणमेतत् । यदापतेर्विशेषणं तदा 'प्रथमः', इत्येवं पाठेन भाव्यम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अदेवृघ्न्यपतिघ्नि) हे अदेवृघ्नि देवरसेविके ! हे अपतिघ्नि विवाहितपतिसेविके स्त्रि ? त्वं **(शिवा)** कल्याणगुणयुक्ता, **(पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः)** गृहकृत्येषु शोभननियमयुक्ता, गृहसम्बन्धिपशुभ्यो हिता, श्रेष्ठकान्तिविद्यासहिता, तथा **(प्रजावती वीरसूः)** प्रजापालनतत्परा, वीरसन्तानोत्पादिका, **(देवृकामा)** नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती, **(स्योना)** सम्यक् सुखयुक्ता सुखकारिणी सती **(इममग्निं गार्हपत्यं)** गृहसम्बन्धिनमाहवनीयादिमग्निं, सर्वं गृहसम्बन्धिव्यवहारं च **(सपर्य्य)** प्रीत्या सम्यक् सेवय । अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यमिति ।।६।।

भावार्थ—(इमां०) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे इन्द्र ! पते ! ऐश्वर्ययुक्त ! तू इस स्त्री को वीर्यदान देके सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर । हे वीर्यप्रद ! **(दशास्यां पुत्रानाधेहि)** पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित वा नियोजित स्त्री में दश सन्तानपर्यन्त उत्पन्न कर, अधिक नहीं । **(पतिमेकादशं कृधि)** तथा हे स्त्रि ! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर अर्थात् एक तो उनमें प्रथम विवाहित और दशपर्यन्त नियोग के पति कर, अधिक नहीं ।

इसकी यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ सन्तानों के अभाव में नियोग करे । तथा दूसरे के भी मरण वा रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ कर ले । इसी प्रकार दसवें तक करने की आज्ञा है, परन्तु एक काल में एक ही वीर्यदाता पति रहे, दूसरा नहीं । इसी प्रकार पुरुष के लिए भी विवाहित स्त्री के मर जाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है और जब वह भी रोगी हो वा मर जाए, तो सन्तानोपत्ति के लिए दशम स्त्रीपर्यन्त नियोग कर लेवे ।।४।।

अब पतियों की संज्ञा कहते हैं—**(सोमः प्रथमो विविदे)** उनमें से जो विवाहित होता है, उसकी सोम संज्ञा है, क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुणयुक्त होता है । **(गन्धर्वो विविद उत्तरः)** दूसरा पति जो नियोग से होता है, सो गन्धर्वसंज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है । **(तृतीयो अग्निष्टे पतिः)** तीसरा जो नियोग से होता है, वह अग्निसंज्ञक होता है । **(तुरीयस्ते मनुष्यजाः)** और चौथे से लेके दशमपर्य्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं, वे सब मनुष्यसंज्ञक कहाते हैं, क्योंकि वे मध्यम होते हैं ।।५।।

(अदेवृघ्न्यपतिघ्नि) हे विधवा स्त्रि ! तू देवर और विवाहित पति को सुख देनेवाली हो, किन्तु उनका अप्रिय किसी प्रकार से मत कर, और वे भी तेरा अप्रिय न करें । **(एधि शिवा)** इसी प्रकार मंगलकार्यों को करके सदा सुख बढ़ाते रहो । **(पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः)** घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके, जितेन्द्रिय होके, धर्मयुक्त श्रेष्ठ कार्य्यों को करती रह तथा सब प्रकार

कर ही व्याख्यान किया है । यहाँ दोनों पदों के समान कोटिवाले होने से अर्थात् समानाधिकरण होने पर भी पूर्वपद के सामान्य वचन न होने से **'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्'** इस सामान्य नियम से **'अदेवृघ्नि'** के अविद्यमान होने पर **'अपतिघ्नि'** में भी आमन्त्रिताद्युदातत्व सम्भव है, अतः ग्रन्थकार का इन्हें आमन्त्रित पद मानना भी स्वरशास्त्रानुकूल है ।

इस मन्त्र में आये **'देवृकामा'** का अर्थ भी 'देवर की कामना करनेवाली' है । कोई-कोई यहाँ **'देवृकामा'** के स्थान पर **'देवकामा'** पाठ की कल्पना करते हैं, परन्तु वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित संस्करण में ही नहीं, सनातन धर्म यन्त्रालय, ओंकार यन्त्रालय प्रयाग तथा जर्मनी में वेबर द्वारा प्रकाशित संस्करणों में सर्वत्र **'देवृकामा'** पाठ ही मिलता है । फिर दाम्पत्य या गृहस्थ के प्रसंग में देवों की कामना करने की बात सोचना सर्वथा असंगत है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विद्यारूप उत्तम तेज को बढ़ाती जा, (**प्रजावती वीरसूः**) तू श्रेष्ठप्रजायुक्त हो, बड़े बड़े वीर पुरुषों को उत्पन्न कर। (**देवृकामा**) जो तू देवर की कामना करनेवाली है, तो जब तेरा विवाहित पति न रहे वा रोगी अथवा नपुंसक हो जाए, तब दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर। (**स्योनेममग्नि गार्हपत्यं सपर्य**)और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर।

इसी प्रकार से विधवा और मृतस्त्रीक पुरुष तुम दोनों आपत्काल में नियोगधर्म द्वारा सन्तानोत्पत्ति करो, और उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करते जाओ। गर्भहत्या वा व्यभिचार कभी मत करो किन्तु नियोग ही कर लो, यही व्यवस्था सबसे उत्तम है ॥६॥

॥ इति नियोगविषयः संक्षेपतः ॥

महाभारत० अनु० अ० ८।२२ में लिखा है—

नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्।
पृथिवी ब्राह्मणालाभे क्षत्रियं कुरुते पतिम् ॥

आदिपर्व अध्याय १०६ के अनुसार सत्यवती-सुत कृष्णद्वैपायन व्यास ने विचित्रवीर्य की पत्नियों में नियोग द्वारा पाण्डु और धृतराष्ट्र को उत्पन्न किया था। मातृपक्ष से व्यास विचित्रवीर्य के ज्येष्ठ भ्राता थे और वर्ण के अनुसार ब्राह्मण होने से उत्तम वर्णस्थ थे। पुनरपि अ० १०६ श्लोक २ में सत्यवती ने अपनी पुत्रवधू से कहा—"**कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वामनुप्रवेक्ष्यति।**" यहाँ व्यास के ज्येष्ठ होने पर भी उनके लिए देवर शब्द का प्रयोग किये जाने से 'देवर' शब्द के द्वितीय वर का वाचक होना स्पष्ट है।

उदीर्ष्व नारी०—इस मन्त्र का अर्थ करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—"हे स्त्रि! तू इस मृत पति के पास लेटी हुई है, तू इसके पास से उठ और जीवित प्राणिसमूह को सामने लक्ष्य करके आ। तू पाणिग्रहण करनेवाले, पुनर्विवाह के इच्छुक पुरुष के जायात्व (पत्नीत्व) तथा जनित्व (सन्तान उत्पन्न करने) के लिए उसको प्राप्त हो।" पराशरस्मृति आदि ने पति के मरने पर ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने अथवा विवाह करने का विधान किया है। अथर्ववेद (१८।३।२) में शवयात्रा में जाती हुई विधवा को मृतक के पास से हटाकर वापस लाने का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है और वसिष्ठस्मृति में तो यहाँ तक लिखा है—

ऊर्ध्वं षड्भ्यो मासेभ्यः स्नात्वा श्राद्धं च पत्ये दत्त्वा विद्याकर्मगुरुयोनिसम्बन्धान् संनिपात्य पिता भ्राता वा नियोगं कारयेत्।—वसिष्ठस्मृति अ० १७

अर्थात्—(विधवा होने के) छह मास पश्चात् स्नान करके पति का श्राद्ध करके; विद्यासम्बन्धी, कर्मसम्बन्धी, योनिसम्बन्धी गुरुजनों को एकत्र कर पिता अथवा भ्राता नियोग की व्यवस्था करे।

इन सब प्रमाणों में पति के मरने पर विधवा स्त्री के जीवित रहकर सामान्य जीवन व्यतीत करने का निर्देश है। ऐसी अवस्था में विधवा स्त्री के मृत पति के साथ जल कर सती हो जाना सर्वथा अशास्त्रीय एवं अमानुषिक कृत्य है।

सती प्रथा का अनुमोदन करनेवाले प्रायः ऋग्वेद के इस मन्त्रको अपने पक्ष में प्रस्तुत करते हैं—

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ —ऋक्० १०।१८।७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(**इमा**) ये (**अविधवाः**) पति से युक्त (**नारीः**) स्त्रियाँ (**सुपत्नीः**) पतिव्रता बनकर (**आञ्जनेन सर्पिषा**) घृतादि सुगन्धित पदार्थों से सुशोभित होकर (**सं विशन्तु**) स्वगृह में प्रवेश करें। वे (**अनश्रवः**) अश्रुरहित, (अनमीवाः) रोगरहित, (**सुरत्नाः**) सुन्दर आभूषणादि तथा रम्य गुणोंवाली (**जनयः**) सन्तानों को जन्म देने में समर्थ स्त्रियाँ (**अग्रे**) आदरपूर्वक पहले (**योनिम् आ रोहन्तु**) घर में प्रवेश करें।

इस मन्त्र में किसी ने अनजाने अथवा जानबूझ कर 'अग्रे' को 'अग्ने' बनाकर विधवा के पति के शव के साथ जल मरने को प्रथा को चालू किया, परन्तु मन्त्रगत **'अविधवा नारीः'** शब्दों से सर्वथा विस्पष्ट है कि यहाँ जो कुछ कहा गया है, वह 'सधवा' (पति से युक्त) स्त्रियों के विषय में कहा गया है। **'अग्ने'** पद मानने पर मन्त्रगत अन्य सभी शब्द निरर्थक वा असंगत हो जाते हैं। मैक्समूलर ने इस विषय में लिखा है—

This is perhaps the most flagrant instance of what can be done by an unscrupulous priesthood. Here have the lives of thousands been sacrificed and a financial rebellion been threatened on the authority of a passage which was mangled, mistranslated and misapplied.

भाषार्थ—विवेकहीन धर्म के ठेकेदार क्या कुछ कर सकते है, शायद यह उसका अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण है। एक सन्दर्भ को तोड़-मरोड़ कर उसके अशुद्ध अर्थ करके और उसका मिथ्या विनियोग करके हज़ारों की हत्या कर दी गई।

किसी भी कारण से सन्तान के अभाव में अन्य पुरुष वा स्त्री से सन्तानोत्पत्ति करना आपद्धर्म के रूप में शास्त्रसम्मत है। इसी को नियोग कहते हैं। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

'किराये के गर्भ' (Surrogate mother) के रूप में वर्त्तमान में पाश्चात्य जगत् में पनप रही प्रथा प्राचीन नियोग पद्धति का ही आधुनिक संस्करण है। इस प्रसंग में Indian Express के १७ फ़रवरी १९८५ के अंक में प्रकाशित यह समाचार द्रष्टव्य है—

'One of the first recorded instances of surrogate motherhood is found in the Bible. Abraham's wife Sarah who could not conceive sent her husband to the Egyption maid, Hagar, saying. "It may be that I may obtain children by her" and Hagar bore Ishmael. This is almost 4000 years ago. It is interesting to know that in Topeka, Kansas (U. S. A.) there is an institute known as Hagar Institute which derives its name from the Biblical event and provides surrogate mother service."

अंग्रेज़ी के सर्वाधिक प्रामाणिक कोश 'Oxford English Dictionary' के अनुसार Surrogate शब्द का अर्थ है—'A person that acts for or takes the place of another; a substitute? अनियमित विवाह सम्बन्ध की चुपचाप अनुमति देनेवाले पादरी की संज्ञा भी Surrogate है। कोश के अनुसार इस शब्द का यह अर्थ १६०४ ईसवी से चला आता है। इससे स्पष्ट है कि नियोग का सिद्धान्त सार्वभौम एवं सार्वकालिक है, भले ही उसके अवान्तर भेद कुछ भी रहे हों।

विधवा और विधुर ही परस्पर नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। जिस स्त्री का पति मर जाये या जिस पुरुष की पत्नी मर जाए, अथवा उनमें किसो प्रकार का स्थायी रोग हो जाए, या नपुंसक वा बन्ध्या दोष पड़ जाए और उनकी युवावस्था हो तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो, तो उस अवस्था में मात्र सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से नियोग हो सकता है।

— ० —

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान् व्रते गन्धर्वा अपि वायुकेशान् ॥१॥
—ऋ० अ० ३।अ० २। व २४। म० १

जिसे आज राजनीति कहा जाता है, प्राचीन भारतीय वाङ्मय में उसे राजधर्म के नाम से अभिहित किया गया है। स्वयं भगवान् मनु ने इस विषय को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ —मनु० ७।१

अब हम राजधर्मों को कहेंगे। किस प्रकार राजा (राज्यव्यवस्था) का उद्भव हुआ और किस प्रकार उससे अभीष्ट की सिद्धि हुई। ग्रन्थकार ने भी इस विषय को प्रारम्भ करते हुए सत्यार्थ-प्रकाश में लिखा है– **'अथ राजधर्मान् व्याख्यास्यामः'** (षष्ठ समुल्लास)

प्रत्येक शब्द किसी अर्थ का वाचक या पदार्थ का द्योतक होता है। संस्कृत के शब्दों की यह विशेषता है कि उनका अर्थ उनके निजी स्वरूप में निहित होता है। वे सभी भावपूर्ण तथा किसी विचार का मूर्त्त रूप होते हैं और अपने अर्थ विशेष के कारण ही किसी पदार्थ के द्योतक होते हैं। जिस शब्द का जो अर्थ अभीष्ट होता है, वह उसपर बलात् आरोपित नहीं किया जाता, अपितु उसकी प्रकृति अथवा मूलरूप से निःसृत होता है। वस्तुतः हमारे यहाँ 'नीति' और 'धर्म' शब्दों का इतने गम्भीर तथा व्यापक अर्थों में प्रयोग किया गया है कि संसार की अन्य किसी भी भाषा में उनके पर्यायवाची शब्द नहीं मिलते। कैलीफ़ोर्निया यूनिवर्सिटी के एक प्रोफ़ेसर ने संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पञ्चतन्त्र' का अंग्रेजी में अनुवाद करते हुए उसकी भूमिका में लिखा था—"Western scholarship should be ashamed that it has not been able to find out an equivalent of the Sanskrit word 'Niti' (नीति). At best it can be paraphrased as 'wise conduct of life." जिन दिनों मौलाना अबुलक़लाम आज़ाद तथा प्रोफ़ेसर हुमायूं कबीर क्रमशः भारत के शिक्षा मन्त्री तथा शिक्षा सचिव थे, तब १ अक्तूबर १९५५ को भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय की ओर से देशभर के शिक्षामन्त्रियों तथा विश्वविद्यालयों के कुलपतियों के नाम भेजे गये एक परिपत्र में सभी स्कूलों व कालिजों में धर्म शिक्षा को एक अनिवार्य विषय बनाने की प्रेरणा करते हुए कहा गया था –"There is a system of values which is widly recognised and respected. Without a common system of values no society can flourish and

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

in fact the individuals constituting it tend to languish. The Sanskrit term Dharma (धर्म) brings out this essential characteristic. It is this which binds or holds together the members of a community." इस परिपत्र के अन्तिम वाक्य में धर्म शब्द की जो व्याख्या की गई है वह मानो महाभारत के इस श्लोक के पूर्वार्ध का शब्दानुवाद है—

धारणाद्धर्मं इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः ।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स वै धर्म इति स्मृतः ।।

अरबी, फ़ारसी अंग्रेज़ी के महारथियों को 'धर्म' शब्द का आश्रय तभी लेना पड़ा जब उन्हें अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अन्य भाषाओं में कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिला।

संस्कृत के प्रामाणिक कोश **'वाचस्पत्यम्'** तथा **'शब्दकल्पद्रुम'** आदि के अनुसार 'धृ धारणे **धातोः मन् प्रत्ययः । धरति लोकान् ध्रियते वा प्रजाभिः इति धर्मः ।** व्युत्पत्ति' के अनुसार "धृञ् धारणे (भ्वा०) धातोः' **अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्**' (उणादि० १।१४०), **ध्रियते सुख-प्राप्तये सेव्यते स धर्मः, पक्षपातरहितो न्यायः (उणादि व्याख्यायाम्)**

सत्यार्थप्रकाश में स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने लिखा है—"जो पक्षपात रहित, न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको धर्म और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभङ्ग वेदविरुद्ध है उसको अधर्म मानता हूँ।"

"धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, अथवा राज्य को धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए"—यह उद्घोष 'नीति' एवञ्च 'धर्म' के गूढार्थ को न समझने के कारण लगाया जाता है। धर्म के जिस स्वरूप का निर्देश ग्रन्थकार ने ऊपर किया है, उसकी उपेक्षा के कारण ही आज राजनीति दूषित हो गई है। यदि पुरुष में नारी के गुण आ जाएँ तो वह देवता वन जाता है। इसके विपरीत यदि नारी में पुरुष के गुण आ जाएँ तो वह कुलटा हो जाती है। इसी प्रकार यदि राजनीति में धर्म आ जाए तो वह पवित्र हो जाती है। इसके विपरीत यदि धर्म में राजनीति घुस जाए तो वह मनुष्य के लिए भयानक रूप से घातक हो जाता है।

'राजप्रजाधर्म' में धर्म शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थों में हुआ है। कर्त्तव्य, औचित्य, व्यवहार, आचरण इन सभी भावों को इस प्रयोग में सन्निविष्ट किया गया है। जैसे राजा के बिना प्रजा की और प्रजा के बिना राजा की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसे ही कर्त्तव्य के बिना अधिकार का और अधिकार के बिना कर्त्तव्य का व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिए इस प्रकरण में राजा और प्रजा तथा उनसे सम्बन्धित सभा-समितियों के कर्त्तव्याधिकार का संक्षिप्त विवेचन हुआ है।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनु० २।६)—सम्पूर्ण वेद धर्म का आदिमूल है। राजप्रजाधर्म भी वेदमूलक है। **'या तेनोच्यते सा देवता'**—मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय ही उसकी देवता है। यजुर्वेद के २३वें अध्याय के मन्त्र संख्या २०, २२, २३, ३१ तो साक्षात् 'राजप्रजे' दैवत ही हैं। मन्त्र संख्या २१ की देवता न्यायाधीश, २८ की प्रजापति, ३० व ३२ की राजा, ३४ व ३५ की प्रजा, ३८ की सभासद् तथा ४० से ४४ की प्रजा है। इस अध्याय के अन्य कई मन्त्रों तथा अन्य अध्यायों के अनेक मन्त्रों का ही नहीं, अन्य वेदों के भी अनेक मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय राजधर्म है। **'राजा च प्रजा चेति राजप्रजे तयोर्धर्मः राजप्रजाधर्मः'**। इस प्रकार इन सभी मन्त्रों में इस विषय का प्रतिपादन किया गया है। मनुस्मृति में धर्म पद के बहुवचनान्त प्रयोग से स्पष्ट है कि यहाँ इस शब्द का प्रयोग मुख्यतः कर्त्तव्यों के अर्थ में हुआ है, प्रचलित अर्थ में नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिना शासक के प्रशासन नहीं चल सकता। ब्रह्माण्ड का व्यवस्थित रूप में इसीलिए संचालन हो रहा है कि उसका एक संचालक है जिसे परमेश्वर आदि नामों से पुकारा जाता है। **'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'** (यजु० २५।१०)—इस अखिल ब्रह्माण्ड का अधिपति, प्रजापति या राजा एक है। अनेक होते तो सुचारु रूप से विश्व का संचालन न हो पाता। ब्रह्म का लक्षण करते हुए बादरायण (महर्षि वेदव्यास) ने वेदान्तदर्शन में लिखा है—**'जन्माद्यस्य यतः'** (१।१।२)—जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है, वह ब्रह्म है। मोक्षावस्था में जीव के ब्रह्म में लय हो जाने पर उसकी स्थिति के सम्बन्ध में व्यासमुनि लिखते हैं—**'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च'** (४।४।१७)। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि जगत् की उत्पत्त्यादि तो नित्यसिद्ध ईश्वर का अधिकार है। यह कार्य तो ईश्वर मुक्तात्माओं के भी अधिकार में नहीं देता। कारण ? जीवात्मा अनेक हैं। यदि उन्हें उत्पत्त्यादि का अधिकार दे दे तो कोई सृष्टि को उत्पन्न करना चाहेगा और कोई उसका संहार करना चाहेगा। इस प्रकार परस्पर विरोध के कारण सृष्टि के कार्य में बाधा पड़ेगी। इसलिए समस्त ब्रह्माण्ड में परमेश्वर का एकछत्र राज्य है। वह परमात्मा अपनी महिमा से—अपने उच्चत्तम गुणों से इस जगत् का एकमात्र राजा है **'महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव'** (यजु० २५।११)

इस पृथिवी पर रहनेवाले राजा और प्रजा, शासक और शासित सबको इस भावना के साथ व्यवहार करना चाहिए कि हम सबका राजा परमेश्वर है और हम सब उसकी प्रजा हैं—**'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'**। इस भावना के रहते राजा निरंकुश न होगा और प्रजा अपने को सर्वथा असहाय अनुभव न करेगी।

'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'— जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक सम्राट् का शासन है—**'सम्राडसि'** यजु० ५।३२, वैसे ही मनुष्यसमाज में अपने-अपने सीमित क्षेत्र में शासन करनेवाले सर्वोच्च व्यक्ति को उसके गुणों से प्रकाशित होने के कारण राजा (**राजृ दीप्तौ, राजा राजतेः** निघण्टु २, ३, **शोभते दीप्यते वा असौ स राजा; सम्यक् राजते असौ स सम्राट्**) नाम से अभिहित किया जाता है।

ऋग्वेद ५।६६।६ में शासन को **'बहुपाय्य'**—अनेकों की सहायता से चलनेवाला बताया है। मनुस्मृति (७।५५) के आधार पर ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—"विशेष सहाय के बिना जो सुगम कर्म है वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है। जब ऐसा है तो महान् राज्य कर्म एक से कैसे हो सकता है? इसलिए एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य का निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है" (समुल्लास ६)। इसलिए राज्य कार्य का संचालन करने के लिए **त्रीणि सदांसि** तीन सभाओं राजसभा, विद्यासभा तथा धर्मसभा को नियुक्त किया जाना चाहिए। मन्त्र में आये **'राजाना'** तथा **'भूषथः'** शब्दों से स्पष्ट है कि इन सभाओं की नियुक्ति का अधिकार केवल राजा को नहीं है। **'राजाना'**—शब्द द्विवचनान्त है—**'द्विवचनस्याकारादेशश्छान्दसः'**। क्रियापद भी द्विवचनान्त है। यहाँ **'राजानौ'** पद से राजा और प्रजा दोनों अभिप्रेत हैं। सत्यार्थप्रकाश (समु० ६) में इस मन्त्र का अर्थ करते हुए 'राजा और प्रजा के पुरुष मिलके' लिखा है। इसका तात्पर्य यह है कि ये तीन सभाएँ राजा द्वारा मनोनीत (Nominated) नहीं होंगी, अपितु राजा और प्रजा के प्रतिनिधि मिलकर इनकी नियुक्ति करेंगे। प्रजा के पूर्ण सहयोग के बिना शासनतन्त्र सुचारु रूप से नहीं चल सकता।

वर्त्तमान में राज्यव्यवस्था या शासन तन्त्र के तीन अंग, विधायिका (Legislature) कार्यपालिका, (Executive) तथा न्यायपालिका (Judiciary) माने जाते हैं। विधायिका का काम शासन को व्यवस्थित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप से चलाने के लिए अपेक्षित विधि-विधान तैयार करना, कार्यपालिका का काम निर्धारित विधि-विधान के अनुसार कार्य करना तथा न्यायपालिका का काम दोनों को नियन्त्रित करना है। लोकतन्त्र में 'तन्त्र' का आधार लोक होता है। जब लोकवाणी की अवहेलना होकर 'तन्त्र' प्रबल हो जाता है तो मूल्यों का संकट उत्पन्न हो जाता है। ग्रन्थकार द्वारा राज्य प्रबन्ध के लिए धर्मार्य सभा आदि के रूप में कार्य विभाजन का क्या आधार है, हम नहीं कह सकते। हो सकता है, कोई प्राचीन अलभ्य ग्रन्थ उनके देखने में आया हो। यह भी सम्भव है कि यह उनकी अपनी ऊहा या सूझ हो।

धर्मार्य सभा का काम 'धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि करना' है। यहाँ 'धर्मसभा' से Ecclesiastical Department या सीग़ा अमूरे मज़हबी (धर्मविभाग) अभिप्रेत नहीं है। ग्रन्थकार के मत में 'जो पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्यभाषणादियुक्त कर्म है, वह धर्म और जो इसके विपरीत है, वह अधर्म है।' (स० प्र०) अथवा 'जो पक्षपातरहित न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसी को ग्रहण करो, उससे विपरीत कभी मत चलो' (ऋ० भा० भू० वेदोक्त धर्मविषय)। इस लक्षणयुक्त धर्म की रक्षा और अधर्म का नाश करना धर्मसभा का काम है। इस प्रकार धर्मार्य सभा 'न्यायसभा का' अपर नाम है। तदनुसार सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का विनाश करके धर्म की स्थापना करना धर्मार्य सभा के क्षेत्र के अन्तर्गत है।

विद्यासभा के अन्तर्गत प्राथमिक स्तर से लेकर उच्चत्तम शिक्षा की व्यवस्था, सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबके विकास के लिए अनुसन्धान, साँस्कृतिक कार्य, कला-कौशल, संग्रहालय, सूचना-प्रसारण, पुस्तकालय, प्रकाशन, खेल-कूद आदि हैं।

राजार्य सभा के अन्तर्गत गृहविभाग, विदेशविभाग, रक्षाविभाग, राजस्व, अर्थव्यवस्था, उद्योग, कृषि, यातायात, संचार आदि होने चाहिएँ।

तात्पर्य यह है कि राष्ट्र के सम्यक् शासन के लिए विविध प्रकार की सभा, समिति, परिषद् आदि का होना आवश्यक है। प्रजा के विविध वर्गों के विचारों का प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण से विचार करके ही किसी बात का निर्णय होना चाहिए। कोई भी एक व्यक्ति सर्वगुण-सम्पन्न या सर्वज्ञ नहीं होता। इसलिए किसी एक की बुद्धि पर निर्भर करके शासन कार्य ठीक-ठीक नहीं चल सकता। ग्रन्थकार का स्पष्ट निर्देश है कि "उन तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग वर्तें।" (स० प्र० समु० ६)। इसीलिए उन्होंने यहाँ आदेश दिया है—"तीन प्रकार की सभाओं को ही राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य को कभी नहीं। जहाँ एक अकेला मनुष्य राजा होता है वहाँ निश्चित रूप से प्रजा पीड़ित होती है।" प्रकारान्तर से इस बात को उन्होंने बार-बार कहा है। जैसे—

"एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए। किन्तु राजा जो सभापति, तदधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा के अधीन रहे। यदि ऐसा न करोगे तो—

राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः। विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति ॥ —शत० १३।२।३।१

जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे तो राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करे। जिस लिए अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके प्रजा का नाशक होता है, अर्थात् वह राजा प्रजा को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खाये जाता है, इसलिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए। जैसे सिंह वा मांसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मारकर खा लेते हैं, वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है।"—स० प्र० समु० ६

"प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा वा राजपुरुष कभी न चलें।" "न्यून से न्यून दश विद्वानों अथवा बहुत न्यून हों, तो तीन विद्वान् जैसी व्यवस्था करें उस धर्म अथवा व्यवस्था का उल्लंघन कोई न करें।" "राजा अपने मन से एक भी कार्य न करे, जबतक सभासदों की अनुमति न हो।" "सभापति (राजा) को उचित है कि सभासदों का पृथक् अपना-अपना विचार और अभिप्राय सुनकर बहुपक्षानुसार कार्य करे।"

इस प्रकार ग्रन्थकार द्वारा प्रतिपादित राजतन्त्र प्रजातन्त्र का ही दूसरा नाम है। उनमें नाम-भेद है सही, किन्तु रूपभेद नहीं। न राजा को संसद् या विधानसभा के निर्णय को अस्वीकार करने का अधिकार है और न सभा के निर्णय के बिना कोई अध्यादेश (आर्डिनेन्स) जारी करने का अधिकार है। वास्तव में सभा का निर्णय प्रजा के प्रतिनिधियों का निर्णय होता है। इसलिए वह प्रजा और उसके द्वारा निर्वाचित राजा दोनों के लिए समानरूप से माननीय है।

आर्य राजा ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं, बल्कि जनता का प्रतिनिधि है। वह निर्दोष या निर्भ्रान्त नहीं, बल्कि अपने अपराधों के लिए प्रजा से अधिक दण्डनीय है। वह प्रजा का स्वामी नहीं, संरक्षक मात्र है और उसकी स्थिति वर्तमान के संवैधानिक शासक (constitutional head) से अधिक नहीं है। पराधीन भारत में जब Divine right of kings की मान्यता के अनुसार 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' का उद्घोष जनमानस पर छाया हुआ था, ग्रन्थकार द्वारा **'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'** का नाद राजद्रोह से कम अपराध नहीं था। सचमुच वह विद्रोही था। ऐसा न होता तो 'आर्याभिविनय' जैसे भक्तिप्रधान ग्रन्थ में "अन्य देशवासी राजा हमारे देश में न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न रहें" जैसे शब्द लिखने का साहस न करता। वस्तुतः इन शब्दों में 'पूर्ण स्वराज्य' की घोषणा और 'भारत छोड़ो' (Quit India) की ललकार है।

परन्तु वैदिक प्रजातन्त्र विवेकहीन नहीं है। ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है "तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभाओं में मूर्खों को कभी भरती न करे।" भगवान् मनु ने तो यहाँ तक कह दिया—

> **एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।**
> **स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥**
>
> **यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः।**
> **तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति॥**—मनु० १२।११३, ११५

अर्थात्—यदि एक अकेला सब वेदों को जाननेहारा, द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे, वही श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, करोड़ों मिलके जो कुछ व्यवस्था करें, उसको कभी न मानना चाहिए। जो अविद्यायुक्त मूर्ख, वेदों के न जाननेवाले मनुष्य जिस धर्म को कहें, उसको कभी न मानना चाहिए, क्योंकि जो मूर्खों के कहे हुए धर्म के अनुसार चलते हैं, उनके पीछे सैकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं।

मनु० के श्लोकों से तथा ग्रन्थकार के निर्देश से स्पष्ट है कि राज्यसभाओं आदि के लिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि ।
मा त्वा हिँसीन्मा मा हिँसीः ॥२॥

साम्प्रतिक लोकतान्त्रिक मानी जानेवाली निर्वाचन पद्धति अयुक्त है। इससे अयोग्य व्यक्ति भी राज्य-सभाओं में पहुँच जाते हैं। इसलिए ग्रन्थकार के मत में "महाविद्वानों को विद्यासभाधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद् और जो उन सबमें सर्वोत्तम गुणकर्मस्वभावयुक्त महान् पुरुष हो, उसको राजसभा का पतिरूप मानके सब प्रकार से उन्नति करें।" (स० प्र० समु० ६)

"एतास्तिस्रस्सभाः सामान्ये कार्ये मिलित्वैव सर्वान् उत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरिति" का अभिप्राय है कि तीनों सभाओं का सामूहिक रूप हो राजकार्य में समर्थ है। सत्यार्थप्रकाश में इस विषय में स्पष्ट कहा है कि "तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग वर्तें। सबके हितकारक कामों में सम्मति करें। राजधर्म का तीनों सभा पालन करें।" इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न विभागों की अपने-अपने क्षेत्र में पृथक् सत्ता तथा कार्यविधि की क्षमता होते हुए भी राजकार्यों में उनका संयुक्त उत्तरदायित्व (Collective responsibility) है। इन सभाओं में अधिकार पृथक्करण या शक्यतापृथक्करण (Separation of power) नहीं, अपितु अधिकार-शक्यता-समन्वय है।

गन्धर्वान्=ये गां सुशिक्षितां वाचं पृथिवीं वा धरन्ति तान् (ऋग्भाष्ये) पृथिवी अथवा राज्य को धारण करनेवालों की 'गन्धर्व' संज्ञा है।

वायुकेशान्=वायुरिव केशा येषां तान्। केशा रश्मयः (नि० १२।२५)

"केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा।" (नि० १२।२५) राजदूत और न्याय करनेवालों को **'वायुकेशाः'** कहा गया है।

'कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य प्रचारो निरोधश्च' का अर्थ है—**कर्त्तव्यस्य प्रचारः, अकर्त्तव्यस्य निरोधः।**

क्षत्रस्येति—इस मन्त्र का देवता=प्रतिपाद्य विषय सभेश राजा है। **'क्षत्रं वै राष्ट्रम्'** (ऐत० ७।२२), **क्षतो घातादिस्ततस्त्रायते रक्षतीति क्षत्रः तस्य।** राजव्यवहार क्षत से—घातादि से रक्षा करता है, अतः राजव्यवहार, शासनव्यवस्था क्षत्र है। **'क्षत्रस्य वाऽएतद्रूपं यद्राजन्यः'** शत० १३।५।१।१३ ॥ **योनिः=यौति संयोजयति पृथक् करोति वा स योनिः (योनिशब्द उभयलिंगः, तदाह पाणिनिः –'श्रोणियोन्यूर्मयः पुंसि च'। लिङ्गा० १।८) कारणम् (उणादिकोशः ४।५२), निमित्त; दुःखवियोजकः सुखसंयोजको व्यवहारः (यजु० १२।५३); ऐश्वर्यकारणम् (यजु० ८।३६); न्यायासनम् (ऋ० १।१०४।१)। नाभिः=णह बन्धने (दिवा०) धातोः 'नहो भश्च' सूत्रेण (उणादि० ४।१२७) नह्यति दुष्टं नाडीर्वा बध्नातीति नाभिः, क्षत्रियः प्राण्यङ्गं वा। केन्द्र, मुख्य बिन्दु, जीवनहेतुः, शरीरमध्यप्रदेशः (यजु० २०।६), शरीर-मध्यस्था सर्वप्राणबन्धनाङ्गम् (ऋ० १।१०५।६),** मुख्य या अग्रणी—**'कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य (रघु० १८।२०)।** योनि—नाभि शब्दवाच्यार्थ से राजा का महत्त्व तथा कर्त्तव्य स्पष्ट है। राजा और प्रजा का व्यवहार परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट है। जैसे परमेश्वर ने बहुविध व्यवहारमात्र की शिक्षा दी है, वैसे ही राजा और प्रजा के परस्पर व्यवहार का भी निर्देश किया है। इसलिए वह सम्पूर्ण शासनव्यवस्था की योनि या नाभि है। प्रभु द्वारा निर्दिष्ट व्यवस्था का तिरस्कार स्वयं प्रभु का तिरस्कार है। यजुर्भाष्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥३॥

में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—"स्वामी और भृत्य ऐसी प्रतिज्ञा करें कि राजपुरुष प्रजापुरुषों की और प्रजापुरुष राजपुरुषों को निरन्तर रक्षा करें जिससे सबकी उन्नति हो।"

शतपथ, ऐतरेय, उणादिकोश आदि द्वारा निर्दिष्ट अर्थों के विरुद्ध इस मन्त्र का कर्मकाण्डपरक अर्थ मान्य नहीं हो सकता।

यत्र ब्रह्मेति—सम्यञ्चौ समीचीति प्राप्ते लिङ्गव्यत्ययः। समीची सम्यक् अञ्चतस्ते। यजुर्वेद भाष्य में ग्रन्थकार ने **'ब्रह्म च क्षत्रं च'** में द्वितीय **'च'** से 'वैश्यादि' का ग्रहण किया है। **'ब्रह्म वै ब्राह्मणः'** - शत० १३।१।५।३, **'सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म'** – शत० ४।१।४।१

राष्ट्र के ज्ञानी और शूर पुरुष परस्पर मिलकर—एक-दूसरे के पूरक होकर राष्ट्रहित में कार्य करें। आपस में किसी प्रकार का विरोध न करें। जिस देश में इस प्रकार सब मिलकर कार्य करते हैं, वही हर प्रकार से सुखी और समृद्ध होकर पुण्यलोक बन जाता है। मनुस्मृति ९।३२२ में कहा है—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥

ब्राह्मण के बिना क्षत्रिय की और क्षत्रिय के बिना ब्राह्मण की उन्नति नहीं होती। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों मिलकर ही इस लोक और परलोक को समृद्ध कर सकते हैं। गीता का अन्तिम श्लोक है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ १८।७८

अर्थात्—जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और धनुर्धारी अर्जुन है, वहीं श्री, विजय, शाश्वत ऐश्वर्य और नीति है। गीता के इस श्लोक पर टिप्पणी में लोकमान्य तिलक ने लिखा है –"सिद्धान्त का सार यह है कि जहाँ युक्ति और शक्ति दोनों एकत्रित होती हैं, वहाँ निश्चय ही ऋद्धि-सिद्धि निवास करती हैं। कोरी शक्ति से अथवा केवल युक्ति से काम नहीं चल सकता। जब जरासन्ध का वध करने के लिए मन्त्रणा हो रही थी, तब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा था कि **"अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः"** (सभा पर्व २०।१६)—बल अन्धा और जड़ है, बुद्धिमानों को चाहिए कि उसे मार्ग दिखलाएँ। श्रीकृष्ण बोले **"मयि नीतिर्बलं भीमे"** (सभा० २०.३) –मुझमें नीति है और भीम के शरीर में बल है। इस प्रकार भीम को साथ लेकर उसके द्वारा जरासंध का वध युक्ति से कराया। केवल नीति बतलानेवाले को आधा चतुर समझना चाहिए, अर्थात् योगेश्वर यानी योग या युक्ति के ईश्वर और धनुर्धर अर्थात् योद्धा, ये दोनों विशेषण इस श्लोक में हेतुपूर्वक दिये गये हैं।"—गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र।

डा० राधाकृष्णन ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है—"We are called upon to unite vision (Yoga) and energy (Dhanuh) and not allow the former to degenerate into madness or the latter into savagery. When Plato prophesied that there would be no good government in the world until philosophers became kings, he meant that human perfection was a sort of marriage between high thought and just action." यहाँ हमें ज्ञान और शक्ति में समन्वय करने की प्रेरणा की गई है। न ज्ञान को पागलपन की सीमा तक पहुँचने देना चाहिए और न शक्ति को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ।
अ॒श्विनो॒र्भैष॑ज्येन॒ तेज॑से ब्रह्मवर्च॒साया॒भि षि॑ञ्चामि ।
इन्द्र॑स्येन्द्रि॒येण॒ बला॑य श्रि॒यै यश॑से॒ऽभि षि॑ञ्चामि ॥४॥

बर्बरता का रूप धारण करने देना चाहिए। जब प्लैटो ने यह कहा था कि जबतक दार्शनिकों के हाथों में राज्यसत्ता नहीं होगी तबतक संसार में आदर्श शासन नहीं होगा, तो उसका तात्पर्य यह था कि उच्च विचार और न्याययुक्त कर्म में एक प्रकार के विवाह-बन्धन के बिना मनुष्य पूर्ण नहीं होगा।

'अग्नि' पद यहाँ परमेश्वर, अग्निहोत्रादि, विद्युत्, नायक आदि अनेक अर्थों का वाचक है। विद्वानों और शासकों में सहमति होना, जीवनयापन के लिए विद्युत् आदि के सहयोग से उत्पादन बढ़ाना, विज्ञान और सत्क्रिया के प्रतीक अग्निहोत्रादि के अनुष्ठान में आस्था तथा प्रवृत्ति होना आदि सभी के होने पर देश सुखी और समृद्ध होता है।

देवस्येति—बाहुर्वै बलम्, बाहुर्वै वीर्यम्—शत० ५।४।१।१, बाहुभ्याम् बलवीर्याभ्याम्; वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद् बाहू।—शत० ५।४।१।१७ 'पूष्णो हस्ताभ्याम्'=पुष्टिकर्त्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्याम्। अयं वै पूषा योऽयं पवतेऽएष हीदं सर्वं पुष्यति।—शत० १४।२।१।६ पुष्टिर्वै पूषा।—तै० २।७।२।१

इस मन्त्र में राजा और तदधीन उसकी संस्थाओं—सभा, समितियों के प्रजा के प्रति कर्त्तव्य कर्मों का संकलन किया गया है। वे हैं—प्रजापालन, पृथिवी, वायु आदि का शोधन, रोग निवारणार्थ चिकित्सा व्यवस्था, न्यायव्यवस्था, ब्रह्मज्ञान और विद्यावृद्धि, विज्ञान की उन्नति, देश की रक्षा के लिए उत्तम सेना, आर्थिक समृद्धि तथा यशप्राप्ति।

मध्यकाल में Laissez faire policy (स्वेच्छाकारिता नीति) का प्रचलन था। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार न्यूनतम काम करती थी। शान्ति-व्यवस्था, सुरक्षा-व्यवस्था, न्याय-प्रक्रिया आदि बहुत थोड़े से कार्य सरकार को करने होते थे। लोकतन्त्र के विकास के साथ कल्याण राज्यों (Welfare states) की कल्पना का विकास हुआ और धीरे-धीरे जनता के सर्वविध कल्याण की ज़िम्मेदारी सरकार पर आ पड़ी। इस दृष्टि से इस मन्त्र में वर्णित—परिगणित कर्त्तव्य कर्मों का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

"जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो उसका हम लोग अभिषेक करें"—इस कथन का अभिप्राय है—१. राजा का निर्वाचन प्रजा के द्वारा होना है। २. निर्वाचन के समय यह देखना आवश्यक है कि उसमें अपेक्षित गुण हैं या नहीं।

वेदादि शास्त्रों को देखने से पता चलता है कि राजा के चुनाव में किसी-न-किसी रूप में सभी प्रजाजन भाग लेते थे। वेद में प्रजाजनों के लिए 'विश' शब्द का प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद (३।४।२) में कहा है- "त्वां विशो वृणतां राज्याय"—देश में रहनेवाली समस्त प्रजाएँ राज्य अर्थात् अपने ऊपर शासन करने के लिए तेरा वरण करें—तुझे चुनें। सायणाचार्य द्वारा उद्धृत श्रौत, आपस्तम्ब तथा बोधायन सूत्रों के अनुसार 'विश' का अर्थ है - राष्ट्र अथवा राज्य की समस्त प्रजा। कात्यायन ने विश का अर्थ 'जाति' किया है। "सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु" (अथर्व० ३।४।१)—समस्त दिशाओं के वासी तुझे आदरपूर्वक बुलाएँ और तेरा स्वागत करें।

सत्यार्थप्रकाश में अथर्व ६।६८।१ तथा यजुर्वेद ९।४० की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—"जो सबको माननीय होवे उसी को राजा करे"; "सम्मति करके सबके मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मानके सब भूगोल को शत्रुरहित करो।" राजा पर समूचे राष्ट्र के योगक्षेम का उत्तरदायित्व है। इसलिए उसके चुनाव में छोटे-छोटे माण्डलिक राजाओं से लेकर साधारण से साधारण व्यक्ति तक को अपनी सम्मति देने का अधिकार है। वेद ने इस सिद्धान्त की बड़े स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है—

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥ —अथर्व० ३।५।७

राजा के निर्वाचन में भाग लेनेवाले लोगों को 'राजकृतः' (राजा को बनानेवाले) कहा गया है। वैदिक समाज चार वर्णों में विभक्त है। ऐतरेय ब्राह्मण (८।२८) तथा तैत्तिरीय (१।७।८) के अनुसार राजा के राज्यारोहण से पूर्व ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और अन्य (शूद्र)—चारों की अनुमति प्राप्त होना आवश्यक था। शतपथ (६।३।२।५) में लिखा है—

ता अस्मा इष्टाः प्रीता एतं सर्वमनुमन्यते। ताभिरनुमतः सूयते यस्मै वै राजा, नो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति, न स यस्मै न॥

अन्यत्र (शत० ५।३।५।३१-३७) तथा (५।२।३।४) में इस विषय का विस्तृत विवेचन करके कहा है कि जबतक राजा को ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा पृथिवी पर रहनेवाले सभी वर्णों तथा वर्गों का समर्थन और उनकी अनुकूलता प्राप्त न हो तब तक उसका अभिषेक नहीं हो सकता।

वैदिक काल के **'राजकृत'** ब्राह्मणकाल में **'रत्नी'** और रामायण काल में **'राजकर्त्ता'** कहलाने लगे। राम तथा भरत का निर्वाचन उन्हीं लोगों ने किया था।—**"समेत्य राजकर्त्तारः समामीयुः द्विजातयः** (अयोध्याकाण्ड ६७।२) **"समेत्य राजकर्त्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन्"** (अ० का० ७९।१) ऐसा प्रतीत होता है कि प्रजा द्वारा राजा का निर्वाचन प्रत्यक्ष (Direct) न होकर प्रजा के विभिन्न वर्गों के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होता था।

अथर्ववेद में एक मन्त्र (६।८७।१) द्वारा राजा को सावधान भी किया गया है। वहाँ कहा है—

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥

यह मन्त्र ऋग्वेद (१०।१७३।१) में भी आया है। (विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु) समस्त प्रजा तुझे हृदय से चाहे। देख, कहीं तेरे दोष से (राष्ट्रम्) राष्ट्र (त्वत्) तेरे हाथ से (मा अधि भ्रशत्) न फिसल जाए, अर्थात् जबतक प्रजा तुझको चाहेगी तबतक ही तू इस पद पर रह सकेगा, अन्यथा शासन तेरे हाथ से निकल जाएगा। इससे अगले मन्त्र (६।८७।२) में भी चेतावनी दी गई है—**'माप च्योष्ठाः'** तू अपने पद से कभी च्युत न होना। यह कोरी धमकी नहीं है। **'राजा वै प्रकृतिरंजनात्'**—प्रजा का रंजन करने से ही राजा की यह संज्ञा है। अथर्ववेद १५।८।१ में कहा है—**'सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत'**—उसने प्रजा को प्रसन्न किया, इसलिए वह राजा कहलाया। महाभारत में कहा है—**'रंजिताश्च प्रजास्सर्वा तेन राजेति शब्द्यते'** (शा० प० ५९।१२५)। जो अपने कार्यों द्वारा प्रजा को दुःखी या असन्तुष्ट रखता है, उसे राज्यच्युत कर दिया जाता है। महाभारत में राजा वेन के राज्यच्युत किये जाने का उल्लेख मिलता है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा ।
सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥५॥
शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ।
राजा मे प्राणोऽअमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥६॥

किन गुणों से युक्त व्यक्ति राजा होने योग्य है, इसका उल्लेख मनुस्मृति में इस प्रकार किया है—

इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ —मनु० ७।४,६,७

वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता, वायु के समान सबको प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जाननेवाला, यम के समान पक्षपातरक्षित न्यायाधीश के समान वर्तनेवाला, सूर्य के समान न्याय, धर्म, विद्या का प्रकाशक, अन्धकार अर्थात् अविद्या, अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करनेवाला, वरुण के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बाँधनेवाला, चन्द्रमा के समान श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, कुबेर के समान कोषों को पूर्ण करने वाला सभापति बनने योग्य होता है ।

मनुस्मृति में ९।३०३ से ३१० तक तथा नारदस्मृति में १७।२७ से ३१ तक में ऊपर निर्दिष्ट राजा के आठ गुणों की विस्तृत व्याख्या की गई है। महाभारत तथा शुक्रनीतिसार में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है ।

कोऽसीति—इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र से **'अभिषिञ्चामि'** इन पदों की अनुवृत्ति आती है । जो सब मनुष्यों के बीच में अति प्रशंसनीय हो वही राजा बनने योग्य है । **'को वै प्रजापतिः'** ।

शिरो म इत्यारभ्य विशि राजा प्रतिष्ठितः पर्यन्तम्—इन चार मन्त्रों में राजा का प्रजा के साथ तादात्म्य दिखाया गया है । जैसे मनुष्य तादात्म्यभाव से अपने अंग-प्रत्यंग के पालन-पोषण और रक्षण में प्रवृत्त रहता है, वैसे ही राजा और उसके राजपुरुषों का कर्त्तव्य है कि प्रजा को **'आत्मैवाभूद्-विजानतः'** की भावना से अपना ही अंग-प्रत्यंग समझकर हर प्रकार से उसकी उन्नति और रक्षा में तत्पर रहें । प्रजा के दुःख में दुःख और उसके सुख में सुख अनुभव करें ।

कर्मकाण्ड में इन मन्त्रों का निनियोग राजसूय यज्ञ में होता है । ग्रन्थकार ने इनका विनियोग यहाँ प्रजा द्वारा निर्वाचित राजा के अभिषेक में किया है। इस अवसर पर राजा घोषणा करता है कि मेरा निजी स्वरूप कुछ नहीं है, मेरा अपना शरीर भी नहीं है । आज से प्रजा का मंगल करना ही मेरा स्वरूप है, वही मेरा शरीर है। प्रजा का अभ्युदय करना ही मेरे राजसिंहासन पर आरूढ़ होने का प्रयोजन है । इस प्रकार राजा अपने जीवन को प्रजा के जीवन के साथ जोड़ देता है । उसे अपने जीवन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्--एषामभिप्रायः—अत्र मन्त्रेषु राजधर्मो विधीयत इति।

यथा सूर्य्यचन्द्रौ (राजाना) सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतस्तथा सूर्य्यचन्द्रगुणशीलौ प्रकाशन्याययुक्तौ व्यवहारौ (त्रीणि सदांसि भूषथः) भूषयतोऽलङ्कुरुतः। (विदथे) ताभिः सभाभिरेव युद्धे (पुरूणि) बहूनि विजयादीनि सुखानि मनुष्याः प्राप्नुवन्ति। तथा (परि विश्वानि) राजधर्म्मादियुक्ताभिस्सभाभिर्विश्वस्थानि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति।

इदमत्र बोध्यम्—राजार्य्यसभा[1], तत्र विशेषतो राजकार्य्याण्येव भवेयुः। द्वितीयाऽऽर्य्यविद्यासभा तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती एव कार्य्ये भवतः। तृतीयाऽऽर्य्यधर्मसभा, तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चोपदेशेन कर्त्तव्या। परन्त्वेतास्तिस्रस्सभाः सामान्ये कार्य्ये मिलित्वैव सर्वान् उत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरिति। यत्रैतासु सभासु धर्मात्मभिर्विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य प्रचारो निरोधश्च क्रियते, तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति, यत्रैको मनुष्यो राजा भवति, तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः। (अपश्यमत्र) इदमत्राहमपश्यम्। ईश्वरोऽभिवदति यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति, तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायत इति (व्रते) यो मनुष्यः सत्याचरणे (मनसा) विज्ञानेन सत्यं न्यायं (जगन्वान्) विज्ञातवान्, स राजसभामर्हति नेतरश्च। (गन्धर्वान्) पूर्वोक्तासु सभासु गन्धर्वान् पृथिवीराजपालनादिव्यवहारेषु कुशलान् (अपि वायुकेशान्) वायुवद् द्रुतप्रचारेण विदितसर्वव्यवहारान् सभासदः कुर्य्यात्। केशास्सूर्य्यरश्मयस्तद्वत्सत्यन्यायप्रकाशकान् सर्वहितं चिकीर्षून् धर्मात्मनः सभासदः स्थापयितुमहमाज्ञापयामि, नेतरांश्चेतीश्वरोपदेशः सर्वैर्मन्तव्य इति ॥१॥

(क्षत्रस्य योनिरसि) हे परमेश्वर ! त्वं यथा क्षत्रस्य राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमसि, तथा (क्षत्रस्य नाभिरसि) एवं राजधर्मस्य त्वं प्रबन्धकर्त्तासि। तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालननिमित्तान् क्षत्रधर्मप्रबन्धकर्तॄंश्च कुरु। (मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः) तथाऽस्माकं मध्यात् कोऽपि जनस्त्वां मा हिंसीद् अर्थाद् भवन्तं तिरस्कृत्य नास्तिको मा भवतु। तथा त्वं मां मा हिंसीरर्थान्मम तिरस्कारं कदाचिन्मा कुर्य्याः। यतो वयं भवत्सृष्टौ राज्याधिकारिणस्सदा भवेम ॥२॥

की चिन्ता नहीं रहती। उसके जीवन का एकमात्र ध्येय धर्मपूर्वक प्रजा का पालन-पोषण करते हुए राष्ट्र की उन्नति करना है। श्री एस० चक्रवर्ती ने अपनी पुस्तक 'An Introduction to Politics' में लिखा है—According to this theory, the state is like an organism or a living person whose different parts are mutually interdependent." (Page 61)

यहाँ वेद ने न शासन-प्रक्रिया के अंगों की बात कही है और न राजा और प्रजा के अंगों में तुलना की है। मन्त्र के अनुसार राजा ने प्रजा को ही अपना अंगरूप माना है—**विशो मे अङ्गानि सर्वतः।**

---

१. उत्तरत्र 'आर्यविद्यासभा' 'आर्यधर्मसभा' पदप्रयोगदर्शनाद् भाषायां च 'आर्यराजसभा' पदनिर्देशाच्चेहापि 'आर्यराजसभा, इत्येव पाठो युक्तो भवेत्। सत्यार्थप्रकाशे षष्ठसमुल्लासे चैतन्मन्त्रव्याख्यायां 'राजार्यसभा' विद्यासभा धर्मार्यसभा' प्रयोगदर्शनादिह 'आर्यविद्यासभा—आर्यधर्मसभा' पदयोः स्थाने 'विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा' पाठोऽनुसंधेयः। वयन्तूभयथापि प्रयोगदर्शनाद् आर्याणां राजा, आर्याणां विद्या, आर्याणां धर्म इत्येवं षष्ठीसमासे 'राजदन्तादिषु परम्' (२।२।३१) इति नियमेन राजविद्याधर्माणां पूर्वनिपातः। 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गः प्रवर्तते' इति नियमेन 'उपसर्जनं पूर्वम्' (२।२।३०) इत्युत्सर्गेण आर्यपदस्यादिप्रयोगोपि ज्ञेयः। एतच्च राजदन्तादिषु पठितेषु धर्मादिपदेषूभयथाऽपि प्रयोगदर्शनात् 'धर्मादिषूभयम्' इति नियमस्य स्वीकरणादपि समर्थ्यते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो वेदो वा, ब्राह्मणो, ब्रह्मविच्चैतत्सर्वं ब्रह्म, तथा क्षत्रं शौर्य्यधैर्य्यादिगुणवन्तो मनुष्याश्चैतौ द्वौ (सम्यञ्चौ) यथावद् विज्ञानयुक्तावविरुद्धौ (चरतः सह) (तं लोकम्) तं देशं (पुण्यं) पुण्ययुक्तं (प्रज्ञेषम्) जानीयाम् । (यत्र देवाः सहाग्निना) यस्मिन् देशे विद्वांसः परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानेन च सह वर्त्तन्ते, तत्रैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीति विज्ञेयम् ।।३।।

भाषार्थ—सब जगत् का राजा परमेश्वर ही है, और सब संसार उसकी प्रजा है । इसमें यह यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के २९वें मन्त्र के वचन का प्रमाण है—'**वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम**' अर्थात् सब मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिए कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं, और वही एक हमारा राजा है ।

(त्रीणि राजाना) तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य को कभी नहीं । वे तीनों ये हैं—प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिए एक 'आर्य्यराजसभा' कि जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी 'आर्य्यविद्यासभा' कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाए, तीसरी 'आर्य्यधर्मसभा' कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे । इन तीन सभाओं से **(विदथे)** युद्ध में **(पुरूणि परि विश्वानि भूषथः)** सब शत्रुओं को जीतके नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिए ।।१।।

(क्षत्रस्य योनिरसि) हे राज्य के देनेवाले परमेश्वर ! आप ही राज्यसुख के परम कारण हैं । **(क्षत्रस्य नाभिरसि)** आप ही राज्य के जीवनहेतु हैं, तथा क्षत्रिय वर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है । **(मा त्वा हिँ्सीन्मा मा हिँ्सीः)** हे जगदीश्वर ! सब प्रजा आपको छोड़के किसी दूसरे को अपना राजा कभी न माने, और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िए, किन्तु आप और हम लोग परस्पर सदा अनुकूल वर्त्तें ।।२।।

(यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च०) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा, और राज्यसभा विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग, ये सब मिलके राजकार्यों को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त होके सुख को प्राप्त होता है ।**(यत्र देवाः सहाग्निना०)** जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाओं से वर्त्तमान विद्वान् होते हैं, वही देश सब उपद्रवों से रहित होके अखण्ड राज्य को नित्य भोगता है ।।३।।

भाष्यम्—(देवस्य त्वा सवितुः) हे सभाध्यक्ष ! स्वप्रकाशमानस्य सर्वस्य जगत उत्पादकस्य परमेश्वरस्य (प्रसवे) अस्यां प्रजायां (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) सूर्य्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां, (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्याम्, (अश्विनोर्भैषज्येन) पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोग-निवारकेण सह वर्त्तमानं त्वां (तेजसे) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय, (ब्रह्मवर्चसाय) पूर्णविद्याप्रचाराय, (अभिषिञ्चामि) सुगन्धजलैर्मूर्द्धनि मार्जयामि । तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वरस्य परमैश्वर्य्येण विज्ञानेन च (बलाय) उत्तमबलार्थं, (श्रियै) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं त्वां, (यशसे) अतिश्रेष्ठकीर्त्यर्थं च (अभिषिञ्चामि) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीतिश्वरोपदेशः ।।४।।

(कोऽसि हे परमात्मन् ! त्वं सुखस्वरूपोऽसि, भवानस्मानपि सुराज्येन सुखयुक्तान् करोतु । (कतमोऽसि) त्वमत्यन्तानन्दयुक्तोऽसि, अस्मानपि राजसभाप्रबन्धेनात्यन्तानन्दयुक्तान् सम्पादय । (कस्मै त्वा) अतो नित्यसुखाय त्वामाश्रयामः । तथा (काय त्वा) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे । (सुश्लोक) हे सत्यकीर्त्ते ! सुमङ्गल) हे सुष्ठुमङ्गलमय सुमङ्गलकारक ! (सत्यराजन्) हे सत्यप्रकाशक सत्यराज्य-प्रदेश्वर ! अस्मद्राजसभाया भवानेव महाराजाधिराजोऽस्तीति वयं मन्यामहे ।।५।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभाध्यक्ष एवं मन्येत—(**शिरो मे श्रीः**) राज्यश्रीर्मे मम शिरोवत्। (**यशो मुखम्**) उत्तम-कीर्त्तिर्मुखवत्। (**त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि**) सत्यन्यायदीप्तिः मम केशश्मश्रुवत् (**राजा मे प्राणः**) परमेश्वरः शरीरस्थो जीवनहेतुर्वायुश्च मम राजवत्। (**अमृतँ् सम्राट्**) मोक्षाख्यं सुखं, ब्रह्म, वेदश्च सम्राट् चक्रवर्तिराजवत्। (**चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्**) सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चक्षुर्वत्। एवं सभासदोऽपि मन्येरन्। एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विजानीयुः ॥६॥

भाषार्थ—(**देवस्य त्वा सवितुः**) जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो उसका हम लोग अभिषेक करें और उससे कहें कि--हे सभाध्यक्ष! आप सब जगत् को प्रकाशित और उत्पन्न करने-वाले ईश्वर की (**प्रसवे**) सृष्टि में प्रजापालन के लिए (**अश्विनोर्बाहुभ्याम्**) सूर्य्य-चन्द्रमा के बल और वीर्य्य से, (**पूष्णो हस्ताभ्याम्**) पुष्टि करनेवाले प्राण के ग्रहण और दान के शक्तिरूप हाथों से, आपको सभाध्यक्ष होने में स्वीकार करते हैं। (**अश्विनोर्भैषज्येन**) परमेश्वर कहता है कि पृथिवीस्थ शुद्ध वायु और इन औषधियों से दिन-रात में सब रोगों से तुमको निवारण करके, (**तेजसे**) सत्यन्याय के प्रकाश, (**ब्रह्मवर्चसाय**) ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिए तथा (**इन्द्रस्येन्द्रियेण**) परमेश्वर के परमैश्वर्य्य और राज्य के विज्ञान से (**बलाय**) उत्तम सेना, (**श्रियै**) सर्वोत्तम लक्ष्मी और (**यशसे०**) सर्वोत्तम कीर्ति की प्राप्ति के लिए मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूँ, कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबन्ध के अर्थ है। इससे सब मनुष्य लोग इसका यथावत् प्रचार करें ॥४॥

हे महाराजेश्वर! आप (**कोऽसि कतमोऽसि**) सुखस्वरूप; अत्यन्त आनन्दकारक हैं; हम लोगों को भी सब आनन्द से युक्त कीजिए। (**सुश्लोक**) हे सर्वोत्तम कीर्ति के देनेवाले! तथा (**सुमङ्गल**) शोभनमङ्गलरूप आनन्द के करनेवाले जगदीश्वर! (**सत्यराजन्**) सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करनेवाले! हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देनेवाले आप ही हैं। (**कस्मै त्वा काय त्वा**) उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठ विचार और आनन्द के लिए हम लोगों ने आपका शरण लिया है, क्योंकि इसी से हमको पूर्ण राज्य और सुख निस्संदेह होगा ॥५॥

सभाध्यक्ष, सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिए कि (**शिरो मे श्रीः**) श्री मेरा शिरस्थानी, (**यशो मुखम्**) उत्तम कीर्ति मेरा मुखवत्, (**त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि**) सत्य गुणों का प्रकाश मेरे केश और डाढ़ी-मूछ के समान, तथा (**राजा मे प्राणः**) जो ईश्वर सबका आधार और जीवनहेतु है, वही प्राणप्रिय मेरा राजा, (**अमृतँ् सम्राट्**) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षसुख है, वही मेरा चक्रवर्ती राजा, तथा (**चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्**) जो अनेक सत्यविद्याओं के प्रकाश से युक्त मेरा श्रोत्र है, वही मेरी आँख है ॥६॥

बाहू मे बलमिन्द्रियँ् हस्तौ मे कर्म वीर्यम्।
आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥७॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमँसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ।८। य० अ० २० । म० ७, ८ ॥

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥९॥ य० अ० २० । म० ९ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—(बाहू मे बलम्) यदुत्तमं बलं तन्मम बाहुवदस्ति (इन्द्रिय ँ हस्तौ मे) शुद्धं विद्यायुक्तं मनः श्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवत् (कर्म वीर्य्यम्) यदुत्तमपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवत् (आत्मा क्षत्रमुरो मम) यन्मम हृदयं तत् क्षत्रवत् ॥७॥

(पृष्टीर्मे राष्ट्रम्) यद्राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवत् (उदरम ँ सौ) यौ सेनाकोशौ स्तस्तत्कर्म मम हस्तमूलोदरवत् (ग्रीवाश्च श्रोणी) यत्प्रजायाः सुखेन भूषणं पुरुषार्थिकरणं च तत्कम मम नितम्बाङ्गवत्। (ऊरू अरत्नी) यत्प्रजाया व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्ममोर्वरत्न्यङ्गवदस्ति। (जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) यत्प्रजाराजसभयोः सर्वथा मेलरक्षणं तन्मम कर्म जानुवत्।

(नाभिर्मे चित्तम्) यच्चित्तं सदा ज्ञानरूपमस्ति तन्मम नाभिरङ्गवद् अस्ति (विज्ञानं पायुर्मे०) यद्विज्ञानं तन्मम पायुर्गुह्येन्द्रियवद् अस्ति (अपचितिर्भसत्) याऽपचितिः पूजा सत्कारोऽस्ति तत् स्त्रियाः प्रजननेन्द्रियवद् अस्ति अर्थात् परमेश्वरपूजाऽऽत्मन्येव कार्या (आनन्दनन्दावाण्डौ मे) ये आनन्दसमृद्धी ते मम वृषणाङ्गवत् स्तः (भगः सौभाग्यं पसः) यन्ममैश्वर्यं सौभाग्यमुत्तमं सुखमस्ति तन्मम पसो लिङ्गेन्द्रियवदस्ति (जङ्घाभ्यां पद्भ्याम्) एवमहं जङ्घाभ्यां पद्भ्यां युक्तो भूत्वा धर्मात्माऽस्मि (विशि राजा प्रति०) यो विशि प्रजायां सर्वहितकरणादिगुणैः प्रतिष्ठितो भवति सोऽस्माकं राजा सभाध्यक्षो भवितुमर्हति ॥९॥

एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि ममावयववत् सन्ति। यथा स्वाङ्गेषु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति, तथा प्रजापालने च स्वकीया बुद्धिस्सर्वैः कार्य्येति॥

भाषार्थ—(बाहू मे बलम्) जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा, (इन्द्रिय ँ हस्तौ०) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन हैं, वे मेरे हाथों के समान, (आत्मा क्षत्रमुरो मम) जो राजधर्म, शौर्य्य, धैर्य्य और हृदय का ज्ञान है, यही सब मेरे आत्मा के समान है ॥७॥

(पृष्टीर्मे राष्ट्रम्) जो उत्तम राज्य है, सो पीठ के समतुल्य, (उदरम ँ सौ) जो राज्य सेना और कोश है, वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान, तथा (ग्रीवाश्च श्रोणी) जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है, सो मेरे कण्ठ और श्रोणी अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य (ऊरू अरत्नी) जो प्रजा को व्यापार और गणितविद्या में निपुण करना है, सो ही अरत्नी और ऊरू अङ्ग के समान, तथा (जानुनी) जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना, यह मेरी जानु के समान है। (विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) जो इस प्रकार से प्रजा-पालन में उत्तम कर्म करते हैं, ये सब मेरे अंगों के समान हैं ॥८॥

(नाभिर्मे चित्तम्) जो चित्त सदा ज्ञानरूप है वह मेरे नाभि अंग के समान है। (विज्ञानं पायुर्मे) जो विज्ञान है वह मेरी गुदेन्द्रिय के समान है। (अपचितिर्भसत्) जो पूजा-सत्कार है वह स्त्री जननेन्द्रिय के समान है (आनन्दनन्दावाण्डौ मे) जो आनन्द और समृद्धि है वह मेरे वृषणों के समान है। (भगः सौभाग्यं पसः) जो मेरा ऐश्वर्य, सौभाग्य=उत्तम सुख है वह मेरी लिंगेन्द्रिय के समान है। (जङ्घाभ्यां पद्भ्याम्) इस प्रकार मैं जङ्घा और पैरों से युक्त होकर धर्मात्मा हूँ। (विशि राजा प्रतिष्ठितः) जो प्रजा में सर्वहितकारी गुणों के कारण प्रतिष्ठित होता है, वह हमारा राजा सभाध्यक्ष हो सकता है ॥९॥

इस प्रकार पूर्वोक्त सब कर्म मेरे अवयवों (=अंगों) के समान हैं। जैसे अपने अंगों में प्रीति और उनकी पालना में पुरुष की श्रद्धा होती है वैसी ही बुद्धि प्रजा और उसके पालन में सबको करनी चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु ।
प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे
प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ॥१०॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्र हवेहवे सुहव शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्र स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥११॥

भाष्यम्—(प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे) अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीते क्षत्रे प्रतिष्ठितो भवामि, विद्याधर्मप्रचारिते देशे च । (प्रत्यश्वेषु०) प्रत्यश्वं प्रतिगां च तिष्ठामि । (प्रत्यङ्गेषु०) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रति तिष्ठामि, तथा चात्मानमात्मानं प्रति तिष्ठामि । (प्रति प्राणे०) प्राणं प्राणं प्रत्येवं पुष्टं पुष्टं पदार्थं प्रति तिष्ठामि । (प्रति द्यावापृथिव्योः०) दिवं दिवं प्रति पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि । (यज्ञे) तथा यज्ञं यज्ञं प्रति तिष्ठामि अहमेव सर्वत्र व्यापकोऽस्मीति । मामिष्टदेवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सदैव विजयाभ्युदयौ भवतः । एवं राजपुरुषैश्चापि प्रजापालने सर्वत्र न्याय-विज्ञानप्रकाशो रक्षणीयः, यतोऽन्यायाविद्याविनाशः स्यादिति ॥१०॥

प्रतिक्षत्र इति—सर्वप्रभुता या प्रभुसत्ता (Sovereignty) का स्रोत न राजा है और न प्रजा । क्योंकि **'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'** इसलिए प्रभुसत्ता का स्रोत परमेश्वर और उसके द्वारा प्रदत्त ज्ञान वेद में प्रतिपादित धर्म है । प्रभुता धर्म और न्याय की है । इसलिए राजा और राजपुरुषों को परमेश्वर और धर्म का आश्रय लेकर ही किसी कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए । "सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचारकर करने चाहिएँ" (आर्य समाज का पाँचवाँ नियम) । जो ऐसा करते हैं, अर्थात् ईश्वरीय नियमों का पालन करते हैं, नियामक का सहयोग और आशीर्वाद उन्हें प्रत्येक कार्य में प्राप्त होता है । वस्तुतः—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ —मनु० ८।१५

जो मनुष्य धर्म का नाश करता है, धर्म उसका नाश करता है और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है । इसलिए कभी भी धर्म अथवा न्याय का परित्याग नहीं करना चाहिए । परमेश्वर और धर्म की प्रभुसत्ता का यह सिद्धान्त वर्त्तमान में प्रचलित राजप्रभुता, जनप्रभुता, सीमित प्रभुता, असीम प्रभुता, विधि प्रभुता, बहु प्रभुता आदि सभी से विलक्षण है । वस्तुतः प्रजा का अभ्युदय तथा निःश्रेयस इसी में सम्भव है । यहाँ धर्म का वही स्वरूप अभिप्रेत है जो ग्रन्थकार के शब्दों में इस प्रकरण के प्रारम्भ में परिभाषित किया गया है । यजुर्भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है—

"जो राजा प्रिय-अप्रिय को छोड़ न्यायधर्म से समस्त प्रजा का शासन, सब कर्मों में चाररूप आँखोंवाला अर्थात् राज्य के गुप्त हाल को देनेवाले ही जिसके नेत्र के समान वैसा हो, मध्यस्थवृत्ति से सब प्रजाओं का पालन कराके निरन्तर विद्या की शिक्षा को बढ़ावे वही सबका पूज्य होवे ।"

त्रातारमिति स्पष्टमेतत्--

इममिति राज्याभिषेक में विनियुक्त मन्त्र के अनुसार राजा की नियुक्ति इन प्रयोजनों के लिए की जाती है--क्षात्रधर्म के लिए, बड़े ऐश्वर्य के लिए, विशाल साम्राज्य के लिए, समुचित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(त्रातारमिन्द्र०) यं विश्वस्य त्रातारं रक्षकं, परमैश्वर्य्यवन्तं, (सुहवँ्शूरमिन्द्रं) सुहवं शोभन-युद्धकारिणमत्यन्तशूरं, जगतो राजानमनन्तबलवन्तं, (शक्रम्) शक्तिमन्तं शक्तिप्रदं च, (पुरुहूतम्) बहुभिः शूरैः सुसेवितं, (इन्द्रं) न्यायेन राज्यपालकं, (इन्द्रँ्हवेहवे) युद्धे युद्धे स्वविजयार्थम् इन्द्रं परमात्मानं (ह्वयामि) आह्वयामि आश्रयामि। (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) स परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्य्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति धातु=निरन्तरं विजयसुखं दधातु ॥११॥

भाषार्थ—(प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की सभा से न्यायपूर्वक राज्य करते हैं, उनके लिए परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि—हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो, क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष हैं, मैं उनके क्षत्रधर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूँ, और वे सदा मेरे समीप रहते हैं। **(प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु)** उनकी सेना के अश्व और गौ आदि पशुओं में भी मैं स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूँ। **(प्रत्यंगेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन्)** तथा सब सेना राजा के अंगों और उनके आत्माओं के बीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूँ। **(प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे)** उनके प्राण और पुष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूँ **(प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे)** जितना सूर्य्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाशरूप जगत् तथा जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं, इन सबके बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक होने से प्रतिष्ठित रहता हूँ। इस प्रकार से तुम लोग मुझको सब स्थानों में परिपूर्ण देखो। जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है, उनका राज्य सदा बढ़ता रहता है ॥१०॥

(त्रातारमिन्द्रं) जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है, **(अवितार०)** जो ज्ञान और आनन्द का देनेवाला है, **(सुहवँ्शूरमिन्द्रँ्हवेहवे)** वही इन्द्र, परमात्मा प्रति युद्ध में जो उत्तम युद्ध करानेवाला, शूरवीर और हमारा राजा है, **(ह्वयामि शक्रं, पुरुहूतमिन्द्रं)** जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है, जिसका सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं, वही हमारा सब प्रकार से राजा है। **(स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रम्)** जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिए विजय आदि सब सुखों का देनेवाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है, उनका पराजय कभी नहीं होता ॥११॥

राज्य व्यवस्था के लिए, राजकीय पराक्रम के लिए और देश को भीतर-बाहर के शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिए। राजा के विशेषण के रूप में **'असपत्नम्'** का यह अर्थ भी हो सकता है कि वह अजातशत्रु हो, उसका कोई विरोधी न हो अथवा सर्वसम्मति से चुना गया हो। अथर्ववेद में दशम काण्ड के पाँचवें सूक्त में ११ बार राजा के विशेषण रूप में **'सपत्नहा'** (शत्रुओं का संहारक) शब्द का प्रयोग हुआ है। **"वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सौम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु।" 'ब्राह्मणानां सोमः'** - निर्धारणे षष्ठी मानकर किया गया यह अर्थ सर्वथा युक्तयुक्त है। राजा को सभाध्यक्ष के रूप में इसलिए निर्वाचित किया जाता है, क्योंकि वह विद्वान् सभासदों में सौम्यगुणयुक्त (चन्द्रमा के समान सबको आनन्दित करनेवाला) एवं सकल-विद्यानिष्णात है। ब्राह्मणों के सोम को अपना राजा कहने का अभिप्रायः यह है कि ब्राह्मण लोग राजा को राजा मानते हुए भी अन्ततः सोम अर्थात् शान्ति और न्यायगुणयुक्त प्रजापति परमात्मा को ही राजा मानते हैं। इसलिए वे राजा की न्याययुक्त आज्ञाओं का ही पालन करते हैं, अनुचित, अन्याययुक्त आज्ञाओं का नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इमं देवा असपत्नँ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाँ राजा ॥ १२ ॥ य० अ० ९ । मं० ४० ॥

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै ।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १३ ॥
त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु । १४॥

—अथर्व० कां० ६ । अनु० १० । व० ८९ । मं० १, २॥

भाष्यम्—(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासदः ! (महते क्षत्राय) अतुलराजधर्माय (महते ज्यैष्ठ्याय) अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय (महते जानराज्याय) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सूर्य्यस्य प्रकाशवन्न्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय (अस्यै विशे) वर्त्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इमम्) (असपत्नँ सुवध्वम्) इमं प्रत्यक्षं शत्रूद्भवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्मं सुवध्वमीशिध्वम् ऐश्वर्य्यसहितं कुरुत । यूयमप्येवं जानीत -(सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाँ

'इमममुष्य पुत्रममुष्यैपुत्रम्' से प्रतीत होता है कि राज्याभिषेक के समय राजा के माता-पिता के नामों का उच्चारण किया जाता था । ऐसा सम्भवतः कुलीनता का बोध कराने अथवा वंश परम्परा का परिचय देने के उद्देश्य से किया जाता था । राजसूय अथवा राज्याभिषेक के अवसर पर कर्मकाण्डियों द्वारा 'सोम' का अर्थ सोमलता अथवा साक्षात् चन्द्रमा किया जाना सर्वथा असंगत है । यज्ञ में विनियोग का अपना महत्त्व है, किन्तु केवल वही मन्त्रार्थ का निश्चायक नहीं माना जा सकता ।

इन्द्रो जयातीति—इन्द्र शब्द परमात्मा और राजा दोनों का वाचक है । जो ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण प्रजा का स्वामी है, वह परमात्मा है और जो धरती पर अपने अधीनस्थ प्रजा के पालन-पोषण और रक्षण की व्यवस्था करता है, वह राजा है । दोनों प्रजापति हैं, किन्तु जहाँ परमेश्वर, महाराजाधिराज है, वहाँ पृथिवी अथवा उसके किसी भाग का शासक मात्र राजा है । ग्रन्थकार ने **'परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा'** दोनों अर्थ ग्रहण किये हैं । परमेश्वर रूप में इन्द्र समस्त ब्रह्माण्ड के योगक्षेम की व्यवस्था करता है और सभाप्रबन्ध के रूप में राजा अपने अधीनस्थ प्रजा के ऐश्वर्य, न्याय आदि के लिए प्रयत्नशील रहता है । **'स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन'**—यह राजा के राजत्व और स्थायित्व के साथ-साथ उसकी लोकप्रियता का हेतु है । राजसूय यज्ञों की परम्परा में महाभारत (सभा० ३७।१९-२०) में शिशुपाल की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

वयन्तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ॥
अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
करानस्मै प्रयच्छामः ॥

हम भय, लोभ या सान्त्वना के कारण युधिष्ठिर को कर नहीं देते । यह धर्म में प्रवृत्त हैं, इसलिए कर देते हैं ।

त्वमिति—मन्त्रार्थ में **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'** की ध्वनि परिलक्षित होती है । इसका तात्पर्य है कि जब देश में अन्याय, अनीति, दुष्टता, आपाधापी मचकर सज्जन पुरुषों को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सौम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु। हे सभासदः! (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्यप्येवमाज्ञा श्राव्या— (एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च ससभासत्कोऽयं राजसभाव्यवहार एव राजास्तीति। एतदर्थं वयं (इममुष्य पुत्रममुष्यं पुत्रं) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्म्म इति ॥१२॥

(इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु। (न पराजयातै) स मा कदाचित् पराजयं प्राप्नोतु (अधिराजो राजसु राजयातै) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्त्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम्। (चर्कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योऽस्ति, (ईड्यः) अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः (वन्द्यश्च) पूजनीयः (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति। (भवेह) हे महाराजेश्वर! त्वमुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव। भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् चक्रवर्त्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम ॥१३॥

(त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर! त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोऽसि, श्रव इवाचरतीति, सर्वस्य श्रोता च, स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु। (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन्! त्वं भूः सदा भवसि। यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्य्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु। (त्वं दैवीर्विश इमा वि राजा) हे जगदीश्वर! यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना विविधोत्तमराजपालिताः, प्रत्यक्षविषयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु। (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर! तव यदिदं सनातनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवद्दत्तमस्माकमस्तु, इति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं मद्रचितं भूगोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु ॥१४॥

भाषार्थ—(इमं देवा असपत्नम्) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्यव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि—हे विद्वान् लोगो! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो, कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आ जाए। (महते क्षत्राय०) हे शूरवीर लोगो! अपने क्षत्रियधर्म, चक्रवर्तिराज्य, श्रेष्ठकीर्ति, सर्वोत्तम राज्यप्रबन्ध के अर्थ (महते जानराज्याय) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक-ठीक राज्यव्यवस्था में चलाने के लिए तथा (इन्द्रस्येन्द्रियाय) बड़े ऐश्वर्य, सत्यन्याय के प्रकाश करने के अर्थ (सुवध्वम्) अच्छे-अच्छे राज्य-सम्बन्धी प्रबन्ध करो कि जिनसे सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढ़ता जाए ॥१२॥

(इन्द्रो जयाति) हे बन्धु लोगो! जो परमात्मा अपने लोगों का विजय करानेवाला (न पराजयातै) जो हमको दूसरों से कभी हारने नहीं देता (अधिराजः) जो महाराजाधिराज (राजसु

कष्ट होने लगता है और दुष्टों का दबदबा बढ़ जाता है तो राज्य में शान्ति और व्यवस्था को स्थापित करने के लिए राजा को ऐसे साधनोपायों को अपनाना पड़ता है जिनसे दुष्टों की शक्ति क्षीण होकर सज्जनों का उत्साह बढ़े। तभी राज्य सुस्थिर होता है। सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार करना राजा का कर्त्तव्य है। राजा के गुणों का परिगणन करते हुए मनुस्मृति, शुक्रनीति, महाभारत आदि में जिस आलंकरिक भाषा का प्रयोग किया गया है, उसके अनुसार राजा 'यम' के समान धार्मिकों पर कृपा करता है और दुष्टों को दण्ड देता है। 'अग्नि' के रूप में वह पापियों को भस्म करता है और 'सोम' अथवा चन्द्रमा के रूप में वह श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्दित करता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजयातै) सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हमको भी भूगोल में प्रकाशमान करनेवाला है, (**चर्कृत्यः**) जो आनन्दस्वरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करनेहारा, तथा (**ईड्यो वन्द्यश्च**) सब मनुष्यों को स्तुति और वन्दना करने के योग्य है, (**उपसद्यो नमस्यः**) सबको शरण लेने और नमस्कार करने योग्य है, (**भवेह**) सो ही जगदीश्वर हमारा विजय करानेवाला, रक्षक, न्यायाधीश और राजा है। इसलिए हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर! आप कृपा करके हम सबके राजा होइए। और हम लोग आपके पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर, आपके राज्य को सत्य-न्याय से सुशोभित करें ॥१३॥

(**त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः**) हे परमेश्वर! आप ही सब संसार के अधिराज और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक, (**त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्**) आप ही सदा नित्यस्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देनेवाले, (**त्वं दैवीर्विश इमा वि राजा**) आप ही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय करानेवाले हैं। (**युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु**, हे जगदीश्वर! आपका राज्य नित्य तरुण बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले। इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उसकी आज्ञा पालन करते हैं, उनको वह आशीर्वाद देता है कि—मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे अधीन हो। ॥१४॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥१५॥
ऋ० अ० १। अ० ३। व० १८, २८। मं० २॥

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥१६॥
—अ० कां० १५। अनु० २। व० ९। मं० २॥[1]

---

[1] **तं सभेति** – 'तं सभा च समितिश्च सेना च' (अथर्ववेद १५।९।२) से पहले (१५।९।१) में कहा है—**'स विशोऽनु व्यचलत्'**। उस (राजा) ने प्रजा का अनुसरण किया अर्थात् वह प्रजा के अनुकूल चला। परिणामतः सभा, समिति तथा सेना ने उसका साथ दिया। जो राजा जनमत की उपेक्षा न करके उसके अनुकूल शासन-व्यवस्था करता है, सभा तथा समिति उसी का अनुमोदन करती है। इसी प्रकार जिस राजा को प्रजा के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का समर्थन प्राप्त होता है, सेना भी उसके आदेशों का पालन करती हुई शासन कार्य में उसकी सहायता करती है। इस प्रकार राजा, सभा व समिति के रूप में प्रजा तथा सेना—तीनों के परस्पर सहयोग से राज्य में सुख, समृद्धि और शान्ति की वृद्धि होती है।

ये सभा और समिति क्या हैं, इस विषय में अथर्ववेद (७।१२।१) में कहा है—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येन संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥

सभा और समिति राजा की पुत्री के समान हैं जिनसे वह परस्पर मिलकर चलने और उसकी रक्षा करने का अनुरोध करता है। वह उनसे यह भी आशा करता है कि जब कभी वह उनसे व्यष्टि अथवा समष्टि रूप में किसी विषय में सम्मति माँगे तो वे उसे अपेक्षित जानकारी देते हुए उसे निष्पक्ष सम्मति दिया करें। वह उन्हें यह विश्वास दिलाता है कि वह सदा उनसे बातचीत में उत्तम वाणी का प्रयोग करेगा। वह अपने सभासदों से भी आशा करता है कि वे भी उससे सदा सत्य तथा मेल करने-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥१७॥
अथर्व० काँ० ६ । अनु० २० । व० ९७ । मं० ३ ॥[1]

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ।
त्वयेद्गाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवम् ॥१८॥
अथर्व० कां० १९ । अनु० ७ । व० ५५ । मं० ६ ॥[2]

भाष्यम्—(स्थिरा वः०) अस्यार्थः प्रार्थनाविषय उक्तः ॥१५॥

(तं सभा च) राजसभा प्रजा च तं पूर्वोक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्येत । (समितिश्च) तमनुश्रित्यैव समितिर्युद्धमाचरणीयम् । (सेना च) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सापि परमेश्वरं, ससभाध्यक्षां सभां, स्वसेनानीं चानुश्रित्य युद्धं कुर्य्यात् ॥१६॥

ईश्वरः सर्वान् मनुष्यान् प्रत्युपदिशति—(सखायः) हे सखायः ! (इमं वीरमुग्रमिन्द्रम्) शत्रूणां हन्तारं, युद्धकुशलं, निर्भयं, तेजस्विनं प्रति राजपुरुषं तथेन्द्रं परमैश्वर्य्यवन्तं परमेश्वरं (अनु हर्षध्वम्) सर्वे यूयमनुमोदयध्वम्, एवं कृत्वैव दुष्टशत्रूणां पराजयार्थं (अनु संरभध्वम्) युद्धारम्भं कुरुत । कथम्भूतं तं ? (ग्रामजितम्) येन पूर्वं शत्रूणां समूहा जिताः (गोजितम्) येनेन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं च जितं (वज्रबाहुम्) वज्रः प्राणो बलं बाहुर्यस्य (जयन्तम्) जयं प्राप्नुवन्तं (प्रमृणन्तमोजसा) ओजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिंसन्तम् (अज्म) वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्नुमः ॥१७॥

(सभ्य सभां मे पाहि) हे सभायां साधो परमेश्वर ! मे मम सभां यथावत् पालय । म इत्यस्मच्छब्द-निर्देशात् सर्वान् मनुष्यानिदं वाक्यं गृह्णातीति (ये च सभ्याः सभासदः) ये सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभायां सीदन्ति, तेऽस्माकं पूर्वोक्तां त्रिविधां सभां पान्तु यथावद् रक्षन्तु (त्वयेद्गाः पुरुहूत) हे बहुभिः पूजित परमात्मन् ! त्वया सह ये सभासद इद्गा' इतं राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति, त एव सुखं प्राप्नुवन्ति (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) एवं सभापालितोऽहं सर्वो जनः शतवार्षिकं सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम् ॥१८॥

कराने में सहायक बातें करेंगे । पुत्रियों को जन्म देना और उनका पालन-पोषण करके उन्हें समर्थ बनाना पिता का काम है, किन्तु वे सदा उसके अधीन नहीं रहतीं । समर्थ होने पर वे अपना हिताहित समझने लगती हैं । इसी प्रकार निर्वाचन प्रक्रिया के द्वारा सभा को संगठित करना राजा का काम है । तत्पश्चात् विवेक द्वारा निश्चय करके राजा को दिशा निर्देश करने में वे स्वतन्त्र हैं ।

ये ते के च सभासदस्ते सन्तु सवाचसः । —अ० ७।१२।३

सभा, समिति आदि का क्रमिक विकास कैसे हुआ, इसका विस्तृत विवरण अथर्ववेद के अष्टम काण्ड के दशम सूक्त में इस प्रकार किया गया है—

"विराड् वा इदमग्र आसीत् । तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति । सोदक्रामत्..."
—अथर्ववेद ८।१०।१२

सृष्टि के आरम्भ में राजा से विहीन प्रजा थी । इस राजविहीन अवस्था को देखकर सब भयभीत हो गये और सोचने लगे कि क्या सदा यही अवस्था रहेगी ? तब वह प्रजाशक्ति उत्क्रान्त हुई । मानव इतिहास के आदिकाल में यह आन्दोलन उठा । इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप 'सभा' की उत्पत्ति हुई अर्थात् सर्वसाधारण ने परस्पर मिल-बैठने का निश्चय किया—'सोदक्रामत् सा सभायां

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(**स्थिरा वः सन्त्वायुधा०**) इस मन्त्र का अर्थ प्रार्थनादिविषय में कर दिया है ॥१५॥

(**तं सभा च**) प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जानके, सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें। (**समितिश्च**) सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें। तथा (**सेना च**) जो सेना, सेनापति और सभाध्यक्ष हैं, वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेना को बनाके सदैव प्रजापालन और युद्ध करें ॥१६॥

ईश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि—(**सखायः**) हे बन्धु लोगो! (**इमं वीरम्**) हे शूरवीर लोगो! न्याय और दृढ़भक्ति से अनन्त बलवान् परमेश्वर को इष्ट करके, (**अनुहर्षध्वम्**) शूरवीर लोगो को सदा आनन्द से रक्खो। (**उग्रमिन्द्रम्**) तुम लोग अत्यन्त उग्र परमेश्वर के सहाय से एक सम्मति होकर (**अनुसंरभध्वम्**) दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो! (**ग्रामजितम्**) जिसने सब भूगोल तथा (**गोजितम्**) सबके मन और इन्द्रियों को जीत रक्खा है (**वज्रबाहुम्**) प्राण जिसके बाहु और (**जयन्तम्**) जो हम सबको जितानेवाला है, (**अज्म**) उसी को इष्ट जानके हम लोग अपना राजा मानें। (**प्रमृणन्तमोजसा**) जो अपने अनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हमको सुख देता है ॥१७॥

न्यक्रामत्' ८। '**सभा**' शब्द '**सह**' अव्ययपूर्वक '**भा दीप्तौ**' धातु से निष्पन्न है। इसका योगार्थ है—बहुत से लोगों का किसी निश्चय के लिए एक-साथ चमकना। अथर्ववेद में आगे लिखा है—

"सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत्। सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत्।"

प्रजा में फिर उत्क्रान्ति हुई तो 'समिति' बन गई। प्रजाशक्ति एक बार पुनः उत्क्रान्त हुई और समिति 'आमन्त्रण' में परिणत हो गई।

इस प्रकार क्रमशः सभा, समिति तथा आमन्त्रण नामक तीन संस्थाओं=सत्ताओं का विकास हुआ। सम्पूर्ण जनता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करनेवाली '**सभा**' (वर्त्तमान में लोकसभा) कहलाती है। विभिन्न विषयों के विशिष्ट विद्वानों की सभा का नाम '**समिति**' है। सम्पूर्ण राष्ट्र की शासनव्यवस्था का संचालन एवं नियन्त्रण करनेवाला '**आमन्त्रण**' (मन्त्रिपरिषद्) कहलाता है। किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय पर सब पहलुओं से गम्भीरतापूर्वक विचार करके निश्चय करने की दृष्टि से सामान्य तथा विशिष्ट दो स्तरों पर विचार करना श्रेयस्कर है। इससे दोषों का परिमार्जन हो जाता है। किसी भी कार्य के सहसा हो जाने पर रोक लगी रहती है।

इमं वीरमिति—यहाँ कठोर भुजाओंवाले अजेय व्यक्ति को ही राजा बनाने पर विशेष बल दिया है। अथर्व० ६।१२८।१ में कहा है—**नक्षत्राणि**=निर्बल प्रजाएँ **शकधूमम्**=अपनी शक्ति से सबको कंपाने वाले पुरुष को **राजानमकुर्वत**=राजा बना लेती हैं। इसी प्रकार की बात अथर्व० ६।५४।१ तथा २०।१४।१ में कही गई है। राजा के पर्यायवाची राजन्य, बाहुज आदि शब्दों से भी यही ध्वनि निकलती है।

सभ्य सभामिति—सभ्य=सभासु साधुः, सभा प्रातिपदिकात्। '**सभाया यः**' (अष्टा० ४।४।१०५) **सूत्रेण यः प्रत्ययः० तत्सम्बुद्धौ। त्रिविधां सभाम्**=राजार्यसभा आदि अभिप्रेत हैं। **पुरुहूतः–बहुभिस्स्तूयते** इति। इस मन्त्र का पूर्वार्ध १९।५।५ का उत्तरार्ध है और उत्तरार्ध १९।५।६ का पूर्वार्ध है। संहिता (सातवलेकर) तथा जयदेव विद्यालंकार कृत भाष्य में '**त्वयेद्गाः**' की जगह '**त्वमिन्द्रा**' तथा '**व्यश्नवम्**' की जगह **व्यश्नवत्**' पाठ है।

इस सूक्त में राजा की अश्व से उपमा दी गई है। अश्व राष्ट्र की राजशक्ति का प्रतिनिधि है। जैसे उत्तम अश्व सदा खड़ा रहता है, उसी प्रकार राजा भी राष्ट्र की रक्षार्थ सदा सन्नद्ध रहता है। तभी राष्ट्रवासी उसका स्तवन करते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सभ्य सभां मे पाहि) हे सभा के योग्य परमेश्वर ! आप हम लोगों की राजसभा की रक्षा कीजिए। **(ये च सभ्याः सभासदः)** हम लोग जो सभा के सभासद् हैं, सो आप की कृपा से सभ्यतायुक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्यन्याय की रक्षा करें। **(त्वयेद्गाः पुरुहूत०)** हे सबके उपास्यदेव ! **(विश्वमायुर्व्यशनवम्)** हम लोग आप ही के सहाय से आपकी आज्ञा को पालन करते रहें, जिससे सम्पूर्ण आयु को सुख से भोगें ॥१८॥

इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संक्षेपेण लिखिताऽतोऽग्र ऐतरेयशतपथब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संक्षेपतो लिख्यते। तद्यथा—

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तमुग्रवत्सहस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपं, मन्द्र ओजिष्ठ इत्योजस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपम् ॥१॥

बृहत्पृष्ठं भवति, क्षत्रं वै बृहत् क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्द्धयत्यथो क्षत्रं वै बृहदात्मा यजमानस्य निष्केवल्यं तद्यद् बृहत्पृष्ठं भवति ॥२॥

वेद में प्रतिपादित उपर्युक्त सभा, समिति एवं सेना को बनाकर शासन के संचालन का आधार प्रजा ही है। प्रजा के प्रतिनिधि सभासद जितने श्रेष्ठ होंगे, सभाओं का कार्य उतना ही अच्छा होगा। इसलिए राजा अथवा सभापति का कर्त्तव्य है कि वह सभा के गौरव की रक्षा करे और इस निमित्त सभा में वर्त्तमान सभ्य=विद्वान् तथा श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा करे। सभासदों के योगक्षेम का दायित्व राजा पर है। विद्वज्जन सभा में अपनी बात निष्पक्ष और निर्भीक होकर कह सकें राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। सभासदों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे अपने लिए प्रयुक्त 'सभ्य' पद को सार्थक करते हुए सदा साधुजनोचित व्यवहार करें।

जनिष्ठा उग्रः०—राजसभा में धर्मात्मा, विद्वान् तथा तेजस्वी पुरुष होने चाहिएँ जो उत्तम स्वभाववाले मनुष्यों को सदा सुख देनेवाले और दुष्टों के प्रति कठोर व्यवहार करनेवाले हों। राजकर्म दो प्रकार का होता है - (१) **सहस्वत्** =कहीं देश, काल और पात्र के अनुसार सहिष्णुता का व्यवहार करना अपेक्षित होता है। (२) **उग्रवत्**=और कहीं इसके विपरीत कठोर दण्ड देना आवश्यक होता है—यही क्षात्रधर्म का स्वरूप है। ग्रन्थकार ने इस आदर्श व्यवस्था का आर्यसमाज के सातवें नियम में इस प्रकार निर्देश किया है—"सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए।" इसी प्रकार **(मन्द्र ओजिष्ठाः)** अच्छा काम करनेवालों के लिए आनन्दप्रद और दुष्टों के लिए दुःखप्रद होना ही क्षत्र का वास्तविक स्वरूप है। महाभारत (उद्यो० प० ३७।७) में कहा है—**"यस्मिन्यथा वर्त्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः।"** इसीलिए सत्पुरुषों के लिए राजा सोमरूप होता है तो दुष्टों के लिए 'रुद्ररूप'।

बृहत्पृष्ठमिति—क्षात्रकर्म सब कर्मों से बड़ा है, क्योंकि वह निर्बल पुरुषों का पृष्ठ अर्थात् रक्षक है। क्षात्रधर्म का पालन होने से ही राजकर्म व्यवस्थित रहता है। मनुस्मृति (७।१७-१८) में कहा है—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म वै रथन्तरं क्षत्रं बृहद्, ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म ॥३॥

ओजो वा इन्द्रियं वीर्य्यं पञ्चदश ओजः क्षत्रं वीर्य्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्य्येण समर्द्धयति । तद्भारद्वाजं भवति भारद्वाजं वै बृहत् ॥४॥

—ऐ० प० ८ । अ० १ । कं० २, ३ ॥

संसार में सुख और शान्ति की स्थापना के लिए शूरवीर पुरुषों की सेना का होना आवश्यक है। जब तक संसार में दुष्टता रहेगी तब तक उसका दमन करने के लिए शस्त्रास्त्र का प्रयोग भी होता रहेगा।[2]

ब्रह्मेति - यहाँ **'ब्रह्म'** शब्द से सम्पूर्ण विद्याओं से युक्त ब्राह्मण वर्ण लिया जाता है। उसी में क्षात्रधर्म प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार क्षात्रधर्म में सत्यविद्या भी प्रतिष्ठित है —**'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचर्चा प्रवर्तते।'** वस्तुतः शस्त्र और शास्त्र दोनों अन्योन्याश्रित हैं। जब तोपें गोले उगल रही हों और आकाश से बम बरस रहे हों तो गीता में किसका मन लग सकता है ? इसी प्रकार यदि विद्वान् निष्क्रिय बैठे हों तो नित नये प्रकार के शस्त्रास्त्र कैसे बनें ? कृषि आदि का उत्पादन कैसे बढ़े ?

वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में **'ब्राह्मण'** और **'राजन्य'** को क्रमशः विधायिका (Legislature) तथा कार्यपालिका (Executive) का पर्याय माना जा सकता है। विधि-विधान का निर्माण सर्वविद्यानिष्णात ब्राह्मण कर सकते हैं, जबकि उसका कार्यान्वयन क्षत्रिय कर सकते हैं जिन्हें शासन द्वारा निर्धारित नियमों का उल्लंघन करनेवालों को नियन्त्रित करने तथा आवश्यकता पड़ने पर बलप्रयोग करने का अधिकार और सामर्थ्य प्राप्त है। विधायिका और कार्यपालिका के परस्पर सहयोग से ही शासन-व्यवस्था सुचारुरूप से चल पाती है।

ओजो वेति—'ओज एव क्षत्रम्', 'वीर्यमेव राजन्यः'। ओज ही क्षत्र है और वीर्य ही राजन्य है। जो जितेन्द्रिय और निर्व्यसन रहकर अपने बल और पराक्रम को बढ़ाते हैं वही राजा और राजपुरुष राजधर्म का पालन करने में समर्थ होते हैं। अधार्मिक अथवा भ्रष्टाचार में लिप्त शासन में प्रजा को न्याय नहीं मिल सकता। जहाँ न्याय खरीदा जा सकता है, वहाँ किसी को दण्ड का भय नहीं रहता। **'भरणाद् भारद्वाजः' = भारद्वाजं भरणीयम्** (नि० ३।१७)। राजकीय व्यवस्था **'बहुपाय्य'** अनेक लोगों के सहयोग से चलती है। इसलिए राजपुरुषों=राजकर्मचारियों के भरण-पोषण अर्थात् योगक्षेम की व्यवस्था करना राजा का परम कर्त्तव्य है।

---

2. Inspite of its attachment to the principle of non-violence, Hindu society made room for a group dedicated to the use of force, the kshatriyas. As long as human nature is what it is, as long as society has not reached its highest level, we require the use of force. So long as society has individuals who are hostile to all order and peace, it has to develop controls to check the anti-social elements These anti social forces gather together for revolt when the structure of society is shaken by war or internal discussions.

—Radhakrishnan : Hindu View of Life, P. 78

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तानहमनु राज्याय साम्राज्याय भोज्याय स्वराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय महाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां रोहामीति ।५।।

नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मण इति त्रिष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति । ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति, तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते ।।६।। —ऐ० पञ्चि० ८ । अ० २ । कं० ६ ६ ।।

भाष्यम्—(जनिष्ठा उग्रः०) राजसभायां, जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मात्मानः श्रेष्ठप्रकृतीन् मनुष्यान् प्रति, सदा सुखदास्सौम्या भवेयुः, तथा दुष्टान् प्रत्युग्रो व्यवहारो धार्य्य इति । कुतो यद्राजकर्म्मास्ति तद् द्विविधं भवत्येकं सहस्वद्, द्वितीयमुग्रवद् अर्थात् क्वचिद् देशकालवस्त्वनुसारेण सहनं कर्त्तव्यम्, क्वचित्तद् विपर्य्यये राजपुरुषैर्दुष्टेषूग्रो दण्डो निपातनीयश्चैतत् क्षत्रस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति । तथा (मन्द्र ओजिष्ठः०) उत्तमकर्मकारिभ्य आनन्दकरो दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चास्ति उत्तमवीर पुरुषसेनादिपदार्थसामग्रचा सहितो यो राजधर्मोऽस्ति स च क्षत्रस्य स्वरूपमस्ति ।।१।।

(बृहत्पृष्ठ०) यत् क्षत्रं कर्म तत् सर्वेभ्यः कृत्येभ्यो बृहन्महदस्ति । तथा पृष्ठमर्थान्निर्बलानां रक्षकं सत् पुनरुत्तमसुखकारकं भवति । एतेनोक्तेन च क्षत्रराजकर्म्मणा मनुष्यो राजकर्म्म वर्द्धयति । नातोऽन्यथा क्षत्रधर्मस्य वृद्धिर्भवितुमर्हति । तस्मात् क्षत्रं सर्वस्मात् कर्मणो बृहद् यजमानस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्माऽऽत्मवदानन्दप्रदं भवति । यथा सर्वस्य संसारस्य निष्केवल्यं निरन्तरं केवलं सुखं सम्पादयितुं यतः समर्थं भवति, तस्मात्तत् क्षत्रकर्म सर्वेभ्यो महत्तरं भवतीति ।।२।।

(ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्मशब्देन सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते, तस्मिन् खलु क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितो भवति । नैव कदाचित् सत्यविद्यया विना क्षत्रधर्मस्य वृद्धिरक्षणे भवतः । तथा (क्षत्रे ब्रह्म) राजन्ये ब्रह्माऽर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठिता भवति । नैवास्माद् विना कदाचिद् विद्याया वृद्धिरक्षणे सम्भवतः । तस्माद् विद्याराजव्यवहारौ मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्तुं शक्नुत इति ।।३।।

(ओजो वा इन्द्रियं०) राजपुरुषैर्बलपराक्रमवन्तीन्द्रियाणि सदैव रक्षणीयानि अर्थाज्जितेन्द्रियतयैव सदैव वर्त्तितव्यम् । कुत "ओज एव क्षत्रं, वीर्य्यमेव राजन्यः" इत्युक्तत्वात् । तत्तस्मादोजसा क्षत्रेण वीर्य्येण राजन्येनैनं राजधर्मं मनुष्यः समर्द्धयति, सर्वसुखैरेधमानं करोति । इदमेव भारद्वाजं भरणीयं, बृहदर्थान्महत् कर्मास्तीति ।।४।।

(तानहमनुराज्याय०) सर्वे मनुष्या एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः—परमेश्वरानुग्रहेणाहमनुराज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकानां राज्ञामुपरि राजसत्ताप्राप्तये, (साम्राज्याय) सार्वभौमराज्यकरणाय, (भौज्याय) धर्मन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च, (स्वाराज्याय) स्वस्मै राज्यप्राप्तये

तानहमनुराज्यायेति—सब लोग इस प्रकार इच्छा करके पुरुषार्थ करें कि परमेश्वर की कृपा से मैं प्रथम 'अनुराज्य' की प्राप्ति के लिए और तदनन्तर माण्डलिक राजाओं के ऊपर सत्ताप्राप्ति के लिए (साम्राज्याय) सार्वभौम राज्य करने के लिए, (भौज्याय) धर्म-न्याय से राज्यपालन करते हुए उत्तम भोग के लिए, (स्वराज्याय) स्वर्ग - ऐन्द्र राज्य की प्राप्ति के लिए, (वैराज्याय) विभिन्न राजाओं के बीच शीर्षस्थ स्थान पाने के लिए, (पारमेष्ठ्याय) स्थिर राज्य के लिए, (महाराज्याय) विस्तृत राज्य-सत्ता के लिए तथा (आधिपत्याय) इस प्रकार क्रमशः सबपर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त करूँ ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वैराज्याय) विविधानां राज्ञां मध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय, (पारमेष्ठ्याय) परमराज्यस्थितये, (महाराज्याय) महाराज्यसुखभोगाय, तथा (आधिपत्याय) अधिपतित्वकरणाय, (स्वावश्याय) स्वार्थप्रजावशत्वकरणाय च, (अतिष्ठायाम्) अत्युत्तमा विद्वांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा अतिष्ठा सभा, तस्यां सर्वैर्गुणैः सुखैश्च (रोहामि) वर्द्धमानो भवामीति ॥५॥

(नमो ब्रह्मणे०) परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भं कुर्य्यात्। यत् क्षत्रं ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वशमेति, तद्राष्ट्रं समृद्धं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति। तस्मिन्नेव राष्ट्रे वीरपुरुषो जायते, नान्यत्रेत्याह परमेश्वरः ॥६॥

भाषार्थ—इस प्रकार वेदरीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप से कह चुके। इसके आगे वेद की सनातन व्याख्या जो एतरेय और शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं, उनकी साक्षी भी यहाँ लिखते हैं—

(जनिष्ठा उग्रः०) राजाओं की सेना और सभा में जो पुरुष हों वे सब दुष्टों पर तेजधारी, श्रेष्ठों पर शान्तरूप, सुख-दुःख के सहन करनेवाले और धन के लिए अत्यन्त पुरुषार्थी हों ॥१॥ क्योंकि राज्यव्यवहार सबसे बड़ा है। इसमें शूरवीर आदि गुणयुक्त पुरुषों को सभा और सेना रखकर अच्छी प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिए ॥२॥

(ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण हैं, वही राज्य के प्रबन्धों में सुखप्राप्ति का हेतु होता है। इसलिए अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है ॥३॥

उत्तम विद्या और न्याययुक्त राज्य का नाम ओज है। जिसको दण्ड के भय से उल्लंघन वा अन्यथा कोई नहीं कर सकता, क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम क्षत्र और पराक्रम का नाम राजन्य है। ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं, तभी संसार की उन्नति होती है ॥४॥

इसके होने और परमेश्वर की कृपा से मनुष्य के राजकर्म, चक्रवर्त्तिराज्य, भोग का राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठिराज्य, प्रकाशरूपराज्य, महाराज्य, राज्यों का अधिपतिरूप राज्य, और अपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम-उत्तम सुख बढ़ते हैं ॥५॥

इसलिए उस परमात्मा को मेरा बारंबार नमस्कार है कि जिसके अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं ॥६॥

अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम् (शत० ५।१।१।१३)—छोटे-छोटे माण्डलिक राज्य 'अनुराज्य' कहाते हैं और बड़े राज्य साम्राज्य। अथवा—**सम्यग् ये राजन्ते प्रकाशन्ते ते सम्राजो राजानस्तेषां भावः कर्म वा।**

परमेष्ठिन्—परमे प्रकृष्टे स्वरूपे तिष्ठति=परमोपपदे ष्ठा गतिनिवृत्तौ।

यजुर्वेद भाष्यान्तर्गत एक मन्त्र (१।६) के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—"**मनुष्यैर्द्वाभ्यां प्रयोजनाभ्यां प्रवर्त्तितव्यम्। एकमत्यन्तपुरुषार्थशरीरारोग्याभ्यां चक्रवर्त्तिराज्यश्रीप्राप्तिकरणम्, द्वितीयं सर्वा विद्याः सम्यक् पठित्वा तासां सर्वत्र प्रचारीकरणं चेति।**" अर्थात् मनुष्यों को दो प्रयोजनों से प्रवृत्त होना चाहिए—एक तो अत्यन्त पुरुषार्थ और शरीर की आरोग्यता से चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मी की प्राप्ति करना और दूसरे सब विद्याओं को अच्छी प्रकार पढ़के सर्वत्र उनका प्रचार करना।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आर्याभिविनय' में भी अनेक वेदमन्त्रों की व्याख्या के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने प्रार्थनारूप में 'साम्राज्य' या 'चक्रवर्त्ति राज्य' की कामना का समावेश किया है। जैसे- "हमको भी सत्यविद्या से युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिए" (प्रकाश १, मन्त्र १८), "चक्रवर्त्ती राज्यैश्वर्य से परिपूर्ण करो" (१।३५); "हमारे लिए चक्रवर्त्ती राज्य और साम्राज्य धन को सुगम—सुख से प्राप्त कर।" (१।४३); "जब तक जीवें, तब तक सदा चक्रवर्त्ती राज्यादि भोग से सुखी रहें।" (२।१३) "अखण्ड चक्रवर्त्ती राज्य के लिए—हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर।" २।३१)

मनुस्मृति के सप्तम अध्याय में राज्य-संचालन के लिए विभिन्न स्तरों पर एक से लेकर सहस्र ग्रामों तक सभाओं का निर्माण किए जाने का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में उन श्लोकों को उद्धृत कर मनु द्वारा निर्दिष्ट क्रम को आगे बढ़ाते हु लिखा है - "दस-दस हजार के दश अधिपति लक्ष ग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्त्तमान जनाया करें और वे सभा, राजसभा, महाराजसभा अर्थात् **सार्वभौम चक्रवर्त्ती महाराजसभा** में सब भूगोल का वर्त्तमान जनाया करें।" यह **सार्वभौम चक्रवर्त्ती महाराजसभा** अत्युत्तम विद्वानों से निर्मित **प्रतिष्ठासभा** होगी।

सार्वभौम चक्रवर्त्ती महाराजसभा नाम से अभिहित इस अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वस्तरीय राजकीय संगठन का साक्षात् विवरण न मनुस्मृति में उपलब्ध है, न ब्राह्मण ग्रन्थों में और न किन्हीं अन्य राजनीतिपरक ग्रन्थों में। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सन् १९१८ में राष्ट्रसंघ (League of Nations) की तथा द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सन् १९४५ में संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations Organisation) की स्थापना की गई, किन्तु ग्रन्थकार ने इसकी कल्पना सत्यार्थप्रकाश की रचना के समय सन् १८७५ में की। निश्चय ही ग्रन्थकार का यह विचार वर्त्तमान राजनीति से उधार लिया नहीं माना जा सकता। या तो यह उनकी आर्षबुद्धि का चमत्कार है अथवा उनके चिन्तन का आधार वेद में उपलब्ध कतिपय संकेत हो सकते हैं। **'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'**—यजुर्वेद का यह वचन इसका प्रेरणा-स्रोत हो सकता है। सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास के अन्त में ग्रन्थकार ने स्वयं इसका संकेत किया है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद में आये ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

"विशां पतिरेकराट् त्वं विराज। सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु" अथर्व ३।४।१

अर्थात्—हे राजन्। तू समस्त प्रजाओं का **'एकराट्'** = एकमात्र सर्वोपरि अधिकारी होकर विराजमान हो। तुझे **(सर्वाः प्रदिशः)** सम्पूर्ण दिशाओं के वासी नियुक्त करें। साम्राज्य, वैराज्य, महाराज्य आदि शब्द भी राजसभाओं अर्थात् विभिन्न राष्ट्रों के राज्यों के ऊपर एक महाराजसभा की कल्पना में सहायक हो सकते हैं।

परन्तु इतिहास साक्षी है कि राष्ट्रसंघ (League of Nations) हिटलर के एक झटके को सहन न कर सकी और १९३९ में धराशायी हो गई। व्यावहारिक स्तर पर यही स्थिति वर्त्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ (U. N. O.) की है। रूस या अमरीका में से कोई अकेला निषेधाधिकार प्राप्त होने के कारण सुरक्षा परिषद् के किसी भी निर्णय को निरस्त कर सकता है। साधारण सभा में सर्वसम्मति से कोई भी निर्णय हो जाए तो सदस्य राष्ट्र उसे मानने के लिए बाध्य नहीं किये जा सकते। जब विश्वसंगठन पर सदस्य राष्ट्रों का वर्चस्व बढ़ जाता है तो विश्वसंगठन व्यर्थ हो जाता है। इस दृष्टि से ऐतरेय के प्रस्तुत सन्दर्भ में **'आधिपत्याय'** तथा **'स्वावश्याय'** ये दो शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। स्वायत्तता (autonomy) के साथ जब तक प्रभुसत्ता (Sovereinty) का सामंजस्य नहीं होता तब तक दोनों में संघर्ष अनिवार्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। आज भी यह अनुभव किया जा रहा है कि जब तक संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास अपनी सेना नहीं होगी तब तक वह निर्णयों को लागू नहीं करा सकेगी। इसलिए जबतक सदस्य राष्ट्रों पर विश्वसंघ का आधिपत्य नहीं होगा और वे उसके वश में रहकर उसके निर्देशों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं होंगे तब तक उसका होना न होना बराबर है।

विश्वशासन के कुछ सूत्र ऋग्वेद के सप्तम तथा अष्टम मण्डल में भी उपलब्ध हैं। जैसे—

राजा राष्ट्रानां पेशः। ७।३४।११
विश्वस्य दूतं ···· अग्निं आहुवे।—७।१६।१
विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः।—७।१६।२
त्वं पोता विश्ववार।—७।१६।५
अस्य भुवनस्य एकराट् राजसि। –८।३७।३
यस्य ते विश्वमानुषः। –८।४५।४२
विश्वमनुषां मरुतामियक्षसि।—८।४६।१७

वेदों में अनेकत्र विश्व को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एक सूत्र में बाँधने के संकेत मिलते हैं। जैसे **'इषं च विश्वभोजसम्'** (ऋ० ६।४८।१३ में विश्व खाद्य व कृषि संगठन (World Food & Agricultural Organisation) की स्पष्ट ध्वनि है। संयुक्तराष्ट्रसंघ की एक रिपोर्ट (२४ अक्तूबर १६५५) में कहा गया था—

"We know that modern techniques and modern knowledge coupled with an adequate scheme of distribution can enable us to feed well a far larger population that anyone has heretofore considered possible. The knowledge exists. The machinery—the U.N. Food and Agricultural Organisation—is ready. And yet men starve."

आशय यह है कि संसार में इतनी खाद्य सामग्री उपलब्ध है कि उससे वर्त्तमान जनसंख्या से कहीं अधिक लोगों का पेट भरा जा सकता है। इसका वितरण करनेवाली संस्था भी है, किन्तु फिर भी लोग भूखे मर रहे हैं।

इससे स्पष्ट है कि संयुक्तराष्ट्रसंघ और उससे सम्बन्धित अवर संगठन अपने-आपको असहाय एवं असमर्थ अनुभव करते हैं। पूर्वापेक्षया कुछ सुधार होने पर भी न्यूनाधिक वही स्थिति आज भी है। इस स्थिति में किसी भी विश्वसंगठन के सन्दर्भ में **'आधिपत्याय'** तथा **'स्वावश्याय'** जैसे शब्दों पर बल देना आवश्यक है।

नमो ब्रह्मणे—इत्यादि मन्त्र में मानो **'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'** की भावना का व्याख्यान है। इससे राजा और राजपुरुषों में निरभिमानता आती है। प्रजा सुखी होती है और सुखी प्रजा राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने—प्राणोत्सर्ग तक करने को तैयार रहती है। वस्तुतः जिस राष्ट्र में सैन्यशक्ति ब्राह्मबल, विद्याबल और न्याय से नियन्त्रित होगी वहाँ हर प्रकार का सुख होगा। सैन्यबल के अनियन्त्रित होने पर अधिनायकवाद (Dictatorship) आये बिना न रहेगा। तब अन्याय, अत्याचार आदि से पीड़ित होकर प्रजा दुःखी होगी। परिणामतः असन्तोष, विप्लव आदि का भय होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्रजापतिका, अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्वैतदिन्द्रमेव ।।७।।

सम्राजं साम्राज्यं भोजं भोजपितरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं वैराज्यं राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि वशामत्ताजनि पुरां भेत्ताजन्यसुराणां हन्ताजनि ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनीति ।। स परमेष्ठी प्राजापत्योऽभवत् ।।८।। —ऐत० पं० ८ । अ० ३ । कं० १२, १४ ।।

स एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेणाभिषिक्तः क्षत्रियः सर्वा जितीर्जयति सर्वान् लोकान् विन्दति, सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यं जित्वास्मिंल्लोके स्वयंभूः स्वराडमृतोऽमुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः सम्भवति यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चति ।।९।। —ऐत० पं० ८ । अ० ४ । कं० १९ ।।

भाष्यम्—(सप्रजापतिका०) सर्वे सभासदः प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन पूज्यतमेन परमेश्वरेणैव सह वर्त्तमाना भवेयुः । सर्वे मिलित्वैवं विचारं कुर्युर्यतो न कदाचित् सुखहानिपराजयौ स्याताम् । यो देवानां विदुषां मध्ये (ओजिष्ठः) पराक्रमवत्तमः, (बलिष्ठः) सर्वोत्कृष्टबलसहितः, (सहिष्ठः) अतिशयेन सहनशीलः, (सत्तमः) सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः, (पारयिष्णुतमः) सर्वेभ्यो युद्धादिदुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वांस्तारयितृतमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोऽस्तीति । वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चाम इतीच्छेयुः तथैव खल्वस्त्विति सर्वे प्रतिजानीयुः । एवंभूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं, सर्वैश्वर्य्यप्रापकत्वादिन्द्रमित्याहुः[1] ।।७।।

सप्रजापतिकेति—जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर के अधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में होता है, वहाँ सब सुखकारक पदार्थों का प्राचुर्य होता है और वीर पुरुषों के होने से उसकी कभी पराजय नहीं होती । विद्वान् पुरुष अनन्यभाव से परमेश्वर के उपासक होते हैं । परमेश्वर ही सब देवों =विद्वानों के बीच अनन्त विद्या और सामर्थ्यवाला है । वही सब दुःखों को दूर कर सुखों को देनेवाला है । उसी परमात्मा (परमात्मा के समान बलवान् व न्यायकारी पुरुष) को हम राजा के पद पर अभिषिक्त करें । परमैश्वर्यशाली होने से उसी का नाम इन्द्र है ।

सम्राजमिति-पूर्वोक्त प्रकार से सत्ता और प्रतिष्ठा के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर भी मनुष्य यही समझे कि मैं जो कुछ हूँ, परमेश्वर के अनुग्रह से हूँ । चक्रवर्त्ती सम्राट् होकर भी सम्राटों के सम्राट् परमेश्वर का दास हूँ । ऐसा मानकर जिस प्रकार की शासन-व्यवस्था सकल ब्रह्माण्ड में परमेश्वर ने कर रक्खी है, अपने सीमित क्षेत्र में वैसी ही राजा करे ।

स एतेनेति—लोकहित की भावना से उपर्युक्त प्रकार से राज्य करनेवाला राजा तत्त्वज्ञान

---

१. अयमभिप्रायः—तथैव खलु सर्वे एवंभूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणम् 'अस्तु' इति प्रतिजानीयुः, सर्वैश्वर्यप्रापकत्वादेव तम् 'इन्द्रम्' इत्याहुः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सम्राजं०) एवम्भूतं सार्वभौमराजानं, (साम्राज्यम्) सार्वभौमराज्यं, (भोजम्) उत्तमभोगसाधकं, (भोजपितरम्) उत्तमभोगानां रक्षकं, (स्वराजम्) राजकर्मसु प्रकाशमानं, सद्विद्यादिगुणैस्स्वहृदये देदीप्यमानं, (स्वाराज्यम्) स्वकीयराज्यपालनं (विराजम्) विविधानां राज्ञां प्रकाशकं, (वैराज्यम्) विविधराज्यप्राप्तिकरं, (राजानम्) श्रेष्ठैश्वर्य्येण प्रकाशमानं, (राजपितरम्) राज्ञां रक्षकं, परमेष्ठिनम्) परमोत्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं, (पारमेष्ठ्यम्) परमेष्ठिसम्पादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयमभिषिञ्चामहे एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य सुखयुक्तं (क्षत्रमजनि) प्रादुर्भवतीति। अजनोति छन्दसि लुङ्लङ्‌लिटः [अष्टा० ३।४।६] इति वर्त्तमानकाले लुङ्। (क्षत्रियोऽजनि) तथा क्षत्रियो वीरपुरुषः, (विश्व०) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभाध्यक्षः (विशामत्ता०) दुष्टप्रजानामत्ता विनाशकः, (पुरां भे०) शत्रुनगराणां विनाशकः, (असुराणां हन्ता) दुष्टानां हन्ता हननकर्त्ता, (ब्रह्मणो०) वेदस्य रक्षकः, (धर्मस्य गो०) धर्मस्य च रक्षकोऽजनि प्रादुर्भवतीति ॥ (स परमेष्ठी) स राजधर्मः सभाध्यक्षादिमनुष्यैः (प्राजापत्यः०) अर्थात् परमेश्वर इष्टः करणीयः। न तद्भिन्नोऽर्थः केनचित् मनुष्येणेष्टः कर्तुं योग्योऽस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वरपूजका भवेयुः ॥८॥

यो मनुष्यो राज्यं कर्तुमिच्छेत् स (एतेनैन्द्रेण) पूर्वोक्तेन सर्वैश्वर्यप्राप्तिनिमित्तेन (महाभिषेकेणा०) अभिषिक्तः स्वीकृतः, (क्षत्रियः) क्षत्रधर्मवान्, (सर्वा०) सर्वेषु युद्धेषु जयति, सर्वत्र विजयं तथा सर्वोत्तमाँल्लोकाँश्च विन्दति प्राप्नोति। (सर्वेषां राज्ञां०) मध्ये श्रैष्ठ्यं सर्वोत्तमत्वं, पूर्वोक्तामतिष्ठां, या परेषु शत्रुषु विजयेन हर्षनिमित्ता तथा परेषां शत्रूणां दीनत्वनिमित्ता सा परमता सभा, तां वा गच्छति प्राप्नोति। तया सभया पूर्वोक्तं साम्राज्यं भौज्यं स्वराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं महाराज्यमाधिपत्यं राज्यं च जित्वाऽस्मिन् लोके चक्रवर्तिसार्वभौमो महाराजाधिराजो भवति। तथा शरीरं त्यक्त्वाऽमुष्मन् स्वर्गे सुखस्वरूपे लोके परब्रह्मणि (स्वयम्भूः) स्वाधीनः, (स्वराट्) स्वप्रकाशः, (अमृतः) प्राप्तमोक्षसुखः सन् सर्वान् कामानाप्नोति। (आप्त्वामृतः०) पूर्णकामोऽजरामरः सम्भवति। (यमेतेनैन्द्रेण०) एतेनोक्तेन सर्वैश्वर्येण (शापयित्वा) प्रतिज्ञां कारयित्वा यं सकलगुणोत्कृष्टं क्षत्रियं महाभिषेकेणाभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम् ॥९॥

भाष्यम्—जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर अधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में होता है, वह सब सुखकारक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता है। (सप्रजापतिका०) और वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं। जो सब देवों विद्वानों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और बलवान् है, तथा अत्यन्त सहनस्वभाव और सबसे उत्तम है, वही हमको सब दुःखों के पार उतारके सब सुखों को प्राप्त करनेवाला है। उसी श्रेष्ठतम पुरुष को हम लोग अपने राज्य और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिए मानते हैं तथा उसे ही सब ऐश्वर्यों के प्रापक होने से इन्द्र नाम से कहते हैं ॥[७॥]

वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्ती राजा, और वही हमको भी चक्रवर्त्तिराज्य देनेवाला

अथवा विज्ञान की सहायता से भौतिक तत्त्वों के यथार्थस्वरूप को जानकर ऐहिक जीवन की सुख-सुविधाओं का यथेष्ट उपभोग करता है और मरणोपरान्त आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर उसके आनन्द से आप्लावित हो जाता है। ब्रह्म के साथ जीव के अविभाग से रहने का यही अभिप्राय है कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है (रसो वै सः) और जीव उसका भागीदार है, अर्थात् ब्रह्म के समीप रहता हुआ जीव ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है, किन्तु किसी भी अवस्था में वह अपनी सत्ता--जीवत्व को नहीं खोता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करनेवाला, स्वराट् अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रकाशरूप राज्य का देनेवाला है तथा जो विराट् अर्थात् सबका प्रकाशक, विविध राज्य का देनेवाला है, उसी को हम राजा और सब राजाओं का पिता मानते हैं, क्योंकि वही परमेष्ठी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है। उसी की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का अधिपति हुआ, तथा प्रजाओं का संग्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, असुर अर्थात् चोर, डाकुओं का ताड़न हूं अर्थात् वेदविद्या का पालन और धर्म की रक्षा करनेवाला हुआ हूँ ॥८॥

जो क्षत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्यकर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता है, वह सब युद्धों को जीत लेता है तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बनकर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है। जिससे इस लोक में चक्रवर्त्तिराज्य और लक्ष्मी को भोगके मरणानन्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है, क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है, इसलिए जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबन्ध किया जाता है, वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥९॥

क्षत्रं वै स्विष्टकृत् ॥ क्षत्रं वै साम । साम्राज्यं वै साम ॥१०॥

'शापयित्वाऽभिषिञ्चति'—से स्पष्ट है कि निर्वाचित हो जाने पर अभिषिक्त होते समय राजा को अपने कर्त्तव्यपालन के लिए शपथ ग्रहण करनी पड़ती है—लगभग वैसे ही जैसे आजकल मन्त्रि-परिषद् के सदस्य, राष्ट्रपति आदि को संविधान के प्रति निष्ठा, पद, दायित्व, गोपनीयता आदि की शपथ दिलाई जाती है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस प्रकार के निर्देश विद्यमान हैं। वेदों में भी इसके संकेत मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतः। —ऋक् २।१।४
धृतव्रतो वरुणः········साम्राज्याय सुक्रतुः। —यजुः १०।२७
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु। —अथर्व० ७।८३।१

महाभारत (शा० प० अ० ५९) के अनुसार पृथु ने राजा निर्वाचित हो जानेपर ऋषियों से कहा—

सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर्धर्मार्थदर्शिनी।
अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्त्वेन शंसत ॥
यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थसमन्वितम्।
तदहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥

इसपर ऋषियों ने राज्यसंचालन के लिए आवश्यक निर्देश दिये। उन्हें सुनकर पृथु ने वचन दिया कि मैं आपके आदेशानुसार ही शासन करूँगा। अन्त में लिखा है—**'रंजिताश्च प्रजास्सर्वा तेन राजेति शब्द्यते'** (शा० प० ५९।१२५)—पृथु ने अपने शासन से प्रजा को प्रसन्न किया, इसलिए वह 'राजा' कहलाया (**राजा वै प्रकृतिरंजनात्**)।

क्षत्रमिति—क्षत्रमर्थात् प्रजापालनम्—क्षतोपपदे 'त्रैङ् पालने'। स्विष्टकृत्=सु+इष्ट+कृत्= अभीष्ट अर्थात् उत्तम मनोरथ को पूर्ण करनेवाला। 'क्षत्रं वै साम'—यद्वै दुष्टकर्मणामन्तकारि भवतीति साम। 'षोऽन्तकर्मणि' (दिवादि) धातोः 'सर्वधातुभ्यो मनिन्'—स्यन्ति खण्डयन्ति दुःखानि येन तत्। 'सातिभ्यां मनिन्मनिणौ' (उणादि० ४।१५४) सूत्रेण मनिन्। स्यति कर्माणि समापयतीति साम। 'साम्राज्यं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳ राजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति ।। युद्धं वै राजन्यस्यवीर्य्यम् ।।११।। —श०का० १६। अ० १। ब्रा० ५

राष्ट्रं वा अश्वमेधः ।।१२।। —श०का० १३। अ० १। ब्रा० ६

राजन्य एव शौर्य्यं महिमानं दधाति तस्मात् पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे ।।१३।। —शत० का० १३। अ० १। ब्रा० ६

भाष्यम्—(क्षत्रं वै०) क्षत्रमर्थाद् राजसभाप्रबन्धेन यद्यथावत् प्रजापालनं क्रियते, तदेव स्विष्टकृदर्थादिष्टसुखकारि, (क्षत्रं वै साम) यद्वै दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्तृ च भवति। (साम्राज्यं वै०) तदेव श्रेष्ठं राज्यं इत्येवं वर्णयन्ति ।।१०।।

वै साम'—साम हि राष्ट्रानां रक्षसामपहन्ता (शत० ४।४।५।६)। युद्ध शान्तिस्थापन में साधनरूप होने से सामसंज्ञक है।

ब्रह्मेति—'ब्रह्म' शब्द ईश्वर तथा वेद दोनों का वाचक है। 'ब्राह्मणं वेदेश्वरविदम्' (यजुर्भाष्य ७।४६)। 'क्षतात् त्रायते असौ स क्षत्रियः'=राजन्यः। बाहुबल से युद्ध में कुशल होना ही क्षत्रिय का गुण नहीं है। शौर्यादि गुणों से युक्त होने के साथ-साथ उसका विद्वान् तथा उससे भी अधिक जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। वैदिक वर्णव्यवस्था आर्यों की व्यवस्था है। उसका कोई भी अंग अनार्य या चरित्रहीन नहीं हो सकता। निर्बल और पीड़ित की रक्षार्थ शस्त्र उठानेवाला महावीर कहलाता है, इसके विपरीत आचरण करनेवाला क्रूर और अत्याचारी कहलाता है।

समाज में दुर्मति दानवों के रहते सुख-शान्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए दुष्टों का दमन करना शान्ति की स्थापना के लिए आवश्यक है। हिंसा की हिंसा अहिंसा कहलाती है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' से यही तात्पर्य है। युद्ध किसी का धन या धरती छीनने के लिए नहीं, अपितु पीड़ित लोगों को सुख पहुँचाने के लिए किया जाना चाहिए। अथर्ववेद में कहा है—

"इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वितिष्ठध्वम्"।—अथर्व० ११।६।२६

अर्थात् इस संग्राम को सम्यक् प्रकार से जीतकर सब यथास्थान (अपने-अपने देश को) चले जाएँ। कालिदास ने इसी को "आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव" (रघुवंश) कहा है। ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"जब युद्ध समाप्त हो जाए तो जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा करदे और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उसके अनुसार चलके न्याय से प्रजा का पालन करना होगा। उनके सामने ऐसा न कहे कि हमने तुमको पराजय किया है, किन्तु ऐसा कहे कि आप हमारे भाई हैं, इत्यादि मान-प्रतिष्ठा सदा करे।"

कितना ऊँचा आदर्श है! ऐसा युद्ध हार-जीत के लिए नहीं, अपितु 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' किया जाता है।

यह सर्वविदित है कि बुद्धिबल और बाहुबल दोनों के साहचर्य के बिना युद्ध में सफलता नहीं मिल सकती। इसके बिना आत्मरक्षा भी सम्भव नहीं।

राष्ट्रं वा अश्वमेधः—राष्ट्र का पालन-पोषण, संरक्षण, संवर्धन अश्वमेध कहलाता है। 'अश्व'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ब्रह्म वै०) यो ब्रह्मार्थाद् वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति (क्षत्र ं०) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्य्यादिगुणयुक्तो महावीरपुरुषः क्षत्रधर्मं स्वीकरोति, स राजन्यो भवितुमर्हति। (तदस्य ब्रह्मणा०) तादृशैर्ब्राह्मणैः राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्यलक्ष्मी परितः सर्वतो गृहीता भवति। नैवं राजधर्मानुष्ठानेनास्य श्रियः कदाचिद्ध्रासान्यथात्वे भवतः। (युद्धं वै०) अत्रेदं बोध्यम्—युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्य्यं बलं भवति। नानेन बिना महाधनसुखयोः कदाचित् प्राप्तिर्भवति कुतः ? निघण्टौ (अ० २। खं० १७) संग्रामस्यैव महाधनसंज्ञत्वात्। महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन् स महाधनः संग्रामः, नास्माद् बिना कदाचित् महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः ॥११॥

(राष्ट्रं वा अश्वमेधः) राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति। नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति ॥१२॥

(राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्य्यं महिमानं दधाति, तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं समर्थो भवति। तस्मात् कारणात् राजन्यः शूरो युद्धोत्सुको निर्भयः, (इषव्यः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणे कुशलः, (अतिव्याधी) अत्यन्ता व्याधाः शत्रूणां हिंसका योद्धारो यस्य, (महारथः) महान्तो भूजलान्तरिक्षगमनाय रथा यस्येति। यस्मिन् राष्ट्रे ईदृशो राजन्यो (जज्ञे) जातोऽस्ति, नैव कदाचित् तस्मिन् भयदुःखे सम्भवतः ॥१३॥

भाषार्थ—(क्षत्रं वै०) राजसभाप्रबन्ध से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है, वही स्विष्टकृत् अर्थात् अच्छी प्रकार चाहे हुए सुख का करनेवाला होता है। (क्षत्रं वै सा०) जो राजकर्म्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन करनेवाला है (साम्राज्यं०) वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुखकारक होता है ॥१०॥

(ब्रह्म वै०) जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद का जाननेवाला है, वही ब्राह्मण होने के योग्य है। (क्षत्र ं०) जो इन्द्रियों को जीतनेवाला, पण्डित, शूरतादिगुणयुक्त, श्रेष्ठ, वीरपुरुष क्षत्रधर्म को स्वीकार करता है, सो क्षत्रिय होने के योग्य है। (तदस्य ब्रह्मणा०) ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती है और उसके ख़ज़ाने की हानि कभी नहीं होती। (युद्धं वै०) यहाँ इस बात को जानना चाहिए कि जो राजा का युद्ध करना है, वही उसका बल होता है। उसके बिना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती, क्योंकि निघण्टु में संग्राम ही का नाम 'महाधन' है। सो उसको महाधन इसलिए कहते हैं कि उससे बड़े-बड़े उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं, क्योंकि बिना संग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता ॥११॥

(राष्ट्रं०) और जो न्याय से राज्य का पालन करना है, वही क्षत्रियों का 'अश्वमेध' कहाता है, किन्तु घोड़े को मारके उसके अंगों का होम करना, यह अश्वमेध नहीं है ॥१२॥

(राजन्य एव०) पूर्वोक्त राजा जब शूरतारूप कीर्त्ति को धारण करता है तभी सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है। इसलिए जिस देश में युद्ध को अत्यन्त चाहनेवाला, निर्भय, शस्त्र अस्त्र चलाने में अतिचतुर और जिसका रथ पृथिवी, समुद्र और अन्तरिक्ष में जानेवाला हो, ऐसा राजा होता है, वहाँ भय और दुःख नहीं होते ॥[१३॥]

शब्द अनेकार्थक है। 'अश्व' और 'हय' पर्यायवाची हैं। कठोपनिषद् (१।३।४) में कहा है—"**इन्द्रियाणि हयानाहुः**'। इस प्रकार **इन्द्रियाणां हयत्वमश्वत्वं वा शास्त्रविदां समयः**। उधर '**मेधृ**' धातु के '**मेधासंगमनयोर्हिंसायां**' इस धातुपाठ के अनुसार शुद्ध बुद्धि को बढ़ाना, प्रजाजनों में एकता व प्रेम को बढ़ाना तथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीर्वै राष्ट्रम् ।। श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ।। श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम् ।। क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम् ।। विड् वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ।। विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति ।।१४।।

भाष्यम्—(श्री वैं राष्ट्रम्) या विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) सैव राज्यश्री राष्ट्रस्य सम्भारो भवति (श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्) राष्ट्रस्य मध्यभागोऽपि श्रीरेवास्ति। (क्षेमो वै रा०) क्षेमो यद्रक्षणं तदेव राष्ट्रस्य [शीतं] शयनवन्निरुपद्रवं सुखं भवति। (विड् वै गभः) विड् या प्रजा सा गभाख्यास्ति (राष्ट्रं पसो०) यद्राष्ट्रं तत्पसाख्यं भवति, तस्माद् यद् राष्ट्रसम्बन्धिकर्म तद्विशि प्रजायामाविश्य तामाहन्त्यासमन्तात् करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां हरणं करोति, (तस्माद्राष्ट्री वि०) यस्मात् सभया विनैकाकी पुरुषो भवति तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति. तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्त्तव्यः, नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति, तस्मात् सभयैव राज्यप्रबन्धः कर्तुं शक्योऽस्ति। (विशमेव राष्ट्राया०) यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां भोज्यवत्ताडितां करोति। यस्मात् स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान् पदार्थान् गृह्णन् सन् प्रजायै पीडां ददाति तस्मादेको

हिंसा—ये तीन अर्थ हैं। **'प्रकरणशः एव निर्वक्तव्याः'** अनेकार्थक शब्दों के अर्थ का निश्चायक प्रकरण होता है। राजधर्म के प्रसंग में गाय-घोड़ों की हत्या की कल्पना कैसे की जा सकती है? इसलिए प्रसंगतः 'मेधृ' धातु के पहले दो अर्थ ही यहाँ संगत हैं। प्रजाजनों के उदात्त चरित्र के बिना कोई भी राष्ट्र न उन्नति कर सकता है, न प्रतिष्ठित रह सकता है। इसलिए प्रजा की इन्द्रियवृत्तियों को उचित दिशा प्रदान कर राष्ट्र के नैतिक स्तर को उठाना राष्ट्र रक्षा के लिए अनिवार्य है। इसी प्रकार देश में उभरते हुए विघटनकारी तत्त्वों का दमन करके एकता की भावना को जगाना और प्रोत्साहित करना आवश्यक है। यह अश्वमेध का सच्चा स्वरूप है। **राजन्य एवं** महारथ की परिभाषा इस प्रकार की गई है—**"एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनां। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च विज्ञेयः स महारथः"** जो एक अकेला दस हज़ार योद्धाओं से लड़ने में समर्थ हो वह महारथ (महारथी) कहाता है। दशरथ, भीष्म पितामह आदि महारथों के रूप में प्रसिद्ध हैं। महारथः का शब्दार्थ है—**महान्तो रथा यस्य स महारथः** उणादिकोष (२।२) के अनुसार **"रमु धातोः 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्' सूत्र से 'क्थन्' प्रत्ययान्त 'रथ'** शब्द है जिसका अर्थ है—**'रमते यस्मिन् येन वा स रथः।'** इस अर्थ में रथ केवल धरती पर चलनेवाला ही नहीं कहाता, अपितु आकाश मार्ग या जलमार्ग से गति करनेवाले की भी 'रथ' संज्ञा है। महारथों के बिना देश न आन्तरिक शान्ति की व्यवस्था कर सकता है और न बाह्य शत्रुओं से देश की सीमाओं की रक्षा कर सकता है।

यजुर्वेद (२२।२२) में प्रार्थना में कहा गया है—**"आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्"**। शतपथ के प्रस्तुत सन्दर्भ में किंचित् परिवर्तन के साथ यही मन्त्रांश उद्धृत हुआ है।

श्रीर्वै राष्ट्रमिति—(श्रीर्वै राष्ट्रम्) जो विद्या आदि उत्तम गुणयुक्त नीति है, वही राष्ट्र होता है। **(श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः)** वही राज्यश्री राष्ट्र को सामग्री होती है। **(श्री वैं राष्ट्रस्य मध्यम्)** राष्ट्र का मध्य भाग भी श्री है। **(क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम्)** राष्ट्र की रक्षा ही उसका सुषुप्ति की तरह का उपद्रव-रहित सुख है। **(विड् वै गभः)** प्रजा का नाम ही **'गभ'** है। **(राष्ट्रं पसः)** राष्ट्र का नाम **पस है**। इसलिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्री विशमत्ति, (न पुष्टं पशु म०) यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति, तथैको राजा न मत्तः कश्चिदधिको भवेदितीर्ष्यया नैव प्रजास्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते। तस्मात् सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रम् इति। एवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादका मन्त्रा[1] बहवः सन्तीति ॥१४॥

भाषार्थ—(श्रीर्वै राष्ट्रं) श्री जो है लक्ष्मी, वही राज्य का स्वरूप, सामग्री और मध्य है तथा राज्य का जो रक्षण करना है, वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहाता है। राज्य के लिए एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि जहाँ एक को राजा मानते हैं, वहाँ सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है। इसी से किसी की उन्नति नहीं होती ॥१४॥

इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिर पर्य्यन्त बराबर चला आया है, जिसकी साक्षी महाभारत के राजधर्म आदि ग्रन्थ तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों में यथावत् लिखी है। उनमें जो कुछ प्रक्षिप्त किया है उसको छोड़के बाकी सब अच्छा है, क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है और आर्य्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो, वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे, किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था। इसलिए वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे, कि जिससे आर्य्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था और जहाँ होता था वहाँ उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे। यही सब आर्य्यों का सिद्धान्त है, अर्थात् इन्हीं वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः

राष्ट्रसम्बन्धी कर्म कर ग्रहण के द्वारा प्रजा के उत्तम पदार्थों का हरण करता है। (तस्माद्राष्ट्री) सभा के विना जहाँ अकेला पुरुष राज्य करता है, वहाँ प्रजा दुःखी होती है। इसलिए एक अकेला पुरुष राजा नहीं बनाना चाहिए। एक पुरुष में राजधर्मानुष्ठान के लिए अपेक्षित सामर्थ्य नहीं होता। अतः सभा के ही द्वारा राज्यप्रबन्ध किया जा सकता है। जहाँ एक राजा होता है, वहाँ वह प्रजा को दुःख देता है, क्योंकि वह अपने सुख के लिए प्रजा के उत्तम पदार्थों को छीन लेता है। इसलिए मानो वह राजा प्रजा को खाता है। जिस प्रकार कोई मांसाहारी किसी पुष्ट पशु को देखकर उसे मारना चाहता है, इसी प्रकार एक राजा भी, इस ईर्ष्या से कि कोई मुझसे अधिक न हो जाए, प्रजा के किसी मनुष्य की उन्नति को सहन नहीं करता। इसलिए सभा के प्रबन्ध से ही राज्यव्यवहार अच्छा होता है ॥

ग्रन्थकार लोकतन्त्र का प्रबल पोषक और अधिनायकवाद का घोर विरोधी है।

---

१. अस्मिन् प्रकरणे मन्त्राणामाधिक्यात् ब्राह्मणवचनानां चाल्पत्वाद् इह भूमान्यायेन 'मन्त्र' पदस्य निर्देशो ज्ञेयः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्युक्तस्तदर्थश्च । तस्यायं शेषः—

वर्णो वृणोतेः ॥१॥ नि० अ० २ । खं० ३ ॥

ब्रह्म हि ब्राह्मणः । क्षत्रꣳ हीन्द्रः क्षत्रꣳ राजन्यः ॥२॥ —श०कां० ५ । १ । १ । ११

बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः ॥ वीर्य्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू, वीर्य्यं वा एतदपाꣳ रसः ॥ —श० कां० ५ । अ० ४ ।१। १५, १७

इषवो वै दिद्यवः ॥३॥ —श० कां० ५ । अ० ४ । २ । २

भाष्यम्—वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद् वरणीया वरीतुमर्हा, गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः ॥१॥

'वृञ् वरणे' (स्वादि) धातु से वर्ण शब्द निष्पन्न होता है । 'वृणोति व्रियते वा स वर्णः' (उणादि ३।१०)—जिसका स्वेच्छापूर्वक वरण=चुनाव किया जाए उसे 'वर्ण' कहते हैं । प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपना मार्ग स्वयं चुने—अपने जीवन का लक्ष्य स्वयं निर्धारित करे । इस स्वयं वरण के कारण ही भगवान् यास्क ने लिखा है—'वर्णो वृणोतेः' ब्राह्मणादि 'वर्ण' इसलिए कहाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए स्वयं उसका निश्चय करता है और समाज भी प्रत्येक व्यक्ति को उसके गुण कर्म-स्वभाव के अनुसार शासकीय अथवा सामाजिक व्यवस्था से अधिकार प्रदान करता है । इस विषय में यजुर्वेद (३१।१७) का यह प्रसिद्ध मन्त्र प्रमाण है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

इस मन्त्र में आलङ्कारिक रूप में मनुष्यसमाज के चारों वर्णों के कर्तव्यों का निरूपण किया है । समाज में ब्राह्मण मुख अथवा शिरस्थानीय है क्षत्रिय बाहुसमान है, वैश्य जांघों के समान और शूद्र पैरों के तुल्य है ।

'ब्रह्म हि ब्राह्मणः'—ब्रह्म पद ईश्वर और वेद दोनों का वाचक है । जो वेद और ईश्वर का ज्ञाता है (ब्राह्मणं वेदेश्वरविदम्—यजुर्भाष्य ७।४६) और इस प्रकार विद्या, सत्यभाषणादि गुणों से युक्त है तथा श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त है वह ब्राह्मण कहाता है । जो बल, पराक्रम आदि गुणों से युक्त होकर शरीर में भुजाओं के समान समाज की रक्षा करता है वह क्षत्रिय (क्षतात् त्रायते) कहाता है । बल-पराक्रम ही उसकी भुजाएँ हैं । अपने क्षत्रियोचित कर्त्तव्य का पालन करने से ही वह 'राजन्यः' अर्थात् यशस्वी (राजृ दीप्तौ) होता है । इसी कारण वह 'मित्र' (सबका सुखदाता) और 'वरुण' (श्रेष्ठ)कहाता है । उसे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ब्रह्म हि ब्राह्मणः) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति। तथैव (क्षत्रं हीन्द्रः) क्षत्रं क्षत्रियकुलम्, यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्य्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद् युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः, स (राजन्यः) क्षत्रियो भवितुमर्हति ॥२॥

(मित्रः) सर्वेभ्यः सुखदाता, (वरुणः) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः, इमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहुवद् भवेताम्, (वा) अथवा वीर्यं पराक्रमो बलं चैतदुभयं (राजन्यस्य) क्षत्रियस्य बाहू भवतः, (अपाम्) प्राणानां यो (रसः) आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते, तस्य (इषवः) बाणाः, शस्त्रास्त्राणामुपलक्षणमेतत् (दिद्यवः) प्रकाशका सदा भवेयुः ॥३॥

पराक्रम करने में ही आनन्द आता है (वीर्यं वा तस्य रसः)। इसी प्रकार जो खेती, व्यापार आदि के लिए जाँघों के समान भाग-दौड़ में समर्थ होने से सर्वत्र प्रवेश करता आता जाता रहता है, उसे वैश्य कहते हैं। जो बौद्धिक स्तर पर हीन होने पर भी शारीरिक श्रम से सबकी सेवा करता है, वह शूद्र कहाता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद जन्म पर आधारित न होकर गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित हैं यह सिद्धान्त सर्वशास्त्र-सम्मत एवं तर्कप्रतिष्ठित है। इस विषय में ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश (समु० ४) में लिखा है—"जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म हों, उसे उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं, क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे, तो शूद्र हो जाएँगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल-चलन और विद्या-युक्त न होंगे, तो शूद्र होना पड़ेगा और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा।" इसमें मनुस्मृति (१०।६५) का प्रमाण है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च ॥

अर्थात्—"जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण-कर्म-स्वभाववाला हो तो वह शूद्र; ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाए। वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण-कर्म-स्वभाव शूद्र के सदृश हों, तो वह शूद्र हो जाए। वैसे क्षत्रिय वा वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान गुण-कर्म-स्वभाववाला होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है, अर्थात् चारों वर्णों में जिस प्रकार के वर्ण के सदृश जो-जो स्त्री वा पुरुष हों, वह-वह उसी वर्ण में गिने जावें।"—स० प्र० समु० ४

आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।५।११।१०-११) में भी ऐसा ही लिखा है—

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥

अर्थात्—"धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिस के योग्य होवे। वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचेवाले वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जाए। जैसे पुरुष जिस-जिस वर्ण के योग्य होता है, वैसे ही स्त्रियों की भी वर्णव्यवस्था समझनी चाहिए।

महाभारत के निम्नलिखित श्लोक में भी वर्णव्यवस्था के गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित होने का प्रतिपादन किया है -

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्मक्रियाविशेषेण चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—अब वर्णाश्रमविषय लिखा जाता है। इसमें यह विशेष जानना चाहिए कि प्रथम मनुष्य जाति सबकी एक है, सो भी वेदों से सिद्ध है, इस विषय का प्रमाण सृष्टिविषय में लिख दिया है। तथा **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** यह मन्त्र सृष्टिविषय में लिख चुके हैं। वर्णों के प्रतिपादन करने-वाले वेदमन्त्र की जो व्याख्या ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में लिखी है, वह कुछ यहाँ भी लिखते हैं—

हे युधिष्ठिर ! **पूर्वकाल में तो एक ही वर्ण था। कर्म-क्रिया के वैशिष्ट्य के कारण समाज चार** वर्णों में विभक्त हो गया।

सृष्टि के आदि में अनेक मनुष्य (पुरुष व स्त्रियाँ) उत्पन्न हुए। जन्म के समय तो वे सभी एक जैसे थे। फिर जैसे-जैसे उनके गुण-कर्म-स्वभाव का निश्चय होता गया, वैसे-वैसे वर्णविशेष में उनको प्रतिष्ठित किया जाता रहा।

एक स्थान पर स्वयं युधिष्ठिर ने कहा—

संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः।
तस्मात् शीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥

भिन्न-भिन्न वर्णों के बीच विवाह-सम्बन्ध होने पर उनसे उत्पन्न सन्तान के वर्ण का निश्चय कैसे हो ? इसका समाधान करते हुए युधिष्ठिर ने बताया कि उनके शील=चरित्र के अनुसार ही उनका वर्ण निर्धारित होगा। सत्यकाम के वर्ण का निश्चय इसी आधार पर किया गया था।

भगवद्गीता के इस प्रसिद्ध श्लोक में तो भगवान् कृष्ण ने बड़े स्पष्ट शब्दों में इस सिद्धान्त की घोषणा की है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। —गीता ४।१३

डा० राधाकृष्णन ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है—**'चातुर्वर्ण्यम्'**—"यहाँ मनुष्य के गुण-कर्म पर बल दिया है, न कि जन्म या जाति पर। हमारे वर्ण का लिंग, जन्म या पालन-पोषण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। गुण-कर्म पर आधारित वर्णव्यवस्था का जन्म या पैतृक परम्परा के आधार पर निर्धारण नहीं किया जा सकता।"[1]

कुछ मूढ़मति यह कल्पना करते हैं कि यदि कोई शूद्र इस जन्म में ब्राह्मणादि के गुण-कर्म-स्वभाव प्राप्त कर लेता है तो उसका अगला जन्म तत्तद् गुण-कर्म-स्वभावयुक्त परिवार में होगा और तब वह ब्राह्मणादि को प्राप्त अधिकारों का उपभोग करेगा। गीता के उपर्युक्त श्लोक का यही अभिप्राय

---

1. The emphasis is on guna (aptitude) and karma (function) and not jati (birth). The Varna or order to which we belong is independent of sex, birth or breeding. A class determined by temperament and vocation is not a caste determined by birth and heredity.

तुलना करें— **चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।**
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मणः इति स्मृतः॥ महा०

न जच्चा (जन्मना) वुसलो (वृषलो) होति (भवति) न जच्चा होति ब्राह्मणो। कम्मना (कर्मणा) वुसलो होति कम्मना होति ब्राह्मणः। धम्मपद

कम्मुणा बंभणो होई कम्मुणा होई खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होई खुद्दो होई कम्मुणा॥ —महावीर स्वामी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्ण कहाते हैं। वेदरीति से इनके दो भेद हैं—एक आर्य और दूसरा दस्यु। इस विषय में यह प्रमाण है, कि **विजानीह्यार्य्यान् ये च दस्यवो०**[1] अर्थात् इस मन्त्र से परमेश्वर उपदेश करता है, कि हे जीव ! तू आर्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्ट-स्वभावयुक्त डाकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्य के ये दो भेद जान ले। तथा **'उत शूद्रे उत आर्य्ये'**[2] इस मन्त्र से भी आर्य्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और अनार्य्य अनाड़ी जोकि शूद्र कहाते हैं, ये दो भेद जाने गये हैं। तथा **'असुर्या नाम ते लोका०'**[3] इस मन्त्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर संग्राम कहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण-कर्मों से किये गये हैं।

है कि भगवान् इस जन्म के गुण-कर्म के अनुसार अगला जन्म देता है। यह कल्पना अत्यन्त उपहासास्पद होने के साथ-साथ सर्वथा मूर्खतापूर्ण है। यह ऐसा ही है जैसे इस जन्म में एम०ए०, पी०एच०डी० की उपाधि प्राप्त करने वाले शूद्र-कुलोत्पन्न व्यक्ति को यह कहा जाए कि प्राध्यापक पद पर नियुक्ति के लिए तुम्हारे प्रार्थना-पत्र पर अगले जन्म में विचार किया जा सकेगा। फिर, यदि शूद्र होने के कारण उसे इस जन्म में पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार नहीं होगा तो वह अगले जन्म में उच्चवर्णस्थ कुल में जन्म लेने के लिए उपयुक्त गुण-कर्म का विकास कैसे कर सकेगा ?

यहाँ "मनुष्य जाति के······ चार भेद गुण-कर्मों से किये हैं" इस सन्दर्भ को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों को दो भागों में बाँटा गया है—(१) आर्य और (२) दस्यु। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की गणना 'आर्य' के अन्तर्गत की गई है और शूद्र को 'अनार्य' कहा गया है। आगे इन्हीं की 'देव' और 'असुर' संज्ञा कही गई है। इससे अनार्य, दस्यु, शूद्र तथा असुर एकार्थक सिद्ध होते हैं, परन्तु वेद और मनुस्मृति आदि प्रामाणिक ग्रन्थ ऐसा नहीं मानते। दस्यु, दास, असुर तथा अनार्य तो एकार्थक हो सकते हैं, परन्तु 'शूद्र' को उनका साथी नहीं माना जा सकता। **'दसु उपक्षये'** धातु से दस्यु शब्द निष्पन्न होता है। दस्यु समाज का निर्माता नहीं, विघातक होता है। उसे चोर, डाकू, लुटेरा, लम्पट आदि शब्दों से पुकारा जा सकता है। दस्युओं को समाज में अपराधी एवं दण्डनीय माना गया है। **'वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेन'** (ऋ० १।३३।४) इस वेदमन्त्र के अनुसार धनवान् दस्यु को भी वज्र से मार डालने का विधान है। इससे अगले मन्त्र में दस्यु को **अयज्वा'**=याज्ञिकों से ईर्ष्या करनेवाला और **'अव्रती'** अर्थात् धार्मिक, सामाजिक और राजकीय नियमों का पालन न करनेवाला बतलाया है। **'अवावहो दिव आ दस्युम्'** (ऋ० १।३३।७) इस मन्त्र में दस्यु को जला डालने का आदेश दिया गया है। **'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धय शासदव्रतान्'** (ऋ० १।५१।८) यहाँ दस्युओं को नष्ट करने और अपने वश में लाने का विधान है। **'दस्युं वकुरेणाधमन्ता'** (ऋ० १।११७।२१) इस मन्त्र में भी दस्यु को अस्त्र-शस्त्र से मारने का विधान है। अन्यत्र—

हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्।—ऋ० ३।३४।९
यथा वशं नयति दासमार्यः।—ऋ० ५।३४।६
विशोऽव तारीर्दासीः।—ऋ० ६।२५।२
यो दासं वर्णमधरं गुहाकः। ऋ० २।१२।४
अव गिरेर्दासं शम्बरं हन्।—ऋ० ६।२६।५

इत्यादि अनेक मन्त्रों में दास या दस्यु के लिए अत्यन्त घृणित शब्दों का प्रयोग करते हुए उन्हें

---

१. ऋ० १।५१।८॥ २. तु० अथर्व १९।६२।१॥ ३. यजुः४०।३॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(वर्णो०) इनका नाम वर्ण इसलिए है कि जैसे जिसके गुण-कर्म हों, वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिए। **(ब्रह्म हि ब्रा०)** ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मण वर्ण होता है। **(क्षत्रं हि०)** परम ऐश्वर्य **(बाहू०)** बल, वीर्य्य के होने से मनुष्य क्षत्रिय वर्ण होता है, जैसाकि राजधर्म में लिख आये हैं ॥१-३॥

वश में करने और अनेक प्रकार से दण्डित करने का विधान है, क्योंकि ये समाज के शत्रु हैं। दस्यु ही असुर कहाते हैं। ऋग्वेद १।५१।५ में दस्युओं के लिए **'अधि शुप्तावजुहवत'** विशेषण का प्रयोग हुआ है। यही भाव कौषीतकी ब्राह्मण में व्यक्त किया है--**'असुरा वा आत्मन्यजुहवुः'**, अर्थात् असुरगण यज्ञादि परोपकार के कार्य न करके केवल अपना ही पेट पालने में प्रवृत्त रहते हैं। ग्रन्थकार ने भी अपने यजुर्भाष्य (४०।३) में असुर शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—**'असुर्या = असुराणामिमे असुर्याः—असुषु प्राणेषु रमन्तेऽसुराः प्राणपोषणपराः'** अर्थात् जिन्हें हर समय अपने ही प्राणों—शरीर के पोषण की चिन्ता रहती है, वे असुर कहाते हैं।

इससे विपरीत जब हम शूद्र के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो पता चलता है कि वेदादि शास्त्रों की दृष्टि में शूद्र एक सत्पुरुष है जो दस्यु से सर्वथा भिन्न है। यजुर्वेद (३०।५) में कहा है **'तपसे शूद्रम्'** अर्थात् शूद्र वह है जो परिश्रमी, साहसी तथा तपस्वी है। वेद में सर्वत्र शूद्र को अन्य वर्णों के समान ही सम्मान की दृष्टि से देखा गया है, जैसाकि इन मन्त्रों से स्पष्ट है—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ —यजु० १८।४८

यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं ···तस्यावयजनमसि॥ यजु० २०।१७
प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च। अ० १९।३२।८

मनुस्मृति के एक श्लोक (१०।४५) में कहा है—

मुखबाहूरुपज्जानां या जातयो लोके बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥

इस श्लोक के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों से जो भिन्न हैं, वे सब दस्यु हैं। इस प्रकार यहाँ स्पष्टतः शूद्र को दस्यु से भिन्न बताया है। वह आर्य-समाज का ही एक अंग है जो बौद्धिक स्तर पर हीन होने से शारीरिक श्रम के द्वारा समाज सेवा में प्रवृत्त रहता है। आधुनिक सन्दर्भ में शूद्र श्रमिकों की श्रेणी (Labour Class) के अन्तर्गत है। अन्य तीन वर्णों की अपेक्षा बौद्धिक क्षमता की दृष्टि से हीन होने पर भी उसे नितान्त निर्बुद्धि या मूर्ख नहीं कहा जा सकता। **'उत शूद्रे उतार्ये'** (अथर्व १९।६२।१) इस मन्त्रांश को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ 'शूद्र' और 'आर्य' में भेद किया गया है, परन्तु पूरे मन्त्र को ध्यानपूर्वक पढ़ने से इस भ्रान्ति का निवारण हो जाता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥

भ्रान्ति का कारण है **'उतार्ये'** को **'उत + अर्ये'** न मानकर **'उत+आर्ये'** समझ लेना। व्याकरण के अनुसार दोनों ही ठीक हैं। परन्तु **'प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः'**—प्रकरण के अनुसार ही वेदमन्त्रों का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आश्रमा अपि चत्वारः सन्ति—ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासभेदात् । ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्या शिक्षा च ग्राह्या । गृहाश्रमेणोत्तमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्य्या । वानप्रस्थेनैकान्तसेवनं ब्रह्मोपासनं विद्याफलविचारणादि च कार्य्यम् । संन्यासेन परब्रह्ममोक्षपरमानन्दप्रापणं क्रियते, सदुपदेशेन सर्वस्मा आनन्ददानं चेत्यादि, चतुर्भिराश्रमैर्धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिः सम्पादनीया । एतेषां मुख्यतया ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्यासुशिक्षादयः शुभगुणाः सम्यग्ग्राह्याः ।

अत्र ब्रह्मचर्य्याश्रमे प्रमाणम्—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥१॥

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥२॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥३॥

—अथर्व० कां० ११ । अनु० ३ । व० ५ । नं० ३-५ ॥

अर्थ करना चाहिए । यहाँ प्रार्थयिता सम्पूर्ण समाज में प्रिय बनने की कामना कर रहा है । समाज चार भागों=वर्णों में विभक्त है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । मन्त्रगत देवेषु, राजसु तथा शूद्रे पद क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र के वाचक ही हैं । तब यहाँ चौथे वर्ण वैश्य का भी उल्लेख होना चाहिए । वही मन्त्र में 'अर्ये' पद वाच्य है 'अर्य' शब्द ईश्वर तथा वैश्य दोनों का वाचक है, परन्तु प्रकरण में उससे वैश्य का ही बोध होता है । ज्ञान के न्यूनाधिक्य की दृष्टि से भो समाज के दो भाग हो सकते हैं—विशेष पढ़ेलिखे तथा सामान्य रूप से पठित अथवा अपठित । इस आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को विशिष्ट ज्ञानवान् होने से आर्य कहा जा सकता है और शूद्र को अनाड़ी । बोलचाल की भाषा में अनाड़ी शब्द से अपढ़, सीधा-सादा व्यक्ति अभिप्रेत है, दस्यु या दुष्ट नहीं ।

ब्रह्मचर्याश्रम—

आचार्य०—'आचार्यः कस्मात्' ?—आचार्य को इस नाम से अभिहित क्यों किया जाता है ? यास्कमुनि कहते हैं - 'आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिं वा ।' आचार्य वह है जो शिष्य को सदाचार ग्रहण कराए, जो पदार्थों का सञ्चय करे तथा जो शिष्य की बुद्धि का संचय करे । इस प्रकार आचार्य के तीन कर्त्तव्य हैं । पहला—विद्यार्थी को सदाचारी बनाना । इतना ही नहीं कि विद्यार्थी को मौखिक रूप से सदाचार की शिक्षा दी जाए । 'ग्राहयति' का अर्थ है कि आचार्य शिष्य के जीवन में सदाचार को ढाल दे - उसे ऐसी परिस्थिति में रक्खे कि शिष्य स्वाभाविक रूप से सदाचार को ग्रहण करता चले । दूसरा—विद्यार्थी के मन में पदार्थों के बोध का संचय करना—शास्त्राध्ययन तथा अन्य साधनों के द्वारा पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान कराना और तीसरा - सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके उनका समुचित उपयोग करने के लिए बुद्धि को विकसित करना । इस विषय में भगवान् मनु का कथन है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ —२।१४०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम् — (आचार्य्य उ०) आचार्य्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचारिणमुपनयमानो विद्यापठनार्थमुपवीतं दृढव्रतमुपदिशन्नन्तर्गर्भमिव कृणुते करोति। तं तिस्रो रात्रीस्त्रिदिनपर्य्यन्तमुदरे बिभर्त्ति, अर्थात् सर्वां शिक्षां करोति। पठनस्य च रीतिमुपदिशति। यदा विद्यायुक्तो विद्वान् जायते, तदा तं विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमभिसंयन्ति प्रसन्नतया तस्य मान्यं कुर्वन्ति। अस्माकं मध्ये महाभाग्योदयेनेश्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसन्ति ॥१॥

(इयं समित्०) इयं पृथिवी द्यौः प्रकाशोऽन्तरिक्षं चानया समिधा स ब्रह्मचारी पृणाति, तत्रस्थान् सर्वान् प्राणिनो विद्यया होमेन च प्रसन्नान् करोति। (समिधा) अग्निहोत्रादिना, (मेखलया) ब्रह्मचर्य्यचिह्नधारणेन च (श्रमेण) परिश्रमेण, (तपसा) धर्मानुष्ठानेनाध्यापनेनोपदेशेन च (लोकां०) सर्वान् प्राणिनः पिपर्ति पुष्टान् प्रसन्नान् करोति ॥२॥

(पूर्वो जातो ब्रह्म०) ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी, (घर्मं वसानः) अत्यन्तं तपश्चरन्, ब्रह्मणोऽर्थाद्वेदं परमेश्वरं च विदन्, पूर्वः सर्वेषामाश्रमाणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः, (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (उदतिष्ठत्) ऊर्ध्वे उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति। तस्मात् कारणात् (ब्रह्म ज्येष्ठम्) ब्रह्मैव परमेश्वरो विद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्मज्येष्ठम्, (अमृतेन) परमेश्वरमोक्षबोधेन परमानन्देन साकं सह वर्त्तमानं (ब्राह्मणम्) ब्रह्मविदं (जातम्) प्रसिद्धं (देवाः) सर्वे विद्वांसः प्रशंसन्ति ॥३॥

अर्थात्—जो द्विज शिष्य का उपनयन करके कल्प (यज्ञविधि) और रहस्य (उपनिषदादि) के साथ वेद पढ़ाये, उसे आचार्य कहते हैं।

उपनयन संस्कार में मुख्य कर्म यज्ञोपवीत का धारण करना है। यह संस्कार विद्या-मन्दिर में प्रवेश करने का द्वार है। यज्ञोपवीत धारण कर लेने का अभिप्राय यह था कि अब यह बालक पढ़ने जाने लगा है। द्विजमात्र के लिए यह अनिवार्य था। 'द्विज का अर्थ है जिसका दूसरा जन्म हो। पहला जन्म माता-पिता से होता है। दूसरा जन्म लेने के लिए उसे आचार्य के पास जाना होता है। आचार्य उसे नये साँचे में ढालता है बच्चे की प्रवृत्ति के अनुसार उसे नई दिशा देता है, नया जीवन देता है। संस्कृत होकर वह कुछ का कुछ बन जाता है। यही उसका नया—दूसरा जन्म लेना है, परन्तु बिना यज्ञोपवीत धारण किये आचार्य के पास नहीं जाया जा सकता। गृह्यसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण बालक का आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारहवें तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार हो जाना चाहिए — **'अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्, एकादशे क्षत्रियम्, द्वादशे वैश्यम्।'** ग्रन्थकार ने संकारविधि में मनुस्मृति (२।३७) का प्रमाण उद्धृत करके लिखा है कि जिनको शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हो, तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म या गर्भ से पाँचवें, क्षत्रिय के लड़के का छठे और वैश्य के लड़के का आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें। जो व्यक्ति अपनी सन्तान का यह संस्कार नहीं करता था, अर्थात् बालक को विद्याध्ययन से वंचित रखता था वह समाज में पतित समझा जाता था।[1]

---

१. यज्ञोपवीत धारण करने का यह विचार इतना उत्कृष्ट था कि यह वैदिक धर्म से अन्य मतों में भी जा पहुँचा। पारसी लोग, जो आर्यों के निकटतम समझे जाते हैं, यज्ञोपवीत को 'कुस्ती' कहते हैं। पण्डित गंगाप्रसाद जी (चीफ़ जज) ने अपनी पुस्तक 'Fountainhead of Religions' में लिखा है—"It is interesting to note in this connection that like the twice-born (the first three classes) among the followers of

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहाते हैं। इनमें से पाँच वा आठ वर्ष की उम्र से अड़तालीस वर्ष पर्यन्त प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का समय है। इसके त्रिभाग पितृयज्ञ में कहेंगे। वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिए होता है। दूसरा गृहाश्रम जोकि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और सुशिक्षित करने के लिए किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ जिससे ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिए कान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा संन्यास जोकि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिए इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित हैं। इनमें से प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम जोकि सब आश्रमों का मूल है, उसके ठीक-ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं। इस आश्रम के विषय में वेदों के अनेक प्रमाण हैं, उनमें से कुछ यहाँ भी लिखते हैं—

'ब्रह्मचारी' शब्द के यौगिक और रुढ़ि दो अर्थ हैं। यौगिक अर्थ अधिक व्याप्त होता है। 'ब्रह्मचारी' शब्द का यौगिक अर्थ है—**'ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी'**। अर्थात् ब्रह्म में विचरण करनेवाले को ब्रह्मचारी कहते हैं। 'ब्रह्म' शब्द ईश्वर और वेद का वाचक है। इस प्रकार जो ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का चिन्तन करता हुआ वेद=ज्ञान (विद्या) की प्राप्त्यर्थ सर्वात्मना समर्पित रहता है उसकी ब्रह्मचारी संज्ञा है। इस शब्द का रूढ़ अर्थ अधिक प्रसिद्ध है। रूढ़ अर्थ में शरीर की भौतिक शक्ति वीर्य को नष्ट न होने देना अर्थात् पूर्णतः सदाचार का जीवन बिताना ब्रह्मचर्य कहाता है। इस प्रकार बालक को आध्यात्मिकता के रंग में रंगकर विद्या प्रदान करना शिक्षा का पहला उद्देश्य है जो ब्रह्मचारी शब्द के यौगिक अर्थ में निहित है और बालक को अपने शरीर की भौतिक शक्ति की रक्षा और वृद्धि करना शिक्षा का दूसरा उद्देश्य है जो ब्रह्मचारी शब्द के रूढ़ अर्थ में निहित है।

Vedic religion, the Parsees are also enjoined to wear the sacred thread which they call 'Kusti'. We quote from the Vendiad, the sacred book of the Parasees—

"Zarathushtra asked Ahura Mazda : O Ahura Mazda ! what is one a criminal worthy of death ?" Then said Ahura Mazda : By teaching an evil religion. Spitama Zarathushtra ! Whosoever during spring seasons does not put on the sacred thread (Kusti), does not recite the gathas, does not reverence the good waters, etc."

अर्थात् पारसियों के पैग़म्बर स्पितम ज़रथुश्थ्र को पारसियों के भगवान् अहुरमज्दा ने कहा कि जो कुस्ती (यज्ञोपवीत) को धारण नहीं करता उसे मृत्यु दण्ड दिया जाना चाहिए। पारसियों के यहाँ कुस्ती सात साल में दी जाती है और इसे बालक चारों तरफ लपेटता है। यह उनका एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है।

वैदिक धर्म में यज्ञोपवीत धारण करने का मन्त्र तथा पारसियों में कुस्ती धारण करने का मन्त्र लगभग समान अर्थ के द्योतक हैं। हमारे यहाँ यज्ञोपवीत धारण करने का यह मन्त्र है—

"यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥" —पा० गृ० २।२।११

अर्थात् यज्ञोपवीत परम पवित्र है, आदिकाल से यह प्रजापति के साथ रहा है, यह आयु को देनेवाला है—इत्यादि।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(आचार्य्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बसके माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है, वह प्रथम जन्म कहलाता है और दूसरा यह है कि जिसमें आचार्य्य पिता और विद्या माता होती है।[1] इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता।[2] इसलिए उसको प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिए। जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य्य अर्थात् विद्या पढ़ानेवाले के समीप रहते हैं, तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है, क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं। उनको आचार्य तीन रात्रिपर्य्यन्त गर्भ में रखता है अर्थात् ईश्वर

शिक्षा के दो ध्रुव हैं (Education is a bipolar process)—ब्रह्मचारी और आचार्य। इन दोनों को मिलाकर एक करनेवाली रेखा आचार है। यदि आचार नहीं तो आचार्य आचार्य नहीं, ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी नहीं और शिक्षा शिक्षा नहीं। 'उपनयन' का शब्दार्थ है—उप = समीप + नयन (ले जाना)। विद्याध्ययन के लिए बालक को आचार्य के पास ले जाना उपनयन कहाता है। कितना पास ले जाना? यह संस्कृत में शिष्य के लिए प्रयुक्त होनेवाले 'अन्तेवासी' शब्द से स्पष्ट हो जाता है। 'अन्तेवासी' शब्द का अर्थ है—जो गुरु के भीतर वास करता है। बालक को विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल में ले जाकर माता-पिता आचार्य से अनुरोध करते हैं—

'आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्। —यजु० २।३३

हे विद्या आदि से रक्षा करनेवाले विद्वान् पुरुषो! आप इस बालक को विद्याग्रहण के लिए गर्भ के समान स्वीकार करें जिससे यह मनुष्य बन जाए।

पारसियों का यज्ञोपवीत (कुस्ती) पहनने का मन्त्र यह है—

"फ्राते मज्दाओ बरत् पौरवनीम् एयाओं घनिमस्ते हर—पाये संघेम मैन्युतस्तेम् बंघुहिम् दयेनीम् मज्दवास्नाम्।" इसका अर्थ यह है कि ऐ डोरा! तू बहुत बड़ा है, उज्ज्वल है **(परमं पवित्रम्)**, आयु तथा बल का देने वाला है **(आयुष्यमग्र्यं बलमस्तु तेजः)**, तुझे मज्दा ने आरोपित किया है **(प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्)**, मैं तुझे पहनाता हूँ।

मुसलमानों में उपनयन को बिस्मिल्ला पढ़ना कहते हैं। उनके यहाँ ४ साल, ४ महीने, ४ दिन, ४ घड़ी, ४ पल का हो जाने पर बालक को बिस्मिल्ला सुनाकर पढ़ने को बैठाया जाता है। बिस्मिल्ला पढ़ते हुए उसे "बिस्मिल्ला हिर्रहमान हुर्रहीम' पढ़ने को कहा जाता है, जैसे वैदिक पद्धति में गायत्री मन्त्र पढ़ने को कहा जाता है।

ईसाइयों में बच्चे को बप्तिस्मा देते हैं जो उपनयन का ही एक रूप है। बप्तिस्मा (Babtism) एनसाइक्लोपीडिया आफ़ रिलीजन के अनुसार यूनानी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ पुनरुत्पत्ति (reg[illegible]ration) है। यही पुनरुत्पत्ति 'द्विज' शब्द से अभिव्यक्त होती है। द्विज उसी को कहते हैं जिसका उपनयन संस्कार हो चुका हो।

१. द्र०—**मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।........॥ तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्। तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥ मनु० २।१६९,१७०॥ स हि विद्यातस्तं जनयति, तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव माता पितरौ जनयतः।** आप० ध० सू०१।१।१५-१७॥

२. प्रथम जन्म से पशुत्वमात्र की प्राप्ति होती है। **'वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।** अथर्व १४।२।२५॥ द्वितीय जन्म मनस्यमान (=ज्ञानवान्) आचार्य से होने के कारण द्वितीय जन्म के अनन्तर ही मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। द्र० **मनुष्याः कस्मात् ... ..मनस्यमानेन सृष्टा वा** (निरु० ३।७)॥ मनुष्य का लक्षण 'ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला है' **(मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति।** निरु० ३।७) इस प्रकार के मनुष्यत्व की प्राप्ति विद्याध्ययन से ही होती है, उसके बिना वह पशु समान होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की उपासना, धर्म, परस्पर विद्या के पढ़नें और विचारनें की युक्ति आदि जो मुख्य-मुख्य बातें हैं, वे सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती हैं। तीन दिन के उपरान्त उनको देखने के लिए अध्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं ॥१॥

(इयं समित्) फिर उस दिन होम करके उनको प्रतिज्ञा कराते हैं, कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी, सूर्य्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं को पालन और पूरण करने की इच्छा करता है, सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ करके सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण आनन्दित कर देता है ॥२॥

इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने अपने यजुर्भाष्य में लिखा है—"विद्वान् पुरुष और स्त्रियों को चाहिए कि विद्यार्थी को शिक्षा देने के लिए गर्भ के समान धारण करें। जैसे क्रम-क्रम से गर्भ के बीच देह बढ़ता है, वैसे अध्यापक लोगों को चाहिए कि अच्छी-अच्छी शिक्षा से ब्रह्मचारी, कुमार वा कुमारी को श्रेष्ठ विद्या में वृद्धियुक्त करें तथा पालना करें।"

शरीर और जीवात्मा दोनों के संयोग से मनुष्य बनता है। उसे मनुष्य बनाने में माता-पिता तथा आचार्य तीनों का सहयोग होता है। इस विषय में मनुस्मृति के निम्नलिखित दो श्लोक बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्योनावभिजायते॥
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा॥ —२।१४७, १४८

माता-पिता तो कामवश होकर भी इस बालक को उत्पन्न करते हैं। इससे जिस योनि में वह जाता है, उसी प्रकार उसके हस्तपादादि हो जाते हैं, परन्तु सम्पूर्ण वेद को जाननेवाला आचार्य विधिवत् गायत्री उपदेश द्वारा इस बालक की जो जाति उत्पन्न करता है, वह जाति सत्य है, अजर और अमर है (क्योंकि उसी से शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति होती है)। इस कारण आचार्य पद की महत्ता बताते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥ —२।१४६

उत्पन्न करनेवाला और वेद=विद्या प्रदान करनेवाला (ये दोनों ही पिता हैं)। इनमें ब्रह्म=वेद का पढ़ानेवाला बड़ा है, क्योंकि विप्र का ब्रह्मजन्म ही इस लोक और परलोक में शाश्वत (स्थायी फल का हेतु) है।

बालक के माता-पिता के अनुरोध को स्वीकार करते हुए आचार्य बालक को ग्रहण करके उसे इस प्रकार सुरक्षित, सँभालकर रखता है जैसे माता पुत्र को अपने गर्भ में सँभाल कर रखती है। गुरु तथा शिष्य के तादात्म्य=निकटतम सम्बन्ध की इससे अच्छी व्याख्या और क्या हो सकती है? गर्भ माता के उदर में रहता है। 'उदर' उसको कहते हैं जो अन्नादि खाद्य पदार्थों का दलन करके तत्त्वसार रस का ग्रहण करे और निःसार फोक को पृथक् करदे—'उदि दृणातेरलचौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च-उदरम् (उणादि ५।१९)। वर्त्तमान सन्दर्भ में आचार्य का आश्रम ही उसका उदरस्थानी है जिसमें रहकर ब्रह्मचारी की शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक आदि अनेकविध दुर्बलताओं का विदलन होकर विद्या वा ज्ञानादि रसों की प्राप्ति होती है। उदरस्थ अथवा गर्भस्थ बालक का देह क्रमशः बढ़ता रहता है। माता साँस लेती है, गर्भ साँस नहीं लेता। माता भोजन करती है, गर्भ भोजन नहीं करता। माता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(पूर्वो जातो ब्र०) जो ब्रह्मचर्यपूर्वक पढ़के ब्राह्मण होता है, वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थी होकर सब मनुष्यों का कल्याण करता है **(ब्रह्मज्येष्ठं०)** फिर उस विद्वान् ब्राह्मण को, जोकि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्णभक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है, देखने के लिए सब विद्वान् आते हैं ॥३॥

ओषधि का सेवन करती है, गर्भ नहीं करता, परन्तु माता के साँस में उसका साँस, माता के भोजन में उसका भोजन, माता के जलपान में उसका जलपान और माता के औषधोपचार में उसका औषधोपचार होता है। गुरु तथा शिष्य के तादात्म्यभाव की इससे सुन्दर उपमा नहीं दी जा सकती। जैसा माता का खानपान, रहन-सहन और आचार-विचार होगा, वैसा ही बालक बनेगा। इसीलिए माता को निर्माता कहा गया है—**'माता निर्माता भवति'**। यदि आचार्य स्वयं चरित्रवान् नहीं है—वह बाहर कुछ और भीतर कुछ है—तो वह अपने शिष्य को चरित्रवान् नहीं बना सकता। यदि उसकी प्राइवेट लाइफ़ अलग है और पब्लिक लाइफ़ अलग तो उसका शिष्य 'महात्मा' न होकर 'दुरात्मा' होगा—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥

उपर्युक्त मन्त्र में मानो 'अन्तेवासी' शब्द की मार्मिक व्याख्या कर दी गई है। माता के गर्भ में बालक जैसा सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार आचार्यकुल में रहता हुआ विद्यार्थी दूषित वातावरण से सुरक्षित रहता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१।१।१५-१७) में कहा है—**'शरीरमेव मातापितरौ जनयतः। स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म।'** इसी दूसरे जन्म के कारण शिष्य 'द्विजन्मा' कहता है। शरीर के निर्माणार्थ बालक को माता के गर्भ में ९-१० मास रहना पड़ता है। दूसरा जन्म देने के लिए उस आचार्य के गर्भ में केवल तीन रात्रि रहना होता है। इस विषय का विवेचन पं० सुखदेवजी ने इस प्रकार किया है—"मन्त्र में कहा है कि आचार्य तीन रात्रि तक अपने पास रखता है। महर्षि दयानन्द ने लिखा है—**'त्रिदिनपर्यन्तमुदरे बिभर्त्ति'** अर्थात् उस शिष्य को आचार्य तीन दिन तक अपने पास रखता है। कतिपय भाई यह शंका करते हैं कि स्वामी दयानन्द ने रात्रि का अर्थ दिन कैसे कर दिया? वस्तुतः यहाँ 'रात्रि' शब्द का अर्थ 'दिन' नहीं किया गया है। इस भाव की पुष्टि हो जाएगी जब हम 'रात्रि' शब्द के आलङ्कारिक भाव की ओर दृष्टि डालेंगे। रात्रि अन्धकार या प्रज्ञानान्धकार का सूचक शब्द है। तीन रात्रियों का उल्लेख तीन प्रकार के अज्ञानों की ओर निर्देश करता है (१) व्यक्तात्मक जगत् का अज्ञान, (२) आत्म (आत्मा व परमात्मा) विषयक अज्ञान तथा (३) जगत् और आत्मा के सम्बन्ध का अज्ञान। संसारभर के अज्ञानों का समावेश इन तीनों में हो जाता है। अज्ञान के तीन विभाग भिन्न-भिन्न प्रकार से किये जाते हैं। कोई इस अज्ञान विभाग को प्रकृति, जीव और परमात्मविषयक अज्ञान से प्रकट करता है; कोई ज्ञान-कर्म-उपासनाविषयक अज्ञान से तथा कोई वेदत्रयीविषयक अज्ञान से। इसी प्रकार अन्य भी कई विभागों की ओर निर्देश किया जाता है। हमें इन विभागों से कोई विशेष प्रतिपत्ति नहीं है, परन्तु हमारा विचार है कि वे सब विभाग विचारने पर उपरिनिर्दिष्ट विभागों के अन्तर्गत हो जाते हैं। हमें अपने विचार के लिए सहायता प्राप्त होती है जब हम कठोपनिषद् के नचिकेता उपाख्यान की ओर दृष्टि डालते हैं। हमारा यह निश्चित विचार है कि नचिकेता की कथा का मूल आधार अथर्ववेद का प्रसिद्ध ब्रह्मचर्यसूक्त ही है। यमाचार्य नचिकेता से कहता है—**'तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन् अतिथिर्नमस्यः'**। (कठ० १।९) अर्थात् "नमस्कार के योग्य ब्राह्मण अतिथि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥४॥

मेरे घर में तीन रात्रि रहा है" इसलिए 'त्रीन् वरान् वृणीष्व' तीन वर माँग ले। नचिकेता ने तीन वर माँगे। यम ने उसे ये तीन वर दिये—(१) आत्मविद्या (२) जगद्विद्या (३) दोनों का सम्बन्ध बताने-व ली कर्मविद्या। यहाँ 'यम' आचार्य का वाचक है। ब्रह्मचर्यसूक्त के १४वें मन्त्र में 'आचार्यो मृत्युः' कह-कर आचार्य को मृत्यु कहा गया है और मृत्यु तथा यम पर्यायवाची प्रसिद्ध हैं। आचार्य मृत्यु या यम इसलिए है, क्योंकि वह शिष्य के तीनों अज्ञानों को मार देता है। इस त्रिविध अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए त्रिविध ज्ञानप्रकाश चाहिए अर्थात् उस-उस अज्ञान की निवृत्ति उस-उस पदार्थ के ज्ञान से हो जाती है। इधर प्रत्येक रात्रि के अन्धकार की निवृत्ति भी उसके बाद आनेवाले दिन से ही होती है। शिष्य आचार्य के पास तभी तक रहता है जब तक तीनों प्रकार के अज्ञान दूर नहीं हो जाते, अर्थात् तीन प्रकार के ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाते। या यों कहिए कि वह तब तक आचार्य के पास रहता है जब तक तीन रात्रियों का अन्धकार तीन दिनों से नष्ट नहीं हो जाता, अर्थात् वह आचार्य के पास तीन दिन तक रहता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मन्त्र में 'रात्रि' शब्द होते हुए भी महर्षि ने 'दिन' शब्द क्यों रखा ? अर्थ में दिन शब्द के द्वारा कितना सुन्दर भाव प्रकट किया गया है।"

इयं समित्—'**समित्पाणि**' का अर्थ है—हाथ में समिधा लेकर जाना। यह प्रतीक है इस बात का कि जैसे अग्नि समिधा का स्पर्श पाकर प्रदीप्त हो उठती है, वैसे ही शिष्य आचार्य के सम्पर्क में आकर चमक उठता है, परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब आचार्य स्वयं प्रदीप्त हो। जिस आचार्य का सार्वजनिक जीवन कुछ और हो और व्यक्तिगत जीवन उसके विपरीत हो, उससे शिष्य को कोई प्रेरणा नहीं मिल सकती। वस्तुतः आचार सिखाया नहीं, ग्रहण किया जाता है – Character is not so much taught as caught." पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक के ज्ञान में सम्पूर्ण विद्याओं का समावेश हो जाता है।

'**पूर्वो जातो ब्रह्म०**'—इस मन्त्र का संस्कृतभाष्यानुसारी अर्थ इस प्रकार है—"ब्रह्म अर्थात् वेद में विचरण करना जिसका स्वभाव है ऐसा वह ब्रह्मचारी (**घर्मं वसानः**) अत्यन्त तप करता हुआ और ब्रह्म अर्थात वेद और परमेश्वर को जानता हुआ (**पूर्वः**) सर्व आश्रमों का आदिभूषक (**तपसा**) धर्मानुष्ठान से (**उदतिष्ठत्**) उत्कृष्ट बोध और व्यवहार में रहता है। इसलिए (**ब्रह्म ज्येष्ठ**) ब्रह्म अर्थात् ईश्वर और वेद – विद्या ही जिसकी श्रेष्ठ है ऐसे (**अमृतेन**) परमेश्वर और मोक्ष के बोध परमानन्द के साथ रहनेवाले (**ब्राह्मणं**) ब्रह्मज्ञानी (**जातं**) और प्रसिद्ध की (**देवाः**) सब विद्वान् लोग प्रशंसा करते हैं।"

ब्रह्मचार्येति०—'**दीर्घश्मश्रुः**' उपलक्षण है सादा जीवन का। कठोर, तपस्यामय जीवन का आदर्श सामने रखनेवाले ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है कि वह शरीर की टीप-टाप की ओर ध्यान न दे। बाह्याङ्गों की सजावट की अपेक्षा पवित्र, शान्त और तृप्त मन का होना अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण उस्तरे का प्रयोग वर्जित है।

गृहाश्रम का समुद्र के रूप में वर्णन सर्वविदित है। इसमें मनुस्मृति का प्रमाण है—

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ —६।९०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥५॥

ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥६॥

ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्य्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥७॥

ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥८॥

—अथर्व० कां० ११ । अनु० ३ । (व० ५) मं० ६, ७, १७, १८, १९ ॥

भाष्यम्—(ब्रह्मचार्य्येति०) स ब्रह्मचारी पूर्वोक्तया (समिधा) विद्यया (समिद्धः) प्रकाशितः, (कार्ष्णम्) मृगचर्मादिकं (वसानः) आच्छादयन्, (दीर्घश्मश्रुः) दीर्घकालपर्य्यन्तं केशश्मश्रूणि धारितानि येन सः' (दीक्षितः) प्राप्तदीक्षः (एति) परमानन्दं प्राप्नोति । तथा (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात् समुद्रात् (उत्तरम्) गृहाश्रमं समुद्रं (सद्य एति) शीघ्रं प्राप्नोति । एवं निवासयोग्यान् सर्वान् (लोकान् सं०) संगृह्य मूहुर्वारंवारं (आचरिक्रत्) धर्मोपदेशमेव करोति ॥४॥

यहाँ गृहाश्रम को उत्तर समुद्र बतलाते हुए ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्वसमुद्र का नाम दिया है। अध्ययन समाप्ति के पश्चात् धर्म-जागृति करता हुआ ब्रह्मचारी अपने उपदेशों से जनता में उत्साह उत्पन्न करता है। इस प्रकार कार्य करता हुआ वह पूर्वसमुद्र से उत्तरसमुद्र में प्रवेश करता है। जहाँ गृहाश्रमरूप समुद्र में सब आश्रय पाते हैं, वहाँ ब्रह्मचर्याश्रमरूप समुद्र सबका मूल अथवा उद्गमस्थान है। अध्यापक, डाक्टर, इंजीनियर, वकील, व्यापारी, मन्त्री, विधायक, सैनिक आदि सब ब्रह्मचर्याश्रम से ही निकलकर गृहस्थ बनते हैं और वे ही समय आने पर वानप्रस्थ और संन्यासी बनते हैं। सारे समाज की नींव ब्रह्मचर्याश्रम है। यह नींव सुदृढ़ नहीं होगी तो सारा समाज लड़खड़ा जाएगा। इस दृष्टि से इस आश्रम का महत्त्व किसी से भी कम नहीं है। सम्भवतः इसीलिए ब्रह्मचारी को सामने से आता देखकर राजा भी उसके लिए रास्ता छोड़ देता है।

ब्रह्मचारी जनयन्—जो एक समय आचार्य के पास विद्या-माता के गर्भ में रहता था, वही ब्रह्मचारी विद्याध्ययन के पश्चात् ज्ञान, सत्कर्म, राजा और प्रजा के धर्म और परमात्मा के स्वरूप का प्रचार करता रहा। वही अब शत्रुघ्न बनकर दुष्टों, असुरों का संहार करता है। यहाँ इन्द्र और असुर के युद्ध का संकेत कर इन्द्र की विजय का उल्लेख किया गया है। इन्द्र सूर्य का वाचक भी है और देवसेना के सेनापति का भी। सूर्य के रूप में वह मेघरूप वृत्रासुर को छिन्न-भिन्न कर देता है और सेनापति के रूप में वह दुष्टों का दमन करने में समर्थ होता है।

ब्रह्मचर्येण०—ब्रह्मचर्य का मूलभूत भाव तपस्या है। अथर्ववेद के **'ब्रह्मचर्यसूक्त'** (का. ११, सू. ५) के २६ मन्त्रों में १५ बार तप शब्द का प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार भट्टी में तपकर कच्चा लोहा पक्का बनता है या सोना कुन्दन बनता है, उसी प्रकार तपस्या की आग में तपकर ही मनुष्य बलवान्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ब्रह्मचारी) स ब्रह्मचारी (ब्रह्म) वेदविद्यां पठन् (अपः) प्राणान्, (लोकम्) दर्शनं, (परमेष्ठिनम्) प्रजापतिं (विराजम्) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं (जनयन्) प्रकटयन्, (अमृतस्य) मोक्षस्य (योनौ) विद्यायां (गर्भो भूत्वा) गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद् विद्यां गृहीत्वा, (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्य्यवत् प्रकाशकः सन् (असुरान्) दुष्टकर्मकारिणो मूर्खान् पाषण्डिनो जनान् दैत्यरक्षःस्वभावान् (ततर्ह) तिरस्करोति, सर्वान्निवारयति। यथेन्द्रः सूर्य्योऽसुरान् मेघान् रात्रिं च निवारयति, तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति ।।५।।

(ब्रह्मचर्य्येण०) तपसा ब्रह्मचर्य्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरक्षति, विशिष्टतया प्रजां रक्षितुं योग्यो भवति। आचार्य्योऽपि कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव विद्यां प्राप्य ब्रह्मचारिणमिच्छते स्वीकुर्यान्नान्यथेति। अत्र प्रमाणम्—आचार्यः कस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोति बुद्धिमिति वा।।—निरु० अ० १। खं ४।।६।।

(ब्रह्मचर्य्येण०) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव कन्या युवतिः सती युवानं स्वसदृशं पतिं विन्दते, नान्यथा, न चातः पूर्वमसदृशं वा। अनड्वानित्युपलक्षणं वेगवतां पशूनाम्। ते पशवोऽश्वश्च घासं यथा, तथा कृतेन ब्रह्मचर्य्येण स्वविरोधिनः पशून् जिगीषन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति। अतो मनुष्यैस्त्ववश्यं ब्रह्मचर्य्यं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ।।७।।

बनता है। जिनका प्रारम्भिक जोवन तप और साधना में बीता होता है, वे ही आगे चलकर सरदी-गरमी, धूप-छाँव, भूख-प्यास—हर प्रकार के सुख-दुःख को सहन कर पाते हैं। ऐसे युवक ही देश की रक्षा करने में समर्थ होते हैं, परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि स्वयं राजा अर्थात् शासकवर्ग भी वैसा ही हो। अजितेन्द्रिय तथा विलासी राजा राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकता। इसी प्रकार जो आचार्य शिष्य को ब्रह्मचारी रखकर वेदज्ञान देना चाहता है उसे स्वयं ब्रह्मचारी=तपस्वी होना चाहिए। आचार्य अपने बह्मचर्य के वल के द्वारा ही ब्रह्मचारियों को आकृष्ट करता है, उनपर शासन करता हुआ अभीष्ट मार्ग पर चलाता है। जब राष्ट्र के ब्राह्मण=आचार्य तथा क्षत्रिय=शासक ब्रह्मचर्य, संयम तथा कठोर साधना का जीवन बिताते हैं, तभी राष्ट्र सुरक्षित रहता है।

ब्रह्मचर्येण कन्या०—वैदिक संस्कृति में कन्याओं को बालकों के समान ही वेदाध्ययन का अधिकार था। यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। ग्रन्थकार ने कन्याओं के वेदाध्ययन के अधिकार की पुष्टि में इसी मन्त्रांश —'**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**—को उद्धृत किया है। इसके आगे उन्होंने लिखा है कि श्रौतसूत्रों में लिखा है—'**इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्**'—इस मन्त्र को पत्नी पढ़े। पत्नी मन्त्र को तभी पढ़ेगी जब वह पहले से पढ़ी-लिखी होगी। इतिहास में सुलभा, गार्गी, मैत्रेयी, विद्याधरी प्रभृति अनेक विदुषी नारियों के नाम आते हैं। गार्गी ने तो भरी सभा में याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता की परीक्षा ली थी, सुलभा की प्रतिज्ञा थी कि वह उसी से विवाह करेगी जो उसे शास्त्रार्थ में परास्त करेगा। मण्डनमिश्र की पत्नी कितनी बड़ी विदुषी रही होगी जो उसे उस समय के सबसे बड़े दिग्गज विद्वानों—शंकराचार्य और मण्डनमिश्र के बीच हुए शास्त्रार्थ की मध्यस्थता के लिए नियुक्त किया गया था। सभी जानते हैं कि मन्त्रार्थ के द्रष्टा ऋषि कहाते हैं। वेदमन्त्रों पर लिखे लोपामुद्रा, श्रद्धा, सरमा, रोमशा, अपाला, यमी, घोषा आदि के नाम इस बात के साक्षी हैं कि पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी वेदों में निहित गूढार्थों का साक्षात्कार करती थीं।

किसी से नियमित रूप से अध्ययन किये बिना इस प्रकार का वैदुष्य प्राप्त करना सम्भव नहीं। इसलिए कन्याओं का अध्ययनार्थ आचार्य के पास जाना और आचार्य के पास जाने के लिए उनका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(**ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा०**) देवा विद्वांसो ब्रह्मचर्य्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च मृत्युं जन्ममृत्युप्रभवदुःखमपाघ्नत नित्यं घ्नन्ति, नान्यथा। ब्रह्मचर्य्येण सुनियमेन, हेति किलार्थे यथा इन्द्रः सूर्य्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वः सुखं प्रकाशं चाभरद् धारयति, तथा विना ब्रह्मचर्य्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं च यथावद् भवति। अतो ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः सुखमेधन्ते। अन्यथा मूलाभावे कुतः शाखा किन्तु मूले दृढे शाखापुष्पफलच्छायादयः सिद्धा भवन्त्येवेति ॥८॥

भाषार्थ—(**ब्रह्मचर्येति**) जो ब्रह्मचारी होता है, वही ज्ञान से प्रकाशित तप और बड़े-बड़े केश श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होके विद्या को प्राप्त होता है तथा जोकि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्वसमुद्र जो ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान है, उसके पार उतरके उत्तरसमुद्रस्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है, और अच्छी प्रकार विद्या-संग्रह करके विचारपूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है ॥४॥

(**ब्रह्मचारी ज०**)वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ जानके प्राणविद्या, लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर जोकि सबसे बड़ा और सबका प्रकाशक है, उसका जानना, इन विद्याओं में गर्भरूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य्ययुक्त होके असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या का छेदन कर देता है ॥५॥

(**ब्रह्मचर्य्येण त०**) पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़के और सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है। आचार्य उसको कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ाके सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ाके अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है ॥६॥

(**ब्रह्मचर्येण क०**) अर्थात् जब वह कन्या ब्रह्मचर्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ़ चुके, तब अपनी युवावस्था में पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति करे। इसी प्रकार पुरुष भी सुशील, धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनों परस्पर सुख-दुःख में सहायकारी हों, क्योंकि अनड्वान् अर्थात् पशु भी

उपवीत होना स्वतः सिद्ध है। इस विषय का विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ में अन्यत्र **'अधिकारानधिकारविषयः'** के अन्तर्गत किया गया है। ब्रह्मचर्य-बल से सम्पन्न होने पर ही अनड्वान्—अश्वः (बैल और घोड़ा)=वृषभ और अश्वसंज्ञक पुरुष भोग्य पदार्थों का भोग करते हैं। बैल और घोड़ा परम्परा से शक्ति के प्रतीक हैं। शक्ति का मापदण्ड Horse-Power के रूप में प्रसिद्ध है। **'अनड्वान्'** का शब्दार्थ है—**'अनः शकटं वहति'** अर्थात् जो अकेला ही गाड़ी को खींच ले-जाता है। ब्रह्मचारिणी कन्या ब्रह्मचर्यसम्पन्न ऐसे ही पति को प्राप्त करती है।

ब्रह्मचर्येण तपसा—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'—जो उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। जब तक जन्म होता रहेगा तब तक मृत्यु भी होती रहेगी। इसीलिए मृत्यु को मारने मृत्युंजय होने का अर्थ है—जन्म को जीतना। जब जन्म होना बन्द हो जाएगा तो मृत्यु होनी भी बन्द हो जाएगी। इस जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाना ही मोक्ष है और इसका साधन है ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान। ब्रह्मचर्य के तपोबल के द्वारा ऋषि-मुनि-देवजन मोक्षलाभ कर सदा के लिए मृत्युभय से पार हो जाते हैं। इस जीवन में भी इन्द्र=आत्मा अपने ब्रह्मचर्य के बल पर ही सब इन्द्रिय-देवों को शक्ति सम्पन्न तथा ऐश्वर्ययुक्त करता है। भोगों में प्रवृत्त होने से इन्द्रियों का तेज क्षीण होता है, पर उनके आत्माभिमुख होने से उनका तेज बढ़ता जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो पूरी जवानी पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् सुनियम में रक्खा जाए, तो अत्यन्त बलवान् होके निर्बल जीवों को जीत लेता है ।।७।।

(ब्रह्मचर्येण त०) ब्रह्मचर्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म-मरण को जीतके मोक्षसुख को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य परमेश्वर के नियम में स्थित होके सब लोकों का प्रकाश करनेवाला हुआ है, वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य से प्रकाशित होके सबको प्रकाशित कर देता है। इससे ब्रह्मचर्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है ।।८।।

इति ब्रह्मचर्य्याश्रमविषयः संक्षेपतः

अथ गृहाश्रमविषयः—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये ।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ।।९।।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ।।१०।।

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ।।११।।

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ।।१२।।

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ।।१३।।

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—एतेषु गृहाश्रमविधानं क्रियत इति ।

(यद् ग्रामे०) यद् ग्रामे गृहाश्रमे वसन्तो वयं पुण्यं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पत्तिमत्युत्तमसामाजिकनियमं सर्वोपकारकं, तथैवारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं तपश्चरणं, सभासम्बन्धे यच्छ्रेष्ठं, इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं कर्म च कुर्मस्तत् सर्वमीश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु । यच्च भ्रमेणैनः पापं च कृतं, तत् सर्वमिदं पापमवयजामह आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः ।।९।।

अथ गृहाश्रमविषयः

शास्त्र का आदेश है—'ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्' (शतपथ); ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ में प्रवेश करे। ब्रह्मचर्याश्रम अगले पड़ाव—गृहस्थाश्रम के लिए तैयारी का आश्रम है। अब्रह्मचारी या अब्रह्मचारिणी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकार नहीं है। मनुस्मृति (३।२) में कहा है—'अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्'—जिसका ब्रह्मचर्य भंग न हुआ है, वही गृहस्थाश्रम में प्रवेश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(देहि मे०) परमेश्वर आज्ञापयति– हे जीव ! त्वमेवं वद—मे मह्यं देहि, मत्सुखार्थं विद्यां द्रव्यादिकं च त्वं देहि, अहमपि ते तुभ्यं ददामि । मे मह्यं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभावदानमुदारतां सुशीलतां च धेहि धारय, ते तुभ्यं त्वदर्थमहमप्येवं च दधे । तथैव धर्मव्यवहारं क्रयदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ, तथैवाहमपि ते तुभ्यं त्वदर्थं निहराणि नित्यं प्रयच्छानि ददानि । स्वाहेति सत्यभाषणं सत्यमानं सत्याचरणं सत्यवचनश्रवणं च सर्वे वयं मिलित्वा कुर्य्यामेति सत्येनैव सर्वं व्यवहारं कुर्य्युः ।।१०।।

(गृहा०) हे गृहाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः ! स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत । गृहाश्रमानुष्ठाने (मा बिभीत) भयं मा प्राप्नुत । तथा (मा वेपध्वम्) मा कम्पध्वम् । (ऊर्जं बिभ्रत एमसि) ऊर्जं बलं पराक्रमं च बिभ्रतः पदार्थानिमसि वयं प्राप्नुम इतीच्छत । (ऊर्जं बिभ्रद्वः) वो युष्माकं मध्येऽहमूर्जं बिभ्रत् सन्, (सुमनाः) शुद्धमनाः, सुमेधा उत्तमबुद्धियुक्तः (मनसा मोदमानः) प्राप्तानन्दः, (गृहानैमि) गृहाणि प्राप्नोमि ।।११।

करे । कन्या के विषय में भी वेद का वचन है—'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'—ब्रह्मचारिणी को ही पति का वरण करना चाहिए ।

यद् ग्राम इति—ब्रह्मचर्याश्रम में मनुष्य आत्मकेन्द्रित रहता है । उसकी दृष्टि अपने तक सीमित रहती है, परन्तु गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर उसकी ज़िम्मेदारी बढ़ जाती है । ब्रह्मचर्यावस्था में उसके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा का दायित्व समाज पर था । अब तीनों आश्रमों के योगक्षेम का बोझ उसपर आ पड़ा है । उसके 'स्व' का दायरा बहुत विस्तृत हो जाता है । इसलिए वेद का आदेश है—"गृहस्थाश्रम में रहते हुए हम जो पाप, अपराध या निषिद्धाचरण ग्राम में करें, बन में करें, सभा में करें अथवा जो दुष्कर्म या कुचेष्टा इन्द्रियों से करें उन सबका हम सर्वथा परित्याग करें ।" प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रति यह संकल्प करे । सांसारिक व्यवहार का सीधा सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से है । सामान्यतया यह समझा जाता है कि सांसारिक व्यवहार में धर्माधर्म का विचार करना अत्यन्त कठिन है । यह मन्त्र स्पष्ट कहता है कि हम कहीं भी हों; किसी भी स्थिति में अधर्माचरण न करें ।

देहि म इति—मनुष्य सामाजिक प्राणी है । जीवात्मा अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति है । इसलिए कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है । किसी के पास कुछ है, किसी के पास कुछ । जो जिसके पास है, वह दूसरों को देता है और जो उसके पास नहीं है, वह दूसरों से लेता है । इस प्रकार परस्पर आदान-प्रदान से ही समाज का व्यवहार चलता है । इस लेन-देन में सचाई और ईमानदारी के बिना काम नहीं चल सकता । तनिक-सा भी मिथ्याचरण होने पर विश्वास जाता रहता है और सारा काम ठप्प हो जाता है । मन, वचन और कर्म में सत्याचरण के बिना सिद्धि नहीं हो सकती । 'देहि मे ददामि ते' ही समाजवाद का मूलमन्त्र है । वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य समाज को देता भी है और उससे लेता भी है । जो मनुष्य लेता अधिक है और देता कम है, वह असामाजिक तत्त्व है, जो जितना लेता है उतना ही देता भी है, वह मनुष्य है । जो लेता कम है परन्तु देता अधिक है वह देवता है ।

गृहा मेति—'विवाहविषयः' के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विवाह सम्बन्ध में लड़के-लड़की की सहमति होना आवश्यक है । ऋग्वेद (१०।२७।१२) में कहा है—"**कियती योषा मर्यतो बधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण । भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्**"–'वधू की इच्छा करनेवाले किस पुरुष की स्त्री प्रेम करनेवाली होगी ?' इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ऋग्वेद देता है–जो (जने चित्) अनेक जनों में से (मित्रं स्वयं वनुते) अपने साथी को स्वयं चुनती है । इस मन्त्र में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(येषामध्येति प्र०) येषु गृहेषु प्रवसतो मनुष्यस्य (बहुः) अधिकः (सौमनसः) आनन्दो भवति तत्र प्रवसन् येषां यान्[1] पदार्थान् सुखकारकान् स (अध्येति) स्मरति, (गृहानुपह्वयामहे) वयं गृहे, विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः सखिबन्ध्वाचार्य्यादीन् निमन्त्रयामहे। (ते नः) विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञान् अस्मान् (जानतः) प्रौढ़ज्ञानान्, युवावस्थास्थान् स्वेच्छया कृतविवाहान्, ते (जानन्तु) अस्माकं साक्षिणः सन्त्विति ॥१२॥

(उपहूता इह०) हे परमेश्वर ? भवत्कृपया इहास्मिन् गृहाश्रमे गावः पशुपृथिवीन्द्रियविद्या-प्रकाशाह्लादादय उपहूता अर्थात् सम्यक् प्राप्ता भवन्तु। तथा (अजावयः) उपहूता अस्मदनुकूला भवन्तु। (अथो अन्नस्य की०) अथो इति पूर्वोक्तपदार्थप्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेष्वन्नस्य भोक्तव्यपदार्थसमहस्य कीलालो विशेषेणोत्तमरस उपहूतः सम्यक् प्राप्तो भवतु। (क्षेमाय वः शान्त्यै०) वो युष्मान्, अत्र पुरुष-व्यत्ययोऽस्ति,[2] तान् पूर्वोक्तान् प्रत्यक्षान् पदार्थान् क्षेमाय रक्षणाय शान्त्यै सुखाय प्रपद्ये प्राप्नोमि। तत्प्राप्त्या (शिवम्) निःश्रेयसं कल्याणं पारमार्थिकं सुखं (शग्मम्) सांसारिकमाभ्युदयिकं सुखं च प्राप्नुयाम्। शंयोः शमिति निघण्टौ पदनामास्ति[3]। परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नतिं कुर्म्मः ॥१३॥

स्त्री को अपने पति को स्वयं चुनने का विधान है। यद्यपि लड़का-लड़की दोनों की सहमति होना आवश्यक है, तथापि इतिहास इस बात का साक्षी है कि चुनाव करने—वरण करने का यह अधिकार मुख्यतः पत्नी को दिया गया है, क्योंकि गृहस्थाश्रम का भार मुख्यतः उसी पर होता है। इसीलिए कहा जाता है—'गृहिणी गृहमुच्यते' अथवा 'बिन घरनी घर भूत का डेरा।'

ऋषि ने यजुर्भाष्य में शतपथ ब्राह्मण (२।४।१।१४) के आधार पर इस मन्त्र का इस प्रकार अर्थ किया है—"हे ब्रह्मचर्याश्रम से सब विद्याओं को ग्रहण किये हुए ((गृहाः) गृहाश्रमी मनुष्यो ! (ऊर्जम्) शौर्यादि पराक्रमों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए तुम गृहस्थाश्रम को यथावत् प्राप्त होओ। उस गृहस्थाश्रम के अनुष्ठान से (मा बिभीत) मत डरो, तथा (मा वेपध्वम्) मत कांपो, तथा पराक्रमों को धारण किये हुए हम लोग (गृहान्) गृहाश्रम को प्राप्त हुए तुम लोगों को (आ इमसि) नित्य प्राप्त होते रहें और (वः) तुम लोगों में स्थित होकर इस प्रकार गृहस्थाश्रम में वर्त्तमान (सुमनाः) उत्तम ज्ञान (सुमेधाः) उत्तम बुद्धियुक्त (मनसा) विज्ञान से (मोदमानः) हर्ष-उत्साहयुक्त (ऊर्जम्) अनेक प्रकार के बलों को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ मैं अत्यन्त सुखों को (आ एमि) निरन्तर प्राप्त होऊँ।

इसके भावार्थ में लिखा है—"मनुष्यों को पूर्ण ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करके, युवावस्था में स्वयंवर के विधान की रीति से अपने तुल्य स्वभाव, विद्या, रूप, बुद्धि और बल आदि गुणोंवाली

---

१. मन्त्रे 'येषाम्' इति कर्मणां शेषत्वविवक्षया 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (२।३।५२) इति षष्ठी। व्याख्याने तु कर्मणां शेषत्वविवक्षया द्वितीया द्रष्टव्या।

२. मन्त्रे 'युष्मान्' इत्यर्थे प्रयुक्तं 'वः' पदं प्रथमपुरुषविषयके 'तान्' पदस्य स्थाने प्रयुक्तम् इति भावः। अत एवाहानुपदम्—'तान् पूर्वोक्तान्' इति।

३. निघण्टौ (४।१) 'शंयोः' पदनामसु पठितम्। तच्च 'शंयुः सुखंयुः' इत्येवं यास्केन (नि० ४।२९) व्याख्यातम्। तेन शंयुपदान्तर्गतमपि 'शम्' पदं सुखार्थस्यैव वाचकम्। द्विरावृत्या च द्विविधं सांसारिकं पारमार्थिकं च सुखं ब्रवीति इति ग्रन्थकारस्याशयः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(**यद् ग्रामे०**) गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके, तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे, और वे दोनों यथावत् उन विवाह के नियमों में चलें, जोकि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं, परन्तु उनसे जो विशेष कहना है सो लिखते हैं - गृहस्थ स्त्री-पुरुषों को धर्म-उन्नति और ग्रामवासियों के हित के लिए जो-जो काम करना है, तथा (**यदरण्ये**) वनवासियों के साथ हित और (**यत्सभायाम्**) सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिए, (**यदिन्द्रिये**) जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिए, सो-सो सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें और, (**यदेनश्चकृ०**) पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन, वचन और कर्म से छोड़कर सर्वथा सबके हितकारी बनें ।।९।।

परमेश्वर उपदेश करता है कि (**देहि मे०**)जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक-ठीक चलना है, यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है । जो वस्तु किसी से लेवें अथवा देवें, सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें । (**नि मे धेहि, नि ते दधे**) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूँगा और तू मेरे साथ ऐसा करना, ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिए । (**निहारं च हरासि मे नि०**) यह वस्तु मेरे लिए तू दे वा तेरे लिए मैं दूंगा, इसको भी यथावत् पूरा करें अर्थात् किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें । इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सबके हितकारी काम करते हैं, उनकी सदा उन्नति होती है ।।१०।।

(**गृहा मा बिभीत०**) हे गृहाश्रम की इच्छा करनेवाले मनुष्य लोगो ! तुम लोग स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो, और उससे डरो व कंपो मत, किन्तु उससे बल, पराक्रम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो, तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहो कि

सुपरीक्षित स्त्री से विवाह कर, तथा शरीर आत्मा के बल को सिद्ध कर और पुत्रों को उत्पन्न कर सब साधनों से अच्छे-अच्छे व्यवहारों में स्थित रहना चाहिए, तथा किसी मनुष्य को गृहस्थाश्रम के अनुष्ठान से भय नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह गृहास्थाश्रम सब अच्छे व्यवहार वा सब आश्रमों का मूल है । इससे इस गृहस्थाश्रम का अनुष्ठान अच्छे प्रकार से करना चाहिए और इस गृहस्थाश्रम के बिना मनुष्यों को राज्यादि व्यवहारों की सिद्धि कभी नहीं होती ।

येषामध्येतीति—यजुर्भाष्य में इस मन्त्र का अध्यात्म तथा अधियज्ञपरक अर्थ इस प्रकार किया है—(**प्रवसन्**) प्रवास करता हुआ अतिथि (**येषाम्**) जिन गृहस्थों का (**अध्येति**) स्मरण करता वा (**येषु**) जिन गृहस्थों में (**बहुः**) बहुत अधिक (**सौमनसः**) प्रीतिभाव है[1], उन (**गृहान्**) गृहस्थों की हम

---

१. द्रष्टव्य — अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।। —अथर्व ३।३०।२-३

जहाँ पुत्र पिता के अनुकूल कार्य करनेवाला और माता के साथ मिलकर चलनेवाला हो और जहाँ पत्नी पति से मीठा और शान्त वचन बोलनेवाली हो ।

जहाँ भाई-भाई में द्वेष न हो और बहन-बहन से द्वेष न करती हो । सब एक मत और मिलकर काम करनेवाले हों और एक-दूसरे के हितकारी वचन बोलनेवाले हों ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहाश्रम करूँ ॥११॥

(येषामध्येति०) जिन घरों में बसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है, उनमें वे मनुष्य अपने सम्बन्धी मित्र, बन्धु और आचार्य आदि का स्मरण करते हैं और उन्हीं लोगों को विवाहादि शुभ कार्यों में सत्कार से बुलाकर उनसे यह इच्छा करते हैं कि ये सब हमको युवावस्थायुक्त और विवाहादि नियमों में ठीक-ठीक प्रतिज्ञा करनेवाले जानें, अर्थात् हमारे साक्षी हों ॥१२॥

(उपहू०) हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से हम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनन्द, बकरी और भेड़ आदि पदार्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त हों, तथा हमारे घरों में उत्तम रस-युक्त खाने-पीने के योग्य पदार्थ सदा बने रहें। 'वः' यह पद पुरुषव्यत्यय से सिद्ध होता है[1]। हम लोग उक्त पदार्थों को उनकी रक्षा और अपने सुख के लिए प्राप्त हों। फिर उस प्राप्ति से हमको परमार्थ और संसार का सुख मिले। **'शंयोः शम्'** यह निघण्टु में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम है ॥१३॥

(उपह्वयामहे) प्रशंसा करते हैं। जो प्रीति रखनेवाले लोग हैं **(ते)** वे **(जानतः)** जानते हुए **(नः)** इन धार्मिक अतिथि लोगों का **(जानन्तु)** यथावत् जानें।

इसके भावार्थ में लिखा है—"गृहस्थों को सब धार्मिक अतिथि लोगों के साथ अत्यन्त प्रीति रखनी चाहिए, दुष्टों के साथ नहीं। तथा उन विद्वानों के संग से परस्पर वार्तालाप कर विद्या की उन्नति करनी चाहिए और जो परोपकार करनेवाले विद्वान् अतिथि लोग हैं, उनकी सेवा गृहस्थों को निरन्तर करनी चाहिए, औरों की नहीं।

उपहूता इति—**(इह)** इस गृहस्थाश्रम में **(वः)** तुम लोगों के **(शान्त्यै)** सुख तथा **(नः)** हम लोगों की **(क्षेमाय)** रक्षा के लिए **(गृहेषु)** निवास करने योग्य स्थानों में जो **(गावः)** दूध देनेवाले गौ आदि पशु **(उपहूताः)** समीप प्राप्त किये वा **(अजावयः)** भेड़, बकरी आदि पशु **(उपहूताः)** समीप प्राप्त किये **(अथो)** इसके अनन्तर **(अन्नस्य)** प्राण करनेवाले **(कीलालः)** अन्न आदि पदार्थों का समूह **(उपहूतः)** अच्छे प्रकार प्राप्त हुआ हो, इन सबकी रक्षा करता हुआ मैं गृहस्थ हूँ सो **(शंयोः)** सब सुखों के साधनों से **(शिवम्)** कल्याण वा **(शंयोः)** सुख से **(शग्मम्)** उत्तम सुखों को **(प्रपद्ये)** प्राप्त होऊँ।

भावार्थ—गृहस्थों को योग्य है कि ईश्वर की आज्ञा के पालन से गौ, हाथी, घोड़े आदि पशु तथा खाने-पीने योग्य स्वादु भक्ष्य पदार्थों[2] का संग्रह कर अपनी वा औरों की रक्षा करके विज्ञान, धर्म, विद्या और पुरुषार्थ से इस लोक वा परलोक के सुखों को सिद्ध करें। किसी पुरुष को आलस्य में नहीं रहना चाहिए, किन्तु सब मनुष्य पुरुषार्थवाले होकर धर्म से चक्रवर्त्ती राज्य आदि धनों का संग्रह करके उनकी अच्छे प्रकार रक्षा कर उत्तम-उत्तम सुखों को प्राप्त हों। इससे अन्यथा मनुष्यों को न बर्तना चहिए, क्योंकि अन्यथा बर्तनेवालों को कभी सुख नहीं होता।

---

१. युष्मदर्थक 'वः' पद पुरुषव्यत्यय मे 'तान्' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह इस लेख का भाव है। इसलिए अगले वाक्य में 'उक्त पदार्थों को' ऐसा निर्देश किया है।

२. चतुर्विध आहार इति सुश्रुतः—"भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं पेयमेवञ्चतुर्विधे वक्तव्ये द्विविधमभिहितमत्रोह्य-मिति। अन्नपाने विशिष्टे द्वयोर्ग्रहणे कृते चतुर्णामपि ग्रहणं भवति, किञ्चान्यत्, अन्नेन भक्ष्यमवरुद्धं त्वन्नसाधर्म्यात्। पेयेन लेह्यं द्रवसाधर्म्यात्,, चतुर्विधश्चाहारः प्रायेण द्विविधः प्रसिद्ध इति ॥ —सुश्रुत, उत्तरतन्त्रे, ६५।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ वानप्रस्थ विषय:संक्षेपत:—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ।

— छान्दोग्य० प्र० २ । खं० २३

भाष्यम्—(त्रयो धर्म०) अत्र सर्वेष्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्त्रयः सन्ति । अध्ययनं, यज्ञः क्रियाकाण्डं, दानं च । तत्र प्रथमो ब्रह्मचारी तपः सुशिक्षाधर्मानुष्ठानेनाचार्य्यकुले वसति । द्वितीयो गृहाश्रमी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात्; स वानप्रस्थाश्रमी । एते सर्वे ब्रह्मचर्य्यादयस्त्रय आश्रमाः पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति, पुण्यानुष्ठानादेवाश्रमसंख्या जायते नान्यथेति ।।

भाषार्थ—(त्रयो धर्म०) धर्म के तीन स्कन्ध हैं—एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना, तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्तधर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना, दूसरा आचार्यकुल में बसके विद्या पढ़ना, और तीसरा परमेश्वर का ठीक-ठीक विचार करके सब विद्याओं को जान लेना । इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है ।

इति वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः

वानप्रस्थ-संन्यासाश्रम

कुछ लोगों की मान्यता है कि बानप्रस्थ और संन्यास दोनों अवैदिक हैं, क्योंकि वेद में इनका विधान नहीं है । इसके विपरीत वेद जीवन पर्यन्त गृहस्थ में बने रहने का आदेश देता है । वानप्रस्थ और संन्यास इसलिए अवैदिक हैं, क्योंकि वेदों में ये शब्द ही नहीं हैं । ग्रन्थकार ने स्वयं इस शंका को प्रस्तुत करके इसका समाधान किया है । ऋ० भा० भू० के **'ब्रह्मविद्याविषय'** के प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है—**'वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ?'**—वेदों में सब विद्याएँ हैं वा नहीं ? इसके उत्तर में लिखा है—**'सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः'** अर्थात् वेद में सब विद्याएँ हैं, परन्तु **'मूलोद्देशतः'** – मूलरूप में । वेद में सब विद्याओं का मूल है, पर विस्तार नहीं । उसी वेदरूपी बीज को लक्ष्य में रखकर आगे ऋषि-मुनियों ने भिन्न-भिन्न विद्याओं का विस्तार करने के लिए ब्राह्मण, उपनिषद्, उपवेद, वेदांग, उपांग, गृह्यसूत्र और श्रौतसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया । उन्हीं मूलमन्त्रों का आशय लेकर ऋषियों ने

सुश्रुतकार ने आहार चार प्रकार का माना है । जो दाँतो से चबाकर खाया जाए वह भक्ष्य कहाता है । दाँतों से बिना चबाये जो खाया जाता है उसे भोज्य कहते हैं । अन्न तथा पान इन दो के ग्रहण में ही चारों का ग्रहण हो जाता है । भक्ष्य तथा भोज्य दोनों अन्नसामान्य से एक ही हैं, तथा द्रव्यसामान्य होने से लेह्य भी पेय के अन्तर्गत समझना चाहिए । इस प्रकार चार प्रकार का आहार दो (अन्न व पान) के अन्तर्गत होने से दो ही प्रकार का है ।

वेदों में अनेकत्र (उदाहरणार्थ अथर्व० ४।३४।५-८; यजु० २।३४ आदि) गृहस्थ में खान-पान के प्राचुर्य का संकेत करते हुए कहा है कि घर में घी, शहद, दूध, शुद्ध जल तथा दही से भरे कलश सदा विद्यमान हों । इन पदार्थों की धारा सदा बहती रहे । घर के साथ पुष्करणियाँ हों । यही स्वर्गलोक है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ संन्यासाश्रमविषयः संक्षेपतः—

ब्रह्मचर्य्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादि सम्यङ् निश्चित्य, गृहाश्रमेण तदनुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धि च कृत्वा, ततो वनमेकान्तं गत्वा, सम्यक् सत्यासत्यवस्तुव्यवहारान् निश्चित्य, वानप्रस्थाश्रमं समाप्य संन्यासी भवेत्, अर्थात्—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद् इत्येकः पक्षः।

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा, अस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं संन्यासं गृह्णीयादिति द्वितीयः पक्षः।

स्मृतियों, श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों में विधियों का विधान किया है। इस विषय में सम्भावित शंकाओं का समाधान करने की दृष्टि से ग्रन्थकार ने अपनी संस्कारविधि के आरम्भ में लिख दिया है—

वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात्।
आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये॥

वेदादिशास्त्रों का परमादरभाव से चिन्तन करके आर्यों के इतिहासानुकूल शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए यह ग्रन्थ रचा है। इस श्लोक में ग्रन्थकार ने 'वेदादि' में वेद के साथ 'आदि' शब्द जोड़कर स्पष्ट कर दिया है कि वेदों के साथ-साथ वेदानुकूल अन्य आर्षग्रन्थों के आधार पर भी इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। वानप्रस्थ के विषय में शतपथ ब्राह्मण काण्ड १४ का प्रमाण है—**ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्'** सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण (संवत् १९३२) में यह वचन 'बृहदारण्यकश्रुति' के रूप में उद्धृत है—(समु० ५ पृष्ठ १५४), जबकि संस्कारविधि के संस्करण १, पृष्ठ १३० में 'इति शतपथब्राह्मणादि प्रमाणानि' पाठ उपलब्ध है, परन्तु जाबालोपनिषद्, खण्ड ४ में यह वचन इस प्रकार मिलता है **'स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा परिव्रजेत्।'** जाबालशाखा याज्ञवल्क्य प्रोक्त वाजसनेय संहिता (शुक्लयजुर्वेद) की है, अतः उसका जाबालब्राह्मण भी माध्यन्दिन और काण्व के समान मूलतः याज्ञवल्क्य प्रोक्त है और शतपथ नाम से वाच्य है (काण्व ब्राह्मण में १०४अध्याय होने पर भी वह शतपथ ही कहाता है)। जाबालोपनिषद् उसी शतपथ के अन्तर्गत बृहदारण्यक का एक अंश हो सकती है। इस प्रकार ग्रन्थकार का इस वचन के लिए शतपथ अथवा बृहदारण्यक शब्द का प्रयोग होने में कोई विरोध नहीं है।

आर्षग्रन्थों में मनुस्मृति का प्रामाण्य सर्ववादीसम्मत है। ताण्ड्यमहाब्राह्मण का वचन है—**'यत्किञ्चिद्वै मनुरवदत्तद् भेषजं भेषजतायाः'**। मनुस्मृति के अनुसार—

गृहस्थस्तु यदा पश्येत् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा।
वनेषु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः॥ —मनु० ६।२, ३-८३

अर्थात् गृहस्थ जब देखे कि अपनी देह की खाल ढीली और केश श्वेत हो गये हैं और पुत्र का पुत्र हो गया है तो वन का आश्रय ले। वन में जाते समय पत्नी को पुत्रों के पास छोड़ दे अथवा साथ ले जाए। इस प्रकार आयु का तीसरा भाग वन में व्यतीत करे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्, सम्यग्ब्रह्मचर्य्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा संन्यासाश्रमं गृह्णीयादिति तृतीयः पक्षः

सर्वत्राऽन्याश्रमविकल्प उक्तः, परन्तु ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानं नित्यमेव कर्त्तव्यमित्यायाति । कुतः ? ब्रह्मचर्य्याश्रमेण विनाऽन्याश्रमानुत्पत्तेः ।

वेद में भी वानप्रस्थ आश्रम का उल्लेख मिलता है, परन्तु वहाँ 'वानप्रस्थ' के पर्यायरूप में 'मुनि' शब्द का प्रयोग हुआ है । उदाहरणार्थ—

वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः ।
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः ॥ —ऋ० १०।१३६।५

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला ।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ —ऋ० १०।१३६।२

प्रथम मन्त्र में 'पूर्वः' तथा 'अपरः' पदों से क्रमशः वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम अभिप्रेत हैं । वेद में 'मुनि' शब्द वानप्रस्थ का वाचक है, यह वानप्रस्थाश्रम का वर्णन करनेवाले मनुस्मृति के छठे अध्याय में प्रयुक्त 'मुनि' शब्द से सिद्ध है—**'मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः'** (६।५); **'मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः'** (६।११); **'मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम्'** (६।१५); **'मुनिर्मूलफलाशनः** (६।२५) । निश्चय ही वेद में मुनि शब्द से बनी का बोध होता है ।

जिस प्रकार वेद में मुनि शब्द वानप्रस्थ का बोधक है, उसी प्रकार 'यति' शब्द से संन्यासी का ग्रहण होता है । ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश (समु० ५) में लिखा है—**'यतयः, ब्राह्मणासः, विजानतः'** पदों से संन्यास का विधान है । मुख्यरूप से 'यति' शब्द ही संन्यासी का वाचक है—**'संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः'** (मुण्डक ३।२।६), **'एष धर्मोनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्'** (मनु० ६।८६), **'भैक्षे प्रसक्तो हि यतिविषयेष्वपि सज्जति'** (मनु० ६।५५), **भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्'** (मनु० ६।५६), **'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा'** (मनु० ६।८७) । आयु का चौथा भाग संन्यासी बनकर व्यतीत करे—**'चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्'** (मनु० ६।३३) । उस अवस्था में संन्यासी को तीन प्रकार की एषणाओं को त्यागकर भिक्षाचरण से रहने का आदेश है—**'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।'** —शतपथ १४।६।२।२६

निम्नलिखित वेदमन्त्रों में संन्यास का उल्लेख पाया जाता है—

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्त्तन ॥ —ऋ० १०।७२।७
य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः । ममेदुग्र श्रुधी हवम् ॥ —ऋ० ८।६।१२,१८

अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः । —ऋ० १।१५८।६
वैश्वानराय यतये मतीनाम् । —७।१३।१
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते । —ऋ० ८।३।९

गृहस्थाश्रम सम्बन्धी एक प्रसिद्ध मन्त्र है—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ अथर्व० १४।१।२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—तथा संन्यासाश्रम के तीन पक्ष हैं—उनमें एक यह है कि जो विषयभोग किया चाहे वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके संन्यास ग्रहण करे। दूसरा **'यदहरेव प्र०'** जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हटकर ठीक-ठीक सत्य मार्ग में निश्चित हो जाए, उस समय

इस मन्त्र के आधार पर अनेक विद्वानों का कहना है कि वेद सम्पूर्ण आयु गृहस्थ में ही रहने का आदेश देता है, अतः वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों की परम्परा अवैदिक है। वैदिक वचनों में जहाँ अर्थ अस्पष्ट हो अथवा विरोध आता हो, उसके लिए जैमिनि ने पूर्वमीमांसा शास्त्र रचा है, अतः ऐसे विवादास्पद वचनों का अभिप्राय जानने के लिए उसका आश्रय लेना चाहिए। ब्राह्मण का एक वचन है 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति।' यदि इसका सामान्य अर्थ लिया जाए तो अग्न्याध्यान की पूर्णाहुति से सब कामनाएँ पूर्ण हो जाने से अन्य यज्ञकर्म अनर्थक हो जाएँ, अतः जैमिनि ने 'सर्वत्वमाधिकारिकम् (१।२।१६) इस सूत्र की रचना करके स्पष्ट कर दिया कि जिस कर्म का जितना अधिकारक्षेत्र है, तद्विषयक सर्वत्व यहाँ ग्रहण किया जाता है।

'सर्व' और **'विश्व'** शब्द एकार्थक हैं, अतः **'सर्वत्वमाधिकारिकम्** नियम के अनुसार इसका अर्थ होगा—इह=गृहाश्रम में रहने की जितनी अवधि है उतने पूर्ण काल तक गृहस्थ में रहो, उसके मध्य पति-पत्नी का वियोग नहीं होना चाहिए। वानप्रस्थ तथा संन्यास का वेदविहित होना बहुत समय से विवादास्पद रहा है। भगवान् वात्स्यायन ने अपने न्यायदर्शन (४।१।६०-६२) के भाष्य में इस प्रवाद का बलपूर्वक सप्रमाण निराकरण करके संन्यास आश्रम का प्रतिपादन किया है।

प्रव्रज्या के लिए तीव्र वैराग्य होना अपेक्षित है। लौकिक विषयों की ओर से तीव्र वैराग्य होने पर प्रत्येक अवस्था में संन्यास लिया जा सकता है। शतपथ अथवा जाबालोपनिषद् के प्रमाण से संन्यास का विधान ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। उपनिषद् में आगे लिखा है—**"यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यदेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निर-नग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"**—यदृच्छया ब्रह्मचर्याश्रम से ही प्रव्रज्या ग्रहण करले अथवा गृहस्थ से अथवा वानप्रस्थ से। चाहे ब्रह्मचर्यव्रत का विधिपूर्वक पालन कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, विद्याध्ययन पूरा कर स्नातक हो चुका हो अथवा न हुआ हो, अग्निहोत्र आदि छोड़ चुका हो, अथवा करता ही न हो, पर जिस दिन व्यक्ति को तीव्र वैराग्य हो जाए, उसी दिन प्रव्रज्या ग्रहण कर ले। ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास ग्रहण करने की वरीयता=श्रेष्ठत्व की प्रतिपादन करते हुए संस्कारविधि में **'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'** की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है "यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त कर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जाए, पक्षपात रहित होके सबका उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरण-पर्यन्त यथावत् संन्यासधर्म का निर्वाह कर सकूँगा तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्म-चर्याश्रम को पूर्ण करके ही संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।" गृहस्थ से अतिरिक्त ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों में जीवन का पर्याप्त भाग व्यतीत हो जाता है जिसका उपयोग आत्मज्ञान के लिए अनुष्ठानों में किया जाता है। प्राचीन काल में एषणाओं से छुटकारा पाकर मोक्ष साधना में प्रवृत्त होने के लिए भिक्षाचार्या से जीवन-निर्वाह करने की परम्परा रही है। रघुकुल की परम्परा के विषय में कालिदास ने लिखा है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनूत्यजाम्॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गृहाश्रम से भी संन्यास हो सकता है, और तीसरा जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे, तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले।

ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति ॥ —छान्दो० प्रपा० २। खं० २३ ॥[1]

तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति। ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति ॥ एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः ॥ —श० कां० १४। अ० ७। ब्रा० २ ॥[2]

भाष्यम्—(ब्रह्मसꣳस्थ०) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः संन्यासी (अमृतत्वम्) (एति) प्राप्नोति ॥

(तमेतं वेदा०) सर्व आश्रमिणो विशेषतः संन्यासिनस्तमेतं परमेश्वरं सर्वभूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च वेत्तुम् इच्छन्ति। (ब्रह्मचर्य्येण०) ब्रह्मचर्य्येण, तपसा धर्मानुष्ठानेन, श्रद्धयाऽत्यन्तप्रेम्णा, यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति। प्रव्राजिनः संन्यासिन एतं यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेप्सन्तः प्रव्रजन्ति संन्यासाश्रमं गृह्णन्ति। (एतद् ब्रह्म०) य एतदिच्छन्तः सन्तः पूर्वे अत्युत्तमा ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽनूचाना निश्शङ्का पूर्णज्ञानिनोऽन्येषां शङ्कानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति, (ते ह स्म०) हेति स्फुटे स्मेति स्मये, ते प्रोत्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति वयं प्रजया किं करिष्यामः, किमपि नेत्यर्थः। येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो लोको दर्शनीयश्चास्ति।

जब रघु बूढ़ा हो गया, और उसका पुत्र अज विवाह करके घर आया तो कालिदास कहता है—'न हि सति कुलधूर्ये सूर्यवंश्या गृहाय'। यदि कुल की धुरी, कुल का स्तम्भ—पुत्र मौजूद हो तो सूर्यवंशी राजाओं के घर में बैठने की प्रथा नहीं है।

जिस समय शकुन्तला का दुष्यन्त से विवाह हुआ तो विदा होते समय उसने पिता कण्व से पूछा कि अब आप मुझे कब बुलाएँगे तो ऋषि कण्व ने उत्तर दिया—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमही-सपत्नी दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥

—अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४।२८

देर तक राज्य करती-करती जब तू अपने लड़के को गद्दी पर बैठा देगी, तब अपने पति के साथ वानप्रस्थिनी बनकर इस आश्रम में आना।

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति—ब्रह्मस्थ संन्यासी मोक्ष को प्राप्त करता है। सब आश्रमी, विशेषकर संन्यासी, सबके स्वामी परमेश्वर को वेद के अध्ययन, श्रवण तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करने से जानना चाहते हैं। ब्रह्मचर्य, तप अर्थात् धर्मानुष्ठान, श्रद्धा अर्थात् प्रेम, यज्ञ अर्थात् नाशरहित विज्ञान या धर्म के क्रियाकाण्ड के द्वारा उस परमेश्वर को जानकर ही मुनि होता है। संन्यासी इस यथोक्त द्रष्टव्य परमेश्वर को ही चाहते हुए संन्यास आश्रम का ग्रहण करते हैं। जो इस ब्रह्म की इच्छा करते

---

१. छा० उ० २।२३।१   २ शतपथ १३।६।२।२५-२६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं ते (पुत्रैषणायाश्च) पुत्रोत्पादनेच्छायाः (वित्तैषणायाश्च) जडधनप्राप्त्यनुष्ठानेच्छायाः (लोकैषणायाश्च) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्थाय) विरज्य (भिक्षाचर्यं च०) संन्यासाश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति। यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्त्येषणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति, यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवतीति विज्ञायते। तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रैषणावित्तैषणे भवतः। यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्त्येषणेच्छास्ति, तस्यैतास्तिस्रो निवर्त्तन्ते। नैव ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद् भवितुमर्हति। यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति। यः सर्वान् मनुष्याननुगृह्णन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति, तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्यप्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मस ँ स्थः०) अर्थात् संन्यासी लोग मोक्षमार्ग को प्राप्त होते हैं ॥

(तमेतं०) और वेद को पढ़के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं, तथा (ब्रह्मच०) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धा, यज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जानके मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं, वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिए संन्यास लेते हैं। जो उनमें उत्तम पूर्ण विद्वान् हैं, वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के बिना ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं, और उनके उपदेश से जो पुत्र होते हैं, उन्हीं को सबसे उत्तम मानकर **'पुत्रैषणा'** अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की इच्छा, **'वित्तैषणा'** अर्थात् धन का लोभ, **'लोकैषणा'** अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड़के भिक्षाचरण करते हैं अर्थात् सर्वगुरु, सबके अतिथि होके विचरते हुए संसार को अज्ञानरूपी अन्धकार से छुड़ाके सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं ॥

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत् इति शतपथे श्रुत्यक्षराणि[1] ।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥

—मुण्डकोपनि० मुण्डके ३। खं १। मं० १० ॥

हुए अत्युत्तम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ विद्वान् तथा दूसरों की शङ्का निवारण करनेवाले मनुष्य गृहाश्रम की इच्छा नहीं रखते, वे ही ज्ञानप्रकाशयुक्त यह कहते हैं कि हमें प्रजा से कुछ भी प्रयोजन नहीं, क्योंकि हमें तो उस परमेश्वर को पाना है। इस प्रकार वे सन्तानोत्पत्ति की इच्छा, जड़ धन की प्राप्ति और उसे प्रयोग में लाने की इच्छा तथा संसार में अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा से बिरक्त होकर संन्यास ग्रहण करते हैं। जिसे पुत्रोत्पत्ति की इच्छा होती है, उसे धन प्राप्ति की इच्छा भी अवश्य होती है और जिसे धन की इच्छा होती है उसे निश्चय ही अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा भी होती है। जिसे एक अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा होती है उसे पूर्व की दोनों पुत्र तथा धन की इच्छा होती है। जिसे परमेश्वर की और मोक्ष की इच्छा होती है उसकी पूर्वोक्त तीनों इच्छाएँ निवृत्त हो जाती हैं। ब्रह्मानन्दधन के बराबर लोकधन कभी नहीं हो सकता। जिसकी परमेश्वर में प्रतिष्ठा होती है उसे और कोई प्रतिष्ठा नहीं रुचती। उसका उद्देश्य केवल परोपकार तथा सत्य-प्रवर्त्तन होता है।

---

१. माध्यन्दिनकाण्वशतपथयोरयं पाठो नोपलभ्यते। पुरा शतपथस्य पञ्चदश प्रभेदाः शाखाभेदेन प्रवृत्ता आसन्। वात्स्यायनकृते 'समारोपणाद्' (४।१।६१) इति सूत्रस्य न्यायभाष्येऽपीयं श्रुतिः किञ्चित् पाठभेदेनोध्रियते। अत्र ६।३८ मनुवचनमप्यनुसन्धेयम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—(प्राजापत्या०) स च संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं कृत्वा, हृदये सर्वमेतन्निश्चित्य, तस्यां (सर्ववेदसं०) शिखासूत्रादिकं हुत्वा, मुनिर्मननशीलः सन् प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति ।

परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारो भवति, नाल्पविद्यानामिति । तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो, दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं, सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम्, किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं यद् बाह्यक्रियामयमस्ति, संन्यासिनां तन्न । सत्योपदेश एव संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः, देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम्, विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञो ह्यज्ञेभ्यो ज्ञानदानं सर्वेषां भूतानामुपर्य्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः, सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्यता सत्योपदेशकरणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः । एवंलक्षणाः पञ्चमहायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम्, परन्त्वेकस्याद्वितीयस्य सर्वशक्तिमदादिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वेषामाश्रमिणामेकमेव भवतीत्ययं विशेषः ।।

(विशुद्धस०) शुद्धान्तःकरणो मनुष्यः (यं यं लोकं मनसा०) ध्यानेन संविभाति इच्छति, (कामयते यांश्च कामान्) यांश्च मनोरथानिच्छति, (तं तं लोकं तांश्च कामान्) जयते प्राप्नोति । तस्मात् कारणाद् (भूतिकामः) ऐश्वर्य्यकामो मनुष्यः (आत्मज्ञं०) आत्मानं परमेश्वरं जानाति यस्तं संन्यासिनमेव सर्वदार्चयेत् सत्कुर्य्यात् । तस्यैव सङ्गेन सत्कारेण च मनुष्याणां सुखप्रदा लोकाः कामाश्च सिद्धा भवन्तीति । तद्भिन्नान् मिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान् पाषण्डिनः कोऽपि नैवार्चयेत् । कुतः ? तेषां सत्कारस्य निष्फलत्वाद् दुःखफलत्वाच्चेति ।।

प्राजापत्यामिष्टिमिति—सर्ववेदस होम वह होता है जो संन्यास ग्रहण करने से पूर्व किया जाता है । इस अवसर पर व्यक्ति अपनी अधिकृत समस्त सम्पत्ति का त्याग कर देता है, अथवा उपयुक्त अधिकारियों को दान कर देता है । सर्ववेदस होम को गृहस्थ व्यक्ति भी अपने आश्रम के अन्तराल काल में कर लिया करते थे । कठोपनिषद् के आरम्भ तथा कालिदासकृत रघुवंश के पंचम सर्ग की प्रारम्भिक कथा में इसके संकेत मिलते हैं । प्राजापत्य इष्टि का सम्पादन कर उसमें सर्ववेदस होम करने के अनन्तर कर्मकाण्डसाधक आहवनीय आदि अग्नियों को आत्मा में समारोपण कर तीव्र वैराग्ययुक्त व्यक्ति संन्यास ग्रहण कर लेता है । ऐसे प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से रहित हो जाते हैं वे गृहस्थ से विरक्त हो प्रव्रज्या को स्वीकार कर लेते हैं ।

शतपथ ब्राह्मण (१४।७।३।१-१५) में उल्लेख है—

"सोऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यमाणो याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीति होवाच । प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति । ..उक्तानुशासनासि मैत्रेयि एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज ।"

एक बार अपने चालू जीवन से भिन्न जीवनचर्या को स्वीकार करने की भावना से याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को पुकारा और कहा—अब इस स्थान से प्रव्रज्या लेनेवाला हूँ । चाहता हूँ कि अब तुम कात्यायनी के साथ रहो । मैत्रेयी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार न करते हुए कहा—जिस अमृतपद को प्राप्त करने के लिए आप अपने चालू जीवन में परिवर्तन कर रहे हैं, मैं भी उसका अनुसरण क्यों न करूँ ? मुझे उसी मार्ग का उपदेश दीजिए । याज्ञवल्क्य ने तब विस्तार से आत्मज्ञान के उपायों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(**प्राजापत्या०**) अर्थात् इस इष्टि में शिखा-सूत्रादि का होम करके गृहस्थ आश्रम को छोड़के विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करें।

(**यं यं लोक०**) वह शुद्ध मन से जिस-जिस लोक और कामना की इच्छा करता है, वे सब उसको सिद्ध हो जाती हैं। इसलिए जिसको ऐश्वर्य की इच्छा हो, वह आत्मज्ञ अर्थात् ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करे।

का वर्णन किया अन्त में याज्ञवल्क्य ने कहा—मैत्रेयि! पूर्ण उपदेश कर दिया गया है, यही अमृतपद का स्वरूप है। इतना कहकर याज्ञवल्क्य ने प्रव्रज्या को स्वीकार किया।

संन्यासी परमेश्वर देवतावाली इष्टि को करके, हृदय में यह सब कुछ निश्चय करके, उस इष्टि (सर्ववेदस) में शिखा-सूत्र आदि का होम करके, मनस्वी होकर संन्यास ग्रहण करता है, परन्तु यह संन्यास का अधिकार उन्हीं को है जो पूर्ण विद्वान्, राग-द्वेषरहित तथा सब मनुष्यों पर उपकार की बुद्धि रखते हैं। यह अधिकार अल्प विद्यावालों को नहीं है। संन्यासियों का प्राणायाम होम, दोषों व मन तथा इन्द्रियों को रोकना तथा सत्यधर्म का अनुष्ठान ही अग्नि-होत्र है, किन्तु पहले तीन आश्रमियों के अनुष्ठान करने योग्य जो कुछ भी है, चाहे वह क्रियामय न भी हो तो भी वह सब-कुछ सन्यासियों के लिए नहीं है। सत्योपदेश ही सन्यासियों का ब्रह्मयज्ञ है, ब्रह्म की उपासना करना देवयज्ञ है, विज्ञानियों की प्रतिष्ठा करना पितृयज्ञ है, अज्ञानियों को ज्ञान देना तथा सब प्राणियों पर उपकार करना, उनपर कृपा करना तथा उन्हें पीड़ा न देना ही भूतयज्ञ है और सब मनुष्यों के उपकारार्थ भ्रमण करना, निरभिमानता, सत्योपदेश करने से सब मनुष्यों का सत्कार करना अतिथि-यज्ञ है। संन्यासियों के लिए इस प्रकार के विज्ञान और धर्मानुष्ठनवाले ही पाँच महायज्ञ होते हैं, ऐसा जानना चाहिए, परन्तु विशेषता यह है कि एक अद्वितीय सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त परब्रह्म की उपासना तथा सत्यधर्म का अनुष्ठान करना—यह सब आश्रमियों में समान है।

यं यं लोकमिति—शुद्धान्तःकरण का मनुष्य जिस-जिस लोक को ध्यान से चाहता है और जिन मनोरथों को चाहता है, उस-उस लोक को तथा उन-उन मनोरथों को प्राप्त होता है। इसलिए ऐश्वर्य का इच्छुक मनुष्य परमेश्वर के जाननेवाले संन्यासी का ही सदा सत्कार करे। उसी के सङ्ग तथा सत्कार से मनुष्यों के सुखप्रद लोक और मनोरथ सिद्ध होते हैं। उससे भिन्न मिथ्या उपदेशक, स्वार्थी तथा पाखण्डियों का कोई भी सत्कार न करे, क्योंकि उन पाखण्डियों का सत्कार निष्फल होता है, अर्थात् उसका कोई अच्छा फल नहीं निकलता, अपितु केवल दुःख ही फल होता है।

वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था मानवता के लिए अमूल्य वरदान है। मानव केवल शरीर नहीं है, मन, बुद्धि और आत्मा भी है। वस्तुतः जीवन का ध्येय भौतिक कभी नहीं हो सकता। धन, धन के लिए नहीं, धन से प्राप्य वस्तुओं को जुटाने के लिए होता है। वस्तुएँ, वस्तुओं के लिए नहीं, शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जुटाई जाती हैं। शरीर, शरीर के लिए नहीं, उपभोग का साधनभूत होता है। उपभोग भी, उपभोग के लिए नहीं, उससे होनेवाले सुख या आनन्द को पाने के लिए होता है और यह सुख या आनन्द की अनुभूति शरीर का नहीं, अभौतिक आत्मा का विषय है। इस प्रकार जीवन का ध्येय अन्ततः अभौतिक अथवा आध्यात्मिक ठहरता है। वर्णाश्रमव्यवस्था इसी ध्येय की प्राप्ति की क्रमबद्ध योजना है। इस व्यवस्था में धन कमाने का अधिकार मर्यादित है। चार वर्णों में केवल एक ही वर्ण 'वैश्य' धन कमा सकता है और वह भी चार अवस्थाओं में से केवल एक में—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं, क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिए और पूर्ण विद्या को पढ़कर उससे संसार की उन्नति करने के लिए गृहाश्रम भी अवश्य करें तथा विद्या और संसार के उपकार के लिए एकान्त में बैठकर जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है, उसका ज्ञान अच्छी प्रकार करें, और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें। फिर उनके सब सन्देहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय कराने के लिए संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें, क्योंकि इसके बिना सम्पूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन है।

इति संन्यासाश्रमविषयः संक्षेपतः

इति वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

गृहस्थाश्रम में। वह भी जानता है कि अभी जो मैं कमा रहा हूँ, उसे एक न एक दिन छोड़ना ही है, वानप्रस्थ बनना ही है। राजा भी जानता है कि एक दिन मुझे सब-कुछ छोड़कर बन में वास करने चले जाना है—'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनाम्' (रघुवंश १।८)। इस प्रकार इस व्यवस्था में सम्पत्ति के अधिकार को मर्यादित रक्खा गया है। इसमें धन ऐहिक भोग का साधनमात्र है, साध्य नहीं। जब पैसा साध्य बन जाता है आराध्य या भगवान् बन जाता है तो न भगवान् रहता है, न मानव या मानवता। तब भ्रष्टाचार ही शिष्टाचार बन जाता है। वर्णाश्रमव्यवस्था में ही समाज का सुख निहित है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः

ये पञ्चमहायज्ञा मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः सन्ति, तेषां विधानं संक्षेपतोऽत्र लिखामः। तत्र ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकारः—साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च सर्वैः कर्त्तव्यम्। तत्राध्ययनाध्यापनक्रमो यादृशः पठनपाठनविषय उक्त[1] स्तादृशो ग्राह्यः। सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने[2] यादृश उक्तस्तादृशः कर्त्तव्यः। तथाग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्त[3] स्तादृश एव कर्त्तव्यः।

अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः

भगवान् मनु का कथन है—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥
—मनु० ३।६८-७१

अर्थात्—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और जलकलश—ये पाँच गृहस्थों की हिंसा के मूल हैं। इनके कारण गृहस्थ, जाने-अनजाने पाप में भागीदार हो जाता है। इस प्रकार के हिंसा-दोष की निवृत्ति के लिए ऋषियों ने गृहस्थों के लिए प्रतिदिन पाँच महायज्ञों का विधान किया है। ये पाँच महायज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ तथा अतिथियज्ञ। जो मनुष्य इन महायज्ञों का पालन करता है, वह गृहस्थ में रहता हुआ भी पाप में लिप्त नहीं होता।

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकानिर्माणकालात् (१९३३ वि०) पूर्वं ग्रन्थकृता १९३२ वैक्रमाब्दे सत्यार्थप्रकाशस्य प्रथमसंस्करणं प्रकाशितमभूत्, तस्य तृतीयसमुल्लासे यः पठनपाठनविधिस्तमभिलक्ष्यायं संकेतो ज्ञेयः।

२. अयमपि संकेतः १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते 'सभाष्यसन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधिः' नाम्नि ग्रन्थे यः सन्ध्योपासनविधिर्लिखितस्तं प्रति वर्तते, न तु १९३४ वैक्रमाब्दे वाराणसीतः प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधिनाम्नि ग्रन्थे विद्यमानं सन्ध्योपासनविधिं प्रति। यतः १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशितः पञ्चमहायज्ञविधिग्रन्थस्त्वेतस्माद् ग्रन्थाद् औत्तरकालिकः। एतद्विषयेऽस्माभिः 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नाम्नि ग्रन्थे ५६ तमे पृष्ठे विस्तरेण लिखितं तत् तत्रैव द्रष्टव्यम्। [यु० मी०]

३. अयमपि संकेतः १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधिग्रन्थे प्रतिपादितदेवयज्ञविधानं प्रति वर्तते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्र ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ १ ॥

—यजु० अ० ३। म० १

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे। देवाँ२ ॥ आ सादयादिह ॥ २ ॥

—यजु० अ० २२। म० ६

ये पाँच महायज्ञ वैदिक धर्मों के नैत्यिक कर्मों में मुख्य हैं। दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्यादि बड़े-बड़े यज्ञों की अपेक्षा इन सामान्य यज्ञों का मन्वादि ऋषि-मुनियों के द्वारा महायज्ञ की संज्ञा से अभिहित किया जाना इनकी महत्ता का सूचक है। मनु महाराज ने **'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'** (२।२८) का निर्देश करके इन पाँच यज्ञों को ब्राह्मी देह बनाने का साधन माना है।

इन पाँच महायज्ञों के अनुष्ठानों से प्राप्त होनेवाले लाभों का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश (समु० ४) में लिखा है—'इन पाँच महायज्ञों का फल यह है कि 'ब्रह्मयज्ञ' के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभगुणों की वृद्धि। 'अग्निहोत्र' से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना, अर्थात् शुद्ध वायु का श्वास, स्पर्श, खान-पान से आरोग्य बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होना। इसीलिए इसको 'देवयज्ञ' कहते हैं। 'पितृयज्ञ' से जब माता-पिता और ज्ञानी-महात्माओं की सेवा करेगा तो उसका ज्ञान बढ़ेगा। उससे सत्याऽसत्य का निर्णय कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके सुखी रहेगा। दूसरा—कृतज्ञता अर्थात् जैसी सेवा माता-पिता और आचार्य ने सन्तान और शिष्योंकी की है, उसका बदला देना उचित ही है। बलिवैश्वदेव' का भी फल जो पूर्व कह आये (पशु-पक्षी आदि का पालन व रक्षण) वही है। 'अतिथियज्ञ' -जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते, तब तब उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है, तथा मनुष्यमात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। विना अतिथियों के सन्देह-निवृत्ति नहीं होती ?सन्देह-निवृत्ति के बिना दृढ़ निश्चय नहीं होता, दृढ़ निश्चय के बिना सुख कहाँ ?

'पञ्चमहायज्ञविधि' में इतना और लिखा है—"इन नित्य कर्मों के फल ये हैं कि ज्ञान-प्राप्ति से आत्मा की उन्नति और आरोग्यता होने से शरीर के सुख से व्यवहार और परमार्थ-कार्यों की सिद्धि होना। उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये सिद्ध होते हैं। इनको प्राप्त होकर मनुष्यों को सुखी होना उचित है।

इन पाँच महायज्ञों में 'ब्रह्मयज्ञ' मुख्य है। 'ब्रह्म' पद से ईश्वर और वेद दोनों का ग्रहण होता है। अतएव यहाँ ब्रह्मयज्ञ का अर्थ **'साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च'** किया है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। गुण-गुणी अथवा ज्ञान-ज्ञानी का अविनाभाव सम्बन्ध होने से वेद को साक्षात् ब्रह्म कहा गया है—**'वेदो नारायणः साक्षात्'** (भागवत ६।१।४०)। मनुस्मृति में वेद के अध्यापन को ब्रह्मयज्ञ कहा है—'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः'—३।७०॥ कुल्लूकभट्ट ने मनु के इस श्लोक की टीका में लिखा है—**'अध्यापनशब्देन अध्ययनमपि गृह्यते'**। आप्टे ने भी अपने संस्कृतकोश में ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत वेद के अध्ययनाध्यापन पर बल दिया है। विद्याध्ययन की समाप्ति पर समावर्त्तन संस्कार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ ३ ॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतहिमा ऋधेम[1] ॥ ४ ॥
—अथर्व० कां० १९ । अनु० । मं० ३-४[2]

भाष्यम्—)समिधाग्निं०) हे मनुष्या वाय्वोषधिवृष्टिजलशुद्धया परोपकाराय (घृतैः) घृतादिभिश्शोधितैर्द्रव्यैः समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत, नित्यं प्रदीपयत। (अस्मिन्) अग्नौ (हव्या) होतुमर्हाणि पुष्टिमधुरसुगन्धरोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि (आ जुहोतन) आ समन्ताज्जुहुत। एवमग्निहोत्रं नित्यं (दुवस्यत) परिचरत। अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत ॥१॥

(अग्निं दूतं) अग्निहोत्रकर्तैवमिच्छेदहं वायौ मेघमण्डले च भूतद्रव्यस्य प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् (पुरोदधे) सम्मुखतः स्थापये। कथम्भूतमग्निं? (हव्यवाहम्) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति हव्यवाट् तं (उपब्रुवे) अन्यान् जिज्ञासून् प्रत्युपदिशानि (देवां २ ॥ ०) सोऽग्निरेतदग्निहोत्र—कर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेहास्मिन् संसार आसादयाद् आसमन्तात् प्रापयति

के समय दीक्षान्त भाषण के माध्यम से आचार्य की ओर से दिये गये अन्तिम उपदेश में शिष्य को जीवन में कभी भी वेदादि शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में आलस्य-प्रमाद न करने की प्रेरणा की जाती है—'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। तै० शिक्षावल्ली।

ब्रह्मयज्ञ का दूसरा अङ्ग 'सन्ध्योपासना' है। 'सन्ध्या' शब्द का अर्थ करते हुए ग्रन्थकार ने 'पञ्चमहायज्ञविधिः' अथवा 'नित्यकर्मविधिः' में लिखा है—'सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या' अर्थात् 'भली-भाँति ध्यान करते हैं या ध्यान किया जाए परमेश्वर का जिसमें, वह सन्ध्या है।' सन्ध्या कब करनी चाहिए—इस विषय में वहाँ लिखा है—"तत्र रात्रिन्दिवयोः सन्धिवेलायामुभयोस्सन्ध्योः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्याः॥ अर्थात् 'रात और दिन के संयोग समय दोनों सन्ध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए।

ग्रन्थकार का यह मत सर्वथा शास्त्रसम्मत है। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय प्रमाण प्रस्तुत हैं—

१—उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥ हे (अग्ने) ईश्वर! (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) सायं प्रातः [वस्त इत्यहर्वाचीति स्वामिदयानन्दः सायणोऽपि] (धिया) भक्ति से (नमः) नमस्कार (भरन्तः) करते हुए (वयम्) हम (उप त्वा) आपके समीप, आपकी शरण में (आ इमसि) आते हैं।—ऋग्वेद १।१।७

२—तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपासीत। स ज्योतिष्याज्ज्योतिषो दर्शनात् सोऽस्याः कालः 'सा सन्ध्या' तत् सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वम्॥—षड्विंशब्रा० ४।५

ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धि समय में नित्य उपासना करे। जो प्रकाश और अन्धकार का संयोग है, वही सन्ध्या का काल जानना और उस समय में सन्ध्योपासन की जो ध्यान-क्रिया करनी होती है, वही सन्ध्या है। इसी को सन्ध्योपासन कहते हैं।

१. राथह्विटनीसंस्करणानुसारी पाठः, अन्यसंस्करणेषु द्वे पदे। २. अथर्व० १९।५५।३-४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्वा— हे परमेश्वर (दूतम्) सर्वेभ्यः सत्योपदेशकं (अग्निम्) अग्निसंज्ञकं त्वां (पुरोदधे) इष्टत्वेनोपास्यं मन्ये। तथा (हव्यवाहम्) ग्रहीतुं योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं, तद् वहति प्रापयतीति तं त्वा (उपब्रु वे) उपदिशानि। स भवान् कृपया (इह) अस्मिन् संसारे (देवान्) दिव्यगुणान् (आसादयात्) आ समन्तात् प्रापयतु ॥ २ ॥

(नः) अस्माकमयं (अग्निः) भौतिकः परमेश्वरश्च (गृहपतिः०) गृहात्मपालकः प्रातः सायं परिचरितः सूपासितश्च (सौमनसस्य दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दातास्ति। तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तम-पदार्थस्य च दातास्ति। अत एव परमेश्वरः 'वसुदानः' इति नाम्नाऽऽख्यायते। हे परमेश्वरेवं भूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव। तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर ! एवं त्वा त्वामिन्धानाः प्रकाशमाना वयं (तन्वम्) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्य्याम। तथाग्नि-होत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्यामः ॥३॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः। अत्र विशेषस्त्वयम्—एवमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः (शतहिमाः) शतं हिमा हेमन्तर्त्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत् स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्धेमहि। एवं कृतेन कर्मणा नोऽस्माकं कदाचिद्धानिर्न भवेदितीच्छामः ॥४॥

अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैकां वेदिं सम्पाद्य, काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च संगृह्य, तत्र वेद्यां पलाशाम्रादिसमिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य, तत्र पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रातःसायङ्कालयोः प्रातरेव वोक्तैर्मन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्य्यात्।

३— उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते। तै० आरण्यक, प्रपा० २, अनु० २

जब सूर्य के उदय और अस्त का समय आवे, उसमें नित्य प्रकाशस्वरूप, आदित्य परमेश्वर को उपासना करता हुआ ब्रह्मोपासक मनुष्य ही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है।

४—पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥—मनु० २।१०१

दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्योदय पर्यन्त प्रातः सन्ध्या और सूर्यास्त से लेके तारों के दर्शनपर्यन्त सायंकाल में सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थविचारपूर्वक नित्य करें।

५—ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्माद् ब्राह्मणः सायमासीनः सन्ध्यामुपास्ते कस्मात् प्रातस्तिष्ठन्। —षड्विंशब्रा० ४।५

६—मनुस्मृति ने एक बार पुनः स्पष्ट करते हुए कहा—
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवा कृतम् ॥

प्रातः सन्ध्या के जप से रात्रिभर की और सायं सन्ध्या से दिनभर की दुर्वासनाओं का नाश होता है।[२]

---

१. पूर्वनिर्दिष्टे १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधाधाने देवयज्ञप्रकरणे ये मन्त्रा निर्दिष्टास्तान् प्रत्ययं संकेतो ज्ञेयः।

२.—तुलना करें—Sleep with clean hands—either kept clean all day by integrity or washed clean at night by repentence.—Anon.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—अब पञ्चमहायज्ञ अर्थात् जो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहिएँ, उनका विधान संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से प्रथम एक ब्रह्मयज्ञ कहाता है, जिसमें अङ्गों के सहित वेदादि शास्त्रों का पढ़ाना तथा सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातःकाल और सायङ्काल में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिए। इनमें पठनपाठन की व्यवस्था तो जैसी पठनपाठन विषय में विस्तार पूर्वक कह आये हैं[1] वहाँ देख लेना तथा सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र का बिधान जैसा पञ्चमहायज्ञविधि[2] पुस्तक में लिख चुके हैं, वैसा जान लेना।

अब आगे ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का प्रमाण लिखते हैं—(समिधाग्निं) हे मनुष्यो ! तुम लोग वायु, औषधी और वर्षाजल की शुद्धि से, सबके उपकार के अर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आम्र व ढाक आदि काष्ठों से अतिथिरूप अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो। फिर उस अग्नि में होम करने के योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित अर्थात् दुग्ध, घृत, शर्करा, गुड़, केशर, कस्तूरी आदि और रोगनाशक जो सोमलता आदि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं, उनका अच्छी प्रकार नित्य अग्निहोत्र करके सबका उपकार करो ॥१॥

उपर्युक्त प्रमाणों से सर्वथा स्पष्ट है कि सायं-प्रातः दो काल ही सन्ध्या करना शास्त्रसम्मत एवं युक्तियुक्त है।

किसी-किसी का मत है कि सन्ध्या त्रिकाल—सायं, प्रातः तथा मध्याह्न करनी चाहिए। इसका विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश (समु० ४) में लिखा है—

"प्रश्न—त्रिकाल सन्ध्या क्यों नहीं करना ?

उत्तर—तीन समय में सन्धि नहीं होती। प्रकाश और अन्धकार की सन्धि भी सायं-प्रातः दो ही वेला में होती है। जो इसको न मानकर मध्याह्नकाल में तीसरी सन्ध्या माने वह मध्यरात्रि में भी सन्ध्योपासन क्यों न करे ? जो मध्यरात्रि में भी करना चाहे, तो प्रहर-प्रहर, घड़ी-घड़ी, पल-पल और क्षण-क्षण क्यों न करे ? जो ऐसा भी करना चाहे, तो हो ही नहीं सकता और किसी शास्त्र का मध्याह्न सन्ध्या में प्रमाण भी नहीं। इसलिए दोनों कालों में सन्ध्या और अग्निहोत्र करना उचित है, तीसरे काल में नहीं।"

नियमितरूप से सन्ध्या करनेवाले साधक की उपलब्धि के विषय में भगवान् मनु का कथन है—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ —मनु० ४।९४

दीर्घकाल तक सन्ध्या का अनुष्ठान करने से ऋषि लोग दीर्घ आयु, प्रज्ञा, यश और ब्रह्मतेज को प्राप्त करते हैं।

इसके विपरीत आचरण करनेवाले के लिए मनुजी कहते हैं—

---

१. यह संकेत १९३१ में प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश तृतीयसमुल्लास में निर्दिष्ट पठनपाठनविधि की ओर है।

२. यह संकेत भी वि० सं० १९३१ में प्रकाशित पञ्चमहायज्ञविधि की ओर है। १९३४ में पुनः प्रकाशित संशोधित संस्करण भूमिका-लेखन के पश्चात् छपा है। द्र० 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' पृष्ठ ५८ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अग्निं दूतं०) अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे, कि मैं प्राणियों के उपकार करनेवाले पदार्थों को पवन और मेघमण्डल में पहुँचाने के लिए अग्नि को सेवक की नाईं अपने सामने स्थापन करता हूँ, क्योंकि वह अग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश में पहुँचाने वाला है। इसी से उसका नाम 'हव्यवाट्' है। जो उस अग्निहोत्र को जानना चाहें, उनको मैं उपदेश करता हूँ कि वह अग्नि उस अग्निहोत्र कर्म्म से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से (इह) इस संसार में (देवाँ २ ।।०) श्रेष्ठ गुणों को पहुँचाता है।

दूसरा अर्थ[1]—हे सब प्राणियों को सत्य उपदेशकारक परमेश्वर! जोकि आप अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं, मैं इच्छापूर्वक आपको उपासना करने के योग्य मानता हूँ। ऐसी कृपा करो कि आपको जानने की इच्छा करनेवालों के लिए भी मैं आपका शुभगुणयुक्त विशेषज्ञानदायक उपदेश करूँ तथा आप भी कृपा करके इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुँचावें ।।२।।

(सायंसायं) प्रतिदिन प्रातःसायं श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर, **(सौमनसस्य दाता)** आरोग्य, आनन्द और वसु अर्थात् धन का देनेवाला है। इसी से परमेश्वर **(वसुदानः)** अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर! आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो। यहाँ भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने योग्य है। **(वयं त्वे०)** हे परमेश्वर! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आपको प्रकाशमान करते हुए अपने शरीर से **(पुषेम)** पुष्ट होते हैं, वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुए पुष्ट हों ।।३।।

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ।। —मनु० २।१०३

अर्थात् जो मनुष्य सायं-प्रातः सन्ध्योपासन नहीं करता, उसे सज्जन पुरुष द्विजकर्मों से बाहर कर दें, उससे शूद्रवत् व्यवहार करें।

इसका अनुमोदन करते हुए बोधायनधर्मसूत्र (२।४।२०) में कहा है—

सायं प्रातः सदा सन्ध्यां ये विप्रा नो उपासते ।
कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत् ।।

राजा को चाहिए कि सायं-प्रातः सन्ध्या न करनेवाले विप्र को शूद्र के योग्य कर्मों में लगा दे।

ग्रन्थकार ने पञ्चमहायज्ञविधि में तो यहाँ तक लिखा है कि ऐसे व्यक्ति को विद्या के चिह्न यज्ञोपवीत को धारण करने के अधिकार से वंचित कर दे और वह सेवा कर्म किया करे।

अग्निहोत्र (देवयज्ञ)

जिस कर्म में, निर्धारित विधि के अनुसार, श्रद्धापूर्वक मन्त्रपाठसहित अग्नि में आहुति दी जाती है, उसका नाम अग्निहोत्र है। गृहस्थाश्रम में पञ्चमहायज्ञ प्रत्येक सद्गृहस्थ को करने होते हैं। इनमें देवयज्ञ या अग्निहोत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि देवकर्म—अग्निहोत्र में प्रवृत्त गृहस्थ ही चराचर

---

१. अग्निहोत्र प्रकरण में अध्यात्मपरक द्वितीय अर्थ लिखकर ग्रन्थकार ने यह दर्शाया है कि कर्मकाण्ड में याज्ञिक प्रक्रियानुसारी अर्थ का विषय होने पर भी कर्मकाण्ड के साथ अध्यात्मचिन्तन आवश्यक है। उसके बिना शुष्क कर्मकाण्ड निष्प्रयोजन ही रहता है। कर्मकाण्ड और पदार्थज्ञानकाण्ड की समाप्ति भी अध्यात्मज्ञान में ही होती है। यही वेद का चरम लक्ष्य है, यह ग्रन्थकार ने बहुत स्थानों पर स्पष्ट किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो, परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि—अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्य्यन्त, अर्थात् सौ वर्ष तक, धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों ॥४॥

अग्निहोत्र करने के लिए, ताम्र वा मिट्टी की वेदी बनाके काष्ठ, चाँदी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके, उस वेदी में ढाक वा आम्र आदि वृक्षों की समिधा स्थापन करके, अग्नि को प्रज्ज्वलित करके, पूर्वोक्त पदार्थों की प्रातःकाल और सायङ्काल अथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें।

अथाग्निहोत्रे होमकरणमन्त्राः—

सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा ॥ १ ॥

सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥

ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या । जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

इति प्रातःकालमन्त्राः ॥

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥

अग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ २ ॥

अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रं मनसोच्चार्य्य तृतीयाहुतिर्देया ॥ ३ ॥

सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

इति सायङ्कालमन्त्राः ।

जगत् को धारण करता है—"**देवकर्मणि युक्तो हि बिभर्त्तीदं चराचरम्**"—मनु० ३।७५ ॥ वानप्रस्थ आश्रम में भी अग्निहोत्र नहीं छूटता, क्योंकि वानप्रस्थ के लिए '**अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्**' (मनु० ६।४) अग्निहोत्र के लिए अपेक्षित सामग्री साथ लेकर वन में जाने का विधान है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार "**एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम् जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा**' (१२।४।१।१)—शरीर के नितान्त जीर्ण-शीर्ण हो जाने अथवा मृत्यु हो जाने पर ही अग्निहोत्र से छुटकारा मिलता है। वहीं (२।३।१।१०) यह भी कहा है कि अन्य सब यज्ञ तो एक न एक दिन समाप्त हो जाते हैं, फिर उनकी कर्त्तव्यता नहीं रह जाती, किन्तु अग्निहोत्र कभी समाप्त नहीं होता। सायं अग्निहोत्र कर चुकने पर अग्निहोत्री की यह भावना होती है कि प्रातः फिर करूँगा, प्रातः अग्निहोत्र करके वह यह सोचता है कि सायं फिर करूँगा। जो इस प्रकार अग्निहोत्र को अन्त न होनेवाला मानकर करता है, वह अनन्त श्री और प्रजावाला हो जाता है।" ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश (समु० ३) में लिखा है—"होम का करना अत्यावश्यक है......आर्यवर शिरोमणि महाशय ऋषि-महर्षि, राजे-महाराजे लोग बहुत-सा होम करते और कराते थे। जब तक होम करने का प्रचार रहा, तबतक आर्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी प्रचार हो, तो वैसा ही हो जाए।"

सन्ध्या की भाँति अग्निहोत्र भी सायं-प्रातः दोनों समय करना चाहिए। सायंकाल में हुतद्रव्य प्रातःकाल तक और प्रातःकाल में हुतद्रव्य सायंकाल पर्यन्त जलवायु की शुद्धि द्वारा बल, बुद्धि तथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—(सूर्य्यो०) यश्चराचरात्मा, ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः, सूर्य्यः सर्वप्राःण परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजगदुपकारायैकाहुतिं दद्मः ॥१॥

(सूर्य्यो व०) यो वर्च्चः सर्वविदां ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां वर्च्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा सर्वात्मा सूर्य्यः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥२॥

(ज्योतिः सू०) यः स्वयम्प्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्य्यो जगदीश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥३॥

(सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्य्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्य्यप्रकाश-वत्योषसाऽथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोऽस्ति, सः (जुषाणः) सम्प्रीत्या वर्त्तमानः सन् (सूर्य्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् (वेतु) विद्यादिसद्‌गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु, तस्मै० ॥४॥

इमाश्चतस्र आहुतिः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्ति ।

अथ सायंकालाहुतयः—(अग्निर्ज्योतिः०) यो ज्ञानस्वरूपो ज्योतिषां ज्योतिरग्निः परमेश्वरो-ऽस्ति, तस्मै० ॥१॥

आरोग्य प्रदान करनेवाला होता है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०।६३।१) में लिखा है—'अग्निहोत्रं सायंप्रातर्गृहाणां निष्कृतिः'। सायं प्रातः अग्निहोत्र करने से घरों का उद्धार होता है।

प्रातः और सायं से कौन-से विशिष्ट काल अग्निहोत्र के लिए अभिप्रेत है, इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में निम्न संकेत दिये हैं—

१.—स० प्र० समु० ३—सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व अग्निहोत्र करने का भी समय है।

२—स० प्र० समु० ४—दिन और रात्रि की सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए।

३—सं० विधि (गृहाश्रम)—जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें। इसी प्रकार दोनों स्त्री-पुरुष अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें।

४—पञ्च म० वि०—ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धि समय में नित्य उपासना करें। .....सन्ध्योपासन के पश्चात् अग्निहोत्र का समय है।

इन वचनों पर दृष्टिपात कमने से ज्ञात होता है कि—

क—सन्ध्योपासना दोनों समय सन्धिवेलाओं में की जाती है।

ख—दोनों समय सन्ध्योपासना के पश्चात् ही अग्निहोत्र का समय है।

ग—प्रातःकालीन अग्निहोत्र सन्धिवेला अर्थात् उषःकाल के व्यतीत हो जाने पर सूर्योदय के पश्चात् करना चाहिए।

घ—सायंकालीन अग्निहोत्र सूर्यास्त से पूर्व करना लिखा है।

परन्तु जब सन्ध्योपासना सायं सन्धिकाल में की जाएगी और अग्निहोत्र उसके पश्चात् करना होगा, तब अग्निहोत्र सूर्यमण्डल के अस्त हो जाने पर ही घटित हो सकता है। इस स्थिति में 'सूर्यास्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अग्निर्वर्च्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥२॥

"अग्निर्ज्योतिर्" इत्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया । तदर्थश्च पूर्ववत् ॥३॥

(सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति, यश्चेन्द्रवत्या वायुचन्द्रवत्या रात्र्या सह वर्त्तते सोऽग्निः (जुषाणः) सम्प्रीतोऽस्मान् वेतु) नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु, तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ॥४॥

एताभिः (आहुतिभिः) सायंकालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति, एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा ।

भाषार्थ—(सूर्य्यो ज्यो०) जो चराचर का आत्मा, प्रकाशस्वरूप और सूर्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करनेवाला है, उसकी प्रसन्नता के लिए हम लोग होम करते हैं ॥१॥

(सूर्यो वर्च्चो०) सूर्य जो परमेश्वर है, वह हम लोगों को सब विद्याओं का देनेवाला और हमसे उनका प्रचार करानेवाला है, उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं ॥२॥

(ज्योतिः सू०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करनेवाला सूर्य अर्थात् संसार का ईश्वर है, उसकी प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं ॥३॥

(सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और दिन के साथ संसार का परमहितकारक है, वह हम लोगों को विदित होकर हमारे किये हुए होम को ग्रहण करे ॥४॥

इन चार आहुतियों से प्रातःकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं ।

से पूर्व अग्निहोत्र का समय है'—यह वचन आपाततः असंगत प्रतीत होता है । इसकी संगति इस प्रकार लग सकती है कि पूर्ण सूर्यास्त तब समझना चाहिए, जब आकाश में तारे दीखने आरम्भ हो जाएँ, क्योंकि सायंकालीन अग्निहोत्र तारादर्शन से पूर्व ही करना अभीष्ट है, अतः वह 'सूर्यास्त से पूर्व' ही कहलाएगा, किन्तु सूर्यमण्डल के क्षितिज में अस्त होने के पश्चात् होगा ।

पितृयज्ञ

गृहस्थ के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए मनुस्मृति में लिखा है—

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥—मनु० ३।११६

अर्थात् गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह देव, ऋषि, मनुष्य, पितर आदि सबको सत्कृत करने के पश्चात् शेष अन्न का भोजन करे, क्योंकि—

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशिनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ – मनु० ३।११८

जो केवल अपने लिए पकाता है, वह निरा पाप खाता है । जो यज्ञादि से शेष भोजन है, वही सज्जनों का भोजन है । मनु का यह वचन मानो वेद के **'केवलाघो भवति केवलादी'** (ऋ० १०।११७।६) की व्याख्या है ।

सत्कार के योग्य मनुष्यों को यहाँ मुख्यतः तीन कोटियों में रक्खा गया है—देव, ऋषि और पितर । देवतर्पण के सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है –

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब सायंकाल की आहुति के मन्त्र कहते हैं—(अग्निर्ज्यो०) अग्नि जो ज्योतिस्वरूप परमेश्वर है, उसकी आज्ञा से हम लोग परोपकार के लिए होम करते हैं और उसका रचा हुआ यह भौतिक अग्नि इसलिए है कि वह उन द्रव्यों को परमाणु रूप करके वायु और वर्षाजल के साथ मिलाके शुद्ध कर दे जिससे सब संसार को सुख और आरोग्यता की वृद्धि हो ॥१॥

(अग्निर्वर्च्चो०) अग्नि परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला, और भौतिक अग्नि आरोग्यता और बुद्धि का बढ़ानेवाला है। इसलिए हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं। यह दूसरी आहुती है ॥२॥

तीसरी मौन होके प्रथम मन्त्र से करनी ॥३॥

और चौथी (सजूर्देवेन०) जो अग्नि=परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और रात्रि के साथ संसार का परमहितकारक है, वह हमको विदित होकर हमारे किये हुए होम का ग्रहण करे ॥४॥

"ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम्। (आश्वलायनगृह्यसूत्र ६।४, पारस्करपरिशिष्ट क० ३) इति देवतर्पणम्।

विद्वा ँ सो हि देवाः' यह शतपथ ब्राह्मण (३।७।३।१०) का वचन है। जो विद्वान् है, उन्हीं को देव कहते हैं। जो साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों के जाननेवाले हों उन्हीं का नाम ब्रह्मा और जो उनसे न्यून पढ़े हों, उनका भी नाम देव अर्थात् विद्वान् है। उनके सदृश विदुषी स्त्री ब्रह्माणी देवी और उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों, उनकी सेवा करना है, उसका नाम श्राद्ध और तर्पण है।"

भिन्न-भिन्न कालों में देवादि शब्दों की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की जाती रही हैं, किन्तु सबका निष्कर्ष एक-सा ही है। यहाँ हम बोधायनगृह्यसूत्र २।९ में उपलब्ध परिभाषाएँ दे रहे हैं— "उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किंचिदधीत्य ब्राह्मणी, एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः, अङ्गाध्याय्यनूचानः, कल्पाध्यायी ऋषिकल्प, सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः, चतुर्वेदादृषिः, अतः ऊर्ध्वं देवः।" अर्थात् जिसका केवल यज्ञोपवीत हुआ हो ऐसा ब्रह्मचर्यव्रतधारी वेदों का कुछ भाग पढ़ने से ब्राह्मण, एक सम्पूर्ण शाखा को पढ़ने से श्रोत्रिय, अङ्गों को पढ़नेवाला अनूचान, कल्प का पढ़नेवाला ऋषिकल्प, सूत्रों और भाष्यों को पढ़नेवाला भ्रूण, चारों वेदों को पढ़ने से ऋषि, उससे आगे देव। इससे प्रतीत होता है कि परम विद्वान् की 'देव' संज्ञा है।

ग्रन्थकार ने यजुर्भाष्य (७।४६) में 'वेदेश्वरवित्' को ब्राह्मण बताया है। मनुस्मृति के अनुसार 'वेदाभ्यासात् ततो विप्रो ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः' तथा पाणिनिसूत्र 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९) के अनुसार वेद के ज्ञाता को ब्राह्मण कहते हैं। दोनों को मिलाकर ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट अर्थ 'वेदेश्वरवित्' निष्पन्न हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।१।१) में लिखा है - 'तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति।" अतिशयेन अनूचानोऽनूचानतमः 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (पा० ५।३।५५) विदेह जनक ने जानना चाहा कि सभा में उपस्थित ब्राह्मणों में 'अनुचानतम' कौन है। यहाँ अतिशय अनूचान को 'अनूचानतमः'=सबसे बड़ा विद्वान् कहा है। पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ के अनुसार "आचार्यमुखान्निःसृतानि वचनानि योऽनुब्रवीतीति पश्चात् ब्रवीति सोऽनूचानः। वेदस्यानुवचनं कृतवानित्यर्थः—'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' (पा० ३।२।१०९)। यद्यपि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थाः समानमन्त्राः—

ओम्भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥१॥

ओम्भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥२॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥३॥

ओम्भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥४॥

ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥५॥

ओं सर्वं वै पूर्ण ँ स्वाहा ॥६॥

इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः ।[1]

तथैतरेयब्राह्मणे पञ्चमपञ्जिकायामेकत्रिंशत्तमायां कण्डिकायां च सायंप्रातरग्निहोत्रमन्त्रा 'भूर्भुवः स्वरोम्' इत्यादयो दर्शिताः ॥

भाष्यम्—एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीश्वरस्य नामान्येव वेद्यानि । एषामर्था गायत्र्यर्थे[2] द्रष्टव्याः ।

(सर्वं वै०) हे जगदीश्वर ! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते तद्भवत्कृपयाऽलं भवत्विति हेतोरेतत् कर्म तुभ्यं समर्प्यते ॥

सर्वं एव ब्राह्मणा अनूचानाः सन्ति तथापि तारतम्यं भवत्येव ।" इसके विपरीत जो वेदार्थ का स्वयं साक्षात्कार करते हैं, वे ऋषि कहाते हैं—'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः—निरुक्त १।२०॥ अथवा किसी अभाव को दूर करने के कारण विप्र लोग, अथवा किसी अनुद्घाटित सत्य को अपनी दूरदृष्टि से देख लेने के कारण विचक्षण, नृचक्षस लोग ही ऋषि बन जाते हैं। ऋषि बनाने में दूसरों का कल्याण करने की इच्छा तथा दूसरों को सुख पहुँचाने के कार्य इनके सहायक होते हैं। संक्षेप में जो मानवमात्र का हित चाहता और करता है, वह ऋषि कहाता है—"ऋषिः स यो मनुर्हितो विप्रस्य यावयत्सखः (ऋ० १०।२६।५), भद्रमिच्छन्त ऋषयः (अ० १९।४१।१), ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजान् (ऋ० ३०।१५४।५), तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुः यः प्रथमो दक्षिणया रराध (ऋ०।१०।१०७।६) ।" जो जाना है, उसे दूसरों को जानना, ऋषिकर्म है—'यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः' अत्रैव शतपथब्राह्मण-व्याख्याने (शत० ४।३।४।१९) । (आर्षेयम्) इतश्चानिञः (पा० ४।१।१२२) इति ढक् । कितः (पा० ६।१।१६५) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

---

१. द्र० शिक्षावल्ली अनुवाक ।।

२. अयं संकेतः १९३१ वैक्रमाब्दे बम्बईनगरात् प्रकाशिते सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधाननाम्नि पुस्तके व्याख्यातस्य गायत्रीमन्त्रस्यार्थं प्रति वर्तते । अस्मिन् भूमिकाग्रन्थे यत्रापि पञ्चमहायज्ञविधानस्य निर्देशो वर्तते सं० १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशितं ग्रन्थं प्रत्येव वर्तते, न १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशितं पञ्चमहायज्ञविधिग्रन्थं प्रतीत्युक्तं पुरस्तात् । १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशितो ग्रन्थस्त्वेतत्प्रकरणलेखनानन्तरं प्राकाश्यं गत इति ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं दानं यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम्, ईश्वराज्ञापालनार्थं वा[1] सुगन्धि-पुष्टि-मिष्ट-बुद्धि वृद्धि-शौर्य्य-धैर्य्य-बल-रोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्धचा पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव। अतस्तत्कर्मकर्त्तृणां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमीश्वरानुग्रहश्च भवत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम्।

भाषार्थ—इन मन्त्रों में जो भूः इत्यादि नाम हैं, वे ईश्वर के ही जानो। गायत्री मन्त्र के अर्थ[2] में इनके अर्थ कर दिये हैं।

इस प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों से होम करके अधिक होम करने की इच्छा हो तो, 'स्वाहा' शब्द अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से करें।

जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिए, जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ, होत्र हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे 'अग्निहोत्र' कहते हैं। जो-जो केशर, कस्तूरी आदि सुगन्धि, घृत, दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़, शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि, बल तथा धैर्य्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उसी से सब जीवों को परमसुख होता है। इस कारण अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है, और ईश्वर उनपर अनुग्रह करता है। ऐसे-ऐसे लाभों के अर्थ अग्निहोत्र का करना अवश्य उचित है।

इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः

अथ तृतीयः पितृयज्ञः—

तस्य द्वौ भेदौ स्तः -एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च। तत्र येन कर्मणा विदुषो देवान् ऋषीन् पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत् तर्पणम्। तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत् कर्म संघटचते, नैव मृतकेषु। कुतः? तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात्। तदर्थंकृतकर्मणः[3] प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च। तस्माद् विद्यमानाभिप्रायेणैतत् कर्मोपदिश्यते। सेव्यसेवकसन्निकर्षात् सर्वमेतत् कर्तुं शक्यत इति। तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति—देवाः, ऋषयः, पितरश्च। तत्र देवेषु प्रमाणम् —

अध्यापनमात्र ऋषि बनने का प्रयोजक नहीं। अध्यापकमात्र को आर्षेय नहीं कहा जाता। मनुस्मृति में विना वृत्ति की आकांक्षा के पढ़ानेवाले की आचार्य तथा वृत्ति लेकर पढ़ानेवाले की उपाध्याय संज्ञा है। यद्यपि पढ़ाना सामान्य कर्म है और हर पढ़ानेवाला अध्यापक (Teacher) कहलाता

---

१. 'ईश्वराज्ञापालनार्थं वा' इत्ययं पाठः १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधानेऽपि वर्तते, १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधौ नोपलभ्यते।

२. यह संकेत १९३१ वैक्रमाब्द में बम्बई से प्रकाशित 'सन्ध्यादिसभाष्यपञ्चमहायज्ञविधान' ग्रन्थस्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ की ओर है। इस भूमिकाग्रन्थ में जहाँ-जहाँ भी 'पञ्चमहायज्ञविधान' का उल्लेख है, वह १९३१ वैक्रमाब्द में प्रकाशित ग्रन्थ की ओर है, क्योंकि १९३४ में प्रकाशित पञ्चमहायज्ञविधि ग्रन्थ इस लेख (सं० १९३३) के पश्चात् छपा है।

३. तदर्थं कृतं तदर्थंकृतम्, तदर्थंकृतं च कर्म च तदर्थंकृतकर्म, तस्य।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनन्तुं मा देवजुनाः पुनन्तु मनसा धियः ॥
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ १ ॥ —य० अ० १६। मं० ३६।

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ।। स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत् सत्यम् । तस्मात् ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ।।२।। —श० कां० १। अ० १। ब्रा० १।४/५

विद्वा ꣳ सो हि देवाः ।।३।। —श० कां० ३। अ० ७। ब्रा० ३।१०

अर्थार्षप्रमाणम्—

तं युज्ञं बर्हिषि प्रौक्षुन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ १ ॥

अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्धयेभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ।।२।। श० का० १। अ० ७। ब्रा० २।३

अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ।।३।। —श० कां० १। अ० ४। ब्रा० २।३

भाष्यम्—(जातवेदः) हे परमेश्वर ! (मा) मां (पुनीहि) सर्वथा पवित्रं कुरु। भवन्निष्ठा भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु। तथा (पुनन्तु म०) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु ।।१।।

(द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः—देवो मनुष्यश्चेति। तत्र सत्यं चैवानृतं च कारणे स्तः। (सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं सत्यमानं सत्यकर्म तदेव देवा आश्रयन्ति। तथैवानृतवचनमनृतमानमनृतं कर्म चेति मनुष्याश्चेति। अत एव योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति, स देवः परिगण्यते। यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतमुपैति, स मनुष्यश्च, अतः सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्य्याच्च। यः सत्यव्रतो देवोऽस्ति, स एव यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च ।।२।।

(विद्वा०) तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति ।।३।।

है, तथापि उत्तरोत्तर योग्यता और क्षमता के आधार पर वर्त्तमान में तारतम्य से प्राध्यापक (Lecturer), उपाचार्य (Reader) तथा आचार्य (Professor) संज्ञाएँ नियत हैं। जिस प्रकार प्रत्येक पढ़ानेवाला प्रोफ़ेसर नहीं कहलाता, उसी प्रकार ऋषि कर्म (अध्यापन) में प्रवृत्त प्रत्येक व्यक्ति 'आर्षेय' नहीं कहलाता। उपर्युक्त लक्षणों से युक्त ऋषिसंज्ञक मनुष्य जब अपने ज्ञान का दूसरों में संक्रमण करता है, तभी वह 'आर्षेय' कहलाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(तं यज्ञम्०) इति सृष्टिविद्याविषये व्याख्यातः ॥१॥

(अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं सर्वविद्यां पठित्वा यदनुवचनमध्यापनं कर्मानुष्ठानमस्ति, तदृषिकृत्यं विज्ञायते। तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणैवर्षयः सेवनीया जायन्ते। यत्[1] तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेवाकर्तृभ्य एव सुखकारी भवति। यः सर्वविद्याविद् भूत्वाऽध्यापयति तमेवानूचानमृषिमाहुः ॥२॥

(अथार्षेयं प्रवृ०) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते। य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा[2] नित्यं विद्यामधीते, स विद्वान् महावीर्य्यो भूत्वा, यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्राप्त्) प्राप्नोति। तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्य्यम् ॥३॥

भाषार्थ—अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं। उसके दो भेद हैं—एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध। उनमें से जिन कर्म के द्वारा विद्वान्रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, सो 'तर्पण' कहाता है, तथा जो उन लोगों को श्रद्धापूर्वक सेवा करना है, उसी को 'श्राद्ध' जानना चाहिए। यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हों में घटता है, मरे हुओं में नहीं, क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है। इसलिए उनकी सेवा नहीं हो सकती, तथा जो उनके लिए कोई पदार्थ दिया चाहे, वह भी उनको नहीं मिल सकता। इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम 'तर्पण' और 'श्राद्ध' वेदों में कहा है, क्योंकि सेवा करने के योग्य और सेवा करनेवाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है, दूसरे प्रकार से नहीं। सो तर्पण आदि कर्म से सत्कार करने योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर। देवों में प्रमाण—

(पुनन्तु०) हे जातवेद परमेश्वर! आप सब प्रकार से मुझे पवित्र कीजिए, और जो आपके उपासक आपकी आज्ञा पालते हैं, अथवा जोकि विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाते हैं, वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें, और आपके दिये विशेष ज्ञान वा आपके विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियाँ पवित्र हों तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) सब संसारी जीव आपकी कृपा से पवित्र होकर आनन्द में रहें ॥१॥

(द्वयं वा०) दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञाएँ होती हैं, अर्थात् एक देव और दूसरी मनुष्य। उनमें भेद होने के सत्य और झूंठ दो कारण हैं। (सत्यमेव०) जो कोई सत्यभाषण, सत्यस्वीकार और सत्यकर्म करते हैं वे देव, तथा जो झूंठ बोलते, झूंठ मानते और झूंठ कर्म करते हैं, वे मनुष्य कहाते हैं। इसलिए झूंठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना सबको उचित है। इस कारण से बुद्धिमान् लोग निरन्तर सत्य ही कहें, मानें और करें, क्योंकि सत्यव्रत आचरण करनेवाले जो देव हैं, वे तो कीर्तिमानों में भी कीर्त्तिमान् होके सदा आनन्द में रहते हैं, परन्तु उनसे विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं ॥२॥

(विद्वा०) इससे सत्यधारी विद्वान् ही देव कहाते हैं ॥३॥

श्राद्ध तथा तर्पण के योग्य पितरसंज्ञक पुरुषों की विभिन्न कोटियों का उल्लेख बृहत्प-राशरस्मृति में इस रूप में मिलता है—

सोमसदोऽग्निष्वात्ताश्च तथा बर्हिषदोऽपि च।
सोमपाश्च तथा विद्वंस्तथैव च हविर्भुजः॥

---

१. यदध्ययनाध्यापनाख्यं प्रियं कर्म य आचरन्तीत्यभिप्रायः।

२. क्त्वापिच्छन्दसि (अष्टा० ७।१।३८) सूत्रे पुनः क्त्वाग्रहणात् योगविभागोऽत्र द्रष्टव्यः। तेन समासे ल्यब्भवति क्त्वा च इत्यर्थो ज्ञाप्यते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ऋषियों में प्रमाण—

(त यज्ञं०) इस मन्त्र का व्याख्यान सृष्टिविद्याविषय में कर दिया है ॥१॥

(अथ यदेवा०) जो सब विद्याओं को पढ़के औरों को पढ़ाना है, यह ऋषिकर्म कहाता है और उससे जितना कि मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण हो, उस सबकी निवृत्ति उनकी सेवा करने से होती है। इससे जो नित्य विद्यादान ग्रहण और सेवा कर्म करना है, वही परस्पर आनन्दकारक है और यही व्यवहार (निधिगोप) अर्थात् विद्याकोष का रक्षक है ॥२॥

(अथार्षेयं प्रवृ०) विद्या पढ़के सबको पढ़ानेवाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करनेवाला विद्वान् बहुपराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। इससे आर्षेय अर्थात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें ॥३॥

अथ पितृषु प्रमाणम्—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ १ ॥

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ २ ॥

भाष्यम्—(ऊर्जं वहन्ती०) सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येवं जानीयुश्चाज्ञापयेयुः—(मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीनाचार्य्यादींश्च सर्वे यूयं (तर्पयत) सेवया प्रसन्नान् कुरुतेति। तथा (स्वधा स्थ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत। केन केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह—(ऊर्जं) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिताः प्रिया हृद्या अपः, (अमृतम्) अमृतात्मकमनेकविधं रसम्, (घृतम्) आज्यम्, (पयः) दुग्धं, (कीलालम्) संस्कारैः सम्पादितमनेकविधमन्नम्, (परिस्रुतम्) माक्षिकं मधु कालपक्वं फलादिकं च निवेद्य पितॄन् प्रसन्नान् कुर्य्यात् ॥१॥

ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः, सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः (अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतयाऽऽत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः, तथा होमकरणार्थं शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते (पितरो) विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति। (आयन्तु नः) ते अस्मत्समीपमागच्छन्तु। वयं च तत्सामीप्यं नित्यं गच्छेम। (पथिभिर्दे०) तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय 'हे पितरो! भवन्त आयन्तु' इत्युक्त्वा, प्रीत्याऽऽसनादिकं निवेद्य, नित्यं सत्कुर्य्याम। (अस्मिन्०) हे पितरोऽस्मिन् सत्काररूपे यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मदन्तो०) हर्षन्तोऽस्मान् रक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तूपदिशन्तु ॥२॥

आज्यपाश्च तथा वत्स तथा ह्यन्ये सुकालिनः।
एते चान्ये च पितरः पूज्याः सर्वे द्विजातिभिः ॥

—बृ० प० स्मृति ७।१६७-१६८

ग्रन्थकार ने पञ्चमहायज्ञविधि के संवत् १९३१ के संस्करण में विस्तारपूर्वक इनकी व्याख्या की है। संवत् १९३४ के संस्करण में संक्षेप में इनका निर्देश किया है। १९३१ के संस्करण के अनुसार सत्यार्थप्रकाश (समु० ४) में यह विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(**ऊर्ज्जं वह०**)। पिता वा स्वामी अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री और नौकरों को इस प्रकार आज्ञा देवें कि—(**तर्पयत मे०**) जो-जो हमारे मान्य पिता पितामहादि, माता मातामहादि और आचार्य तथा इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग, जो अवस्था वा ज्ञान में बड़े और मान्य करने योग्य हैं, तुम लोग उनकी (**ऊर्जं०**) उत्तम-उत्तम जल, (**अमृतम्**) रोगनाश करनेवाले उत्तम अन्न, (**परिस्रुतम्**) सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो कि जिससे वे प्रसन्न होके तुम लोगों को सदा विद्या देते रहें, क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे। (**स्वधा स्थ०**) और ऐसा विनय सदा रक्खो कि हे पूर्वोक्त पितर लोगो! आप हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से तृप्त हूजिए, और हम लोग जो-जो पदार्थ आप लोगों की इच्छा के अनुकूल निवेदन कर सकें, उन-उन की आज्ञा किया कीजिए। हम लोग मन, वचन और कर्म से आपके सुख करने में स्थित हैं, आप किसी प्रकार का दुःख न पाइए, क्योंकि जैसे आप लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है, वैसे ही हमको भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिए कि जिससे हम लोगों को कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो ॥१॥

(**आयन्तु न०**)। 'पितृ' शब्द से सबके रक्षक श्रेष्ठस्वभाववाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है, क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है, वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं। इसलिए जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उनके अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करनेवाले हैं, उनको 'पितर' कहते हैं। उनके सत्कार के लिए मनुष्यमात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है, कि वे उन आते हुए पितर लोगों को देखकर अभ्युत्थान अर्थात् उठके प्रीतिपूर्वक कहें कि—'आइए! बैठिए! कुछ जल-पान कीजिए और खाने-पीने की आज्ञा दीजिए। पश्चात् जो-जो बातें उपदेश करने के योग्य हैं, सो-सो प्रीतिपूर्वक समझाइए कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्यायुक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें।

और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर! आपके अनुग्रह से (**सौम्यासः**) जो शान्तस्वभाव और सबको सुख देनेवाले विद्वान् लोग (**अग्निष्वात्ताः**) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुणवाले भौतिक अग्नि की अलग-अलग करनेवाली विद्युत् रूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं, वे इस विद्या और सेवा-यज्ञ में (**स्वधया मदन्तः**) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित होके (**अवन्त्वस्मान्**) हमारी रक्षा करें, तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिए भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब-जब वे आवें तब तब उनको उत्थान, नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रक्खें, तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें। ऐसे सब लोग छल और लोभादि रहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्यव्यवहार रक्खें (**पथिभिर्देवयानैः** उक्त भद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं एक देवयान और दूसरा पितृयान, अर्थात् जो विद्या मार्ग है वह देवयान, और जो कर्मोपासनामार्ग है वह पितृयान कहाता है। सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें ॥२॥

"ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्। अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्। बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्। सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम्। आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। सुकालिन पितरस्तृप्यन्ताम्। यमादिभ्यो नमः यमादींस्तर्पयामि। पित्रे स्वधा नमः पितरं तर्पयामि। पितामहाय स्वधा नमः पितामहं तर्पयामि। प्रपितामहाय स्वधा नमः प्रपितामहं तर्पयामि। मात्रे स्वधा नमो मातरं तर्पयामि। पितामह्यै स्वधा नमः पितामहीं तर्पयामि। प्रपितामह्यै स्वधा नमः प्रपितामहीं तर्पयामि।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् ।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ॥३॥

नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय
नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः
पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः ॥५॥

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥५॥—य० अ० २ । मं० ३ -३३

भाष्यम्—(अत्र पितरो०) हे पितरोऽत्रास्यां सभायां पाठशालायां वाऽस्मान् विद्याविज्ञानदानेनानन्दयुक्तान् कुरुत । (यथाभागम्) भजनीयं स्वं स्वं विद्यारूपं भागं (आवृषायध्वम्) विद्वद्वत्स्वीकृत्य (अमीमदन्त) अस्मिन् सत्योपदेशे विद्यादानकर्मणि हर्षेण सदोत्साहवन्तो भवत। (यथाभागमा०) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रसन्नाः सन्तो विचरत ॥३॥

(नमो वः०) हे पितरः ! रसाय सोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय, (नमो वः पितरः०) शोषायाग्निवायुविद्याप्राप्तये, (नमो वः पितरो जो०) जीवनार्थं विद्याजीविकाप्राप्तये, (नमो वः पितरः स्व०) मोक्षविद्याप्राप्तये, (नमो वः०) आपत्कालनिवारणाय, (नमो वः) दुष्टानामुपरि क्रोधधारणाय, क्रोधस्य निवारणाय च, (नमो वः पितरः०) सर्वविद्याप्राप्तये च युष्मभ्यं वारं वारं नमोऽस्तु । (गृहान्न०) हे पितरो गृहान् गृहसम्बन्धिव्यवहारबोधान् नोऽस्मभ्यं यूयं दत्त । (सतो वः०) हे पितरो येऽस्माकमधिकारे विद्यमानाः पदार्थाः सन्ति, तान् वयं वो युष्मभ्यं (देष्म) दद्मो, यतो वयं कदाचिद् भवद्भ्यो विद्यां प्राप्य क्षीणा न भवेम । (एतद्वः पितरः० हे पितरोऽस्माभिर्यद्वासो वस्त्रादिकं वस्तु युष्मभ्य दीयते एतद् यूयं प्रीत्या गृह्णीत ॥४॥

(आधत्त पितरो०) हे पितरः ! यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत । तथा विद्यादानार्थं (पुष्करस्रजम्) पुष्पमालाधारिणं[1] (कुमारम्) ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत । (यथेह०) येन प्रकारेणेहास्मिन् संसारे विद्यासुशिक्षायुक्तः पुरुषोऽसत् स्यात् । येन च मनुष्येषूत्तमविद्योन्नतिभवेत् तथैव प्रयतध्वम् ॥५॥

भाषार्थ—(अत्र पितरो मा०) हे पितर लोगो ! आप यहाँ हमारे स्थान में आनन्द कीजिए । (यथाभागमावृ०) अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन, वस्त्रादि भोग से आनन्दित हूजिए । (अमीमदन्त पितरः) आप यहाँ विद्या के प्रचार से सबको आनन्दयुक्त कीजिए । (यथाभागमा०) हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर, अपनी प्रसन्नता के प्रकाश से हमको भी आनन्दित कीजिए ॥३॥

(नमो वः०) हे पितर लोगो ! हम लोग आपको नमस्कार करते हैं, इसलिए कि आपके द्वारा हमको रस अर्थात् विद्यानन्द, ओषधि और जल विद्या का यथावत् ज्ञान हो, तथा (नमो वः०) शोध अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या कि जिससे ओषधि और जल सूख जाते हैं, उसके बोध होने के लिए

स्वपत्न्य स्वधा नमः स्वपत्नीं तर्पयामि । सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः सम्बन्धिनस्तर्पयामि । सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः सगोत्रांस्तर्पयामि । इति पितृतर्पणम् ।"

'ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः' जो परमात्मा और पदार्थविद्या में निपुण हों, वे 'सोमसद्' । यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते अग्निष्वात्ताः' जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि

१—ब्रह्मचारिणां स्रग्धारणं प्रतिषिद्धं धर्मशास्त्रेषु । तेनात्र लुप्तोपमया पुष्पमालेव यज्ञोपवीतमभिप्रेतं स्यात् धर्मशास्त्रानुसारं यज्ञोपवीतमपि दैवकर्मव्यतिरिक्ते काले स्रगिव कण्ठे धार्यते । यथा सम्प्रति यज्ञोपवीतं धार्यते तस्य केवलं दैवकर्मण्येव विधानं दृश्यते, न सर्वकाले । भाषापदार्थोऽत्र स्पष्टः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हम आपको नमस्कार करते हैं। **(नमो वः०)** हे पितर लोगो ! आपकी सत्यशिक्षा से हम लोग प्रमादरहित और जितेन्द्रिय होके पूर्ण उमर को भोगें। इसलिए हम आपको नमस्कार करते हैं। **(नमो वः०)** हे विद्वान् लोगो ! अमृतरूप मोक्षविद्या की प्राप्ति के लिए हम आपको नमस्कार करते हैं **(नमोः०)** हे पितरो ! घोर विपत् अर्थात् आपत्काल में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दु:खों के पार उतरने के लिए हम लोग आपकी सेवा करते हैं। **(नमो वः०)** हे पितरो ! दुष्ट जीव और दुष्ट कर्मों पर नित्य अप्रीति करने की विद्या सीखने के लिए हम आपको नमस्कार करते हैं। **(नमो वः०)** हम आप लोगों को वारंबार नमस्कार इसलिए करते हैं कि गृहाश्रम आदि करने के लिए जो-जो विद्या अवश्य हैं, सो-सो अब आप लोग हमको देवें। **(सतो वः०)** हे पितर लोगो ! आप सब गुणों और सब संसारी सुखों के देनेवाले हैं, इसलिए हम लोग आपको उत्तम-उत्तम पदार्थ देते हैं, इनको आप प्रीति से लीजिए, तथा प्रतिष्ठा के लिए उत्तम-उत्तम वस्त्र भी देते हैं, इनको आप धारण कीजिए और प्रसन्न होके सबके सुख के अर्थ संसार में सत्यविद्या का प्रचार कीजिए ॥४॥

(आधत्त पितरो०) हे विद्या के देनेवाले पितर लोगो ! इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रक्षा करके उत्तम विद्या दीजिए, कि जिससे वह विद्वान् होके **(पुष्करस्र०)** जैसे पुष्पों की माला धारण करके मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे। **(यथेह पुरुषोऽसत्)** अर्थात् जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि सद्गुणों से उत्तम कीर्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके, वैसा ही प्रयत्न सब आप लोग सदा कीजिए। यह ईश्वर की आज्ञा विद्वानों के प्रति है। इसलिए मनुष्यों को उचित है कि इसका पालन सदा करते रहें ॥५॥

ये स॒मा॒नाः सम॑नसो जी॒वा जी॒वेषु॑ माम॒काः ।
तेषा॒ᳪ श्रीर्मयि॑ कल्पताम॒स्मिँल्लो॒के श॒तᳪ समाः ॥६॥—य० अ० १९। मं० ४६॥

उदी॑रता॒मव॑र॒ऽउत्परा॑स॒ऽउन्म॑ध्य॒माः पि॒तर॑ः सो॒म्यास॑ः ।
असुं॒ यऽई॒युर॑वृ॒काऽऋ॑त॒ज्ञास्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥७॥

अङ्गि॑रसो नः पि॒तरो॒ नव॑ग्वा॒ऽअथ॑र्वाणो॒ भृग॑वः सो॒म्यास॑ः ।
तेषां॑ व॒यᳪ सु॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒मपि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥८॥—य.अ. १९। मं. ४९-५०॥

ये स॒मा॒नाः सम॑नसः पि॒तरो॑ यम॒राज्ये॑ ।
तेषां॑ लो॒कः स्व॒धा नमो॑ य॒ज्ञो दे॒वेषु॑ कल्पताम् ॥९॥ —य० अ० १९। मं० ४५॥

भाष्यम्—**(ये समानाः०)** ये **(मामकाः)** मदीया आचार्य्यादयः, **(जीवाः)** विद्यमानजीवनाः, **(समनसः)** धर्मेश्वरसर्वमनुष्यहितकरणैकनिष्ठाः, **(समानाः)** धर्मेश्वरसत्यविद्यादिशुभगुणेषु समानत्वेन वर्त्तमानाः, **(जीवेषु)** उपदेश्येषु शिष्येषु सत्यविद्यादानाय छलादिदोषराहित्येन वर्त्तमाना विद्वांसः सन्ति, **(तेषां०)** विदुषां या श्रीः सत्यविद्यादिगुणाढ्या शोभास्ति, **(अस्मिँल्लोके शतं०)** सामयिकी लक्ष्मीः शतवर्षपर्य्यन्तं, **कल्पताम्)** स्थिरा भवतु, यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम ॥६॥

पदार्थों के जाननेवाले हों, वे 'अग्निष्वात्त'। 'ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः' जो उत्तम विद्यावृद्धियुक्त व्यवहार में स्थित हों, वे 'बर्हिषद्'। 'ये सोममैश्वर्यमोषधिरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः' जो ऐश्वर्य के रक्षक, और महौषधरस का पान करने से रोगरहित और अन्य के ऐश्वर्य के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(उदीरतामवरे०) ये पितरोऽवकृष्टगुणाः, (उत्परासः) उत्कृष्टगुणाः, (उन्मध्यमाः) मध्यस्थगुणाः, (सोम्यासः) सोम्यगुणाः, (अवृकाः) अजातशत्रवः, (ऋतज्ञाः०) ब्रह्मविदो वेदविदश्च, ते ज्ञानिनः पितरो (हवेषु) देयग्राह्यव्यवहारेषु, विज्ञानदानेन (नोऽवन्तु) अस्मान् सदा रक्षन्तु। तथा (असुं य ईयुः) येऽसुं प्राणमीयुः प्राप्नुयुरर्थाद् द्वाभ्यां जन्मभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमानजीवनास्स्युस्त एव सर्वैः सेवनीयाः, नैव मृताश्चेति। कुतः? तेषां देशान्तरप्राप्त्या सन्निकर्षाभावात् ते सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च ॥७॥

(अङ्गिरसो नः) येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः, (नवग्वाः) सर्वासु विद्यासूत्तमकर्मसु च नवीना गतयो येषां ते। अत्राह निरुक्तकारः—अङ्गिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वा (११।१९) (अथर्वणः) अथर्ववेदविदो धनुर्वेदविदश्च, (भृगवः) परिपक्वज्ञानाः शुद्धाः, (सोम्यासः) शान्ताः सन्ति (तेषां वय ँ् सुमतौ०) वयं तेषां यज्ञियानां यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानाम्, अपीति निश्चयेन, सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे, (भद्रे) कल्याणकरे व्यवहारे, (सौमनसे) यत्र विद्यानन्दयुक्तं मनो भवति तस्मिन् (स्याम) अर्थाद् भवतां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेम ॥८॥

(ये समानाः) (समनसः) अनयोरर्थ उक्तः। ये (यमराज्ये) राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधिकृताः (पितरः) विद्वांसः सन्ति, (तेषां लोकः०) यो न्यायदर्शनं स्वधा अमृतात्मको लोको भवतीति, (यज्ञो०) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोऽस्ति, सोऽस्माकं मध्ये (कल्पताम्) समर्थतां प्रसिद्धो भवतु। य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति तेभ्यो (नमः) नमोऽस्तु, अर्थाद् ये सत्यन्यायाधीशास्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु ॥९॥

भाषार्थ—(ये समानाः०) जो आचार्य्य (जीवाः) जीते हुए, (समनसः) धर्म, ईश्वर और सर्वहित करने में उद्यत (समानाः) सत्यविद्यादि शुभ गुणों के प्रचार में ठीक-ठीक विचार और (जीवेषु) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्वविद्यादान के लिए छलकपटादिदोषरहित होकर प्रीति करनेवाले विद्वान् हैं, (तेषां०) उनकी जो श्री अर्थात् सत्यविद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्त शोभा और राज्यलक्ष्मी है, सो मेरे लिए (अस्मिल्लोके शतं समाः) इस लोक में १०० सौ वर्ष पर्य्यन्त स्थिर रहें, जिससे हम लोग नित्य सुखसंयुक्त होके पुरुषार्थ करते रहें ॥६॥

(उदीरताम०) जो विद्वान् लोग (अवरे) कनिष्ठ, (उन्मध्यमाः) मध्यम और (उत्परासः) उत्तम, (पितरः सोम्यासः चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आनन्द करानेवाले, (असुं य ईयुः) प्राणविद्यानिधान, (अवृकाः) शत्रुरहित अर्थात् सबके प्रिय, पक्षपात छोड़के सत्यमार्ग में चलनेवाले, तथा (ऋतज्ञाः) जोकि ऋत अर्थात् ब्रह्म, यथार्थ धर्म और सत्य विद्या के जाननेवाले हैं, (ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु) वे पितर लोग युद्धादि व्यवहारों में हमारे साथ होके अथवा उनकी विद्या देके हमारी रक्षा करें ॥ ७ ॥

(अङ्गिरसो नः) जो ब्रह्माण्डभर के पृथिव्यादि सब अङ्गों की मर्मविद्या के जाननेवाले, (नवग्वा) नवीन-नवीन विद्याओं के ग्रहण करने और करानेवाले, इसमें निरुक्तकार का प्रमाण, अ० ११ खं० १९ निरुक्त में लिखा है—'अङ्गिरसो नवगतयो' इत्यादि वहाँ देख लेना। (अथर्वाणः) अथर्ववेद

रक्षक, औषधों को देके रोगनाशक हों, वे 'सोमपाः'। 'ये हविर्होतुमत्तुमर्हं भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः' जो मादक और हिंसाकारक द्रव्यों को छोड़के भोजन करनेहारे हों, वे 'हविर्भुजः'। 'य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं रक्षन्ति वा पिबन्ति वा त 'आज्यपाः' जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक और घृतदुग्धादि खाने और पीनेहारे हों, वे 'आज्यपा'। शोभनः कालो विद्यते येषां ते सुकालिनः' जिनका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और धनुर्वेदविद्या में चतुर, तथा दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण, (**भृगवः**) परिपक्व-ज्ञानी और तेजस्वी, (**सोम्यासः**) जो परमेश्वर की उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्तिस्वरूप (**तेषां वय॑ सुमतौ०**) तथा यज्ञ के जानने और करनेवाले पितर हैं, तथा जिस कल्याणकारक विद्या से उनकी सुमति, (**भद्रे**) कल्याण और (**सौमनसे**) मन की शुद्धि होती है, उनमें (**अपि स्याम**) हम लोग भी स्थिर हों कि जिसके बोध से व्यवहार और परमार्थ के सुखों को प्राप्त होके सदा आनन्दित रहें ।।८।।

(**ये समा०**) जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग (**यमराज्ये**) अर्थात् परमेश्वर के इस राज्य में सभासद् वा न्यायाधीश होके न्याय करनेवाले (**समनसः पितरः**) सब सृष्टि के हित करने में समानबुद्धि हैं, **तेषां लोकः स्वधा**) जिनका लोक अर्थात् देश सत्यन्याय को प्राप्त होके सुखी रहता है, (**नमः**) उनको हम लोग नमस्कार करते हैं, क्योंकि वे पक्षपातरहित होके सत्यव्यवस्था में चलके, अपने दृष्टान्त से औरों को भी उसी मार्ग में चलानेवाले हैं। (**यज्ञो देवेषु कल्पताम्**) यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालन-रूप जो अश्वमेध यज्ञ है, सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की उन्नति के लिए सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान बना रहे ।।९।।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः सꣳ रराणो हवीꣳष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ।।१०

बर्हिषदः पितरऽऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
तऽआ गतावसा शंतमेनाथा नः शं योररपो दधात ।।११।।

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ २।।ऽअवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्तऽइहागमिष्ठाः ।।१२।।

—य० अ० १९ । मं० ५१, ५५, ५६ ।।

भाष्यम्—(**ये सोम्यासः**) सोमविद्यासम्पादिनः, (**वसिष्ठाः**) सर्वविद्याद्युत्तमगुणेष्वतिशयेन रममाणाः, (**सोमपीथम्**) सोमविद्यारक्षणं (**अनूहिरे**) पूर्वं सर्वा विद्याः पठित्वाऽध्याप्य तांस्ता अनुप्रापयन्ति, ते (**नः पूर्वे पितरः**) येऽस्माकं पूर्वे पितर सन्ति, (**तेभिः**) तैः, (**उशद्भिः**) परमेश्वरं धर्मं च कामयमानैः पितृभिः सह समागमेनैव (**सꣳ रराणः**) सत्यविद्यायाः सम्यग्दानकर्त्ता (**यमः**) सत्यविद्या-व्यवस्थापकः परमेश्वरो विदितो भवति। किं कुर्वन्? (**हवीꣳषि०**) विज्ञानादीन्युशन् सर्वेभ्यो दातुं कामयन् सन्, अतः सर्वो जन एवमाचरन् सन् (**प्रतिकाममत्तु**) सर्वान् कामान् प्राप्नोतु ।।१०।।

(**बर्हिषदः**) ये बर्हिषि सर्वोत्तमे ब्रह्मणि विद्यायां च निषण्णास्ते (**पितरः**) विद्वांसः (**अवसा शन्तमेन**) अतिशयेन कल्याणरूपेण रक्षणेन सह वर्त्तमानाः (**आगत**) अस्माकं समीपमागच्छन्तु । आगतान् तान् प्रत्येवं वयं ब्रूमहे हे विद्वांसः! यूयमागत्य (**अर्वाक्**) पश्चात् (**इमा०**) इमानि हव्यानि ग्राह्यदेयानि

अच्छा धर्म करने का सुखरूप समय हो, वे '**सुकालिन**'। '**यं दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः**' जो दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे न्यायकारी हों, वे '**यम**'। '**यः पाति स पिता**' जो सन्तानों का अन्नादि से रक्षक वा जनक हो, वह '**पिता**'। '**पितुः पिता पितामहः, पितामहस्य पिता प्रपितामहः**' जो पिता का पिता हो वह '**पितामह**' और जो पितामह का पिता हो, वह '**प्रपितामह**'। '**या मानयति सा माता**' जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान्य करे, वह '**माता**'। '**या पितुर्माता**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तूनि (जुषध्वम्) सम्प्रीत्या सेवध्वम्। हे पितरः! वयं (ऊत्या) भवद्रक्षणेन (वः) युष्माकं सेवां (चकृम) नित्यं कुर्य्याम। (अथा नः शं०) अथेति सेवाप्राप्तेरनन्तरं, यूयं नोऽस्माकं शंयोर्विज्ञानरूपं सुखं दधात। किन्त्वविद्यारूपं पापं दूरीकृत्वा (अरपः) निष्पापतां दधात। येन वयमपि निष्पापा भवेमेति ॥ ११ ॥

(आहं पितॄन् सुविदत्राँ०)। ये बर्हिषदः (स्वधया) अन्नेन (सुतस्य) सोमवल्ल्यादिभ्यो निष्पादितस्य रसस्य प्राशनं (भजन्ते) सेवन्ते, (पित्वः) तत्पानं कृत्वा (त इहाग०) अस्मिन्नस्मत्सन्निहितदेशे ते पितर आगच्छन्तु। (पितॄन्) य ईदृशाः पितरः सन्ति तान् (सुविदत्रान्) विद्यादिशुभगुणानां दानकर्तॄनहं (आ अवित्सि) आ समन्ताद्वेद्मि। अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदमिडभावश्च। तान् विदित्वा सङ्गत्य च, (विष्णोः) सर्वत्रव्यापकस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणं च) विविधक्रमेण जगद्रचनं तथा (नपातं च) न विद्यते पातो विनाशो यस्य तन्मोक्षाख्यं पदं च वेद्मि। यत्प्राप्य मुक्तानां सद्यः पातो न विद्यते, तदेतच्च विदुषां सङ्गेनैव प्राप्तं भवति। तस्मात् सर्वैर्विदुषां समागमः सदा कर्त्तव्य इति ॥१२॥

भाषार्थ---(ये नः पूर्वे पितरः०) जोकि हमारे पूर्व पितर, अर्थात् पिता, पितामह और अध्यापक लोग शान्तात्मा, तथा (अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) जो सोमपान के करने-कराने और वसिष्ठ अर्थात् सब विद्याओं में रमण करनेवाले हैं, (तेभिर्यमः स ँ र०) ऐसे महात्माओं के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्यायकारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है। हविः = जो सत्य-भक्ति आदि पदार्थों की (उशन्) कामना और (उशद्भिः प्रतिका०) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करनेवाले तथा जिनका आधारभूत परमेश्वर ही है। हे मनुष्य लोगो! ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सत्सङ्ग से तुम भी उसी परमात्मा के आनन्द से तृप्त होओ।

(बर्हिषदः पि०) जो ब्रह्म और सत्यविद्या में स्थित पितर लोग हैं, वे हमारी रक्षा के लिए सदा तत्पर रहें। इस प्रकार से कि हम लोग तो उनकी सेवा करें, और वे लोग हमको प्रीतिपूर्वक विद्यादि दान से प्रसन्न कर देवें। (त आगतावसा०) हे पितर लोगो! हम काङ्क्षा करते हैं कि जब-जब आप हमारे वा हम आपके पास आवें-जावें, तब-तब (इमा वो हव्या) हम लोग उत्तम-उत्तम पदार्थों से आप लोगों की सेवा करें, और आप लोग भी उनको प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें। (अर्वा०) अर्थात् हम लोग तो अन्नादि पदार्थों से, और आप लोग (शंत०) हमारे कल्याणकारी गुणों के उपदेश से, (अथा नः शंयोः) इसके पीछे हमारे कल्याण के विधान से (अरपः०) अर्थात् जिससे हम लोग पाप न करें, ऐसी बातों का धारण कराइए ॥११॥

(आहं पितॄन्) मैं जानता हूँ कि पितर लोग अपनी उत्तम विद्या और अपने उपदेश से सुख देनेवाले हैं। (नपातं च विक्रमणं च विष्णोः) जो मैं सबमें व्यापक परमेश्वर का विक्रमण अर्थात् सृष्टि का रचन, और नपात् अर्थात् उसके अविनाशी पद को भी (आ अवित्सि) ठीक-ठीक जानता हूँ।

सा पितामही, पितामहस्य माता प्रपितामही' जो पिता की माता हो वह **'पितामही'** और जो पितामह की माता हो, वह **'प्रपितामही'**।

अपनी स्त्री तथा भगिनि, सम्बन्धी और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्रपुरुष वा वृद्ध हों, उन सबको अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना अर्थात् जिस-जिस कर्म से उनकी आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे, उस-उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करना, वह **'श्राद्ध'** और **'तर्पण'** कहाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(बर्हिषदो ये) यह ज्ञान मुझको उन्हीं पितर लोगों की कृपा से हुआ है, जिनको देवयान तथा पितृयान कहते हैं, और जिसकी प्राप्ति से जीव पुनः दुःख में कभी नहीं गिरता, तथा जिसमें पूर्ण सुख प्राप्त होता है। उन दोनों मार्गों को भी मैं विद्वानों के संग से ही जानता हूँ। (स्वध०) जो विद्वान् अपने अमृतरूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्यादान करते हैं, तथा उसमें आप भी (पित्वः०) आनन्दित होकर संसार में सब सुखों के देनेवाले होते हैं, वे सर्वहितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें कि जिससे हम लोगों में नित्य ज्ञान की उन्नति हुआ करे ॥१२॥

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
तऽआ गमन्तु तऽइह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥१३॥

अग्निष्वात्ताः पितरऽएह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवीँषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिँ सर्ववीरं दधातन ॥१४॥

येऽअग्निष्वात्ता येऽअनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥१५॥

—य० अ० १९। मं० ५७, ५९, ६०॥

भाष्यम्—(सोम्यासः) ये प्रतिष्ठार्हाः पितरस्ते (बर्हिष्येषु) प्रकृष्टेषु (निधिषु) उत्तमवस्तुस्थापनार्हेषु (प्रियेषु) प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु (उपहूताः) निमन्त्रिताः सन्तः सीदन्तु (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवारमागच्छन्तु। (त इह) त इहागत्यास्मत्प्रश्नान् (श्रुवन्तु) शृण्वन्तु। श्रुत्वा तदुत्तराणि (अधिब्रुवन्तु) कथयन्तु। एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन च (तेऽवन्त्वस्मान्) सदास्मान् रक्षन्तु॥ १३॥

(अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत) हे पूर्वोक्ता अग्निष्वात्ताः पितरः! अस्मत्सन्निधौ प्रीत्या आगच्छत। आगत्य (सुप्रणीतयः) शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषां त एवम्भूता भवन्तः पूज्याः सन्तः (सदः सदः सदत) प्रतिगृहं प्रतिसभां चोपदेशार्थं स्थितिं भ्रमणं च कुरुत। (अत्ता हवीँषि०) प्रयत्नयुक्तानि कर्माणि, देययोग्यान्युत्तमान्नानि वा यूयं स्वीकुरुत। (बर्हिष्यथा) अथेत्यनन्तरं, बर्हिषि सदसि गृहे वा स्थित्वा (रयिँ सर्ववीरं०) सर्वैर्वीरैर्युक्तं विद्यादिधनं यूयं दधातन। यतोऽस्मासु बुद्धिशरीरबलयुक्ता वीराः भवेयुः सत्यविद्याकोशश्च ॥१४॥

पौराणिकमतावलम्बी विद्वान् 'अग्निष्वात्त' शब्द का यह अर्थ करते हैं—'अग्नि ने जिन्हें अच्छी प्रकार से भक्षण कर लिया हो' अर्थात् जिनका दाह संस्कार हो गया हो। इस प्रकार वे इन मन्त्रों में मृत पितरों का निर्देश होने से मृतक-श्राद्ध को वेदसम्मत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, परन्तु यदि यही अर्थ किया जाए तो व्याकरण की दृष्टि से 'अग्निष्वात्त' रूप नहीं बन सकता। व्याकरणानुसार 'अद् भक्षणे' धातु के पीछे जब 'क्त' प्रत्यय आता है तब 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' (पा० २।४।३६) इस अष्टाध्यायी सूत्र से 'जग्ध' रूप होता है। तब तो 'अग्निष्वात्ताः' के स्थान पर 'अग्निसुजग्धाः' यह प्रयोग होना चाहिए था। इस दोष को जानकर कुछ लोग इस 'अग्निष्वात्ताः' शब्द का यह अर्थ करते हैं—'अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः' अग्नि ने जिनका स्वाद ले लिया हो अर्थात् खा लिया हो। उनके मत में इस अर्थ से भी यहाँ मृत पितरों का निर्देश सिद्ध है। इस प्रयोग में वे 'स्वाद' आस्वादने धातु से 'क्त'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ये अग्निष्वात्ताः) ये अग्निविद्यायुक्ताः, **(अनग्निष्वात्ताः)** ये वायुजलभूगर्भादिविद्यानिष्ठाः **(मध्ये दिवः)** द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य सद्विद्याप्रकाशकस्य च मध्ये **(स्वधया)** अन्नविद्यया शरीरबुद्धिबलधारणेन च **(मादयन्ते)** आनन्दिता भूत्वा, अस्मान् सर्वान् जनान् आनन्दयन्ति, **(तेभ्यः)** तेभ्यो विद्वद्भ्यो वयं नित्यं सद्विद्यां तथा **(असुनीतिमेतां)** सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिं च गृह्णीयाम। **(यथावशम्)** ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्त्या सर्वोपकारेषु नियमेषु परतन्त्राः, प्रत्येकप्रियेषु च स्वतन्त्रा भवन्तु। यतः **(स्वराट्)** स्वयं राजते प्रकाशते स्वान् राजयति प्रकाशयति वा स स्वराट् परमेश्वरः, **(तन्वं कल्पयाति)** तनुं विद्वच्छरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयाति, कल्पयतु निष्पादयतु। यतोऽस्माकं मध्ये बहवो विद्वांसो भवेयुः ॥१५॥

भाषार्थ **(उपहूताः पितरः०)** उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं, कि वे हमारे समीप आके **(बर्हिष्येषु०)** उत्तम आसनों पर बैठकर, जोकि बहुमूल्य और देखने में प्रिय हो, हमको उपदेश करें। **(त आगमन्तु)** जब वे पितर आवें, तब सब लोग उनका इस प्रकार से सम्मान करें कि—आप आइए, उत्तम आसन पर बैठिए, **(इह श्रुवन्तु)** यहाँ हमारी विद्या की बातें और प्रश्न सुनिए, **(अधिब्रुवन्तु०)** इन प्रश्नों के उत्तर दीजिए और मनुष्यों को ज्ञान देके उनकी रक्षा कीजिए ॥१३॥

(अग्निष्वात्ताः पितर एह०) हे अग्निविद्या के जाननेवाले पितर लोगो! आप उपदेशक होकर हमारे घरों में आकर उपदेश और निवास कीजिए। फिर वे पितर कैसे होने चाहिएँ कि—**(सुप्रणीतयः)** उत्तम-उत्तम गुणयुक्त होके **(बर्हिषो०)** सभा के बीच में सत्य-सत्य न्याय करनेवाले हों, तथा **(हवि०)** वे ही दान और ग्रहण के योग्य विद्यादि गुणों का दान और ग्रहण करनेवाले हों। **(रयिं सर्ववीरं दधातन)** विद्यादि जो उत्तम धन है, कि जिससे वीरपुरुषयुक्त सेना की प्राप्ति होती है, उसके उपदेश से हमको पुष्ट करें। ऐसे ही उन विद्वानों के प्रति भी ईश्वर का यह उपदेश है कि वे लोग देश-देश और घर-घर में जाके सब मनुष्यों को सत्यविद्या का उपदेश करें ॥१४॥

(ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः) जो पितर अग्निविद्या और सोमविद्या के जाननेवाले, तथा **(मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते)** जोकि दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं, **(तेभ्यः स्वराडसु०)** उनके हितार्थ स्वराट् जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है, वह असुनीति अर्थात् प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है। इसलिए हम प्रार्थना करते हैं कि **(यथावशं तन्वं कल्पयाति)** हे परमेश्वर! आप अपनी कृपा से उनके शरीर सदा सुखी, तेजस्वी और रोगरहित रखिए, कि जिसमें हमको उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे ॥१५॥

प्रत्यय करके 'स्वात्ताः' रूप निष्पन्न करते हैं। परन्तु 'स्वाद' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर 'स्वादिताः' रूप बनता है, 'स्वात्ताः' नहीं। परिणामतः ग्रन्थकार द्वारा किया अर्थ ही युक्तियुक्त है। ग्रन्थकार ने 'अग्निष्वात्त' शब्द की सिद्धि इस प्रकार की है—'अग्नि+सु+आत्ताः' 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'दा' धातु से 'क्त' प्रत्यय किया गया है। 'आङ्' पूर्वक 'दा' धातु ग्रहण करने के अर्थ में आती है, न कि देने के अर्थ में, अतः इसका यह अर्थ हुआ कि 'सुष्ठु आत्तो गृहीतोऽग्निर्यैस्ते अग्निष्वात्ताः' अर्थात् जिन्होंने अग्नि अर्थात् परमात्मा या भौतिकाग्निविद्या को अच्छी तरह प्राप्त कर लिया है, वे 'अग्निष्वात्त' हैं।

यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विग्रह के अनुसार तो 'स्वात्ताग्नयः' यह रूप होना चाहिए, 'अग्निष्वात्ताः' नहीं। वस्तुतः 'वाहिताग्न्यादिषु' (पा० २।२।३७) इस सूत्र से 'क्तान्त' को पर-निपात होने पर 'अग्निष्वात्ता' रूप ठीक है। यहाँ कोई यह कह सकता है कि 'अग्निना स्वात्त॰ स्वादिताः' में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अ॒ग्नि॒ष्वा॒त्तानृ॑तु॒मतो॑ हवामहे नाराश॒ꣳसे सो॑मपी॒थं यऽआ॒शुः ।
ते नो॒ विप्रा॑सः सु॒हवा॑ भवन्तु व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम् ॥१६॥

ये चे॒ह पि॒तरो॒ ये च॒ नेह याँश्च॑ वि॒द्म याँ२ ।। उ॑ च॒ न प्र॑वि॒द्म ।
त्वं वे॑त्थ॒ यति॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धाभि॑र्य॒ज्ञꣳ सुकृ॑तं जुषस्व ॥१७॥

इ॒दं पि॒तृभ्यो॒ नमो॑ऽअस्त्व॒द्य ये पूर्वा॑सो॒ यऽउप॑रास ई॒युः ।
ये पार्थि॑वे रज॒स्या निष॑त्ता॒ ये वा॑ नू॒नꣳ सु॑वृ॒जना॑सु वि॒क्षु ॥१८॥

—य० अ० १९ । ३१, ६७, ६८ ॥

भाष्यम्—(अग्निष्वात्ता०) हे मनुष्याः! यथा वयं, ऋतुविद्यावतोऽर्थाद् यथासमयमुद्योगकारिणोऽग्निष्वात्ताः पितरः सन्ति तान् (हवामहे) आह्वयामहे, तथैव युष्माभिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्य्यम् । (सोमपीथं य आशुः) ये सोमपानमश्नन्ति, ये च (नाराशꣳसे) नरैः प्रशस्येऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशलाः सन्ति, (ते नो विप्रासः) ते विप्रा मेधाविनो नोऽस्मान्[1] (सुहवा०) सुष्ठुतया ग्रहीतारो भवन्तु (सोमपीथं०) ये सोमविद्यादानग्रहणाभ्यां तृप्ताः, एषां संगेन (वयꣳ स्याम पतयो०) सत्यविद्याचक्रवर्त्तिराज्यश्रीणां पतयः पालका स्वामिनो भवेम ॥१६॥

(ये चेह पितरो०) ये पितरो विद्वांस इहास्मत्सन्निधौ वर्त्तन्ते, ये चेहास्मत्समक्षे न सन्ति अर्थाद् देशान्तरे तिष्ठन्ति, (यांश्च विद्म) यान् वयं जानीमः, (यां उ च न०) दूरदेशस्थित्या यांश्च वयं न जानीमस्तान् सर्वान्, हे (जातवेदः) परमेश्वर ! (त्वं वेत्थ) त्वं यथावज्जानास्यतो भवान् तेषामस्माकं च सङ्गं निष्पादय । (स्वधा०) योऽस्माभिस्सुकृतः सम्यगनुष्ठितो यज्ञोऽस्ति, त्वं स्वधाभिरन्नाद्याभिः सामग्रीभिः सम्पादितं यज्ञं सदा जुषस्व सेवस्व, येनास्माकमभ्युदयनिःश्रेयसकरं क्रियाकाण्डं सम्यक् सिध्येत् । (यति ते) ये यावन्तः परोक्षा विद्यमाना विद्वांसः सन्ति, तानस्मान् प्रापय ॥१७॥

(इदं पितृभ्यः०) ये पितरोऽद्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्त्तन्ते (पूर्वासः०) पूर्वमधीत्य विद्वांसः सन्ति, (ये पार्थिवे रजसि) ये पृथिवीसम्बन्धिभूगर्भविद्यायां (आनिषत्ताः) आ समन्तान्निषण्णाः सन्ति, (ये वा नूनꣳ सु०) ये च सुष्ठुबलयुक्तासु प्रजासभाध्यक्षाः सभासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादिकर्मणे[2]ऽधिकृताः सन्ति, ते चास्मान् (ईयुः) प्राप्नुयुः । इत्थंभूतेभ्यः पितृभ्योऽस्माकमिदं सततं (नमोऽस्तु) ॥१८॥

'स्वादिताः' के स्थान में 'स्वात्ताः' आर्ष प्रयोग है। इसलिए 'अग्नि ने जिनका स्वाद लिया हो, अर्थात् मृतक पितर' यह अर्थ सर्वथा उपयुक्त है। इस आपत्ति का समाधान यह है कि जब अन्य प्रकार से रूप की सिद्धि सम्भव हो तब उसे आर्ष प्रयोग कहकर टालना ठीक नहीं। तथापि यदि 'दुर्जनतोषन्याय' से थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि यह आर्ष प्रयोग है, तब भी हमारे सिद्धान्त की हानि नहीं होती। परन्तु उस अवस्था में इसका यह अर्थ होगा कि जो व्यक्ति नित्य अग्निहोत्रादि, अग्निविद्या सम्बन्धी कर्म में संलग्न है, उनके विषय में हम कह सकते हैं कि तत्सहचरितोपाधि से अग्नि उनका स्वाद ले रहा है।

---

१. शेषत्वविवक्षाभावे कर्मत्वम् ।

२. उपपदविभक्ते कारकविभक्तिर्बलीयसीति नियमेन सम्प्रदानत्वविवक्षया चतुर्थी ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(अग्निष्वात्तानृतुमतो०) हे मनुष्य लोगो ! जैसे हम लोग अग्निविद्या और समय विद्या के जाननेवाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं, वैसे ही तुम लोग भी उनके पास जाते और उनको अपने पास सदा बुलाते रहो, जिससे तुम्हारी सब दिन विद्या बढ़ती रहे। **(नाराश ँ॒से सोमपीथं य आशुः)** जो सोमलतादि ओषधियों के रसपान तथा रक्षा से मनुष्यों को श्रेष्ठ करनेवाले हैं, उनसे हम लोग सत्यशिक्षा लेके आनन्दित हों। **(ते नो विप्राः सुहवा०)** वे विद्वान् लोग हमको सत्य विद्या का ग्रहण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहें **(वय ँ॒ स्याम पतयो रयीणाम्)** जिससे कि हम लोग सुविद्या से चक्रवर्तिराज्य की श्री आदि उत्तम पदार्थों को प्राप्त, तथा उनकी रक्षा और उन्नति करने में भी समर्थ हों ॥१६॥

(ये चेह पितरो०) हे जातवेद परमेश्वर ! जो पितर लोग हमारे समीप और दूर देश में हैं, **(याँश्च विद्म)** जिनको समीप होने से हम लोग जानते, और **(याँ २॥ उ च न प्रविद्म)** जिनको दूर होने के कारण नहीं भी जानते हैं, **(यति ते)** जो इस संसार के बीच में वर्तमान हैं, **त्वं वेत्थ०)** उन सबको आप यथावत् जानते हैं, कृपा करके उनका और हमारा परस्पर सम्बन्ध सदा के लिए कीजिए। **(स्वधाभिर्यज्ञ ँ॒ सुकृतं०)** और आप अपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार और परमार्थरूप श्रेष्ठ यज्ञों का प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए कि जिससे हम लोगों को सब सुख प्राप्त होते रहें ॥१७॥

(इदं) पितृभ्यो न०) हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं, **(ये अद्य पूर्वासो य उ परास ईयुः)** जोकि प्रथम आप विद्वान् होके हम लोगों को भी विद्या देते हैं। अथवा जोकि विरक्त और संन्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते हैं, तथा **(ये पार्थिवे रजस्या निषत्ताः)** जोकि पार्थिव अर्थात् भूगर्भविद्या और सूर्यादि लोकों के जाननेवाले हैं, तथा **(ये वा नून ँ॒ सु०)** जोकि निश्चय करके प्रजाओं के हित में उद्यत और उत्तम सेनाओं के बीच में बड़े चतुर हैं, उन सभी को हम लोग नमस्कार करते हैं, इसलिए कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहें ॥१८॥

इस लाक्षणिक अर्थ से भी ग्रन्थकार के ही सिद्धान्त की पुष्टि होती है। मन्त्र के अन्त में आये **'अधिब्रुवन्तु'** शब्द से पितरों से बोलकर उपदेश देने की प्रार्थना की गई है। जीवित पितर ही बोलकर उपदेश दे सकते हैं।

मनु ने इन **'अग्निष्वात्तादि'** पितरों को मरीचि की सन्तान तथा देवों के पितर कहा है, वह भी इसी अभिप्राय से कि वे पितर जीवित हैं **"अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः'** (मनु० ३।१९५) इसपर कुल्लूकभट्ट की टीका है—**'अग्निष्वात्ता मरीचेः पुत्रा लोकविख्याताः देवानां पितरः।'** अर्थात् मरीचि ऋषि के पुत्र अग्निष्वात्त देवों के पितर हैं और लोक में विख्यात हैं। मनु में आगे कहा है—**"अग्निष्वात्तांश्च सोम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत्"** (३।१९९) अर्थात् अग्निष्वात्त और सोम्य नाम के पितृगण ब्राह्मणों के पितर हैं। जब अग्निविद्या में निष्णात **'अग्निष्वात्त'** हैं तो अग्निविद्या से भिन्न तत्सदृश वायु-जल-भूगर्भादि विद्या में निष्णात **'अनग्निष्वात्ताः'** हैं।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने से तो मृतक श्राद्ध की जड़ ही कट जाती है। शरीर से आत्मा का वियोग होने पर वह अपने कर्मानुसार नई योनि को प्राप्त कर शरीर धारण कर लेता है और तदनुरूप सुख-दुख भोगने को विवश होता है। कौन कहाँ गया, किसी को पता नहीं। इसीलिए कहा जाता है—सब जीते-जी का नाता है। मरने के बाद कोई किसी का नहीं रहता। जो जीता है, अपने लिए जीता है। सबको अपने-अपने कर्मों का फल मिलता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥१९॥ —य० अ० १९ । मं ७० ॥

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । [1]पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥२०॥

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥२१॥—य० अ० १९ । मं० ३६, ३७ ॥

भाष्यम् (उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे परमेश्वर ! वयं त्वां कामयमाना इष्टत्वेन हृदयाकाशे, न्यायाधीशत्वेन राष्ट्रे, सदा स्थापयामः । (उशन्तः समिधीमहि) हे जगदीश्वर ! त्वां शृण्वन्तः सम्यक् प्रकाशयेमहि । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—(हविषे अत्तवे) सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनाद्युत्तमपदार्थदानायानन्दभोगाय च । (उशन्नुशत आवह पितॄन्) सत्योपदेशविद्याकामयमानान् कामयमानस्संस्त्वमस्मान् आवह।समन्तात् प्रापय ॥१९॥

(पितृभ्यः०) स्वां स्वकीयाममृताख्यां मोक्षविद्यां कर्त्तुं शीलं येषां, तेभ्यो वसुसंज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो, जनकेभ्यश्च, (स्वधा०) अन्नाद्युत्तमवस्तु दद्मः । ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते[2] वसुसंज्ञकाः । (पितामहेभ्यः०) ये चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ते पितामहाः, (प्रपितामहेभ्यः०) येऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षप्रमितेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यापारावारं प्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्या, अर्थात् सत्यविद्याद्योतकाः । (नमः) तेभ्योऽस्माकं सततं नमोऽस्तु । (अक्षन् पितरः०) हे पितरः ! भवन्तोऽक्षन्नत्रैव भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन् । 'अमीमदन्त पितरः' इति पूर्वं व्याख्यातम् (अतीतृपन्त पितरः) हे पितरोऽस्मत्सेवयाऽऽनन्दिता भूत्वा तृप्ता भवत । (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरः ! यूयमुपदेशेनाविद्यादिदोषविनाशादस्मान् शुन्धध्वं पवित्रान् कुरुत । अत्र पुरुषो वाव यज्ञः इत्याकारकेण छान्दोग्योपनिषत्प्रमाणेन विदुषां वसुरुद्रादित्यसंज्ञा वेदितव्याः ॥२०॥

(पुनन्तु मा पितरः) भो पितरः ! पितामहाः ! प्रपितामहाश्च ! भवन्तो मां मनःकर्मवचनद्वारा वारंवारं पुनन्तु पवित्रव्यवहारकारिणं कुर्वन्तु । केन पुनन्त्वित्याह –(पवित्रेण) पवित्रकर्मानुष्ठानकरणोपदेशेन, (शतायुषा) शतवर्षपर्य्यन्तजीवननिमित्तेन ब्रह्मचर्य्येण मां पुनन्तु । अग्रे पुनन्त्विति क्रियात्रयं योजनीयम् । येनाहं (विश्वमायुर्व्यश्नवै) सम्पूर्णमायुः प्राप्नुयाम् ॥२१॥

भाषार्थ—(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे अग्ने परमेश्वर ! हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आपको अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित, और (उशन्तः समिधीमहि) आपका ही सर्वत्र

"ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्" आदि देव-ऋषि-पितृतर्पण के उपर्युक्त मन्त्र ग्रन्थकार ने 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम संस्करण में समुल्लास ३, पृष्ठ ४२ पर उद्धृत किये थे, परन्तु लेखक या मुद्रक ने वहाँ पितृतर्पण के अन्त के दो मन्त्रों में 'मृत' बढ़ाकर इस प्रकार पाठ कर दिया—'ओं सम्बन्धिभ्यो मृतेभ्यः स्वधा नम सम्बन्धीन् मृतांस्तर्पयामि । ओं सगोत्रेभ्यो मृतेभ्यः स्वधा नमः सगोत्रान् मृतांस्तर्पयामि ।' इसके आगे यह भी लिख दिया 'पित्रादिकों में जो कोई जीता होय उसका तर्पण न करे और

१. मूलपाठे विभज्य मन्त्रभागान् स्वरो निर्दिश्यते । अर्वाचीनेषु संस्करणेषु संहितानुसारी पाठ उपलभ्यते ।
२. द्रष्टव्यम्-वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् । प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी । मनु० ३।२८४ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाश करते रहें। **(उशन्नुशत आवह पितॄन्)** हे भगवन् ! आप हमारे कल्याण के अर्थ पूर्वोक्त पितरों को नित्य प्राप्त कीजिए, कि **(हविषे अत्तवे)** हम लोग उनकी सेवा में विद्या लेने के लिए स्थिर रहें ॥ १९ ॥

(पितृभ्यः स्वधा०) जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या पढ़के सबको पढ़ाते हैं, उन पितरों को हमारा नमस्कार है। **(पितामहेभ्यः०)** जो चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम से वेदादि विद्याओं को पढ़के सबके उपकारी और अमृतरूप ज्ञान के देनेवाले होते हैं, **(प्रपितामहेभ्यः०)** जो अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त जितेन्द्रियता के साथ सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़के, हस्तक्रियाओं से भी सब विद्या के दृष्टान्त साक्षात् देखके दिखलाते, और जो सबके सुखी होने के लिए सदा प्रयत्न करते रहते हैं, उनका मान भी सब लोगों को करना उचित है।

पिताओं का नाम वसु है, क्योंकि वे सब विद्याओं में वास करने के लिए योग्य होते हैं। ऐसे ही पितामहों का नाम रुद्र है, क्योंकि वे वसुसंज्ञक पितरों से दूनी अथवा शतगुणो विद्या और बलवाले होते हैं, तथा प्रपितामहों का नाम आदित्य है, क्योंकि वे सब विद्याओं और सब गुणों में सूर्य के समान प्रकाशमान होके, सब विद्या और लोगों को प्रकाशमान करते हैं। इन तीनों का नाम वसु, रुद्र और आदित्य इसलिए है कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्यों में रहने नहीं देते। इसमें पुरुषो वाव यज्ञः० यह छान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण लिख दिया है, सो देख लेना।

(अक्षन् पितरः) हे पितर लोगो ! तुम विद्यारूप यज्ञ को फैलाके सुख भोगो, तथा **(अमीमदन्त पितरः)** हमारी सेवा से अत्यन्त प्रसन्न रहो। **(अतीतृपन्त पितरः)** हमारी सेवा से तृप्त होकर हमको भी आनन्दित और तृप्त करते रहो, तथा जिस पदार्थ को तुम चाहो, अथवा हम आपकी सेवा में भूलें तो आप लोग हमको शिक्षा करो। **(पितरः शुन्धध्वम्)** हे पितर लोगो ! आप हमको धर्मोपदेश और सत्य विद्याओं से शुद्ध करें कि जिससे हम लोग आपके साथ मिलके सनातन परमात्मा की भक्ति अपनी शुद्धि के अर्थ प्रेम करें ॥२०॥

(पुनन्तु मा पितरः०) जो पितर लोग शान्तात्मा और दयालु हैं, वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें। **(पुनन्तु मा पितामहाः०)** इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह भी मुझको अपनी उत्तम विद्या पढ़ा के पवित्र करें। इसलिए कि उनकी शिक्षा को सुनके ब्रह्मचर्य्य धारण करने से सौ वर्ष पर्य्यन्त आनन्दयुक्त उम्र होती रहे। इस मन्त्र में दो बार पाठ केवल आदर के लिए है ॥२१॥

इत्यादि अन्य मन्त्र भी इन्हीं विषयों के पुष्टिकारक हैं। उन सभी का अर्थ सर्वत्र इसी प्रकार से समझ लेना चाहिए, तथा जहाँ कहीं अमावस्या में पितृयज्ञ करना लिखा है, वहाँ भी इसी अभिप्राय से है कि जो कदाचित् नित्य उनकी सेवा न बन सके, तो महीने-महीने अर्थात् अमावस्या में मासेष्टि होती है, उसमें उन लोगों को बुलाके अवश्य सत्कार करें।

॥ इति पितृयज्ञः समाप्तः ॥

जितने मर गये हों उनका तो अवश्य करें।' यह पाठ की गड़बड़ निश्चय ही लेखक वा मुद्रक ने की है। क्योंकि सत्यार्थप्रकाश के साथ लिखी गई संवत् १९३१ की 'पंचमहायज्ञविधि' में मृत' पद या मृतकश्राद्ध का वर्णन नहीं है। इसके विपरीत उसमें जीवित पितरों के श्राद्ध का स्पष्ट विधान है। जैसे – **"एतेषां सोमसदादीनां श्रद्धया तर्पणं कार्यं विद्यमानानाम्।" "अनेन प्रमाणेन युक्त्या च विद्यमानान्विदुषः श्रद्धया सत्कारेण तृप्तान् कुर्यादित्यभिप्रायः।"**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते—

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं[1] भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद् देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ।।१।।

— मनुस्मृतौ अ० ३ । श्लोकः ८४ ।।

भाषार्थ—अब बलिवैश्वदेव की विधि लिखी जाती है। जो घर में पका हुआ क्षारलवण[2] से रहित अन्न है उससे बलिवैश्वदेव कर्म करना चाहिए। जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो, उससे विधिपूर्वक नीचे लिखे मन्त्रों से देवताओं के लिए होम करना चाहिए।

श्राद्ध और तर्पण के सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने मनु का निम्नलिखित श्लोक (३।२८४) पं०म०वि० के दोनों संस्करणों में उद्धृत किया है—

वसून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांश्चादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ।।

परन्तु विद्या और तदनुरूप आचरण (व्रत) के प्रति ग्रन्थकार के हृदय में कितनी पवित्र एवं उदात्त भावना थी, यह उनके इस श्लोक के संवत् १९३१ के संस्करण में दिये भाष्य से स्पष्ट होती है—

"यैश्चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं कृतं ते वसवः पितृवत् सत्कर्त्तव्याः। यैश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं कृतं ते रुद्राः पितामहवत् सत्कर्त्तव्याः, पित्रपेक्षयाधिकविद्यावत्वात्, यैरष्टचत्वारिंशद्वर्षपर्यन्तं जितेन्द्रियैर्विद्याध्ययनार्थं ब्रह्मचर्यं व्रतं कृतं, ते आदित्याः प्रपितामहवत्सत्कर्त्तव्याः। पितृपितामहादीनां सकाशात् पूर्णविद्यावत्वात् सर्वेभ्योऽधिकसत्कारः कर्त्तव्यः।"

इस प्रकरण में उद्धृत मन्त्रों का भावार्थ ग्रन्थकार के यजुर्भाष्य में द्रष्टव्य है।

बलिवैश्वदेवयज्ञ—

बलिवैश्वदेवयज्ञ गृहस्थ द्वारा प्राणिमात्र के जीवन की रक्षार्थ किये जानेवाले प्रयत्न का प्रतीक है। जिस प्रकार बड़े-से-बड़े अपराधी के लिए भी जेल में रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था रहती है, उसी प्रकार अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों को प्राप्त जीवों के जीवन की रक्षार्थ प्रयत्न करना सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य का कर्त्तव्य है। ये आहुतियाँ पाकाग्नि में (चूल्हे से अग्नि को अलग करके) देनी चाहिएँ। देवयज्ञ (होम) की अग्नि में बलिवैश्वदेवयज्ञ की आहुतियाँ नहीं देनी चाहिएँ।

जिन मन्त्रों से यहाँ आहुति देने का निर्देश किया गया है, वे वेदोक्त मन्त्र नहीं हैं। मन्त्र सदृश वाक्य को ही उपचार से मन्त्र कहा है। प्राचीन ऋषि कर्मकाण्ड के लिए मन्त्रों के पदों में परिवतन कर

---

१. क्षारलवणरहितमित्यर्थः। क्षारशब्देन 'हैडाम्बिका राजमाषा माषा मुद्गा मसूरिका। लङ्क्याढक्याश्च निष्पावास्तिलाद्याः क्षारसंज्ञिताः।।' (आश्व० गृह्य गार्ग्यनारायण टीका १।८।१०) इति वचनेन धान्यविशेषा गृह्यन्ते। अपरे पुनः सर्जिकादीक्षारान् क्षारशब्देन गृह्णन्ति। सर्जिकादीनां लवणान्तर्भावात् धान्यविशेषाणामेव क्षारशब्देन ग्रहणं न्याय्यम्।

२. गोक्षीरं गोघृतं चैव धान्यमुद्गास्तिला यवाः।
सामुद्रं सैन्धवं चैवाक्षारलवणं स्मृतम् ।।—वाचस्पत्यकोश

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्र बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम्—

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥१॥
—अथर्व० कां० १९ । अनु० ७ । मं० ७ ॥[3]

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥२॥ —य० अ० १९ । मं० ३९ ॥

भाष्यम्—(अग्ने) हे परमेश्वर ! (ते) तुभ्यं त्वदाज्ञापालनार्थं (इत्) एव (तिष्ठतेऽश्वाय घासम्) यथाऽश्वस्याग्रे पुष्कलः पदार्थः स्थाप्यते. (इव) तथैव (अहरहः) नित्यं प्रति (बलि हरन्तः) भौतिकमग्निमतिथींश्च बलीन् प्रापयन्तः, (समिषा) सम्यगिष्यते या सा समिट् तया श्रद्धया, (रायस्पोषेण) चक्रवर्तिराज्यलक्ष्म्या (मदन्तः) हर्षन्तो वयं, (अग्ने) हे परमात्मन् ! (ते) तव प्रतिवेशाः) प्रतिकूला भूत्वा सृष्टिस्थान् प्राणिनः (मा रिषाम) मा पीडयेम । किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा अस्माकं मित्राणि सन्तु । सर्वेषां च वयं सखायः स्म इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यमुपकारं कुर्य्याम ॥१॥

(पुनन्तु मा०) अस्य मन्त्रस्यार्थस्तर्पणविषय उक्त ॥२॥

भाषार्थ—(अग्ने०) हे परमेश्वर ! जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़े के आगे रखते हैं, वैसे ही आपकी आज्ञापालन के लिए (अहरहः०) प्रतिदिन भौतिक अग्नि में होम करते, और अतिथियों को (बलि०) भोजन देते हुए हम लोग अच्छी प्रकार वाञ्छित चक्रवर्त्तिराज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त होके (अग्ने) हे परमात्मन् ! (प्रतिवेशाः) आपकी आज्ञा से उलटे होके आपके उत्पन्न किये हुए प्राणियों को (मा रिषाम) अन्याय से दुःख कभी न देवें । किन्तु आपकी कृपा से सब जीव हमारे मित्र और हम सब जीवों के मित्र रहें । ऐसा जानकर परस्पर उपकार सदा करते रहें ॥१॥

(पुनन्तु मा०) इस मन्त्र का अर्थ तर्पणविषय में कह दिया है । ।२॥

लिया करते थे । ऐसे परिवर्तनयुक्त मन्त्र 'ऊह' कहलाते थे । कर्मकाण्ड के लिए वे कुछ वाक्य परिकल्पित भी कर लिया करते थे । श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों आदि कर्मकाण्ड-सम्बन्धी ग्रन्थों में ऐसे अनेक वाक्य हैं । प्रायः वे वेदमूलक हैं । 'ऊह' के सम्बन्ध में १।१।१।१ में महाभाष्यकार ने लिखा है—"**ऊहः खल्वपि । न सर्वलिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिता ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण विपरिणमयितव्याः**' । अर्थात् 'ऊह' भी वेद में सब लिंगों तथा सब विभक्तियों से युक्त नहीं पढ़े गये । यज्ञ करानेवाला यज्ञ-समय उनमे आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर ले अर्थात् आवश्यकतानुसार पुल्लिग के स्थान में स्त्रीलिंग कर ले । इसी प्रकार विभक्ति भी बदली जा सकती है ।

**"अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चव समस्तयोः ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥
कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।
सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥** —मनु० ३।८५-८६

अर्थात् पहले अग्नि, सोम, फिर उन दोनों को मिलाकर अर्थात् अग्निषोम, विश्वेदेव, धन्वन्तरि,

---

३. अथर्व० १९।५५।७ ॥ द्रष्टव्यं राथह्विटनी-संस्करणम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओमग्नये	स्वाहा ॥ १ ॥	ओं सोमाय	स्वाहा ॥ २॥
ओमग्नीषोमाभ्यां	स्वाहा ॥ ३ ॥	ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः	स्वाहा ॥ ४ ॥
ओं धन्वन्तरये	स्वाहा ॥ ५ ॥	ओं कुह्वै	स्वाहा ॥ ६॥
ओमनुमत्यै	स्वाहा ॥ ७ ॥	ओं प्रजापतये	स्वाहा ॥ ८ ॥
ओं सह द्यावापृथिवीभ्यां	स्वाहा ॥ ९ ॥	ओं स्विष्टकृते	स्वाहा ॥१०॥

भाष्यम् (ओम॰) अग्न्यर्थं उक्तः[1]। (ओं सो॰) सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः। (ओमग्नी॰) प्राणापानाभ्याम्, अनयोरर्थौ गायत्रीमन्त्रार्थं उक्तः[2] (ओं वि॰) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः सर्वे विद्वांसो वा। (ओं ध॰) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते। (ओं कु॰) दर्शेष्टचर्थोऽयमारम्भः, अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा। (ओमनु॰) पौर्णमास्येष्टचर्थोऽयमारम्भः, विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः साऽनुमतिर्वा, तस्यै। (ओं॰ प्र॰ सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः। (ओं सह॰) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा ग्राह्याः, एतदर्थोऽयमारम्भः। (ओं स्विष्ट॰) यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः ॥१-१०॥

एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिप्रदानं कुर्य्यात् –

भाषार्थ—(ओम॰) अग्नि शब्द का अर्थ पीछे कह आये हैं[1]। (ओं सो॰) अर्थात् सब पदार्थों को उत्पन्न, पुष्ट करने और सुख देनेवाला। (ओमाग्नि॰) जो सब प्राणियों के जीवन का हेतु प्राण तथा जो दुःखनाश का हेतु अपान। (ओं वि॰) संसार के प्रकाश करनेवाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोग। (ओं ध॰) जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेवाला परमात्मा। (ओं कु॰) अमावास्येष्टि का करना (ओमनु॰) पौर्णमासेष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चितिशक्ति। (ओं प्र॰) सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर। (ओं स॰ सत्यविद्या के प्रकाश के लिए पृथिवी का राज्य, और अग्नि तथा भूमि से अनेक उपकारों का ग्रहण। (ओं स्वि॰) इष्टसुख का करनेवाला परमेश्वर। इन दस मन्त्रों के अर्थों से ये १० प्रयोजन जान लेना।

कुहू, अनुमति, प्रजापति, सहद्यावापृथिवी तथा स्विष्टकृत् का होम करे। होम करने के लिए अन्त में 'स्वाहा' शब्द बोला जाता है और जिसके साथ स्वाहा बोला जाता है, उसमें चतुर्थी विभक्ति लगाई जाती है। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'अग्नये स्वाहा' आदि लिखे हैं। इस सम्बन्ध में ८६वें श्लोक पर कुल्लूकभट्ट की टीका द्रष्टव्य है—"कुह्वै,... ..अनुमत्यै... ..अग्नये स्विष्टकृते इत्येवं स्वाहाकारान्तात् होमान्कुर्यात्। श्रुत्यन्तरेष्वग्निविशेषणत्वेन स्विष्टकृतो विधानात् केवलं स्विष्टकृन्निर्देशेऽपि अग्नि-

---

१. अत्र 'उक्तः' इत्येवरूपो यः संकेतः स प्रायेण १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशितं 'सन्ध्योपासनादिपञ्चयज्ञ-विधानं' लक्ष्यीकृत्य प्रयुक्तः। देव पञ्चयज्ञविधानं १९३४ वैक्रमाब्दे पुनः संस्कृत्य प्रकाशितमित्यतस्तत्राप्ययमर्थं उपलभ्यते। अतोऽत्रोभयोः संस्करणयोरिह पृष्ठसंख्यानिर्देशः करिष्यते। संपंमवि (१९३१) पृष्ठ १३, पंमवि (१९३४) पृष्ठ २८ (रा॰ ला क॰ सं॰ ७)।

२. संपंमवि पृष्ठ १४; पंमवि, पृष्ठ २९॥

१. सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधान (सं॰ १९३१) पृष्ठ १३, पञ्चमहायज्ञविधि (सं॰ १९३४) पृष्ठ २८ (रा॰ ला॰ क॰ सं॰ ७)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब आगे बलिप्रदान के मन्त्र लिखते हैं—

ओं	सानुगायेन्द्राय	नमः ॥ १ ॥	ओं	सानुगाय यमाय	नमः ॥ २ ॥
ओं	सानुगाय वरुणाय	नमः ॥ ३ ॥	ओं	सानुगाय सोमाय	नमः ॥ ४ ॥
ओं	मरुद्भ्यो	नमः ॥ ५ ॥	ओमद्भ्यो		नमः ॥ ६ ॥
ओं	वनस्पतिभ्यो	नमः ॥ ७ ॥	ओं	श्रियै	नमः ॥ ८ ॥
ओं	भद्रकाल्यै	नमः ॥ ९ ॥	ओं	ब्रह्मपतये	नमः ॥ १० ॥
ओं	वास्तुपतये	नमः ॥ ११ ॥	ओं	विश्वेभ्यो देवेभ्यो	नमः ॥ १२ ॥
ओं	दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो	नमः ॥ १३ ॥	ओं	नक्तंचारिभ्यो	नमः ॥ १४ ॥
ओं	सर्वात्मभूतये	नमः ॥ १५ ॥	ओं	पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा	नमः ॥ १६ ॥

॥ इति नित्यश्राद्धम् ॥

भाष्यम्— ओं सा०) 'णम प्रह्वत्वे शब्दे'' इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम । नित्यैर्गुणैः सह वर्तमानः परमैश्वर्य्यवानीश्वरोऽत्र गृह्यते ॥ (ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः ॥ (ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः ॥ 'ओं सानुगाय०) अस्यार्थ उक्तः ॥ (ओं म०) ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते मरुतः ॥ (ओम०) अस्यार्थः 'शन्नो देवी' रित्यत्रोक्तः' । (ओं वन०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरोत्पादिता वायुमेघादयः पदार्था अत्र ग्राह्याः । यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चोपकारग्रहणं सदा कार्यमिति बोध्यम् ॥ (ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सा श्रीरीश्वरः सर्वसुखशोभावत्त्वात् । यद्वेश्वरेणोत्पादिता विश्वशोभा च ॥ (ओं भ० या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति सा भद्रकालीश्वरशक्तिः ॥ (ओं ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः ॥ (ओं वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशम् तत्पतिरीश्वरः (ओं० वि०) अस्यार्थ उक्तः ॥ (ओं दिवा०), ओं नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेन्नः, दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च तानि विघ्नं मा कुर्वन्तु, तैः सहाविरोधोऽस्तु नः, एतदर्थोऽयमारम्भः ॥ (ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरोऽत्र ग्राह्यः ॥ (ओं पि०) अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे । नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामान्यज्ञापनार्थश्चारम्भः ॥१-१६॥

विशेषणत्वेनैव प्रयोगः ।'' अर्थात् कुह्वै, अनुमत्यै ...इत्यादि चतुर्थी विभक्त्यन्तपद बनाकर 'स्वाहा' अन्त में लगाकर होम करे। दूसरी श्रुतियों में 'स्विष्टकृत्' अग्नि का विशेषण है, अतः अकेले 'स्विष्टकृत्' पद का प्रयोग भी अग्नि का विशेषण मानना चाहिए।

'ओं सानुगायेन्द्राय नमः' इत्यादि वाक्य मनु० ३।८७-९१ के आधार पर हैं—''सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् । इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥८७॥, मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि । वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥८८॥; उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद् भद्रकाल्यै च पादतः ।

१. क्षीरतरङ्गिणी १।७०९ ॥

२. संपंमवि पृष्ठ २, पंमवि० ८ (रालक सं० ७)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—(**ओं सानु०**) सर्वैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर और उसके गुण। (**ओं सा०**) सत्य न्याय करनेवाला और उसकी सृष्टि में सत्य न्याय के करनेवाले सभासद्। (**ओं सा०**) सबसे उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्तजन। (**ओं सा०**) पुण्यात्माओं को आनन्द करानेवाला परमात्मा और वे लोग (**ओं मरुत्**) अर्थात् प्राण, जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है, उनकी रक्षा करना। (**ओमद्भ्यो०**) इसका अर्थ 'शन्नो देवी' इस मन्त्र में लिख दिया है।[१]

(**ओं व०**) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि सबके पालन के हेतु सब पदार्थ, तथा जिनसे अधिक वर्षा और जिनके फलों से जगत् का उपकार होता है, उनकी रक्षा करनी। (**ओं श्रि०**) जो सेवा करने के योग्य परमात्मा और पुरुषार्थ से राजश्री की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना। (**ओं भ०**) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है, उसका सदा आश्रय करना। (**ओं ब्र०**) जो वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिए करना। (**ओं वा०**) वास्तुपति अर्थात् जो गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर। (**ओं ब्रह्म०**) वेदशास्त्र का रक्षक जगदीश्वर। (**ओं वि०**) इसका अर्थ कह दिया है।

(**ओं दि०**) जो दिन में, और (**ओं नक्त०**) रात्रि में विचरनेवाले प्राणी हैं, उनसे उपकार लेना और उनको सुख देना। (**सर्वात्म०**) सबमें व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना। (**ओं पि०**) माता-पिता और आचार्य्य आदि की प्रथम भोजनादि से सेवा करके पश्चात् स्वयं भोजनादि करना। 'स्वाहा' शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है, और '**नमः**' शब्द का अर्थ यह है कि—आप अभिमान रहित होना और दूसरे का मान्य करना ॥१-१६॥

इसके पीछे ये छह भाग करने चाहिएँ—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥ मनु० ३।९२

अनेन षड्भागान् भूमौ दद्यात्[२]। एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां सम्पादयेत्।

भाषार्थ—कुत्तों, कंगालों, कुष्ठो आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिए भी छह भाग अलग-अलग बाँटके दे देना, और उनको प्रसन्नता करना, अर्थात् सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिए। यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव पूरा हुआ।

ब्रह्मवास्तोषपतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥८९॥; **विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत्। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चारिभ्य एव च** ॥९०॥; **पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये। पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्** ॥९१॥; इन श्लोकों के आधार पर ही ग्रन्थकार ने '**सानुगायेन्द्राय नमः**' आदि मन्त्र (वाक्य) लिखे हैं। उन्होंने '**ब्रह्मपतये नमः**' '**वास्तुपतये नमः**' दो वाक्य बनाये हैं। यह कहा जा सकता है कि जैसे ऊपर '**द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा**' वाक्य बनाया है, वैसे ही यहाँ भी **ब्रह्मवास्तुपतिभ्यां नमः**' वाक्य बनाना चाहिए था। कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक पर अपनी टीका में इसका

---

१. सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधान पृष्ठ २, पञ्चमहायज्ञविधि पृष्ठ ८ (रालक सं० ७)।

२. सत्यार्थप्रकाशानुसारमिह षड्भागस्थापनायेमे मनुस्मृत्याधारेणोहिता मन्त्रा विज्ञेयाः—श्वभ्यो नमः, श्वपचेभ्यो नमः, पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, कृमिभ्यो नमः। द्र० स० प्र० समु० ४॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते—

यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति। अथ के अतिथयः? ये पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्मिकाः सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्तान् अतिथय इति कथयन्ति। अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्राः सन्ति, परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥

स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥२॥

—अथ० कां० १५। अनु० २। व० ११। मं० १, २॥[1]

स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"द्वन्द्वनिर्देशेऽपि ब्रह्मवास्तोष्पत्योः पृथगेव देवतात्वम्। यत्र द्वन्द्वे मिलितस्य देवतात्वमपेक्षितं तत्र सहादिशब्दं करोति, यथा सहद्यावापृथिव्याश्चेति।" अर्थात् 'ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्याम्' पद में द्वन्द्व समास होने पर भी यह एक देवता नहीं, किन्तु दो पृथक् देवता हैं। जहाँ द्वन्द्व के द्वारा एक देवता बनाना होता है, वहाँ 'सह' आदि किसी शब्द को लगाते हैं, जैसे 'सहद्यावापृथिवी'।

"इस प्रकार 'श्वभ्यो नमः, पतितेभ्यो नमः, श्वपग्भ्यो नमः, पापरोगिभ्यो नमः, कृमिभ्यो नमः' धर कर पश्चात् किसो दुःखी, बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते, कौवे आदि को दे दे। यहाँ 'नमः' शब्द का अर्थ अन्न अर्थात् कुत्त, पापी, चाण्डाल, पापरोगी, कौवे और कृमि अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना यह मनुस्मृति आदि की विधि है। हवन करने का प्रयोजन यह है कि पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना और जो अज्ञात, अदृष्ट जावों की हत्या होती है, उसका प्रत्युपकार कर देना।"—स०प्र०समु० ४

अतिथियज्ञ—

अतिथीनामदृष्टपूर्वाणां गृहगतानां सपर्यणमतिथियज्ञः—अकस्मात् घर पर आ जानेवालों का सेवा-सत्कार अतिथियज्ञ कहाता है। अथर्ववेद में कहा है—'एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्' (९।६।३)—अतिथि वेदविद् ब्राह्मण के तुल्य होता है। इसलिए उससे पहले गृहस्थ को भोजन नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति में लिखा है—

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ —३।९९, १०१

आये हुए अतिथि के लिए यथाशक्ति आसन, जल और अन्न सत्कृत करके विधिपूर्वक दे। (अन्न न हो तो) तृणासन, विश्राम के लिए स्थान, जल और मीठा बोल—इन चार बातों की कमी तो सत्पुरुषों के घर में कभी नहीं होती।

कठोपनिषद् में अतिथि सत्कार के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए यमाचार्य की पत्नी उनसे कहती है—

---

१. अथर्व० १५।११।१, २॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम् (तद्य०) यः पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (व्रात्यः०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिरर्थाद् यस्य गमनागमनयोरनियता तिथिः, किंतु स्वेच्छयाकस्मादागच्छेद् गच्छेच्च ॥१॥

स यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् (स्वयमेनम०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत्। ततो यथायोग्यं सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत् (व्रात्य क्वावात्सीः) हे पुरुषोत्तम ! त्वं कुत्र निवासं कृतवान्। (व्रात्योदकम्) हे अतिथे ! जलमेतद् गृहाण। (व्रात्य तर्पयन्तु) यथा भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्मानस्मत्कं मित्रादींश्च तर्प्पयन्ति, तथाऽस्मदीया भवन्तं च तर्पयन्तु (व्रात्य यथा०) हे विद्वन् ! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्य्याम। यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु। (व्रात्य यथा ते) हे अतिथे ! भवान् यथेच्छति तथैव वयं तदनुकूलतया भवत्सेवाकरणे निश्चिनुयाम। (व्रात्य यथा ते) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्य्याम। यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदा सुखे तिष्ठेम ॥२॥

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च इष्टापूर्त्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥१।१।८

घर आये अतिथि का समुचित आदर-सत्कार न होने पर मनुष्य की आशा (अज्ञात प्राप्य वस्तु की चाहना), प्रतीक्षा (ज्ञात प्राप्य वस्तु की चाहना), संगतम् (सत्संगति से प्राप्त होनेवाला फल), सूनृता (प्रियवचन बोलने का फल), इष्ट (यज्ञ का सुफल), आपूर्त्त (समाज के कल्याणार्थ किये कर्मों का फल), सन्तान और पशु आदि सभी नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रेरित किये जाने पर यमाचार्य ने अपने घर पर तीन दिन तक भूखा रहनेवाले ब्राह्मण-अतिथि को प्रसन्न करने के लिए नचिकेता को तीन वर माँगने के लिए कहा—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥१।१।९

इसपर नचिकेता ने यमाचार्य से पितृतोष, स्वर्गसुख की साधना तथा आत्मज्ञान के लिए तीन वरों की याचना की।

ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश में इस विषय का विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है—

"अतिथि उसको कहते हैं कि जिसकी कोई निश्चित तिथि न हो, अर्थात् अकस्मात् धार्मिक सत्योपदेशक, सबके उपकारार्थ सर्वत्र घूमनेवाला, पूर्ण विद्वान्, परमयोगी, संन्यासी गृहस्थ के यहाँ आवे, तो उसको प्रथम पाद्य, अर्घ और आचमनीय तीन प्रकार का जल देकर, पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठालकर खान-पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा-शुश्रूषा करके उनको प्रसन्न करे। पश्चात् सत्संग कर उनसे ज्ञान-विज्ञान आदि, जिनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे, ऐसे-ऐसे उपदेशों का श्रवण करे, और अपना चालचलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे। समय पाकर गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं। परन्तु—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ —मनु० ४।३०

पाषण्डी=अर्थात् वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध, आचरण करनेहारे, **विकर्मस्थ**=जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता, मिथ्याभाषणादियुक्त, **वैडालवृत्तिक**=जैसे विडाल छिप और स्थिर रहकर ताकता-ताकता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—अब पाँचवाँ अतिथियज्ञ अर्थात् जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है, उसको लिखते हैं। जो मनुष्य पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छल-कपटरहित और नित्य भ्रमण करके विद्या, धर्म का प्रचार और अविद्या, अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको 'अतिथि' कहते हैं। इसमें वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं, परन्तु उनमें से दो मन्त्र यहाँ भी लिखते हैं—

(तद्यस्यैवं विद्वान्) जिसके घर में पूर्वोक्त विशेषगुणयुक्त **(व्रात्य०)** उत्तमगुणसहित सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे, तो उसको यथावत् सेवा करें, और 'अतिथि' वह कहाता है कि जिसके आने-जाने की कोई तिथि, दिन निश्चित न हो ॥१॥

(स्वयमेनम०) गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को देखकर, बड़े प्रेम से उठके नमस्कार करके, उत्तम आसन पर बैठावें। पश्चात् पूछें कि आपको जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिए, और जब वे स्वस्थचित्त हो जावें, तब पूछें कि **(व्रात्य क्वाऽवात्सीः)** हे व्रात्य ! अर्थात् उत्तम पुरुष, आपने कल के दिन कहाँ वास किया था ? **(व्रात्योदकम्)** हे अतिथे ! यह जल लीजिए और **(व्रात्य तर्पयन्तु** हमको अपने सत्य उपदेश से तृप्त कीजिए कि जिससे हमारे इष्ट-मित्र लोग सब प्रसन्न होके आपको भी सेवा से संतुष्ट रक्खें। **(व्रात्य यथा०)** हे विद्वन् ! जिस प्रकार आपकी प्रसन्नता हो, हम लोग वैसा ही काम करें, तथा जो पदार्थ आपको प्रिय हो उसकी आज्ञा कीजिए, और **(व्रात्य यथा०)** जैसे आपको कामना पूर्ण हो, वैसी सेवा की जाए कि जिससे आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्सङ्गपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें ॥२॥

इति संक्षेपतः पञ्चमहायज्ञविषयः

झपट से मूषे आदि प्राणियों का मार अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम वैडालवृत्तिक, शठ अर्थात् हठी दुराग्रही, अभिमानी, आप जाने नहीं औरों का कहा माने नहीं, **हैतुक** - कुतर्की व्यर्थ बकनेवाले, जैसे कि आजकल के वेदान्ती बकते हैं कि 'हम ब्रह्म हैं और जगत् मिथ्या है, वेदादिशास्त्र और ईश्वर भी कल्पित है, इत्यादि गपोड़ा हाँकनेवाले', **बकवृत्ति** जैसे बक एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट मछली के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वैसे आजकल के वैरागी और खाखी आदि हठी, दुराग्रही और वेदविरोधी हैं। ऐसों का सत्कार वाणिमात्र से भी न करना चाहिए, क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। आप तो अवनति के कार्य करते ही हैं, परन्तु साथ में सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबा देते हैं।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

सृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं येषां येषां स्वतःपरतःप्रमाणसिद्धानां ग्रन्थानां पक्षपातरहितैरागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियाचरणैः सर्वोपकारकैरार्यैर्विद्वद्भिर्यथाऽङ्गीकारः कृतस्तथाऽत्रोच्यते –

ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

ज्ञानों के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का भारतीय दर्शन के ग्रन्थों—विशेषतः व्याख्याग्रन्थों में विस्तार से विचार किया गया है। वहाँ ज्ञानों की उत्पत्ति, ज्ञप्ति और कार्य की दृष्टि से प्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व का विशद विवेचन मिलता है। यहाँ प्रामाण्यवाद की विशेष चर्चा न करते हुए अन्यान्य ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विचार किया है।

प्रामाण्य का अर्थ है – प्रमाणत्व या प्रामाणिकता। सामान्यतः किसी तथ्य के निश्चायक को प्रमाण कहा जाता है। तर्कशास्त्र में **'प्रमा'** अर्थात् यथार्थज्ञान के करण – साधन को प्रमाण कहा जाता है—**'प्रमाकरणं प्रमाणम्'** इस प्रकार प्रामाण्य या प्रामाणिकता का अर्थ है—यथाथता या याथार्थ्य। परवर्त्ती ग्रन्थों में प्रामाण्य का यह अर्थ स्पष्टतः अभिहित किया गया है।

यथार्थपरिच्छेदकत्वं प्रामाण्यम्। —श्रीधर, न्यायकन्दली।
ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यम्।—केशवमिश्र, तर्कभाषा।

ग्रन्थप्रामाण्य का अर्थ है—ग्रन्थों की प्रामाणिकता, अर्थात् उनका यथार्थज्ञान का साधन होना। इस प्रकार वेदों की प्रामाणिकता का अभिप्राय है – वेदों की यथार्थता। वेदों की प्रामाणिकता के विषय में दो दृष्टियों से विचार किया जाता रहा है। एक तो यह कि वेद यथार्थज्ञान के साधन हैं। 'वेद' शब्दरूप या वाक्यरूप वेद के लिए आता है। इसका अभिप्राय है कि वेदों का शब्द-प्रमाण के भीतर ग्रहण होता है। 'वेद प्रमाण हैं'—इस कथन का दूसरा अर्थ है कि वेदप्रतिपादित ज्ञान यथार्थ है। यहाँ वेद का अर्थ है—वेदों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान। भारतीय वाङ्मय में दोनों दृष्टियों से विचार किया जाता रहा है। बात को पूरी तरह स्पष्ट करने की दृष्टि से यहाँ यथार्थता (प्रामाणिकता) के साथ-साथ अयथार्थता (अप्रामाणिकता) पर भी विचार किया गया है।

'स्वतःप्रामाण्य' शब्द की व्याख्या आचार्यों ने विविध प्रकार से की है। ग्रन्थकार ने स्वतः-प्रामाण्य का यौगिक अर्थ लिया है, पारिभाषिक नहीं। वेदों के सन्दर्भ में स्वतःप्रामाण्य विषयक अपने मन्तव्य का उल्लेख करते हुए उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के अन्त में 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' में लिखा है—"वे स्वयं प्रमाणस्वरूप हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे चारों वेद हैं।" 'वेदनित्यत्व' के प्रकरण में उन्होंने कहा है कि वेद के प्रामाण्य की सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण का ग्रहण नहीं किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतःप्रमाणं कर्त्तुं योग्याः सन्ति, ये जीवोक्तास्ते परतःप्रमाणार्हाश्च'। ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो वेदाः स्वतःप्रमाणम्। कुतः? तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात्, तस्य सर्वज्ञत्वात्,

जाता, किन्तु अन्य शास्त्रों के प्रमाण को साक्षी के समान समझना चाहिए, क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण है, सूर्य के समान। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशित होता हुआ संसार के बड़े या छोटे पर्वत आदि से लेकर त्रसरेणु-पर्यन्त पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही वेद स्वयं प्रकाशित होकर सब विद्याओं को प्रकाशित करता है। एतद्विषयक अपने मन्तव्य को यहाँ दृढ़तापूर्वक इन शब्दों में प्रस्तुत किया है **"तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्यं सूर्यप्रदीपवत्"** अर्थात् वेद विषय में जहाँ कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहाँ सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है, अर्थात् जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं। सूर्य और प्रदीप के दृष्टान्त से ग्रन्थकार ने दो बातें स्पष्ट की हैं—एक यह कि वेद स्वयं प्रकाश (स्वतः प्रमाण) हैं; उनके लिए किसी अन्य प्रकाश (प्रमाण) की आवश्यकता नहीं है। दूसरा यह कि वे अन्य सभी विद्याओं के प्रकाशक हैं। इस प्रकार प्रामाण्य के निश्चय के लिए अन्य साधन की अपेक्षा न करना, जो स्वतःप्रमाण का स्वरूप है, वह वेदों में विद्यमान है।

इस विश्वास का आधार है—वेदों का ईश्वरोक्त होना—**'ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो वेदाः स्वतः-प्रमाणम्।'** **'वेदनित्यत्व'** प्रकरण में भी वैशेषिक तथा न्याय के सूत्रों को उद्धृत करके ईश्वरोक्त होने से अथवा आप्त-प्रमाण के कारण वेदों को प्रमाण बतलाया गया है। इसी भाव को सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार व्यक्त किया है "वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्ति, स्वतःप्रमाण, अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है।" (सत्यार्थप्रकाश समु० ३)

वैशेषिक दर्शन में ईश्वरोक्त होने से वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया है—**'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'** (वै० १।१।३)। जगत् का कर्त्ता और वेदों का प्रकाश करनेवाला एक परमात्मा है। जगत् का बनानेवाला परमात्मा है—इस विषय में किसी को अधिक सन्देह नहीं होता। परन्तु वेद को ईश्वरीय ज्ञान व रचना मानने में सन्देह प्रकट किया जाता है। इसी भावना से वेद का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए यह सूत्र कहा है। जगत् के वास्तविक स्वरूप को वही जान सकता है जिसने उसे बनाया है। जो कुछ है, जैसा कुछ जगत् है, उसका यथायथ विवरण वेद में—केवल वेद में उपलब्ध होने से यह प्रमाणित होता है कि जो जगत् को पूर्णरूप से जानता है वही उसका ऐसा वर्णन कर सकता है। इस आधार पर वेद-ज्ञान ईश्वरीय है और ईश्वरीय होने से उसका प्रामाण्य है, क्योंकि वह ईश्वरीय ज्ञान है, इसलिए उसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की सम्भावना नहीं है। वेद में जो वाक्यरचना है, पद व पद-समूहों की आनुपूर्वी है, वह सब बुद्धिपूर्वक है—**'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** (वै० ६।१।१)। वेद के इस रूप में भ्रम, प्रमाद आदि की सम्भावना नहीं। इसी कारण धर्म व अधर्म का बोध कराने में वेद का स्वतःप्रामाण्य है।[2]

---

१. अयमभिप्रायो भगवता जैमिनिना मीमांसाशास्त्रस्य प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे वेदप्रामाण्याधिकरणे तृतीये पादे कल्पसूत्राद्यधिकरणे च विस्तरेण प्रतिपादितः।

२. न च पौरुषेयत्वे भ्रमादिसम्भवादप्रामाण्यं स्यादिति वाच्यम्। नित्यसर्वज्ञत्वेन निर्दोषात्।
—मुक्तावली, श्लोक १५०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वविद्यावत्त्वात्, सर्वशक्तिमत्त्वाच्च। तत्र वेदेषु[1] वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्य्यं, सूर्यप्रदीपवत्। यथा सूर्य्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतः, तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव

न्यायदर्शन के अनुसार आप्तवचन होने से वेद का प्रामाण्य है – **'तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'** (न्याय० २।१।६८) **'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'** (न्याय० १।१।३)—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाण हैं। **'आप्तोपदेशः शब्दः'** (न्याय० १।१।७) आप्त का उपदेश—कथन शब्दप्रमाण के अन्तर्गत है। 'आप्त' शब्द **'आप्लृ व्याप्तौ'** (स्वादिगण) से निष्पन्न होता है, जिसका भाव है—पूर्ण जानकारी। किसी विषय के साक्षात्कृतधर्मा पुरुष को आप्त कहा जाता है। साक्षात्कार का अर्थ है—जो वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में निश्चयपूर्वक जानना। ऐसे पुरुष को 'आप्त' इस आधार पर कहा जाता है कि पदार्थ के उस प्रकार जानने का नाम 'आप्ति' है। आप्तों का आप्त परमात्मा है जो अनन्त विश्व का सार्वदिक साक्षात्कृतधर्मा है। **'जन्माद्यस्य यतः'** (वेदान्त० १।१।२) जो इस सम्पूर्ण चराचर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है, भला उससे अधिक इसके विषय में कौन जान सकता है? **'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्'** (न्याय० २।१।६८)—दृष्टफलवाले वेदैकदेश आयुर्वेद के प्रामाण्य से अदृष्ट फलवाले वेदभाग के निर्भ्रान्त सिद्ध होने से समस्त वेद के यथार्थज्ञान का हेतु होने से वेद का स्वतः प्रामाण्य न्यायसम्मत है।

ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) में **'शास्त्रयोनित्वात्'** (१।१।३) तथा **'तत्तु समन्वयात्'** (१।१।४) आदि सूत्रों द्वारा वेदप्रामाण्य का संकेत किया गया है। भाष्यों तथा भाष्यों की विविध टीकाओं में इसका स्पष्टीकरण मिलता है। वाचस्पति मिश्र को भामती टीका इस विषय में अत्यधिक उपयोगी है।

नव्यं वेदान्त में सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध माना जाता है। भामतीकार ने कहा है कि अज्ञात, अबाधित तथा असन्दिग्ध अर्थ का बोधक प्रमाण होता है। वेद में धर्म आदि अज्ञात अर्थ के बोधक हैं, उनके द्वारा प्रतिपादित अर्थ का किसी प्रमाण से बाध नहीं होता और वह अर्थ सन्दिग्ध भी नहीं, अतः वेद प्रमाण हैं।[2] अपौरुषेय होने से उनमें किसी प्रकार के दोषों की आशंका भी नहीं की जा सकती। नव्य वेदान्त में वेदों को स्वरूपतः नित्य नहीं माना जाता।[3] ईश्वर सर्वज्ञ है। वह पूर्व-पूर्व सर्ग के समान ही अग्रिम-अग्रिम सर्गों में वेदों की रचना किया करता है। उनमें यत्किञ्चित् भी परिवर्तन नहीं होता।[4] अतः वेद प्रवाह से नित्य है, अपौरुषेय तो वह है ही। परमेश्वर द्वारा वेदों की रचना अनायास ही लीलान्याय से होती है।[5]

---

१. वेदेषु वेदोक्तार्थेषु। वेदस्याऽयमर्थः प्रमाणमप्रमाणं वेति विचारे वेदप्रामाण्यादेव तत्प्रामाण्यं ज्ञेयम्, न त्वन्यग्रन्थप्रामाण्यात्तस्याप्रामाण्यमिति। यद्वा वेदार्थेषु अन्यत्रोक्तानां वेदमन्त्राणां प्रामाण्यमेव प्रधानम्, ब्राह्मणादि-प्रमाणं तु तदपेक्षया गौणमिति भावः।

२. भामती (निर्णयसागर, १९३८), १, १३, पृष्ठ ९६

३. अस्माकं मते तु वेदो न नित्यः।—वेदान्तपरिभाषा, चतुर्थपरिच्छेदः।

४. तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसर्गसिद्धं वेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान् न तु तद्विजातीयं वेदम्

५. एव वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो......बृहद्० २।४।१०
—अस्य परमात्मनः प्रकृतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्—निःश्वसितमिव निःश्वसितम्। यथाऽप्रयत्नेनैव पुरुषनिःश्वासो भवत्येव वा अरे। —शंकर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति । ये ग्रन्था वेदविरोधिनो वर्त्तन्ते, नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्त्तुं योग्यमस्ति । वेदानां तु खलु अन्येभ्यो विरोधादप्यप्रामाण्यं न भवति, तेषां स्वतःप्रामाण्यात् तद्भिन्नानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च ।

सांख्यमत को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने सांख्यदर्शन के **'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः-प्रामाण्यम्'** (५।५१) इस सूत्र को उद्धृत करके कहा है—"निजशक्ति से अभिव्यक्ति होने से अर्थात् पुरुष के साथ रहनेवाली प्रकृति के सामर्थ्य से प्रकट होने के कारण वेदों का स्वतः प्रामाण्य तथा नित्यत्व स्वीकार करना चाहिए (वेदनित्यत्वविषयः) ।" सांख्यप्रवचन भाष्य के अनुसार इस सूत्र का अर्थ है—"वेदों की जो यथार्थ बोध कराने की अपनी शक्ति है, जो मन्त्र, आयुर्वेद आदि में अभिव्यक्त होती है, उससे सभी वेदों का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है ।"[1] अनिरुद्धवृत्ति के अनुसार इस सूत्र का अर्थ है—"ज्ञान का प्रामाण्य निजशक्ति=ज्ञानजनक सामग्रीमात्र के अधीन है, उस शक्ति की अभिव्यक्ति होने से ज्ञानों का स्वतःप्रामाण्य होता है ।" इस वृत्ति के अनुसार यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान-प्रामाण्य का निरूपण किया गया है, वेदों की प्रामाणिकता का नहीं, परन्तु जब सभी ज्ञान प्रमाण हैं, तो वेदप्रतिपादित ज्ञान भी प्रमाण है ।

वेदों को स्वतःप्रमाण माननेवालों में पूर्वमीमांसा अग्रणी है । मीमांसाशास्त्र की सम्मति में वेद किसी के द्वारा रचित न होकर स्वतः आविर्भूत होनेवाला नित्य पदार्थ है । उसका कभी विनाश नहीं होता । प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में वह स्वतः प्रकट हो जाता है ।[2] नित्य होने से ही वेद स्वतः प्रमाण है । मीमांसकों के अनुसार प्रमाण की दो विशेषताएँ हैं—एक अज्ञात अर्थ की बोधकता और दूसरी दोषाभाव (करण-दोष-ज्ञान तथा बाधज्ञान का अभाव) ।[3] वेदवाक्यों द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से न जानने योग्य धर्म और उसके फल का बोध होता है[4] अतः वे प्रमाण हैं । उनके प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं, अतः वे स्वतः प्रमाण हैं ।[5] शबरस्वामी तथा कुमारिलभट्ट ने यह भी स्पष्ट किया है कि अपौरुषेय होने में वेद दोषरहित हैं, दोष तो पुरुषाश्रित होते हैं ।[6] उन्होंने वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता को विविध युक्तियों से सिद्ध किया है । वस्तुतः मीमांसासूत्र तथा भाष्य में जो वेदों की नित्यता को सिद्ध करने का महान् संरम्भ दृष्टिगोचर होता है, वह वेदों की अपौरुषेयता को प्रतिपादित करने के लिए है ।

प्रश्न यह है कि यदि ईश्वरोक्त अथवा आप्तोक्त होने से ही वेद प्रमाण हैं, तो अपने प्रामाण्य

---

१. वेदानां निजी स्वाभाविकी या यथार्थज्ञानजननशक्तिस्तस्या मन्त्रायुर्वेदादावभिव्यक्तेः=उपलम्भादखिलवेदानामेव स्वत एव प्रामाण्यं सिध्यति ।—सांख्यप्रवचनभाष्य ५।५१

२. न हि वेदः पुरुषनिर्मितः—'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा' इत्यादिना वेदापौरुषेयत्वस्य साधितत्वात् ।—मीमांसान्यायप्रकाश पृ० ३

३. यश्च च दुष्टं कारणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एव समीचीनः प्रत्ययः, नान्य इति ।

—शाबरभाष्य १।१।५

४. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ।।—सायण० तै० सं० भाष्य

५. शाबरभाष्य १।१।५

६. यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः । श्लोकवार्त्तिक ११।२।६३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये स्वतःप्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्भिन्नास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाणमर्हन्ति[1]। तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना-

---

के लिए ईश्वर पर निर्भर हैं। तब उन्हें स्वतःप्रमाण कैसे कहा जा सकता है? वैदिक दर्शनों में परस्पर मतभेद मानकर ऐसा समझा जाता है कि न्याय-वैशेषिक आदि के मत में वेद आप्तोक्त होने से प्रमाण हैं, अतः वे परतःप्रमाण हैं और पूर्वमीमांसा के अनुसार वेद नित्य तथा अपौरुषेय होने से दोषरहित हैं, अतः वे स्वतःप्रमाण हैं।

ग्रन्थकार के मत में वैदिक दर्शन परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। उन्होंने सर्वत्र उनमें समन्वय करने का प्रयास किया है। न्याय-वैशेषिक की दृष्टि में जो आप्तोक्त होने से प्रमाण हैं और मीमांसक की दृष्टि में जो अपौरुषेय होने से वेद स्वतः प्रमाण हैं, इन दोनों मन्तव्यों में वे कोई अन्तर नहीं मानते। वस्तुतः मीमांसकों ने अपौरुषेय होने से वेदों को निर्दोष माना है और निर्दोष होने से स्वतःप्रमाण बतलाया है। यहाँ स्वतःप्रामाण्य का अभिप्रायः है—जिसके प्रमाण के लिए किसी भावात्मक साधन की आवश्यकता न हो। दोषरहित होना तो भावात्मक नहीं है, अपितु अभावात्मक है, अतः वेदों को स्वतःप्रमाण कहा जा सकता है, ठीक इसी प्रकार ग्रन्थकार के मत में भी भ्रम आदि दोष न होने से वेद स्वतःप्रमाण हैं। ईश्वरोक्त होना तो भ्रम आदि के अभाव में कारण है, वेद के प्रामाण्य में नहीं। यहाँ मीमांसक के मत से इतना ही अन्तर है कि वहाँ ईश्वरोक्त होने से वेद को दोषरहित माना गया है और यहाँ अपौरुषेय होने से दोषरहित माना गया है। आप्त की कृति होने से वेद प्रमाण हैं अथवा अपौरुषेय होने से, इन दोनों मन्तव्यों में दोषाभाव ही प्रामाण्य का निमित्त है। इस प्रकार यहाँ न्याय तथा मीमांसकों के मतों का समन्वय हो जाता है। इस विवेचन का सार यह है कि वेदों के स्वतःप्रमाण होने में हेतु है उनका निर्भ्रान्त होना और उनके निर्भ्रान्त होने में हेतु है उनका ईश्वरोक्त अथवा अपौरुषेय होना।

'पौरुषेय' पुरुष शब्द से **'तेन कृतम्'** अर्थ में ढञ् प्रत्यय होकर बना है—**पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्वं पौरुषेयम्**। सांख्यसूत्र के अनुसार वेद पौरुषेय नहीं, क्योंकि उनके कर्त्ता पुरुष का अभाव है **'न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्'** (५।४६)। यहाँ अपौरुषेयता में जो युक्ति दी गई है, वह पूर्वमीमांसा के **'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्'** के समान ही है। जिसपर प्रतिपक्षियों के आक्षेप होते रहे हैं। हाँ, सांख्य में अपौरुषेयता का वेदप्रामाण्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं दिखलाया गया है। वेदों के स्वतः प्रामाण्य में जो हेतु दिया गया है, वह **'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्'** (५।५१) इस सूत्र के अनुसार स्पष्ट है। वस्तुतः 'पुरुष' पद जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वाचक है। जब यह कहा जाता है कि वेद अपौरुषेय है तो उसका सीधा अर्थ यह होता है कि वह अस्मदादिसदृश पुरुषप्रणीत नहीं है, क्योंकि जीव पुरुष अल्पज्ञ व अल्पशक्ति होने से सर्वज्ञकल्प समस्त विद्याओं के आदिमूल वेद की रचना करने में असमर्थ है तथा भ्रम, प्रमाद आदि दोषों से रहित सर्वज्ञ परमेश्वर कभी शरीर बन्धन में नहीं आता जो शब्दरूप वेद का उच्चारण कर सके। आदि ऋषियों के निर्दोष, पवित्र आत्मा में वह केवल तदनुकूल

---

१. अत्रेदं विचार्यते—यत् काश्चतस्रो मन्त्रसंहिताश्चैतादृश्यो याः शाखाप्रवक्तृनामभिर्न व्यवह्रियन्त इति। तथा सति कासां संहितानां स्वतःप्रामाण्यं स्वीक्रियते, कासां च शाखात्वं मत्वा परतःप्रामाण्यमिति। अत्रोच्यते—ग्रन्थकृता याश्चतस्रः संहिता वेदत्वेनाभ्युपगतास्ता यद्यपि तत्तत्प्रवक्तृनामयोर्व्यवह्रियन्ते, यथा शाकलसंहिता माध्यन्दिनसंहिता, कौथुमसंहिता, शौनकसंहिता चेति। तथापि तत्र द्वयोराद्ययोर्मूलत्वं प्रमाणैः सिद्धम्। भगवान् शाकल्यो न मन्त्रसंहितां

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति। एवमेव यानि शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि, तथायुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम्, धनुर्वेदः शस्त्रास्त्रराजविद्या, गान्धर्ववेदो गानविद्या, अर्थवेदश्च शिल्पशास्त्रं, चत्वार उपवेदा अपि। तत्र चरकसुश्रुतनिघण्ट्वादय² आयुर्वेदे ग्राह्याः। धनुर्वेदस्य ग्रन्थाः

प्रेरणा करता है, जिससे प्रेरित होकर सर्गादि में वही आनुपूर्वी ऋषियों के मुख से फूट पड़ती है। इसलिए इस अनादि भगवद् ज्ञाननिष्ठ शब्दराशि में किसी मर्त्य पुरुष का रचना-स्वातन्त्र्य न होने से वेद का अपौरुषेयत्व परिनिष्ठित होता है।

मीमांसकों के मत में स्वतः नित्यरूप से वर्त्तमान रहने के कारण वेद अपौरुषेय है, परन्तु ज्ञान तो गुण है जो सदा गुणी के आश्रित रहता है। यह ज्ञान चेतन में ही रह सकता है। जीव चेतन अल्पज्ञ होने से सर्वज्ञानमय वेद का आश्रय नहीं हो सकता। एकमात्र परमेश्वर ही उसका आधार ठहरता है।

न्यायशास्त्र के अनुसार पुरुष का अर्थ ईश्वर है जो सामान्य पुरुष न होकर योगदर्शनवाला 'पुरुषविशेष' है—**'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'** (योगसूत्र १।२४)। यही पुरुष-विशेष (ईश्वर) **'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** आदि सृष्टि में ज्ञान का प्रेरक है। इस प्रकार योगदर्शन के अनुसार भी वेद ईश्वरोक्त हैं; इस प्रकार ग्रन्थकार के मत में **ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतःप्रामाण्यम्'** (वेदनित्यत्वविषय) सिद्ध है।

आदिसृष्टि में वेदों के प्रादुर्भाव के अनन्तर समय-समय पर मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों, योगियों तत्त्वज्ञों तथा विद्वानों के द्वारा वेदाध्ययनपूर्वक जो ग्रन्थ लिखे गये हैं या भविष्य में लिखे जाएँगे, वे सब परतःप्रमाण हैं, अर्थात् वेदानुकूल अथवा वेदाविरुद्ध होने से उनका प्रामाण्य है। वैदिक तथा संस्कृत वाङ्मय में इसकी पुष्टि में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। मीमांसाकार जैमिनि का कथन है **'विरोधे-त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्'** (१।३।३) अर्थात् वेद और ऐतरेय आदि ब्राह्मणों में परस्पर विरोध होने पर ब्राह्मणादि अप्रमाण हैं किन्तु वेदानुकूल होने पर निश्चय ही वे प्रमाण हैं—ऐसा अनुमान कर लेना चाहिए। ऋषिप्रोक्त और वेदों के व्याख्यानरूप होने से उन्हें परतः प्रमाण ही माना जा सकता है।

प्रोक्तवानपि तु तत्पदपाठं कृतवानिति वैदिकवाङ्मयैतिह्ये स्पष्टम्। एवमेव माध्यन्दिनसंहितायाः 'एष वो अमी राजा' इत्येवमादयः पाठाः सामान्यरूपाः अन्यशाखानां च 'एष वो भरतो राजा, कुरवो राजा, जनते राजा' इत्यादिपाठा विशिष्टरूपा उपलभ्यन्ते। अतो वैदिकेषु माध्यन्दिनसंहितैव 'सर्वसाधारणी' इति स्वीक्रियते। तदुक्तम् 'माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा' इति (प्रतिज्ञापरिशिष्टभाष्ये १।३) होलीरभाष्ये चोद्धृतं वसिष्ठवचनम्। अपि च माध्यन्दिनसंहिताया दीर्घपाठे (वृद्धपाठे) यो बहुत्र प्रतीकनिर्देश उपलभ्यते, स एव माध्यन्दिनप्रवचनरूपः, तद्रहितो लघुपाठो मूलपाठ इति। एवमेवान्ययोर्द्वयोः संहितयोर्विषय ऊहनीयम्।

अपि च मूलवेदाः शाखाभ्यो भिन्ना आसन् इति तथ्यं तु सर्ववैदिकसम्मतम्। अत एव वेदमूलकत्वादेव तच्छाखानामपि प्रामाण्यं वैदिकैः स्मर्यते। तदुक्तं शतपथव्याख्यात्रा हरिस्वामिना-वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यम् इति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्, शत० भाष्य का० १ हस्तलेख पृ० २ (रा० ल० क० ट्रस्ट पुस्त०)। शतपथब्राह्मणे (१।४।१।२५)ऽपि वेदस्यापौरुषेयत्वं शाखापाठानां च पौरुषेयत्वं मुक्तकण्ठेनोक्तम्। विशेषस्त्वत्र आचार्यपादनां ब्रह्मदत्तजिज्ञासूनां यजुर्वेदभाष्यविवरणस्योपोद्घाते गोविन्दरामहासानन्द-प्रकाशितस्य यजुर्वेदस्यभूमिकायां च द्रष्टव्यः।

२. निघण्टुर्धन्वन्तरिप्रोक्तो ग्राह्यः, भाषार्थे तस्यैवोल्लेखदर्शनात्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायेण लुप्ताः सन्ति । परन्तु तस्य सर्वविद्याक्रियावयवैः सिद्धत्वादिदानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति । अङ्गिरःप्रभृतिभिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्था बहव आसन्निति । गान्धर्ववेदश्च सामगानविद्यादिसिद्धः । अर्थवेदश्च विश्वकर्मत्वष्टृ देवज्ञमयकृतश्चतसृसंहिताख्यो ग्राह्यः ।

भाषार्थ - जो-जो ग्रन्थ सृष्टि के आदि से लेके आज तक पक्षपात और रागद्वेषरहित सत्यधर्मयुक्त सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य्य लोगों ने 'स्वतः प्रमाण' अर्थात् अपने आप ही प्रमाण, 'परतःप्रमाण' अर्थात् वेद और प्रत्यक्षानुमानादि से प्रमाणभूत हैं, जिनको जिस प्रकार करके जसा कुछ माना है, उनको आगे कहते हैं –

इस विषय में उन लोगों का सिद्धान्त यह है कि—ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्रसंहिता हैं, वे ही स्वयंप्रमाण होने योग्य हैं, अन्य नहीं । परन्तु उनसे भिन्न भी जो-जो जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं, वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतःप्रमाण के योग्य होते हैं[1], क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं, और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिवाला है, इस कारण से उसका कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है और जीवों के बनाये ग्रन्थ स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं होते, क्योंकि जीव सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं होते । इसलिए उनका कहना स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं हो सकता ।

ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि—वेदविषय में जहाँ कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो, वहाँ सूर्य्य और दीपक के समान वेदों का प्रमाण लेना उचित है, अर्थात् जैसे सूर्य्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके, सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो-जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं, वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते, और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो, तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते, क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं ।

स्कन्दस्वामी के शिष्य और शतपथ ब्राह्मण के सबसे प्राचीन (सन् ६३९ ई०) भाष्यकार हरिस्वामी ने अपने शतपथभाष्य के उपोद्घात में लिखा है—**'वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतः प्रामाण्ये सिद्धेः तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम् ।'** अर्थात् वेदों का अपौरुषेय होने से स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है । उनकी शाखाओं का प्रामाण्य तद्धेतुता अर्थात् वेद के अनुकूल होने से बादरायणादि ने स्वीकार किया है । स्मृतियों तथा अन्य शास्त्रों की तुलना में मनुस्मृति का महत्त्व बतलाते हुए बृहस्पति कहते हैं –

तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च ।
चतुर्वर्गस्योपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यन्ते ॥

मनुस्मृति के इस महत्त्व का कारण उसका वेदानुकुल होना बताकर वेद के विरुद्ध होने पर उसकी उपेक्षा का कथन करते हुए कहते हैं—

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् ।
मन्त्रार्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ॥

---

१. वेदों का स्वतः प्रामाण्य और अन्य ग्रन्थों का वेदानुकूलतया प्रामाण्य भगवान् जैमिनि ने मीमांसादर्शन अ० १ पाद, १, ३ के वेदप्रामाण्य और कल्पसूत्रप्रामाण्य अधिकरणों में विस्तार से दर्शाया है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं, वे भी परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से ही प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं। मन्त्रभाग की चार संहिता, कि जिनका नाम वेद है, वे सब स्वतःप्रमाण कहे जाते हैं, और उनसे भिन्न ऐतरेय, शतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रन्थ हैं, वे परतःप्रमाण के योग्य हैं, तथा ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) चार वेदों की शाखा भी वेदों के व्याख्यान होने से परतःप्रमाण हैं। इसी प्रकार जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष छह वेदाङ्ग हैं, वे भी परतःप्रमाण हैं।

तथा (आयुर्वेदः) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक, सुश्रुत और धन्वन्तरिकृत निघण्टु आदि ये सब मिलकर ऋग्वेद का उपवेद कहाता है[1]। (धनुर्वेदः) अर्थात् जिसमें शस्त्र-अस्त्रविद्या के विधानयुक्त अङ्गिरा आदि ऋषियो के बनाये ग्रन्थ, जोकि अङ्गिरा भारद्वाजादिकृत संहिता हैं, जिनसे राजविद्या सिद्ध होती है, परन्तु वे ग्रन्थ प्रायः लुप्त-से हो गये हैं, जो पुरुषार्थ से इसको सिद्ध किया चाहे तो वेदादि विद्यापुस्तकों से साक्षात् कर सकता है। (गान्धर्ववेदः) जोकि सामगान और नारदसंहिता आदि गान-विद्या के ग्रन्थ हैं। (अर्थवेद) अर्थात् शिल्पशास्त्र, जिसके प्रतिपादन में विश्वकर्म्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई हैं, ये चारों उपवेद कहाते हैं।

शिक्षा पाणिन्यादिमुनिकृता[1] कल्पो मानवकल्पसूत्रादिः। व्याकरणमष्टाध्यायीमहाभाष्यधातु-पाठोणादिगणप्रातिपदिकगणपाठलिङ्गानुशासनाख्यम्। निरुक्तं यास्कमुनिकृतं निघण्टुसहितं चतुर्थं वेदाङ्ग

अर्थात् वेदानुकूल होने के कारण ही मनुस्मृति का महत्त्व है। वेद के विपरीत होने पर मनुस्मृति का कथन भी मान्य नहीं हो सकता।

जाबालस्मृति का भी वचन है—**'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।'** इसी प्रकार भविष्य-पुराण में कहा है—**'श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना।'** श्रीमध्वाचार्य (स्वामी आनन्द तीर्थ) ने अपने सिद्धान्तों के समर्थन में प्रायः वेदों के ही प्रमाण उद्धृत किये हैं। कहीं-कहीं पुराणों के वचनों को भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है, परन्तु वहाँ उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है—

पुराणस्योपजीव्यश्च वेद एव च नापरः।
तद्विरोधे कथं मानं तत्तत्र च भविष्यति॥

अर्थात्—पुराणों के उपजीव्य (आधार ग्रन्थ) वेद ही हैं, अतः वेदविरुद्ध होने पर उन्हें कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है।

वेदों के आविर्भाव के बहुत काल पश्चात् उपवेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग, ब्राह्मण, आरण्यक, उप-निषद्, गृह्य-श्रौत-धर्मसूत्र आदि के रूप में विशाल साहित्य की रचना हुई। इसका आधार ऋगादि चार वेद थे। इसी कारण वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने कहा कि मनुष्यप्रणीत ग्रन्थों के नष्ट हो जाने पर भी, यदि मूल वेद सुरक्षित रहें तो उनमें विद्यमान विद्या के बीजों से विद्वान् पुनः नये विद्याग्रन्थों

---

१. आदि शब्देन आपिशलिशौनकगालवनारदादिप्रोक्ताः शिक्षाग्रन्थाः संग्राह्याः। इदमत्र विशेषतो विज्ञेयम्—ग्रन्थकृता यस्मिन् काल इयं पङ्क्तिर्लिखिता तावत्पर्यन्तं पाणिनीयशिक्षासूत्राणि नोपलब्धान्यासन्। अत-एवैतदन्तरं विरचिते ऽष्टाध्यायीभाष्ये पाणिनीयत्वेन प्रसिद्धायाः श्लोकात्मिकायाः शिक्षाया एव प्रमाणान्युद्धृतानि (द्र० अष्टा० भाष्य १।१।१०)। वास्तविकी सूत्रात्मिका पाणिनीयशिक्षा तु ग्रन्थकृता १९३६ तमे वैक्रमाब्द उपलब्धा (द्र० ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास, वर्णोच्चारण-शिक्षा प्रकरण) तद्वत्सरान्त एव च भाषार्थसहितेयं प्राकाश्यं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्तव्यम् । छन्दः पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रभाष्यम्[१] । ज्योतिषं वसिष्ठाद्यृष्युक्तं रेखाबीजगणितमयं चेति वेदानां षडङ्गानि सन्ति ।

तथा षड् उपाङ्गानि—तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिव्याख्यामयं व्यासमुन्यादिकृतभाष्यसहितं जैमिनिमुनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं ग्राह्यम् । द्वितीयं विशेषतया धर्मधर्मिविधायकं प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रम् । तृतीयं पदार्थविद्याविधायकं वात्स्यायनभाष्यसहितं

आगमों की रचना कर सकते हैं—"न जात्वकर्त्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते । बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवातो व्यवस्थिता । सर्वप्रवादेष्वागम-वाक्यानां प्रणेतृपरिग्रहेण पौरुषेयत्वमभ्युपगम्यते । वेदवाक्यानि तु चैतन्यवदपौरुषेयाणि । तान्यागमान्तराणां प्रणेतृषु विच्छिन्नेष्वागमान्तरानुसन्धाने बीजवदवतिष्ठन्ते ।' (भर्तृहरि-वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १३२ तथा उसपर स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० २३०)

मनुष्य की मति और विद्या सर्वथा निर्भ्रान्त, यथार्थ और परिपूर्ण नहीं हुआ करती । इसलिए वह स्वोत्प्रेक्षा से कुछ भी कहे या लिखे, उसकी प्रामाणिकता तब पुष्ट होती है जब उसी प्रकार का सत्य कथन अन्यत्र कहा-सुना या देखा गया हो । निरुक्त (१।१।२) में यास्क ने कहा है—'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्वेदे' अर्थात् मनुष्यों की विद्या अनित्य, अस्थिर होने से कर्मों के सम्पादन में वेद का ही प्रामाण्य है । महाकवि कालिदास का यह कथन सर्वथा युक्त है कि जब तक विद्वान् न कह दें कि ठीक है तब तक मैं नहीं मानूँगा कि मेरा यह नाटक सुन्दर और ठीक है, क्योंकि कोई व्यक्ति, चाहे वह कितना ही शिक्षित-दीक्षित क्यों न हो, अपनी बात का विश्वास और औचित्य तब तक नहीं मानता जब तक उसे विद्वानों का समर्थन प्राप्त न हो—"आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् । बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः" (अभिज्ञानशाकुन्तलम्—प्रस्तावना) । शंकराचार्य के मत में अतीन्द्रिय विषयों को जानने के लिए श्रुति ही प्रमाण है—'श्रुतिर्हि नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ' (ब्रह्मसूत्रभाष्यम्) । मनुष्य का ज्ञान यत्किञ्चित् अज्ञानमिश्रित रहता है, वह निर्भ्रान्त नहीं हो सकता । इसलिए उसकी प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए भर्तृहरि ने लिखा है—"यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिरभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते" (वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, श्लोक ३४) । एवञ्च "अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते । नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः" कस्यचित् ।

ग्रन्थकार ने सर्वत्र आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद माना है । चरणव्यूहादि में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है, परन्तु चरक-सुश्रुतादि में उसे अथर्ववेद का उपवेद माना है । चरकसंहिता (सूत्र-स्थान, अध्याय ३०) में लिखा है—"चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मकोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या । वेदो

नीता । अपि च ग्रन्थकृता सूत्रात्मिकायाः पाणिनीयशिक्षाया यो हस्तलेख उपलब्ध आसीत् सोऽन्ते त्रुटितोऽभूत् । अतोऽष्टमप्रकरणस्य प्रथमसूत्रस्याल्पीयांसं भागमतिरिच्य सर्वमपि प्रकरणं वर्णोच्चारणशिक्षायां नोपलभ्यते । अस्मिन् हस्तलेखे मध्येमध्येऽपि क्वचिद ग्रन्थपात उपलभ्यते । अस्माभिस्तस्या अपरं कोशमुपलभ्य सम्प्रत्येव पूर्णः पाठो मुद्रितः (द्र० शिक्षासूत्राणि नाम्ना संग्रहः) । मनोमोहनघोषप्रभृतिभिः कैश्चित् स्वामिदयानन्दप्रकाशितः पाणिनीयशिक्षासूत्राणां ग्रन्थः संग्रहात्मकः स्वयंकल्पितः कूटग्रन्थो न वास्तविक इति स्वप्रकाशितपाणिनीयशिक्षोपोद्घाते लपितम् । तस्योत्तरमस्माभिः पटनानगरात् प्रकाश्यमाणायाः साहित्यपत्रिकायाः सप्तवर्षस्य चतुर्थाङ्के 'मूलपाणिनीयशिक्षा' इति नाम्ना विस्तरेण प्रदत्तम् । तस्यैव संक्षेपेण निर्देशो 'शिक्षासूत्राणि' नाम्नः संग्रहस्योपोद्घातेऽपि विहितः । — युधिष्ठिर मीमांसक

१. पिङ्गलाचार्यकृतानां छन्दःसूत्राणां स्वोपज्ञभाष्यस्यान्यत्रोल्लेखो नोपलभ्यते ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोतममुनिकृतं न्यायशास्त्रम् । चतुर्थं यत्त्रिभिर्मीमांसावैशेषिकन्यायशास्त्रैः सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकज्ञानतया निश्चयो भवति, तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनमुपासनाविधायकं व्यासमुनिकृतभाष्यसहितं पतञ्जलिमुनिकृतं योगशास्त्रम् । तथा पञ्चमं तत्त्वपरिगणनविवेकार्थं भागुरिमुनिकृतभाष्यसहितं कपिलमुनिकृतं सांख्यशास्त्रं षष्ठं बौधायनवृत्त्यादिव्याख्यानसहितं व्यासमुनिकृतं वेदान्तशास्त्रम् । तथैव ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतैत्तिरीयैतरेयछान्दोग्यबृहदारण्यका दशोपनिषदश्चोपाङ्गानि च ग्राह्याणि ।

एवं चत्वारो वेदाः सशाखा व्याख्यानसहिताः, चत्वार उपवेदाः, षड् वेदाङ्गानि, षट् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा विंशतिः भवन्ति । एतैरेव चतुर्दशविद्या मनुष्यैर्ग्राह्या भवन्तीति वेद्यम् ।

भाषार्थ—इसी प्रकार मन्वादिकृत मानवकल्पसूत्रादि, आश्वलायनादिकृत श्रौतसूत्रादि, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ व लिङ्गानुशासन और पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्यपर्यन्त व्याकरण तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त और निघण्टु, वसिष्ठमुनि आदिकृत ज्योतिष सूर्य्यसिद्धान्त आदि, और (छन्दः) पिङ्गलाचार्यकृत सूत्रभाष्यसहित आदि ये वेदों के छह अङ्ग भी परतः-प्रमाण के योग्य हैं।

ह्यथर्वणः......चिकित्सां प्राह" इस विषय का विस्तृत विवेचन हमने अन्यत्र 'वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशविषयः' के अन्तर्गत किया है।

निरुक्त और निघण्टु दोनों का रचयिता यास्क है। निरुक्त निघण्टु का भाष्य होता है। यास्क से पूर्व अनेक नैरुक्त हो चुके हैं—यह निर्विवाद है। उनमें से १२ निरुक्तकारों को यास्क ने अपने ग्रन्थ में यथास्थान उद्धृत किया है। वे हैं—औपमन्यव, गार्ग्य औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, आग्रायण, शाकपूणि और्णवाभ, तैटीकि, गालव, कात्थक्य, कौष्टुकि तथा स्थौलाष्ठीवि। शाकपूणि को यास्क ने २० बार स्मरण किया है। बृहद्देवता में भी १० बार उसका उल्लेख मिलता है। इस सबसे ज्ञात होता है कि यास्क ने अपने पूर्व आचार्यों का अनुसरण करते हुए निघण्टु की रचना की।

यास्कमुनिकृत वर्त्तमान निरुक्त जिस निघण्टु का भाष्य है, वह सम्पूर्ण उपलब्ध है। यह वैदिक कोश अथवा निघण्टु स्वयं भगवान् यास्क की ही रचना है, यह निरुक्त के पहले ही वाक्य से झलकता है। वह वाक्य है –'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः। इसका सीधा अर्थ है—(समाम्नायः वैदिक शब्दसमूह (समाम्नातः) संग्रह किया जाना चाहिए। 'मा' धातु का प्रयोग कथन अर्थ में प्रायः होता है। जैसे—'समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्यन्तावामयः स च' (माघ २।१०) अर्थात् साधुजनों ने बढ़ते हुए रोग और शत्रु को समान कहा है। इस प्रकार 'समाम्नाय' का अर्थ हुआ—सम्+आ+म्ना=किन्हीं विशेष शब्दों का किसी विशेष क्रम से संग्रह। संग्रह अर्थ में समाम्नाय शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है। जैसे—'अश्वोरामः सावित्रः इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते।' 'कृकवाकुः सावित्रः इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते।' (निरुक्त १२।१३) तथा 'सोऽयमक्षरसमाम्नायः' (महाभाष्य १।१। आह्निक के अन्त में)।

यास्काचार्य का कथन है कि मैं वेदाध्ययनोपयोगी शब्दसमूह का संग्रह कर चुका हूँ, पर यह शब्दसंग्रह पर्यायसंग्रह नहीं है, उसकी व्याख्या अपेक्षित है। यदि यह निघण्टु यास्क से पूर्व विद्यमान होता तो आचार्य लिखते—'समाम्नायो व्याख्यायते' अथवा 'समाम्नायो व्याख्यातव्यः'। निघण्टु को पहले से विद्यमान माना जाए तो बीच में 'समाम्नातः' तथा 'सः' दोनों पद निरर्थक हो जाते हैं। 'समाम्नातः' का सार्थक्य उसके आसन्नभूत में प्रणीत होने में है। यास्कमुनि ने इस पद का प्रयोग ठीक उसी प्रकार किया है जैसे कोई सामान्य व्यवहार में कहे—'लो भाई! इतना काम तो हो गया, अब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और ऐसे ही वेदों के छह उपाङ्ग अर्थात् जिनका नाम षट्शास्त्र है—उनमें से एक व्यासमुनि आदि कृत भाष्यसहित जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा, जिसमें कर्मकाण्ड का विधान और धर्म-धर्मी दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है। दूसरा—वैशेषिकशास्त्र जोकि कणादमुनिकृत सूत्र और गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यादिव्याख्यासहित। तीसरा—न्यायशास्त्र जोकि गोतममुनिप्रणीत सूत्र और वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित। चौथा जो मीमांसा, वैशेषिक और न्याय इन तीन शास्त्रों द्वारा सब पदार्थों के श्रवण और चिन्तन से आनुमानिक ज्ञान और निश्चय होता है उनके साक्षात् ज्ञान का साधन उपासना की रीति को बतानेवाला योगशास्त्र जोकि पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र और व्यासमुनिकृत भाष्य-सहित। पाँचवाँ सांख्यशास्त्र जोकि कपिल मुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृतभाष्यसहित और छठा—वेदान्तशास्त्र जोकि ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद् तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जोकि बौधायनवृत्त्यादिव्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र है, ये छह वेदों के उपाङ्ग कहाते हैं।

यह करना रह गया है।' इसी आधार पर ग्रन्थकार ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता के रूप में यास्क को ही माना है। 'प्रस्थानभेद' के कर्त्ता महापण्डित मधुसूदन सरस्वती ने भी निघण्टु को यास्कमुनि-प्रणीत ही कहा है। इस विषय पर श्री पं० भगवद्दत्तजी ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थ के 'वेदों के भाष्यकार' संज्ञक भाग में विस्तार से लिखा है।

वेदों की ११२७ शाखाएँ भी पूर्वोक्त हेतुओं से परतःप्रमाण कोटि के ग्रन्थों में ग्रहण की जाती हैं। शाखाओं की यह संख्या पातञ्जल व्याकरणमहाभाष्य के इस प्रमाण के अनुसार है—**'चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः, बहुधा भिन्नाः। एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा साम एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽऽथर्वणो वेदः'** (पस्पशाह्निक)। इस विवरण के अनुसार १०१ + १००० + २१ + ९ = ११३१ योग होता है। इसमें से मूल ऋग्यजुः सामाथर्व इन ४ संहिताओं को निकाल देने पर शाखाओं की संख्या ११२७ रह जाती है।[1] ब्राह्मणग्रन्थों के समान शाखाएँ भी वेद नहीं हैं—इसका विस्तृत विवेचन 'वेदसंज्ञा' के अन्तर्गत किया जा चुका है। तथापि वेदार्थज्ञान में इनकी साहायिक उपयोगिता को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं।

शिक्षा, कल्प आदि वेदाङ्गों के प्रायः सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उपवेदों में आयुर्वेद तथा गन्धर्व-वेद के उल्लिखित ग्रन्थ मिलते हैं। अथर्ववेद में विश्वकर्मप्रणीत वास्तुविद्या आदि ग्रन्थ भी प्राप्य हैं।

---

१. वाक्यपदीय स्वोपज्ञवृत्ति १।५ में भर्तृहरि ने **'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्'** के आगे **'पञ्चधेत्येके'** लिखा है। तदनुसार जिनके मत में ऋग्वेद की १५ शाखाएँ होंगी, उनके अनुसार शाखाओं का पूर्णयोग ११२५ होगा। चरणव्यूह आदि ग्रन्थों में वेद की शाखाओं का विवरण मिलता है। वहाँ भी कहीं-कहीं संख्याभेद है। अब तो यह शाखा साहित्य अत्यन्त स्वल्परूप में उपलब्ध है जिसका विवरण पं० भगवद्दत्तकृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' (भाग १) तथा पं० बलदेव उपाध्यायकृत 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' इत्यादि ग्रन्थों में मिलता है। शाखा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा श्रौत-धर्म-गृह्यसूत्र भेद से विशाल वैदिक वाङ्मय कभी उपलब्ध रहा होगा, जब मुद्रणयन्त्रों का आविषकार नहीं हुआ था। अब तो ऋग्वेद की शाकल शाखा, यजुर्वेद की माध्यन्दिन, काण्व, तैत्तिरीय, मैत्राणी, काठक और कपिष्ठल शाखाएँ, सामवेद की कौथुमीय, राणायनीय तथा जैमिनीय शाखाएँ और अथर्ववेद की पिप्पलाद तथा शौनक शाखाएँ ही उपलब्ध हैं। वैदिक साहित्य से सम्बद्ध इस विषय पर एक प्रामाणिक विवरण पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा 'वेदवाणी' के दयानन्द विशेषाँक २ (वर्ष ३७, अंक ४) में 'ऋषि दयानन्द द्वारा स्वीकृत प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका यह अभिप्राय है कि जो शाखा-शाखान्तर[1] व्याख्यासहित चार वेद, चार उपवेद, छह अङ्ग और छह उपाङ्ग हैं, ये सब मिलके बीस होते हैं। इन से ही चौदह विद्याएँ सब मनुष्यों को ग्रहण करनी चाहिएँ।

धनुर्वेद का कोई ग्रन्थ अब नहीं मिलता। सम्भव है प्रयत्न करने पर ग्रन्थकारोक्त तथाकथित अङ्गिरा, भरद्वाज आदि कृत संहिताएँ कहीं मिल जाएँ। यह भी हो सकता है कि कोई ऋषिकल्प वेदज्ञ विद्वान् वेद के आधार पर एक धनुर्वेद की रचना कर दे। वेदोपाङ्गों (दर्शनशास्त्रों) के नाम से अभिहित न्याय वैशेषिक आदि सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, परन्तु पूर्व मीमांसा पर व्यासमुनिकृत भाष्य, सांख्य पर भागुरि-कृत भाष्य तथा वेदान्तदर्शन पर बौधायनवृत्ति आजकल उपलब्ध नहीं हैं। न्याय, वैशेषिक तथा योग शास्त्रों पर वात्स्यायन, प्रशस्तपाद तथा व्यासभाष्य सुलभ हैं। पूर्वमीमांसा आदि पर जो व्यासमुनि आदि कृत भाष्यों का ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है, हो सकता है, वे उन्हें कहीं उपलब्ध रहे हों, अथवा उनका सन्दर्भ किन्हीं ग्रन्थों में उन्होंने देखा हो। भाष्यविशेषों का नाम पुरःसर निर्देश करने का यह प्रयोजन प्रतीत होता है कि मूल सूत्ररूप तत्तद् दर्शनग्रन्थ को समझने में उसपर उल्लिखित भाष्य की अधिक प्रामाणिकता है। अन्यों के सम्बद्ध ग्रन्थों के भाष्य क्वचिद् अन्यथा सूत्रव्याख्यान करने और मूल ग्रन्थ या सूत्रकार के आशय के विरुद्ध कथन करने के कारण प्रशस्त और प्रामाणिक नहीं हैं।

यहाँ उपनिषदों का वेदान्तशास्त्र में अन्तर्भाव कहा है। वेदान्तसूत्रों की रचना प्रधानतया औपनिषद् वाक्यों पर विचार के लिए की गई है, अतः उसे अप्रत्यक्षरूप से उपनिषद् वाक्यों का व्याख्यान ग्रन्थ माना जा सकता है। ग्रन्थकार द्वारा संवत् १९२६ में कानपुर में प्रकाशित विज्ञापन में उल्लिखित **'शारीरकसूत्राणि-तत्रोपनिषन्मन्त्राणां व्याख्यानमस्ति'** इन शब्दों से इस मान्यता की पुष्टि होती है। (पत्र और विज्ञापन, पृ० २)। वेदान्तशास्त्र का अपर नाम ब्रह्मसूत्र है। ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषद् दोनों ही ब्रह्मविद्या के ग्रन्थ हैं, अतः ब्रह्मसूत्र में उपनिषदों का अन्तर्भाव सहज ही सम्भव है। उपनिषदों के परिगणन में यहाँ ईशोपनिषद् से बृहदारण्यकोपनिषद् पर्यन्त दस का ही उल्लेख है। संस्कारविधि के वेदारम्भविधि प्रकरण में तथा सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में भी इन्हीं दस का प्रामाणिकत्वेन उल्लेख मिलता है, परन्तु ग्रन्थकार द्वारा आषाढ़ सं० १९२६ (१८६९ ई०) में कानपुर के शोलेतूर प्रेस से छपवा कर जो विज्ञापन प्रसारित किया गया था, उसमें श्वेताश्वतर तथा कैवल्य इन दो उपनिषदों को भी प्रमाण कोटि में परिगणित किया था—**'ईश केन ... श्वेताश्वतर-कैवल्योपनिषदो द्वादश, अत्र ब्रह्मविद्यैवास्ति।'** इससे इन दो के प्रति भी उनकी दृष्टि में प्रामाण्यभाव लक्षित होता है। पुनः काशी में २० जून १८७४ को प्रकाशित विज्ञापन में इन दोनों का नाम नहीं है। तत्पश्चात् १ दिसम्बर १८७८ को प्रकाशित विज्ञापन में प्रधानभूत 'ईश' उपनिषद् का उल्लेख नहीं है। दस की संख्या मैत्रेयी' उपनिषद् को सम्मिलित करके पूरी कर दी गई है। 'ईश' उपनिषद् को छोड़ने का कारण

---

१. वैदिक वाङ्मय में चरण और शाखा शब्दों का प्रयोग मिलता है। चरण वेद की प्रथम मुख्य शाखा है. उसी की विभिन्न शाखाएँ शाखा नाम से कही जाती हैं। यथा यजुर्वेद की शुक्ल-कृष्ण शाखाओं में वाजसनेय तैत्तिरीय शब्द, प्रधान-शाखा-निमित्तक चरण शब्द माने जाते हैं और उनकी कण्वादि प्रोक्त १५ अथवा आपस्तम्ब आदि प्रोक्त शाखाएँ कहाती हैं। इन्हीं चरण और शाखा विभाग के लिए यहाँ क्रमशः 'शाखा' और 'अवान्तर शाखा' शब्द का व्यवहार किया है। विष्णुपुराण ३।५।२५ में इन्हें प्रतिशाखा और अनुशाखा कहा है— **'इत्येताः प्रतिशाखाभ्योऽप्यनुशाखा द्विजोत्तम।'** श्रीधरस्वामी ने इसकी व्याख्या में लिखा है अनुशाखा **अवान्तरशाखाः।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एतासां पठनाद् यथार्थं विदितत्वान्मानसबाह्यज्ञानक्रियाकाण्डसाक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम् । एत ईश्वरोक्ता वेदा तद्व्याख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्था आर्षा वेदानुकूलाः सत्यधर्मविद्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति । नैवैतेभ्यो भिन्नाः पक्षपातक्षुद्रविचारस्वल्पविद्याऽधर्माचरणप्रतिपादना अनाप्तोक्ता वेदार्थविरुद्धा युक्तिप्रमाणविरहा ग्रन्थाः केनापि कदाचिदङ्गीकार्य्या इति ।[1]

ते च संक्षेपतः परिगण्यन्ते—रुद्रयामलादयस्तन्त्रग्रन्थाः । ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणानि । प्रक्षिप्तश्लोकत्यागाया मनुस्मृतेर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः । सारस्वतचन्द्रिकाकौमुद्यादयो व्याकरणाभा ग्रन्थाः । मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्णयसिन्धुवादयो ग्रन्थाः वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमारभ्य जागदीश्यन्ता न्यायाभासग्रन्थाः । योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्थाः । सांख्यशास्त्रविरुद्धा सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः । वेदान्तशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसारपञ्चदशीयोगवासिष्ठादयो ग्रन्थाः । ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्तचिन्तामण्यादयो मुहूर्तजन्मपत्रफलादेशविधायका ग्रन्थाः ।

तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धास्त्रिकण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्थाः । मार्गशीर्षैकादशीकाशीस्थलजलसेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजडमूर्तिपूजाकरणमात्रेणैव मुक्तिभावनपापनिवारणमहात्म्यविधायकाः सर्वे ग्रन्थाः । तथैव पाषण्डिसम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च, नास्तिकत्वविधायका ग्रन्थाश्चोपदेशाश्च । ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाणपरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ति ।

सम्भवतः यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के रूप में मूल वेदों में ही अन्तर्भाव मानना है । इसका संकेत ग्रन्थकार ने सं० १९३७, वैशाख वदी ७, शनिवार (=१ मई १८८०,ई०) को राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के नाम लिखे पत्र में किया है—'मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़कर अन्य उपनिषदों को नहीं मानता ।' तथापि, सर्वत्र 'ईश से लेकर बृहदारण्यक तक' दस उपनिषदों का प्रामाण्य स्वीकार करते हुए एक बार 'मैत्रेयी, श्वताश्वतर तथा कैवल्य' का परिगणन विचारणीय है ।

ज्योतिषशास्त्र से-सम्बन्धित ग्रन्थों के सन्दर्भ में ग्रन्थकार द्वारा संवत् १९२६ (सन् १८६९) में प्रकाशित विज्ञापन द्रष्टव्य है । वहाँ ग्राह्य ग्रन्थों का परिगणन करते हुए लिखा है—"ज्योतिषम्—तत्र भूतभविष्यद्वर्त्तमानानां ज्ञानमस्ति । तत्रैका भृगुसंहिता सत्या वेदितव्या ।" यहाँ निर्दिष्ट 'भृगुसंहिता' वर्त्तमान में लोक में इस नाम से प्रसिद्ध जन्मफलनिदर्शक ग्रन्थ न होकर इसी नाम से प्रसिद्ध एक आर्ष ग्रन्थ है और 'भूतभविष्यद्वर्त्तमानज्ञान' का तात्पर्य गणितविद्या से ज्ञात होनेवाले तीनों कालों के तिथि-नक्षत्र-सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदि विषयक ज्ञान से है । सत्यार्थप्रकाश के प्रथम सस्करण (संवत् १९३२ = सन् १८७५) में पृ० ८६ पर स्पष्ट लिखा है—"ज्योतिषशास्त्र में जो फलविद्या है सो व्यर्थ है । भृग्वादि मुनियों के लिखे सूत्ररूप और भाष्यों को पढ़ें, मुहूर्त्तचिन्तामणि आदि जालग्रन्थों को कभी न पढ़ें ।" १५ अगस्त १८७८ को मौ० मुहम्मद क़ासिम को लिखे अपने पत्र में ग्रन्थकार ने लिखा था—"श्रीमान्‌जी, मैंने उस (कानपुर के) शास्त्रार्थ में पवित्र वेद के २१ विभिन्न व्याख्याओं की सत्यता स्वीकार की थी और अब भी उनके ठीक होने को स्वीकार करता हूँ ।" इससे स्पष्ट है कि 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य-विषय से ग्रन्थकर्त्ता का जो मत १८६९ में था वही १८७५ और १८७८ में था । 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के लेखनकाल (सन् १८७६ = संवत् १९३३) में भी इस मत में किसी प्रकार के परिवर्त्तन की सम्भावना नहीं हो सकती ।

---

१. आयुर्वेदीयचरकसंहितायाः विमानस्थाने (८।३) कीदृशा ग्रन्था अध्येतुमध्यापयितुं च योग्या अयोग्या वेत्यतिविस्तरेण प्रतिपादितम् । तत् तत एव द्रष्टव्यम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—इन ग्रन्थों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वतः परतःप्रमाण करना, सुनना और पढ़ना सबको उचित है। इनसे भिन्नों का नहीं, क्योंकि जितने ग्रन्थ पक्षपाती, क्षुद्रबुद्धि, कम विद्यावाले, अधर्मात्मा, असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाणरहित हैं, उनको स्वीकार करना योग्य नहीं।

आगे उनमें से मुख्य-मुख्य मिथ्या ग्रन्थों के नाम भी लिखते हैं—जैसे रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रन्थ। ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीमद्भागवत आदि पुराण, सूर्य्यगाथा आदि उपपुराण। मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक् सब स्मृतिग्रन्थ। व्याकरणविरुद्ध सारस्वतचन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रन्थ। धर्मशास्त्र-विरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि, तथा वशेषिक न्यायशास्त्रविरुद्ध तर्कसंग्रह मुक्तावल्यादि ग्रन्थ। हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थ, जोकि योगशास्त्र से विरुद्ध हैं, तथा सांख्यशास्त्रविरुद्ध सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थ। वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदान्तसार, पञ्चदशी, योगवसिष्ठादि ग्रन्थ। ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्त्तचिन्तामण्यादि मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायक पुस्तक।

ऐसे ही श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र। तथा मार्गशीर्ष एकादश्यादिव्रत, काश्यादि स्थल, पुष्कर, गङ्गादि जल, यात्रा माहात्म्यविधायक पुस्तक, तथा दर्शन, नामस्मरण, जड़मूर्ति-पूजा करने से मुक्तिविधायक ग्रन्थ। इसी प्रकार पापनिवारणविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रतिपादक, वेदविरुद्ध शैव, शाक्त, गाणपत, वैष्णवादि मत के ग्रन्थ, तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उनके उपदेश, ये सब वेद, युक्ति, प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रन्थ हैं। इसलिए सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थ त्याग कर देने योग्य हैं।

प्र०—किमेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित् सत्यमप्यग्राह्यं भवितुमर्हति ?

उ०—तेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित् सत्यमप्यग्राह्यं भवितुमर्हति विषयुक्तान्नवत्। यथा परीक्षका विषयुक्तममृततुल्मप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति, तद्वदप्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव। कुतः? तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्त्या ह्यसत्यार्थान्धकारात्तेरविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञाना-नानुत्पत्तेश्चेति।

इस प्रकरण में सबके साथ 'आदि' शब्द का निर्देश इस बात का द्योतक है कि तत्तद् ग्रन्थ सदृश अन्य अनुल्लिखित ग्रन्थ भी तत्तद् विषय में त्याज्य किये जाने योग्य हैं। विविध विषयों के प्रमुख ग्रन्थों का निर्देश करना इस बात का सूचक है कि ग्रन्थकार ने उनका अध्ययन किया और ऊहापोह करने पर उन्हें ऋषि-मुनिप्रणीत ग्रन्थों के विपरीत तथा वैदिक मन्तव्यों के विरुद्ध पाया। **'पाखण्डिसम्प्रदायनि-र्मितानि'** शब्द से अभिप्राय बौद्ध, चार्वाक आदि मतों की पुस्तकों से है। लुप्तप्राय वेदों को पुनरुज्जीवित करने का दृढ़संकल्प और व्रत लिये हुए ग्रन्थकार को उपरिलिखित त्याज्य ग्रन्थ वेदों के प्रचार-प्रसार के मार्ग में बाधक प्रतीत हुए, क्योंकि तत्कालीन समाज उनमें लिखी बातों में बुरी तरह जकड़ा हुआ था। ऐसे समाज को सही दिशा देने के लिए आवश्यक था कि उनके मिथ्या विश्वासों को उनके सामने खोल-कर रक्खा जाता। इसके विना वेदों के प्रति उनकी श्रद्धा को जगाना असम्भव था।

इन त्याज्य ग्रन्थों की वास्तविकता को उजागर करने के लिए उदाहरणार्थ यहाँ एक दो प्रसंग उपस्थित किये जाते हैं। भागवतपुराण को तत्सम्प्रदाय में महर्षि वेदव्यास विरचित महापुराण माना जाता है। उसी में से एक उद्धरण है—

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[तन्त्र-ग्रन्थानां मिथ्यात्वम्]

अथ तन्त्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते—तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति, नान्यथेति तेषां मतम्, यत्रेमे श्लोकाः सन्ति—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ।
एते पञ्च मकाराश्च मोक्षदा हि युगे-युगे ॥१॥[1]
पीत्वा-पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले ।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥२॥[2]
प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः ।
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक्-पृथक् ॥३॥[3]
मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु ।
लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः ॥४॥[4]
मातरमपि न त्यजेत् ॥५॥

इत्याद्यनेकविधमल्पबुद्धचधर्माश्रेयस्कर्मानार्याभिहितयुक्तिप्रमाणरहितं वेदादिभ्योऽत्यन्तविरुद्ध-मनार्षमश्लीलमुक्तं तच्छिष्टैर्न कदापि ग्राह्यमिति । मद्यादिसेवनेन बुद्धयादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते, किन्तु नरकप्राप्तिरेव भवतीत्यन्यत् सुगमं प्रसिद्धं च ।

नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते ।
कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः ॥
अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखैः ।
अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा ॥
—भागवतमाहात्म्य २।१८, १९, २१ ॥

इसमें तप, वेद, ज्ञान, कर्म, तीर्थ, व्रत, योग, यज्ञ, ज्ञानचर्चा इन सबको तुच्छ बतलाकर कृष्ण की भक्ति की महिमा यह कहकर प्रतिपादित की गई है कि कलियुग में एकमात्र गोपियों के प्रिय कृष्ण की भक्ति ही मोक्ष दिलानेवाली है। इस उद्धरण से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि भागवत भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र के रचयिता कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यास की कृति नहीं है। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि व्यास मुनि यज्ञ, दान, तप, ज्ञान, कर्म, योग, वेद आदि की इस प्रकार निन्दा करें, जबकि गीता आदि में बलपूर्वक इनका प्रतिपादन करें, यथा—ब्रह्मसूत्र में **'शास्त्रयोनित्वात्' १।१।३, अतएव च नित्यत्वम्' १।१।२९, अग्निहोत्रादि तु कार्यायैव तद्दर्शनात्' ४।१।१६** तथा **'यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'**—गीता १८।५। दूसरे भक्ति और वह भी नरदेहधारी पुरुष की जो अन्य जीवों के समान ही देह को त्यागने से अब अदृश्य हैं) को केवल कलियुग के लिए उपयोगी बतलाने से स्पष्ट है कि भागवत की रचना कलियुग के आरम्भ होने के बाद हुई, जबकि व्यास तो द्वापर के अन्त से कुछ वर्ष पूर्व हुए थे। यदि कृष्णभक्ति केवल कलियुग के लिए उपयोगी है तो सत्ययुग-त्रेता-द्वापर में और उससे भी पूर्व २७ चतुर्युगियों के बीत जाने पर (क्योंकि

---

१. कालीतन्त्रे २. कुलार्णव० ७।१०० ३. कुलार्णवतन्त्रे ८।९६ ४. ज्ञानसंकलनीतन्त्रे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ –कदाचित् इन ग्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि—इन असत्य ग्रन्थों में भी जो-जो सत्य बात हैं, उनका ग्रहण करना चाहिए ?

तो इसका उत्तर यह है कि—जैसे अमृततुल्य अन्न में विष मिला हो, तो उसको छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उनसे सत्यग्रहण की आशा करने से सत्यार्थप्रकाशक वेदादि ग्रन्थों का लोप हो जाता है। इसलिए इन सत्य ग्रन्थों के प्रचार के अर्थ उन मिथ्या ग्रन्थों को छोड़ देना अवश्य चाहिए, क्योंकि बिना सत्यविद्या के ज्ञान कहाँ, बिना ज्ञान के उन्नति कैसी ? और उन्नति के न होने से मनुष्य सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं।

अब आगे उन पूर्वलिखित अप्रमाण ग्रन्थों के संक्षेप से पृथक्-पृथक् दोष भी दिखलाये जाते हैं। देखो, तन्त्रग्रन्थों में ऐसे श्लोक लिखे हुए हैं कि—

(मद्यं मांसं०) मद्य पीना, मांस-मच्छी खाना, मुद्रा अर्थात् सबके साथ इकट्ठे बैठके रोटी बड़े आदि उड़ाना, कन्या, बहिन, माता और पुत्रवधू आदि के साथ भी मैथुन कर लेना। इन पाँच मकारों के सेवन से सबकी मुक्ति होती है ॥१॥

(पीत्वा पीत्वा०) किसी मकान के चार आलयों में मद्य के पात्र धरके, एक कोने से खड़े-खड़े मद्य पीने का आरम्भ करके दूसरे में जाना, दूसरे से पीते हुए तीसरे में और तीसरे से चौथे में जाकर पीना, यहाँ तक कि जब पर्य्यन्त पीते-पीते बेहोश होकर लकड़ी के समान भूमि पर न गिर पड़े, तब तक

सृष्टि के आ द से पढ़े जा रहे सङ्कल्प-वाक्य के अनुसार वर्त्तमान कलियुग २८वीं चतुर्युगी का कलियुग है) लाखों करोड़ों वर्षों तक मनुष्यसमाज किस ग्रन्थ के सहारे और श्रीकृष्ण के अभाव में किस व्यक्ति विशेष को भक्ति के द्वारा मोक्ष पाता रहा है। स्पष्ट है कि प्रायेण वेदविरुद्ध वैष्णव पञ्चरात्र मत के प्रति **अन्धेनव नीयमाना यथान्धाः'** जन समुदाय को भ्रमित कर स्वार्थ सद्धि के लिए इस प्रकार के जाल ग्रन्थ रचे गये। वेद प्रतिपादित 'ओम्' पदवाच्य सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, सर्वज्ञ तथा नित्य परमेश्वर के स्थान में जन्म-मरण के आवर्तमान चक्र में फँसे देहधारी जीव को पूजा का विधान करनेवाले भागवत ग्रन्थ का त्याज्य होना सर्वथा सिद्ध है।

मनुस्मृति (२।१५) में लिखा है—

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥

इस श्लोक में अहिंसाव्रत के पालन पर पूरा बल दिया है। तत्पश्चात्—

यथार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥
ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥
मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥
एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ —मनु० ५।३९-४२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बराबर पीते ही चले जाना। इस प्रकार बारंबार पीके अनेक बार उठ-उठकर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्म-मरणादि दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥२॥

(प्रवृत्ते भैरवीचक्रे०) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्ठे होते हैं, तब उनमें ब्राह्मण से लेके चाण्डालपर्य्यन्त सब स्त्री-पुरुष आते हैं। फिर वे लोग एक स्त्री को नंगी करके वहाँ उसकी योनि की पूजा करते हैं। सो केवल इतना ही नहीं, किन्तु कभी-कभी पुरुष को भी नंगा करके स्त्री लोग भी उसके लिंग की पूजा करती हैं। तदन्तर मद्य के पात्र में से एक पात्र अर्थात् प्याला भरके, उस स्त्री और पुरुष दोनों को पिलाते हैं। फिर उसी पात्र से सब वाममार्गी लोग क्रम से मद्य पीते और अन्य मांसादि खाते चले जाते हैं। यहाँ तक कि जब तक उन्मत्त न हो जाएँ तब तक खाना-पीना बन्द नहीं करते हैं। फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ अनेक भी मैथुन कर लेते हैं। जब उस स्थान से बाहर निकलते हैं, तब कहते हैं कि अब हम लोग अलग-अलग वर्णवाले हो गये ॥३॥

(मातृयोनिं०) उनके किसी-किसी ग्रन्थ में तो ऐसा लिखा है कि माता को छोड़के सब स्त्रियों से मैथुन कर लेवे, इसमें कुछ दोष नहीं और **(मातरमपि न त्यजेत्)** किसी-किसी का यह भी मत है कि माता को भी न छोड़ना, तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिङ्ग प्रवेश करके आलस्य छोड़कर मन्त्र को जपे तो वह शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है ॥४-५॥

इत्यादि अनेक अनर्थरूप कथा, तन्त्रग्रन्थों में लिखी हैं। वे सब वेदादिशास्त्र और युक्ति-प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं, क्योंकि मद्यादि सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती, परन्तु ज्ञान का नाश और दुःखरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है।

एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञेषु, किं च नवीनेषु मिथ्याभूता बह्व्यः कथा लिखिता-स्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्श्यन्ते[1]। तत्रैवमेका कथा लिखिता—

इन श्लोकों तथा इसी प्रकार के अन्य श्लोकों में यज्ञकर्म, पितृकर्म आदि अवसरों पर विस्तार-पूर्वक हिंसा और मांसभक्षण का विधान किया है। वदतोव्याघात दोष होने तथा वेदों में प्रतिपादित अहिंसा के सिद्धान्त के विरुद्ध होने से यह सब मनु का कथन नहीं हो सकता। निश्चय ही ये मध्यकालीन वाममार्गियों द्वारा प्रक्षिप्त श्लोक हैं। इसी कारण ग्रन्थकार ने मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण आदि मान्य ग्रन्थों में भी क्षेपक (प्रक्षिप्त श्लोकों) को निकालकर पढ़ने-पढ़ाने की व्यवस्था दी है। मनुस्मृति के अतिरिक्त स्मृतियों में वेदसम्मत बातें बहुत कम और वेदविरुद्ध बातें बहुत अधिक होने से वे त्याज्य कोटि में हैं। सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में ग्रन्थकार ने कलियुगी पराशरस्मृति के उद्धरण देकर दर्शाया है कि ये स्मृतियाँ वेदविरुद्ध कथोपकथनों से भरी पड़ी हैं। इसलिए उन्हें प्रमाण न मानकर क्षेपकांशवर्जित, वेद और तदनुरूप अर्थ की प्रकाशिका मनुस्मृति का ही प्रामाण्य मानना चाहिए।

वेद का प्रामाण्य सर्ववादी-सम्मत है। वेद का आदेश है—

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह॥ —अथर्व० ७।१०५।१

---

१. अत्र प्रदर्शितासु कथासु काश्चन वेदभाष्यप्रचारार्थं प्रकाशिते विज्ञापनपत्रेऽपि प्रदर्शिताः। द्र० ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३३-३६, द्वि० सं०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[१—ब्रह्मणः स्वदुहित्रा सह मैथुनम्][1]

'प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति ।' सा मिथ्यैवास्ति । कुतः ? अस्याः कथाया अलंकाराभिप्रायत्वात् । तद्यथा—

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये । तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत् । तस्य यद् रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् ॥१॥

—ऐ॰ पं॰ ३ । कण्डि॰ ३३, ३४ ॥

प्रजापतिर्वैसुपर्णो गरुत्मानेष सविता ॥ २ ॥

—शत॰ कां॰ १० । अ॰ २ । ब्रा॰ २ । कं॰ ४ ॥

तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ॥ ३ ॥

—निरु॰ अ॰ ४ । खं॰ २१ ॥

द्यौर्मे॑ पि॒ता ज॑नि॒ता नाभि॒रत्र॒ बन्धु॑र्मे मा॒ता पृ॑थि॒वी म॒हीयम् ।
उ॒त्ता॒नयो॑श्च॒म्वो॒३॒ र्योनि॑र॒न्तरत्रा॑ पि॒ता दु॑हि॒तुर्गर्भ॒माधा॑त् ॥१॥

—ऋ॰ मं॰ १ । सू॰ १६४ । मं॰ ३३ ॥

शा॒सद्वह्नि॑र्दुहि॒तुर्न॒प्त्यं॑ गाद्वि॒द्वाँ ऋ॒तस्य॒ दीधि॑तिं सप॒र्यन् ।
पि॒ता यत्र॑ दुहि॒तुः सेक॑मृ॒ञ्जन्त्सं श॒ग्म्ये॑न॒ मन॑सा दध॒न्वे ॥२॥

—ऋ॰ मं॰ ३ । सू॰ ३१ । मं॰ १ ॥

(पौरुषेयाद्) मनुष्यकृत ग्रन्थों से (अपक्रामन्) दूर रहकर (दैव्यं वचः) ईश्वरवाणी वेद को (वृणानो) अपनाते हुए (प्रणीतिः) वेद में प्रतिपादित नीतियों पर (अभि-आवर्त्तस्व) आचरण करो ।

यह 'कालेनानवच्छिन्न' परमेश्वर का 'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्न' आदेश है । यह सब युगों के लिए है, सब देशों के लिए है । वेद की इयत्ता नहीं है किसी भी रूप में ।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति में भी मरणोत्तर पार्वण, सपिण्डीकरण एकोद्दिष्ट नामक श्राद्ध-कृत्यों का तथा उनमें पितरों के लिए विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों के मांस प्रदान करने आदि[2] अनेक अवैदिक कृत्यों का वर्णन होने से उसकी तथा तत्सदृश अन्य स्मृतियों की अप्रामाणिकता स्पष्ट है । इसीलिए मनुस्मृति से अन्य स्मृतियों को ग्रन्थकार ने त्याज्य कोटि में रख दिया, जिससे कि उनको पढ़ने से लगनेवाले दोषों से पाठक ग्रस्त न हो जाएँ ।[3]

ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में चतुर्मुख ब्रह्मा के अपनी पुत्री सरस्वती के साथ समागम का वर्णन मूल वैदिक आलङ्कारिक कथा का विकृत रूप है, यह दर्शाते हुए ग्रन्थकार ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, निरुक्त तथा ऋग्वेद संहितास्थ मन्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, और तद्व्याख्यान द्वारा सबल

---

१. इयं कथा पूर्वोक्ते विज्ञापनपत्रेऽपि व्याख्याता । द्र॰ पृष्ठ ३७ ।

२. द्रष्टव्य—याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, श्लोक २५०-२७०

३. यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है, वह यह कि भारतवर्ष में मध्य युग में ऐसी भी मान्यता रही कि स्मृतिग्रन्थ युग-युग की आवश्यकता और मान्यता के अनुसार बदलते रहते हैं, इसलिए आवश्यक नहीं कि एक स्मृति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सविता सूर्य्यः सूर्य्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति। तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति। यस्माद् यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत् स तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्तिः। स च तां रःहितां किञ्चिदरक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्ऋष्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति। एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनद् उत्पादयति। अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत् सूर्य्यश्च। कुतः? तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्य्येण सूर्य्याद् दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात्। यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किंचित् सूर्य्यप्रकाशेन रक्तता भवति तस्योषा इति संज्ञा। तयोः पितादुहित्रोः समागमाद् उत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः। यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्तिर्भवति, तथैवात्रापि बोध्यम्।

प्रतिपादित करते हैं कि सूर्य, पृथिवी, पर्जन्य, उषा दिवस आदि के इस प्राकृतिक अथवा दैवी जगत् के क्रिया-कलापों के ये अलंकृत शैली में वर्णन मात्र हैं। यहाँ सर्वसप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण ३।३।९ (३३) के प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्यादि प्राणियों की प्राण-प्रदान द्वारा रक्षा करनेवाले सूर्यरूप प्रजापति की पुत्री (अपने ही गतिचक्र से उत्पन्न या प्रकट की गई) दिव्य प्रकाशयुक्त द्यौः है, अथवा 'उषा' नामक सूर्योदय के पूर्व की वेला है। उस उषा काल में पृथ्वी पर पड़नेवाली प्रथम सूर्य-किरणें दिनरूप पुत्र को उत्पन्न करतीं हैं जिसका कि नाम आदित्य है। प्रजापति शब्द कैसे सूर्य का वाचक है इस शंका के निवारण के लिए आगे शतपथ ब्राह्मण १०।२।२।४ के प्रमाण से यह भी दर्शाया गया है कि वैदिक वाङ्मय में प्रजापति, सुपर्ण, गरुत्मान् ये शब्द सविता=सूर्य के पर्याय माने गये हैं। इसलिए 'प्रजापति' शब्द ऐतरेय ब्राह्मण सन्दर्भित प्रसंग में निश्चित रूप से सूर्य का वाचक है, न कि किसी मनुष्य देहधारी तथा कल्पित चार मुखवाले 'ब्रह्मा' का।

पुनश्च ऋग्वेद के **"द्यौर्मे पिता०"** (ऋ० १।१६४।३३) की व्याख्या में निरुक्तकार महर्षि यास्काचार्य के वचन को प्रमाण रूप में अङ्कित करते हुए यह भी यहाँ पर प्रसंगोपात्तत्वेन दर्शाया गया है कि पर्जन्य (अर्थात् मेघ या जल और पृथ्वी का पारस्परिक सम्बन्ध भी पिता-पुत्री के तुल्य है। तदनुसार ऋग्वेद के मन्त्र १।१६४।३३ में प्रयुक्त 'पिता' शब्द पर्जन्य का बोधक है 'दुहितुः' शब्द 'पृथिवी' का और 'गर्भमाधात्' ये दो शब्द मेघ द्वारा वृष्टि के माध्यम से पृथिवी ओषधि, वनस्पति आदिरूप गर्भ को धारण कराने अर्थ के बोधक हैं। **"द्यौर्मे पिता०"** इत्यादि प्रकृत मन्त्र का पूर्ण अर्थ निरुक्तकार ने इस प्रकार किया है—

"द्यौर्मे पिता माता वा पालयिता वा जनयिता नाभिरत्र, बन्धुर्मे माता पृथिवी महतीयम् भूः

के उपदेश सार्वकालिक हों। इस बात की पुष्टि अनेक मध्ययुगीन पुस्तकों से होती है। इसी प्रकार का एक कथन सुप्रसिद्ध महावैयाकरण 'महाभाष्यदीपिका' के रचयिता श्री भर्तृहरि के शब्दों में इस प्रकार है—**"नियतकाला हि स्मृतय इष्टास्तच्छ्रूतयश्च यथा गवालम्भो मद्यपानञ्च। शुक्रेणसेवितमिति क्रियामाणं प्रत्यवायायेति। गवालम्भे दृष्टा स्मृतिर्नियतकाला। अघत्वे एतत् पापम्। शब्दाः स्मर्यन्तेऽभ्युदयाय, अन्ये तु दोषाय। इदञ्च शब्दरूपमद्यत्वेऽपि प्रयोक्तव्यम्।"** (**श्री भर्तृहरि कृता महाभाष्यप्रदीपिका, तृतीयमाह्निकम्** पूना-पृष्ठ १०८।) परन्तु ग्रन्थकार की दृढ़ धारणा जान पड़ती है कि जब वेद पशु-हिंसादि दुष्कृत्यों का विधान करने की अपेक्षा प्रतिषेध करते हैं, तो किसी युग में भी यज्ञ में वेदविरुद्ध गो हिंसादि कर्म प्रचलित रहे हैं, वे अनुचित थे उनका तिरस्कार ही सदा होना चाहिए और वेदों की रक्षा और वेदों से लाभ उठाने का दृष्टिकोण होने पर इस प्रकार के अवैदिक कर्म कभी भी किसी को नहीं करने चाहिएँ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः पितादुहितृवत् (रूपकालंकारः)। कुतः ? पर्जन्यादद्भ्यः पृथव्या उत्पत्तेः, अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति। स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्य्यवज्जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति। तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते। अयमपि रूपकालङ्कारः ॥१-३॥

अत्र वेदप्रमाणम्—

(द्यौर्मे पिता०) प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति, (जनिता) सर्वव्यवहाराणामुत्पादकः। अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात्। तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्री। द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरूर्ध्वं तानयोरुत्तानस्थितयोरलङ्कारः। अत्र पिता पर्जन्यो दुहितुः पृथिव्या गर्भं जलसमूहमाधात्, आ समन्ताद्धारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः ॥१॥

(शासद्वह्नि०) अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोऽस्ति। वह्निशब्देन सूर्य्यो दुहिताऽस्य पूर्वोक्तैव। स पिता स्वस्या उषसो दुहितुः सेकं किरणाख्यवीर्य्यस्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा दिवसपुत्रमजनयदिति ॥२॥

अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्या निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैवर्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित् केनापि सत्या मन्तव्या इति।

बन्धुः सम्बन्धमाधात्। नाभिः सन्नहनात् नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुरेतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते सबन्धव इति च, ज्ञातिः सञ्ज्ञानात्। उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः। उत्तान उत्ततान ऊर्ध्वतानो वा, तत्र पिता दुहितुर्गर्भं ददाति पर्जन्यः पृथिव्याः"। (निरुक्त ४।३।२१)

इस यास्कीय मन्त्रव्याख्या में ब्रह्मा देहधारी द्वारा अपनी दुहिता सरस्वती में गर्भाधान का नामलेश भी नहीं है, अतः पुराणोक्त ब्रह्मा सरस्वती गर्भाधान का कथानक सर्वथा वेद-विरुद्ध और कपोलकल्पित है, यह सिद्ध हो जाता है। वेद में प्राकृतिक जगत् का यथावत् वर्णन किया गया है, जिसके अनुसार बृहत् आकाश में विद्यमान सूक्ष्म जल जब घनीभूत होकर मेघ का रूप धारण कर दूर विद्यमान पृथिवी पर बरसते हैं तब अन्य ओषधि वनस्पति के उत्पन्न होने से पृथिवीस्थ मनुष्यादि प्राणियों का परिपालन होता है। वेदमन्त्र का यही अभिप्राय सब भाष्यकारों ने दर्शाया है। यथा द्रष्टव्य हैं, निम्नांकित भाष्यों के उद्धरण :—

१—"द्यौर्मे मम पिता यः स जनिता जनयिता। कथम्। उच्यते नाभिश्च नाभिभूतो भौमो रसः। अत्र तिष्ठतीति शेषः, ततश्चान्नं जायते। अन्नाद्रेतः रेतसो मनुष्याः—पृथिवी मही महती इयम्। किञ्च यदिदमुत्तानयोश्चम्वोर्द्यावापृथिव्योरन्तर्मध्ये योनिः स्थानमन्तरिक्षाख्यातम्। अत्र स्थिर इति शेषः। पिता पालयिता पर्जन्यो दुहितुर्दूरेनिहितायाः पृथिव्याः।

अथवा सस्यवत्तायाः जनयितृत्वात् पितैव पर्जन्यः पृथिव्याः पृथिवी चास्य दुहिता। स तस्या वृष्टिप्रदानद्वारेण सस्यनिष्पत्तिफलं गर्भमाधाद् आधत्ते .....।" —स्कन्द स्वामिमहेश्वरटीका

—निरुक्त ४।३।२१

२—दीर्घतमा ब्रवीति। मे मम द्यौर्लोकः पिता पालकः। न केवलं पालकत्वमात्रं अपितु जनिता जनयितोत्पादयिता। तत्रोपपत्तिमाह। नाभिश्च नाभिभूतो भौमो रसोऽत्र तिष्ठतीति शेषः। ततश्चान्नं जायते। अन्नाद्रेतः रेतसो मनुष्य इत्येवं पारम्पर्येण - ननसम्बन्धिनो हेतो रसस्यात्र सद्भावात्। अनेनैवाभिप्रायेण जनितेत्युच्यते, अतएव बन्धुर्बन्धिका तथेयं मही महती पृथिवी मे माता मातृस्थानीया स्वोद्भूतौषध्यादिनिर्मात्रीत्यर्थः। ..... अत्रास्मिन्नन्तरिक्षे पिता द्युलोकः। अधिष्ठात्रधिष्ठानभेदेनादित्यो द्यौरुच्यते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ जो कि व्यासजी के नाम से सम्प्रदायी लोगों ने रच लिये हैं, उनका नाम पुराण कभी नहीं हो सकता, किन्तु उनको नवीन कहना उचित है। अब उनकी मिथ्यात्वपरीक्षा के लिये कुछ कथा[१] यहाँ भी लिखते हैं—

नवीन ग्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या करके लिखी है, जोकि प्रथम रूपकालङ्कार की थी—(**प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम०**) अर्थात् यहाँ प्रजापति कहते हैं सूर्य्य को, जिसकी दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा हैं, क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका ही सन्तान कहाता है। इसलिए उषा जो कि पाँच घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है, वह सूर्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है। उनमें से उषा के सम्मुख जो प्रथम सूर्य्य की किरण जाके पड़ती है, वही वीर्य्य स्थापन के समान है। उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है।

सस्वरश्मिभिः। अथवा इन्द्रः पर्जन्यो वा। दुहितुर्दूरेनिहिताया भूम्या गर्भं सर्वोत्पादनसमर्थं वृष्टचदकलक्षणमाधात्। सर्वतः करोति।"—(सायणः, ऋक्संहिताभाष्यम् १।१६४।३३। प्रथम भाग पृ० ७११। वाराणसीसंस्करणम्)

३—द्यौः मे पिता जनयिता वर्षणान्मम सन्नहनकृत्। तेजो दिवि भवति। पार्थिवैर्धातुभिः शरीरं बध्यते। यतश्च महती इयं पृथिवी मम बन्धुः माता भवति। उत्तानयोः द्यावापृथिव्योः मध्यं अवकाशरूपमन्तरिक्षं भवति। तत्र दुहितुः अद्भ्यः पृथिवी जातेति पर्जन्यस्य दुहिता पृथिवी भवति। स तस्या गर्भं दधाति। ततः शुक्रशोणितसंसर्गाज्जीवः प्रादुर्भवतीति।" —(वेंकटमाधवः, ऋग्वेदभाष्यम् १।१६४।३३ वि० वै० शोधसंस्थानहोश्यारपुरसं०, भाग ३ पृ० ३६७)

४—भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। भूमिसूर्यौ सर्वेषां मातृपितृबन्धुवद् वर्तेते। इदमेवास्माकं निवासस्थानं यथा सूर्यः स्वस्मादुत्पन्नाया उषसो मध्ये किरणाख्यं वीर्यं संस्थाप्य दिनं पुत्रं जनयति तथैव पितरौ प्रकाशमानं पुत्रमुत्पादयेताम्।" (दयानन्दसरस्वती, ऋग्वेदभाष्यम्, १।१६४।३३ भाग ३ पृ० ३७५)।

यहाँ स्कन्दमहेश्वर, सायण तथा वेंकटमाधव तीनों भाष्यकारों ने 'दुहिता' शब्द से पृथिवी अर्थ लिया है, जबकि ग्रन्थकार ने 'पृथिवी' अर्थ के साथ-साथ ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से 'उषा' अर्थ भी किया है। ये दोनों अर्थ सर्वथा प्रामाणिक और युक्तिसंगत हैं।

इस प्रकार ब्रह्मा-सरस्वती विषयक कथानक की प्रकृत मन्त्र के साथ कोई संगति नहीं है, यह स्फुट है।

अब ऋग्वेद के ही द्वितीय मन्त्र **'शासद्वह्निः०'** पर विचार किया जाता है। यास्काचार्य ने इस ऋचा को दुहिता (अर्थात् पुत्री) के और पुत्र के दायाद (उत्तराधिकार) को प्रतिपादित करनेवाली बतलाते हुए 'वह्नि' शब्द का अर्थ कन्या का पति (कन्या का पिता) 'नप्त्य' का अर्थ पुत्री का पुत्र (दौहित्र) ऋत का अर्थ प्रजननरूप यज्ञ तथा 'दीधिति सपर्यन्' पदों का अर्थ गर्भाधान सम्बन्धी विधान का मन्त्रों से पूजन-निष्पादन किया है। यथा—

प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावम्। दुहिता-दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा। नप्तारमुपागमद् दौहित्रं पौत्रमिति। विद्वान् प्रजननयज्ञस्य रेतसो वाङ्गदङ्गात् सम्भूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि प्रत्यृतस्य विधानं पूजयन्। अविशेषेण मिथुना पुत्रा दायादा इति।' (निरुक्त ३।१।४)।

---

१. ग्रन्थकार ने इसी प्रकार की कुछ कथाओं का निर्देश अपने वेदभाष्य के प्रचार के लिए प्रकाशित विज्ञापन पत्र में भी किया है। द्र० ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३३-३६, द्वि० सं०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'प्रजापति' और 'सविता' ये शतपथ में सूर्य्य के नाम हैं ।।

तथा निरुक्त में भी रूपकालंकार की कथा लिखी है कि—पिता के समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है, उसकी पृथिवीरूप दुहिता अर्थात् कन्या है, क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही हुई है । जब वह उस कन्या में वृष्टि द्वारा जलरूप वीर्य को धारण करता है, तब उससे गर्भ रहकर ओषध्यादि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं ।।१-२।।

प्रकृत ऋचा का स्कन्दस्वामिमहेश्वरकृत अर्थ, निरुक्तोक्त अर्थ का ही अनुवाद है । जैसाकि अपनी व्याख्या के अन्त में उनके स्वकण्ठोक्त इस वाक्य से स्पष्ट है "अङ्गादित्यादिभाष्यम् वक्ष्यमाण-व्याख्यानतुल्यमित्यपेक्षितम् ।' स्कन्दस्वामिमहेश्वर टीका, निरुक्त ३।१।४, पृ० १२६ ।

स्कन्दस्वामिकृत निरुक्त भाष्य इस प्रकार है :—

"विश्वामित्रस्यार्षम् । 'न जामये' इति च । 'शासत्' शास्ति आचष्ट इत्यर्थः 'वह्निः' पिता जातमात्राया उत्संगेन दानकाले च जामातारं प्रति वोढृत्वात् वह्निरुच्यते । स दुहितुः पुत्रमिति शेषः 'नप्त्यं' नप्तारं पौत्रम्, 'गात्'—शुद्धोऽपि सामर्थ्याद् गमिखपूर्वार्थे द्रष्टव्यः, अवगच्छति । कम् ? सामर्थ्यात् पुत्रं दौहित्रमित्यर्थः । 'विद्वान्' जानन्, 'ऋतस्य' यज्ञस्य प्रजननाख्यस्य, 'दीधितिं' कर्मविधानं यत् गर्भाधान-काले मन्त्रवन्नियमवच्च स्मृतिकोटिरुक्तम् । सपर्यन्-पूजयन् तदनुष्ठानेनानुतिष्ठंश्चेत्यर्थः । अथवा 'ऋतस्येति', ऋतशब्देन योनौ गतं रेत उच्यते, तस्य विधानं गर्भोत्पत्तौ व्यापारः । कलसाद्युत्तरोत्तरा-वस्थापात्रिरूपः तं विद्वान् पूजयंश्चेत्यर्थः ... .।" स्कन्दस्वामि० टीका निरुक्त ३।१।४ पृ० १२५ दिल्ली, १९८२ ई०)

यहाँ कन्या का पिता कन्या को विवाह संस्कार द्वारा जमाता को सौंपता है इसी वोढा (वह-प्रापणे) अर्थ को धारण करने के कारण कन्या का पिता वोढावह्नि कहा गया है । ऋक्संहिता भाष्य में सायणाचार्य ने भी यास्कीय अर्थ की व्याख्या करते हुए मन्त्र का पूर्वोक्त भाव ही प्रदर्शित किया है । यथा—**"कुशिकः प्रसंगात् केचित् शास्त्रार्थं ब्रूते । अपुत्रस्य पितुः पुत्री दायदा पुत्रिका सति । यतः संतान कृतस्याः पुत्र इत्यनयोच्यत इति । अपुत्रो यः पिता कन्यामन्यकुलं प्रापयति स वह्निरित्युच्यते । स पिता शासत् दुहितुः पुत्रत्वेन स्वीकारात् दौहित्रं नप्तृभवंपिण्डदानादिकं कर्तव्यतया गात् गच्छति । किं कुर्वन् । विद्वान् अस्यां दुहितरि जातः पित्रो मम स्वधाकारो भविष्यतीति जानन् ऋतस्य सत्यस्य पुत्रोत्पादनसमर्थस्य रेतसो दीधितिं धर्तारं जामातारं तर्पति सपर्यन् वस्त्रालंकारादिना पूजयन् पिता नप्तृभवं गच्छति । यत्र यस्मिन् विषये पिता पुत्रो जनको दुहितुरपुत्रायाः स्वकन्यायाः, सेकं रेतसः सेकं तस्यां रेतः सेकमृंजन् प्रसाधयन् शग्म्येन सुखनिमित्तेन मनसा संदधत्ते । आत्मनं संधत्ते । अपुत्रत्वनिमित्तदुःखमगमात् । यस्या दुहितुः पिता पालकः पतिर्जामाता सेकं तस्यां रेतः सेकमृंजन् प्रसाधयन् संशग्म्येन केवलं सुखनिमित्तेन मनसा तया स्वशरीरं संधत्वे । संधत्ते । .... एतमर्थं यास्कोऽप्याह ।** —(सायणः, ऋग्वेदभाष्य ३।३१।१)

सायणाचार्य के भाष्य में (**दुहितुः पिता पालकः पतिर्जामाता**) पिता शब्द का पालक अर्थ तो स्पष्टतः यौगिक है, पर उसे पति अर्थ में लगाना विचित्र और असंगत-सा प्रतीत होता है, परन्तु वैदिक सन्दर्भ में इसे असंगत इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि पिता और पति शब्द मूलतः एक ही '**पा रक्षणे**' धातु से निष्पन्न हैं[1] और वैदिक शब्द प्रधानतः यौगिक अर्थों के ही प्रकाशक या वाचक हुआ करते

---

१. नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ । उणादि २।९७; पातेर्डति-उणादि ४।५८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस 'कथा' का मूल ऋग्वेद में इस प्रकार है कि—

(द्यौर्मे पिता०) द्यौ जो सूर्य्य का प्रकाश है, सो सब सुखों का हेतु होने से मेरे पिता के समान, और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है। **(उत्तान०)** जैसे ऊपर नीचे वस्त्र की दो चाँदनी तान देते हैं, अथवा आमने-सामने दो सेना होती हैं, इसी प्रकार सूर्य और पृथिवी, अर्थात् ऊपर की चाँदनी के समान सूर्य्य, और नीचे के बिछौने के समान पृथिवी है, तथा जैसे दो सेना आमने-सामने खड़ी हों, इसी प्रकार सब लोकों का परस्पर सम्बन्ध है। इसमें योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी, और गर्भस्थापन करनेवाला पति के समान मेघ है। वह अपने बिन्दुरूप वीर्य के स्थापन से उसको गर्भधारण कराने से ओषध्यादि अनेक सन्तान उत्पन्न करता है, कि जिनसे सब जगत् का पालन होता है ॥१॥

हैं। यही कारण है कि ग्रन्थकार भी उणादिसूत्रों के भाष्य में 'पिता' और 'पति' शब्दों का लौकिक रूढ़ि दृष्टि से जहाँ क्रमशः 'जनक' और 'स्वामी' अर्थ करते हैं, वहाँ वैदिक अथवा यौगिक दृष्टि से रक्षा करनेवाला (पाति रक्षतीति पिता पतिः) भी करते हैं।[१]

आलोच्य मन्त्र के एक अन्य पुराने मध्ययुगीन भाष्यकार श्री वेंकटमाधव के भाष्य का उल्लेख करना भी यहाँ अप्रासंगिक न होगा। वे लिखते हैं—

"कुशिको वैश्वामित्रः (१)। तृतीयस्यामृचि पुत्रप्रसङ्गादिमुक्तम्—'अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवितेति" (वा० ध० ७।१७) विट्पतेरनुशासनं कुर्वन् वह्निः दुहितरमन्यं प्रतिनयन् दुहितुः पुत्रं गच्छति रेतसः धारकं पूजयन्। दौहित्रस्तस्य पुत्रो भवति। विट्पतिः यत्र अनपत्यस्य दुहितुः पुत्रिकायाः रेतः सेकमृञ्जन् केवलसुखनिमित्तेन मनसा संदधात्यात्मानं न पुत्रनिमित्तेनेति। (प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे (३, ४) इत्यादिकं निरुक्तं द्रष्टव्यम् .....।" (वेङ्कटमाधव, ऋग्वेदभाष्य ३।३१।१ वि० वै० शो० सं० होश्यारपुर संस्करण, भाग ३, पृ० १३६७)।

यहाँ वह्नि (वोढा) कन्या के पिता द्वारा, विट्पति, जामाता को उपदेश करने तथा पूजित करने की बात स्कन्द, सायण आदि के भाष्यों के तुल्य ही कही गई है। रेतःसेक का अर्थ वेंकटमाधव ने रेतः (वीर्य) को धारण करनेवाला पति किया है जबकि सायण ने सेकम् शब्द में भाव में प्रत्यय माना है—वीर्य निक्षेपणरूप व्यापार। इस प्रकार कुछ अन्तर भी सायण और वेङ्कट के भाष्यों में दीखता है।

इसी प्रकार शौनकप्रणीत 'बृहद्देवता' में भी दायाद अर्थ को ही समर्थित करते हुए उक्त ऋचा के सम्बन्ध में कहा गया है :—

करोति पुत्रिकां नाम यथा दुहितरं तथा।
तस्यां सिञ्चति रेतो वा तच्छासदिति कीर्त्तितम्॥

—(बृहद्देवता ४।११०-१११)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि श्री यास्काचार्य, शौनक, स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव और सायणाचार्य ने 'शासद् वह्निः' इस मन्त्र की जहाँ आधिभौतिक (सामाजिक) पक्ष में ही व्याख्या की है, वहाँ ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के इस प्रकरण में मन्त्र को रूपकालङ्कार मानकर आधिदैविक

१. पाति रक्षतीति पिता जनको वा; पाति रक्षतीति पतिःस्वामी वा। वेदाङ्गप्रकाश भाग १३,उणादि ४।५८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(शासद्वह्नि०) सबका वहन अर्थात् प्राप्ति करानेवाले परमेश्वर नें मनुष्यों की ज्ञानवृद्धि के लिए रूपकालंकार कथाओं का उपदेश किया है, तथा वही (ऋतस्य०) जल का धारण करनेवाला (नप्त्यङ्गा०) जगत् में पुत्र-पौत्रादि का पालन और उपदेश करता है। (पिता यत्र दुहितुः०) जिस सुख-रूप व्यवहार में स्थित होके पिता दुहिता में वीर्य्य स्थापन करता है, जैसा कि पूर्व लिख आये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी जान लेना। जिसने इस प्रकार के पदार्थ और उनके सम्बन्ध रचे हैं, उसको हम नमस्कार करते हैं ॥२॥

जो यह रूपकालंकार की कथा[1] अच्छी प्रकार वेद, ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध है, इसको ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीमद्भागवतादि मिथ्या ग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़के लिख दिया है, तथा ऐसी-ऐसी अन्य कथा भी लिखी हैं। उन सबको विद्वान् लोग मन से त्यागके सत्य कथाओं को कभी न भूलें।

अर्थ में व्याख्या की है, जो कि पूर्वोक्त प्रमाणों से (ऐतरेय ब्राह्मण ३।३३, ३४ शतपथ ब्राह्मण १०।२।२।४ तथा निरुक्त ४।२१) समर्थित है। अतः यह अर्थ सर्वथा प्रामाणिक और तर्कसम्मत है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि ऋग्वेद ३।३१।१ के भाष्य में लिखित भावार्थ में उन्होंने आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थों को स्वीकार करते हुए उनमें परस्पर उपमानोपमेयभाव माना है। जैसेकि –

"हे मनुष्यो ! जैसे पिता के समीप से कन्या उत्पन्न होती है वसे ही सूर्य से प्रातःकाल की वेला प्रकट होती है, और जैसे पति अपनी स्त्रा में गर्भ को धारण करता है वैसे कन्या के सदृश वर्त्तमान प्रातःकाल की वेला में सूर्य किरणरूप वीर्य को धारण करता है, उससे दिवसरूप पुत्र उत्पन्न होता है ॥१॥

यही अर्थ ग्रन्थकार को यहाँ अभीष्ट है। इसी रूपक को उन्होंने अपने शब्दों में दिखाने का प्रयास किया है। तदनुसार ही उन्होंने लिखा है—"**वह्नि शब्देन सूर्यो दुहिताऽस्य पूर्वोक्तैव**" अर्थात् 'वह्नि' शब्द से सूर्य लेना तथा उसकी दुहिता वह पूर्वोक्त उषा है। रूपकालंकार का लक्षण है—'**विषय्यभेदाद्रुप्यरञ्जनं विषयस्य यत्**' विषयो अर्थात् उपमान के रूप से विषय अर्थात् उपमेय का उपरञ्जन करना ही रूपक है। इस प्रकृत स्थल में भी अर्थ ऐसा होना चाहिए जिससे विषयी (उपमान) पिता और दुहिता से विषय (उपमेय) सूर्य और उषा का अभेद तादात्म्योपरञ्जन स्पष्टतः प्रतीति ग्रन्थकार के संस्कृतार्थ से होती है। यहाँ ग्रन्थकार और यास्कमुनि के अर्थों में अर्थभेद तो है, परन्तु अर्थविरोध नहीं। इस प्रकरण में ग्रन्थकार का किया अर्थ उपयुक्त है। अब ग्रन्थकार समर्थित रूपकालंकारको अर्थ योजना के प्रश्न पर किञ्चित् विचार किया जाता है। रूपकालंकार का लक्षण काव्यप्रकाशकार मम्मट के मत में इस प्रकार है—'**तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः**' (काव्यप्रकाश १०।९३)–अर्थात् उपमान और उपमेय का परस्पर भेद होते हुए अत्यधिक सदृशता के कारण जो अभेद वर्णन किया जाता है, वह रूपकालंकार कहा जाता है। इस अलंकार के परम्परित, साङ्ग और निरङ्ग तीन भेद होते हैं। उनमें से परम्परित के पुनः चार भेद होते हैं श्लिष्टशब्दनिबन्धन, अश्लिष्टशब्दनिबन्धन, केवलरूपक और माला रूपक। इनमें श्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परित नामक रूपक में जिस प्रकार श्लिष्टशब्दों के होने पर, जैसे अन्य का आरोप अवश्य अपेक्षणीय नियत अर्थ के आरोप का कारण होता है उसी प्रकार पूर्वोदाहृत ऋङ्मन्त्रों में भी जानना चाहिए। वहाँ पिता जनिता, माता दुहिता, वह्नि ये संज्ञा पद, श्लिष्ट (दो-दो अर्थों के वाचक) हैं। साथ ही 'गर्भमाधात्', सेकमृञ्जन्—ये कर्म क्रिया पद भी दो-दो अर्थों के वाचक हैं। जैसे कि पिता शब्द से द्यौः, सूर्य, और पर्जन्य अर्थ ऐतरेय, शतपथ तथा निरुक्त में ग्रहण किये गये हैं

---

१. यह कथा उक्त विज्ञापन पत्र में भी व्याख्यात है। द्र० वही, पृष्ठ ३७।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[२—इन्द्राहल्ययोः कथा[1]]

तथा च—'कश्चिद् देहधारीन्द्रो देवराज आसीत्। स गोतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान्। तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति। तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति। तस्या रामपादरजः-स्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति।'

तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः सन्ति। कुतः? आसामप्यलङ्कारार्थत्वात्। तद्यथा—

इन्द्रागच्छेति। गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति। तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत् प्रमुमोदयिषति ॥१॥ —शत. कां. ३। अ. ३। ब्रा. ४। कं. १८॥

रेतः सोमः ॥२॥ —श. कां. ३। अ. ३। ब्रा. २। कं. १॥

रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते ॥३॥ —निरु. अ. १२। खं. ११॥

सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व[2] इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते।४।

—निरु. अ. २। खं. ६॥

जार आ भगम् जार इव भगम्। आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता ॥५॥

—निरु. अ. ३। खं. १३॥

एष एवेन्द्रो य एष तपति ॥६॥ —श. कां. १। अ. ६। ब्रा. ४। कं. १८॥

और 'गर्भ' तथा 'सेक' शब्द वृष्टि और किरण के द्योतक माने गये हैं। 'वह्नि' शब्द 'पिता' तथा 'सूर्य' का वाचक माना गया है और 'दुहिता' शब्द द्यौः, उषा, पृथिवी तथा पुत्री अर्थों का वाचक माना गया है। इस प्रकार आधिदैविक जगत् में तो पिता (सूर्य या मेघ) द्वारा दुहिता (उषा या पृथिवी) में गर्भ (प्रकाश या औषध्यादि) का धारण तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, किन्तु लौकिक मानवीय व्यवहार में अर्थात् आधिभौतिक जगत् में पिता द्वारा पुत्री के गर्भधारण की बात सर्वथा अन्याय्य और प्रतिषिद्ध है।

इस सारे विवेचन को दृष्टिगत करते हुए ब्रह्मा-सरस्वती-विषयक तथाकथित आख्यान किसी प्रकार सत्य नहीं कहा जा सकता।

वेद मन्त्रों में नाना प्रकार की कथाओं या आख्यानों के मूल को ढूंढ़नेवाले मध्यकालीन कथाप्रिय लोगों ने किस प्रकार कुछ-का-कुछ अर्थ कर डाला, उसका उक्त कथानक एक निदर्शन है। आगे इसी प्रकार की कुछ कथाएँ जो लोक में प्रचलित हैं, पुराणों में यत्र-तत्र विस्तृत रूप से वर्णित हैं, और जिनका मूल उद्गम वेदों में माना जाता है, उन्हीं का उदाहरण ग्रन्थकार ने दिया है, और युक्ति-प्रमाणपूर्वक उनकी परीक्षा करके यह निष्कर्ष निकाला है कि मूल वेदमन्त्रों का आशय न जानने से अज्ञान या भ्रान्ति के कारण अन्यथा-अन्यथा कथा-कहानियाँ लोक में प्रचलित हैं, जिनका निराकरण कर मन्त्रों का सत्यार्थ संसार को बतलाना परमावश्यक है।

'इन्द्राऽऽगच्छ' इत्यादि प्रतीक शतपथ ब्राह्मण में षड्विंश ब्राह्मण १-१-२ से ली गई प्रतीत होती हैं, जो 'सुब्रह्मण्या' नामक 'ऋत्विज्' के द्वारा इन्द्रादि यज्ञ देवताओं के आवाहन (जो 'सुब्रह्मण्याह्वान'

---

१. इयं कथा पूर्वोक्ते विज्ञापनपत्रेऽपि निरूपिता। द्र० पृष्ठ ३७, ३८। अस्मिन्नेव पत्र-विज्ञापने ३५८ तमे पृष्ठे 'गोतम-अहल्याकथायाः' पृथक् पुस्तिकाया अप्युल्लेखो दृश्यते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—इन्द्रः सूर्य्यो य एष तपति, भूमिस्थान् पदार्थांश्च प्रकाशयति। अस्येन्द्रेति नाम परमैश्वर्य्यप्राप्तेर्हेतुत्वात्। स अहल्याया जारोऽस्ति। सा सोमस्य स्त्री तस्य गोतम इति नाम। गच्छतीति गोरतिशयेन गौरिति 'गोतम'श्चन्द्रः। तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोऽस्ति। रात्रिरहल्या। कस्माद्? अहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रि'रहल्यो'च्यते। स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति, स्वस्त्रियाऽहल्यया सुखयति।

अत्र स सूर्य्य इन्द्रो, रात्रेरहल्याया गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते। कुतः? अयं रात्रेर्जरयिता। 'जृ॒ष् वयोहानौ' विति धात्वर्थोऽभिप्रेतोऽस्ति। रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य एवेति मन्तव्यम् ॥१-६॥

एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्कारभूतायां भूषणरूपायां सच्छास्त्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति, सा केनचित् कदापि नैव मन्तव्या हि, एतादृश्योऽन्याश्चापि।

भाषार्थ—अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है,[1] कि जिसको मूढ़ लोगों ने अनेक प्रकार से बिगाड़के लिखा है, सो उसको ऐसे मान रक्खा है कि—

'देवों का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव था। वह गोतम ऋषि की स्त्री अहल्या के साथ जारकर्म किया करता था। एक दिन जब उन दोनों को गोतम ने देख लिया, तब इस प्रकार शाप दिया किहे—इन्द्र! तू हज़ार भगवाला हो जा तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाषाणरूप हो जा, परन्तु जब उन्होंने गोतम की प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोक्षण कैसे वा कब होगा, तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हज़ार भग के स्थान में हज़ार नेत्र हो जाएँ, और अहल्या को वचन दिया जिस समय रामचन्द्र अवतार लेकर तेरे पर अपना चरण लगावेंगे, उस समय तू फिर अपने स्वरूप में आ जाएगी।'

कहलाता है) से सम्बद्ध है। शतपथ ब्राह्मण में इस स्थल पर आगे कहा गया है—'**इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता, तस्मादाह इन्द्राऽऽगच्छेति**' (श० ब्रा० ३।३।४।१८)। यह यज्ञ का देवता इन्द्र कौन है? इस जिज्ञासा में इन्द्र का अर्थ ग्रन्थकार ने "**अहल्यायै जारः**' (अर्थात् अहल्या का विनाशक) इस कथन के आधार पर 'सूर्य' किया है और उस (सूर्य) में परमैश्वर्य की प्राप्ति का सम्बन्ध माना है जिसके कारण सूर्य को इन्द्र शब्द से अभिहित किया गया है। इसीलिए श० ब्रा० ११।६।४।१८ में भी सूर्य को इन्द्र कहा गया है। प्रकृत प्रसंग तो केवल यह दर्शाने के लिए ग्रन्थकार ने उठाया है कि वेद में 'इन्द्र' शब्द सूर्यवाची तथा 'अहल्या' शब्द रात्रिवाची है। उन्होंने 'अहल्या' शब्द का 'अहः' (दिन) का जिसमें 'ल्या' (लय) हो वह रात्रि ऐसा बतलाकर वेद के एक अत्यन्त निगूढ़ अर्थ को संसार के समक्ष प्रस्तुत कर इन्द्र-अहिल्या सम्बन्धी पौराणिक कथा के मानवीकृत रूप का वास्तविक रहस्य बतलाया है और विश्व का महान् उपकार किया है।

'**सुषुम्णाः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमाः गन्धर्वः**' इत्यादि मन्त्र यजुर्वेद १८।४० का है, जिसमें सूर्य की रश्मि-विशेष जो वेदप्रयुक्त इन्द्र शब्द अनेक प्रसङ्गों में आकाश में तपनेवाले सूर्य का वाचक है, इसे सप्रमाण डा० जयदत्त उप्रेति की पुस्तक 'वेद में इन्द्र' (भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली) में दर्शाया है। (सुषुम्णा) (अत्यन्त आह्लादक सुखकर) कहलाती है, ये सम्बद्ध होने के कारण चन्द्रमा सकल लोक का आह्लादक

---

१. यह कथा भी पूर्वनिर्दिष्ट विज्ञापनपत्र में (पृष्ठ ३७, ३८) व्याख्यात है। ऋ० द० के पत्र-विज्ञापन पृष्ठ ३५८ (द्वि० सं०) पर 'गोतम०' संकेत से गोतम-अहल्या कथा के पृथक् मुद्रण का भी संकेत मिलता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड़कर लिखी है। सत्य ग्रन्थों में ऐसे नहीं है। तद्यथा—

(इन्द्रागच्छेति०) अर्थात् उनमें इस रीति से है—सूर्य का नाम इन्द्र, रात्रि का अहल्या, तथा चन्द्रमा का गोतम है। यहाँ रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री-पुरुष के समान रूपकालंकार है। चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब प्राणियों को आनन्द कराता है और उस रात्रि का जार आदित्य है, अर्थात् जिसके उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है, और जार अर्थात् यह सूर्य ही रात्रि के वर्त्तमान रूप-शृंगार को बिगाड़नेवाला है। इसलिए यह स्त्री-पुरुष का रूपकालंकार बाँधा है, कि जैसे स्त्री-पुरुष मिलकर रहते हैं, वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ-साथ रहते हैं। चन्द्रमा का नाम 'गोतम' इसलिए है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है, और रात्रि को 'अहल्या' इसलिए कहते हैं कि उसमें दिन लय हो जाता है। तथा सूर्य रात्रि को निवृत्त कर देता है, इसलिए वह उसका 'जार' कहाता है।

इस उत्तम रूपकालंकारविद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड़के सब मनुष्यों में हानिकारक फल धर दिया है। इसलिए सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं को मूल से ही त्याग कर दें।

होता है, यह कहा गया है। यास्काचार्य ने उस मन्त्र को उदाहृत करते हुए लिखा है कि उस सुषुम्णाख्य सूर्यरश्मि से युक्त चन्द्रमा भी 'गौः' कहा जाता है। इसी आधार पर सोम या चन्द्रमा का नाम गोतम है। सूर्यकिरण से चन्द्रमा के प्रकाशित होने का वर्णन भारतीय ज्योतिषशास्त्र में इस प्रकार मिलता है—

तरणिकिरणसङ्गादेष पीयूषपिण्डो दिनकरदिशि चन्द्रश्चन्द्रिकाभिश्चकास्ति।
तदितरदिशि बाला कुन्तलश्यामलश्रीर्घट इव निजमूर्तिश्छाययैवातपस्थः॥

(भास्कराचार्यः, सिद्धान्तशिरोमणि, शृंगोन्नतिवासनाध्याय, श्लोक १।)

इसी प्रकार **'उदीरय पितरा जार आ भगम्'**० (ऋग्वेद १०।११।६) इत्यादि मन्त्रोक्त 'जार आ भगम्' पदों की व्याख्या निरुक्तकार ने स्पष्ट कर दी है कि 'जार' शब्द आदित्य (सूर्य) का वाचक है, क्योंकि वह रात्रि को जीर्ण अर्थात् विनष्ट करता है—**'आदित्योऽत्र जार उच्यते। रात्रेर्जरयिता स एव भासाम्'** (निरुक्त ३।३।१६)। इसकी व्याख्या में स्कन्दमहेश्वर ने भी लिखा है—**'रात्रेर्नक्षत्रादिदीप्तीनां च जरयितृत्वाज्जार आदित्यः स च सवितृशब्दवाच्यो द्युःस्थानाः।** (निरुक्त, स्कन्दमहेश्वर टीका ३।३।१६ दिल्ली, १९८२, पृ० १७२)। अर्थात् द्युलोक में विद्यमान यह सूर्य ही रात्रि का तथा नक्षत्रादिकों के प्रकाश का विनष्ट करनेवाला होने के कारण 'जार' कहा जाता है। लोक में परस्त्रीगामी-पारदारिक व्यक्ति को भी इसी प्रकार आयु वा तेज के विनाशक होने के कारण 'जार' शब्द से विशेषित किया जाता है। अतः आदित्य के 'जार' शब्द द्वारा, चन्द्रमा के गो या गोतम शब्द द्वारा और रात्रि के अहल्या शब्द द्वारा वेदों में वर्णन होने से ग्रन्थकार की उपर्युक्त व्याख्या सर्वथा युक्तियुक्त और प्रामाणिक है तथा सब बुद्धिमानों द्वारा स्वीकार करने योग्य है। एतावता पुराण आदि ग्रन्थों में अन्यथा वर्णित इन्द्र-अहल्या प्रसंगों की अयथार्थता[1] तथा वैदिक वर्णन की यथार्थता स्फुट है।

---

[1] प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट ने अपने 'तन्त्रवार्तिक' में इस तथा पूर्वोल्लिखित कथा की इस प्रकार व्याख्या की है—

प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारादादित्य एवोच्यते। स चारुणोदयवेलायामुषसमुद्यन्नभ्यैत, सा तदागमनादेवोपजायत इति तद् दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्यां चारुणाख्य बीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषवदुपचारः। एवं समस्तेजाः परमैश्वर्यनिमित्तेन्द्रपदवाच्यः सवितैर्वाहनि लीयमानतया रात्रेरहल्याशब्दवाच्यायाः क्षयात्मकजरणहेतुत्वाज्जीर्यत्यस्मादनेनेवोदितेनेत्यादित्य एवाहल्याजार इत्युच्यते, न तु परस्त्रीव्यभिचारात्॥

—मीमांसा १।३।७, तन्त्रवार्तिक पृष्ठ २०७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[३—इन्द्रवृत्रासुरकथा[१]]

'एवमेवेन्द्रः कश्चिद् देहधारी देवराज आसीत्, तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत्। वृत्रासुरेणेन्द्रो निगलितोऽतो देवानां महद्भयमभूत्। ते विष्णुशरणं गताः। विष्णुरुपायं वर्णितवान्—मया प्रविष्टेन समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति।'

पुराणों में इन्द्र एक व्यक्तिविशेष के रूप में चित्रित है, जो वेदों के आशय के विपरीत ही है। वेद में रात्रि का जार इन्द्र=सूर्य ही है यह निरुक्त के प्रमाण से स्पष्ट है। इन्द्र के सूर्यार्थ की वाचकता में शतपथ ब्राह्मण के एक अन्य प्रमाण को उद्धृत कर ग्रन्थकार इस बात को दृढ़ता से प्रतिपादन करने में समर्थ हुए हैं कि वेद का यह सारा वर्णन नित्य होनेवाली प्राकृतिक घटना का वर्णन है, जबकि पुराण-वर्णित घटना काल्पनिक अथवा वैदिक वर्णनों का अन्यथा प्रस्तुत विकृत रूप है।

इन्द्र-वृत्र की युद्ध-सम्बन्धी कथा वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग ८४।३, ८६।२१, महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १०, शल्यपर्व अध्याय ४३, आश्वमेधिकपर्व अ० ११ देवीभागवतपुराण, षष्ठ स्कन्ध अध्याय ७ आदि में कुछ-कुछ अन्तर से वर्णित है। इन्हीं में वृत्र के वध के लिए विष्णु के जल में प्रविष्ट होने का भी वर्णन आता है, जैसे कि महाभारत में लिखा है—**"स वज्रमथ फेनं तं क्षिप्रं वृत्रे विसृष्टवान्, प्रविश्य फेनं तं विष्णुरथ वृत्रं व्यनाशयत्"** (महाभारत, उद्योगपर्व १०।३६)। सायणादि वेद-भाष्यकारों ने ऋग्वेद ८।१४।१३ के आधार पर न सूखे और न गीले विलक्षण प्रकार के फेन (झाग) से नमुचि के शिरश्छेदन का वर्णन किया है। 'नीतिमंजरी' के रचयिता श्री द्याद्विवेद ने भी अपने उस ग्रन्थ के पृष्ठ २५४-२५५ पर एतद्विषयक आख्यान का उल्लेख किया है, किन्तु ऋग्वेद के मन्त्र—**"अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजयः स्पृधः"** (ऋ० ८।१४।१३) में वर्णित नमुचि' वह मेघ है, जो केवल आकाश में छाया रहता है, और बरसता नहीं है। इन्द्रवाच्य सूर्य उसको बादलों के सूक्ष्म जलमय अंश से 'विद्युत्' उत्पन्न कर विद्युत् रूप वज्र से जब मारता है, तब पानी बरसने लगता है। यही वास्तव में इन्द्र का नमुचि के शिर को काटने और संग्राम जीतने का अभिप्राय है।

पुराण आदि ग्रन्थों में इन्द्र तथा अहल्या सम्बन्धी कथा कुछ अन्तर के साथ वर्णित है। 'परोपकारी' (हिन्दी मासिक पत्र, अजमेर) के नवम्बर-दिसम्बर ८४ के पृष्ठ २३ या २५ पर छपे लेख के अनुसार ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्णजन्मखण्ड ७७।६१-६२, ब्रह्मपुराण २७।१-७०, पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ५६।१।५५, देवीभागवत महापुराण, स्कन्द ६, अ० ८।११-१२, लिङ्गपुराण २६।२७, स्कन्दपुराण नागरखण्ड २०७।२०८, अवन्तीखण्ड अ० १३६, अध्यात्म रामायण बालकाण्ड ५।२२-३६, आनन्दपुराण ३।१५-२०, योगवासिष्ठ ३।८६-६० तथा महाभारत शान्तिपर्व ३४२।२३ में इन्द्र अहल्या आख्यान वर्णित है।

वाल्मीकि रामायण में भी यह कथा मिलती है, किन्तु प्रायः सर्वत्र भिन्न-भिन्न रूपों में वर्णित है। बालकाण्ड के अन्तर्गत सर्ग ४८, श्लोक १७ के अनुसार इन्द्र ने गौतम मुनि का रूप धारण कर अहल्या को धोखा दिया था किन्तु श्लोक १९-२० के अनुसार अहिल्या ने मुनि वेषधारी इन्द्र को पहचानकर स्वेच्छा से उससे समागम किया था किन्तु सर्ग ४७, श्लोक ६ से अनुसार इन्द्र ने यह कुकृत्य बलात् (मुनिपत्नीं धर्षयित्वा) किया था। इसी सर्ग के श्लोक २ व ४ के अनुसार इन्द्र ने अपने कुकृत्य को सुरकार्य कहा है। इस प्रकार इस कथा का सर्वथा कल्पित होना सिद्ध होता है।

१. इयं कथा पूर्वोक्ते विज्ञापनपत्रेऽपि संक्षेपेण व्याख्याता। द्र. पृष्ठ ३८, ३९।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्। कुतः ? एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात्। तद्यथा—

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री।
अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त् पर्व॑तानाम् ॥१॥
अह॒न्नहि॒ं पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष।
वा॒श्रा इ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒रापः॑ ॥२॥

—ऋ० मं० १। सू० ३२। मं० १, २॥

भाष्यम्—(इन्द्रस्य०) सूर्य्यस्य[1] परमेश्वरस्य वा तानि वीर्य्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं कथयामि, यानि प्रथमानि पूर्वं, नु इति वितर्के, वज्री चकार। वज्री वज्रः प्रकाशः प्राणो वाऽस्यास्तीति। वीर्यं वै वज्रः॥ ३ श० कां० ७। अ० ३॥[2] स अहिं मेघमहन् हतवान्, तं हत्वा पृथिव्यामनु पश्चादपस्ततर्द विस्तारितवान्। ताभिरद्भिः प्रवक्षणा नदीस्ततर्द जलप्रवाहेण हिंसितवान्, तटादीनां च भेदं कारितवानस्ति। कीदृश्यस्ता नद्यः ? पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पद्यमानाः यज्जलमन्तरिक्षाद्धिसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विज्ञेयम् ॥१॥

ग्रन्थकार की मान्यता है कि इन्द्र-वृत्र सम्बन्धी वैदिक वर्णनों का आशय कुछ और ही है, जबकि पुराणदि ग्रन्थों में इस कथा में बहुत मिलावट ही नहीं की गई है, अपितु इन्द्र-वृत्र आदि वैदिक नामों को मनुष्यवत् व्यक्तिविशेष मानकर मूल वैदिक कथा का सत्यस्वरूप ही परिवर्तित कर दिया गया है, जोकि अयथार्थ कथन होने से ग्राह्य कोटि में नहीं आ सकता, अतः इन अर्वाक् कालिक कथाओं को मिथ्या और वेद-प्रतिपादित बातों को सत्य जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्या ग करना चाहिए।

वेद में 'इन्द्र' और 'वृत्र' तथा उनके पारस्परिक युद्ध के वर्णन का सत्य स्वरूप क्या है ?—इस बात को दर्शाने के लिए ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के बत्तीसवें सूक्त के छह मन्त्रों (संख्या १, २, ५, ७, १० तथा १३) की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। मन्त्र व्याख्या करते समय वेद की नित्यता तथा सत्यता का बराबर ध्यान रखा गया है। उदाहृत मन्त्रों की संस्कृत और हिन्दी में की गई व्याख्या पर्याप्त स्पष्ट है, और उसपर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी अपेक्षित नहीं है। तथापि ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत अर्थों के तुलनात्मक अध्ययन, औचित्य एवं उत्कर्ष की दृष्टि से कतिपय प्राक्तन वेद भाष्यकारों द्वारा किये गये इन मन्त्रों के अर्थों का निदर्शन आवश्यक है।

सर्वप्रथम मन्त्र के प्रतिपाद्य 'इन्द्र' देवता के अर्थ का प्रश्न है। इस सूक्त पर उपलब्ध दयानन्द पूर्ववर्ती भाष्यों में से सम्प्रति स्कन्दस्वामी, वेङ्कटमाधव, सायणाचार्य तथा मुद्गल का भाष्य ही हमें मिला है। इनमें से एक ने भी 'इन्द्र' शब्द का अर्थ उन्हें क्या अभिप्रेत है, यह नहीं बताया है।

---

१. भगवत्पादैः सर्वत्र इन्द्रपदेन सूर्यस्य ग्रहणं क्रियते। निरुक्ते त्विन्द्रो मध्यमस्थाने भवा देवता स्वीक्रियते। उभयोः पक्षयोः सूर्यपक्ष एव युक्ततर इत्यस्माकं मतम्। यतो हि अध्यात्मपक्षे इन्द्रो जीवात्मा उच्यते। तत्स्थानीय आधिदैविकपक्षे सूर्य एव सम्भवति। इन्द्रो जीवात्मा इत्यत्र 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग०' (अ० ५।२।९०) इति पाणिनीयं सूत्रमपि प्रमाणम्। २. शत० ७।३।१।१९॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्रे मन्त्राणां संक्षेपतोऽर्थो वर्ण्यते—(अह०)। (त्वष्टा) सूर्य्यः (अहन्नहिं) तं मेघमहन् हतवान्। कथं हतवानित्यत्राह—(अस्मै) अहये वृत्रासुराय मेघाय (पर्वते शिश्रियाणम्) मेघे श्रितम् (स्वर्यम्) प्रकाशमयम् (वज्रम्) स्वकिरणजन्यं विद्युद् वज्रं प्रक्षिपति। तेन वृत्रासुरं मेघं (ततक्ष) कणीकृत्य भूमौ पातयति। पुनर्भूमौ गतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति। ता आपः समुद्रं (अवजग्मुः) गच्छन्ति। कथम्भूता आपः? (अञ्जः) व्यक्ताः (स्यन्दमानाः) चलन्त्यः। का इव! वाश्रा वत्समिच्छवो गाव इव। आप एव वृत्रासुरस्य शरीरम्। यदिदं वृत्रशरीराख्यजलस्य भूमौ निपातनं, तदिदं सूर्यस्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति ॥२॥

भाषार्थ—तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है[1]। इसको भी पुराणवालों ने ऐसा धरके लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जा पड़ी है। देखो कि—

'त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया। तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप गये, और विष्णु ने उसके मारने का उपाय बतलाया कि मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊँगा। तुम लोग उस फेन को उठाके वृत्रासुर के मारना, वह मर जाएगा।'

यह पागलों की-सी बनाई हुई पुराणग्रन्थों की कथा सब मिथ्या है। श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इनको कभी न मानें। देखो, सत्यग्रन्थों में यह कथा इस प्रकार से लिखी है कि—

हाँ 'अहि' और 'वृत्र' शब्दों का अर्थ स्कन्दस्वामी भाष्य में मेघ किया गया है। स्कन्दस्वामी ऋ० १।३२।५ मन्त्र में पठित 'वृत्रं' पद का अर्थ **'मेघं वृत्रनामानमसुरं वा'** तथा मन्त्र १।३२।१० में पठित 'वृत्रस्य' का अर्थ **'वृत्रनाम्नोऽसुरस्य'** करते हैं। वेङ्कटमाधव इन दोनों पदों का अर्थ 'असुर' कहकर तोष कर लेते हैं। सायणाचार्य 'अहि' शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से मेघ करते हैं तथा 'वृत्र' का अर्थ असुर तथा मेघ दोनों-- जैसेकि १।३२।५ में प्रयुक्त 'वृत्रम्' का अर्थ—**'एतन्नामानमसुरं** तथा १।३२।८ (**याश्चिद्वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः०**) में प्रयुक्त वृत्रः पद का अर्थ **'अहिः वृत्रो मेघः तासामपाम्०'** इत्यादि व्याख्यान से स्पष्ट है। मुद्गल का 'अहि' तथा वृत्र शब्दों का अर्थ सर्वथा वही है जो सायणा ने किया है। त्वष्टा का अर्थ स्कन्दस्वामी ने देवशिल्पी और सायण तथा मुद्गल ने विश्वकर्मा किया है।

इन्द्र द्वारा अहि या वृत्र नाम से पुकारे गये मेघ को विद्युद् रूप या किरणरूप वज्र से नष्ट कर पृथिवी पर पानी बरसाना और तत्पश्चात् बरसे हुए जल का नदी-नालों के रास्ते समुद्र में जा मिलना, उधर पानी बरस जाने पर आकाश का स्वच्छ हो जाना, बादलों से ढके हुए सूर्य का स्पष्ट दिखाई देना आदि वर्णनों में प्रायः सभी भाष्यकारों में ऐकमत्य प्रकृत सूक्त के सम्बन्ध में दिखाई देता है। तब इन्द्र नामक तत्त्व कौन है–यह स्पष्ट रूप से दयानन्द पूर्ववर्ती भाष्यकार क्यों नहीं स्पष्ट कर पाये? कारण पर विचार करने पर अनुमान होता है कि मध्ययुगीन ग्रन्थों की इन्द्रवृत्रादि सम्बन्धी वेदार्थविरुद्ध कथाओं के संस्कारों ने उनके मनों को ऐसे जकड़ा हुआ था कि वे स्वर्गनामक लोकविशेष का कोई देहधारी चेतन देवता इन्द्र को समझते रहे,[2] जसको कि अन्य पर्याय शब्द द्वारा समझाने में वे समर्थ नहीं थे।

---

१. पूर्वनिर्दिष्ट पत्रविज्ञापन के पृष्ठ ३८-३९ पर भी यह कथा संक्षेप से व्याख्यात है।

२. तुलना करो......**ओषध्यादिमन्त्रेष्वपि चेतना एव तत्तदभिमानिदेवतास्तेन तेन नाम्ना सम्बोध्यन्ते ताश्च देवता भगवता बादरायणेन 'अभिमानिव्यपदेशस्तु'** (वेदा० सू० २।१।५) इति सूत्रे सूत्रिताः। सायण ऋग्वेद भाष्योपक्रमणिका, पृ० १० (ऋ० भा० ३।३५।६ तथा ३।५६।४, १०।१७२।२)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(इन्द्रस्य नु०) यहाँ सूर्य का इन्द्र नाम है। उसके किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं, कि जो परमैश्वर्य होने का हेतु अर्थात् बड़ा तेजधारी है। वह अपनी किरणों से 'वृत्र' अर्थात् मेघ को मारता है। जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है, तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है। फिर उससे अनेक बड़ी-बड़ी नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं। कैसी वे नदी हैं कि 'पर्वत' अर्थात् मेघों से उत्पन्न होके जल ही बहने के लिए होती हैं। जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मारके आकाश से पृथिवी में गिरा देता है, तब वह पृथिवी में सो जाता है ।।१।।

(अह०) फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके 'पर्वत' अर्थात् मेघमण्डल का पुनः आश्रय लेता है। जिसको सूर्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है। जैसे कोई लकड़ी को छीलके सूक्ष्म कर देता है, वैसे ही वह मेघ को भी बिन्दु-बिन्दु करके पृथिवी में गिरा देता है, और उसके शरीररूप जल सिमट-सिमटकर नदियों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं, कि जैसे अपने बछड़ों को गाय दौड़के मिलती हैं ।।२।।

यद्यपि सायणादि भाष्यकारों ने इन्द्र शब्द का अर्थ अन्यत्र परमेश्वर[1] आदित्य[2] आदि भी किया है, किन्तु यहाँ (ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त ३२ में) उनको कौन अर्थ अभीष्ट है, यह न बतलाना उनकी इन्द्र पद की सन्दिग्धार्थता को ही प्रकट करता है।

यह संक्षिप्त रूप से ऋग्वेद १।३२ सूक्त की स्कन्द सायणादि भाष्यकारों की व्याख्या का दिग्दर्शन मात्र है।[3]

इस विवेचना से यह तो स्पष्ट परिलक्षित है कि ऋग्वेद के १।३२ सूक्त में वर्णित इन्द्रवृत्र युद्ध, विशुद्ध रूप से प्राकृतिक (वैदिक शब्दावली के अनुरूप आधिदैविक) जगत् में सूर्य व मेघ के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न होनेवाली वर्षा के काव्यात्मक वर्णन मात्र हैं, और उसका पूर्वोक्त महाभारत, पुराण आदि में वर्णित इन्द्रवृत्र सम्बन्धी कथाओं से कोई मेल नहीं है।

वेदार्थ को यथावत् समझाने में अत्युपयोगी निरुक्त का वेदांगों में विशेष स्थान है। निरुक्तशास्त्र में ऋग्वेद के सूक्त १।३२ की आँशिक व्याख्या के प्रसंग में कहा गया है कि आकाश में जल और ज्योति (सूर्य या विद्युत्) के पारस्परिक मिश्रण या संघर्ष से वर्षा होती है। उसी वर्षा का रोचक शैली में युद्धवर्णन वेद में किया गया है।

"अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते, तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति" (निरुक्त २।१६) निरुक्तोक्त बात को और स्पष्ट करते हुए निरुक्त के एक पुराने टीकाकार दुर्गाचार्य ने लिखा है—

"अपां च मेघोदरान्तर्गतानां ज्योतिषश्च वैद्युतस्य उद्भूतवृत्तेः मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते, तेन हि वैद्युतेन ज्योतिषा वाय्वावेष्टितेन इन्द्राख्येनोपताड्यमाना आपः प्रस्यन्दन्ते—वर्षभावाय कल्प्यन्ते। तत्र एवं सत्युदकतेजसोरितरेतरप्रतिद्वन्द्वभूतयोः उपमार्थेन रूपकल्पनया युद्धवर्णा भवन्ति —इतियुद्धे रूप-

---

१. सायण-ऋग्भाष्य १।८४।१८ व ६।४७।१८

२. उद्गीथ-ऋग्भाष्य १०।२७।१३-१४

३. अधिक जानकारी के लिए देखें—
डॉ० जयदत्त उप्रेतिकृत 'वेद में इन्द्र' अध्याय ३।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः ।।३।।

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान ।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ।।४।।

—ऋ० मण्ड० १ । सू० ३२ । मं० ५-७।।

अहिरिति मेघनामसु पठितम् ।। —निघ. अ. १ । खं. १० ।।

इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः । तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः ।। वृत्रं जघ्निवानपववार तद् । वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्धतेर्वा । यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते ।।

—निरु० अ० २ । खं० १६-१७ ।।

भाष्यम्—(इन्द्रः) सूर्य्यः (वज्रेण) विद्युत्किरणाख्येन (महता व०) तीक्ष्णतरेण (वृत्रम्) मेघम् (वृत्रतरम्) अत्यन्तबलवन्तम् (व्यंसम्) छिन्नस्कन्धं छेदितघनजालं यथा स्यात् तथा (अहन्) हतवान् । स (अहिः) मेघः (कुलिशेन) वज्रेण (विवृक्णा०) छिन्नानि स्कन्धांसीव (पृथिव्या उपपृक्) यथा कस्यचिन्मनुष्यादेरसिना छिन्नं सदङ्गं पृथिव्यां पतति, तथैव स मेघोऽपि (अशयत) 'छन्दसि लुङ्लङ्-लिटः'[1] इति सामान्यकाले लङ् ।

(अपाद०) पृथिव्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्य्येणापादहस्तो व्यस्तो भिन्नाङ्गकृतो वृत्रो मेघो भमावशयत् शयनं करोतीति ।

निघण्टौ० अ० १ । खं०१०—वृत्र इति मेघस्य नाम । इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य निवारकः । त्वष्टा सूर्य्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः । कुतः ? सूर्य्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदेन यत्कणीभूतं जलमुपरि गच्छति, तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति । तस्यैवासुर इति संज्ञात्वात् । पुनश्च तं सूर्य्यो हत्वा भूमौ निपातयति । स च भूमिं प्रविशति, नदीर्गच्छति, तद्द्वारा समुद्रमयनं कृत्वा तिष्ठति, पुनश्चोपरि गच्छति । तं वृत्रमिन्द्रः सूर्य्यो जघ्निवानपववार निवारितवान् ।

वृत्रार्थो वृणोतेः स्वीकरणीयः । मेघस्य यद् वृत्रत्वमावरकत्वं तद् वर्त्तमानत्वाद् वर्धमानत्वाच्च सिद्धमिति विज्ञेयम् ।।

काणीत्यर्थः । न ह्यत्र यथाभूतं युद्धमस्ति, न हीन्द्रस्य शत्रवः केचन सन्ति ।" (दुर्गाचार्य, निरुक्तटीका भाग २) २।१६

इस कथन में दुर्गाचार्य द्वारा भी मेघ के भीतर विद्यमान जलों का नाम वृत्र तथा वायु से समन्वित विद्युत् का नाम इन्द्र बतलाकर इन्द्र-वृत्र युद्ध के वैदिक रूपक या कथानक का रहस्य स्पष्ट कर दिया गया है । इससे यह शंका निर्मूल हो जाती है कि इन्द्र कोई एक विशेष देवता (मनुष्य की

---

१. अष्टा० ३।४।६।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(अह०) जब सूर्य उस अत्यन्त गर्जित मेघ को छिन्न-भिन्न करके पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई किसी मनुष्य आदि के शरीर को काट-काटकर गिराता है, तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करनेवाला हो जाता है।

'निघण्टु' में मेघ का नाम वृत्र है। 'इन्द्रशत्रु०'—वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य है, सूर्य का नाम त्वष्टा है, उसका सन्तान मेघ है, क्योंकि सूर्य की किरणों के द्वारा जल कण-कण होकर ऊपर को जाकर वहाँ मिलके मेघरूप हो जाता है।

तथा मेघ का वृत्र नाम इसलिए है कि **वृत्रो वृणोतेः०**—वह स्वीकार करने योग्य और प्रकाश का आवरण करनेवाला है॥

आकृति लिये हुए) था और वृत्र नामक कोई असुर या राक्षस (मनुष्याकृतिक) उसका शत्रु था; उन दोनों के युद्ध का वेद में वर्णन है। वेद के वर्णन का तो स्पष्टतः प्राकृतिक और वास्तविक, सदा आवर्तित होनेवाली घटनाओं से सम्बन्ध है, अनित्य इतिहास से नहीं।

यदि ऐसा है तो '**इत्यैतिहासिका**' का क्या अर्थ होगा? यास्कीय निरुक्त में 'इतिहास' और 'आख्यान' दो पदों का एकार्थ में प्रयोग उपलब्ध होता है। निरुक्त के अनुशीलन से पता चलता है कि वहाँ ये पद वास्तविक (अनित्य) इतिहास के वाचक नहीं हैं। निरुक्तकार यास्क ने '**त्वष्टा दुहित्रे**' (ऋ० १०।१७।१) मन्त्र के उपक्रम में '**तत्रेतिहासमाचक्षते**' लिखकर मन्त्रार्थ का उपसंहार "**महतो जाया विवस्वतो ननाश। रात्रिरादित्यस्य, आदित्योदयेऽन्तर्धीयते**" पदों से किया है। इससे स्पष्ट है कि यास्क द्वारा यहाँ अमुक इतिहास पद किसी वास्तविक ऐतिहासिक वृत्र का वाचक नहीं, अपितु मन्त्र प्रतिपादित अहोरात्र विज्ञान को सुगमता एवं रोचकता से समझाने के लिए मन्त्रार्थ से पूर्व लिखी गई किसी काल्पनिक आख्यायिका का बोधक है। अन्यथा उपक्रम और उपसंहार में एकवाक्यता नहीं बन सकती।

—द्रष्टव्य निरुक्त १२।१०, ११

यही अभिप्राय निरुक्त के टीकाकार दुर्ग ने इतिहास शब्द के अर्थ का निरूपण करते हुए इस प्रकार लिखा है—

"**यः कश्चिदाध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिको वाऽर्थ आख्यायते दिष्टच वितार्थविभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते।**" —निरुक्त टीका १०।२६

ग्रन्थकार ने इन शब्दों का जो आशय अपनी व्याख्या में दर्शाया है, उसमें 'त्वष्टा' (ऋ० १।३२।२) से सूर्य अर्थ लिया है और वे स्पष्ट कर देते हैं कि "(त्वष्टा) **सूर्यः** (अहन्नहि) **तं मेघमहन् हतवान्। कथं हतवानित्यत्राह**—(अस्मै) **अहये वृत्रासुराय मेघाय** (पर्वते शिश्रियाणम्) **मेघे श्रितम्** (स्वर्यम्) **प्रकाशमयम्** (वज्रम्) **स्वकिरणजन्यं विद्युद् वज्रं प्रक्षिपति। येन वृत्रासुरं मेघं** (ततक्ष) **कणीकृत्य भूमौ पातयति। पुनर्भूमौ गतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति।**" अर्थात् मन्त्र के प्रकृत वर्णन में 'त्वष्टा' सूर्य को इसलिए कहा गया है कि उसका अभिप्राय होता है छीलकर पतला या सूक्ष्म बनानेवाला। जैसे कोई लकड़ी को छीलके सूक्ष्म कर देता है, वैसे ही वह (सूर्य) मेघ को भी बिन्दु-बिन्दु कर पृथिवी में गिरा देता है उस 'त्वष्टा' रूप सूर्य से उत्पन्न होने से, उसके सन्तानरूप मेघ को त्वाष्ट्र' कहा गया है, क्योंकि सूर्यकिरण ही पृथिवीस्थ जल को सोखकर या खींचकर आकाश में वायु के सहारे पहुँचाते हैं, जो बाद में घनीभूत होकर मेघरूप में दिखाई देता है इस प्रकार वह सूर्य ही मेघ की उत्पत्ति का कारण है और पिता तुल्य है। मेघस्थ वह जल, पृथिवीवासी प्राणियों के प्राणों को तृप्त कराने-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम ।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥५॥
नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च ।
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥६॥
—ऋ० मं० १ । सू० ३२ । मं० १०, १३ ॥

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ।

वृत्रो ह वाऽइदं सर्वं वृत्वा शिश्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी, स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम ॥ तमिन्द्रो जघान । स हतः पूतिः सर्वत एवाऽपोऽभिसुस्राव । सर्वत इव ह्ययं समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे । ता उपर्युपर्यतिपुप्रुविरेऽत इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वाऽइतरासु सं सृष्टमिव, यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति, तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति ॥
—श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० ३ । कण्डि० ४, ५ ॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थान इति ॥ —निरु० अ० ७ । खं० ५ ॥

वाला होने के कारण 'असुर' (असुषु=प्राणेषु रमते, असून्=प्राणान् रमयति वा) कहलाता है । इस प्रकार मेघ ही 'त्वष्टा' रूप सूर्य से उत्पन्न होने के कारण 'त्वाष्ट्र असुर'[1] कहलाया । इसी कार्य-कारणभाव को कुछ लोग इतिहास कहते थे । इसलिए यही वृत्र शब्द का 'त्वाष्ट्रासुर' नाम का तात्पर्य निरुक्तकार के शब्दों से समझना चाहिए ।

'वृत्रो ह वाऽइदं सर्वं वृत्वा शिश्ये' इस शतपथ ब्राह्मणोक्त वृत्रसम्बन्धी विवरण में वृत्रवध के फलस्वरूप दुर्गन्धयुक्त जल का चारों ओर से बहकर समुद्र में जा मिलना और फिर उसी जल का वाष्प बनकर आकाश में पहुँचने आदि का वर्णन भी सूर्यकिरण, वायु और विद्युत् के मेघ के साथ संघर्ष का ही बोधक है । इस उद्धरण का तात्पर्य ग्रन्थकार ने संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्याओं में बहुत स्पष्ट कर दिया है । उससे वृत्र के मेघ अर्थ मानने में कोई सन्देह नहीं रह जाता ।

आपाततः ऐतिहासिक घटना जान पड़नेवाले प्रकरणों में उपमा घटाने के निमित्त से मन्त्रों में युद्धों के रूपक होते हैं । ऋग्वेद (१।३२।१) में रूपकालंकार से वर्षाकालीन मेघ का वर्णन किया है । निरुक्त (२।१६) में इन्द्र-वृत्र प्रतिपादक उस मन्त्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने लिखा है—

"अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति ।"

---

१. 'तस्यापत्यम्' (अष्टाध्यायी ४-१-९२) 'तत्र भवः' (४-३-५३) 'तत आगतः' (४-३-७४) तत्र जातः (४-३-२५) में से किसी भी अर्थ में 'त्वष्टृ' से अण् प्रत्यय करने पर 'त्वाष्ट्र' शब्द बनता है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—(अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्चरन्ति। अतएवेन्द्रशत्रुर्वृत्रो मेघो भूमावशयत्, आ समन्ताच्छेते।

(नास्मै विद्युत्०) वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्युत् तन्यतुश्चास्मै सूर्य्यायेन्द्राय न सिषेधं निषेद्धुं न शक्नोति। अहिर्मेघः, इन्द्रः सूर्य्यश्च द्वौ परस्परं युयुधाते। यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्य्यप्रकाशं निवारयति। यदा सूर्य्यस्य तापरूपसेना वर्धते तदा वृत्रं मेघं निवारयति, परन्तु मघवा इन्द्रः सूर्य्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान् भवति। अन्ततोऽस्यैव विजयो भवति न मेघस्येति।

'वृत्रो ह वा इति'०—वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्वाऽऽवृत्य शिश्ये शयनं करोति, तस्माद् वृत्रो नाम। तं वृत्रं मेघमिन्द्रः सूर्य्यो जघान हतवान्। स हतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः काष्ठतृणादिभिः संयुक्तः पूतिर्दुर्गन्धो भवति। पुराकाशस्थो भूत्वा सर्वतोऽपोऽभिसुस्राव, तासां वर्षणं करोति। अयं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयङ्करो भवति। अत एव तत्रस्था आपो भयप्रदा भवन्ति। इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदीसमुद्रपृथिवीगता आपः सूर्य्यद्वारेणोपर्य्युपर्य्यन्तरिक्षं पुप्रुविरे गच्छन्ति, ततोऽभिवर्षन्ति च। ताभ्य एवेमे दर्भाद्यौषधिसमूहा जायन्ते। यो वाय्विन्द्रौ सूर्य्यपवनावन्तरिक्षस्थानौ सूर्य्यश्च द्युस्थाने अर्थात् प्रकाशस्थः॥ ५-६॥

एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्त्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्त्तव्या इति।

भाषार्थ—(अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्र के इस जलरूप शरीर से बड़ी-बड़ी नदियाँ उत्पन्न होके अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं, और जितना जल तलाव वा कूप आदि में रह जाता है, वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है।

(नास्मै०) अर्थात् वह वृत्र अपने बिजली और गर्जनरूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता। इस प्रकार अलंकाररूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान व्यवहार करते हैं, अर्थात् जब मेघ बढ़ता है, तब तो वह सूर्य के प्रकाश को हटाता है, और जब सूर्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है, तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है, परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य ही का विजय होता है।

'वृत्रो ह वा'०—जब-जब मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत होके फैलता है, तब-तब उसको सूर्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है। पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ठ, तृण तथा मल-मूत्रादि युक्त होने से कहीं-कहीं दुर्गन्धरूप भी हो जाता है। फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है। तब समुद्र का जल देखने में भयंकर मालूम पड़ने लगता है। इसी

अर्थात् मेघस्थ जल के साथ विद्युत् का सम्बन्ध होने से वर्षा होती है। वेद में एतद्विषयक जो इन्द्र-वृत्र युद्ध का वर्णन है, वह उपमा रूप से है। यास्क कहते हैं—**"विवृद्धया शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिर आपः"** अर्थात् मेघ (अहि) शरीर को बढ़ाकर जल के स्रोतों को रोक लेता है। उसके हत (नष्ट) होने पर जल गिर पड़ते हैं इसी बात को अगले (ऋ० १।३२।११) मन्त्र में काव्यात्मक भाषा में इस प्रकार कहा है—

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार वारम्बार मेघ बरसता रहता है। 'उपर्य्युपर्य्यति'०—अर्थात् सब स्थानों से जल उड़-उड़कर आकाश में चढ़ता है। वहाँ इकट्ठा होकर फिर-फिर वर्षा किया करता है। उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उसी मेघ को 'वृत्रासुर' के नाम से बोलते हैं।

वायु और सूर्य्य का नाम 'इन्द्र' है। वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य्य प्रकाशस्थान में स्थित है। इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है कि जिसके अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य का विजय निःसंदेह होता है ॥५-६॥

इस सत्य ग्रन्थों की अलंकाररूप कथा को छोड़के छोकरों के समान अल्पबुद्धिवाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख रक्खी हैं, उनको श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें।

[४—देवासुरसंग्रामकथा]

एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसंग्रामकथा अन्यथैव सन्ति। ता अपि बुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः कुतः ? तासामप्यलङ्कारयोगात्।

तद्यथा—

देवासुराः संयत्ता आसन् ॥१॥ —श० कां० १३। अ० ३। ब्रा० ४। कं० १॥

असुरानभिभवेम देवाः। असुरा असुरताः स्थानेष्वस्ताः स्थानेभ्य इति वा। अपि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः। सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते ॥२॥ —नि० अ० ३। खं० ८॥

देवानामसुरत्वमेकं प्रज्ञावत्त्वं वाऽनवत्त्वं वापि वासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम् ॥३॥ —निरु० अ० १०। खं० ३४॥

मेघ में छिपाया हुआ जल रुका हुआ था जैसे बनिया गायों को बाड़े में रोके रखता है। तब मेघ को मारते हुए इन्द्र अर्थात् विद्युत् ने जल को रोक रखनेवाले द्वार को खोल दिया और वर्षा होने लगी।

वेद के व्याख्यानरूप ब्राह्मणग्रन्थों में वृत्र की भाँति अहि को इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी कहा है। वेद के इन सूक्ष्म रहस्यों को न समझने के कारण ही लोग वेद में इतिहास की कल्पना कर बैठते हैं।

१. असुषु प्राणेषु रमन्तेऽसुराः प्राणपोषणपराः। दयानन्द, महीधर—यजुः ४०।३
द्रष्टव्य—छान्दोग्य ८।७ इन्द्र-विरोचन-कथा

२. देवासुर-संग्राम की पुराणों की कथा समुद्र-मन्थन से भी जुड़ी है, जिसके अनुसार मन्दराचल को मथानी बनाकर मन्थन के फलस्वरूप समुद्र से कौस्तुभमण्यादि १४ रत्न प्रादुर्भूत हुए। इस कथा में कल्पना का पुट ही अधिक है। वास्तविकता तो खोज करने पर पता चलती है। कल्पना इतने से ही जानी जाती है कि न तो ऐसे किसी शेषनाग की सत्ता सिद्ध होती है जिसकी रस्सी से मन्दराचल को लपेटकर समुद्र का मन्थन किया गया हो, और न उस पर्वत को ही समुद्र में स्थापित कर लकड़ी की मथानी की भाँति नचाना सम्भव है। न ही धन्वन्तरि वैद्य मनुष्यदेहधारी आदि का इस प्रकार समुद्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त । स आस्येनैव देवानसृजत । ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त । तस्मै ससृजानाय दिवेवास, तदेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजानाय दिवेवास । अथ योऽयमवाङ् प्राणः तेनासुरानसृजत । त इमामेव पृथिवीमभिसंपद्यासृज्यन्त । तस्मै ससृजानाय तमइवास ।। सोऽवेत् । पाप्मानं वा असृक्षि, यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति । ताँस्तत एव पाप्मनाविध्यत्, ते तत एव पराभवंस्तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरम् । यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्, ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत, ते तत एव पराभवन्निति ।। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् - न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति । मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स इति ।। स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान्त्ससृजानाय तमइवास ताꣳ रात्रिमकुरुत ते अहोरात्रे ।। स ऐक्षत प्रजापतिः ।।४।।

—श० कां० ११। अ० १। ब्रा० ६। कं० ७-१२ ।।

देवाश्च वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः ।।५।।

—श० कां० १। अ० ७। ब्रा० २। कं० २२ ।।

द्वया ह प्राजापत्याः, देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः ।। यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ।।६।।

—श० कां० १४। अ० ४। ब्रा० १। कं० १, ३ ।।

ऊर्गिति देवा, मायेत्यसुराः ।।७।। —श० कां० १०। अ० ५। ब्रा० २। कं० २० ।।

प्राणा देवाः ।।८।। —श० कां० ६। अ० ३। ब्रा० १। कं० १५ ।।

प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया ।।९।। —श० कां० ६। अ० ६ ब्रा० २। कं० ६ ।।

के गर्भ से बाहर निकल आना युक्तिसंगत है, अतः पुराणग्रन्थोक्त यह देवासुरसंग्राम काल्पनिक है, वास्तविक नहीं—इस बात की ओर संकेत करते हुए ग्रन्थकार वास्तविक देवासुर-संग्राम, जोकि युक्ति-प्रमाण संगत है, की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हैं, और निम्नांकित रूपों में इसके अस्तित्व को दर्शाते हैं :—

१. मन, वचन, कर्म से सत्य का आचरण करनेवाले लोग 'देव' हैं। तद्विपरीत आचरण करने वाले 'असुर'। उनका पारस्परिक संघर्ष ही देवासुर-संग्राम है।

२. मन देव है, और प्राण असुर। वे दोनों एक दूसरे का निग्रह किया करते हैं, अतः मन और प्राणों का पारस्परिक संघर्ष भी देवासुर-संग्राम है।

३. प्रकाशस्वरूप (अर्थों का प्रकाश करनेवाली) मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ 'देव' तथा ज्ञान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—(देवासुरा०) देवा असुराश्च संयत्ता सज्जा युद्धं कर्त्तुं तत्परा आसन् भवन्तीति शेषः। के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते—

विद्वांसो हि देवाः ॥—शत० कां० ३। अ० ७। ब्रा० ३ कं० १०

हीति निश्चयेन विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः। ये देवास्ते विद्यावत्त्वात् प्रकाशवन्तो भवन्ति। ये ह्यविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वात् ज्ञानरहितान्धकारिणो भवन्ति। एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्त्ततेऽयमेव देवासुरसंग्रामः[1]।

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति॥ स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति॥ मनो ह वै देवा मनुष्यस्य॥

—श० कां० १। अ० १ ब्रा० १। कं० ४, ५, ७॥

ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः। ये चानृतवादिनोऽनृतकारिणोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा एव। तयोरपि परस्परं विरोधो युद्धमिव भवत्येव। मनुष्यस्य यन्मनस्तद्देवाः, प्राणा असुराः, एतयोरपि विरोधो भवति। मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहो भवति, प्राणबलेन मनसश्चेति युद्धमिव प्रवर्त्तते॥१॥

प्रकाशाख्यात् सोर्देवान् मनःषष्ठानीन्द्रियाणीश्वरोऽसृजत। अतस्ते प्रकाशकारकाः। असोरन्धकाराख्यात् पृथिव्यादेरसुरान् पञ्चकर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्चासृजत। एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वानुरोधेन संग्रामवदनयोर्वर्त्तमानमस्तीति विज्ञेयम्॥२-३॥

(सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार०) प्रजाकामः परमेश्वर आस्येनाग्निपरमाणुमयात् कारणात् सूर्यादीन् प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत, ते देवा द्योतमाना दिवं प्रकाशं परमेश्वरप्रेरितमभिपद्य, प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त। तदेव देवानां देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते।

से रहित अप्रकाशक पाँच कर्मेन्द्रियाँ और प्राण 'असुर' कहाते हैं, उन दोनों प्रकार के इन्द्रियों और प्राणों के व्यावहारिक द्वन्द्व का नाम भी देवासुर-संग्राम है।

४. सूर्यादि प्रकाशमान लोक 'देव' तथा वायु-पृथिव्यादि प्रकाशरहित लोक 'असुर' हैं उन दोनों (प्रकाशाप्रकाशयुक्तों) का भी युद्ध-सा चलता रहता है, अतः यह भी एक प्रकार का देवासुर-संग्राम है।

५. पुण्यात्मा मनुष्य 'देव' और पापात्मा 'असुर' है। उन दोनों का भी परस्पर विरुद्ध स्वभाव होने से युद्ध-सा चलता रहता है, अतः वह भी देवासुर-संग्राम कहलाता है।

---

१. वैयमुद्रितेषु तृतीयसंस्करणं यावत् 'दैवासुरसंग्रामः' इत्येव पाठः (तुलना कार्या उत्तरत्रान्ते प्रयुक्तेन 'दैवासुरं युद्ध" पदेन) देवाश्चासुराश्च योद्धारोऽस्य संग्रामस्येति दैवासुरो संग्रामः। ततः कर्मधारयसमासः। चतुर्थसंस्करणप्रभृति 'देवासुर-संग्रामः' पाठ उपलभ्यते। तत्र षष्ठीसमासो ज्ञेयः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथेत्यनन्तरमर्वाचीनो योऽयं प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्चेश्वरेण सृष्टस्तेनैवासुरान् प्रकाश-रहितानसृजत सृष्टवानस्ति। ते पृथिवीमभिपद्यौषध्यादीन् पदार्थानसृज्यन्त। ते सर्वे सकार्य्याः प्रकाश-रहितास्तयोस्तमःप्रकाशवतोरन्योऽन्यं विरोधो युद्धमिव प्रवर्त्तते। तस्मादिदमपि दैवासुरं युद्धमिति विज्ञेयम्। तथैव पुण्यात्मा मनुष्यो देवोऽस्ति, पापात्मा ह्यसुरश्च। एतयोरपि परस्परं विरुद्धस्वभावाद्युद्ध-मिव प्रतिदिनं भवति, तस्मादेषोऽपि 'देवासुरसंग्रामो'ऽस्तीति विज्ञेयम्। एवमेव दिनं देवो रात्रिरसुरः। एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तते ॥४॥

त इमे उभये पूर्वोक्ताः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्त्तन्ते। अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सन्ति। तेषां मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्ति। वायोः पूर्वोत्पन्नत्वात् प्राणानां तन्मय-त्वाच्च। तथैव जन्मतो मनुष्या सर्वेऽविद्वांसो भवन्ति, पुनर्विद्वांसश्च। तथैव वायोः सकाशादग्नेरुत्पत्ति प्रकृतेरिन्द्रियाणां च, तस्मादसुरा ज्येष्ठा देवाश्च कनिष्ठाः। एकत्र देवाः सूर्य्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्याद-योऽसुराः कनिष्ठाश्च। ते सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात् तस्यापत्यानीव सन्तीति विज्ञेयम्। एषामपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तत इति ज्ञातव्यम् ॥५-६॥

ये प्राणपोषकाः स्वार्थसाधनतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्ते ह्यसुराः। ये च परोपकारकाः परदुःखभञ्जना निष्कपटिनो धार्मिका मनुष्यास्ते देवाश्च विज्ञेयाः। एतयोरपि परस्परं विरोधात् संग्राम इव भवति। इत्यादिप्रकारकं 'दैवासुरं युद्ध' मिति बोध्यम् ॥६-९॥

एवं परमोत्तमायां विद्याविज्ञापनार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रेषूक्तायां कथायां सत्यां व्यर्थपुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च या मिथ्यैव कथा वर्णिताः सन्ति, विद्वद्भिर्नैव ताः कथाः कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति।

---

६. दिन 'देव' है और रात्रि 'असुर'। उन दोनों का संघर्ष भी देवासुर-संग्राम है। इसी प्रकार शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष तथा उत्तरायण और दक्षिणायन क्रमशः देव और असुर कहे जाते हैं और उनका पारस्परिक विरोध भी देवासुर-संग्राम से जाना जाता है।

७. स्वार्थ साधन में तत्पर और केवल अपने ही प्राणों का पोषण करनेवाले मायावी और कपटी लोग असुर कहलाते हैं तथा दूसरों की भलाई करनेवाले, उनके कष्टों को दूर करनेवाले, कपट-रहित धार्मिक मनुष्य 'देव' कहलाते हैं। इनका भी परस्पर विरोध होने से जो युद्ध-सा चलता है, वह भी देवासुर-संग्राम है इसी प्रकार—

८. बचपन में सबके अविद्वान् होने से और विद्याध्ययन के पश्चात् विद्वान् होने के कारण अज्ञानी बच्चे 'असुर' और वयस्क ज्ञानवान् व्यक्ति 'देव' कहाते हैं। इनके पारस्परिक संघर्ष को भी 'देवासुर' संग्राम नाम से जाना जाता है। हाँ, जैसे इस उदाहरण में असुर ज्येष्ठ और 'देव' कनिष्ठ माने जाते हैं, वैसे ही प्राकृतिक जगत् में वायु के पश्चात् अग्नि सूर्यादि की उत्पत्ति होने से प्रकाश से रहित वायु आदि असुरपद वाच्य पदार्थ ज्येष्ठ और प्रकाशयुक्त अग्नि, सूर्यादि देवपद वाच्य पदार्थ कनिष्ठ माने जाते हैं, क्योंकि जो पूर्वोत्पन्न वह ज्येष्ठ और जो पश्चादुत्पन्न वह 'कनिष्ठ' कहलाता है। कहीं पर अन्य दृष्टि से सूर्यादि देवों को ज्येष्ठ तथा पृथिव्यादि असुरों को कनिष्ठ भी माना गया है। इस प्रकार प्राणों की उत्पत्ति पहले तथा अन्य मनसहित चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति तत्पश्चात् होने से असुर-पद वाच्य, प्राण ज्येष्ठ और देवपद वाच्य मन आदि छह ज्ञानेन्द्रियाँ कनिष्ठ मानी जाती हैं। ये सबके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—जो चौथी देवासुर-संग्राम की कथा रूपकालंकार की है, इसको भी बिना जाने प्रमादी लोगों ने बिगाड़ दिया है। जैसे—

'एक दैत्यों की सेना थी जिनका शुक्राचार्य पुरोहित था और वे दक्षिण देश में रहते थे, तथा दूसरी देवों की सेना थी कि जिनका राजा इन्द्र, सेनापति अग्नि और पुरोहित बृहस्पति था। उन देवों के विजय कराने के लिए आर्यावर्त्त के राजा भी जाया करते थे। असुर लोग तप करके ब्रह्मा, विष्णु और महादेवादि से वर माँग लेते थे और उनके मारने के लिए विष्णु अवतार धारण करके पृथिवी का भार उतारा करते थे।'

यह सब पुराणों की गप्पें व्यर्थ मानकर छोड़ देना और सत्य ग्रन्थों की कथा जो नीचे लिखते हैं, उनका ग्रहण करना सबको उचित है। तद्यथा—

(देवासुराः सं॰) देव और असुर अपने-अपने बाने में सजकर सब दिन युद्ध किया करते हैं तथा इन्द्र और वृत्रासुर की जो कथा ऊपर लिख आये, सो भी 'देवासुर-संग्राम' रूप जानो, क्योंकि सूर्य की किरण 'देव' संज्ञक और मेघ के अवयव अर्थात् बादल 'असुर' संज्ञक हैं। उनका परस्पर युद्धवर्णन पूर्व कर दिया है।

निघण्टु आदि सत्य शास्त्रों में सूर्य देव और मेघ असुर करके प्रसिद्ध है। इन सब वचनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर-संग्राम का स्वरूप यथावत् जान लेवें। जैसे—जो लोग विद्वान्, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकर्म करनेवाले हैं, वे तो 'देव' और जो अविद्वान्, झूठ बोलने, झूठ मानने और मिथ्याचार करनेवाले हैं, वे 'असुर' कहाते हैं। उनका परस्पर नित्य विरोध होना, यही उनके युद्ध के समान है। इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञानेन्द्रियाँ भी देव कहाते हैं, उनमें राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं तथा सब प्राणों का नाम असुर है, उनमें राजा प्राण और अपानादि सेना है। इनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है। मन के विज्ञान बढ़ाने से प्राणों का जय और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय हो जाता है ॥१॥

(सोर्दे॰) सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्य आदि को ईश्वर रचता है और **(असो॰)** अन्धकाररूप परमाणुओं से पाँच कर्मेन्द्रियाँ, दस प्राण और पृथिवी आदि को रचता है, जोकि प्रकाशरहित होने से असुर कहाते हैं। प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इनकी भी संग्राम संज्ञा मानी है ॥२-३॥

तथा पुण्यात्मा मनुष्य 'देव' और पापात्मा दुष्ट लोग 'असुर' कहाते हैं। उनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है तथा दिन का नाम 'देव' और रात्रि का नाम 'असुर' है। इनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है।

सब पदार्थ प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की सन्तान के समान होने से [शतपथ ब्राह्मण के १।७।२।२, १४।४।१।१,३ इत्यादि प्रकरणों में] 'प्राजापत्य' अर्थात् प्रजापति के पुत्र कहे गये हैं।[१]

इस प्रकार वास्तविक देव तथा असुर अनेक प्रकार के हैं, और उनके परस्पर विपरीत स्वभाव होने के कारण तज्जन्य 'देवासुर-संग्राम' भी अनेक प्रकार के हुआ करते हैं—इस रहस्य को ग्रन्थकार ने अनेक युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है। एतावता यह भ्रान्ति दूर हो जाती है कि देव

१. द्रष्टव्य—दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः पा॰ ४।१।८५; प्रजापतेरपत्यम्=प्राजापत्यः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा शुक्लपक्ष का नाम 'देव' और कृष्णपक्ष का नाम 'असुर' है तथा उत्तरायण की 'देव' संज्ञा और दक्षिणायन की 'असुर' संज्ञा है । इन सभी का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है । इसी प्रकार अन्यत्र भी जहाँ-जहाँ ऐसे लक्षण घट सकें, वहाँ-वहाँ देवासुर-संग्राम का रूपकालङ्कार जान लेना ।।४।।

ये सब देव और असुर प्राजापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के समान कहे जाते हैं और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं । इनमें से जो-जो असुर अर्थात् प्राण आदि हैं, वे ज्येष्ठ कहाते हैं क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुए हैं तथा बाल्यावस्था में सब मनुष्य भी अविद्वान् होते हैं तथा सूर्य्य ज्ञानेन्द्रिय और विद्वान् आदि पश्चात् प्रकाश होने से कनिष्ठ बोले जाते हैं ।।५-६।।

उनमें जो-जो मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करनेवाले तथा कपट-छल आदि दोषों से युक्त हैं, वे 'असुर' और जो लोग परोपकारी, परदुःखभञ्जनकर्ता, निष्कपट तथा धर्मात्मा हैं, वे 'देव' कहाते हैं ।। ७-९ ।।

इस सत्यविद्या के प्रकाश करनेवालो कथा को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके सर्वत्र प्रचार करना और मिथ्या कथाओं का मन, कर्म और वचन से त्याग कर देना सबको उचित है ।

[५—कश्यपकथा]

एवमेव कश्यपगयादितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु ग्रन्थेषु वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो विरुद्धा उक्ताः सन्ति । तद्यथा—

'मरीचिपुत्रः कश्यप ऋषिरासीत् तस्मै त्रयोदशकन्या दक्षप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ताः । तत्सङ्गमे दितेर्दैत्याः, अदितेरादित्याः, दनोर्दानवाः, एवमेव कद्रवाः सर्पाः, विनतायाः पक्षिणः, तथान्यासां

या असुर कोई विशेषाकृतिक प्राणियों का वर्ग है । शरीरधारियों में 'डाइनासोर' नामक एक विशालकाय जन्तु के विषय में यह तो सुना जाता है कि वह पहले कभी इस धरती पर विचरण करता था और अब उसका अस्तित्व नामक शेषमात्र है, किन्तु कोई मनुष्य सदृशाकृतिक होते हुए भी मनुष्य-भिन्न (पृथक्-पृथक् योनिवाले) स्वर्गादिलोकवासी, पुराणादि ग्रन्थों में वर्णित तथाकथित देवों और असुरों का अस्तित्व पहले था, या अब भी है—इस बात का स्वीकार करना किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में सम्भव नहीं है । इसलिए वेदों तथा तत्सम्बन्धी आर्षग्रन्थों में 'देव' या 'असुर' शब्दों से जिन-जिन अर्थों को व्याख्यात किया गया है, उन्हीं को यथार्थ मानना सब बुद्धिमानों को योग्य है ।

'कश्यप' के सम्बन्ध में प्रचलित कथा का ग्रन्थकार ने संक्षेप से उल्लेख किया है । इस पौराणिकी कथा में मरीचि ऋषि के पुत्र कश्यप ऋषि की उनकी १३ पत्नियों—दिति, अदिति आदि से देव, दानव, पक्षी, सर्प आदि अनेक प्रकार के प्राणियों की उत्पत्ति होना सृष्टिनियम के विरुद्ध होने से सत्य नहीं माना जा सकता । इसी बात को कहते हुए ग्रन्थकार ने कश्यप से प्राणियों की उत्पत्ति सम्बन्धी वैदिक मान्यता पर प्रकाश डाला है और शतपथ ब्राह्मण ७।५।१।५ तथा तैत्तिरीय आरण्यक १।८ के निर्वचन (**कश्यपः पश्यको भवति यत् परिपश्यति सौक्ष्म्यात्**) के आधार पर सिद्ध किया है कि 'कश्यप' का अर्थ है पश्यक अर्थात् सर्वद्रष्टा । वह परमेश्वर है । उसी के द्वारा उत्पन्न कराया गया सम्पूर्ण प्राणीवर्ग उनकी सन्तान के तुल्य है । इसलिए उनको 'काश्यप्यः प्रजा' अर्थात् कश्यप की सन्तान कहना युक्त है, परन्तु कश्यप नामक ऋषिविशेष की सन्तान सब प्राणियों को बताना नितान्त असत्य है । जिस प्रकार सिंह शब्द के निर्वचन में वर्णव्यत्यय आद्यन्तविपर्यास (अर्थात् आदि का अक्षर अन्त में प्रयुक्त होने और अन्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकाशाद्वानरर्च्छवृक्षघासादय उत्पन्नाः।' इत्यादया अन्धकारमय्यः प्रमाणयुक्तिविद्याविरुद्धा असम्भवग्रस्ताः कथा उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति विज्ञेयम्। तद्यथा—

स यत्कूर्मो नाम। प्रजापतिः प्रजा असृजत, यदसृजताकरोत् तद् यदकरोत् तस्मात् कूर्म्मः, कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति ॥

—श० कां० ७। अ० ५। ब्रा० १। कं० ५॥

भाष्यम्—(स यत्कूर्म्मः) परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते, तस्मात् तस्य 'कूर्म्म' इति संज्ञा। कश्यपो वै कूर्म्म' इत्यनेन परमेश्वरस्यैव 'कश्यप' इति नामास्ति। तेनैवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादितास्तस्मात् सर्वा इमाः प्रजाः काश्यप्य इत्युच्यन्ते। कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति[1] निरुक्त्या पश्यतीति पश्यः, सर्वज्ञतया सकलं जगद् विजानाति स पश्यः, पश्य एव निर्भ्रमतयाऽतिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवातः पश्यक इति। आद्यन्ताक्षरविपर्य्ययाद् हिंसेः सिंहः, कृतेस्तर्कु रित्यादिवत्कश्यप इति'हयवरट्,'[2] इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति, अतः सुष्ठु विज्ञायते काश्यप्यः प्रजा इति।

भाषार्थ—इसी प्रकार पाँचवीं कश्यप और गया पुष्करतीर्थादि कथा लोगों ने बिगाड़के प्रसिद्ध की है। जैसे देखो कि—

'मरीचि के पुत्र एक कश्यप ऋषि हुए थे। उनको दक्ष प्रजापति ने विवाह विधान से तेरह कन्या दीं, कि जिनसे सब संसार की उत्पत्ति हुई, अर्थात् दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्रू से सर्प और विनता से पक्षी तथा औरों से वानर, ऋच्छ, घास आदि पदार्थ उत्पन्न हुए। इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं।' इत्यादि प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध अनेक असम्भव कथा लिख रक्खी हैं। उनको मानना किसी मनुष्य को उचित नहीं। देखिए, ये ही कथा सत्य शास्त्रों में किस प्रकार की उत्तम लिखी हैं—

(स यत्कूर्मो०) प्रजा को उत्पन्न करने से 'कूर्म्म' तथा उसको अपने ज्ञान से देखने के कारण परमेश्वर को 'कश्यप' भी कहते हैं। 'कश्यप' यह शब्द 'पश्यक' इस शब्द के आद्यन्ताक्षरविपर्य्यय से बनता है।

इस प्रकार की उत्तम कथा को समझके उन मिथ्या कथाओं को सब लोग छोड़ देवें कि जिससे सबका कल्याण हो। अब देखो गयादि तीर्थों की कथाओं को—

का आदि में प्रयुक्त होने से) मानकर हिंसार्थक 'हिंस्' धातु की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार 'कश्यप शब्द में भी वर्णव्यत्यय के सिद्धान्त से **पश्यतीति पश्यः**, पश्य एव '**पश्यकः**'[3] मूलतः पश्यक शब्द का अर्थ (=देखनेवाला) कल्पित किया जाता है।

'कूर्म' शब्द यद्यपि लोक में कच्छप अर्थ का वाचक है। किन्तु वेदों में सृष्टिकर्ता परमेश्वर को 'कूर्म' कहा गया है। इसी प्रकार 'आदित्य' वृषा (पुरुष) और 'प्राण' को भी कूर्म कहा जाता है। यह शतपथ ब्राह्मण ७।५।१।५, ६, ७ में बतलाया गया है, अतः ज्ञातव्य है कि 'कूर्म', 'कश्यप' आदि शब्दों का वैदिक सन्दर्भ में वह अर्थ नहीं है जो लोक में प्रचलित है।

---

१. द्र० 'कश्यपः पश्यको भवति यत्परिपश्यति सौक्ष्म्यात्' तै० आ० १।८।७ २. अष्टा० प्रत्याहारसूत्र ५।

३. पाघ्राध्माधेट् दृशः शः—पा० ३।१।१३७ से 'दृश्' धातु से कर्त्ता अर्थ में 'श' प्रत्यय हुआ और प्रत्यय के 'शित्' होने से 'दृश्' को पश्यादेश हुआ। उससे स्वार्थ में 'संज्ञायां च' (पा० ५।३।९७) से कन् प्रत्यय होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[६—गयादितीर्थकथा]

प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं, तस्मादाहुर्बल ँ सत्यादोजीयः । इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता ॥ सा हैषा गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे, तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्रीनाम । —श० कां० १४ । अ० ८ । ब्रा० १६ । कं० ६, ७ ॥

गय इत्यपत्यनामसु पठितम् ॥ —निघं० अ० २ । खं० २ ॥

तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति । तीर्थमेवोदयनोयोऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति ॥ —श० कां० १२ । अ० २ । ब्रा० १ । कं० १, ५ ॥

अहि ँ सन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः ॥ इति छान्दोग्योपनिषदि ८।१५

समानतीर्थे वासी ॥ इत्यष्टाध्यायाम्, अ० ४ । पा० ४ । सू० १०७ । सतीर्थ्यो ब्रह्मचारीत्युदाहरणम् ॥

त्रयः स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति । यो विद्यां समाप्य व्रतमसमाप्य समावर्त्तते स विद्यास्नातकः । यो व्रतं समाप्य विद्यामसमाप्य समावर्तते स व्रतस्नातकः ॥ इत्यादि —पारस्करगृह्यसूत्रे २।५।३२-३४.

नमस्तीर्थ्याय च ॥ ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः ॥ इति शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम्, अ० १६ । मं० ४२, ६१ ॥

भाष्यम् एवमेव गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यमित्यत्रोच्यते । तद्यथा—(प्राणो०) प्राण एव बलमिति विज्ञायते, बलमोजीयः । तत्रैव सत्यं प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितम् । तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात् । गायत्र्यपि ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठिता, तां गायत्रीं 'गयाम्' आह । प्राणानां गयेति संज्ञा 'प्राणा वै गयाः' इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम्, अर्थात् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्दधाना जीवा अनुतिष्ठेयुरित्येवं गयाश्राद्धविधानम् । गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री इत्यभिधीयते ।

वैदिक शब्दों के ठीक अर्थ जान लेने पर जो एक स्वाभाविक और युक्तिसंगत बात वेदों से जानी जाती है, वैसा ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराणग्रन्थों में देखने में नहीं आता । इसके विपरीत सृष्टिनियम या पदार्थों के स्वभाव के विरुद्ध अयुक्तिपूर्ण कथाएँ उनमें हैं, जो सत्य नहीं मानी जा सकतीं ।

गयादितीर्थकथा

आगे 'गया' तीर्थ आदि शब्दों के अर्थों पर विचार किया गया है ।

जैसा कि ग्रन्थकार द्वारा वर्णित है, वेद में 'गय' शब्द का बहुशः प्रयोग है । प्राण, अपत्य (सन्तान) और गृह के अर्थ में यह शब्द पुल्लिंग में प्रयुक्त होता है । अकेले ऋग्वेद में इस शब्द के १९ स्थानों पर व्यस्त और ४ स्थानों पर समस्त पद के प्रयोग हैं । इनमें से यह शब्द कहीं पर भी मगध देशस्थ तथा प्रसिद्ध गया नामक स्थान का वाचक नहीं है और नहीं और्ध्वदेहिक पिण्डदान, श्राद्धादि से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च गयेति नामास्ति,[1] अत्रापि सर्वैर्मनुष्यैः श्रद्धातव्यम् । गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेया । मातुः पितुराचार्य्यस्यातिथेश्चान्येषां मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते । तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां चोत्तमशिक्षाकरणे ह्युपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्य्येति । अत्र श्रद्धाकरणेन विद्याप्राप्त्या मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते ।

अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावान्मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि शिल्पिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा तस्यैव कैश्चित् स्वार्थसाधनतत्परैरुदरम्भरैर्विष्णुपदमिति नाम रक्षितं तस्य स्थलस्य गयेति च, तद् व्यर्थमेव । कुतः ? विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति गयपदं प्राणगृहप्रजानां च । अतोऽत्रेयं तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम् । अत्र प्रमाणम्---

इ॒दं विष्णु॒र्वि च॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम् । समू॑ढमस्य पाᳪं सु॒रे स्वाहा॑ ॥

—यजु० अ० ५ । मं० १५

यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् । त्रेधा भावाय, पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः । समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूढमस्य पांसुरेप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा ॥

—नि० अ० १२ । खं० १९ ॥

अस्यार्थं यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता । तद्यथा—विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्त्ता तस्य विष्णुरिति नाम । अत्राह निरुक्तकारः—

अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा । तस्यैषा भवति—इदं विष्णुरित्यृक् ॥ —नि० अ० १२ । खं० १८-१९ ॥

वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोऽस्ति, चराचरं जगत् व्यश्नुते व्याप्नोति वा, स विष्णुर्निराकारत्वात् सर्वगत ईश्वरोऽस्ति । एतदर्थवाचिकेयमृक्—

इदं सकलं जगत् त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान् । 'क्रमु पादविक्षेपे'[2] पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु निधत्ते निदधे स्थापितवान्, अर्थात् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम् । यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तत्सर्वमन्तरिक्षे । यच्च प्रकाशमयं सूर्य्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमयेऽग्नौ[3] वेति विज्ञेयम् । एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितम् । एषां मध्ये यत्समूढं मोहेन सह वर्त्तमानं ज्ञानवर्जितं जडं तत् पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वे लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम् । तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादार्हं स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम् ।

'गय' शब्द का कोई सम्बन्ध है । यद्यपि पाणिनीय गणपाठ ४।२।८२ के अनुसार 'गया' नामक नगरी के अस्तित्व मथुरा, उज्जयिनी की भाँति प्राचीन हैं, तथापि स्थानविशेष या नगरविशेषों की तीर्थरूप में

---

१. 'गयः' गृहनामसु, निघण्टु ३।४; अपत्यनासु, निघण्टु २।२२

२. क्षीरतरङ्गिणी १।३१६ ॥ ३. अग्निपदेनेह भौतिके जगति त्रिस्थानस्त्रिनामाऽग्निर्निर्दिश्यते, ज्ञानेन्द्रियजीवादिरूपेऽध्यात्मे अग्निपदेन जीवात्मा उच्यते ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अयमेवार्थः (यदिदं किञ्च०)—इत्यनेन यास्काचार्य्येण वर्णितः। यदिदं किञ्चिज्जगद् वर्त्तते तत् सर्वं विष्णुर्व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान्। (त्रिधा निधत्ते पदं) त्रेधा भावाय, त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय, तदुक्तं पूर्वमेव। तस्मिन् विष्णुपदे मोक्षाख्ये समारोहणे समारोढुमर्हे गयशिरसीति प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति, तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः प्रजा-प्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते। यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्त्तते, तस्मिन् गयशिरसि विष्णुपदे ह्यीश्वरसामर्थ्ये सर्वं जगदस्तीति। कुतः? व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात्। पांसुरेऽप्यायनेऽन्त-रिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं यज्जगद् तच्चक्षुषा न दृश्यते। ये च पांसवः परमाणुसंघाताः पादैस्तद्द्र-व्यांशैः सूयन्त उत्पद्यन्ते। अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्था दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते। इममर्थम-विज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः पण्डिताभासैः प्रचारित इति बोद्धव्यम्॥

तथैव वेदाद्युक्तरीत्याऽऽर्यैश्चानुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति। यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक्कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति तानि 'तीर्थानि' मतानि। यानि च भ्रान्तैः रचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञान्युक्तानि, तानि वेदार्थाभिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम्। तद्यथा—

(तीर्थमेव प्राय०) तत् प्रायणीयं यज्ञस्याङ्गमतिरात्राख्यं व्रतं समाप्य स्नानं क्रियते, तदेव तीर्थमिति वेद्यम्। येन तीर्थेन मनुष्याः प्रस्नाय शुद्धा भवन्ति। तथैव यदुदयनीयाख्यं यज्ञसम्बन्धिसर्वोप-कारकं कर्म समाप्य स्नान्ति, तदेव दुःखसमुद्रात् तारकत्वात् तीर्थमिति मन्तव्यम्।

एवमेव (अहिंसन्०) मनुष्यः सर्वाणि भूतान्यहिंसन्, सर्वैर्भूतैर्वैरमकुर्वाणः सन् वर्त्तेत, परन्तु तीर्थेभ्यो वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्राहिंसा धर्मो मन्तव्यः। तद्यथा—यत्र यत्रापराधिनामुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्त्तव्यमेव। ये पाषण्डिनो वेदसत्यधर्मानुष्ठानशत्रवश्चोरादयश्च ते तु यथापराधं हिंसनीया एव। अत्र वेदादिसत्यशास्त्राणां तीर्थसंज्ञास्ति। तेषामध्ययनाध्यापनेन तदुक्तधर्म्मकर्म्मविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसमुद्रात् तरन्त्येव, तेषु सम्यक् स्नात्वा मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः॥

तथैव (समानतीर्थे वासी)इत्यनेन समानो द्वयोर्विद्यार्थिनोरेक आचार्य्यः, समानमेकशास्त्राध्ययनं च। अत्राचार्य्यशास्त्रयोस्तीर्थसंज्ञास्ति। मातापित्रतिथीनां सम्यक् सेवनेन सुशिक्षया विद्याप्राप्त्या दुःख-समुद्रान्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि, दुःखात् तारकत्वादेव मन्तव्यानि। एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः सम्पादनीयेति॥

(त्रयः स्ना०) त्रय एव तीर्थेषु कृतस्नानाः शुद्धा भवन्ति। तद्यथा—यः सुनियमेन पूर्णां विद्यां पठति, स ब्रह्मचर्य्याश्रममसमाप्यपि विद्यातीर्थे स्नाति, स[1] शुद्धो भवति। यस्तु खलु द्वितीयः यत्पूर्वोक्तं ब्रह्मचर्य्यं सुनियमाचरणेन समाप्य, विद्यामसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातको भवति। यश्च सुनियमेन ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य वेदशास्त्रादिविद्यां च समावर्तते, सोऽप्यस्मिन्नुत्तमतीर्थे सम्यक् स्नात्वा यथावच्छु-द्धात्मा, शुद्धान्तःकरणः, सत्यधर्माचारी, परमविद्वान्, सर्वोपकारको भवतीति विज्ञातव्यम्॥

(नमस्तीर्थ्याय च) तेषु प्राणवेदविज्ञानतीर्थेषु पूर्वोक्तेषु भवः सः तीर्थ्यः, तस्मै तीर्थ्याय परमेश्वराय

मान्यता मध्ययुगीन है, वैदिकयुगीन नहीं। अथर्वपरिशिष्ट ४२।६।४ और काठकगृह्योद्धरण ४५।६ में भी गया शब्द का प्रयोग मिलता है।

(द्रष्टव्य, वैदिक पदानुक्रमकोष, होश्यारपुर, Vol. 12 Sec. IV Part II पृष्ठ ६७८)

---

१. स विद्यास्नातक इत्यर्थः। २. 'सोऽपि' पदेनेह विद्याव्रतस्नातकोऽभिप्रेतः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नमोऽस्तु । ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति व्यवहरन्ति, ये च पूर्वोक्त-ब्रह्मचर्य्यसेविनो रुद्रा महाबलाः, (सृकाहस्ताः) विद्याविज्ञाने हस्ता येषां ते (निषङ्गिणः) निषङ्गः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः खड्गो येषां ते सत्योपदेष्टारः । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति[1]' ब्राह्मणवाक्यात्,[2] उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः । अत एवोक्तस्तीर्थ्य इति । सर्वेषां तारकाणां तीर्थनामात्मकत्वात्, परमतीर्थाख्यो धर्मात्मनां स्वभक्तनां सद्यस्तारकत्वात् परमेश्वर एवास्ति । एतेनैतानि तीर्थानि व्याख्यातानि ।।

प्रश्नः—यैस्तरन्ति नरास्तानि जलस्थलादीनि तीर्थानि कुतो न भवन्ति ?

ओत्रोच्यते—नैव जलं स्थलं च तारकं कदाचिद् भवितुमर्हति, तत्र सामर्थ्याभावात्, करणकारकव्युत्पत्त्यभावाच्च । जलस्थलादीनि नौकादिभिर्यानैः, पद्भ्यां बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति । तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति, करणकारकान्वितानि तु नौकादीनि । यदि पद्भ्यां गमनं बाहुबलं [च] न कुर्य्यान्न च नौकादिषु तिष्ठेत् तर्ह्यवश्यं तत्र मनुष्यो मज्जेन्महद्दुःखं च प्राप्नुयात् । तस्माद् वेदानुयायिनामार्य्याणां मते काशीप्रयागपुष्करगङ्गायमुनादिनगरनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिध्यति, किन्तु वेदविज्ञानरहितैरुदरम्भरैः सम्प्रदायस्थैर्जीविकाधीनैर्वेदमार्गविरोधिभिरल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितग्रन्थेषु तीर्थसंज्ञया प्रसिद्धीकृतानि सन्तीति ।

ननु—इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वतीति[3] गङ्गादिनदीनां वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति, त्वया कथं न मन्यते ?

अत्रोच्यते—मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति । ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति । ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति, तावत् तासां मान्यं करोमि, न च पापनाशकत्वं दुःखात् तारकत्वं च । कुतः ? जलस्थलादीनां तत्सामर्थ्याभावात् । इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेष्वेव तीर्थेषु गम्यते, नान्यत्रेति ।

अन्यच, इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्म्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति[4] । तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य

उधर प्राणों का नाम वायु होने से (श० ब्रा० १४।८।१५।७) उनके निरोध अर्थात् प्राणायामादि योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर के साक्षात्कार में श्रद्धावान् होना वास्तविक वैदिक गय — (न कि गया) श्राद्ध है। गया शब्द शतपथ ब्राह्मण के उक्त प्रकरण में पुंल्लिग में पठित होने से उसका

---

१ बृह० उ० ३।६।२६।।

२. बृहदारण्याख्यमुपनिषच्छतपथब्राह्मणस्य चतुर्दशकाण्डे पठ्यते, इत्यतस्तस्या ब्राह्मणत्वम् ।

३. ऋ० १०।७५।५।।

४. नदीसूक्ते पठितैर्गङ्गादिपदैरिडापिङ्गलादिनाडीनां ग्रहणं नोपपद्यत इति चेन्न । नहीह नदीपदं भूमिस्थजलधारावाचकमेव, एवमेवेह पठितानि गङ्गादीनि पदान्यपि न लोके प्रसिद्धानां गङ्गादिनदीनां ग्राहकाणि । कुतः इति चेत् ? वैदिकपदानां यौगिकत्वात् । अपि च, पदार्थनिश्चय उपक्रमोऽप्यन्यतम साधनमिति मीमांसकाः संगिरन्ते (द्र० मीमांसा ३।३।२) । तदनुसारमिहार्थनिश्चयाय सूक्तस्योपक्रमे (प्रथममन्त्रे) 'प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः' इति पाठो महत्साहाय्यं विदधाति । एतेन विस्पष्टं ज्ञाप्यते यदस्मिन् सूक्ते यासां गङ्गादीनां नदीनां वर्णनं विद्यते न ता भूमिस्था जलधारा एव, अपि त्विमा गङ्गाद्या नद्यो दिवि अन्तरिक्षे पृथिव्यां च त्रिष्वपि स्थानेषु वर्तन्त इति । ताश्च दिवि सप्तविधाः किरणाः, अन्तरिक्षे परिवहभेदेन वर्तमानाः सप्तविधा मेघाः, पृथिव्यां च सप्तविधजलवत्यो जलधारा गृह्यन्ते । एवमेव 'यद्ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे' इति न्यायेन सप्तविधा एव गङ्गाद्या नद्योऽध्यात्मे = शरीरे सप्तविधनाडीरूपा गृह्यन्ते । अतएवेह ग्रन्थकारोऽध्यात्मपक्षमाश्रित्य गङ्गादिपदैरिडादीनां नाडीनां ग्रहणं करोति ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहणात् । तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव । तासामिडादीनां धारणासिध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात्, एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्त्तनात् ।[1]

एवमेव - सितासिते [सरिते] यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति०[2] एतेन परिशिष्टवचनेन केचिद् गङ्गायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति । 'सङ्गथे' इति पदेन गङ्गायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति । तन्न सङ्गच्छते—कुतः ? नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्य्यलोकं वोत्पतन्ति गच्छन्ति, किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः । अत्रापि 'सित' शब्देनेडायाः, 'असित' शब्देन पिङ्गलायाश्च ग्रहणम् । यत्र तु खल्वेतयोर्नाड्योः सुषुम्णायां समागमो मेलनं भवति, तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । अतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं, न च तयोः । अत्र प्रमाणम् सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम् । निरु० अ० ९ । खं २६ ।। सितं शुक्लवर्णमसितं तस्य निषेधः । तयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्य्यादिपृथिव्यादिपदार्थयोर्यत्रेश्वरसामर्थ्ये समागमोऽस्ति, तत्र कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो दिवं पूर्वोक्तं गच्छन्त्येव ।

भाषार्थ—छठी यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रक्खा है—'लोगों ने मगध देश में एक स्थान है, वहाँ फल्गु नदी के तीर पाषाण पर मनुष्य के पग का चिह्न बनाके उसका 'विष्णुपद' नाम रख दिया है और यह बात प्रसिद्ध कर दी है कि यहाँ श्राद्ध करने से पितरों की मुक्ति हो जाती है।' जो लोग आँख के अन्धे गाँठ के पूरे उनके जाल में जा फँसते हैं, उनकी गयावाले उलटे उस्तरे से खूब हजामत बनाते हैं । इत्यादि प्रमाद से उनके धन का नाश कराते हैं । वह परधनहरण पेटपालक ठगलीला केवल झूठ की ही गठरी है । जैसा कि सत्यशास्त्रों में लिखी हुई आगे की कथा देखने से सबको प्रगट हो जावेगा—

(प्राणौ वै बलं०) इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त श्रद्धा से गया-संज्ञक प्राण आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है। प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है, क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है, और उसका प्रतिपादन करनेवाला गायत्री मन्त्र है कि जिसको 'गया' कहते हैं । किसलिए कि उनका अर्थ जानके श्रद्धासहित परमेश्वर को भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है तथा प्राण का भी नाम 'गया' है, उसको प्राणायाम को

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के इस प्रकरण में स्त्रीलिंग प्रयोग यथा 'तां गायत्रीं गयामाह' और 'तत्र गयायां श्राद्धं कर्तव्यम् इत्येवं गया-श्राद्धविधानम्' । यह पाठ 'गायत्री' स्त्रीलिंग के विशेषण गय को गया मानकर संगत होता है अन्यथा नहीं ।

---

१. अस्मात् सूक्तात् पूर्वसूक्तयोरिन्द्रस्य परमात्मनो वर्णनाद् अस्मिन् सूक्ते परमेश्वरस्यानुवृत्तिरुक्ता ग्रन्थकृता ।

२. ग्रन्थकृताऽत्र 'उत्पतन्ति' पदादुत्तरत्र बिन्दुनिर्देशः कृतः, तेन मन्त्रपूर्त्तिरत्र कार्येति द्योत्यते । तथा चायमुत्तरार्धः 'ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते' इति । मन्त्रोऽयमस्यैव सूक्तस्य परिशिष्टे पठ्यते । द्र० परिशिष्ट २२ (सातवलेकरीयमृक्संस्करणम् ।

३. वैदिकपरिशिष्टरूपा मन्त्रा अपि प्रमाणभूता इत्ययमर्थो ग्रन्थकृताऽस्य परिशिष्टवचनस्य प्रमाणत्वेनोपन्यासात् साध्वर्थप्रदर्शनप्रयासाच्च ज्ञाप्यते । १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधानान्ते लक्ष्मीसूक्त व्याख्यानादपि परिशिष्टमन्त्राणां प्रामाण्यं ज्ञाप्यते । परिष्टवचनानि परतः प्रामाण्यमर्हन्ति, न वेदवत् स्वतःप्रामाण्यम् । अत एवात्र पठितानि कतिपयानि परिशिष्टानि तदेकदेशा वा अप्रमाणार्हा अपि सन्ति ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रीति से रोकके परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करनेवाला है। इसलिए ईश्वर का नाम गायत्री और गायत्री का नाम 'गया' है।

तथा निघण्टु में घर, सन्तान और प्रजा इन तीनों का नाम भी 'गया' है। मनुष्यों को इनमें अत्यन्त श्रद्धा करनी चाहिए। इसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सबके उपकार और उन्नति के नामों की सिद्धि करने में जो अत्यन्त श्रद्धा करनी है, उसका नाम 'गयाश्राद्ध' है।

तथा अपने सन्तानों को सुशिक्षा से विद्या देना और उनके पालन में अत्यन्त प्रीति करनी, इसका नाम भी 'गयाश्राद्ध' है।

तथा धर्म से प्रजा का पालन, सुख की उन्नति, विद्या का प्रचार, श्रेष्ठों की रक्षा, दुष्टों को दण्ड देना और सत्य को उन्नति आदि धर्म के काम करना, ये सब मिलकर अथवा पृथक्-पृथक् भी 'गयाश्राद्ध' कहाते हैं।

इस अत्यन्त श्रेष्ठ कथा को छोड़के विद्याहीन पुरुषों ने जो मिथ्या कथा बना रक्खी है, उसको कभी न मानना।

और जो वहाँ पाषाण के ऊपर मनुष्य के पग का चिह्न बनाकर उसका नाम 'विष्णुपद' रक्खा है, सो सब मूल से ही मिथ्या है, क्योंकि व्यापक परमेश्वर, जो सब जगत् का करनेवाला है, उसी का नाम 'विष्णु' है।

देखो यहाँ निरुक्तकार ने कहा है कि (अथ)—'विष्लृ' धातु का अर्थ व्यापक होने, अर्थात् सब चराचर जगत् में प्रविष्ट रहना वा जगत् को अपने में स्थापन कर लेने का है। इसलिए निराकार ईश्वर का नाम 'विष्णु' है।

'क्रमु पादविक्षेपे' यह धातु दूसरी वस्तु को पगों से दबाना वा स्थापन करना, इस अर्थ को बतलाता है, इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है, अर्थात् भारसहित और प्रकाश-रहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में, तथा प्रकाशमान् सूर्य्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में। इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है। फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूढ़ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है, वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल के बीच में स्थित है। सो यह केवल परमेश्वर ही की महिमा है कि जिसने ऐसे-ऐसे अद्भुत पदार्थ रचके सबको धारण कर रक्खा है।

(यदिदं किंच०)—इस 'विष्णुपद' के विषय में यास्कमुनि ने भी इस प्रकार व्याख्यान किया किया है कि यह सब जगत् सर्वव्यापक परमेश्वर ने बनाकर, त्रिधा=इसमें तीन प्रकार की रचना दिखलाई है, जिससे मोक्षपद को प्राप्त होते हैं वह 'समारोहण' कहाता है। सो विष्णुपद गयशिर अर्थात् प्राणों के परे है, उसको मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होके, प्राण से प्रिय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं, अन्य मार्ग से नहीं, क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है, उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। उसमें से सूक्ष्म जो जगत् का भाग है, सो आँख से

प्राणों की रक्षा करनेवाली शक्ति को गायत्री कहा गया है—**"प्राणा वै गयाः—तद् यद् गयास्त्रेतस्माद गायत्रीनाम"** (श० ब्रा० १४।८।१५।८)। जीव का थोड़ा-बहुत अपना सामर्थ्य होते हुए भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीखने योग्य नहीं हो सकता, किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल हो जाता है, तभी वह नेत्रों से देखने में आता है। यह दोनों प्रकार का जगत् जिसके बीच में ठहर रहा है, और जो उसमें परिपूर्ण हो रहा है, ऐसे परमात्मा को 'विष्णुपद' कहते हैं।

इस सत्य अर्थ को न जानके अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पग का चिह्न बनाकर उसका नाम विष्णुपद रख छोड़ा है, सो सब मिथ्या बातें हैं।

तथा तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा जानके अज्ञानियों ने जगत् के लूटने और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए मिथ्याचार कर रक्खा है। सो ठीक नहीं, क्योंकि जो-जो सत्य तीर्थ हैं वे सब नीचे लिखे जाते हैं—

वह प्राणों की पूर्णतः अथवा सुदीर्घ काल तक रक्षा नहीं कर सकता, इसलिए यही अनुमान होता है कि यहाँ पर गायत्री शब्द से 'परमेश्वर' अर्थ ग्रहण करना ही संगत है, अतः गायत्री अर्थात् प्राणों से भी प्रिय (प्राणों की रक्षा करनेवाला होने से) परमात्मा की उपासना में श्रद्धा का होना ही 'गय' श्राद्ध है। उसके साथ ही घर के छोटे-बड़े सभी आत्मीयजनों की सेवा-शुश्रूषा-पालना करना भी गय श्राद्ध है। अन्य किसी प्रकार के गय श्राद्ध का वेदों या वेद से सम्बद्ध अन्य वैदिक (आर्ष) वाङ्मय में वर्णन देखने में नहीं आता।

आगे (तीर्थों) पर विचार किया गया है। सो दुःखों से पार करानेवाले साधन ही यहाँ 'तीर्थ' पदवाच्य माने गये हैं। वे हैं 'अतिरात्र' संज्ञक प्रायणीय और उदयनीय (यज्ञ) वेदादि शास्त्र, विद्योपदेशक गुरु और आचार्य।

इन अर्थों को विविध शास्त्रों के प्रमाण से ग्रन्थकार ने यहाँ प्रस्तुत कर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि वेदों में प्रयुक्त 'तीर्थ' शब्द से यज्ञादि शुभकर्म, अध्यापक और उपदेशक, गुरु, आचार्य, शास्त्र तथा नदी, सरोवर, समुद्र को पार करने के साधन, नाव, जहाज़ ही ग्रहण करना समीचीन है तथाकथित नदी संगमों या नदियों और समुद्र के तटों पर बसे प्रयाग, काशी, हरिद्वार, मथुरा, पुष्कर, द्वारिका, जगन्नाथपुरी आदि नगर नहीं।

अकेले ऋग्वेद में ही आठ स्थानों पर तीर्थ शब्द का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य ने ऋग्वेद १।४६।८ में आये 'अरित्रं वां दिवस्पृथुः तीर्थे सिन्धूनां रथः' का अर्थ—**हे अश्विनौ वां दिवस्पृथुः द्युलोकादपि विस्तीर्णमरित्रं गमनसाधनं नौ रूपं सिन्धूनां समुद्रानां तीर्थेऽवतरणप्रदेशे विद्यते इति शेषः**' ऐसा किया है और तीर्थ को समुद्र में उतरने का स्थान बतलाया है। यह अर्थ उसने पूर्ववर्ती भाष्यकारों से लिया है, क्योंकि तत्पूर्ववर्ती स्कन्दस्वामी और वेंकटमाधव ने भी लगभग ऐसा ही अर्थ लिखा है यथा—**तीर्थे उत्तरणप्रदेशे सिन्धूनां नदीनां** (स्कन्दस्वामिभाष्य)। '**अथ जलानाम्, उत्तरणदेशे रथ उपतिष्ठते**' (वेंकटमाधव) से स्पष्ट है। मुद्गल ने अक्षरशः सायण का अर्थ लिखा है। सायण ने अन्यत्र ऋ० १।१७३।११, १७३।११, ८।७२।७, ९।९७।५३, १०।३१।३, १०।४०।१३ तथा १०।११४।७ में प्रयुक्त तीर्थ शब्द को प्रायेण स्थानविशेष का ही वाचक माना है। प्रथम दो संकेत स्थानों पर मार्ग अर्थ भी किया है। इसी प्रकार यजुर्वेद ४।११ में आये 'सुतीर्थं' शब्द का अर्थ भाष्यकार महीधर ने भी सुन्दर उतरने का मार्ग जिसमें हो अथवा 'सुख से प्राप्त की जा सकनेवाली बुद्धि' ऐसा किया है। किन्तु गोपथब्राह्मण के **तीर्थेन हि प्रतरन्ति तद्यथा समुद्रं तीर्थेन प्रतरेयुः** (गो० ब्रा० पु० ५।२) से यह विदित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखो 'तीर्थ' नाम उनका है कि जिनसे जीव दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हों अर्थात् जो-जो वेदादिशास्त्रप्रतिपादित तीर्थ हैं, तथा जिनका आर्य्यों ने अनुष्ठान किया है, जोकि जीवों को दुःखों से छुड़ाके उनके सुखों के साधन हैं, उन्हीं को 'तीर्थ' कहते हैं।

वेदोक्त तीर्थ ये हैं—(**तीर्थमेव प्राय०**) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है, उसको 'तीर्थ' कहते हैं, क्योंकि उस कर्म से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है। इस कारण उन कर्मों के करनेवाले मनुष्यों को भी सुख और शुद्धि प्राप्त होती है॥

तथा (**अहिँसन्०**) सब मनुष्यों को इस 'तीर्थ' का सेवन करना उचित है कि अपने मन से वैरभाव को छोड़के सबके सुख करने में प्रवृत्त होना, और किसी संसारी व्यवहार के वर्त्तावों में दुःख न देना। परन्तु (**अन्यत्र तीर्थेभ्यः**) जो-जो व्यवहार वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध माने हैं, उनके करने में दण्ड का होना अवश्य है, अर्थात् जो-जो मनुष्य अपराधी, पाखण्डी अर्थात् वेदशास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान के शत्रु अपने सुख में प्रवृत्त, और परपीड़ा में प्रवर्त्तमान हैं, वे सदैव दण्ड पाने के योग्य हैं। इससे वेदादि सत्य शास्त्रों का नाम 'तीर्थ' है कि जिनके पढ़ने-पढ़ाने और उनमें कहे हुए मार्गों में चलने से मनुष्य लोग दुःखसागर को तरके सुखों को प्राप्त होते हैं।

(**समानतीर्थे०**) इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेदादिशास्त्रों को पढ़ानेवाला जो आचार्य्य है उसका, वेदादिशास्त्रों तथा माता-पिता और अतिथि का भी नाम 'तीर्थ' है, क्योंकि उनकी सेवा करने से जीवात्मा शुद्ध होकर दुःखों से पार हो जाता है। इससे इनका भी तीर्थ नाम है।

(**त्रयः स्नातका०**) इन तीर्थों में स्नान करने के योग्य तीन पुरुष होते हैं—एक तो वह कि जो उत्तम नियमों से वेद विद्या को पढ़के, ब्रह्मचर्य को विना समाप्त करे भी विद्या का पढ़ना पूरा करके ज्ञानरूपी 'तीर्थ' में स्नान करके शुद्ध हो जाता है। दूसरा जोकि पच्चीस, तीस, छत्तीस, चवालीस अथवा अड़तालीस वर्षपर्य्यन्त नियम के साथ पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य को समाप्त करके और विद्या को विना समाप्त किये भी विवाह करता है, वह व्रतस्नातक अर्थात् उस ब्रह्मचर्य 'तीर्थ' में स्नान करके शुद्ध हो

होता है कि नौका आदि समुद्र में तैरने के साधन को भी वैदिक सन्दर्भों में तीर्थ कहा गया है। ऐसी स्थिति में वेद में तीर्थ शब्द से प्रचलित गंगा-यमुना आदि नदियों के संगमरूप प्रयाग आदि स्थानों का ग्रहण जैसा कि महीधर ने लिखा है—"**तीर्थे प्रयागादौ भवः तीर्थ्यः तस्मै** (यजुर्वेदभाष्य १६।४२) समीचीन नहीं माना जा सकता। अपितु सामान्यतः प्रत्येक तारण करनेवाली वस्तु तीर्थ है और उसमें सर्व-श्रेष्ठ तारक परमेश्वर परमतीर्थ या तीर्थ ही कहा जाता है। इस कथन द्वारा ग्रन्थकार ने वेद में प्रयुक्त तीर्थ शब्द के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त कर दिया है। यहाँ यह प्रश्न किसी का हो कि यदि गंगा, यमुना आदि नदियों या इनके संगमों का नाम तीर्थ वेद में इष्ट नहीं है तो गंगा, यमुना, सरस्वती आदि का वर्णन वेद में क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार ने जो यह कहा है कि—"**मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति।**" इत्यादि इसका अभिप्रायः यह है कि ऋग्वेद १०।७५।५ मन्त्र में प्रयुक्त गंगे, यमुने, सरस्वती, शुतुद्रि—इन योगरूढ़ि शब्दों से कथंचित् नदी अर्थ ग्रहण किये जाने पर भी नदियों की तीर्थ संज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि '**तरन्ति येन तत्तीर्थम्**' यह निर्वचन करना ही उचित है, न कि '**तरन्ति यस्मिन् तत्तीर्थम्**' ऐसा। तात्स्थ्यात् नौकादि के आधाररूप जलाशय को तीर्थ संज्ञा लक्षणवशात् क्वचित् सम्भव है, न कि सर्वत्र अभिधा के प्रसंगों में भी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है और तीसरा यह है कि नियम से ब्रह्मचर्य्याश्रम तथा वेदादिशास्त्रविद्या को समाप्त करके, समावर्त्तन अर्थात् उसी के फलरूपी उत्तम 'तीर्थ' में भले प्रकार स्नान करके यथायोग्य पवित्रदेह, शुद्ध अन्तःकरण, श्रेष्ठविद्या, बल और परोपकार को प्राप्त होता है ॥

(**नमस्तीर्थ्याय०**) उक्त प्राण, वेद, विज्ञानादि तीर्थों में होनेवाला तीर्थ्य कहाता है। उस तीर्थ्य-रूप परमेश्वर को हमारा नमस्कार है। जो विद्वान् लोग वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सत्य कथनरूप तीर्थों का प्रचार करते हैं तथा जो चवालीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करते हैं, वे बड़े बलवाले होकर 'रुद्र' कहाते हैं। (**सृकाहस्ता०**) जिनके सृका अर्थात् विज्ञानरूपहस्त तथा निषङ्ग=संशय की काटने-वाली उपदेशरूप तलवार है, वे सत्य के उपदेशक भी 'रुद्र' कहाते हैं तथा उपनिषदों से प्रतिपादित किया हुआ, उपदेश करने योग्य जो परमेश्वर है, उसको 'परमतीर्थ' कहते हैं, क्योंकि उसी की कृपा और प्राप्ति से जीव सब दुःखों से तर जाते हैं ॥

प्रश्न—जिनसे मनुष्य लोग तर जाते हैं, अर्थात् जल और स्थानविशेष, वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि उनमें तारने का सामर्थ्य ही नहीं है और तीर्थ शब्द करण-कारकयुक्त लिया जाता है, सो जल वा स्थानविशेष अधिकरण वा कर्मकारक होते हैं, उनमें नाव आदि अथवा हाथ और पग से तरते हैं। इससे जल वा स्थल तारनेवाले कभी नहीं हो सकते। किसलिए कि जो जल में हाथ वा पग न चलावें वा नौका आदि पर न बैठें, तो कभी नहीं तर सकते। इस युक्ति से भी काशी, प्रयाग, गङ्गा, यमुना, समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते। इस कारण से सत्यशास्त्रोक्त जो तीर्थ हैं, उन्हीं को मानना चाहिए, जल और स्थानविशेष को नहीं।

प्रश्न—(**इमं मे गङ्गे०**) यह मन्त्र गङ्गा आदि नदियों को तीर्थ विधान करनेवाला है, फिर इनको तीर्थ क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—हम लोग उनको नदी मानते हैं और उनके जल में जो-जो गुण हैं, उनको भी मानते हैं, परन्तु पाप छुड़ाना और दुःखों से तारना, यह उनका सामर्थ्य नहीं, किन्तु यह सामर्थ्य तो केवल पूर्वोक्त तीर्थों में ही है तथा इस मन्त्र में 'गङ्गा' आदि नाम इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, कूर्म्म और जाठ-राग्नि की नाड़ियों के हैं। उनमें योगाभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं, क्योंकि उपासना में नाड़ियों ही के द्वारा धारणा करनी होती है। इस हेतु से इस मन्त्र में उनकी गणना की है। इसलिए उक्त नामों से नाड़ियों का ही ग्रहण करना योग्य है।

(**सितासिते०**)—सित इडा और असित पिङ्गला, ये दोनों जहाँ सुषुम्णा में मिली हैं, उसमें परमयोगी लोग योगाभ्यास से स्नान करके शुद्ध हो जाते हैं। फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। इसमें निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि—'सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के वाची हैं।' इस अभिप्राय से विरुद्ध, मिथ्या अर्थ करके लोगों ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से ग्रहण कर लिया है।

पुनश्च 'सितासिते' इत्यादि ऋग्वेदीय परिशिष्ट के अनुसार जो लोग गंगा-यमुना के संगम प्रयाग की तीर्थसंज्ञा सिद्ध करते हैं, उनका खण्डन करते हुए ग्रन्थकार ने यह युक्ति दी है कि वस्तुतः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[मूर्त्तिपूजानामस्मरणयोर्मिथ्यात्वम्]

तथैव यत्तन्त्रपुराणादिग्रन्थेषु मूर्त्तिपूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति, तदपि मिथ्यैवास्तीति वेद्यम् । कुतः ? वेदादिषु सत्येषु ग्रन्थेषु तस्य विधानाभावात् । तत्र तु प्रत्युत निषेधो वर्त्तते । तद्यथा—

न तस्य॑ प्रति॒मा॑ऽअ॑स्ति॒ यस्य॑ नाम॑ म॒हद्यशः॑ ।
हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भऽइत्ये॒ष मा मा॑ हि॒ꣳसी॒दित्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒तऽइत्ये॒षः ॥१॥

—यजुः० अ० ३२ । मं० ३ ॥

भाष्यम्—(यस्य) पूर्णस्य पुरुषस्याजस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य नाम (महद्यशः) यस्याज्ञापालनाख्यं महाकीर्त्तिकरं धर्म्यं सत्यभाषणादिकर्त्तुमर्हं कर्माचरणं नामस्मरणमस्ति, (हिरण्यगर्भः)[1] यो हिरण्यानां सूर्य्यादीनां तेजस्विनां गर्भ उत्पत्तिस्थानम्, (मा मा०) तस्य सर्वैर्मनुष्यैर्मा मा हिꣳसीदीत्येषा प्रार्थना कार्या, (यस्मान्न०) यो यतः कारणान्नैवैषः कस्यचित्सकाशात् कदाचिदुत्पन्नौ नैव कदाचिच्छरीरधारणं करोति, (न तस्य०) नैव तस्य प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः, प्रतिकृतिः, प्रतिमानं, तोलनसाधनं, परिमाणं मूर्त्यादिकल्पनं किञ्चिदप्यस्ति, परमेश्वरस्यानुपमेयत्वाद् अमूर्त्तत्वाद् अपरिमेयत्वान्निराकारत्वात् सर्वत्राभिव्याप्तत्वाच्च[2] ॥१॥ इत्यनेन प्रमाणेन मूर्त्तिपूजननिषेधः ।

प्रयाग आदि की ही तीर्थ संज्ञा है तो उसमें स्नान करने पर द्युलोक में उड़कर जाने की बात की संगति नहीं लगाई जा सकती, जैसा कि कहा गया है 'तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति', अतः सित शब्द से इडा नामक नाड़ी और असित से पिंगला नामक नाड़ी का ग्रहण करना ही उचित है, जिनके संगम स्थल सुषुम्णा नाडी में योगाभ्यास या संयमरूप स्नान से सत्यज्ञान की प्राप्ति और जीवन्मुक्ति की स्थिति का लाभ योगी को शीघ्र हो जाता है । प्रयागादि तथाकथित तीर्थों में किये गये स्नान में यह सामर्थ्य नहीं है ।

वेद प्रतिपादित ईश्वर निराकार और सर्वव्यापक है, अतः उसकी न कोई मूर्त्ति बनाई जा सकती है और न किसी प्रकार की जड़मूर्ति की पूजा द्वारा उसे पूजित किया जाना सम्भव है । इसी प्रकार ईश्वर के 'ओम्' आदि वेदवर्णित नामों के स्थान में तत्तुल्य या तदधिक महत्त्वशाली राम, कृष्ण आदि नामों को मानना शास्त्र और युक्ति दोनों के विपरीत होने से अयुक्त है । इस विषय में प्रथमतः यजुर्वेद के दो मन्त्रों को प्रमाणरूप में उदाहृत किया गया है, जो स्पष्टरूप से ईश्वर की प्रतिमा, प्रतीक, समता या प्रतिकृतिरूप किसी भी वस्तु का निषेध तो करते ही हैं, साथ ही 'पर्यगात्', 'अकायम्' इत्यादि शब्दों द्वारा उसकी सर्वव्यापकता का प्रतिपादन करते हैं और किसी प्रकार के शरीर, (स्थूल, सूक्ष्म या कारण) के सम्बन्ध का प्रतिषेध भी करते हैं ।

'न तस्य प्रतिमा०' तथा स 'पर्यगाच्छुक्रम्०' इन मन्त्रों का निराकार ईश्वरपरक अर्थ केवल ग्रन्थकार ने ही नहीं प्रतिपादित किया है, अपितु सभी भाष्यकार और व्याख्याकार यही अर्थ करते हैं । यजुर्वेद के भाष्यकार उव्वट और महीधर ने भी ऐसी ही व्याख्या की है । यथा—

---

१. यजुर्वेदभाष्ये ग्रन्थकृता 'हिरण्यगर्भः' आदीनामितिपदेन निर्दिष्टानां पाठानां प्रतीकत्वं पक्षान्तर उक्तम् ।

२. नात्र हेतुहेतुमतां यथासंख्यं निर्देशः । तेनात्रेत्थं सम्बन्धो ज्ञेयः—परमेश्वरस्य अनुपमेयत्वात् प्रतिनिधिर्नास्ति, अमूर्तत्वात् प्रतिकृतिर्न, अपरिमेयत्वात् प्रतिमानं न सर्वत्राभिव्याप्तत्वात् परिमाणं न, निराकारत्वात् मूर्त्यादिकल्पनं च नेति ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्यः ॥२॥
—य० अ० ४० । मं० ८ ॥

भाष्यम्—यः (कविः) सर्वज्ञः, (मनीषी) सर्वसाक्षी, (परिभूः) सर्वोपरि विराजमानः, (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूपः परमेश्वरः (शाश्वतीभ्यः) नित्याभ्यः (समाभ्यः) प्रजाभ्यो वेदद्वाराऽन्तर्यामितया च (याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्) विहितवानस्ति, (स पर्य्यगात्) सर्वव्यापकोऽस्ति । यत् (शुक्रम्) वीर्य्यवत्तमम्, (अकायम्) मूर्त्तिजन्मधारणरहितम् (अव्रणम्) छेदभेदरहितम् (अस्नाविरम्) नाडीबन्धनादिविरहम्, (शुद्धम्) निर्दोषम्, (अपापविद्धम्) पापात् पृथग्भूतम् यदीदृशलक्षणं ब्रह्म (तत्) सर्वैरुपासनीयमिति मन्यध्वम् ॥२॥

इत्यनेनापि शरीरजन्ममरणरहित ईश्वरः प्रतिपाद्यते । तस्मादयं नैव केनापि मूर्त्तिपूजने योजयितुं शक्य इति ।

प्रश्नः—वेदेषु प्रतिमाशब्दोऽस्ति न वा ?

उत्तरम्—अस्ति ।

प्र०—पुनः किमर्थो निषेधः ?

उ०—नैव प्रतिमार्थेन मूर्त्तयो गृह्यन्ते । किं तर्हि ? परिमाणार्था गृह्यन्ते ।

अत्र प्रमाणानि—

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज ॥३॥—अथर्व कां० ३ । व० १० । मं० ३ ॥[1]

मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहूर्त्ताः ॥४॥ —श० कां० १० । अ० ४ । ब्रा० ३ । कं० २० ॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥
—सामवेदीय-तवलकारोपनिषदि, खं० १ । मं० ४ ॥

इत्यादिमन्त्रपञ्चकं[2] मूर्त्यादिनिषेधकमिति बोध्यम् ।

"न तस्य प्रतिमा अस्ति०"—न तस्य गायत्री द्विपदा । न तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानभूतं किञ्चिद् विद्यते । यतो यस्य नाम महद्यशः इत्येष वेदान्तविदः पठन्ति" ।
—यजु० ३२।३, उव्वटभाष्यम् ।

"द्विपदा गायत्री । तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानमुपमानं किञ्चिद् वस्तु नास्ति । अत एव नाम प्रसिद्धं महद् यशः यस्यास्ति । सर्वातिरिक्तयशा इत्यर्थः ।... ।" —यजु० ३२।३, महीधरभाष्यम्

१. अथर्व का० ३, सू० १०, मं० ३ ॥

२. अर्थाद् 'यद्वाचा' इत्यारभ्य 'यत्प्राणेन' इति पर्यन्तमन्त्रपञ्चकम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—(संवत्सर०) विद्वांसः संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते, वयमपि त्वा तामेवोपास्महे । अर्थाद्याः संवत्सरस्य त्रीणि शतानि षष्टिश्च रात्रयो भवन्ति, यत एताभिरेव संवत्सरः परीमीयते, तस्मादेतासां 'प्रतिमा' संज्ञेति । (सा० न) यथा सेयं रात्रिर्नोऽस्माकं रायस्पोषेण धनपुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां (संसृज) सम्यक् सृजेत्, तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेयमिति ।।३।।

(मुहूर्त्ता०) तथा ये संवत्सरस्य दशसहस्राण्यष्टौ शतानि घटिकाद्वयात्मका मुहूर्ताः, सन्ति, तेऽपि 'प्रतिमा' शब्दार्था विज्ञेयाः ।।४।।

(यद्वाचा०) यदसंस्कृतवाण्या अविषयं, येन वाणी विदितास्ति, (तदेव) तद् ब्रह्म हे मनुष्य ! त्वं विद्धि । यत इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवैतद् ब्रह्मास्ति, किन्तु विद्वांसो यन्निराकारं, सर्वव्यापकमजं, सर्वनियन्तृ, सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपासते, त्वयापि तदेवोपासनीय, नेतरदिति ।।५।।

प्र०—किञ्च भोः ! मनुस्मृतौ 'प्रतिमानां च भेदकः[1]; 'देवतान्यभिगच्छेत्तु'[2] 'देवताऽभ्यर्चनं चैव;'[3] 'देवतानां च कुत्सनम्;'[4] 'देवतायतनानि च;'[5] 'देवतानां छायोल्लङ्घननिषेधः;'[6] 'प्रदक्षिणानि कुर्वीत देवब्राह्मणसन्निधौ;'[7] 'देवतागारभेदकान्'[8]—उक्तानामेतेषां वचनानां का गतिरिति ?

उ०—अत्र 'प्रतिमा' शब्देन रक्तिकामाषसेटकादीनि गृह्यन्ते । तद्यथा—तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात् सुलक्षितम् ।। मनु० अ० ८ । श्लोकः ४०३ ।। इत्यनया मनूक्तरीत्यैव प्रतिमाप्रतीमानशब्दयोरेकार्थत्वात् तोलनसाधनानि गृह्यन्त इति बोध्यम् । अत एव प्रतिमानामधिकन्यूनकारिणे दण्डो देय इत्युक्तः । विद्वांसो देवास्ते यत्राधीयतेऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि 'दैवतानि' इत्युच्यन्ते । देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि 'दैवतानि देवतायतनानि च' सन्तीति बोध्यम् । विदुषामेवाभ्यर्चनं सत्करणं कर्त्तव्यमिति । नैवैतेषां केनचिदपि निन्दा छायोल्लङ्घनं स्थानविनाशश्च कर्त्तव्यः, किन्तु सर्वैरेतेषां सामीप्यगमनं, न्यायप्रापणं, दक्षिणपार्श्वे स्थापनं, स्वेषां वामपार्श्वे स्थितिश्च कार्य्येति ।

एवमेव यत्र यत्रान्यत्रापि प्रतिमादेवदेवतायतनादिशब्दाः सन्ति, तत्र तत्रैवमर्था विज्ञेयाः । ग्रन्थभूयस्त्वभिया नात्र ते लेखितुं शक्या इति । एतावतैव मूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिनिषेधा बोध्याः ।

भावार्थ—अब इसके आगे जो नवीन कल्पित तन्त्र और पुराण ग्रन्थ हैं, उनमें पत्थर आदि की मूर्त्तिपूजा तथा नाना प्रकार के नामस्मरण अर्थात् राम-राम, कृष्ण-कृष्ण, काष्ठादि माला, तिलक इत्यादि का विधान करके, उनको अत्यन्त प्रीति के साथ जो मुक्ति पाने के साधन मान रक्खे हैं, ये सब बातें भी मिथ्या ही जाननी चाहिएँ क्योंकि, वेदादि सत्य ग्रन्थों में इन बातों का कहीं चिह्न भी नहीं पाया जाता है, किन्तु उनका निषेध ही किया है । जैसे—

(न तस्य०) । पूर्ण - जो किसी प्रकार से कम नहीं, अज—जो जन्म नहीं लेता और निराकार—जिसकी किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं इत्यादि लक्षणयुक्त जो परमेश्वर है, जिसकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन और उत्तम कीर्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं, उनका करना ही जिसका 'नामस्मरण'

'स पर्यगाच्छुक्रम०' स पर्यगात् । जगति । य एवमात्मानमुपास्ते स पर्यगात् परिगच्छति शुक्रं शुक्लं विज्ञानानन्दस्वभावम् । अकायं न विद्यते कायः शरीरं यस्य स तथोक्तः । अव्रणं=कायरहितत्वादेव अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तान्यभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्त इत्यदोषः । इत्थं भूतं ब्रह्म प्रतिपद्यते ।
—यजु० उवट भाष्यम् ४०।८ ।

---

१ ६।२८५; २. ४।१५३; ३. २।१७६; ४. ४।१६३; ५. ८।२४८; ६. ४।१३०;
७. ४।३९; ८. ६।२८०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहाता है। (हिरण्यगर्भ०) जो परमेश्वर तेजवाले सूर्य्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है। जिसकी प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है कि—(मा मा हिँसी०) हे परमात्मन्? हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिए। कोई कहे कि इस निराकार, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिए, तो उत्तर यह है कि - (यस्मान्न०) अर्थात् जो परमेश्वर किसी माता-पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता है और न होगा, और न वह कभी शरीर धारण करके बालक, जवान और वृद्ध होता है, (न तस्य०) उस परमेश्वर की 'प्रतिमा' अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिबिम्ब वा सदृश, अर्थात् जिसको तस्वीर कहते हैं, सो किसी प्रकार नहीं है, क्योंकि वह अमूर्त, अनन्त=सीमारहित, निराकार और सबमें व्यापक है। इससे निराकार ही की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिए ॥१॥

कदाचित् कोई शङ्का करे कि—शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है? तो यह बात समझनी चाहिए कि—जो प्रथम जन्म लेकर शरीर धारण करेगा और फिर वह वृद्ध होकर मर जाएगा, तब किसकी पूजा करोगे। इस प्रकार मूर्तिपूजन का निषेध वेद से सिद्ध हो गया।

तथा (स पर्य्यगाच्छु०) जो परमेश्वर (कविः) सबका जाननेवाला, (मनीषी) सबके मन का साक्षी, (परिभूः) सबके ऊपर विराजमान और (स्वयंभूः) अनादिस्वरूप है, (याथात०) जो अपनी अनादिस्वरूप प्रजा को अन्तर्यामिरूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है, (स पर्य्यगात्) सब में व्यापक, (शुक्रम्) अत्यन्त पराक्रमवाला, (अकायम्) सब प्रकार शरीर से रहित, (अव्रणम्) कटना और सब रोगों से रहित, (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक्, (शुद्धम्) सब दोषों से अलग, और (अपापविद्धम्) सब पापों से न्यारा, इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है, वही सबको उपासना के योग्य है, ऐसा सबको मानना चाहिए ॥२॥

क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीर धारण करके जन्म-मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया, इससे इसकी पत्थर आदि की मूर्त्ति बनाके पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता।

(संवत्सरस्य) विद्वान् लोग संवत्सर की, जिस (प्रतिमां०) क्षण आदि काल के विभाग करनेवाली रात्रि की उपासना करते हैं, हम लोग भी उसी का सेवन करें। जो एक वर्ष की ३६० तीन सौ साठ रात्रि होती हैं, इतनी रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है। इसलिए इन रात्रियों की भी 'प्रतिमा' संज्ञा है। (सा न आयु०) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोग सत्कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक सम्पूर्ण आयुयुक्त सन्तानों को उत्पन्न करें ॥३॥

इसी मन्त्र का भावार्थ कुछ शतपथ ब्राह्मण में भी है कि—(मुहूर्त्ता०) एक संवत्सर के १०८०० मुहूर्त्त होते हैं, ये भी 'प्रतिमा' शब्द के अर्थ में समझने चाहिएँ, क्योंकि इनसे भी वर्ष का परिमाण होता है ॥४॥

"एवं भूतात्मज्ञस्य फलमाह। य एवमात्मानं पश्यति स ईदृशं ब्रह्म पर्यगात् परिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः। कीदृशं शुक्रं ब्रह्म विज्ञानानन्दस्वभावमचिन्त्यशक्ति। अकायं न कायः शरीरं यस्य तत्। अकायत्वादेवाव्रणमक्षतम्। ईदृशोऽपि पूर्वोक्तं शुक्रमकायमित्यादि विशेषणविशिष्टं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः। एतस्या ऋचोऽर्थान्तरं यथा। योऽयमतीतमन्त्रोक्त आत्मा स पर्यगात् परितः सर्वत्र गच्छति नभोवत् सर्वं व्याप्नोति। अकायोऽशरीरः। लिङ्गः शरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणोऽस्नाविर इति विशेषणद्वयेन स्थूलशरीर प्रतिषेधः। स नित्य ईश्वरः सर्वं कृतवानित्यर्थः।" (यजु० महीधरभाष्यम् ४०।८)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(यद्वाचा०) जोकि अविद्यायुक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता, जो सबकी वाणियों को जानता है। हे मनुष्यो! तुम लोग उसी को परमेश्वर जानो और न कि मूर्त्तिमान् जगत् के पदार्थों को, जोकि उसके रचे हुए हैं, अर्थात् निराकार, व्यापक, सब पदार्थों का नियमन करनेवाला और सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म है, उसी की उपासना तुम लोग करो। यह उपनिषत्कार ऋषियों का मत है ॥५॥

प्र०—क्योंजी! मनुस्मृति में जो 'प्रतिमानां०' इत्यादि वचन हैं, उनसे तो यह बात मालूम होती है कि जो कोई प्रतिमा को तोड़े उसको राजा दण्ड देवे तथा देवताओं के पास जाना, उनकी पूजा करना, उनकी छाया का उल्लंघन नहीं करना और उनकी परिक्रमा करना, इत्यादि प्रमाणों से तो मूर्त्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है, फिर आप कैसे नहीं मानते हैं?

इस प्रकार ईश्वर की कोई आकृति या मूर्ति नहीं बनाई जा सकती, इस बात को सम्यक् प्रतिपादित करने के बाद ग्रन्थकार पुनः प्रतिमा शब्द के वेदादि ग्रन्थों में प्रयोग होने पर उसके अर्थ पर विचार करते हैं। यहाँ पर ग्रन्थ के विस्तार भय से केवल दो-चार ही उदाहरण दिये गये हैं। जिनमें प्रतिमा शब्द मूर्ति का वाचक न होकर परिमाण या प्रतिमान (नाप-तौल के साधनों) का वाचक है। प्रथम उदाहरण जो अथर्ववेद ३।१०।३ का मन्त्र है, उसमें संवत्सर =(वर्ष का निर्माण करनेवाली तथा संवत्सर जिसमें मापा जा सके कि कितना उसका परिमाण है, उन) रात्रियों को प्रतिमा शब्द से प्रतिबोधित किया गया है, अतः मन्त्र की व्याख्या में बतलाया गया है कि ३६० रात्रियों से नापे जानेवाले कालचक्र को ही संवत्सर कहते हैं। इसी बात को शतपथ ब्राह्मण १०।४।३।२० में भी कहा गया है कि १०,८०० मुहूर्तों से संवत्सर प्रतिमित होता है, अर्थात् मापा जाता है। ३० मुहूर्तों का एक दिन होता है। वर्ष के ३६० दिनों को ३० से गुणा करने पर १०,८०० मुहूर्त, एक वर्ष या संवत्सर में बनते हैं। इसी विषय का यहाँ वर्णन है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण ११।१।८।३[1] में भी यज्ञ को प्रजापति की निज प्रतिमा प्रतिपादित कर यही बतलाया गया है कि प्रजापति ने देवों के लिए, अपने तुल्य (प्रतिमित) यज्ञ को रचकर उसे प्रदान किया, अतः प्रजापति यज्ञरूप हो गया। यहाँ भी प्रतिमा शब्द प्रतिमान या प्रतिनिधि का ही वाचक है।

प्रतिमा शब्द के प्रयोग सम्बन्धी कतिपय वैदिक उदाहरणों को देकर ग्रन्थकार ने ईश्वर के उपनिषत्प्रतिपादितस्वरूप पर प्रकाश डालते हुए तवल्कारोपनिषद् (अपर नाम केनोपनिषद्) के प्रमाण से दर्शाया है कि ईश्वर स्वरूपतः आकाररहित है, उसके स्थान में जड़मूर्तियाँ कल्पितकर उनकी पूजा करने का शास्त्र में निषेध है।

आगे मनुस्मृति के आठ श्लोकों के उदाहरणों से दो बातों को दर्शाया गया है। प्रथम प्रतिमा शब्द नाप-तोल के साधनों, बाटों—जैसे रत्ती, मासा, तोला, छटांक, सेर के लिए संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त होता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी इन्हीं अर्थों में प्रतिमान शब्द का व्यवहार हुआ है।[2] दूसरे देव,

---

१, स देवेभ्य आत्मानम्प्रदाय। अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद्यज्ञन्तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत। श० १०।१।८।३

२. द्रष्टव्य (क) अवक्षेपः प्रतिमानमग्निर्गण्डिका . इति विद्यात्। (कौटिलीय अर्थशास्त्र २।१४।६०)

(ख) प्रतिमानान्ययोमयानि मागधमेकलशैलमयानि यानि वा नोदकप्रदेहाभ्यां वृद्धिं गच्छेयुरुष्णेन वा ह्रासम्। —वही २।१६।११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उ०—क्यों भ्रम में पड़े हुए हो, होश में आओ, और आँखें खोलकर देखो कि 'प्रतिमा' शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्त्ति लेते हो, सो यह केवल तुम्हारी अज्ञानता अर्थात् कम समझ है, क्योंकि मनुस्मृति में तो प्रतिमा शब्द करके (तुलामानं०) रत्ति, छटांक, पाव, सेर और पंसेरी आदि तोल के साधनों को ग्रहण किया है, क्योंकि - 'तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतिमान वा प्रतिमा अर्थात् बाट इन की परीक्षा राजा लोग छठे-छठे मास अर्थात् छह-छह महीने में एक बार किया करें, कि जिससे उनमें कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट-बढ़ न कर सकें और कदाचित् कोई करे तो उसको दण्ड देवें।

फिर (देवताभ्यर्चनं०) इत्यादि वचनों से यह बात समझ लेनी चाहिए कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् मनुष्यों का नाम 'देव' कहा है। देव ही देवता कहाते हैं। जिन स्थानों में विद्वान् लोग पढ़ते-पढ़ाते और निवास करते हैं, उन स्थानों को 'देवतायतन' कहते हैं। वहाँ जाना, बैठना उन लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सबको अवश्य करने चाहिएँ। (देवतानां च कुत्सनम्) उन विद्वानों की निन्दा, उनका अपमान और उनके स्थानों में किसी प्रकार का बिगाड़ व उपद्रव आदि दोष की बातें कभी न करनी चाहिएँ, किन्तु (दैवतान्यभि०) सब मनुष्यों को उचित है कि उनके समीप जाकर अच्छी-अच्छी बातों को सीखा करें। (प्रदक्षिण०) उनको मान्य के लिए दाहिनी दिशा में बैठाना, क्योंकि यह नियम उनकी प्रतिष्ठा के लिए बाँधा गया है।

ऐसे अन्यत्र भी जहाँ कहीं प्रतिमा और देवता अथवा उनके स्थानों का वर्णन हो, इसी प्रकार निर्भ्रमता से वहाँ समझ लेना चाहिए। यहाँ सबका संग्रह इसलिए नहीं किया कि ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता ऐसा ही सत्यशास्त्रों से विरुद्ध कण्ठी और तिलकधारणादि मिथ्या कल्पित विषयों को भी समझकर मन, कर्म और वचन से त्याग कर देना अवश्य उचित है।

देवता, दैवत और दैवायतन या देवतायतन शब्दों पर विचार किया गया है। ग्रन्थकार का कथन है कि तथाकथित सुसज्जित मूर्तियों से युक्त स्थान दैवायतन नहीं कहे जा सकते, किन्तु विद्वानों से युक्त स्थान ही दैवायतन (या देवालय) माने जाने युक्त हैं, क्योंकि **विद्वा ँ᳭सो हि देवाः**—(श०ब्रा०३।७।३।१०)। इस प्रमाण से विद्वान् पुरुषों को देव कहना और मानना उपपन्न है, अतः कथमपि शिल्पिनिर्मितादि जड़-मूर्तियाँ देव नहीं कही जा सकतीं। अतश्च उन जड़मूर्तियों में देवबुद्धि करना और उन्हें परमेश्वर समझकर पूजना शास्त्रप्रतिषिद्ध और निन्दित कर्म समझकर त्याग देना चाहिए। यही इस प्रकरण का सारांश है।

इसके आगे सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहों[1] के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्ति—(कि ये ग्रह लोकों को पीड़ित करते हैं और उसके निराकरण के लिए **'आकृष्णेन रजसा०'** (यजु० ३३।४३) इत्यादि मन्त्रों का जप, होम आदि करना चाहिए) को दूर करते हुए ग्रन्थकार सम्बन्धित मन्त्रों को उदाहृत कर उनके अर्थों पर

१. आकाशस्थ सूर्यमण्डल से सम्बन्ध रखनेवाले नक्षत्र विज्ञान को ज्योतिष कहते हैं। यही ज्योतिषशास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान अथवा नक्षत्रविज्ञान, वेदाङ्गों में परिगणित है। अथर्ववेद (१२.३ २०) तीनों लोकों का निर्देश करते हुए कहता है—**"त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्यन्तरिक्षम्"**। ब्रह्म अर्थात् वेद को जाननेवाला ज्ञानी पुरुष द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष - इन तीनों लोकों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक कर्म काल के किसी न किसी विभाग में सम्पन्न होता है। काल का ज्ञान पृथिवी से सम्पर्क रखनेवाले, सूर्य-चन्द्रमा आदि की गति पर निर्भर है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने पार्थिव पदार्थों के ज्ञान के साथ-साथ नक्षत्रविद्या का सम्पादन भी आवश्यक समझा। चारों वेदों से सैकड़ों मन्त्रों से काल-ज्ञान के लिए पृथिवी से सम्बन्ध रखनेवाले सूर्य-मण्डल आदि सभी नक्षत्रों,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[ग्रहपूजायाः मिथ्यात्वम्]

एवमेव सूर्य्यादिग्रहपीडाशान्तये बालबुद्धिभिर् 'आकृष्णेन रजसा' इत्यादि मन्त्रा गृह्यन्ते। अयमेषां भ्रम एवास्तीति। कुतस्तत्र तेषामर्थानामग्रहणात्। तद्यथा—तत्र 'आकृष्णेन रजसा' इति मन्त्रस्यार्थ 'आकर्षणानुकर्षणप्रकरणे' उक्तः[1]। 'इमं देवा असपत्नम्'[2] इत्यस्य 'राजधर्मविषये' चेति।

प्रकाश डालते हैं और प्रतिपादित करते हैं कि सम्बन्धित मन्त्रों में सूर्यादि के गुण-धर्मादि का वर्णन है न कि पाप-निवारण का अथवा वे तत्तद् ग्रहविषयक न होकर अन्य विषयक हैं और तथाकथित या तथाभिमत ग्रहशान्ति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। नवग्रहों के जाप, आवाहन आदि के लिए निम्नांकित मन्त्र प्रचलित हैं जैसाकि सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में भी उद्धृत है।

उनकी नियमित गतियों और उनके परिणामों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र में परीक्षणों पर आधारित वैदिक सचाइयों का प्रतिपादन करनेवाले नक्षत्रविज्ञान का वेदों में विस्तृत वर्णन मिलता है।

परन्तु जैसे यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, शनि आदि भी जड़ हैं। मनुष्यों का सुखी-दुःखी होना उनके पाप-पुण्य के फलस्वरूप है। किसी से प्रसन्न होकर उसे सुख-समृद्धि प्रदान करने अथवा कुपित होकर उसे हानि पहुँचाने का सामर्थ्य इन जड़ पदार्थों में नहीं है। इसलिए जहाँ गणित के सिद्धान्तों पर आधारित ज्योतिषशास्त्र सर्वथा सत्य एवं उपादेय है, वहाँ फलितज्योतिष का विस्तार घोर अन्धविश्वास पर आधारित होने के कारण बैठे-बिठाये मनुष्यों को दुःख में फँसाना है। इस सन्दर्भ में विश्व के १८६ वैज्ञानिकों तथा खगोलविदों का वह वक्तव्य द्रष्टव्य है जो American Humanist Association की पत्रिका Humanist के सितम्बर-अक्तूबर के अंक में प्रकाशित हुआ है। इस वक्तव्य पर हस्ताक्षर करनेवाले १८६ वैज्ञानिकों में नोबल पुरस्कार पानेवाले १८ वैज्ञानिक (Sir Peter Medawar. Linus Pauling, Paul Samuelson, J. Timbergen, Wassily Leoutif, George Wald, Sir John Eccles and so on) सम्मिलित हैं।

यह वक्तव्य जो नई दिल्ली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के १४ सितम्बर १९७५ के अंक में प्रकाशित हुआ है, इस प्रकार है "In ancient times people believed in the predictions and advice of astrologers because astrology was part and parcel of this magic world. They believed upon celestial objects as abodes of the gods and thus intimately connected with events here on earth. They had no concept of the vast distances from the earth to the planets and the stars. Now that these distances have been calculated, we can see how infinitesimally small are the gravitational and other effects produced by the distant planets and their more distant stars. It is simply a mistake to imagine that the forces exerted by the stars and planets at the time of birth can in any way shape our futures. Neither it is true that the position of these hevenly bodies makes certain, days and periods more favourable to particuler kinds of action or that the signs under which one was born determines ones competibility with other people. Such things can only contribute to the growth of irrationalism and obscurantism. We believe the time has come to challenge diretly and forcefully the pretensions and claims of astrological charlatans."

१. यजुः ३३।४३ ॥ २. यजुः ९।४० ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपाँ रेताँसि जिन्वति ॥३॥[1] —य० अ० ३। मं० १२॥
उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सँ सृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥४॥
—य० अ० १५। मं० ५४॥

(१) आकृष्णेन रजसा० (यजु० ३३।४३)—यह मन्त्र सूर्य की पूजा में विनियुक्त है।
(२) इमं देवा असपत्नं सुवध्वम् (यजु० ९।४०) —यह मन्त्र चन्द्र की पूजा में विनियुक्त है।
(३) अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः (यजु० ३।१२)—यह मन्त्र मंगल की पूजा में विनियुक्त है।
(४) उद्बुध्यस्वाग्ने० (यजु० १५।५४)—यह मन्त्र बुध की पूजा में विनियुक्त है।
(५) बृहस्पते अति यदर्यो० (यजु० २६।३)—यह मन्त्र बृहस्पति की पूजा में विनियुक्त है।
(६) अन्नात् परिस्रुतो रसं... शुक्रमन्धसः (यजु० १९।७५)—यह मन्त्र शुक्र की पूजा में विनियुक्त है।
(७) शन्नो देवीरभिष्टये (यजु० ३६।१२)—यह मन्त्र शनि की पूजा में विनियुक्त है।
(८) कया नश्चित्र आभुवदूती० (यजु० २७।३९)—यह मन्त्र राहु की पूजा में विनियुक्त है।
(९) केतुं कृण्वन्नकेतवे० (यजु० २९।३७) यह मन्त्र केतु की पूजा में विनियुक्त है।

इनमें से प्रथम दो मन्त्रों की व्याख्या इसी ग्रन्थ (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका) के क्रमशः आकर्षणानुकर्षण और राजधर्मप्रकरण में की जा चुकी है, शेष सात मन्त्रों की व्याख्या ग्रन्थकार द्वारा प्रदर्शित अर्थ तो यहाँ पर उल्लिखित ही हैं। अन्य भाष्यकार उव्वट और महीधरकृत अर्थ भी देखने योग्य हैं। उनके परिप्रेक्ष्य में यहाँ पर सूर्यादि नवग्रहों के लिए विनियुक्त इन मन्त्रों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

अर्थात् प्राचीन काल में लोग ज्योतिषियों की भविष्यवाणियों में विश्वास करते थे, क्योंकि ज्योतिष उनके चमत्कार-जगत् का अनिवार्य अंग था। वे आकाशीय पदार्थों को देवी-देवताओं के आवास के रूप में मानते थे जिनका धरती पर घटनेवाली घटनाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था। पृथिवी से ग्रहों, उपग्रहों तथा नक्षत्रों की इतनी दूरी का उन्हें ज्ञान न था। अब जबकि दूरियों को मापा जा चुका है, यह स्पष्ट देखा जा चुका है कि इतनी दूरी पर स्थित उपग्रहों तथा उनसे भी अधिक दूरी पर स्थित नक्षत्रों का आकर्षण सम्बन्धी तथा अन्य प्रभाव कितना नगण्य है। किसी व्यक्ति के जन्म के समय पड़नेवाले इन नक्षत्रों के प्रभाव की कल्पना करना भूल होगी। हमारे भविष्य के निर्धारण में इन नक्षत्रों का कोई हाथ नहीं हो सकता। यह भी सत्य नहीं है कि इन दूरस्थ आकाशीय नक्षत्रों की स्थितिविशेष के कारण किसी व्यक्ति के कार्यों अथवा उसकी गतिविधियों के लिए कुछ दिन या वार अथवा अवधि विशेष अनुकूल होते हैं। यह भी सत्य नहीं है कि जन्म के समय के कुछ लक्षण उसे दूसरे लोगों से स्पर्धा करने में सहायक होते हैं। ऐसी बातें अज्ञान और अन्धविश्वासों को जन्म देती हैं। हमारा विश्वास है कि अब समय आ गया है कि ज्योतिष के नाम पर किये जानेवाले दावों को बलपूर्वक सीधे चुनौती दी जाए।

विज्ञानवेत्ताओं और खगोलशास्त्रियों के इस प्रकार के उद्घोष के होते हुए भी ग्रहों, नक्षत्रों के तथाकथित प्रभाव पर विश्वास करना अविद्यान्धकारमें भटकते रहना है।

१. यद्यप्यत्र १ एका संख्या, उत्तरमन्त्रान्ते च २ संख्या वैयमुद्रितेषूपलभ्येते, तथापि ते संख्ये प्रमादपाठे, उत्तरत्र भाष्ये भाषार्थे च सर्वत्र ३, ४ प्रभृतीनां संख्यानां दर्शनात्। अत्र प्रतीकनिर्देशेन निर्दिष्टौ पूर्वोक्तौ द्वौ मन्त्रौ परिगणय्य भाष्ये संख्यानिर्देशस्योपलम्भात्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्— (अयमग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य च (पतिः) पालयितास्ति (मूर्द्धा) सर्वोपरि विराजमानः, (ककुत्पतिः) तथा ककुभां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालयितास्ति। व्यत्ययो बहुलम्[1] इति सूत्रेण भकारस्थाने तकारः। (अपा ँ रेता ँ सि) अयमेव जगदीश्वरो भौतिक[2]श्चापां प्राणानां जलानां च रेतांसि वीर्य्याणि (जिन्वति) पुष्णाति। एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्य्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रक्षकः पुष्टिकर्त्ता चास्ति॥३॥

(उद्बुध्यस्वाग्ने) हे अग्ने परमेश्वर! अस्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव। (प्रतिजागृहि) अविद्यान्धकारनिद्रातस्सर्वान् जीवान् पृथक्कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु। (त्वमिष्टापूर्त्ते०) हे भगवन्! अयं जीवो मनुष्यदेहधारी धर्मार्थकाममोक्षसामग्र्याः पूर्त्ति सृजेत् समुत्पादयेत्, त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः। एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्थाभ्यामिष्टापूर्त्ते संसृष्टे भवेताम्। (अस्मिन् सधस्थे) अस्मिन् लोके शरीरे च, (अध्युत्तरस्मिन्) परलोके द्वितीये जन्मनि च, (विश्वे देवा यजमानश्च सीदत) सर्वे विद्वांसो यजमानो विद्वत्सेवाकर्त्ता च कृपया सदा सीदन्तु वर्त्तन्ताम्। यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुरिति। व्यत्ययो बहुलम्[3] इत्यनेन सूत्रेण पुरुषव्यत्ययः॥ ४॥

---

(१) 'आकृष्णेन'० मन्त्र में उव्वट तथा महीधर ने 'आ' पद का सम्बन्ध 'वर्तमानः' के साथ तथा 'कृष्णेन' का 'रजसा' के साथ जोड़कर अर्थ किया है कि रात्रि के साथ सूर्य बार-बार भ्रमण करता हुआ सुवर्णमय रथ से आता है। "आ वर्तमानः पुनः पुनर्भ्रमणं कुर्वन्। कृष्णेन रजसा रात्रिलक्षणेन सह......हिरण्ययेन सवितारथेन. ...आयाति .....। (उव्वटभाष्यम्, यजु० ३३।४३)। महीधर ने भी लगभग ऐसा ही कहा है, अतः सूर्य-स्तुतिपरक तो मन्त्र को माना जा सकता है, परन्तु उनके भाष्यों में मन्त्र के जप का कोई उल्लेख नहीं है।

(२) 'इमं देवाः' इस मन्त्र में इमम् पद को उव्वट 'राजानम्' तथा महीधर 'यजमानम्' रूप में लक्षित कर अर्थ करते हैं। सामान्यतया यह मन्त्र किसी युवराज के राज्याभिषेक कर्म में विनियुक्त माना जाता है, अतः इसका चन्द्रमा ग्रह से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'सोम' पद मन्त्र में प्रयुक्त होने मात्र से चन्द्रग्रह से मन्त्र का सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं है। महीधर ने 'सोम' के प्रसंग में 'सोमश्चन्द्रो' बल्लीरूपो वा सोमो राजा प्रभुरस्तु—महीधरभाष्यम् (यजु० ९।४०) लिखकर प्रकारान्तर से चन्द्रग्रह-स्तुति का निषेध ही किया है।

(३) 'अग्निर्मूर्द्धा०' इस मन्त्र के भाष्य में उव्वट ने लिखा है कि मन्त्र में परापर रूप से व्यवस्थित (परमात्मा या व्यापक विद्युत्) अग्नि की स्तुति की गई है—'अग्निर्मूर्द्धा। परापररूपेण व्यवस्थितोऽस्यामृच्याग्निः स्तूयते। अभिनयेन दर्शयति। योऽयं 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः' अयमेव महानात्मा जगतः कारणमित्यर्थः (उव्वटभाष्य—यजु० ३।१२) महीधर ने वृष्टिकारक भौतिक अग्नि को लक्ष्य कर मन्त्रार्थ किया है, अतः उव्वट वा महीधर कोई भी मंगलग्रह के अर्थ में मन्त्र की व्याख्या नहीं करते, यह स्पष्ट है।

(४) 'उद्बुध्यस्वाग्ने' इस मन्त्र में 'उद्' उपसर्ग पूर्वक 'बुध' अवगमने धातु का लोट् मध्यम पुरुष एकवचन में प्रयोग है, जिसका अर्थ होता है, उद्बोधन को प्राप्त होवो, जागो, सावधान होवो। परन्तु मन्त्र में बुध शब्द का न तो स्वतन्त्र प्रयोग, न उसके किसी अन्य वाक्यांश या शब्द से बुधग्रह की

---

१. अष्टा० ३।१।८५॥ २. अग्निरिति शेषः। यथा क्रममत्र 'प्राणानां जलानां' पदाभ्यां सह सम्बन्धः।

३. अष्टा० ३।१।८५॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यों ने 'आकृष्णेन रजसा'० इत्यादि मन्त्रों का सूर्य्यादि-ग्रहपीड़ा की शान्ति के लिए ग्रहण किया है। सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है। मूल अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उन मन्त्रों में ग्रहपीड़ा निवारण करना, यह अर्थ ही नहीं है। 'आकृष्णेन०' इस मन्त्र का अर्थ 'आकर्षणानुकर्षणप्रकरण' तथा 'इमं देवा०' इसका अर्थ 'राजधर्मविषय' में लिख दिया है ॥१, २॥

(अग्निः) यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर वा भौतिक अग्नि है, वह **(दिवः)** प्रकाशवाले और **(पृथिव्याः)** प्रकाशरहित लोकों का पालन करनेवाला तथा **(मूर्धा)** सबपर विराजमान और **(ककुत्पतिः)** दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है। **'व्यत्ययो बहुलम्'**[1] इस सूत्र से **'ककुभ्'** शब्द के भकार को तकारादेश हो गया है। **(अपाᳺ रेताᳺसि जिन्वति)** वही जगदीश्वर प्राण और जलों के वीर्य्यों को पुष्ट करता है। इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्य्यरूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करनेवाला है ॥३॥

(उद्बुध्यस्वाग्ने) हे परमेश्वर! हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिए। **(प्रति जागृहि)** अविद्या की अन्धकाररूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके, विद्यारूप सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशमान कीजिए कि जिससे **(त्वमिष्टापूर्त्ते)** हे भगवन्! मनुष्यदेह धारण करनेवाला जो जीव है, जैसे वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्त्ति कर सके, वैसे आप इष्ट सिद्ध कीजिए। **(अस्मिन् सधस्थे)** इस लोक और इस शरीर तथा **(अध्युत्तरस्मिन्)** परलोक और दूसरे जन्म में **(विश्वे देवा यजमानश्च सीदत)** आप की कृपा से सब विद्वान् और यजमान्, अर्थात् विद्या के उपदेश के ग्रहण और सेवन करनेवाले मनुष्य लोग सुख से वर्त्तमान सदा बने रहें कि जिससे हम लोग विद्या से युक्त होते रहें। **'व्यत्ययो बहुलम्'** इस सूत्र से **'संसृजेथाम्'** **'सीदत'** इन प्रयोगों में पुरुषव्यत्यय अर्थात् प्रथम पुरुष की जगह मध्यमपुरुष हुआ है ॥४॥

प्रतीति या तत्सम्बन्धी कथन ही उपलब्ध होता है। उव्वट तथा महीधर ने भी अग्नि को सम्बोधन कर उसको जगाने की बात लिखी है। यथा—**"उद्बुध्यस्व उद्बुद्धो भव सावधानो भव। एनं यजमानं प्रतिजागृहि प्रतिदिनं यजमानं जागरूकं सावधानं कुरु।"** (महीधरभाष्यम्, यजु० १५।५४)। अतः इस मन्त्र को बुधग्रह की स्तुति या जप में विनियुक्त करना बुद्धिमत्ता से सर्वथा विपरीत है।

(५) **'बृहस्पते अति यदर्यो०'** इस मन्त्र के देवता (प्रतिपाद्य विषय) के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। जैसे कि उव्वट ने 'बृहस्पति' को महीधर ने ब्रह्म को तथा वैदिक यन्त्रालय मुद्रित यजुर्वेद संहिता में ईश्वर को मन्त्र का देवता माना है। यद्यपि ब्रह्म या ईश्वर के तीनों शब्द पर्यायवाची हैं, तथापि देवता नाम से ही तदनुसार होम, यज्ञादि में स्वाहाकार के समय चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होने से देवता के नामविषय का महत्त्व रहता ही है। अस्तु—यहाँ पर मुख्य विचार इसपर किया जाना है कि क्या बृहस्पति नामक ग्रहविशेष से मन्त्र का कोई सम्बन्ध है? उव्वटभाष्य में इस स्थल (यजु० २६।३) पर 'बृहस्पते' इस सम्बुध्यन्त पद की व्याख्या तो नहीं की गई है, परन्तु 'ऋतप्रजात' (बृहस्पति के एक विशेषण पद) का अर्थ उव्वट ने लिखा है—अविनाशी सत्य से उत्पन्न होनेवाला यथा—**"हे ऋतप्रजात ऋतात् सत्यादविनाशिनः प्रजायत इति ऋतप्रजातः तत्सम्बुद्धौ हे ऋतप्रजात तद् द्रविणम् अस्मासु धेहि**

---

१. अष्टा० ३।१।८५॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बृह॑स्पते॒ऽअति॒ यद॒र्यो॒ऽअर्हा॑द् द्यु॒मद् वि॒भाति॒ क्रतु॑म॒ज्जने॑षु ।
यद् दी॒दय॒च्छव॑सऽऋतप्रजात॒ तद॒स्मासु॒ द्रवि॑णं धेहि चि॒त्रम् ॥५॥
—य० अ० २६ । मं० ३ ॥

अन्ना॑त् परि॒स्रुतो॒ रसं॒ ब्रह्म॑णा॒ व्य॒पिबत्क्ष॒त्रं पयः॒ सोमं॑ प्र॒जाप॑तिः ।
ऋतेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पानं॑ शु॒क्रमन्ध॑स॒ऽइन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥६॥
—यजुः० अ० १९ । मं० ७५ ॥

भाष्यम्—(बृहस्पते) हे बृहतां वेदानां पते पालक ! (ऋतप्रजात) वेदविद्याप्रतिपादित-जगदीश्वर ! त्वं (जनेषु) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा, (क्रतुमत्) भूयांसः क्रतवो भवन्ति यस्मिंस्तत्, (द्युमत्) सत्यव्यवहारप्रकाशो विद्यते यस्मिंस्तत्, (दीदयच्छवसः) दानयोग्यं शवसो बलस्य प्रापकं, (यदर्यो अर्हात्, येन विद्यादिधनेन युक्तः सन्, अर्य्यः स्वामी राजा, वणिग्जनो वा धार्मिकेषु जनेषु (विभाति) प्रकाशते, (चित्रम्) यद्धनमद्भुतं (तदस्मासु द्रविणं धेहि) तदस्मदधीनं द्रविणं धनं कृपया धेहीत्यनेन मन्त्रेणेश्वरः प्रार्थ्यते ॥३॥

(क्षत्रम्) यत्र यद्राजकर्म क्षत्रियो वा, (ब्रह्मणा) वेदविद्भिश्च सह, (पयः) अमृतात्मकं, (सोमम्) सोमाद्योषधिसम्पादितं, (रसम्) बुद्धयानन्दशौर्य्यबलपराक्रमादिसद्गुणप्रदं (व्यपिबत्) पानं करोति, तत्र स सभाध्यक्षो राजन्यः (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन, (सत्यम्) धर्मराजव्यवहारं च, (इन्द्रियम्) शुद्धविद्यायुक्तं शान्तं मनः, (विपानम्) विविधराजधर्मरक्षणं, (शुक्रम्) आशुसुखकरं, (अन्धसः) शुद्धान्नस्येच्छाहेतुं, (पयः) सर्वपदार्थसारविज्ञानयुक्तं, (अमृतम्) मोक्षसाधकं, (मधु) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तं, (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्यामिन ईश्वरस्य कृपया, (इन्द्रियम्) विज्ञानयुक्तं मनः प्राप्य (इदम्) सर्वं व्यावहारिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति । (प्रजापतिः) परमेश्वर एवमाज्ञापयति—यः क्षत्रियः प्रजापालनाधिकृतो भवेत्, स एवं प्रजापालनं कुर्यात् । (अन्नात् परिस्रुतः) स चामृतात्मको रसोऽन्नाद् भोज्यात् पदार्थात् परितः सर्वतः स्रुतश्च्युतो युक्तो वा कार्य्यः । यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येत् तथैव क्षत्रियेण कर्त्तव्यम् ॥ ६॥

स्थापय ।" (उव्वटभाष्यम्, यजु० २६।३) । महीधर ने बृहस्पति पद का अर्थ 'वेदों का रक्षक' तथा ऋत-प्रजात का अर्थ 'ब्रह्म से हुई उत्पत्तिवाला' लिखा है यथा—"ऋतप्रजात, ब्रह्मणः सकाशात् प्रजातं प्रकृष्टं जातं जन्म यस्य ऋतप्रजातः" "हे बृहस्पते । बृहतां वेदानां पते पालक", "चित्रं नानाविधं तद्-द्रविणमस्मासु यजमानेषु धेहि धारय स्थापय देहीत्यर्थः ।" इस प्रकार इन भाष्यों में भी बृहस्पति नामक ग्रहविशेष का कोई उल्लेख नहीं मिलता । मन्त्र के पदों पर सावधानी से विचार करने पर भी ज्योतिष-शास्त्र वर्णित बृहस्पतिग्रह के गुण-धर्मादि का संकेत नहीं दिखाई देता, अतः नाम-साम्य मात्र से बृहस्पति नामक आकाशीय-ग्रहपिण्ड के विषय में मन्त्र को घसीटना कथमपि युक्तिसंगत नहीं है ।

'अन्नात् परिस्रुतो रसं०' इस मन्त्र में प्रयुक्त 'शुक्रम्' पद के श्रवण मात्र से शुक्रग्रह के वर्णन की भ्रान्ति अल्पज्ञों को हुई प्रतीत होती है । इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध की यजु० १९।७२वें मन्त्र से १९।७९ वें मन्त्र तक पुनरावृत्ति हुई है उसी में शुक्र शब्द भी बार-बार पढ़ा जाता है । तब प्रश्न होता है कि ये आठों मन्त्र क्यों न शुक्रग्रह से सम्बन्धित माने जाएँ । वस्तुतः सन्दर्भित मन्त्र की देवता 'प्रजापति' है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे वेदविद्यारक्षक ! **(ऋतप्रजात)** वेदविद्या से प्रसिद्ध जगदीश्वर ! आप **(तदस्मासु द्रविणं धेहि)** जो सत्यविद्यारूप अनेक प्रकार का **(चित्रम्)** अद्‌भुत धन है, सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिए। कैसा वह धन है कि **(जनेषु)** विद्वानों और लोकलोकान्तरों में **(क्रतुमत्)** जिससे बहुत से यज्ञ किये जाएँ, **(द्युमत्)** जिससे सत्य व्यवहार के प्रकाश का विधान हो, **(शवसः)** बल की रक्षा करनेवाला और **(दीदयत्)** धर्म और सबके सुख का प्रकाश करनेवाला तथा **(यदर्य्यो०)** जिससे धर्मयुक्त, योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त होकर **(विभाति)** धर्मव्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है, उस सम्पूर्णविद्यायुक्त धन को हमारे बीच में निरन्तर धारणा कीजिए। ऐसे इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है ॥५॥

(क्षत्रम्) जो राजकर्म अथवा क्षत्रिय है, वह सदा न्याय से **(ब्रह्मणा)** वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन करे। इसी प्रकार **(पयः)** जो अमृतरूप, **(सोमम्)** सोमलता आदि ओषधियों का सार तथा **(रसम्)** जो बुद्धि, आनन्द, शूरता, धीरज, बल और पराक्रम आदि उत्तम गुणों का बढ़ानेवाला है, उनको **(व्यपिबत्)** जो राजपुरुष अथवा प्रजास्थ लोग वैद्यकशास्त्र की रीति से पीते हैं, वे सभासद् और प्रजास्थ मनुष्य लोग **(ऋतेन)** वेदविद्या को यथावत् जानके, **(सत्यम्)** धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष **(इन्द्रियम्)** शुद्धविद्यायुक्त शान्तस्वरूप मन, **(विपानम्)** यथावत् प्रजा का रक्षण, **(शुक्रम्)** शीघ्र सुख करनेहारा, **(अन्धसः)** शुद्ध अन्न की इच्छायुक्त, **(पयः)** सब पदार्थों का सार, विज्ञानसहित **(अमृतम्)** मोक्ष के ज्ञानादि साधन, **(मधु)** मधुरवाणी और शीलता आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं, **(इदम्)** उन सबसे परिपूर्ण होकर **(इन्द्रस्य)** परमैश्वर्य्ययुक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से, **(इन्द्रियम्)** विज्ञान को प्राप्त होते हैं। **(प्रजापतिः)** इसलिए परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार और विज्ञानविद्या को प्राप्त होके, धर्म से प्रजा का पालन करो। **(अन्नात् परिस्रुतः)** उक्त अमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो कि जिससे प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो ॥६॥

प्रजापति शब्द वेद में अनेकार्थक है परन्तु उसका कोई अर्थ शुक्रग्रह विशेष भी है, ऐसा कहीं देखा या सुना नहीं गया है। ऐसी स्थिति में नवग्रहों में अन्यतम शुक्रग्रह की पूजा या तन्निमित्तक आवाहन या होम में प्रकृत मन्त्र के विनियोग का कोई औचित्य नहीं है। भाष्यकार उव्वट ने १९।७२ में प्रथम बार पठित शुक्र शब्द का अर्थ रजः किया है। **'शुक्रं रजो हितम् अन्धसः अन्नात् संभूतं भूयात्।'** (उव्वट भाष्यम्, यजु० १९।७२)। महीधर ने 'शुक्र' का अर्थ शुक्ल किया है। **'शुक्रं शुक्लं शुद्धमतएव इन्द्रियं वीर्यप्रदं भूयात्'** (महीधरभाष्यम्, यजु० १९।७२) इनमें भी तथाकथित शुक्रग्रह की पूजा का नाम-निर्देश तक नहीं है।

(७) **'शन्नो देवी०'** इस मन्त्र से शनैश्चर नामक आकाशीय ग्रहविशेष के वर्णन की आशंका होना भी पूर्वोक्त उदाहरणों की ही भाँति भ्रान्ति है। शम्+नः इन दो पृथक्-पृथक् पदों के संहिता पाठ में सन्धिवशात् 'शन्नः' यह रूप, मकार को अनुस्वार और उसको वैकल्पिक परसवर्ण होने पर बनता है। मन्त्र के पूर्वार्द्ध के अगले पदों के साथ अन्वय करने पर **'देवीः, आपः नः अभिष्टये पीतये शम् भवन्तु'** यह वाक्य बनता है, जिसका अर्थ है सकल सुखप्रदाता और सर्वव्यापक परमेश्वर अथवा दिव्य गुणों से युक्त जल इष्ट सुख तथा उसके उपभोग के निमित्त हमारे लिए कल्याणकारी हों।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये । शंयोरभि स्रवन्तु नः ।।५।।
—य० अ० ३६ । मं० १२ ।।

कया नश्चित्रऽआ भुवदूती सदावृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता ।।६।।
—य० अ० २७ । मं० ३९ ।।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्याऽअपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ।।७।।
—य० अ० २९ । मं० ३७ ।।

भाष्यम्—'आप्लृ व्याप्तौ'[1] अस्माद् धातोरप्शब्दः सिध्यति, स नियतस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । 'दिवु' क्रीडाद्यर्थः । (देवीः) देव्य आपः, सर्वप्रकाशकः सर्वानन्दप्रदः, सर्वव्यापक ईश्वरः (अभिष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये, (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये, (नः) अस्मभ्यं, (शम्) कल्याणकारिका भवन्तु, स

इस अन्वय में कहीं भी शनैश्चरग्रह का उल्लेख नहीं है । मन्त्र के उत्तरार्द्ध के 'शंयोः अभिस्रवन्तु नः' पदों में भी इस विषय की कोई ध्वनि नहीं है । उव्वट के अनुसार मन्त्रार्थ यह है—:'अब्देवत्या गायत्री, सुखरूपा अस्माकं देवीः देव्यः अभिष्टये अभिषेकाय अभीष्टाय वा । आपः भवन्तु पीतये पानाय च । शंयोः शमनाय रोगाणां पृथक्करणाय भयानां वा । अभिस्रवन्तु नः अस्माकम् ।।" (उव्वटभाष्यम्, यजु० ३६।१२) । एतदनुसार मन्त्र की देवता 'आपः' हैं । मन्त्र में उनसे सब प्रकार की सुख-शान्ति तथा नीरोगता की प्रार्थना की गई है । ऐसा ही महीधर ने भी कहा है । यथा -"अब्देवत्या गायत्री । देवीः देव्यो दीप्यमाना अपो नोऽस्माकमभिष्टये अभिषेकायाभीष्टाय वा पीतये पानाय च शं सुखरूपा भवन्तु । अस्माकं स्नाने पाने चापः सुखयित्र्यो भवन्तु । आपः शं योः रोगाणां शमनं भयानां यवनं पृथक्करणञ्च अभिस्रवन्तु नोऽस्माकं भयरोगनाशं कुर्वन्त्वित्यर्थः ।।" स्पष्ट है महीधर ने भी जलों के स्नान पानादि में जलों की उपयोगिता का ही प्रतिपादन मन्त्र से दर्शाया है, अतः प्रकृत मन्त्र में शनि नामक सप्तम ग्रह की कल्पना करना मूर्खता या प्रवञ्चना ही कही जा सकती है ।

(८) 'कया नश्चित्र०' इस मन्त्र की देवता इन्द्र है । इन्द्र से रक्षा आदि की प्रार्थना इसमें की गई है । उव्वट तथा महीधर भाष्यों में भी इन्द्रविषयक प्रार्थना ही व्याख्यात है, न कि राहुविषयक । यथा-- "कया पुनः उती ऊत्या केन पुनरवनेन तर्पणेन । नः अस्माकम् चित्रः चायनीय इन्द्रः । आभुवद् भूयात् ।" (उव्वटभाष्यम्, यजु० २७।३९) । ···"पूर्वार्चः इन्द्रपदमनुषज्जनीयम् । इन्द्रः कया ऊती ऊत्या अवनेन तर्पणेन प्रीणनेन वा नोऽस्माकं सखा सहायः आभुवत् आभिमुख्येन भवति । .." (महीधरभाष्यम्, यजु २७।३९) । अतः प्रकृत मन्त्र को राहु नामक कल्पित ग्रह के पक्ष में विनियुक्त करना सर्वथा अनुचित है ।

(९) 'केतुं कृण्वन्नकेतवे०' इस मन्त्र की देवता अग्नि है । केतु नामक तथाकल्पित ग्रह का इसमें कोई उल्लेख नहीं है । प्रत्युत अज्ञानी के लिए ज्ञान प्रदान करनेवाले अग्नि का इसमें वर्णन है । ऐसा ही भाष्यकार उव्वट तथा महीधर ने भी लिखा है । यथा—"आग्नेयी गायत्री अनिरुक्ता । केतुं प्रज्ञानं कृण्वन् कुर्वन् । अकेतवे न विद्यते केतुः प्रज्ञानं यस्य तस्मै अकेतवे । .."(उव्वटभाष्यम्, यजु० २९।३७) । "—अग्निदेवत्या गायत्री... । हे अग्ने त्वमुषद्भिः कृत्वा अजायथाः उत्पन्नोऽसि । 'उष दाहे' उष न्त हविर्दहन्ति ते उषन्तोऽग्निहोमकर्त्तारो यजमानाः । कीदृशस्त्वम् । अकेतवे अज्ञानाय मर्याः मर्याय मनुष्याय केतुं ज्ञानं कृण्वन् कुर्वन् ...।" (महीधरभाष्यम्, यजु० २९।३७) ।

---

१. क्षीरतरङ्गिणी ५।१७।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वरो नः कल्याणं भावयतु प्रयच्छतु। ता आपो देव्यः स एवेश्वरो, नोऽस्माकमुपरि (शंयोः) सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु। अत्र प्रमाणम्—

यत्र॑ लो॒कांश्च॒ कोशां॒श्चापो॒ ब्रह्म॒ जना॑ वि॒दुः।

अस॑च्च॒ यत्र॒ सच्चान्तः स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः॥

—अथर्व० कां० १०। अ० ४। व० २२। मं० १०॥[1]

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्छब्देन परमात्मनो ग्रहणं क्रियते। तद्यथा—

(आपो ब्रह्म जना विदुः) विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति। (यत्र लोकांश्च कोशांश्च) यस्मिन् परमेश्वरे सर्वान् भूगोलान् निधींश्च, (असच्च यत्र सच्च) यस्मिंश्चानित्यं कार्य्यं जगदेतस्य नित्यं कारणं च स्थितं जानन्ति। (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोऽस्ति, विद्वंस्त्वं ब्रूहीति पृच्छ्यते। (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादिपदार्थानामाभ्यन्तरेऽन्तर्य्यामिरूपेणावस्थितोऽस्तीति भवन्तो जानन्तु॥५॥

(कया) उपासनारीत्या (शचिष्ठया) अतिशयेन सत्कर्मानुष्ठानप्रकारया, (वृता) शुभगुणेषु वर्त्तमानया, (कया) सर्वोत्तमगुणालंकृतया सभया प्रकाशितः, (चित्रः) अद्भुतानन्तशक्तिमान्, सदावृधः) सदानन्देन वर्धमान इन्द्रः परमेश्वरः, (नः) अस्माकं (सखा) मित्रः (आ भुवत्) यथाभिमुखो भूत्वा (ऊती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रक्षको भवेत्, तथैवास्माभिः स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीय इति॥६॥

हे (मर्य्या) मनुष्याः! (उषद्भिः) परमेश्वरं कामयमानैस्तदाज्ञायां वर्त्तमानैर्विद्वद्भिर्युष्माभिः सह समागमे कृते सत्येव, (अकेतवे) अज्ञानविनाशाय, (केतुम्) प्रज्ञानं, (अपेशसे) दारिद्र्यविनाशाय, (पेशः) चक्रवर्त्तिराज्यादिसुखसम्पादकं धनं च (कृण्वन्) कुर्वन् सन् जगदीश्वरः (अजायथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम्॥७॥

अतः ये समस्त मन्त्र नवग्रह पूजकों के द्वारा बलात् अथवा निराधार ही सूर्य, चन्द्र, मंगल आदि ग्रहों के सम्बन्ध में घसीटे गये हैं। यही उपर्युक्त विवेचना से प्रतिफलित होता है। फिर भी इन मन्त्रों का किसी अन्य प्रकार का सम्बन्ध ग्रहों के साथ होता तो उसकी कहीं कोई व्याख्या या संगति दिखाई देती। उसके अभाव में यही निश्चय होता है कि तान्त्रिकों ने बिना सोचे-समझे अपनी यथा-तथा क्रियाओं के सम्पादन में वेद मन्त्र केवल इसलिए जोड़ लिये जिससे कि वेदप्रेमी भी उनके जाल में फँस सकें। जब सत्यविद्या का लोप होने लगता है, तो अल्पशिक्षित, धूर्तप्रकृतिक लोग अज्ञानियों को इसी प्रकार अनृत -मिथ्या बातों की ओर आकृष्ट कर अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करते हैं, अथवा उनकी हानि कराते हैं।

ग्रन्थकारकृत मन्त्रार्थ व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाना चाहिए, क्योंकि **'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्'** (मनुस्मृति) के अनुसार वेद लोक और परलोक दोनों के लिए मंगलकारी बातों और कर्मों का विधान करता है - यह भारत की अति पुरातन काल से चली आई मान्यता है। मान्यता का व्यवहारिक रूप निश्चित रूप से लाभदायक और अभीष्ट सिद्धिप्रद है तो पारमार्थिक भी होना ही चाहिए, यह युक्तिसिद्ध है, अतः इसी भावना के अनुरूप वेदों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करना चाहिए।

---

१. अथर्व० १०।७।१०॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(**शन्नो देवी०**) 'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातु से '**अप्**' शब्द सिद्ध होता है। सो वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है तथा '**दिवु**' धातु के क्रीड़ा आदि अर्थ हैं, उससे '**देवी**' शब्द सिद्ध होता है। (**देवीः**) अर्थात् जो ईश्वर सबका प्रकाशक और सबको आनन्द देनेवाला, (आपः) सर्वव्यापक है, (**अभिष्टये**) वह इष्ट आनन्द और (**पीतये**) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिए, (**नः**) हमको सुखी होने के लिए, (**शम्**) कल्याणकारी (**भवन्तु**) हो। वही परमेश्वर (नः) हमपर (**शंयोः**) सुख की (**अभिस्रवन्तु**) वृष्टि करे।

इस मन्त्र में 'आपः' शब्द से परमात्मा के ग्रहण होने में प्रमाण यह है कि—(आपो **ब्रह्म जना विदुः**) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि 'आपः' परमात्मा का नाम है।

पूर्वोक्त नौ मन्त्रों का अर्थ ग्रन्थकार ने यजुर्वेद के स्वरचित भाष्य में भी पृथक्शः किया है। इन दोनों ग्रन्थों में कुछ स्थलों पर मन्त्रों के समान होने पर भी अर्थों में किञ्चित् भेद दिखाई देता है, किन्तु वह परस्पर विरुद्ध न होकर एक-दूसरे का उपोद्बलक ही है।

प्रथम सूर्य देवताक '**आकृष्णेन०**' मन्त्र में आकर्षण क्रिया का वर्णन 'सविता' अर्थात् सूर्य या परमेश्वर ('**सविता वै देवानां प्रसविता**') के सामर्थ्य सम्बन्ध से है। '**कृषेर्वर्णे**' (उणादिकोश ३।४) से '**कृष् विलेखने**' धातु से नक् प्रत्यय करने पर कृष्ण शब्द निष्पन्न है। उसमें 'आ' निपात का आरम्भिक योग होने पर आकृष्ण शब्द आकर्षण अर्थ का बोधक हो जाता है, अतः सूर्यग्रहण पीड़ा-निवारण से इस मन्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है।

द्वितीय मन्त्र '**इमं देवा असपत्नं सुवध्वम्**' में राजधर्म का वर्णन है। विद्वान्, वेदज्ञ ब्राह्मणों का मुखिया या सभाध्यक्ष 'सोम' अर्थात् सौम्यगुणसम्पन्न होना चाहिए—यह बात भी मन्त्र से कही गई है, अतः चन्द्र नामक ग्रह का मन्त्र में वर्णन मानना भ्रान्तिमात्र है।

तृतीय मन्त्र '**अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः**' में अग्नि का द्युलोक और पृथिवीलोक से सम्बन्ध दर्शाया गया है। प्रतीत होता है कि '**पृथिव्या अयम्**'—भौम (मंगल) जोकि पृथिवीपुत्र भी माना जाता है, विनियोगकारों को यहाँ से भ्रान्ति हुई है, जिससे मंगलनामक ग्रहविशेष अर्थ में मन्त्र को लगाकर उससे ग्रह के आवाहन, पूजन, होमक्रिया चल पड़ी। वस्तुतः मंगलग्रह से प्रकृत मन्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है।

चतुर्थ मन्त्र '**उद्बुध्यस्वाग्ने**' भी अग्नि प्रदीप्त करने से सम्बद्ध है वह भौतिक अग्नि या विद्या-रूप अग्नि को प्रकाशित करने के अर्थ में संगत होता है, परन्तु तथाकथित आकाश के बुधग्रह से इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं हैं।

पञ्चम मन्त्र '**बृहस्पते अति०**' में स्वाम्यर्थक अर्यः शब्द का बृहस्पति के विशेषण रूप में प्रयोग तथा ऋतप्रजात अर्थात् सत्यविद्या वेद को उत्पन्न करनेवाले शब्द का प्रयोग मन्त्र को ईश्वर अर्थ में तो संगत कराते हैं किन्तु बृहस्पति नामक ग्रह के अर्थ में नहीं। बृहती वाणी का पति=पालन करनेवाला होने से परमेश्वर ही बृहस्पति पद वाच्य है।

षष्ठ मन्त्र **अन्नात् परिस्रुतो**' भी शुक्रं पद के प्रयोग मात्र से शुक्रग्रह की स्तुतिपरक नहीं माना जा सकता। क्षत्रिय के कर्तव्य तथा अन्न के माहात्म्य का द्योतक प्रकृत मन्त्र है, अतः उसी अर्थ में मन्त्र का विनियोग संगत है, अन्यत्र नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न—(**यत्र लोकांश्च कोशांश्च**) सुनो जी ! जिसमें पृथिव्यादि सब लोक, सब पदार्थ स्थित, (**असच्च यत्र सच्च**) तथा जिससे अनित्य कार्यजगत् और नित्य सब वस्तुओं का कारण, ये सब स्थित हो रहे हैं, (**स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः**) वह सब लोकों को धारण करनेवाला कौन पदार्थ है ?

उत्तर—(**अन्तः**) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्यामिरूप से परिपूर्ण भर रहा है । ऐसा जानकर आप लोग उस परमेश्वर को अपने ही अन्तःकरण में खोजो ।।५।।

(**कया**) जो किस उपासनारीति (**शचिष्ठया**) और सत्यधर्म के आचरणसहित, (**वृता**) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्तमान, (**कया**) सुखरूपवृत्ति से प्रकाशित (**चित्रः**) अद्भुतस्वरूप (**सदावृधः**) आनन्दस्वरूप, और आनन्द बढ़ानेवाला परमेश्वर है, वह (**नः**) हमारे आत्माओं में (**आभुवत्**) प्रकाशित हो । (**ऊती**) तथा किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करें कि (**उषर्द्भिः समजायथाः**) हे अग्ने जगदीश्वर ! आपकी आज्ञा में जो रमण करनेवाले हैं, उन्हीं पुरुषों से आप जाने जाते हैं और उन्हीं धार्मिक पुरुषों के अन्तःकरण में आप अच्छे प्रकार प्रकाशित होते रहो ।।६।।

हे विज्ञानस्वरूप ! अज्ञान के दूर करनेहारे ब्रह्मन् ! आप (**केतुं कृण्वन्**) हम सब मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिए तथा (**अकेतवे**) अज्ञान और (**अपेशसे**) दरिद्रता के दूर करने के अर्थ (**पेशः**) विज्ञानधन और चक्रवर्त्तिराज्य धर्मात्माओं को देते रहिए कि जिससे (**मर्याः**) जो आपके उपासक लोग हैं, वे कभी दुःख को न प्राप्त हों ।।७।।

❀ इति ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः ❀

सप्तम मन्त्र '**शन्नो देवी०**' में प्रयुक्त आपः शब्द परमेश्वर अर्थ का भी वाचक है । इसको प्रतिपादित करते हुए ग्रन्थकार ने '**यत्र लोकांश्च०**' (अथर्व० १०।७।१०) इत्यादि मन्त्र का प्रमाण भी दिया है । शम् और नः शब्द पृथक् होने से शनिग्रह का प्रकृत मन्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

अष्टम '**कया नश्चित्र**' तथा नवम '**केतुं कृण्वन्**' मन्त्रों को क्रमशः राहु और केतु नामक कल्पित ग्रहों के साथ जोड़ना भी सर्वथा अयुक्त है, यह पूर्व ही कहा जा चुका है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोऽस्त्याहोस्विन्नेति ?

सर्वेषामस्ति। वेदानामीश्वरोक्तत्वात् सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात् सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्च। यद्यद्धि खलु परमेश्वररचितं वस्त्वस्ति, तत्तत् सर्वं सर्वार्थमस्तीति विजानीमः। अत्र प्रमाणम्—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याᳬं शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय [च]। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुपं मादो नमतु ॥ १ ॥

—य० अ० २६। म० २ ॥

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—परमेश्वरः सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीयाः पाठ्या इत्याज्ञां ददाति। तद्यथा—(यथा) येन प्रकारेण (इमाम्) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदादिवेदचतुष्टयीं (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां (वाचम्) वाणीं (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय (आवदानि) आसमन्ताद् उपदिशानि, तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयी वागुपदेष्टव्येति।

अत्र कश्चिदेवं ब्रूयात्—जनेभ्यो द्विजेभ्य इत्यध्याहार्य्यं, वेदाध्ययनाध्यापने तेषामेवाधिकारत्वात्।

अधिकारानधिकारविषयः

जीवात्मा के कल्याण के लिए वेदादिशास्त्रों का उपदेश है, परन्तु उनके अध्ययन और समझने का सामर्थ्य जीवात्मा को मनुष्ययोनि में पहुँचने पर ही प्राप्त होता है। अन्य योनियों में यह सामर्थ्य नहीं रहता; वे केवल भोगयोनियाँ हैं। जीवात्मा का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मवित् होकर मोक्ष प्राप्त करना है। यह अवसर भी उसे मनुष्ययोनि में ही मिलता है। तब, इस योनि को प्राप्त करनेवाले जीवात्माओं में से किसी को शास्त्र ज्ञान से और वह भी उसके पिता स्वयं भगवान् के वेदज्ञान से वञ्चित कर देना कितना बड़ा अन्याय होगा ?

जैसे द्विजाति वैसे ही शूद्र और स्त्रियाँ भी परमेश्वर की उत्पादित प्रजा हैं। पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, ओषधि, वनस्पति, अन्न आदि सृष्टि में जितने भी पदार्थ हैं, उनके उपयोग का अधिकार सबको समानरूप से प्राप्त है। इसी प्रकार ईश्वरप्रदत्त ज्ञान वेद का अध्ययन कर तदनुकूल आचरण द्वारा मोक्ष प्राप्ति का अधिकार भी मनुष्यमात्र को है। भगवान् की दृष्टि में सब बराबर हैं। ईश्वरीय विधान में अवसर की समानता सबको सुलभ है, उससे लाभ उठाना प्रत्येक जीव के अपने सामर्थ्य पर निर्भर है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैवं शक्यम्—उत्तरमन्त्रभागार्थविरोधात् । तद्यथा—कस्य-कस्य वेदाध्ययनश्रवणेऽधिकारोऽस्तीत्याकांक्षायामिदमुच्यते—

(ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां, (अर्य्याय) वैश्याय, (शूद्राय), (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय, (स्वाय) स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च, सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयी श्राव्येति ।[1] (प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह०) यथाहमीश्वरः पक्षपातं विहाय सर्वोपकारकरणेन सह वर्त्तमानः सन्, देवानां विदुषां प्रियः, दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च भूयासं स्याम्, तथैव भवद्भिः सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वोपकारं सर्वप्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणी श्राव्येति । यथायं (मे) मम कामः समृध्यते, तथैवं कुर्वताम् (अयं कामः समृध्यताम्) इयमिष्टसुखेच्छा समृध्यतां सम्यग् वर्धताम् । यथादः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति, (उप मादो नमतु) तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्टसुखमुपनमतु सम्यक् प्राप्नोत्विति ।

मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यम् । यथा मया वेदविद्या सर्वार्था प्रकाशिता, तथैव युष्माभिरपि सर्वार्थोपकर्त्तव्या । नात्र वैषम्यं किञ्चित् कर्त्तव्यमिति । कुतः ? यथा मम सर्वप्रियार्था पक्षपातरहिता च प्रवृत्तिरस्ति, तथैव युष्माभिराचरणे कृते मम प्रसन्नता भवति, नान्यथेति । अस्य मन्त्रस्याप्रमेवार्थोऽस्ति । कुतः ? 'बृहस्पते अति यदर्यः'[2] इत्युत्तरस्मिन् मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात् ॥१॥

'यथेमां वाचमित्यादि' मन्त्र के अनुसार मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ प्रदत्त वेदवाणी पर जैसा अधिकार ब्राह्मण को प्राप्त है, वैसा ही अन्य सबको है। मनुष्यों में सर्वोपरि आप्त पुरुष मनु हैं और मनु की दृष्टि में 'प्रमाणं परमं श्रुतिः'—वेद से बढ़कर दूसरा कोई प्रमाण नहीं। ऐसी अवस्था में स्वयं वेद द्वारा वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र के अधिकार की घोषणा के पश्चात् अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रह जाती[3]।

शिक्षाकाल की समाप्ति पर गुण-कर्म-स्वभाव की ठीक-ठीक परीक्षा करके वर्णाधिकार का निश्चय होता है। इसलिए मन्त्रगत ब्राह्मणादि पद यहाँ गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्णों के सन्तानपरक हैं। बालक सन्तान, चाहे जिस वर्ण की हों, उन्हें गुरु के पास जा उपनीत होकर अध्ययन करने का समान अधिकार है। मानवसमाज का कोई वर्ग उससे वञ्चित नहीं किया जा सकता। ग्रन्थकार के मत में मूर्ख का नाम शूद्र और अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है। अतिमूर्ख को पढ़ाने अथवा वेदाध्ययन का

---

१. शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षाद् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामिदयानन्देन—'यथेमां वाचमित्यादि ।' सत्यव्रत-सामश्रमी, ऐतरेयालोचने, पृष्ठ १७ ।

२. यजुः २६ । ३ ॥ द्रष्टव्या अस्य व्याख्या—ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषये ।

३. स्वामी दयानन्द की इस महान् क्रान्ति पर विश्वविश्रुत लेखक और विचारक रोम्यारोलाँ ने लिखा है—
"It was in truth an epoch making date for India when a Brahman not only acknowledged that all human beings have a right to know the Vedas, who had been previously prohibited by orthodox Brahmans, but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya." (Life of Ramakrishna by Roman Rolland. P. 59)

इसका आशय यह है कि सचमुच भारत के लिए वह एक नवयुग के निर्माण का दिन था जबकि एक ब्राह्मण (स्वामी दयानन्द) ने केवलमात्र यह स्वीकार ही नहीं किया कि मनुष्यमात्र को वेदों को जानने का अधिकार है, जिस अधिकार से उन्हें कट्टरपन्थी ब्राह्मणों ने वंचित कर रक्खा था, अपितु इस बात पर बल दिया कि वेदों को पढ़ना-पढ़ाना और उनका प्रचार करना प्रत्येक आर्य का धर्म है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—प्र० – वेदादि शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने, सुननें और सुनाने में सब मनुष्यों का अधिकार है वा नहीं ?

उत्तर—सबका है, क्योंकि, जो ईश्वर की सृष्टि[1] है, उसमें किसी का अनधिकार नहीं हो सकता। देखिए कि जो-जो पदार्थ ईश्वर से प्रकाशित हुए हैं, सो-सो सबके उपकारार्थ हैं।

प्रश्न—वेदों के पढ़ने का अधिकार केवल तीन वर्णों को ही है, क्योंकि शूद्रादि को वेदादि शास्त्र पढ़ने का निषेध किया जाता है और द्विजों के पढ़ाने में भी केवल ब्राह्मण ही का अधिकार है।

उत्तर—यह बात मिथ्या है। इसका विवेचन और उत्तर वर्णविभागविषय में कह आये हैं। वहाँ यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम शूद्र, अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है। उनके पढ़ने-पढ़ाने का निषेध इसलिए किया है कि उनको विद्याग्रहण करने की बुद्धि नहीं होतो है।

प्रश्न—परन्तु क्या सब स्त्री-पुरुषों का वेदादि शास्त्र पढ़ने, सुनने का अधिकार है ?

उत्तर—सबको है। देखो, इसमें यजुर्वेद का यह प्रमाण लिखते हैं—

(यथेमां वाचं कल्याणीं०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने-पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है और विद्वानों को उनके पढ़ाने का। इसलिए ईश्वर आज्ञा देता है कि—हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूँ, उसी प्रकार से तुम भी उनको पढ़के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो, क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सबकी कल्याण करनेवाली है तथा **(आवदानि जनेभ्यः)** जैसे सब मनुष्यों के लिए मैं वेदों का उपदेश करता हूँ, वैसे ही सदा तुम भी किया करो।

अधिकार देने से क्या लाभ ? यह ऊसर भूमि में बीज डालने के समान है, किन्तु उक्त मन्त्र में ब्राह्मणादि के साथ शूद्रादि पदों का स्पष्ट निर्देश है। ऐसे स्थलों में यह ध्यान रखना चाहिए कि जब ब्राह्मणादि के लिए वेदादि के अध्ययन का उल्लेख होता है तब 'ब्राह्मण' आदि पदों का अर्थ ब्राह्मणादि कुलोत्पन्न बाल सन्तान होता है। उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जा सकता। अवसर मिलने पर भी यदि कोई (भले ही वह द्विजकुलोत्पन्न हो) उससे लाभ नहीं उठा पाता, अर्थात् पढ़ने-लिखने में असमर्थ रहता है तो उसका वह अधिकार समाप्त होकर वह स्वयं शूद्र अथवा अतिशूद्र कोटि में आ जाता है।

अधिकार शब्द के दो अर्थ हैं—स्वत्व और योग्यता। जिस प्रकार पिता की सम्पत्ति में सभी पुत्रों का समान रूप से स्वत्वाधिकार होता है, वैसे ही परमात्मा की वेदज्ञानरूपी सम्पत्ति में उसके सभी पुत्रों—ब्राह्मण से लेकर अतिशूद्र तक—का समान अधिकार स्वतः सिद्ध है, किन्तु जिस प्रकार अपने अधिकार का सदुपयोग करके योग्य व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को बढ़ा लेता है और अयोग्य व्यक्ति अपने उत्तराधिकार में प्राप्त धन को भी गवाँ बैठता है, उसी प्रकार अपनी योग्यता के कारण शूद्रकुलोत्पन्न होकर भी कोई व्यक्ति अवसर से लाभ उठाकर ज्ञानी बन जाता है और ब्राह्मणकुलोत्पन्न होकर भी कोई व्यक्ति अवसर से लाभ न उठाकर मूर्ख रह जाता है। इस प्रकार **शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्** ।' इसलिए जहाँ-जहाँ शास्त्रों और ग्रन्थकार की रचनाओं में शूद्र के वेदाध्ययन के अधिकार का प्रतिपादन किया है वहाँ उसका तात्पर्य स्वत्वपरक है और जहाँ कहीं निषेध की बात कही गई है वहाँ उसका तात्पर्य योग्यतापरक है। "इस संस्था के द्वारा सबके

१. अर्थात् ईश्वर के रचे हुए पदार्थ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न—'जनेभ्यः' इस पद से द्विजों ही का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जहाँ कहीं सूत्र और स्मृतियों में पढ़ने का अधिकार लिखा है, वहाँ केवल द्विजों ही का ग्रहण किया है?

उत्तर—यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता, तो मनुष्यमात्र को उनके पढ़ने का अधिकार कभी न देता। जैसाकि इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में प्रत्यक्ष विधान है—

लिए खुले हैं" यह घोषणा होने पर भी उसमें प्रवेश पाने के लिए निर्धारित न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता, बौद्धिक स्तर आदि की शर्तों को पूरा करना आवश्यक होता है। जाति, धर्म, लिङ्ग आदि के बाधक न होने पर भी प्रत्येक प्रवेशार्थी को उसकी योग्यता के आधार पर छोटी-बड़ी कक्षा में प्रवेश मिलता है।

अनुभवी शास्त्रकारों ने कतिपय ऐसे दोषों का निर्देश किया है जो विद्याभ्यास में बाधक होते हैं। उन दोषों से रहित बालक विद्याग्रहण के अधिकारी होते हैं। ईर्ष्या, असूया, चपलता, मद, मोह, उद्दण्डता, असत्यभाषण, अध्ययन में अरुचि-आदि इस प्रकार के दोष हैं जिनके रहते विद्या प्राप्त नहीं हो सकती। जिन लोगों में ये बुराइयाँ प्रयत्न करने पर भी नहीं निकल पातीं, वे विद्याग्रहण में अक्षम रहते हैं। आचार्य अपने अनुभव के आधार पर विद्या-प्राप्ति के लिए आये बालक की परीक्षा करता है और उसकी योग्यता का निश्चय हो जाने पर ही उसे शिष्यरूप में स्वीकार करता है। छान्दोग्य उपनिषद् (४।४।१-५) में एक ऐसा प्रसंग है जिससे उक्त तथ्य पर प्रकाश पड़ता है। सत्यकाम ने अपनी माता जबाला से कहा—माता! ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास का मेरा समय है। गुरु, गोत्र पूछेगा, क्या बताऊँ? माता ने कहा—बेटा? मैं स्वयं नहीं जानती, तुम्हारा गोत्र क्या है? युवावस्था में घूमते हुए परिचर्या में तल्लीन मैंने तुम्हें प्राप्त किया था। इस कारण तुम्हारे गोत्र के विषय में मैं नहीं जानती। आचार्य के सम्मुख जाने पर तुम यही बताकर कहना मेरा नाम सत्यकाम है, मैं जबाला का पुत्र हूँ, सत्यकाम ने आचार्य गौतम के पास जाकर यही सब कह डाला। गौतम ने उसको माता के सत्यभाषण और सत्यकाम के सत्याचरण से प्रभावित हो उसे शिष्यरूप में स्वीकार करते हुए कहा—'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति, समिधं सौम्याहर, उप त्वा नेष्ये, न सत्यादगाः।' अब्राह्मण अथवा ब्रह्मविद्या के अभ्यास में बाधक दुर्गुणों से युक्त व्यक्ति ऐसा स्पष्ट कथन नहीं कर सकता, मैं तुम्हें विद्याभ्यास कराऊँगा, क्योंकि तुमने सचाई को नहीं छोड़ा।[1] मनुस्मृति (२।११३) में कहा है—

विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥

ब्रह्मवादी वेदाध्यापक भले ही विद्या को अपने साथ लेकर मर जाए, पर घोर विपत्ति में भी उसे ऊसर में न बोये, अर्थात् कुपात्र को विद्या न दे। समाज में शूद्र वही है जिसमें प्रयास करने पर भी विद्योपयोगी गुणों का विकास नहीं हो पाता। ऐसा वर्ग केवल शारीरिक श्रम के लिए उपयुक्त समझा जाता है। यदि इस वर्ग में कोई विशिष्ट संस्कारी आत्मा किन्हीं निमित्तों से विद्योपयोगी गुणों के उद्भावन में सफल हो जाता है तो वह अभिलषित विद्या के लिए पूर्ण अधिकारी हो जाता है। ब्राह्मण, शूद्र आदि पद गुणवाचक हैं, इनमें जन्म अथवा जाति प्रवृत्तिनिमित्त नहीं। सत्यकाम को उसके विशिष्ट

---

१. किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम्।
श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः॥ —काठक संहिता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय) अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मण वर्ण के लिए है वैसा ही क्षत्रिय, अर्य्य=वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिए भी बराबर है, क्योंकि वेद ईश्वरप्रकाशित है। जो विद्या का पुस्तक होता है, वह सबका हितकारक होता है और ईश्वररचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं। इसलिए उसका जानना सब मनुष्यों को उचित है,

---

गुणों के कारण वेदादि के अध्ययन में अधिकारी माना गया, जन्म के कारण नहीं। वस्तुतः उसके गुणों से उसके जन्म का निश्चय हुआ, न कि उसके जन्म से उसके गुणों का।

ब्रह्मसूत्र के **'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च'** (१।३।३८) सूत्र से पूर्वोक्त सत्य, सरलता, ब्रह्मचर्यादि गुणों के न होने पर उस व्यक्ति के लिए वेदादि के पढ़ने, सुनने और उसके द्वारा अनुष्ठान का निषेध किया है। अन्य के द्वारा पढ़े जाने पर दूसरे व्यक्ति का सुनना 'श्रावण' कहाता है। गुरुमुख से स्वयं पढ़ना 'अध्ययन' है। अधीत के अनुसार यज्ञादि विहित कर्मों का अनुष्ठान करना 'अर्थ' है। अध्ययन के अनन्तर वेदादि के मनन से उसके सार एवं रहस्य को समझना भी 'अर्थ' कहाता है। ब्रह्मविद्या के श्रावण आदि का उन व्यक्तियों के लिए निषेध है जिनमें ईर्ष्यादि पूर्वोक्त दोष विद्यमान हों। ऐसे व्यक्तियों को विद्या का दान समाज के कल्याण का हेतु न होकर उसके अनर्थ का हेतु हो सकता है। निरुक्त (२।१।४) में उद्धृत एक सन्दर्भ से यह भाव स्पष्ट हो जाता है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

विद्या वेदज्ञ ब्राह्मण के पास आई। उसने कहा—मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी अमूल्य निधि हूँ। असूया करनेवाले, उद्दण्ड एवं असंयमी के लिए मुझे मत देना, जिससे मैं बलवती हो सकूँ। दुष्ट जन विद्या का दुरुपयोग कर समाज को हानि पहुँचाने का कारण बन सकते हैं। इसी भाव को मनुस्मृति (२।११४) में इन शब्दों में कहा है—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥

प्रकारान्तर से यही बात गीता (१८।६७) में इस प्रकार कही है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

यह अध्यात्मविषयक ज्ञान ऐसे व्यक्ति को कभी नहीं देना चाहिए जो तपस्वी न हो, विद्या के प्रति आस्थावान् न हो, आचार्य के प्रति सेवाभाव न रखता हो तथा जो परमेश्वर में आस्तिक बुद्धि न रखता हो।

अन्य उपनिषदादि वैदिक साहित्य में अनेकत्र इसी अर्थ का प्रतिपादन हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।२२) में बताया—**"नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः"** अध्यात्मशास्त्रों में अतिप्राचीन काल से प्रतिपादित यह रहस्य उसे न देना चाहिए जो शान्त न हो, जो उद्दण्ड हो, जो आज्ञाकारी न हो, असंयत हो तथा जो श्रद्धा न रखता हो। इसी भाव को मुण्डक उपनिषद् (३।२।१०-११) में इन शब्दों में कहा **"क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्। तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच—नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।"**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि वह माल सबके पिता का सब पुत्रों के लिए है, किसी वर्णविशेष के लिए नहीं। **(प्रियो देवानाम्)** जैसे मैं इस वेदरूप सत्यविद्या का उपदेश करके विद्वानों की आत्माओं में प्रिय हो रहा तथा **(दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्)** जैसे ज्ञानी वा शीलवान् पुरुष को प्रिय होता हूँ, वैसे ही तुम लोग भी पक्षपातरहित

वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले, श्रद्धापूर्वक वेद का अध्ययन करनेवाले, ब्रह्म में उत्कृष्ट आस्था रखनेवाले, एकमात्र परमात्मतत्त्व में अपने आपको श्रद्धापूर्वक समर्पण कर देनेवाले, विधिपूर्वक अध्यात्म मार्ग के नियमों पर आचरण करनेवाले व्यक्तियों को ही इस ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जाना चाहिए। इस सत्य--पुरुषतत्त्व का उपदेश अङ्गिरा ऋषि ने दिया। जो व्यक्ति अध्यात्मविषयक नियमों पर आचरण नहीं करता, उसे इस विद्या के अध्ययन में अधिकार नहीं है।

प्राणिमात्र में ब्रह्म का जिज्ञासु केवल मानव होता है। ब्रह्मजिज्ञासा के साथ उसमें सहायक शास्त्र के अध्ययन, श्रवण में भी मनुष्यमात्र का अधिकार स्वत: सिद्ध है। मनुष्यमात्र में से शास्त्र के अध्ययन, श्रवण में कौन व्यक्ति अधिकारी है, कौन नहीं इसका विवेचन इन पंक्तियों में किया है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि शूद्र के घर में उत्पन्न बालक शास्त्र के अध्ययन, श्रवण में अनधिकारी है। सूत्रकार ने जहाँ अधिकारी—क्षेत्र को सीमित किया है उसमें शूद्रकुलोत्पन्न व्यक्ति का कोई संकेत नहीं है। इस रूप में सूत्रार्थ समझना सूत्रकार के आशय के अनुरूप है। **'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्'** (१।३।२५) सूत्र में स्पष्ट 'मनुष्य' शब्द का निर्देश होने से बादरायण के मत में मनुष्यमात्र का वेदाध्ययन में अधिकारी होना सिद्ध है। अन्यथा वहाँ 'मनुष्य' के स्थान पर ब्राह्मणादि पदों में से किसी का निर्देश किया जा सकता था।

इस सूत्र (१।३।३८) को न समझकर पौराणिक आचार्यों ने अपनी दूषित भावना को आरोपित कर इतना बड़ा अनर्थ कर डाला कि उसके कारण वैदिकधर्माभिमानी लोगों को सभ्य मानवसमाज में मुँह दिखाना मुश्किल हो गया। शूद्रकुल में जन्म लेने के कारण किसी के वेदाध्ययन का अधिकारी न होने का सूत्र में संकेत तक नहीं है। इतना ही नहीं, ब्रह्मसूत्र के रचयिता महर्षि वेदव्यास के प्रमुख शिष्य जैमिनि ने भी अपने मीमांसाशास्त्र में **'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** (१।२।१६) इस सूत्र के द्वारा वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र का अधिकार स्पष्ट स्वीकार किया है। सबसे अधिक खेद और आश्चर्य का विषय यह है कि **'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च'** इस सूत्र के मिथ्यार्थ के प्रयोजक एवं प्रचारक चराचर जगत् (जिसमें द्विजों के साथ शूद्र भी सम्मिलित हैं) को एक ब्रह्म का ही रूप माननेवाले आदि शंकराचार्य थे। उक्त सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होंने लिखा है—**"इतश्च न शूद्रस्याधिकारः यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति। वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति। 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम् इति।' अत एवाध्ययनप्रतिषेधः यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधीयीत ? भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। अतएव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति—'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति, 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति च॥"**

---

१. अथ हेति वाक्यालंकारे। उपश्रुत्य बुद्धिपूर्वमक्षरग्रहणमुपश्रवणम्। अस्य शूद्रस्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां त्रपुणा जतुना च द्रवीकृतेन श्रोत्रे प्रतिपूरयितव्ये। उपश्रवणशब्देन यदृच्छया ध्वनिमात्रश्रवणे न दोषः। स चेद् द्विजातिभिः सह वेदाक्षराण्युदाहरेदुच्चरेत्। तस्य जिह्वा छेद्या। धारणे सति यदान्यत्र गतोऽपि स्वयमुच्चारयितुं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर वेदविद्या को सुनाकर सबको प्रिय होवो। **(अयं मे कामः समृध्यताम्)** जैसे यह वेदों का प्रचाररूप मेरा काम संसार के बीच में यथावत् प्रचरित होता है, इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो, कि जिससे उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे। **(उप मादो नमतु)** जैसे मुझमें

अर्थात्—इससे भी शूद्र का वेदाध्ययन में अधिकार नहीं है, क्योंकि स्मृति उसके श्रवण, अध्ययन और अर्थ का निषेध करती है। स्मृति में शूद्र के लिए वेद के श्रवण, अध्ययन और वेदार्थ के ज्ञान एवं अनुष्ठान का निषेध है। इसलिए समीप से वेद का श्रवण करनेवाले शूद्र के कानों को पिघले हुए सीसे और लाख से भर दे। शूद्र चलता-फिरता श्मशान है, इसलिए शूद्र के समीप अध्ययन नहीं करना चाहिए, जिसके समीप भी अध्ययन नहीं करना चाहिए वह बिना सुने अध्ययन कैसे कर सकता है? यदि शूद्र वेद का उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट देनी चाहिए और यदि वेद को याद करे तो उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने चाहिएँ। इसी हेतु से कि शूद्र के लिए अध्ययन एवं अनुष्ठान का निषेध है, ब्राह्मण को चाहिए कि शूद्र को ज्ञान न दे। अध्ययन, यज्ञ और दान का विधान केवल द्विजों के लिए है।[१]

रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि सभी पौराणिक आचार्यों ने आद्य शंकराचार्य के मत की ही पुष्टि की है, परन्तु ये सब अर्थ निकृष्ट एवं अवैदिक विचारधारा के परिचायक हैं। आर्ष साहित्य में कहीं से भी इनका समर्थन नहीं होता।

ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश में **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः'** लोक में प्रचलित इस वचन को उद्धत कर स्पष्ट किया है कि यह वचन न वेद का है और न किसी अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ का। **'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्'** इस रूप में इसे 'मीमांसा न्यायप्रकाश' के टीकाकारों ने 'रथकार का अग्न्याधान में अधिकार' प्रकरण के अन्त में उद्धृत किया है, किन्तु **'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'** मनु० २।१३) के रहते **'यथेमां वाचमित्यादि'** साक्षात् श्रुतिवचन के विरुद्ध किसी ग्रन्थ के टीकाकार के कथन का प्रामाण्य नहीं हो सकता। **'प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये'** (अथर्व० १९-६२-१) वेद 'ता सबके प्रिय कल्याण को देखने का आदेश देता है। ऐसा आदेश कर स्वयं वेद किसी मानव वर्ग को अपने में अनधिकृत बताये, यह सम्भव नहीं।

शक्नोति ततः परशवादिना शरीरमस्य भेद्यम् ।। गौतमधर्मसूत्र २।३।४

शूद्र के (अक्षरग्रहण करने की इच्छा से) वेदपाठ सुनने पर (पिघलाये गये) सीसे और जस्ते से उनके कान भर दिये जाएँ, (द्विजातियों के साथ) वेद के अक्षर का उच्चारण करने पर उसकी जीभ काट दी जाए तथा वेदमन्त्र धारण करने पर उसका शरीर काट दिया जाए।

—गौतमधर्मसूत्राणि, हिन्दीव्याख्याविभूषितहरदत्तकृतमिताक्षरावृत्तिसहितानि।

—चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी, १९६६।

१. The different methods of gaining salvation, meditation and devotion which lead to Brahma-knowledge are open to all. The restrictions with regard to Vedic study cannot be defended. If we take our stand on the potential divinity of all human beings, whatever be their caste or class, race or religion, sex or occupation, the methods of gaining release should be open to all. —Radhakrishnan : B. S. 1.3.38

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनन्त विद्या से सब सुख हैं, वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा, उसको भी मोक्ष तथा संसार-सुख प्राप्त होगा।

यही इस मन्त्र का अर्थ ठीक है, क्योंकि, इससे अगले मन्त्र 'बृहस्पते अति यदर्य०'[1] में भी परमेश्वर ही का ग्रहण किया है। इससे सबके लिए वेदाधिकार है ॥१॥

अथर्ववेद के अन्तर्गत **'स्तुता मया वरदा वेदमाता'** इत्यादि (१९।७१।१) मन्त्र से ऐसा प्रतीत होता है कि वेदमाता **'पावमानी द्विजानाम्'** द्विजों को ही पवित्र करनेवाली और उन्हीं को अनेकविध ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली है, शूद्रों के लिए उसका कोई उपयोग नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि द्विजेतर शूद्रादि का वेदाध्ययन में कोई अधिकार नहीं है। इस विषय में यह जानना आवश्यक है कि जिसका दो बार जन्म होता है वही द्विज कहाता है। प्रत्येक मनुष्य का एक बार माता के गर्भ से जन्म होता है। तदनन्तर आचार्य के गर्भ से उसका दूसरी बार जन्म होता है। गुरुकुल में प्रविष्ट कराते समय बालक के माता-पिता आचार्य से कहते हैं—**"आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् यथेह पुरुषोऽसत्"**(यजु० २-३३) इस प्रकार आचार्य बालक को अपने गर्भ में धारण करता है। आचार्यकुल में रहते हुए पूर्णविद्या प्राप्तकर जब वह वहाँ से स्नातक बनकर निकलता है तो वह उसका दूसरा जन्म होता है। तब उसको द्विज संज्ञा होती है। इस प्रकार ज्ञानसम्पन्न द्विजसंज्ञक व्यक्ति को ही उन पदार्थों की प्राप्ति होती है जिनका उल्लेख उक्त मन्त्र में किया गया है। विद्या-प्राप्ति का अवसर पाना प्रत्येक बालक का जन्मसिद्ध मौलिक अधिकार है। इसलिए गुरु के पास जा उपवीत होकर अध्ययन करने में किसी के लिए बाधा नहीं है, किन्तु अवसर पाकर भी जो उससे लाभ नहीं उठा पाया और विद्या पूर्ण किये बिना ही गुरुकुल से भाग खड़ा होता है वह द्विज नहीं कहाता और इस प्रकार उक्त मन्त्र में उल्लिखित पदार्थों से वंचित रहता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् (१।४।९) में कहा है—**"तदाहुर्यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद् ब्रह्माऽवेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति।"** इसपर सायणाचार्य ने बृहद्० वार्तिकसार में लिखा है—**"मनुष्यमात्रो विद्यायामधिकारी भवेद् ध्रुवम्। यतोऽतः सर्वभावाप्तिमनुष्या इत्युदीरितम्"** अर्थात् यतः निश्चयपूर्वक मनुष्यमात्र विद्या का अधिकारी है, अतः बृहद्० में **'मनुष्या'** कहा गया है। **'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः'** (तै० सं० ७।१।१।६) इत्यादि प्रसंग ऐसे व्यक्तियों के लिए हैं जो प्रयत्न करने पर भी वेदाध्ययन नहीं कर पाये। इसी कारण मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते, पर यज्ञों के अवसर पर मन्त्रों के अनाप-शनाप उच्चारण का दुस्साहस करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को मन्त्रोच्चारयिता के रूप में यज्ञों में भाग लेने का निषेध है। यह निषेध शूद्रवर्ण के विद्यानधिकार का प्रयोजक नहीं है। विद्याध्ययन आदि के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अवसर दिया जाना शास्त्रसम्मत है।

यह कहा जाता है कि मधुच्छन्दा आदि वेदद्रष्टा ऋषियों की परम्परा में किसी शूद्र ऋषि का सम्भव न होने से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मविद्या एवं वेदाध्ययन आदि में मनुष्यमात्र का अधिकार शास्त्र-सम्मत नहीं है। यहाँ पर विचारणीय है कि वेदद्रष्टा शूद्र कैसे हो सकता है? जो वेदद्रष्टा है, उसे शूद्र कैसे कहा जा सकता है और जो शूद्र है वह वेदद्रष्टा कैसे हो सकता है? वस्तुतः 'ब्राह्मण' आदि पद गुणशब्द हैं किन्हीं विशिष्ट गुणों के वाचक होने से इन पदों का प्रयोग समाज के विभिन्न वर्गों के लिए होता है। जो बालक गुरु या आचार्य के पास जाकर उपनीत हो, वेदादि के अध्ययन में सफल नहीं होता

---

१. यजुः० २६।३ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णाश्रमा अपि गुणकर्माचारतो हि भवन्ति। अत्राह मनुः—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च ॥१॥

—मनु० अ० १० : श्लो० ६५ ॥

भाष्यम्—शूद्रः[1] पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणभावं प्राप्नोति, योऽस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव। एवमेव कुचर्य्याऽधर्माचरणनिर्बुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापर-सेवादिशूद्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मणश्चेत् स शूद्रतामेति शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव। एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रिया-दुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम्। अर्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव ॥१॥

अथवा प्रत्येक प्रयास किये जाने पर भी अपने अध्ययनक्रम को पूरा नहीं कर पाता, वह शूद्र कहाता है। ऐसा व्यक्ति वेदद्रष्टा ऋषि कैसे हो सकता है? तथापि इससे वेदादि में उसका अधिकार नष्ट नहीं होता, वह बराबर बना रहता है। यदि भावी जीवन में किसी भी समय उसके कोई प्रबल संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं तो वह वेदाध्ययन में प्रवृत्त हो सकता है। यदि वेद का अध्ययन न भी कर सके तो भी ऐसा व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासा की उत्कट भावना होने पर उस दिशा में प्रवृत्त होने का पूर्ण अधिकारी है।

यदि 'शूद्र' से अभिप्राय शूद्रकुलोत्पन्न व्यक्ति से हो तो कवष, ऐलूष आदि अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम मिलते हैं जिन्होंने शूद्रकुल में उत्पन्न होकर ऋषित्व को प्राप्त किया। वेद पढ़ने का अधिकार न होता तो वेद कैसे पढ़ते और पढ़े बिना मन्त्रों का अर्थात् मन्त्रार्थ का दर्शन कैसे करते? ब्राह्मणग्रन्थ वेद के व्याख्याग्रन्थ हैं। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का रचयिता दासीपुत्र महीदास था। शूद्रकुलोत्पन्न मातङ्गादि अनेक ऋषियों की ब्राह्मणत्व प्राप्ति इतिहास में प्रसिद्ध है।[3] परन्तु वेदज्ञान के बिना ब्राह्मणत्व प्राप्ति सम्भव नहीं। इस प्रकार भी वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र का अधिकार स्वतः सिद्ध है।

यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाए कि वेदाध्ययन का अधिकार द्विजमात्र को है, शूद्र को नहीं तो वर्णव्यवस्था के गुणकर्मस्वभावाश्रित होने से कोई भी शूद्र ब्राह्मणोचित गुणों का विकास कर ब्राह्मणत्व को प्राप्त करके वेदाध्ययन का अधिकारी बन जाएगा।

'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्' तथा **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्'** जैसे मिथ्या एवं कल्पित वचनों के आधार पर शूद्रों के साथ-साथ स्त्रियों के वेदाध्ययन पर ही नहीं, अध्ययनमात्र पर प्रतिबन्ध लगाने की कुत्सित प्रवृत्ति भी यत्र-तत्र देखी जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में एक प्रसंग आया है **"अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत"** (६।४।१७) अर्थात् यदि पिता चाहता है कि मेरी लड़की पण्डिता बने तो इत्यादि। इस प्रसंग का अर्थ करते हुए स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं **"पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमेव वेदे अनधिकारात्"** अर्थात् यहाँ पाण्डित्य का अर्थ घरेलू कामकाज ही है, क्योंकि उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। आचार्य के इस कथन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि लड़कियों को गृहविज्ञान (Home Science) पढ़ने का अधिकार है। जब शूद्रों और अतिशूद्रों को भी वेदाध्ययन का अधिकार शास्त्रसम्मत

---

१. शूद्रकुलोत्पन्न इति भावः। २. ब्राह्मणकुलोत्पन्न इति भावः।

३. इस विषय का विस्तृत विवेचन श्री उदयवीर शास्त्रीकृत 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' (१।३।३३) में उपलब्ध है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवमेवापस्तम्बसूत्रे[1]ऽप्यस्ति—

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥१॥

अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥२॥

—प्रश्न २। पटल ५। खं० ११। सू० १०, ११

भाष्यम्—सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते, समन्तात् प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः। जातिपरिवृत्तावित्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोतीति ॥१॥

एवमेवासत्यलक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो जघन्यं स्वस्मादधः स्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते, जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत्, अर्थाद् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति, एवमेवाधर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेश्चेति ॥२॥

यत्र-यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः—शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वाद् विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात् तस्याध्यापनं श्रावणं च व्यर्थमेवास्ति, निष्फलत्वादिति।

है, तो स्त्रियों ने ही क्या अपराध किया है? 'यथेमां वाचमित्यादि' मन्त्र में 'जन' पद स्त्री-पुरुष दोनों का वाचक है। सामान्यतः शास्त्र में विधि-निषेध परक जो भी वचन हैं, वे स्त्री-पुरुष दोनों के लिए हैं। दण्डविधान में जितनी धाराएँ हैं पुल्लिग में होने पर भी स्त्रियों पर भी लागू होती हैं। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'पुमान् स्त्रिया' (१।२।६७) इस सूत्र में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। फिर द्विजपत्नी होने से उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार स्वतः प्राप्त है। पूर्वकाल में स्त्रियों का उपनयन-संस्कार होता था और वे गुरुजनों से वेदों का विधिवत् अध्ययन करती थीं। निर्णयसिन्धु के तृतीय परिच्छेद में लिखा है—

पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च ॥

गोभिलीय गृह्यसूत्र (२।१।१९-२१) में लिखा है—'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम् अभ्युदानयन् जपेत् सोमोऽददत् गन्धर्वाय इति'—अर्थात् कन्या को कपड़ा पहने हुए और यज्ञोपवीत पहने हुए पति के पास लाये तथा यह मन्त्र पढ़े—'सोमोऽददत्।' इससे स्पष्ट है कि विवाह के समय कन्या का उपवीत होना अनिवार्य है।

हारीत संहिता में स्त्रियों के दो भेद किये हैं—'ब्रह्मवादिन्यः' तथा 'सद्योवध्वः'। पराशर संहिता के प्रसिद्ध भाष्यकार पण्डितप्रवर मध्वाचार्य ने इसकी टीका में लिखा है—"द्विविधा स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनाम् उपनयनं अग्निबन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षा इति। वधूनाम् तु उपस्थिते विवाहे कथंचित् उपनयनं कृत्वा विवाहः कार्यः।' अर्थात् स्त्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक वे ब्रह्मवादिनी जिनका उपनयन होता है, जो अग्निहोत्र करती हैं, वेदाध्ययन करती हैं, अपने परिवार में ही भिक्षावृत्ति से रहती हैं और दूसरी वे जिनका शीघ्र ही विवाह होना होता है। इन

---

१. 'धर्मसूत्रे' इत्यभिप्रायः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावार्थ—वर्णाश्रमव्यवस्था भी गुणकर्मों के आचारविभाग से होती है। इसमें मनुस्मृति का भी प्रमाण है कि—(**शूद्रो ब्राह्मणता॰**) शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, अर्थात् गुणकर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो, तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है। वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना।

जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का अधिकार न होता, तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता? इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पच्चीसवें वर्ष वर्णों का अधिकार ठीक-ठीक होता है, क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती है। इसलिए उसी समय गुण कर्मों की ठीक-ठीक परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है।

स्त्रियों का भी जिनका शीघ्र ही विवाह होना होता है, जैसे-तैसे उपनयन करके ही विवाह करना चाहिए।

कादम्बरी महाकाव्य में महाकवि वाणभट्ट ने (जो सातवीं शताब्दी के ऐतिहासिक राजा हर्षवर्धन की सभा के रत्न थे), महाश्वेता का वर्णन करते हुए लिखा है—'**ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्**' अर्थात् जिसका शरीर ब्रह्मसूत्र के धारण करने से पवित्र था। ब्रह्मसूत्र यज्ञोपवीत का ही दूसरा नाम है।

स्त्रियों के उपनयन में स्वयं वेद का प्रमाण है—'**भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता**' (ऋ॰ १०।१०९।४)। उपनयन के साथ ही यज्ञ में अधिकार हो जाता है। श्रौतसूत्रादि में लिखा है—'**इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्**' अर्थात् यज्ञ में इस मन्त्र को पत्नी पढ़े। ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—"जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे, तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण[1] और संस्कृतभाषण कैसे कर सके?" आश्वलायनश्रौतसूत्र (१।११) में लिखा है—'**पत्नी वाचयति मेध्यामेवैनां करोति वेदं पत्यै प्रदाय वाचयेद्धोताऽध्वर्युर्वा वेदोऽसि वित्तिरसि**'। इसी विषय में तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।६।५।६) का वचन है—'**यत्पत्नी पुरोऽनुवाक्यमनुब्रूयात्**'। पत्नी द्वारा मन्त्रवाचन तभी सम्भव है जब वह वेदाध्ययन में पारङ्गत हो[2] क्योंकि मीमांसाशास्त्र का स्पष्ट आदेश है—'**ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति**'। अर्थात् विद्वान् से मन्त्रपाठ कराए, अज्ञानी से मन्त्रपाठ कराना शास्त्रविरुद्ध है।

प्राचीन काल में गार्गी, मैत्रेयी आदि अनेक ब्रह्मवादिनी हो चुकी हैं। वैदिक साहित्य में इनका पर्याप्त उल्लेख मिलता है। अदिति, लोपामुद्रा आदि के नाम मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। जनक की सभा में महर्षि याज्ञवल्क्य के सामने जब सब विद्वान् परास्त हो गये तो वाचक्नवी गार्गी ने कितने आत्मविश्वास और गर्व के साथ कहा था—"**ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि**

---

१. यज्ञ में जप-मन्त्र, न्यूङ्ख (=१६ ओंकार) और सामगान के सस्वर उच्चारण का विधान है। इनसे भिन्न मन्त्र यज्ञ में एकश्रुति स्वर से बोले जाते हैं। द्र॰ **यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु**। (अ॰ १।२।३४) श्रौतसूत्रों में भी ऐसा ही विधान देखा जाता है।

२. जिस समय राम अपने वनगमन की सूचना देने माता के महल में पहुँचे तो कौसल्या—'**अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला**।' मन्त्रोच्चारणपूर्वक वह अग्निहोत्र कर रही थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा आपस्तम्बसूत्र में भी ऐसा लिखा है—(**धर्मचर्यया०**) अर्थात् धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व-पूर्व वर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं। सो केवल कहने ही मात्र को नहीं, किन्तु जिस जिस वर्ण को जिन-जिन कर्मों का अधिकार है, उन्हीं के अनुसार (**आपद्यते जातिपरिवृत्तौ**) वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥१॥

(**अधर्मचर्यया०**) तथा अधर्माचरण करके पूर्व-पूर्व वर्ण नीचे-नीचे के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के पढ़ने-सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है ॥२॥

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः

तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति।" अर्थात् - हे ब्राह्मणों ! मैं याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूँगी। यदि उन्होंने उत्तर दे दिया तो आपमें से कोई इस ब्रह्मवेत्ता को न जीत सकेगा।

मण्डनमिश्र और शंकराचार्य के बीच हुए शास्त्रार्थ की मध्यस्थता मण्डनमिश्र की पत्नी भारतीदेवी ने की थी। शंकरदिग्विजय में भारतीदेवी के विषय में लिखा है—

शास्त्राणि सर्वाणि षडङ्गवेदान् काव्यादिकान् वेत्ति यदत्र सर्वम् ॥

अर्थात् भारतीदेवी छह शास्त्रों तथा छह अंगों सहित चारों वेदों और सम्पूर्ण काव्यादि ग्रन्थों को जानती थी। इतना ही नहीं, '**तन्नास्ति न वेत्ति यदत्र बाला**'। ऐसा कोई विषय नहीं था जिसका उसे ज्ञान न हो। मण्डनमिश्र से तो शंकराचार्य जीत गये, परन्तु भारतीदेवी के सामने उन्हें निरुत्तर होना पड़ा था। काशी में रहते हुए शंकर को एक मेहतरानी से हुए संवाद में पराजित होकर लज्जित होना पड़ा था। नारी के हाथों हुए इस अपमान को शंकर भूल न सके। 'प्रश्नोत्तरी' में सम्पूर्ण स्त्री जाति के विरुद्ध जो भयंकर विषवमन उन्होंने किया उसके मूल में यही कारण प्रतीत होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या स्थानप्रयत्नस्वर[1]ज्ञानायाक्षरोच्चारणोपदेशः कर्त्तव्यः । येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात् । तद्यथा—'प' इत्यस्योच्चारणमोष्ठौ संयोज्यैव कार्य्यम् । अस्यौष्ठौ स्थानं, स्पृष्टः प्रयत्न इति वेद्यम् । एवमेव सर्वत्र ।

अत्र महाभाष्यकारः पतञ्जलिमहामुनिराह—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।।

—महाभा० अ० १ । पा० १ । आ० १ ।।

पठनपाठनविषयः

वेदाङ्गों में प्रथम अङ्ग शिक्षा है । इसी को 'वर्णोच्चारणशिक्षा' के नाम से अभिहित किया गया है । वर्णों के शुद्ध उच्चारणार्थ वर्णों को बोलने के स्थान तथा प्रयत्न का विशेष महत्त्व है । कण्ठ, तालु आदि के रूप में वर्णों के बोलने के ८ स्थान है—'अष्टौ स्थानानि, वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च'—शिक्षा० १३ । प्रयत्न दो प्रकार का होता है—अभ्यन्तर तथा बाह्य । अभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का तथा बाह्य प्रयत्न ११ प्रकार का होता है । शुद्ध उच्चारण के लिए सभी वर्णों के स्थान-प्रयत्न नियत हैं । अन्यथा बोलने पर निश्चय ही अशुद्ध उच्चारण होगा । उदाहरणार्थ स, श, ष इन तीनों वर्णों का स्थान क्रमशः दन्त, तालु व मूर्धा हैं । इसी आधार पर इनका नाम दन्त्य, तालव्य व मूर्धन्य है । इसका ध्यान न रखकर कुछ लोग 'शेर' को 'सेर', 'शान्ति' को 'सान्ति', 'शास्त्री' को 'सास्त्री' (सा स्त्री = वह स्त्री) 'ऋषि को रिसि' अथवा 'नाश' को 'नास' बोलते हैं । वस्तुतः वर्णों का शुद्ध उच्चारण व्याकरण के जाने बिना सम्भव नहीं । इसीलिए कहा है—

यद्यपि नाधीषे बहु तथापि पठ पुत्र व्याकरणम् ।
स्वजनः श्वजनो नाभूत् शकलं सकलं सकृत् शकृत् ।।

सामान्य व्यवहार में प्रचलित 'ज्ञान' को 'ग्यान' और 'यज्ञ' को यग्य बोलना अशुद्ध है । ये दोनों शब्द 'ज्+ञान तथा यज्+ञ' ध्वनियों के मेल से बने हैं, अतः इनका उच्चारण इस प्रकार होना चाहिए जिसमें उक्त ध्वनियाँ स्पष्टतः सुनाई पड़ें । पुरानी पीढ़ी अथवा पौराणिक परम्परा के पण्डित 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' को 'सहस्रशोर्खा पुरुखः' कहते हैं जो सर्वथा अशुद्ध है । उत्तर प्रदेश निवासी

---

१. स्वर उदात्तादिरूपः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽक्षराणां यथावत् प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति। यथा गानकर्त्ता षड्जादिस्वरालापनेऽन्यथोच्चारणं कुर्य्याच्चेत् स तस्यैवापराधो भवेत्, तद्वद् वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्त्तव्यम्। अन्यथा दुष्टः शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति। यथावदुच्चारणमुल्लङ्घ्योच्चारिते शब्दे वक्तुरपराध एव विज्ञायते—त्वं मिथ्याप्रयोगं कृतवानिति। नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभिप्रेतमर्थमाह। तद्यथा—

सकलम्-शकलम्, सकृत्-शकृदिति। सकलशब्दः सम्पूर्णार्थवाची, शकल इति खण्डवाची च। एवं सकृदित्येकवारार्थवाची, शकृदिति मलार्थवाची च। अत्र सकारोच्चारणे कर्त्तव्ये शकारोच्चारणं क्रियते चेद्, एवं शकारोच्चारणे कर्त्तव्ये सकारोच्चारणं च, तदा स शब्दः स्वविषयं नाभिधत्ते। स वाग्वज्रो भवति। यमर्थम्मत्वोच्चारणं क्रियते, स शब्दस्तदभिप्रायनाशको भवति। तद्वक्तारं यजमानं तदधिष्ठातारं च हिनस्ति, तेनार्थेन हीनं करोति। यथेन्द्रशत्रुरयं शब्दः स्वरस्यापराधाद् विपरीतफलो जातः। तद्यथा—

इन्द्रः सूर्य्यलोकस्तस्य शत्रुरिव मेघः। अत्र इन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषसमासार्थमन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्युदात्तकरणाद् बहुव्रीहिः समासः कृतो भवति। अस्मिन् विषये तुल्ययोगितालङ्कारेण मेघसूर्य्ययोर्वर्णनं कृतमिति, ततोऽर्थवैपरीत्यं जायते। उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति। तत्र यस्येच्छा सूर्य्यस्य ग्रहणेऽस्ति, तेनेन्द्रशत्रुशब्दः तत्पुरुषसमासेनान्तोदात्त उच्चारणीयः। यस्य च मेघस्य तेन बहुव्रीहिसमासमाश्रित्याद्युदात्तस्वरश्चेति नियमोऽस्ति। अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते, अतः करणात् स्वरोच्चारणं च यथावदेव कर्त्तव्यमिति॥१॥

'स्कूल' को 'इस्कूल' और पंजाब व हरियाणा निवासी 'सकूल' बोलते हैं। दोनों का ही उच्चारण अशुद्ध है। उच्चारणदोष के कारण हरियाणा के शिक्षामन्त्री के मुख से 'प्रदेश' को 'परदेस' और बिहार के उपशिक्षामन्त्री के मुख से 'स्पष्ट' को 'अस्पष्ट' सुनकर लोग दाँतों तले अंगुली दबाकर रह गये। 'प्रधान' 'धर्म' 'श्रद्धा' 'परन्तु' को परधान, धरम, सरधा, प्रन्तु कहना तो आम बात है। इस प्रकार के अशुद्ध उच्चारण से बचने के लिए वर्णोच्चारण शिक्षा को वेदाङ्गों में प्रथम स्थान दिया है।

अशुद्ध उच्चारण से निःसृत शब्द को पतञ्जलि मुनि ने 'दुष्ट' शब्द कहा है। इसके विपरीत स्थान और प्रयत्न के ठीक योग से उच्चारित शब्द 'साधु' कहाता है। दुष्टशब्द—चाहे उदात्तादि रूप स्वरदोष के कारण हो और चाहे किसी वर्ण के अन्यथा प्रयोग के कारण हो—वक्ता के उपहास और अपमान का कारण होता है। महाभाष्य में उसे 'वाग्वज्र' की संज्ञा दी है—मानों दुष्ट शब्द का उच्चारण करनेवाले की हत्या कर देता है। 'स्वजन' (अपने प्रिय बन्धु) को 'श्वजन' (कुत्ता) कहनेवाले की पिटाई हुए बिना नहीं रहेगी। महाभाष्यकार ने इस बात को एक आख्यान के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। देवताओं ने यज्ञ किया और उसमें **'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'** कहकर आहुतियाँ दीं। **'इन्द्रशत्रु'** इस समस्त पद का विग्रह करने पर 'इन्द्र है शत्रु जिसका'=बहुव्रीहि तथा इन्द्र का शत्रु=षष्ठी तत्पुरुष इस प्रकार ये दोनों समास बनते हैं। स्वरभेद से बहुव्रीहि के स्थान पर तत्पुरुष और तत्पुरुष के स्थान पर बहुव्रीहि समास के रूप में उच्चारण किये जाने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है—अभीप्सित अर्थ से विपरीत अर्थ बन जाता है। अन्तोदात्त स्वर तत्पुरुष समास का होता है। तत्पुरुष समास में उत्तरपद की प्रधानता होती है। अतः अन्तोदात्त उच्चारण करने पर वृत्र की वृद्धि मानी जाएगी। इसी प्रकार इन्द्रशत्रु पद आद्युदात्त स्वरवाला बहुव्रीहि समास में पूर्वपद प्रकृति स्वर से होता है। यद्यपि बहुव्रीहि में उत्तरपद का प्राधान्य होने से 'इन्द्र=सूर्य शत्रु=शातयिता है जिस वृत्त=मेघ का'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—पठनपाठन के आदि में लड़कों और लड़कियों को ऐसी शिक्षा करनी चाहिए कि वे स्थान, प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सबको प्रिय लगें। जैसे 'प' इसके उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिए, एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का। पकार का उच्चारण ओठों से होता है, परन्तु दो ओठों को ठीक-ठीक मिलाके ही पकार बोला जाता है। इसका ओष्ठ-स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यञ्जन मिला हो, तो उसका भी उसी-उसी स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है। इनका सब विधान व्याकरण और शिक्षाग्रन्थ में लिखा है।

यहाँ मेघार्थ की ही प्रधानता प्रतीत होती है, पुनरपि बहुव्रीहि के विग्रह से 'इन्द्र=सूर्य शत्रु=शातयिता =नाश करनेवाला' है यह अर्थ जाना जाता है। इस अर्थ के द्वारा इन्द्र=सूर्य वृत्र का शत्रु=शातयिता नाशक और वृत्र=मेघ नष्ट होनेवाला है, यह स्पष्ट हो जाता है। नाशक और नष्ट होनेवाला, इन दोनों में नाशक ही श्रेष्ठ होता है। इसलिए बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ के प्रधान होने से 'इन्द्र शत्रु है जिसका' उस मेघ की वृद्धि होने पर भी इन्द्र का नाशयितृ धर्म तो व्यक्त हो ही जाता है, अतः सूर्य (इन्द्र) की उत्तमता=श्रेष्ठता बहुव्रीहि समास में ही सम्भव है।]

संगीत तो स्वर साधना का ही अपर नाम है—

योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।
रंजको जनचित्तानां स रागः कथ्यते बुधैः॥

भावों की अभिव्यक्ति के लिए स्वर, शब्द, ताल, लय, छन्द, गति आदि का समन्वित प्रयोग आवश्यक है। शान्ति, क्रोध, भय, विस्मय, हर्ष, दुःख—प्रत्येक स्थिति का द्योतक स्वर भिन्न होता है। सेना के युद्ध के लिए कूच करते समय तानसेन राग भैरवी नहीं गाएगा। एक अशुद्ध स्वर का प्रयोग होने पर गायक उपहास व अपमान का पात्र बन जाता है। राग आसावरी में आरोह में निषाद स्वर नहीं लगता। जौनपुर में हो रहे संगीत सम्मेलन में गायक से भूल से निषाद स्वर लग गया। संगीत विशारदों के बीच उपहास का पात्र बन जाने पर उसने यह कहकर अपनी झेंप मिटाई कि वह राग जौनपुरी गा रहा था।

वेद में स्वर विज्ञान का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और वह शिक्षाशास्त्र से ही जाना जाता है। स्वर अपने कौशल से किस प्रकार पुष्ट करते हैं, इसे एक लौकिक उदाहरण से समझा जा सकता है। एक व्यक्ति के पास एक ही समय में एक भिखारी और एक महाजन आते हैं। एक उससे भीख माँगता है, जबकि दूसरा उससे ऋण के तौर पर दिया गया अपना पैसा वापस माँगता है। दोनों के मुख से लगभग एक जैसे शब्द निकलने पर भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक के स्वर में करुणा या दीनता का भाव है तो दूसरे के स्वर में दर्प अथवा क्रोध है। दोनों के स्वरों में अन्तर जानना हो तो उन्हें सारंगी के स्वरों में निकालकर देखिए। दोनों की सरगम एक दूसरे से भिन्न होगी। आजकल संगीत-लिपि जिसे अंग्रेज़ी में नोटेशन कहते हैं, सर्वत्र प्रचलित है। वेदमन्त्रों पर अंकित स्वर अपने शब्द का अर्थ निश्चित करने में सहायक होते हैं।

क्या शिक्षाग्रन्थों में, क्या प्रातिशाख्यों में, क्या निरुक्त में और क्या पाणिनीय व्याकरण में सर्वत्र स्वर को ध्यान में रखकर अर्थ करने की प्रेरणा की गई है, परन्तु यह स्वर वेदार्थ में किस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर इस विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा है कि—स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने पर शब्द दुष्ट कहाता है, अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता तथा(**स वाग्वज्रो०**)जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के विना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेवाला नहीं होता, वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती, किन्तु गान का करनेवाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उल्टा कर देवे, तो वह अपराध उसी का समझा जाता है। इसी प्रकार वेदादि ग्रन्थों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिए और जो उल्टा उच्चारण किया जाता है, वह (**दुष्टः शब्दः**) दुःख देनेवाला और निरर्थक समझा जाता है। जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो, किन्तु उससे विपरीत किया जाए, तो वह दोष बोलनेवाले का गिना जाता है और विद्वान् लोग बोलनेवाले से कहते हैं कि 'तूने इस शब्द का शुद्ध उच्चारण नहीं किया। इससे यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता।'

जैसे 'सकल' और 'शकल' में देख लो, अर्थात् 'सकल' शब्द सम्पूर्ण का बोधक, और जो उसमें तालव्य का उच्चारण किया जाए, तो फिर खण्ड का वाचक हो जाता है। ऐसे ही 'सकृत्' और 'शकृत्' में दन्त्य सकार के उच्चारण से 'एकवार क्रिया' और उसी को तालव्य उच्चारण करने से 'विष्ठा' का बोध होता है। इसलिए शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीक-ठीक अर्थ का बोध होता है, क्योंकि विपरीत उच्चारण से वह वज्र के समान वक्ता के अभिप्राय का नाश करनेवाला होता है। सो यह दोष बोलनेवाले का ही गिना जाता है।

जैसे '**इन्द्रशत्रुः**' यहाँ इकार में उदात्तस्वर बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्य पदार्थ का बोध होता है, तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुषसमास और उत्तरपदार्थ का बोध हो जाता है,। सूर्य्य का इन्द्र और मेघ का वृत्रासुर नाम है। इसके सम्बन्ध में वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन तुल्ययोगिताऽलङ्कार से किया है, जो इन्द्र अर्थात् सूर्य्य की उत्तमता चाहे, वह समस्त पद के स्थान में अन्तोदात्त उच्चारण करे और जो मेघ की वृद्धि चाहे, वह आद्युदात्त उच्चारण करे। इसीलिए स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिए॥१॥

प्रकार सहायक होता है, इसे बहुत कम लोग जानते हैं। अनेकार्थक धातुओं से निष्पन्न शब्दों की अनेकार्थता ही वेदमन्त्रों की अनेकार्थता का कारण है और मन्त्रों की अनेकार्थता ही वेदों की अनन्तता में हेतु है, परन्तु वेदों में पठित शब्दों का नियमन स्वरविज्ञान के बिना नहीं हो सकता। 'मा' पद का अर्थ निषेधात्मक 'न' भी है और 'माम्' (मुझको) भी है। कहाँ कौन सा अर्थ अभीष्ट है, इसका निर्धारण स्वर के द्वारा होगा। अनुदात्त होने पर वह सर्वनाम 'माम्' का बोधक होगा और उदात्त होने पर निषेधात्मक 'न' का वाचक होगा।

ऋग्वेद (१०।१५।१४) की व्याख्या करते हुए ग्रीफ़िथ ने प्रथमा एकवचन 'स्वराट्' (अन्तोदात्त) को 'स्वराट्' (आद्युदात्त) समझकर सम्बोधन का रूप मानकर व्याख्या की। ऐसी ही भूल विलसन ने 'प्रथमजा ब्रह्मणः' का अनुवाद करने में की। पौराणिक चतुर्मुख ब्रह्मा वेद में नहीं है। यदि ऐसा अभिप्रेत होता तो 'ब्रह्मणः' मध्योदात्त (पुंल्लिङ्ग) होता, किन्तु स्वर बता रहा है कि यहाँ 'ब्रह्मणः' आद्युदात्त होने से नपुंसकलिंग का रूप है। स्वर से लिंग बदल जाता है। लौकिक संस्कृत में नपुंसक

---

१. 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' वाक्य में। वृद्धि=उत्तमता, श्रेष्ठता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थयोजनादीनामपि शिक्षा कर्त्तव्यैव। अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति। परन्तु यो न पठति तस्मात् त्वयं पाठमात्रकार्य्यप्यु- त्तमो भवति। यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः। यश्चैवं वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति, स उत्तमतमः। अत्र प्रमाणानि—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इतद्विदुस्त इमे समासते ॥२॥

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥३॥

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥४॥

'मित्रं' का अर्थ सुहृद होता है, किन्तु पुंल्लिग मित्रः का अर्थ सूर्य होता है। नपुंसक 'भूमन्' सृष्टि का वाचक है तो 'पुंल्लिग भूमन्' महिमा या बहुत्व का। स्वरभेद के कारण ही 'ते' (तत् का प्रथमा ब०व०) का अर्थ 'वे सब' है तो 'ते युष्मदन्वादेश' का अर्थ तेरा या तुझे है। 'ज्येष्ठ' और 'कनिष्ठ' पद यदि आद्युदात्त होंगे तो उनका अर्थ आकार में छोटे-बड़े होगा, परन्तु यदि अन्तोदात्त होंगे तो आयु में छोटे-बड़े अर्थ होगा। 'सुकृत' शब्द जब आद्युदात्त होगा तो 'अच्छी प्रकार किया हुआ' के अर्थ में विशेषण होगा, परन्तु जब अन्तोदात्त होगा तो वही 'अच्छा कार्य' के अर्थ में संज्ञा होगा।

व्यावहारिक ज्ञान के बिना शिक्षा अधूरी है। प्रायः देखा जाता है कि परीक्षाओं में अच्छे अंक प्राप्त कर ऊँची-से-ऊँची उपाधियाँ प्राप्त करनेवाले व्यक्ति भी व्यवहारशून्य होते हैं। जो व्यक्ति पढ़-लिखकर भी समाज में उठने, बैठने बातचीत करने, खाने-पीने का ढंग नहीं जानता, उसे सभ्य समाज में लज्जित होना पड़ता है। ऐसा व्यक्ति पूर्णतः शिक्षित नहीं माना जा सकता। इसीलिए पठनपाठन विषय के अन्तर्गत यहाँ लड़के-लड़कियों की बोलचाल, खान-पान, पढ़ने-विचारने, अपनी कहने और दूसरों की सुनने आदि बातों की शिक्षा पर बल दिया गया है। अभ्यस्त न होने के कारण अनेक मेधावी छात्र विषय का ज्ञान होने पर भी अपने विचार प्रस्तुत नहीं कर पाते और इस प्रकार जीवन की दौड़ में पिछड़ जाते हैं। भाषण का अर्थ सार्वजनिक सभा में मंच से व्याख्यान देना ही नहीं, चार आदमियों में बैठकर वार्तालाप करना भी है। इसी को आज-कल शिष्टाचार (Manners and etiquette) के नाम से पुकारा जाता है। शिक्षाधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वे पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय उसमें व्यावहारिक शिक्षा का प्रावधान करें। इसी प्रकार शिक्षकों का भी कर्त्तव्य है कि वे यथावसर छात्रों को इससे अवगत करते रहें।

पढ़नेवालों को तीन कोटियों में विभक्त किया गया है—उत्तम, उत्तमतर तथा उत्तमतम[1]। जो केवल पाठमात्र करता है किन्तु उसका अर्थ नहीं जानता वह उत्तम है, क्योंकि कुछ भी न करने-

---

१. उत्तमशब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम्, तस्मादातिशायिकौ तरप्तमपौ प्रत्ययौ। उत्तमस्याव्युत्पन्नत्वं महाभाष्ये (४।१।७८) स्वीकृतम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥५॥
उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥६॥
ऋ० मण्ड० १० । सू० ७१ । मं ४, ५ ॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—अत्रार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति ।

(ऋचो अक्षरे०) **यस्मिन् विनाशरहिते परमोत्कृष्टे व्योमवद् व्यापके ब्रह्मणि चत्वारो वेदाः पर्य्यवसितार्थाः सन्ति । ऋगुपलक्षणं चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम् । तत् किम् ? ब्रह्मेति । अत्राह—यस्मिन् विश्वे देवाः=सर्वे विद्वांसो मनुष्या इन्द्रियाणि च, सूर्य्यादयश्च सर्वे लोका अधिनिषेदुर्यदाधारेण निषण्णाः स्थितास्तद् ब्रह्म विज्ञेयम् ।** (यस्तं न वेद०) **यः खलु तं न जानाति, सर्वोपकारकरणार्थायामीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्त्तते, स पठितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति । नैवायं कदाचिद् वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः ।** (य इत्तद्विदुस्त इमे समासते) **ये चैवं तद् ब्रह्म विदुस्त एव धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं सम्यक् प्राप्नुवन्ति । तस्मात् सार्थकमेव वेदादीनामध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥२॥**

वाले से तो वह निश्चय ही अच्छा है । अर्थज्ञानपूर्वक पढ़नेवाला उत्तमतर कहाता है । और जो अर्थ सहित पढ़कर तदनुसार आचरण के द्वारा उसे आत्मसात् कर लेता है, वह उत्तमतम कोटि का मनुष्य है । शब्द का प्रयोजन किसी अर्थ का बोध कराना होता है । जिस शब्द से वक्ता तथा श्रोता को किसी अर्थ का बोध न हो वह निरर्थक अथवा व्यर्थ कहाता है । आचारशास्त्र में निरर्थक, अपार्थक अथवा व्यर्थ शब्दों के बोलने का निषेध है । इसलिए जो व्यक्ति अर्थ को जाने बिना शब्दों को केवल रट लेता है, उसे कोई विशेष लाभ नहीं होता । ऐसे व्यक्ति के लिए सुश्रुत (सूत्रस्थान, अध्याय ४) में लिखा है—

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद् वहन्ति ॥

अर्थात्—जैसे चन्दन का भार ढोनेवाला गधा इतना ही जानता है कि उसपर भार लदा है, यह नहीं कि उसे चन्दन जैसी अमूल्य तथा उपयोगी वस्तु प्राप्त है, वैसे ही अनेक शास्त्रों को पढ़कर भी अर्थज्ञान की दृष्टि से मूढ़ मनुष्य गधे की भाँति अपनी स्मृति में शब्दों का भार ही ढोते हैं । अर्थज्ञान के अभाव में उससे मिलनेवाली सुगन्धि से वंचित रहते हैं । इसके विपरीत अर्थज्ञानपूर्वक वेदपाठ करते हुए तदनुकूल आचरण के द्वारा मनुष्य अमर हो जाता है । फिर भी, जो मनुष्य वेदार्थ से अनभिज्ञ होकर भी केवल मन्त्रपाठ करता है, वह उसकी अपेक्षा अच्छा है जो पाठमात्र भी नहीं करता । निरुक्त १।१८ में इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा है—**'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह'**—ऋषियों ने अर्थज्ञान को वाणी का फल कहा है, अतः अर्थज्ञान के बिना वाणी का प्रयोग निष्फल है । किन्तु केवल मन्त्र स्मरण करने पर भी मनुष्य को कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य होता है, इसके पक्ष में **'अफला अपुष्पा'** का अर्थ यास्क 'अ' को निषेधात्मक न मानकर अल्पार्थक स्वीकार करते हुए

---

३. वैदिकं पदमिदम्, तं तद् ब्रह्मेत्यर्थः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(स्थाणुरयं०) य पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं न जानाति, तं विज्ञायाऽपि धर्मं नाचरति, स मनुष्यः स्थाणुः काष्ठस्तम्भवत् भवति, अर्थाज्जडवद्विज्ञेयो भारवाहश्च। यथा कश्चिन्मनुष्यः पशुश्च भारमात्रं वहंस्तन्न भुङ्क्ते, किन्तु तेनोढं घृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चिद् भाग्यवानन्यो मनुष्यो भुङ्क्ते। योऽर्थविज्ञानशून्यमध्ययनं करोति स भारवाहवत् (किलाभूत्) भवतीति मन्तव्यम् (योऽर्थज्ञ०) योऽर्थस्य ज्ञाता, वेदानां शब्दार्थसम्बन्धविद् भूत्वा धर्माचरणो भवति, स वेदार्थज्ञानेन (विधूतपाप्मा) पापरहितः सन् मरणात् प्रागेव सकलं सम्पूर्णं भद्रं भजनीयं सुखम् अश्नुते प्राप्नोति। पुनश्च शरीरं त्यक्त्वा नाकमेति सर्वदुःखरहितं मोक्षाख्यं ब्रह्मपदं प्राप्नोति। तस्माद् वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठानपूर्वकमेवाध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥३॥

(यद् गृहीतमविज्ञातं) येन मनुष्येण यदर्थज्ञानशून्यं वेदाद्यध्ययनं[1] क्रियते, किं तु (निगदनैव) पाठमात्रेणैव (शब्द्यते) कथ्यते, तत् (कर्हिचित्) कदाचिदपि (न ज्वलति) न प्रकाशते। कस्मिन् किमिव? (अनग्नाविव शुष्कैधः) अविद्यमानाग्निके स्थले शुष्कं सम्प्राप्तं प्रज्वलनमिन्धनमिव। यथाऽनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेनापि दाहप्रकाशा न जायन्ते, तादृशमेव तदध्ययनमिति ॥४॥

(उत त्वः पश्यन्न ददर्श०) अपि खल्वेको वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति। (उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्) उ इति वितर्के, कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दमुच्चारयन्नपि न शृणोति तदर्थं न जानाति। यथा तेनोच्चारिता श्रुताऽपि वाक् अविदिता भवति, तथैवाऽर्थज्ञानविरहमध्ययनमिति मन्त्राऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमुक्तम्। (उतो त्वस्मै) यो मनुष्योऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदानामध्ययनं करोति, तस्मै (वाक्) विद्या (तन्वम्) शरीरं स्वस्वरूपं (विसस्रे) विविधतया प्रकाशयति। कस्मै का किं कुर्वतीव? (जायेव पत्य उशती सुवासाः) यथा शोभनानि वासांसि वस्त्राणि धारयन्ती पतिं कामयमाना स्त्री स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं प्रकाशयति, तथैवाऽर्थज्ञानपूर्वकाध्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं स्वस्वरूपमीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्य्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥५॥

'किंचित्पुष्पफला' करते हैं। इस तोतारटन्त का भी लाभ है। परम्परागत रूप में दाक्षिणात्य ब्राह्मणों ने यदि वेदों को कण्ठाग्र करना अपने जीवन का लक्ष्य न बनाया होता तो संभवतः वे आज हमें उपलब्ध न हो पाते। इस प्रकार पाठमात्र से उन्होंने वेदों की रक्षा की। **'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'**—जड़ ही न रहती तो फूल, पत्ते कहाँ से आते? आज वेदों को सुरक्षित करने के लिए इलेक्ट्रोनिक उपकरणों की सहायता ली जा रही है। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान तथा तिरुमल तिरुपति देवस्थान कुछ मन्त्रों को टेपरिकार्ड कर चुके हैं। यह सब प्रयत्न वेद के शब्दों को सुरक्षित करने के लिए हैं, परन्तु यह न भूलना चाहिए कि बीज बोने का अन्तिम लक्ष्य फल को प्राप्त करना है जो वेदार्थ को जाने बिना संभव नहीं—**वाचः फलमर्थः**।

इस सन्दर्भ में महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है **"चतुर्भिः प्रकारैर्विद्या उपयुक्ता भवति—आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेन"** अर्थात् विद्या की पूर्णता अथवा सार्थकता इसी में है कि जो पढ़ा जाए उसपर मनन किया जाए, दूसरों के लाभार्थ उसका उपदेश किया जाए तथा अपने अचरण से उसे चरितार्थ किया जाए। वस्तुतः जानना, जानने के लिए नहीं, करने के लिए होता है। ऐसी किंवदन्ती है कि—गुरुजी ने पढ़ाया—'क्रोधं मा कुरु'। अगले दिन सभी

---

१. अत्रादिशब्देन वेदातिरिक्तानां ग्रन्थानां संग्रहो द्रष्टव्यः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सख्ये) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभावकर्मणि, (उत त्वम्) अन्यमनूचानं पूर्णविद्यायुक्तं, (स्थिरपीतम्) धर्मानुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं प्राप्तं येन तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रम् (आहुः) वदन्ति। (नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु) ईदृशं विद्वांसं कस्मिंश्चिद् व्यवहारे केऽपि न हिंसन्ति, तस्य सर्वप्रियकारकत्वात्। तथैव नैव केचित् प्रश्नोत्तरादयो व्यवहारा वाजिनेषु विरुद्धवादिषु शत्रुभूतेष्वपि मनुष्येष्वेनमर्थविज्ञानसहितस्याध्येतारं मनुष्यं हिन्वन्ति। तस्य सत्यविद्यान्वितया कामदुहा वाचा सह वर्त्तमानत्वेन सत्यविद्याशुभलक्षणान्वितत्वात्। इत्यनेन मन्त्रपूर्वाऽर्द्धेन विद्वत्प्रशंसोच्यते।

अथैतन्मन्त्रोत्तराऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमाह—(अधेन्वा चरति) यतो यो ह्यविद्वान् (अपुष्पाम्) कर्मोपासनानुष्ठानाचारविद्यारहितां (अफलाम्) धर्मेश्वरविज्ञानाचारविरहां वाचं (शुश्रुवान्) श्रुतवान्, तयाऽर्थज्ञानसुशिक्षारहितया श्रमसहितया (मायया) कपटयुक्तया वाचाऽस्मिल्लोके चरति, नैव स मनुष्यजन्मनि स्वार्थपरोपकाराख्यं च फलं किञ्चिदपि प्राप्नोति। तस्मादर्थज्ञानपूर्वकमेवाध्ययनमुत्तमं भवतीति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—ऐसे लड़कों और लड़कियों को बोलने, सुनने, चलने, बैठने, उठने, खाने, पीने, पढ़ने, विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोड़ने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिए, क्योंकि अर्थज्ञान के बिना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता, परन्तु कुछ भी नहीं पढ़नेवाले से तो पाठमात्र जाननेवाला ही श्रेष्ठ है। जो वेदों को अर्थसहित यथावत् पढ़के, शुभगुणों का ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है, वही सबसे उत्तम होता है।

इस विषय में वेदमन्त्रों के बहुत प्रमाण हैं। जैसे—(**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्०**)। यहाँ इन मन्त्रों से अर्थज्ञान के बिना पढ़ने का निषेध किया जाता है! प्र०—जिसका विनाश कभी नहीं होता, और जो सबसे श्रेष्ठ, आकाशवत् व्यापक, सबमें रहनेवाला परमेश्वर है, जिसमें चारों वेद पर्यवसित हैं अर्थात् जो चारों वेदों द्वारा प्रतिपाद्य हैं, वह ब्रह्म क्या वस्तु है? उ०—(**यस्मिन् देवा०**) जिसमें सम्पूर्ण विद्वान् लोग, सब इन्द्रियाँ, सब मनुष्य और सब सूर्यादि लोक स्थित हैं, वह परमेश्वर कहाता है। जो मनुष्य वेदों को पढ़के ईश्वर को न जाने, तो क्या वेदार्थ जानने का फल उसको प्राप्त हो सकता है? कभी नहीं। इसलिए जैसा वेदविषय में लिख आये हैं, वैसा व्यवहार करनेवाले मनुष्य अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं, परन्तु जो कोई पाठमात्र ही पढ़ता है, वह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता। इस कारण से जो कुछ पढ़ें, सो अर्थज्ञानपूर्वक ही पढ़ें ॥२॥

ने 'क्रोधं मा कुरु' बोल-बोलकर पाठ सुना दिया, किन्तु युधिष्ठिर टालता रहा। कई दिन बीत जाने पर भी जब वह न सुना सका तो गुरुजी ने न केवल भर्त्सना की अपितु पिटाई भी की। तब युधिष्ठिर बोला 'गुरुजी! आपको यदि मेरे चेहरे पर कुछ क्रोध के लक्षण दीख पड़ते हैं तो मुझे अभी भी पाठ याद नहीं हुआ है। अन्यथा याद हुआ समझ लीजिए। इसे कहते हैं—पढ़ना। अनुभूत विषय ही ज्ञान कहाता है।[1]

ग्रन्थकार के मत में वेदाध्ययन का प्रयोजन परमेश्वर की प्राप्ति है। पठनपाठन विषय के अन्तर्गत वह क्रमशः इस प्रकार है—वेदाध्ययन, अधर्म का त्याग, धर्म का आचरण, परमेश्वर का ज्ञान और मोक्षलाभ। इसी आधार पर उन्होंने विद्वान् तथा अविद्वान् का लक्षण किया है। वेदों में परमेश्वर

१. Knowledge is realised experience.—Radhakrishnan

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(स्थाणु०) जो मनुष्य वेदों को पढ़के उनके अर्थ को नहीं जानता, वह उनके सुख को न पाकर भार उठानेवाले पशु अथवा वृक्ष के समान है, जोकि अपने फल-फूल, डाली आदि को विना गुणबोध के उठा रहे हैं, किन्तु जैसे उनके सुख को भोगनेवाला कोई दूसरा भाग्यवान् मनुष्य होता है, वैसे ही पाठ के पढ़नेवाले भी परिश्रमरूप भार को तो उठाते हैं, परन्तु उनके अर्थज्ञान से आनन्दस्वरूप फल को नहीं भोग सकते। **(योऽर्थज्ञः०)** और जो अर्थ का जाननेवाला है, वह अधर्म से बचकर, धर्मात्मा होके, जन्म-मरणरूप दुःख का त्याग करके, सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है, क्योंकि जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है वह **(नाकमेति)** सर्वदुःख रहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है। इसी कारण वेदादि शास्त्रों को अर्थज्ञानसहित पढ़ना चाहिए ॥३॥

(यद् गृहीत०) जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन किया करता है, उसका वह पढ़ना अन्धकार-रूप होता है। **(अनग्नाविव शुष्कैधो०)** जैसे अग्नि के विना सूखे ईंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता, वैसे ही अर्थज्ञान के विना अध्ययन भी ज्ञानप्रकाशरहित रहता है। वह पढ़ना अविद्यारूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता ॥४॥

(उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत०) विद्वान् और अविद्वान् का यही लक्षण है कि जिस किसी को पढ़-सुनके भी शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो, वह मूर्ख अर्थात् अविद्वान् है। **(उतो त्वस्मै०)** और जो मनुष्य शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान ले, वह पूर्ण विद्वान् कहाता है। ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्दरूप फल भी होता है। **(जायेव पत्य उशती सुवासाः)** अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है, वैसे ही अर्थ जाननेवाले विद्वान् ही को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है ॥५॥

(उत त्वं सख्ये०) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें, अर्थात् जैसे सब मनुष्यों के साथ मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं वैसे ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष है, उसको अच्छी प्रकार सुख दे, कि जिससे तुझे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे। विद्वान् नाम उसका है जोकि अर्थसहित विद्या को पढ़के वैसा ही आचरण करे, कि जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके। इसी को 'स्थिरपीत' कहते हैं। ऐसा जो विद्वान् है, वह संसार को सुख देनेवाला होता है। **(नैनं हि०)** उसको कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता, क्योंकि जिसके हृदय में विद्यारूपी सूर्य्य प्रकाशित हो रहा है, उसको दुःखरूप चोर दुःख कभी नहीं दे सकते। **(अधेन्वा च०)** और जो कोई अविद्यारूप अर्थात् अर्थ और अभिप्रायरहित वाणी को सुनता और कहता है, उसको कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु शोकरूप शत्रु सबको सब दिन दुःख ही देते रहते हैं, क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए अर्थज्ञानसहित ही पढ़ने से मनचाहा सुखलाभ होता है ॥६॥

से लेकर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का ज्ञान है, परन्तु उसे वही पाता है जो शब्दों तक सीमित न रहकर उनमें निहित गूढार्थ को जानने का प्रयत्न करता है। जो पिये हुए अर्थात् ग्रहण किये ज्ञान को अपने भीतर स्थिरता से धारण करता है वह 'स्थिरपीत' कहाता है। इसके विपरीत जो अर्थज्ञान और आचरण से शून्य है वह उस मनुष्य के समान है जो दूध न देनेवाली गौ को साथ लिये विचरण कर रहा हो। पठनपाठन की समुचित व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि समाज में विद्वानों का उचित सम्मान हो। गुरुजनों के प्रति श्रद्धाभाव के विना विद्या सफल नहीं होती। पठनपाठन के विषय में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिए अर्थयोजना सहित व्याकरण अष्टाध्यायी धातुपाठ, उणादिगण, गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा, कल्प, निघण्टु निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये छह वेदों के अङ्ग, मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त—ये छह शास्त्र, जो वेदों के उपाङ्ग, अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक-ठीक जाना जाता है तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़के, अथवा जिन्होंने उन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़के जो सत्य-सत्य वेद-व्याख्यान किये हों, उनको देखके वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें।

क्योंकि **'नावेदवित्०'** वेदों को नहीं जाननेवाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता और जो-जो जहाँ-जहाँ भूगोल में वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों में से ही हुआ है[1], क्योंकि जो-जो सत्य विज्ञान है सो-सो ईश्वर ने वेदों में धर रक्खा है। इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है और विद्या के बिना पुरुष अन्धे के समान होता है, इससे सम्पूर्ण विद्याओं के मूल वेदों को बिना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थज्ञानसहित अवश्य पढ़ने चाहिएँ।

इति पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

केन्द्र बिन्दु वेद है, क्योंकि वही सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का अक्षय भण्डार है—**भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति**। परन्तु वेदांगों, उपांगों, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि में पारङ्गत हुए बिना वेदों के यथार्थ स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि उन्हीं के द्वारा ठीक-ठीक अर्थ करके वेद के रहस्यों को जाना जा सकता है।

---

१. भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति। —मनु० १२।९७॥
यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः। तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्॥
—महाभारत अनु० १२२।४॥
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्। —याज्ञवल्क्य।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः

प्रश्नः—किञ्च भो नवीनं भाष्यं त्वया क्रियते, आहोस्वित् पूर्वाचार्यैः कृतमेव प्रकाश्यते। यदि नवीनं रच्यते तर्हि तस्य स्वकल्पनाप्रसूतत्वात् न केनापि ग्राह्यं भवितुमर्हति, यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते, तर्हि तत् पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति ?

भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः

'पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते', 'पूर्वैर्विद्वद्भिः .... शतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्' 'यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदशाखाख्यानि' च रचितानि सन्ति'—'एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते' इत्यादि कथन से ग्रन्थकार के भाष्य में पिष्टपेषणदोष की प्रतीति होती है। इसके परिहार के लिए वेदभाष्य की परम्परा को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक है। इस शास्त्रावताररूप वेदार्थप्रक्रिया के इतिहास का प्रतिपादन यास्काचार्य ने इस प्रकार किया है—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च ॥"

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में मन्त्रार्थ को साक्षात् करनेवाले (साक्षात्कृतधर्मा) ऋषि हुए। उन्होंने मन्त्रार्थ को साक्षात् न करनेवाले (असाक्षात्कृतधर्मा) मनुष्यों के लिए उपदेश से मन्त्रों के अर्थ समझाये। उत्तरकाल में हीनमेधावाले, उपदेश से ग्लानि करते हुए (उपदेशमात्र से न समझ सकने वाले) लोगों ने वेद तथा वेदाङ्गों का अभ्यास किया।

यास्काचार्य के मत का समर्थन करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने (बृहद्योगी याज्ञवल्क्यस्मृति १२।२) लिखा है—

दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम् ॥

अर्थात् जिनके लिए ज्ञान दुर्बोध्य हुआ और जो वेदों का अध्ययन न कर पाये, उनके लिए वेदों से लेकर सब शास्त्र बनाये।

इस प्रकार वेदविद्या के प्रसार के लिए निरुक्तकार ने उपर्युक्त तीन ऐतिहासिक स्तर बताये—साक्षात्कार, मन्त्रोपदेश तथा वेदाङ्ग समाम्नान। निरुक्त के पाठ से ऐसा प्रतीत होता है कि वेदाङ्ग समाम्नान भी साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने ही किया। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपना समस्त जीवन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तरम्—पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते। तद्यथा - यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्य-वात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्, तथा यानि पाणिनिपतञ्जलि-यास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि

एक-दो सूक्तों, अथवा दस-बीस मन्त्रों का अर्थ जानने में खपा दिया। यास्क, पाणिनि, व्यास जैसे महामतियों ने वेदाङ्गों तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों की रचना करके मार्गदर्शक का कार्य अवश्य किया, परन्तु ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त किसी भी आचार्य ने वेदों का साक्षात् भाष्य नहीं किया। उन्होंने वेदभाष्य का मार्ग प्रशस्त करने के लिए अपेक्षित साधन जुटा दिये और तदनुसार उदाहरणरूप कतिपय मन्त्रों के भाष्य भी प्रस्तुत कर दिये। यास्क ने वेदों का प्रत्यक्षतः भाष्य न करके भी निरुक्त के माध्यम से लगभग सात सौ वेदमन्त्रों का भाष्य किया। ग्रन्थकार ने उन्हीं प्राचीन ऋषियों-आचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्रों के आधार पर वेदों का भाष्य किया। **'पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते'** तथा **'एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते'** से यही तात्पर्य समझना चाहिए। उन मार्गदर्शक सिद्धान्तों के आधार पर वेदों का विधिवत् साक्षात् भाष्य करने में ग्रन्थकार ने पहल की। सायण आदि ने उन सिद्धान्तों की अवहेलना करके जो भाष्य किये, ग्रन्थकार ने उनका अनुसरण नहीं किया। इसलिए उसमें पिष्टपेषणदोष की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत भाष्य नया होते हुए भी पुराना है और पुराना होते हुए भी नया है। जहाँ तक ऐतरेय-शतपथादि के साथ वेदाङ्गों को भी भाष्य या व्याख्यान नाम से अभिहित किये जाने का सम्बन्ध है, इस विषय में श्री युधिष्ठिर मीमांसक की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है—

"वेदाङ्गानि न साक्षाद् वेदव्याख्यानानि, किन्तु यथा शरीराङ्गानि शरीरोपकारकाणि भवन्ति, तथैव वेदाङ्गान्यपि वेदोपकारकाणि वेदार्थज्ञाने साक्षात् साहाय्यभूतानि सन्ति। तस्मादिह व्याख्यानशब्दः लक्षणया व्याख्यानसाधने प्रवृत्तः। एवमुत्तरत्र उपाङ्गोपवेदादिग्रन्थानां विषयेऽपि द्रष्टव्यम्।"

वेदार्थ में सहायक इन ग्रन्थों का उल्लेख 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय' तथा 'अवतरणिका' में 'वेदार्थ प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त' के अन्तर्गत हुआ है।

ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

ब्रह्मा—ग्रन्थकार ने अनेकत्र 'ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त' ऋषियों का प्रामाण्य स्वीकार किया है। इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने ब्रह्मा को आद्याचार्य के रूप में ग्रहण किया है। उपनिषदों में ब्रह्मा को एक तत्त्वज्ञ आचार्य माना है जिनसे अथर्वन और नारद ने ब्रह्मविद्या प्राप्त की थी। इस समय उनका वेद पर कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्मोपनिषद् नामक एक छोटा सा उपनिषद् मिलता है जो लोकविश्रुत ब्रह्मोपनिषद् से सर्वथा भिन्न है।

याज्ञवल्क्य—ये अपने युग के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् एवं ब्रह्मवेत्ता थे। शतपथ ब्राह्मण इनकी अमर कृति है जो यजुर्वेद को समझने में परम सहायक हैं। ग्रन्थकार ने अपनी रचनाओं में अनेकत्र **'अयं मन्त्रः शतपथे व्याख्यातः'** लिखकर याज्ञवल्क्य को मान्यता प्रदान की है। शतपथ ब्राह्मण में १४ काण्ड और १०० अध्याय हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् उसी का एक अंश है। जनक की सभा में अनेक विद्वानों एवं विदुषियों से उनके शास्त्रार्थ हुए बताये गये हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षट्शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति । एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते । न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति ।

प्रश्न—किमनेन फलं भविष्यतीति ?

उत्तरम्—यानि [1]रावणोव्वटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि, यानि चैतदनुसारेणेङ्गलेण्डशारमण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि

वात्स्यायन—न्याय तथा वेदान्तदर्शनों पर वात्स्यायनभाष्य की प्रामाणिकता सर्वमान्य है। ये दोनों दर्शन वेद के उपाङ्ग हैं, अतः वेद पर वात्स्यायन का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ या भाष्य न होने पर भी वे वेद तक पहुँचने में अत्यन्त उपयोगी हैं।

जैमिनि—महर्षि वेदव्यास के प्रमुख शिष्य जैमिनि 'पूर्वमीमांसा' अथवा 'जैमिनिसूत्र' के रचयिता हैं। यज्ञ सम्वन्धी श्रुतिवचनों की व्याख्या करते हुए उनमें समन्वय करना तथा कर्मकाण्ड विषयक शंकाओं का समाधान करना जैमिनि सूत्रों का मुख्य प्रयोजन है।

पाणिनि—व्याकरण के अद्भुत ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' के रचयिता पाणिनि मुनि ने स्वतन्त्ररूप में वेदभाष्य नहीं किया, परन्तु अष्टाध्यायी के बिना वेदभाष्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

पतञ्जलि—अष्टाध्यायी के 'महाभाष्य' के रचयिता पतञ्जलि ने भी स्वतः वेदभाष्य नहीं किया। परन्तु प्रसङ्गवश उसमें कुछ मन्त्रों का भाष्य आ गया है जो वेदभाष्य के दुरूह कार्य में दिशा निर्देश करता है।

यास्क—महर्षि यास्ककृत निरुक्त वेद की कुंजी है। जिसमें निश्चित कथन हो, उसे निरुक्त कहते हैं। यह उसका वाच्यार्थ है। वस्तुतः निरुक्त शब्द वेदों के दुरूह शब्दों की निर्वचन द्वारा व्याख्या करनेवाले शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है। निघण्टु में व्याख्येय शब्दों की क्रमबद्ध तालिका है और निरुक्त में उन शब्दों की व्युत्पत्ति है। वेदार्थ करने में इस ग्रन्थ से अद्भुत सहायता मिलती है।

रावण—यह रावण रामायण का प्रमुख पात्र लंकेश नहीं था। पण्डित भगवद्दत्त के अनुसार यह ईसा की चतुर्थ शताब्दी में हुआ दाक्षिणात्य विद्वान् था। कहा जाता है कि रावण ने ऋग्वेद तथा यजुर्वेद दोनों पर भाष्य किया था। इस रावण के भाष्य के उपलब्ध अंश को सम्पादित करके राजस्थान विश्वविद्यालय के डा० सुधीरकुमार गुप्त ने प्रकाशित किया है।

उव्वट—शुक्ल-याजुष-सम्प्रदाय का प्रसिद्ध भाष्यकार उव्वट महाराज भोज के काल में हुआ है, यह यजुर्भाष्य के अन्त में लिखे स्वयं उनके लेख से सिद्ध है—

> **आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना,**
> **उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः ।**
>
> **ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन्,**
> **मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति ॥**

---

१. रावणोऽयं न लङ्केशः, दाक्षिणात्योऽयं कश्चिद् विद्वान् । एतद्भाष्यविषये वैदिकवाङ्मयैतिह्य (पं० भगवद्दत्तकृतं, भाग २) द्रष्टव्यम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतानि, तथैवार्य्यावर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया[1] व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च, तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति, [2]टीकानामधिकदोषप्रसिद्ध्या त्यागश्च। परन्त्ववकाशाभावात् तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते। तद्यथा—

[सायणभाष्यदोष-निदर्शनम्]

यत् सायणाचार्येण वेदानां [3]परममर्थमविज्ञाय 'सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डपराः सन्ति'[4] इत्युक्तम्, तदन्यथास्ति। कुतः ? तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्। तच्च पूर्वं संक्षेपतो लिखितमस्ति। एतावतवास्य कथनं व्यर्थमस्तीत्यवगन्तव्यम्।

पं० भगवद्दत्तजी के विचार में वह कश्मीरी ब्राह्मण था—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-१, खण्ड-२, पृष्ठ ८६-८७।

कहीं कहीं उसका भाष्य इतना अश्लील है कि शिष्टाचार के विरुद्ध होने से ग्रिफिथ ने उसका अनुवाद नहीं किया।

सायण—ये विजयनगर के राजा बुक्क के मन्त्री थे। उनका काल ईसा की चौदहवीं शताब्दी माना जाता है। अन्यान्य पण्डितों के सहयोग से उन्होंने वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों का भाष्य किया। इनके भाष्य में पशुबलि, नरबलि आदि आसुरी वृत्तियों का उल्लेख प्रचुरता से मिलता है। वेदों को अपौरुषेय मानते हुए भी लौकिक इतिहास का वर्णन इनके भाष्य में मिलता है।

महीधर—महीधर काशी में रहता था। उसने 'मन्त्रमहोदधि' नामक एक तन्त्र और उसकी टीका लिखी है। इससे उसका तान्त्रिक होना प्रमाणित होता है। उसका 'वेददीप' नामक यजुर्वेद भाष्य उव्वट के भाष्य की छायामात्र है। भेद केवल इतना है कि उव्वट ने कात्यायनश्रौतसूत्र की प्रतीकें अपने भाष्य में नहीं धरीं, जबकि महीधर ने सायण काण्वसंहिताभाष्य के आशय से वे सब यथा स्थान जोड़ दी हैं।

विदेशी भाष्यकारों में मैक्समुलर, ग्रिफिथ, राथ, ह्विटनी, मैक्डानल, ब्लूमफील्ड, गोल्डस्टकर, विलसन, विण्टरनिट्ज आदि प्रसिद्ध हैं। इन सबने प्रायः सायणादि का ही अनुसरण किया है। और सायणादि के भाष्य अनार्ष ग्रन्थों पर आश्रित होने से प्रायः अशुद्ध हैं।

सायणाचार्य का **'सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डपराः सन्ति'** कहना वेद के सर्वज्ञानमयत्व का प्रतिषेधक है।

आर्यभट्ट ने महासिद्धान्त नामक ग्रन्थ में कहा था—**'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः।'** शबर

---

१. 'प्राकृतभाषया' पदेन सम्भवतः तस्मिन् काले प्रकाशमाणस्य वेदार्थयत्नाख्यग्रन्थस्य विषये संकेतः स्यात्। वेदार्थयत्ने ऋग्वेदस्य संस्कृताङ्ग्लभाषाभ्यां सह मराठीभाषायामपि व्याख्यानमभूत्। वेदार्थयत्नस्य प्रकाशनमपि ग्रन्थकारीयर्ग्यजुर्भाष्यमिव अङ्कुश एवाजायत।

२. महीधरादिविरचितानां टीकानामित्यर्थः।

३. परममर्थम् अध्यात्ममित्यर्थः।

४. प्रायेण सर्वेष्वपि वेदभाष्योपोद्घातेष्वयमर्थः सायणेनोक्तः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(इन्द्रं मित्रं०') अस्य मन्त्रस्यार्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः । तद्यथा – तेनात्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया । अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवति । एवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम् । एवमेव यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः, तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति,[2] विशेषणस्यैकवारमेवेति । तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाऽग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायत्वात् । इदं सायणाचार्य्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम् । निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः । तद्यथा—'इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि० ॥' निरु० अ० ७ । खं० १८ ॥ स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति । तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम् ।

स्वामी कहते हैं—"न केवलं लोके वेदेऽपि 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' (ऋ० १०-९०-१६) इति यजतिशब्दवाच्यमेव कर्म समामनन्ति ।" यजुर्वेद (१-१) के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (१-७-१५) । सम्भवतः इस प्रकार के स्थलों पर 'यज्ञ' शब्द का रूढ़ अर्थ लेकर परवर्त्ती काल में अग्निहोत्र आदि यज्ञों को ही वेदों का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय मान लिया गया है ।

भारतीय इतिहास के अनुसार अन्य सभी सामाजिक व्यवस्थाओं के समान याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रादुर्भाव कृतयुग तथा त्रेतायुग के सन्धिकाल में हुआ । त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे (म० भ० शा० प० २३२-२२) यथा त्रेतायुगमुखे यज्ञास्यासीत् प्रवर्तनम् (वायुपुराण ५७-९९) इत्यादि प्रकरणों से इसकी पुष्टि होती है । कालान्तर में यज्ञों का प्राधान्य हो जाने से वेदमन्त्रों का विनियोग यज्ञों में होने लगा और जैसे-जैसे यज्ञों की प्रधानता बढ़ती गई, वैसे-वैसे वेद का आध्यात्मिक तथा आधिदैविक प्रक्रियानुसारी अर्थ गौण होता गया और याज्ञिक प्रक्रियानुसारी अर्थ की प्रधानता हो गई । धीरे-धीरे वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः—वेद का प्रयोजन यज्ञ है, ऐसी धारणा बनती गई । ऋग्वेद के एक मन्त्र यज्ञेन वाचं पदवीयमायन् (१०-७१-३) के आधार पर यहाँ तक कहा जाने लगा कि समस्त वेदवाणी यज्ञ के द्वारा ही स्थान पाती है । इस प्रकार सायणाचार्य ने वेदों का अग्निहोत्रादि कर्मकाण्डपरक अर्थ मानकर आधियाज्ञिक अर्थों में ही उनका पर्यवसान कर दिया । वेदमन्त्रों के केवल आधियाज्ञिक अर्थ किये जाने का प्रत्यक्ष प्रहार आधिदैविक प्रक्रिया पर हुआ । प्राचीनकाल में आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार वेद के जो वैज्ञानिक अर्थ किए जाते थे वे धीरे-धीरे लुप्त होते गए । परिणामतः अत्युत्कृष्ट सिद्धान्तों के प्रतिपादक मन्त्र चारण-भाटों के स्तुतिवचन बनकर रह गये । आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ को समझने का एकमात्र साधन यास्कीय निरुक्त रह गया । हाँ, कुछ हद तक ब्राह्मणग्रन्थों, विशेषतः शतपथ ब्राह्मण से अवश्य कुछ सहायता मिल सकती है । यास्क के मतानुसार आधिदैविक वेदार्थ पुष्पस्थानीय है तो आध्यात्मिक फलस्थानीय । जब फूल आने बन्द हो गये तो फल कहाँ से आते ?

परन्तु यदि वेद का प्रयोजन केवल द्रव्ययज्ञों का सम्पादन करना ही है तो वेद के सर्वविद्यामूलकत्व का क्या अर्थ होगा ? सर्ग के आदिकाल में प्रादुर्भूत वेद तो मनुष्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण

---

१. ऋ० १।१६४।४६ ॥

२. विशेषणेन सह संयोगार्थमिति शेषः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा च—[1]'तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते, [2]'यथा राज्ञः पुरोहितः तदभीष्टं सम्पादयति, [3]'यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितम्' इत्युक्तम् ।

इदमपि पूर्वापरविरुद्धमस्ति । तद्यथा 'सर्वैर्नामभिः परमेश्वर एव हूयते' चेत् पुनस्तेन होमसाधक आहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः । तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव ।

ज्ञान का भण्डार है । उसमें लोकोपयोगी समस्त विद्याएँ आधिदैविक तथा आधिभौतिक पदार्थों के विज्ञान तथा आध्यात्मिक तत्त्वों का विस्तृत विवेचन है । वेद विषयक इस सर्वसम्मत सिद्धान्त की रक्षा के लिए वेदमन्त्रों की अनेकार्थ प्रतिपादक शक्ति का मानना आवश्यक है । शब्दशास्त्र के लिए प्रमाणभूत आचार्य भर्तृहरि वेदमन्त्रों के विविध प्रक्रियागम्य अर्थ के विषय में कहते हैं—

"इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ० १-२२-१७) इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तथा शक्त्या प्रवर्त्तते ।"

—महाभाष्यप्रदीपिका-पृष्ठ २६८।।

अर्थात्—'इदं विष्णुर्विचक्रमे' मन्त्र में एक विष्णु शब्द ही अनेक शक्तिवाला होने से अधिदैवत, अध्यात्म और अधियज्ञ में क्रमशः आत्मा (सूर्य), नारायण और चषाल में स्वशक्ति से प्रवृत्त होता है ।। ३४ ।।

पाश्चात्य तथा आधुनिक भारतीय विद्वानों में लब्धप्रतिष्ठ आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने **'त्रयीचतुष्टय'** नामक ग्रन्थ में वेदों के भाष्यकारों और विशेषतः सायणाचार्य को लक्ष्य करके लिखा है—"When the **त्रयीसंग्रह** was being compiled, the impression grew upon me that the real meaning of many Mantras did not come out in Sayana's commentary, and the desire became strong in me to publish the interpretation of Yaska and other old expositors of the Veda." अर्थात् **'त्रयीसंग्रह'** पुस्तक की रचना करते समय मुझे अनुभव हुआ कि सायणभाष्य में अनेक मन्त्रों का वास्तविक अर्थ नहीं मिलता । इसलिए मेरी प्रबल इच्छा हुई कि मैं यास्क तथा अन्य वेदभाष्यकारों के अर्थों का प्रकाशन करूँ । वे आगे लिखते हैं—"At a time when photography phonography, gaslight, telephone, telegraph, railway, aeroplanes etc. had not been introduced in the country, how could our people understand any verses referring to these things." अर्थात् उस समय जबकि भारत में अभी फोटोग्राफी, फोनोग्राफी, गैसलाइट, टेलीफोन, टेलीग्राफ, रेल, वायुयान आदि का प्रचलन नहीं हुआ था, तो हमारे भाष्यकार इनका संकेत करनेवाले वेदमन्त्रों के आशय को कैसे समझ सकते थे ?

स्वयं 'यज्ञ' शब्द बड़े व्यापक अर्थवाला है, परन्तु भौतिकी, रसायनशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विद्याओं से अनभिज्ञ होने के कारण सायण आदि ने सम्पूर्ण वेद का पर्यवसान यज्ञ में और यज्ञ का अग्निहोत्र में कर दिया ।

---

१. इदं वाक्यं सायणीयर्ग्वेदभाष्योपोद्घातारम्भे 'तद् यद् इदमाहुः' इति उपनिषदोद्धरणानन्तरं पठ्यते ।

२. इदं वाक्यम् 'अग्निमीळे' (ऋ० १।१।१) मन्त्रव्याख्याने पठ्यते ।

३. इदमपि वाक्यम् 'अग्निमीळे' मन्त्रव्याख्याने एव पठ्यते ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोऽपि ब्रूयात्—सायणाचार्य्येण [1]'यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते, तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः' इत्युक्तत्वाददोष इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः यदीन्द्रादिभिर्नामभिः परमेश्वर एवोच्यते, तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता। तद्यथा - 'अज एकपात्'[2] 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्'[3] इत्यादिमन्त्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात् तत्कथनमसदस्ति।

एवमेव सायणाचार्य्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति। अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं करिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यदोषान् प्रकाशयिष्याम इति।

इन्द्रं मित्रमित्यादि पूरा मन्त्र और उसका ग्रन्थकारकृत अर्थ इस प्रकार है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

—ऋ० १।१६४।४६

पदार्थः—(विप्राः) बुद्धिमान् जन (इन्द्रं) परमैश्वर्ययुक्त (मित्रम्) मित्रवत् वर्त्तमान (वरुणम्) श्रेष्ठ (अग्निम्) सर्वव्यापक विद्युदादिलक्षणयुक्त अग्नि को (बहुधा) बहुत प्रकार से=अनेक नामों से (आहुः) कहते हैं। (अथ) इसके अनन्तर (सः) वह (दिव्यः) प्रकाशमय (सुपर्णः) सुन्दर जिसके पालनादि कर्म (गरुत्मान्) महान् आत्मावाला इत्यादि बहुत नामों से पुकारा जाता है। तथा वे अन्य विद्वान् (एकम्) एक (सत्) विद्यमान परब्रह्म परमेश्वर को (अग्नि) सर्वत्र व्याप्त परमात्मारूप (यमम्) सर्वनियन्ता और (मातरिश्वानम्) वायुलक्षणलक्षित भी कहते हैं।

निरुक्त (७।१८।४६) में इस मन्त्र का इस प्रकार अर्थ किया है—

"इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मानम्। दिव्यो दिविजः गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा॥

अर्थात्—अग्नि को इन्द्र, मित्र और वरुण कहते हैं और वह अग्नि दिव्य, सुपर्ण और गरुत्मान् है। उस महान् स्वरूपोंवाले एक अग्निरूप को बुद्धिमान् लोग अनेक अर्थों में कहते हैं। उसे यम और मातरिश्वा कहते हैं।

एवं इस मन्त्र में अग्नि के इन्द्र (विद्युत्), मित्र (उद्रजन वायु), वरुण (अम्लजन वायु), दिव्य (सूर्य), सुपर्ण (जीवात्मा), गरुत्मान् (परमात्मा), यम (मृत्यु) और मातरिश्वा (वायु) ये आठ अर्थ करते हुए, उसे अनेकार्थक बताया है। मन्त्र का सीधा अर्थ यह है कि इन्द्र, मित्र आदि आठ नाम अग्नि (अग्रणी) परमेश्वर के हैं।

अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा।—शत० १४।३।२।५
अग्निरेव ब्रह्म।—शत० १०।४।१।५
ब्रह्म वा अग्निः।—शत० २।५।४।८

ऋग्वेद के प्राचीन भाष्यकारों में आत्मानन्द (संवत् १२००-१३००) तथा आधुनिकों में

---

१. इदं वचनमृग्वेदस्य सायणभाष्योपोद्घातस्यादौ 'तस्माद्यज्ञात्' मन्त्रव्याख्याने पठितम्।

२. ऋ० ७।३५।१३॥ ३. यजुः० ४०।८॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—प्रश्न—क्योंजी ! जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो, सो पूर्व आचार्यों के भाष्य के समान बनाते हो, वा नवीन। जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है, तब तो बनाना व्यर्थ है, क्योंकि, वे तो पहले ही से बने बनाये हैं। और जो नया बनाते हो, तो उसको कोई भी न मानेगा, क्योंकि, जो विना प्रमाण के केवल अपनी ही कल्पना से बनाना है, यह बात कब ठीक हो सकती है ?

महामण्डलेश्वर महेश्वरानन्द गिरि ने भी इस मन्त्र का यही अर्थ किया है। आत्मानन्द ने तो मन्त्रस्थ अग्नि आदि प्रत्येक पद पर ऐसे मन्त्र दिये हैं जिनसे इन पदों से स्पष्टतः परमात्मा का ग्रहण होता है।

मन्त्रगत प्रथम वाक्य में 'अग्नि' पद शब्दवाचक है और दूसरे में पदार्थवाचक। इस प्रकार 'अग्नि' पद शब्द और 'अग्नि' पदार्थ के अनेक नाम हैं। प्रथम वाक्य में 'अग्नि' पद विशेषण है, जबकि दूसरे वाक्य में विशेष्य है। सायणाचार्य ने इस भेद को न समझकर मन्त्र का जो अर्थ किया है, वह सर्वथा असंगत है। इस मन्त्र के सायणकृत संस्कृतभाष्य का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है -

"मेधावी लोग इस आदित्य को इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहा करते हैं। ये स्वर्गीय, पक्षवाले (गरुड़) और सुन्दर गमनवाले हैं। ये एक हैं तो भी उन्हें अनेक कहा गया है। इन्हें अग्नि, यम और मातरिश्वा कहा जाता है।"

सायण ने अपने भाष्य में मन्त्रों के उल्टे ही नहीं, अत्यन्त दूषित अर्थ करके वेदों को बदनाम किया है। साहित्याचार्य पं० महेन्द्रमिश्र ने लिखा है—

"आचार्य सायण के भाष्य के साथ ऋग्वेद संहिता का मन्थन करने पर जो बातें मुझे मालूम हुई हैं, उन्हें लिख रहा हूँ। उद्धृत मन्त्रों पर सायणभाष्य देखकर पाठक अपना कौतूहल दूर कर सकते हैं, क्योंकि मैं अपनी ओर से कुछ न लिखकर केवल सायणभाष्य का सारांश दे रहा हूँ—'निम्न श्रेणी के आर्यों के भोजन में मांस शामिल था। गाय, घोड़ा, बैल, सूअर, भेड़ा, भैंसा और बकरे आदि का मांस उनका प्रिय भोजन था (ऋ० १०।८६।१३-१४ ८।७७।१०)। मांस को लोहे की सींक में गूँथकर वे उसे भूनते थे या पानी में उबालते थे (ऋ० १।१६२।११)। एक स्थान पर तो इन्द्र का भी कथन है कि मेरे लिए बीस बैल मारना जिन्हें खाकर मैं मोटा बनूँगा (१०।८६।१४)। हट्टे-कट्टे बैल चुनकर भोजन के लिए मारे जाते थे (१०७२।२)। एक-एक बार में सौ सौ भैंसे भी कटते थे (६।१७।११)। ये मांस से हवन भी करते थे, गौ और कृषक की आहुति (६।१६।४७), वृषभ तथा मेष की आहुति १०।९१।१४; १०।१६९।३) खूब प्रचलित थी। जगह-जगह गोहत्या का स्थान या कसाईखाना भी होता था (१०।८९।१४)। खड्ग द्वारा गौ के टुकड़े-टुकड़े कर देते थे।'—मासिक पत्रिका 'गंगा' का वेदाङ्क, प्रवाह २ पौष, संवत् १९८८, जनवरी सन् १९३२, तरंग १, पृ० २१८; लेख का शीर्षक—'ऋग्वेद की कुछ उल्लेखनीय बातें।'

ग्रन्थकार ने ऋग्वेद के अपूर्ण भाष्य के अतिरिक्त वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता सम्पूर्ण का भी भाष्य किया है। उससे पूर्व उव्वट तथा महीधर इसपर भाष्य लिख चुके थे। उव्वट तथा महीधर का भाष्य प्रायः कात्यायनश्रौतसूत्र में विनियोजित कर्मकाण्ड का अनुसरण करता है। कर्मकाण्डानुसार प्रसिद्ध यज्ञों में से प्रथम-द्वितीय अध्याय में दर्शपौर्णमास, चतुर्थ से अष्टम अध्याय तक अग्निष्टोम, नवम-दशम अध्याय में वाजपेय और राजसूय, २२ से २५ अध्याय तक अश्वमेध, ३०-३१ अध्यायों में पुरुषमेध, ३२वें अध्याय में सर्वमेध और ३५वें अध्याय में पितृमेध का वर्णन किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर—यह भाष्य प्राचीन आचार्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है, परन्तु जो रावण[१], उव्वट और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं, वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं, क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता। जो यह मेरा भाष्य बनता है, सो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता

ग्रन्थकार का भाष्य इन विनियोगों से स्वतन्त्र है। अथवा यह कहना चाहिए कि उन्होंने अपने ही विनियोग किये हैं जो प्रायः प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में दी गई भूमिका से निःसृत होते हैं। पूर्व विनियोगों के सम्बन्ध में उनकी यह सम्मति है—"**तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतः तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति**'। अर्थात् जो युक्तिसिद्ध एवं वेदादि के प्रमाणानुकूल हो तथा जो मन्त्रार्थ का अनुसारी हो, वह विनियोग ग्राह्य हो सकता है।" (प्रतिज्ञाविषयः)

उनका यह भी कहना है कि वेद केवल कर्मकाण्डपरक नहीं हैं, उनके ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा विज्ञानकाण्डपरक अर्थ भी होने चाहिएँ। पूर्वकृत विनियोगों से बँध न जाने के कारण प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं तत्कृत ऐतरेय, शतपथ, निरुक्त आदि का अनुसरण करते हुए स्वतन्त्र बुद्धि से भाष्य करने के कारण ग्रन्थकार का भाष्य चहुँमुखी बन गया है, और उसमें कुछ विशेष प्रकार के विधि-विधान के निर्देशमात्र न रहकर अनेकविध अर्थ स्पष्ट हुए हैं।

यहाँ हम यजुर्वेद के कतिपय प्रसंगों को लेकर कर्मकाण्डपरक भाष्यों से ग्रन्थकार के भाष्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं जिससे भ्रान्तियों का निवारण होकर वेद के यथार्थ स्वरूप का दर्शन हो सके।

दर्श-पूर्णमास—कर्मकाण्ड के अनुसार यजुर्वेद के प्रथम अध्याय से लेकर द्वितीय अध्याय के २८वें मंत्र तक दर्शपूर्णमास यज्ञ है। प्रथम अध्याय का प्रथम मंत्र **'इषे त्वोर्जे त्वा'** आदि है। कर्मकाण्ड में **'इषे त्वा'** बोलकर अध्वर्यु पलाश की शाखा को काटता है। महीधर अर्थ करते हैं—हे शाखे, (इषे) वृष्टि के लिए (त्वा) तुझे काटता हूँ। 'ऊर्जे त्वा' बोलकर उस शाखा का संनमन करता है अर्थात् उसे सीधा कर धूल आदि झाड़के साफ करता है। अर्थ किया है—हे शाखे, (ऊर्जे) बल तथा प्राणदायक वृष्टिरस के लिए (त्वा) तुझे सीधा कर साफ करता हूँ। मूल मंत्र में न पलाश शाखा का कोई उल्लेख है, न ही उसे काटने और सीधा करने या धूल झाड़ने का। यह विनियोगकार की अपनी कल्पना है। अतः इन विधियों का मूलमन्त्र के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् ऐसी बात नहीं है कि इन्हीं विधियों को ध्यान में रखकर मन्त्र की रचना हुई हो, अतः मन्त्र का इन विधियों से 'स्वतन्त्र' होकर भी अर्थ किया जा सकता है। ग्रन्थकार शाखा के स्थान पर परमेश्वर का ग्रहण करते हैं—हे परमेश्वर (इषे) अन्न आदि उत्तम पदार्थों और विज्ञान की प्राप्ति के लिए (त्वा) तुझ विज्ञानस्वरूप का हम आश्रय लेते हैं, (ऊर्जे) पराक्रम और उत्तम रस की प्राप्ति के लिए (त्वा) अनन्त पराक्रमी तथा रसघन-रूप तेरा आश्रय लेते हैं। इसी प्रकरण में छठा मन्त्र इस प्रकार है—

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति
कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति।
कर्मणे वां वेषाय वाम्॥ —यजु० १।६

१. यह रावण लङ्काधिपति नहीं है, अपितु दाक्षिणात्य विद्वान् है। इसके विषय में जो विशेष जानना चाहें, वे पं० श्री भगवद्दत्त कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास', भाग २ में देखें।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, क्योंकि जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है, यही इसमें अपूर्वता है, क्योंकि जो-जो ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिनाये हैं, वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं। वैसे ही ग्यारह सौ सत्ताइस ११२७ वेदों की शाखा भी उनके व्याख्यान ही हैं। उन सब ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त यह भाष्य बनाया जाता है।

कर्मकाण्डपरक व्याख्या में अध्वर्यु पात्र में जल भर उसे आहवनीयाग्नि के उत्तर में रखता हुआ कहता है—"हे पात्र, (कः त्वा युनक्ति) कौन तुझे प्रयुक्त करता अर्थात् आहवनीयाग्नि के उत्तर भाग में स्थापित करता है? फिर स्वयं उत्तर देता है, (स त्वा युनक्ति) वह प्रसिद्ध प्रजापति ही तुझे प्रयुक्त करता हैं। फिर प्रश्न करता है, (कस्मै त्वा युनक्ति) किस प्रयोजन के लिए तुझे प्रयुक्त करता हैं? उत्तर देता है, (तस्मै त्वा युनक्ति) उस प्रजापति की प्रीति के लिए तुझे प्रयुक्त करता है। तदन्तर शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी को ग्रहण कर कहता है (कर्मणे वाम्) यज्ञकर्म के लिए तुम दोनों को मैं ग्रहण करता हूँ, (वेषाय वाम्) अपने-अपने कर्मों में व्याप्त होने के लिए मैं तुम दोनों को ग्रहण करता हूँ।

यहाँ भी मूलमन्त्र में न पात्र का नाम है, न शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी का, अतः केवल इन्हीं विधियों के लिए मन्त्र की रचना हुई है, यह नहीं कहा जा सकता। ग्रन्थकार इन विनियोगों से स्वतन्त्र होकर यह अभिप्राय लेते हैं कि इस मन्त्र में मनुष्य को ही उद्बोधन दिया गया है। मनुष्य से प्रश्न करते हैं कि हे मनुष्य, कौन तुझे अच्छी-अच्छी क्रियाओं को करने की आज्ञा देता है? उत्तर दिया है कि वह जगदीश्वर ही आज्ञा देता है। फिर प्रश्न किया है कि किस प्रयोजन के लिये? उत्तर दिया है—सत्यव्रताचरणरूप यज्ञादि के लिए। 'वाम्' इस द्विवचन से वे शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी न लेकर कर्म करनेवाला और कर्म करानेवाला एवं अध्येता और अध्यापक का ग्रहण करते हैं। हे कर्म करने और करानेवालो, तुम्हें जगदीश्वर ने श्रेष्ठ कर्मों के लिए ही नियुक्त किया है। हे छात्रो और अध्यापको, तुम्हें जगदीश्वर ने सब शुभगुणों एवं विद्याओं में व्याप्ति के लिए नियुक्त किया है।

कर्मकाण्ड में अगले मन्त्र से शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी को तपाया जाता है—**प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः**, मन्त्र ७। अर्थ करते हैं कि इन्हें तपाने से इनमें चिपटे हुए जो राक्षस थे वे दग्ध हुए। हविर्दान के बाधक जो शत्रु थे वे दग्ध हुए, परन्तु ग्रन्थकार इस मन्त्र से यह अभिप्राय लेते हैं, "**इदमीश्वर आज्ञापयति सर्वैर्मनुष्यैः स्वकीयं दुष्टस्वभावं त्यक्त्वाऽन्येषामपि विद्याधर्मोपदेशेन त्याजयित्वा दुष्टस्वभावान् मनुष्यांश्च निवार्य बहुविधं ज्ञानं सुखं च सम्पाद्य विद्याधर्मपुरुषार्थान्विताः सुखिनः सर्वे प्राणिनः सदा सम्पादनीयाः।**" अर्थात् ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्यों को अपना दुष्ट स्वभाव छोड़कर, विद्या और धर्म के उपदेश से औरों को भी दुष्टता आदि अधर्म के व्यावहारों से अलग करना चाहिए, तथा उनको बहुत प्रकार का ज्ञान और सुख देकर सब मनुष्य आदि प्राणियों को विद्या, धर्म, पुरुषार्थ और नाना प्रकार के सुखों से युक्त करना चाहिए।

११वाँ मन्त्र "**भूताय त्वा नारातये**" आदि है। कर्मकाण्ड में यज्ञिय शकट में बचे हुए धान को इस मन्त्र से स्पर्श करते हुए कहते हैं— "हे धान, ब्राह्मण आदियों को भोजन कराने के लिए तुम्हें बचाया है, अदान के लिए नहीं"। विधि की भावना तो बहुत सुन्दर है, किन्तु ग्रन्थकार का अर्थ इससे भी विशाल है। उन्होंने इस मन्त्र के तीन अर्थ किये हैं, एक यज्ञपरक दूसरा परमेश्वरपरक, तीसरा भौतिक अग्निपरक। भाव यह लिया है कि हम यज्ञ, परमेश्वर तथा भौतिक अग्नि को सब प्राणियों के सुख के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दूसरा इसके अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इसमें कोई वात अप्रमाण वा अपनी कल्पित रीति से नहीं लिखी जाती। और जो-जो भाष्य उव्वट, सायण, महीधरादि ने वनाये हैं, वे सव मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं, तथा जो-जो इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेदव्याख्यान बने हैं, वे भी अशुद्ध हैं।

लिए, दानादि धर्म करने के लिए तथा दारिद्र्य आदि दोषों के नाश के लिए ग्रहण करें तथा भौतिक अग्नि से शिल्पविद्या की भी सिद्धि करें।

२३वाँ मन्त्र **"मा भेर्मा संविक्था:"** आदि है। कर्मकाण्डानुसार पुरोडाश (चावल की पुड़ी) को स्पर्श कर कहते हैं कि – हे पुरोडाश, तू भयभीत मत होना, चंचल मत होना, परन्तु ग्रन्थकार इसका निम्न अभिप्राय लेते हैं - **"ईश्वरः प्रतिमनुष्यम् आज्ञापयति आशीश्च ददाति नैव केनापि मनुष्येण यज्ञ-सत्याचारविद्याग्रहणस्य सकाशाद् भेतव्यं, विचलितव्यं वा।"** अर्थात् ईश्वर सव मनुष्यों को आज्ञा और आशीर्वाद देता है कि किसी मनुष्य को यज्ञ, सत्याचार और विद्या के ग्रहण से डरना व चलायमान होना कभी न चाहिए। इसी प्रकार इस प्रकरण में अन्यत्र भी ग्रन्थकार के भाष्य की व्यापकता को देखा जा सकता है।

अग्नीषोमीय पशुप्रयोग – कर्मकाण्डपरक व्याख्या में षष्ठ अध्याय के मन्त्र ७ से २२ तक अग्नीषोमीय पशु का प्रयोग आता है। इसमें छाग (बकरे) को देवताओं के लिए काटा जाता है। प्रथम अध्वर्यु तृण ले उसे पशु के मुख के आगे कर पशु को अभीष्ट स्थान पर ले जाता है। फिर उस पशु को सम्बोधित कर कहता है कि तेरी हवि देवताओं को स्वादिष्ट लगे (मन्त्र ७)। फिर तीन लड़वाली कुशा की रस्सी पशु के सींग में बाँध बधकर्त्ता के हाथ में पकड़ा देता है (मन्त्र ८)। फिर पशु यूप (यज्ञस्तम्भ) में बाँधा जाता है, उसपर जल छिड़कते हैं (मन्त्र ६)। उसके मुख में पानी की बूंद डालते हैं। ललाट, कन्धों तथा श्रोणियों पर घृत लगाते हैं (मन्त्र १०)। तदनन्तर अध्वर्यु छुरे को घृत से लिप्त कर उससे पशु के ललाट को स्पर्श करता है तथा पशु 'काटा' जाता है (मन्त्र ११)। मन्त्र है 'घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाम्' तुम घृत से लिप्त हो पशुओं की रक्षा करो। पर यहाँ तो मन्त्रार्थ के विरुद्ध पशु को काटा जा रहा है। ग्रन्थकार पशु को काटने से सहमत नहीं है, तथा उन्होंने यह अर्थ किया है—हे घृत चाहने और यज्ञ के करने-करानेहारो, तुम गौ आदि पशुओं की पालो।' फिर यजमानपत्नी कलश के जल से मृत पशु के मुख, नासिका, चक्षु, श्रोत्र आदि अंगों को जल छिड़ककर शुद्ध करती है (मन्त्र १४)। पश्चात् यजमान और अध्वर्यु दोनों कलश में बचे हुए जल से पशु के सिर, मुख आदि अंगों को मन्त्रोच्चारण करते हुए धोते हैं। फिर सब अंगों पर जल छिड़कते हुए कहते हैं कि—'जो पकड़ना, बाँधना, काटना आदि क्रूर व्यवहार हमने पशु के साथ किया है, वह शान्त हो।" फिर पशु की नाभि के अग्रभाग में चार अंगुल के व्यवधान से तृण बाँध, बद्ध स्थान में घी लगाकर छुरे से उदर की त्वचा भेदन करते हैं (मन्त्र १५)।

तभी नाभि के अग्र भाग में जो तृण बँधा है, अध्वर्यु बाएँ हाथ से उसका अग्रभाग तथा दाहिने हाथ से मूल भाग पकड़कर उसे दुहरा कर नाभि के रक्त में भिगोता है, फिर कुछ चर्बी ले उसमें घृत मिला, कुछ बूंदें आहवनीय अग्नि में डालता है (मन्त्र १६)। पत्नीसहित यजमान और ऋत्विज् सब एकत्र हो जल द्वारा मार्जन करते हैं, और जलों से प्रार्थना करते हैं कि पशुबधरूपी जो पाप हमने किया है उसे दूर करो (मन्त्र १७)। तत्पश्चात् पशु के हृदय को छुरे से काटकर धारापात करता हुआ कहता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे देखो—सायणाचार्य्य ने वेदों के परम=श्रेष्ठ अर्थ[1] को नहीं जानकर कहा है कि 'सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं।'

यह उनकी बात मिथ्या है। इसके उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में संक्षेप से लिख चुके हैं, सो देख लेना।

है कि तेरा मन देवकाओं के मन से मिले। फिर मांसपाकपात्र में चर्वी लेकर छुरे से उसे मिलाता है (मन्त्र १८)। उस चर्वी में से कुछ को अग्नि में होम करता है (मन्त्र १९)। तदन्तर मृत पशु के सब अंगों को यथायोग्य स्थित कर उन्हें स्पर्श कर कहता है कि इस पशु के अङ्ग-अङ्ग में प्राण निहित किया, और पशु को कहता है कि तुम जीवित होकर देवताओं के समीप जाओ (मन्त्र २०)। फिर प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विज् पहसे से ही पृथक् रखे हुए पशु के पिछले हिस्से को ग्यारह अंशों में बाँटकर **"समुद्रं गच्छ स्वाहा।"** आदि ग्यारह मन्त्राशों से आहुति देते हैं (मन्त्र २१)। फिर काटे हुए पशु का हृदय-मांस जिस शलाका पर पकाया था उस शलाका को शुष्क और आर्द्र भूप्रदेश को सन्धि में गाड़ देता है। अन्त में सब ऋत्विज् और यजमान वरुण से प्रार्थना करते हैं कि आप हमें भय से मुक्त करें (मंत्र २२)।

इस कर्मकाण्ड पर पाठक अपनी प्रतिक्रिया स्वयं देखें। हम तुलना के लिए इस प्रसंग के दो-चार मन्त्रों के महीधरकृत तथा ग्रन्थकारकृत भाष्य का आशय उपस्थित करते हैं—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्व माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥—यजु० ६।७

इसपर महीधर का आशय यह है। 'देवस्य त्वा' से आरम्भ कर 'नियुनज्मि' पर्यन्त मन्त्र से पशु (बकरे) को यज्ञ-स्तम्भ में बाँधे। अर्थ किया है हे पशु (सवितुः देवस्य प्रसवे) सविता देव की आज्ञा से (अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्)। अश्विनीकुमारों की भुजाओं से तथा पूषादेव के हाथों से अर्थात् अपनी भुजाओं और हाथों में इन देवों की भुजाओं तथा हाथों की भावना करके (**अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं**) अग्नि-सोम देवताओं के प्रीतिपात्र (**त्वा**) तुझको (**नियुनज्मि**) मैं बाँधता हूँ। 'अद्भ्यस्त्वा' आदि से उस पशु पर जल छिड़के। अर्थ है—हे पशु (**अग्नीषोमाभ्याम् जुष्टं त्वा**) अग्नि और सोम देवता के प्रीतिपात्र तुझे (**अद्भ्यः ओषधीभ्यः**) जलों और ओषधियों से (**प्रोक्षामि**) सिक्त करके पवित्र करता हूँ। इस प्रकार जलसेचन द्वारा पवित्र हुए (**त्वा**) तुझे (**माता अनुमन्यताम्**) माता भूमि इस कार्य के लिए अनुमति दे, (**पिता अनुमन्यताम्**) पिता द्युलोक अनुमति दे, (**सगर्भ्यः भ्राता अनुमन्यताम्**) तेरा सगा भाई अनुमति दे, (**सयूथ्यः सखा अनुमन्यताम्**) तेरे साथ एक ही झण्ड में रहनेवाला तेरा साथी अनुमति दे।

ग्रन्थकार के अनुसार यह मन्त्र उस अवसर का है जब बालक के माता-पिता विद्याध्ययनार्थ उसे गुरुकुल में प्रविष्ट कराने लाये हैं। ग्रन्थकार ने ८म तथा ९म मन्त्र की भूमिका में लिखा है—**अथ पित्रादयः स्वसन्तानान् कथमध्यापकाय प्रदद्युः स च तान् कथं गृह्णीयादित्युपदिश्यते। पुनः स शिष्यं किमुपदिशेदित्याह** " आचार्य अपने इस नवागत शिष्य को सम्बोधित कर कहता है—'हे शिष्य! मैं समस्त ऐश्वर्ययुक्त, वेदविद्या प्रकाश करनेवाले परमेश्वर के उत्पन्न किये इस जगत् में सूर्य और चन्द्रमा

---

१. अर्थात् अध्यात्मकपरक अर्थ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे ही सायणाचार्य्य ने (**इन्द्रं मित्रं०**) इस मन्त्र का अर्थ भी भ्रान्ति से बिगाड़ा है, क्योंकि उनने इस मन्त्र में विशेष्य-विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समझकर, इन्द्र शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया और मित्रादि शब्द उसके विशेषण ठहराये हैं। यह उनको बड़ा भ्रम हो गया, क्योंकि इस मन्त्र में अग्नि शब्द विशेष्य और इन्द्रादि शब्द उसके ही विशेषण हैं। इसलिए विशेषणों में एक का विशेष्य के साथ अन्वय होकर पुनः दूसरे-दूसरे विशेषण के साथ विशेष्य का अन्वय कराना होता है और विशेषण का एक बार विशेष्य के साथ अन्वय होता है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ एक के

के गुणों से वा पृथिवी के हाथों के समान धारण और आकर्षण गुणों से तुझे स्वीकार करता हूँ तथा अग्नि और सोम के तेज और शान्ति गुणों से प्रीति करते हुए तुझको जो ब्रह्मचर्य धर्म के अनुकूल जल और ओषधि हैं उन जल और गोधूम आदि अन्नादि पदार्थों से नियुक्त करता हूँ। तुझे मेरे समीप रहने के लिए तेरी जननी अनुमोदित करे, पिता अनुमोदित करे, सहोदर भाई अनुमोदित करे, मित्र अनुमोदित करें, और तेरे सहवासी अनुमोदित करें। अग्नि और सोम के तेज और शान्ति गुणों में प्रीति करते हुए तुझको उन्हीं गुणों से ब्रह्मचर्य के नियम-पालन के लिए अभिषिक्त करता हूँ।"

बकरे के यज्ञ में बलि होने का उसके माता, पिता, भाई तथा मित्र अनुमोदन करें इस अर्थ में चमत्कार है, या विद्याध्ययनार्थ बालक के गुरुकुलवास का उसके माता, पिता, भ्राता और साथी अनुमोदन करें यह अर्थ चमत्कारजनक है।

इसी प्रकरण के १२वें मन्त्र में कहा है **"माहिर्भूः मा पृदाकुः।"** अर्थ है "तू साँप मत बन, अजगर मत बन।" कर्मकाण्ड के विनियोगानुसार पशु बाँधने की रस्सी को दुहराकर भूमि पर रखते हुए कहते हैं कि हे रस्सी, तू सर्पाकार या अजगराकार मत होना, नहीं तो तुझे सर्प या अजगर समझकर भय लगेगा। पर ग्रन्थकार के अनुसार यह मन्त्र रस्सी को नहीं, किन्तु शिष्य को कहा गया है कि हे शिष्य तू सर्पादि के समान कुटिलाचरणवाला मत होना। इस मन्त्र का भावार्थ दर्शाते हुए वे लिखते हैं—**केनापि मनुष्येण धर्ममार्गे कुटिलमार्गगामिसर्पादिवत् कुटिलाचरणेन न भवितव्यं, किन्तु सर्वदा सरलभावेनैव भवितव्यम्।**" अर्थात् किसी मनुष्य को कुटिलगामी सर्प आदि दुष्ट जीवों के समान धर्ममार्ग में कुटिल न होना चाहिए, किन्तु सर्वदा सरल भाव से ही रहना चाहिए।

इस प्रसंग में १४वाँ तथा १५वाँ मन्त्र भी द्रष्टव्य है—

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि
चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि
नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि॥ —यजु० ६।१४

कर्मकाण्ड के अनुसार यजमानपत्नी मृत पशु के समीप बैठकर इन मन्त्रांशों से उसके मुख, प्राण आदि अंगों का जल से स्पर्श करती हुई शोधन करती है—"हे पशु, मैं तेरे मुख का शोधन करती हूँ, नाभि का शोधन करती हूँ तथा चरित्रों अर्थात् पैरों का शोधन करती हूँ।" पाठक विचार करें, यह कैसा अंगशोधन हुआ। पहले पशु का वध किया, फिर मृत पशु के अंगों का शोधन किया जा रहा है। पशु के अंगों का ही शोधन करना था, तो जीवित के अंगों का किया जाना चाहिए था।

ग्रन्थकार के अनुसार यह मन्त्र आचार्य द्वारा शिष्य को कहा गया है। वे लिखते हैं—"अथ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैकड़ों वा हज़ारों विशेषण होते हैं, वहाँ वहाँ भी विशेष्य का सैकड़ों वा हज़ारों बार उच्चारण होता है। वैसे ही इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द का दो बार उच्चारण किया, और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे हैं। यह बात सायणाचार्य्य ने नहीं जानी। इससे उनकी यह भ्रान्ति सिद्ध होती है। इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है—(**इममेवाग्निं०**)। यहाँ अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद् वस्तु ब्रह्म ही के हैं, क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं।

कथं ता गुरुपत्न्यो गुरवश्च यथायोग्यशिक्षया स्वस्वान्तेवासिनः सद्गुणेषु प्रकाशयन्तीत्युपदिश्यते।" अर्थात् इस मन्त्र में यह बतलाया है कि गुरुपत्नियों और गुरुजनों को यथायोग्य शिक्षा से अपने-अपने विद्यार्थियों को सद्गुणों में कैसे प्रकाशित करना चाहिए। मन्त्रार्थ किया है -"हे शिष्य, मैं विविध शिक्षाओं से तेरी वाणी को शुद्ध अर्थात् सद्धर्मानुकूल करता हूँ। तेरे नेत्र को शुद्ध करता हूँ। तेरी नाभि को पवित्र करता हूँ। तेरे लिङ्ग को पवित्र करता हूँ। गुदेन्द्रिय को पवित्र करता हूँ। समस्त व्यवहारों को पवित्र, शुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल करता हूँ तथा गुरुपत्नी पक्ष में सर्वत्र 'करती हूँ' यह योजना करनी चाहिए।" पुनः भावार्थ में लिखते हैं—"**गुरुभिर्गुरुपत्नीभिश्च वेदोपवेदवेदाङ्गोपाङ्गशिक्षया देहेन्द्रियान्तःकरणात्ममनः शुद्धिशरीरपुष्टिप्राणसन्तुष्टीः प्रदाय सर्वे कुमाराः सर्वाः कन्याश्च सद्गुणेषु प्रवर्तयितव्या इति।**"

अर्थात् गुरु और गुरुपत्नियों को चाहिए कि वेद और उपवेद तथा वेद के अंग और उपाङ्गों की शिक्षा से देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और मन की शुद्धि, शरीर की पुष्टि तथा प्राण की सन्तुष्टि देकर समस्त कुमार और कुमारियों को अच्छे-अच्छे गुणों में प्रवृत्त करावें। अगला मन्त्र इस प्रकार है।

मनस्त आप्यायतां वाक् त आप्यायतां
प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां
श्रोत्रं त आप्यायताम्।
यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायतां,
निष्टयायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः।
ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः॥ —यजु० ६।१५

महीधर की कर्मकाण्डी व्याख्यानुसार इस मन्त्र में पाँच विधियाँ वर्णित हैं—

(१) प्रथम अध्वर्यु तथा यजमान पान्नेजनपात्र में बचे हुए पानी से मृत पशु के सिर आदि अंगों को धोते हुए कहें हे पशु, (**ते मनः आप्यायताम्**) तेरा मन अर्थात् सिर शान्त हो, (**ते वाक् आप्यायताम्**) तेरा मुख शान्त हो, (**ते प्राणः आप्यायताम्**) तेरी नासिका शान्त हो, (**ते चक्षुः आप्यायताम्**) तेरी आँखें शान्त हों, (**ते श्रोत्रम् आप्यायताम्**) तेरे कान शान्त हों।

फिर एक साथ अवशिष्ट सब अँगों पर जल सिंचन करे—हे पशु, (**यत् ते क्रूरम्**) जो तेरे प्रोति बन्धन, निरोध आदि क्रूर कार्य हमने किया है (**यत् आस्थितं**) और जो छेदनकर्त्ता ने छेदन आदि कर्म किया है (**तत् ते आप्यायताम्**) वह तेरा सब शान्त होवे, (**निष्टयायताम्**) संहत होवे अथवा दोषशून्य होवे, (**तत् ते शुध्यतु**) वह तेरा सब शुद्ध होवे।

(३) फिर अवशिष्ट जल से पशु के जघनप्रदेश पर सिंचन करे—(**अहोभ्यः**) सब दिनों में (**शम्**) हमें तथा पशु को सुख प्राप्त हो।

(४) फिर पशु को उत्तान लिटाकर नाभि के अग्रभाग में चार अंगुल के व्यवधान से तृण बन्धन करे—(**ओषधे**) हे ओषधि, तू इस पशु की (**त्रायस्व**) रक्षा कर।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सायणाचार्य्य ने बहुत मन्त्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं। तद्यथा उनने—'सब मन्त्रों से परमेश्वर का ग्रहण कर रखा है, जैसे राजा का पुरोहित राजा ही के हित का काम सिद्ध करता है, अथवा जो अग्नि यज्ञ के सम्बन्धी पूर्वभाग में आहवनीय के रूप में हवन करने के लिए स्थित है', ऐसा कहा है।

---

(५) फिर घृताक्त असिधारा को तृण के ऊपर रख चुपचाप तृणसहित उदर की त्वचा का छेदन करे—(**स्वधिते**) हे खड्ग, (**एनं**) इस पशु को (**मा हिंसीः**) मत मार।

यहाँ पाँचों विधियाँ विचारणीय हैं। प्रथम जब पशु के अंगों का हमने निर्दयतापूर्वक छेदन कर दिया, तब उसके मन, प्राण आदि के शान्त होने की प्रार्थना व्यर्थ है। दूसरी विधि करते हुए कहा है कि हे पशु, जो तेरा बन्धन, छेदन आदि क्रूरकर्म हमने किया है वह शान्त हो। जब हम स्वयं समझ रहे हैं कि यह कर्म क्रूर है, तब उसे किया ही क्यों, और अब कर चुकने के पश्चात् उसकी शान्ति कराने का भी क्या अभिप्राय? तीसरी विधि करते हुए कहते हैं कि हमें या इस पशु को सुख प्राप्त हो। पशु की जब हमने हत्या कर दी तब भला उसे सुख कैसे प्राप्त होगा और पशुमारण रूपी क्रूर कर्म करने-करानेवाले हम भी सुख के अधिकारी क्योंकर हो सकते हैं? चौथी विधि में पशु का पेट फाड़कर चर्बी निकालने की तैयारी में हम उसकी नाभि से अग्रभाग में तृण बाँधते हैं और प्रार्थना उल्टी करते हैं कि हे ओषधि, तू इस पशु की रक्षा कर। रक्षा का मन्त्र बोलना है तो हमें रक्षा ही करनी चाहिए, न कि हिंसा। "**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति**" की दुहाई देना एक बहाना मात्र है। पाँचवो विधि में भी उसी प्रकार क्रिया करते हैं छुरे से पेट को फाड़ने की और प्रार्थना करते हैं कि हे छुरे, तू पशु की हिंसा मत कर। यह सब विधि-विधान कहाँ तक संगत है यह पाठक स्वयं विचारें। यदि घास-फूस, ओषधियों आदि का कृत्रिम पशु बनाया जाता, और 'मनुष्य के अन्दर जो पशुत्व रहता है उसे नष्ट करना है' इसके प्रतीक रूप में उस पशु को काटा जाता या होम किया जाता, तब भी कथंचित् विधि की चरितार्थता हो सकती थी, किन्तु यहाँ तो जीवित पशु की बलि दी जाती है।

अब ग्रन्थकार द्वारा प्रतिपादित इस मन्त्र का अर्थ देखिए। वे लिखते हैं—"**हे शिष्य! मदीय-शिक्षणेन ते तव मनः आप्यायताम्, ते प्राणः आप्यायताम्, ते चक्षुः आप्यायताम्, ते श्रोत्रम् आप्यायताम्, ते यत् क्रूरं दुश्चरित्रं तत् निष्टचायतां दूरीगच्छतु। यत् ते तव आस्थितं निश्चितं तद् आप्यायताम्। इत्थं ते सर्वं शुध्यतु। अहोभ्यो दिनेभ्यः तुभ्यं शम् अस्तु। अथस्वस्वामिनि शिष्यलालनापरं गुरुपत्नी वाक्यं—हे ओषधे विज्ञप्रवराध्यापकः त्वमेनं शिष्यं त्रायस्व मा हिंसीः। स च स्वपत्नीं प्रत्याह—हे स्वधिते-ऽध्यापिके स्त्रि! त्वमेनां त्रायस्व मा हिंसीश्च।**" अर्थात् गुरु शिष्य को कहता है—हे शिष्य, मेरी शिक्षा से तेरा मन पर्याप्त गुणयुक्त हो। तेरा प्राण, बलादि गुणयुक्त हो। तेरी आँख निर्मल दृष्टिवाली हो। तेरे कर्ण सद्गुणव्याप्त हों। तेरा जो दुष्ट व्यवहार है, वह दूर हो और जो तेरा निश्चय है वह पूरा हो। इस प्रकार तेरा समस्त व्यवहार शुद्ध हो और प्रतिदिन तेरे लिए सुख हो। गुरुपत्नी अपने पति से कहती है—'हे प्रवर अध्यापक! आप इस शिष्य की रक्षा कीजिए और व्यर्थ ताड़ना मत कीजिए'। गुरु अपनी पत्नी से कहता है-'हे प्रशस्त अध्यापिके! तू इस कुमारिका शिष्या की रक्षा कर और इसको ताड़ना मत दे।'

हमने इस प्रकरण के कुछ ही मन्त्रों को लिया है। अन्य मन्त्रों के भी अर्थ महीधर तथा ग्रन्थकार के भाष्य से मिलान किये जा सकते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सायणाचार्य्य का कथन अयोग्य और पूर्वापर विरोधी होकर आगे-पीछे के सम्बन्ध को तोड़ता है, क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण करते हैं, तो फिर जिस अग्नि में हवन

रुद्राध्याय - यजुर्वेद का १६वाँ अध्याय रुद्राध्याय कहलाता है, जिसमें ६६ मन्त्र हैं। इसके आधार पर शतरुद्रिय होम कल्पित किया गया है। उव्वट एवं महीधर के अनुसार इसमें उस रुद्र देवता से प्रार्थनाएँ की गई हैं, जो कैलास पर्वत पर निवास करता है, जिसके हाथ में बाण हैं, जो नीलग्रीव तथा जटाजूटधारी (कपर्दी) है। मन्त्र '७ से ४६ तक रुद्र के विभिन्न रूपों को नमस्कार किया गया है, जिनमें जहाँ वह अनेक उत्कृष्ट रूपों में वर्णित हुआ है, वहाँ साथ ठग, चोर, लुटेरे, तस्कर आदि रूपों में भी उसका वर्णन किया गया है। ऐसा क्यों है ? इसका समाधान महीधर यह देते हैं— "**रुद्रो लोलया चोरादिरूपं धत्ते। यद्वा रुद्रस्य जगदात्मकत्वाच्चोरादयो रुद्रा एव ध्येयाः। यद्वा स्तेनादिशरीरे जीवेश्वर-रूपेण रुद्रो द्विधा तिष्ठति, तत्र जीवरूपं लक्षयति, यथा शाखाग्रं चन्द्रस्य लक्षकम्। किं बहुना, लक्ष्यार्थविवक्षया मन्त्रेषु लौकिकाः शब्दाः प्रयुक्ताः।**" (मन्त्र २०) अर्थात्—रुद्र ही लीला से चोर आदि का रूप धारण कर लेता है, अथवा क्योंकि रुद्र जगदात्मक है, अतः चोर आदि भी रुद्र समझने चाहिएँ। अथवा चोर आदि के शरीर में रुद्र जीवरूप में तथा ईश्वररूप में दो प्रकार से अवस्थित होता है। उसमें जीवरूप स्तेन आदि शब्द का वाच्य है, और ईश्वररूप लक्ष्यार्थ है।

दूसरी ओर ग्रन्थकार ने इस अध्याय के भाष्य में एक आदर्श राष्ट्र का चित्र खींचा है। उनके अनुसार राजा या सेनापति रुद्र है, क्योंकि वह शत्रुओं को रुलाता है। उसके अधीन विभिन्न दिशाओं में नियुक्त शत्रुरोदक अन्य शूरवीर भी रुद्र हैं। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे शत्रुओं को जीतें, तथा स्वपक्ष के लोगों को उन्नत करें। जिन्हें 'नमः' कहा गया है, वे राष्ट्र में रहनेवाले अनेक व्यक्ति हैं। 'नमः' पद का अर्थ स्वामी जी ने यथायोग्य अन्न, वज्र या सत्कार किया है, जो वैदिककोष निघण्टु से अनुमोदित है। जो उपकारी स्वामी, सेवक, अध्यक्ष आदि हैं, उन्हें उनका पारिश्रमिक अन्न, धन एवं सत्कार प्राप्त होना चाहिए, तथा जो चोर, लुटेरे आदि हैं उनके हाथ में वज्र दिया जाना चाहिए। जैसे—

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये (मन्त्र १७)—ज्योति के समान तीव्र तेजयुक्त भुजावाले सेना के शिक्षक को वज्र प्राप्त हो।

पशूनां पतये नमः (मन्त्र १७)—गौ आदि पशुओं के रक्षक के लिए सत्कार प्राप्त हो।

नमो मन्त्रिणे वाणिजाय (मन्त्र १९)—विचार करनेहारे राजमन्त्री और वैश्यों के व्यवहार में कुशल पुरुष का सत्कार करें।

नमः उच्चैर्घोषाय आक्रन्दयते (मन्त्र १९)—ऊँचे स्वर से बोलनेवाले तथा दुष्टों को रुलाने-वाले न्यायाधीश का सत्कार करें।

नमो वञ्चते परिवञ्चते (मन्त्र २१) छल से दूसरों के पदार्थों को हरनेवाले, सब प्रकार कपट के साथ वर्तमान पुरुष को वज्रप्रहार प्राप्त हो।

स्तायूनां पतये नमः (मन्त्र २१)—चोरों से जीनेवालों के स्वामी को वज्र से मारें।

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमः (मन्त्र २७)—पदार्थों को सूक्ष्म क्रिया से बनानेहारे तुमको अन्न देते हैं और बहुत-से विमानादि यानों को बनानेहारे तुम लोगों का परिश्रमादि का धन देकर सत्कार करते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं, उसको किस लिए ग्रहण किया है ?

और कदाचित् कोई कहे कि सायणाचार्य्य ने यद्यपि इन्द्रादि देव ही वहाँ-वहाँ बुलाये जाते

नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः (मन्त्र २७)—प्रशंसित मिट्टी के पात्र बनानेवालों को अन्नादि पदार्थ देते हैं और खड्ग, बन्दूक, तोप आदि शस्त्र बनानेवाले तुम लोगों का सत्कार करते हैं।

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च (मन्त्र २९)—गृहस्थ लोगों को चाहिए कि जटाधारी ब्रह्मचारी और समस्त केश मुंडानेहारे संन्यासी को अन्न देवें।

नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च (मन्त्र २९)– असंख्य शास्त्र के विषयादि को देखनेवाले विद्वान् ब्राह्मण का और धनुष्य आदि असंख्य शस्त्रविद्याओं के शिक्षक क्षत्रिय का सत्कार करें।

नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च (मन्त्र २९)—पर्वतों के आश्रय से सोनेहारे वानप्रस्थ का और पशुओं के पालक वैश्य आदि का सत्कार करें।

अश्वमेध कर्मकाण्डिक व्याख्यानुसार यजु॰ के २२वें से २५वें अध्याय तक अश्वमेध-यज्ञ वर्णित हुआ है। वह यज्ञ बहुत विस्तृत है, तथापि उसकी संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत करते हैं। अश्वमेध का अधिकार अभिषिक्त राजा को ही है। वह अपनी चार पत्नियों महिषी, वावाता (वल्लभा), परिवृक्ता (अवल्लभा) और पालागली (दूतपुत्री) को साथ लेकर यज्ञ आरम्भ करता है। चारों पत्नियों के साथ उनकी सौ-सौ अनुचरियाँ होती हैं। राजा चारों ऋत्विज् होता, अध्वर्यु ब्रह्मा तथा उद्गाता का वरण करता है। एक ऐसा घोड़ा लाया जाता है, जिसका अगला हिस्सा काला और पिछला सफ़ेद हो, ललाट पर शकटाकार तिलक बना हो, जो बहुत मूल्यवान्, अति वेगवान् और ऐसा अद्वितीय हो जिसकी जोट का दूसरा न मिलता हो। अध्वर्यु ब्रह्मा से अनुमति पाकर रस्सी से घोड़े को बाँधता है। उस घोड़े को तालाब के स्थावर जल के बीच ले-जाकर स्नान कराता है। वहीं आयोगव पुरुष (शूद्र और वैश्य की सन्तान) के हाथ से एक चार आँखोंवाले (अर्थात् जिसकी दो आँखें तथा उनके ऊपर दो आँख जैसे चिह्न हों ऐसे) कुत्ते को मुसल से मरवा कर बेत की चटाई पर रख **"परो मर्त्त परः श्वा,** यजु॰ २२-५" का पाठ कर घोड़े के नीचे से तालाब में प्रवाहित कर देता है। वहाँ से वह घोड़े को अग्नि के समीप ला अग्नि में आहुतियाँ देता है।

इसके पश्चात् अध्वर्यु तथा यजमान घोड़े को विहार करने के लिए अन्य १०० घोड़ों के साथ ईशान दिशा में छोड़ देते हैं। साथ में कवच, खड्ग, दण्ड आदि लिये हुए ४०० सैनिक रक्षार्थ भेजे जाते हैं। उन्हें आदेश दिया जाता है कि वे एक वर्ष तक घोड़े को भ्रमण कराते रहें और दिग्विजय करके लौटें। एक वर्ष के पश्चात् जब घोड़ा लौटकर आता है तब अन्य तीन घोड़ों सहित उसे एक रथ में नियुक्त कर अध्वर्यु और यजमान रथ में बैठ, तालाब पर ले-जाकर, घोड़ों को जल में प्रविष्ट कराते हैं। वहाँ से घोड़े को देवयजन स्थान में लाते हैं और उस समय महिषी, वावाता तथा परिवृक्ता ये तीनों पत्नियाँ क्रमशः घोड़े के अगले, बीच के तथा पिछले शरीर की मालिश करती हैं। फिर वे ही तीनों उस घोड़े के सिर तथा पूँछ में १०१-१०१ सौवर्ण मणियाँ बाँधती हैं। इसके बाद ब्रह्मा और होता **"कः स्वदेकाकी चरति'** यजु॰२३-९-१२ इन चार मन्त्रों से परस्पर प्रश्नोत्तर करते हैं। इसके बाद पशुओं को यूप में बाँधा जाता है। २१ यूप होते हैं, जिनमें बीच के अग्निष्ठ यूप में १७ पशु तथा शेष यूपों में से प्रत्येक में १६-१६ पशु बाँधे जाते हैं। ये सब ग्राम्य पशु होते हैं, जिनका बाद में बध करना होता है। इन २१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, फिर भी परमेश्वर का ही इन्द्रादिरूप से उपस्थित होने से कुछ भी विरोध नहीं आ सकता।'—ऐसा कहा है, इसलिए कोई दोष नहीं है।

यूपों के मध्य में जो २० अवकाश होते हैं उनमें से प्रत्येक में कपिंजल आदि १३-१३ आरण्य प्राणी अवस्थित किये जाते हैं। इनका वध अभीष्ट नहीं होता, किन्तु इन्हें बाद में इन-इनके देवताओं के उद्देश्य से उत्सर्ग कर छोड़ दिया जाता है। तत्पश्चात् दरी-चादर बिछा, उसपर सुवर्ण रख घोड़े का संज्ञपन (वध) किया जाता है। राजपत्नियाँ उस मृत घोड़े की तीन-तीन परिक्रमाएँ करती हैं। फिर पत्नियाँ, अध्वर्यु और यजमान मिलकर मृत घोड़े का प्राणशोधन करते हैं। प्राणशोधन के अनन्तर महिषी घोड़े के पास लेट जाती है। अध्वर्यु महिषी तथा घोड़े को चादर से ढक देता है। महिषी मृत घोड़े के लिंग को खींचकर अपनी योनि में डालती है और कहती है कि यह घोड़ा मुझ में वीर्य का आधान करे।

इसके अनन्तर अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि कुमारी एवं राजपत्नियों से अश्लील हास-परिहास करते हैं, और वे भी अपनी-अपनी अनुचरियों सहित उन्हें वैसा ही अश्लील उत्तर देती हैं। फिर अध्वर्यु आदि घोड़े के पास लेटी हुई महिषी को वहाँ से उठाकर लाते हैं। महिषी आदि तीनों राजपत्नियाँ तांबे, चाँदी और सोने की सुईयों से मृत घोड़े के शरीर को छेदकर जर्जर करती हैं, जिससे तलवार उसके शरीर में आसानी से प्रविष्ट हो सके। फिर घोड़े के पेट को काटकर उसमें से होम के लिए चर्बी निकाली जाती है। यूपों में बँधे अन्य पशुओं को भी काटा जाता है और चर्बी, रक्त तथा शूल पर पकाये हुए मांस का होम किया जाता है। अन्त में राजपत्नियों की जो सौ-सौ अनुचरियाँ थीं, उन्हें ब्रह्मा आदि ऋत्विजों को दक्षिणा में दे दिया जाता है। कर्मकाण्डियों का विश्वास है कि घोड़ा पुनर्जीवित हो स्वर्ग चला जाता है।

ग्रन्थकार अश्वमेध के इस रूप से सहमत नहीं हैं, न ही इसे वेद व शतपथ ब्राह्मण के अनुकूल समझते हैं। वे **"राष्ट्रं वा अश्वमेधः"** यह शतपथ का प्रमाण देते हुए ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के राज-प्रजाधर्मविषय में लिखते हैं कि **"राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति, नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति,"** अर्थात् राष्ट्र का पालन करना ही क्षत्रियों का अश्वमेध यज्ञ है, घोड़े को मारकर उसके अंगों का होम करना नहीं। सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में इस सम्बन्ध में निम्न प्रश्नोत्तर आये हैं -

प्रश्न—यज्ञकर्त्ता कहते हैं कि यज्ञ करने से यजमान और पशु स्वर्गगामी तथा होम करके फिर पशु को जीवित करते थे, यह बात सच्ची है वा नहीं?

उत्तर नहीं, जो स्वर्ग को जाते हों तो ऐसी बात कहनेवाले को मारके होम कर स्वर्ग में पहुँचाना चाहिए वा उसके प्रिय माता, पिता, स्त्री और पुत्रादि को मार, होम कर स्वर्ग में क्यों नहीं पहुँचाते? वा वेदी में से पुनः क्यों नहीं जिला लेते हैं?

प्रश्न—जब यज्ञ करते हैं तब वेदों के मन्त्र पढ़ते हैं। जो वेदों में न होता तो कहाँ से पढ़ते?

उत्तर—मन्त्र किसी को कहीं पढ़ने से नहीं रोकता, क्योंकि वह एक शब्द है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पशु को मारके होम करना चाहिए।

अश्वमेध प्रसग में आनेवाले २३वें अध्याय के १९ से ३१ तक के मन्त्रों का महीधरकृत अर्थ अत्यन्त अश्लील है, जिसे लिखते हुए भी लज्जा अनुभव होती है। स्वयं महीधर भी उसे वैसा ही समझते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका उत्तर यह है कि—जब इन्द्रादि नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण है, तो वह निराकार, सर्वशक्तिमान्, व्यापक और अखण्ड होने से जन्म लेकर भिन्न-भिन्न व्यक्तिवाला कभी नहीं हो सकता।

हैं। अतएव उसके बाद ३२वें मन्त्र का अर्थ वे करते हैं कि 'अश्व के संस्कार के लिए जो हमने अश्लील भाषण किया है और उससे जो हमारे मुख दुर्गन्धित हो गये हैं उन्हें यह यज्ञ पुनः सुगन्धित कर देवे। मन्त्र यह है—**दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः। सुरभि नो मुखा करत् प्राण आयूंषि तारिषत्॥** यजु० २३.३२। महीधर अर्थ करते हैं—"**वयम् अध्वर्य्वादयः अकारिषम् अकार्ष्म कृतवन्तः। वचनव्यत्ययः। अश्लीलभाषणमिति शेषः। किमर्थम्? अश्वस्य संस्कारायेति शेषः, अश्वसंस्काराय अश्लीलभाषणं कृतवन्त इत्यर्थः।..... नोऽस्माकं मुखा मुखानि सुरभि सुरभीणि करत् करोतु यज्ञ इति शेषः। अश्लीलभाषणेन दुर्गन्धं प्राप्तानि मुखानि सुरभीणि यज्ञः करोत्वित्यर्थः।**" यदि मुख दुर्गन्धित होने की चिन्ता थी तो अश्लील अर्थ किया ही क्यों? वस्तुतः न उन मन्त्रों का अर्थ अश्लील है, न ही इस ३२वें मन्त्र का यह अभिप्राय है जो महीधर ले रहे हैं। यहाँ हम तुलना के लिए अश्वमेध प्रकरण के कुछ इतर मन्त्रों का कर्मकाण्डिक अर्थ तथा ग्रन्थकार का अर्थ देते हैं—

ऊपर अश्वमेध की विधि में हम देख चुके हैं कि घोड़े को काटने के पश्चात् राजमहिषी मृत घोड़े के पास लेट जाती है। उस प्रसंग का यह मन्त्र है—

प्राणाय स्वाहा अपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा।
अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥ —यजु० २३।१८

महीधर के अनुसार '**प्राणाय स्वाहा**' आदि से मृत अश्व का प्राणशोधन करते हैं। फिर घोड़े के पास लेटी हुई महिषी से ईर्ष्या करती हुई अन्य राजपत्नियाँ परस्पर कहती हैं कि अरी अम्बे, अरी अम्बिके, अरी अम्बालिके! मुझे तो उस घोड़े के पास कोई ले ही नहीं जाता। वह दुष्ट घोड़ा तो काम्पीलनगरवासिनी उस दुष्टा सुन्दरी सुभद्रा के पास लेटा हुआ है। अत्र ग्रन्थकार का अर्थ देखिए। उन्होंने '**अश्वकः**' का अर्थ अश्व के समान शीघ्रगामी जन, '**सुभद्रिकाः**' का अर्थ सुष्ठु कल्याणकारिणी तथा 'काम्पीलवासिनी' का अर्थ लक्ष्मी किया है—"**अश्वकः" अश्व इव गन्ता जनः, सुभद्रिकां सुष्ठु कल्याणकारिकां, काम्पीलवासिनीं कं सुखं पीलति बध्नाति गृह्णातीति कंपीलः स्वार्थेऽण्, तं वासयितुं शीलमस्यास्ता लक्ष्मीम्**"। सम्पूर्ण मन्त्र का अभिप्राय यह लिया है कि हे माता, हे दादी, और हे परदादी! जिस लक्ष्मी को पाकर अश्व के समान शीघ्रगामी मनुष्य भी सो जाता है, निरुद्यमी हो जाता है, वह लक्ष्मी मुझे वश में नहीं करती है, अतः मैं तो प्राण, अपान और व्यान के लिए स्वाहा करता हूँ, अर्थात् पुरुषार्थी होता हूँ। भावार्थ में लिखते हैं—"**धनस्य स्वभावोऽस्ति यत्रेदं संचीयते तान् निद्रालून् अलसान् कर्महीनान् करोति अतो धनं प्राप्यापि पुरुषार्थ एव कर्तव्यः**", अर्थात् धन का स्वभाव है कि जहाँ वह इकट्ठा होता है उन जनों को निद्रालु, आलसी और कर्महीन कर देता है, इससे धन पाकर भी मनुष्य को पुरुषार्थ ही, करना चाहिए।

कर्मकाण्ड में २३वें अध्याय के ३३ से ३८ मन्त्र तक राजपत्नियाँ मृत घोड़े के अंगों को लोहे, चाँदी और सोने की सुईयों से छेद-छेद कर जर्जर करती हैं। मन्त्र है—

गायत्री त्रिष्टुब् जगत्यनुष्टुप् पङ्क्त्या सह।
बृहत्युष्णिहा ककुप् सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥ —यजु० २३।३३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि वेदों में परमेश्वर का 'एक', 'अज' और 'अकाय' अर्थात् शरीर-सम्बन्धरहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है। इससे सायणाचार्य्य का कथन सत्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार सायणाचार्य्य ने जिस-

---

इसका महीधरकृत अर्थ है—**"हे अश्व! गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप् पङ्क्त्या सह बृहती, उष्णिहा सह ककुप् एतानि छन्दांसि सूचीभिरेताभिः त्वां शम्यन्तु संस्कुर्वन्तु। असि-पदार्थं त्वग्भेदनं संस्कारः"**, अर्थात् हे घोड़े, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, पंक्तिसहित बृहती, उष्णिक् सहित ककुप् ये छन्द इन सुइयों से तेरा संस्कार करें। संस्कार का अभिप्राय है त्वचा को भेदना, जिससे तलवार घुसने का मार्ग बन सके, परन्तु ग्रन्थकार इस मन्त्र में घोड़े को सम्बोधन न मानकर मनुष्य को सम्बोधन मानते हैं और यह अर्थ लेते हैं कि हे मनुष्यो! गायत्री, त्रिष्टुप् आदि छन्दोंवाले वेदमन्त्र तुम्हारे आपसके मतभेदों को उसी प्रकार सी दें जैसे सुइयों से वस्त्र को सिया जाता है। इस मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं—**"ये विद्वांसो गायत्र्यादिच्छन्दोऽर्थविज्ञापनेन मनुष्यान् विदुषः कुर्वन्ति सूच्या छिन्नं वस्त्रमिव भिन्नमतान्यनुसंवधति ऐकमत्ये स्थापयन्ति ते जगत्कल्याणकारका भवन्ति।"** अर्थात् जो विद्वान् गायत्री आदि छन्दों के अर्थ को बताने से मनुष्यों को विद्वान् करते हैं और सुई से फटे वस्त्र को सीवें त्यों अलग-अलग मतवालों का सत्य में मिलाप कर देते हैं और उनकी एक मत में स्थापना करते हैं वे जगत् के कल्याण करनेवाले होते हैं।

३६वें मन्त्र का पूर्वार्ध है—**नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया।** महीधर इसका अर्थ करते हैं कि हे घोड़े! महिषी आदि राजपत्नियाँ मन से विचारकर तेरे शरीर के बालों को नोचें -**"हे अश्व, नार्यः नृणामपत्यानि स्त्रियः ते तव लोम रोमाणि मनीषया मनसः इच्छया विचार्य विचिन्वन्तु पृथक् कुर्वन्तु। ···कीदृश्यो नार्यः? पत्न्यः यजमानभार्या महिष्याद्या इत्यर्थः।"** परन्तु ग्रन्थकार घोड़े के स्थान पर विदुषी अध्यापिका को सम्बोधन कर अर्थ करते हैं कि कुमारियाँ तीक्ष्ण बुद्धि से आपकी अनुकूल आज्ञा को एकत्र करें—**"नार्यः नराणां स्त्रियः ते तव पत्न्यः स्त्रियः लोम अनुकूलं वचनं विचिन्वन्तु संचितं कुर्वन्तु मनीषया मनस ईषणकर्त्र्या प्रज्ञया ······। हे विदुष्यध्यापिके, कुमार्यो मनीषया ते लोम विचिन्वन्तु।"**

अब जिन मन्त्रों से चर्बी निकालने के लिए घोड़े का पेट फाड़ा जाता है उनमें से एक मन्त्र लेते हैं—

कस्त्वाऽऽच्छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति।
क उ ते शमिता कविः॥—यजु० २३।३९

महीधर के अनुसार घोड़े का पेट फाड़नेवाला कह रहा है कि "हे घोड़े! प्रजापति तुझे काट रहा है (मैं नहीं), प्रजापति ही तेरी खाल अलग कर रहा है (मैं नहीं), प्रजापति हो तेरे अगों को काटकर हविर्भाव को प्राप्त करा रहा है (मैं नहीं), वह मेधावो प्रजापति ही तेरा शमिता अर्थात् वध करनेवाला है (मैं नहीं)। देखिए, अपना पाप कैसी कुशलता से प्रजापति के ऊपर आरोपित किया जा रहा है। ग्रन्थकार ने इस मन्त्र का निम्न भावार्थ लिखा है—**"अध्यापका अध्येतॄन् प्रत्येकं परीक्षायां पृच्छेयुः। के युष्माकमध्ययनं छिन्दन्ति? के युष्मानध्ययनाय उपदिशन्ति? केऽङ्गानां शुद्धियोग्यां चेष्टां च ज्ञापयन्ति? कोऽध्यापकोऽस्ति? किमधीतम्? किमध्येतव्यमस्तीत्यादि पृष्ट्वा सुपरीक्ष्य, उत्तमानुत्साह्य अधमान् धिक् कृत्वा विद्यामुन्नयेयुः।"** अर्थात् अध्यापक लोग पढ़नेवालों के प्रति ऐसे परीक्षा में पूछें कि कौन तुम्हारे पढ़ने को काटते अर्थात् पढ़ने में विघ्न करते हैं? कौन तुमको पढ़ने के लिए उपदेश देते हैं? कौन अंगों की शुद्धि और योग्य चेष्टा को जनाते हैं? कौन पढ़ानेवाला है? क्या पढ़ा? क्या

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस मन्त्र का अन्यथा व्याख्यान किया है, सो सब क्रमपूर्वक आगे उन मन्त्रों के व्याख्यान में लिख दिया जाएगा।

पढ़ने योग्य है ? ऐसे-ऐसे पूछ, उत्तम परीक्षा कर, उत्तम विद्यार्थियों को उत्साह देकर दुष्ट स्वभाववालों को धिक्कार देके विद्या की उन्नति करावें।

२४वें अध्याय में कुछ पशु, कुछ जलचर जीव और कुछ पक्षी परिगणित किये गये हैं। कर्मकाण्ड के अनुसार जैसा पहले उल्लेख कर चुके हैं, ग्राम्य पशुओं को जो संख्या में ३२७ बैठते हैं, २१ यूपों में बाँधा जाता है, किन्तु इतना अन्तर है कि उन्हें बिना मारे देवताओं के नाम पर छोड़ दिया जाता है। परन्तु ग्रन्थकार इस इन्द्रजाल में नहीं पड़ते। उनका कथन है कि यह जन्तुओं का परिगणन इस दृष्टि से किया गया है कि मनुष्य उनसे यथायोग्य उपकार लेवें। प्रथम मन्त्र में विषय प्रतिपादन करते हुए वे लिखते हैं —

"अथ मनुष्यैः पशुभ्यः कीदृश उपकारो ग्राह्य इत्याह" अर्थात् मनुष्यों को पशुओं से कैसा उपकार लेना चाहिए इस विषय का यहाँ वर्णन किया जाता है। पुनः १५वें मन्त्र के भाष्य में लिखते हैं— **"ये नानादेशसंचारिण प्राणिनः सन्ति तैर्मनुष्या यथायोग्यानुपकारान् गृह्णीयुः"** अर्थात् जो नाना देशों में विहार करनेवाले प्राणी हैं, उनसे मनुष्य यथायोग्य उपकार लेवें। पशुओं के साथ जो एक-एक देवता का मन्त्रों में उल्लेख है उसका अभिप्राय कर्मकाण्डी यह लेते हैं कि उस-उस देवता की तृप्ति के लिए उस-उस पशु का वध या उत्सर्ग किया जाता है, परन्तु ग्रन्थकार १९वें मन्त्र के भाष्य में लिखते हैं कि **"या यस्य पशोर्देवता उक्ता स तद्गुणो ग्राह्यः"**, अर्थात् मन्त्र में जो जिस पशु का देवता कहा गया है, उस पशु को उस गुणवाला समझना चाहिए। एवं अश्वमेध सम्बन्धी सारे प्रकरण की व्याख्या में ग्रन्थकार की दिव्य दृष्टि सर्वत्र दिखाई देती है।

पुरुषमेध—कर्मकाण्ड में अध्याय ३० तथा ३१ पुरुषमेधपरक है। ३०वें अध्याय में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि १८४ प्रकार के पुरुषों का वर्णन है। इससे विधि यह कल्पित की गई है कि इस यज्ञ में ११ यूप गाड़े जाते हैं। **'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्'** आदि प्रथम ४८ मन्त्रभागों से मध्य के अग्निष्ठ यूप में एक-एक कर ४८ पुरुष बाँधे जाते हैं। शेष १० यूपों में अगले ११-११ मन्त्रभागों से प्रत्येक में ११-११ पुरुषों को बाँधते हैं। अन्त में अवशिष्ट २६ पुरुष द्वितीय यूप में और बाँध दिये जाते हैं। इस प्रकार १८४ की संख्या पूर्ण की जाती है। **'ब्रह्मदेवता की तृप्ति के लिए मैं ब्राह्मण को बाँधता हूँ'** इत्यादि प्रकार से प्रत्येक पुरुष के साथ जिस-जिस देवता का मन्त्र में उल्लेख है, उस-उस देवता की तृप्ति के लिए उस-उस पुरुष को बाँधा जाता है। सब पुरुषों के बँध जाने के उपरान्त ३१वें अध्याय **"सहस्रशीर्षा पुरुषः"** आदि से उनकी स्तुति की जाती है। फिर जिस क्रम से बाँधा गया था उसी क्रम से उन-उन देवताओं के नाम पर प्रत्येक को बन्धन-मुक्त कर दिया जाता है। कुछ का विश्वास है कि किसी समय इन बद्ध पुरुषों का अग्नि में होम किया जाता था, एवं नरबलि की प्रथा प्रचलित थी। शतपथकार को यह नृशंस प्रथा सह्य नहीं हुई, अतः उसने कहा कि बलि न दी जाए, किन्तु उस-उस देवता के नाम पर बद्ध पुरुषों को मुक्त कर दिया जाए। तब सब पुरुषों की बलि न देकर उन्हें बन्धन-मुक्त किया जाने लगा।

ग्रन्थकार के अनुसार न पुरुषों को बद्ध करने की आवश्यकता है, न बलि देने की। ३०वें अध्याय में जो पुरुष तथा स्त्रियाँ परिगणित किये गये हैं, उनमें से कुछ उत्कृष्ट हैं तथा कुछ निकृष्ट ; उनके साथ एक-एक गुण या दोष का भी उल्लेख है। राजा का कर्त्तव्य बताते हुए उसे कहा गया है कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[महीधरभाष्यदोषप्रदर्शनम्]

एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं विवरणं कृतं, तस्यापीह दोषा दिग्दर्शनवत् प्रदर्श्यन्ते—

अमुक-अमुक गुणोंवाले पुरुष या स्त्री को आप राष्ट्र में उत्पन्न कीजिए या नियुक्त कीजिए, और अमुक-अमुक प्रकार के पुरुष या स्त्री को आप दूर कीजिए। उदाहरणार्थ ग्रन्थकार के भाष्य में कुछ मन्त्रभागों के अर्थ निम्न हैं—

ब्रह्मणे ब्राह्मणम् (मन्त्र ५)—वेद और ईश्वर के ज्ञान के प्रचार के अर्थ वेद और ईश्वर को जाननेवाले को उत्पन्न कीजिए।

क्षत्राय राजन्यम् (मन्त्र ५) – राज्य वा राज्य की रक्षा के लिए राजपुत्र को उत्पन्न कीजिए।

मरुद्भ्यो वैश्यम् (मन्त्र ५) - पशु आदि प्रजा के लिए वैश्य को उत्पन्न कीजिए।

तपसे शूद्रम् (मन्त्र ५)—कष्ट से होनेवाले सेवन के अर्थ प्रीति से सेवा करने तथा शुद्धि करनेहारे शूद्र को उत्पन्न कीजिए।

पवित्राय भिषजम् (मन्त्र १०)—रोग की निवृत्ति करने के अर्थ वैद्य को उत्पन्न कीजिए।

प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम् (मन्त्र १०)—उत्तम ज्ञान बढ़ाने के अर्थ नक्षत्रों को देखने वा इनसे उत्तम विषयों को दिखानेहारे गणितज्ञ ज्योतिषी को उत्पन्न कीजिए।

ऋतये स्तेनहृदयम् (मन्त्र १३)—हिंसा करने के लिए प्रवृत्त हुए चोर के तुल्य छली-कपटो को पृथक् कीजिए।

वैरहत्याय पिशुनम् (मन्त्र १३)—वैर तथा हत्या जिस कर्म में हों उसके लिए प्रवृत्त हुए निन्दक को पृथक् कीजिए।

योगाय योक्तारम् (मन्त्र १४)—योगाभ्यास के लिए योग करनेवाले को उत्पन्न कोजिए।

वर्णाय हिरण्यकारम् (मन्त्र १७)—सुन्दर रूप बनाने के लिए सुनार को उत्पन्न कीजिए।

नर्माय पुंश्चलूम् (मन्त्र २०) क्रीडा के लिए प्रवृत्त हुई व्यभिचारिणी स्त्री को दूर कीजिए।

इससे अगले ३१वें अध्याय में 'पुरुष' नाम से परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन है, तथा उस पुरुष से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई इसका उल्लेख है।

पितृमेध—कर्मकाण्डानुसार ३५वें अध्याय में पितृमेध का वर्णन है। जिस पुरुष को पितृमेध करना हो वह मृत सम्बन्धी की अस्थियाँ कुम्भ में संचित कर अरण्य में गाड़ दे। पितृमेध के दिन उस अस्थिकुम्भ को ग्राम के समीप लाकर जितने मृत के अमात्य-पुत्र-पौत्र हों उतने अन्य कुम्भ तथा उनसे कुछ अधिक छत्र एकत्र कर ले। अस्थिकुम्भ को शय्या पर रख वस्त्र में लपेट दें। मोहमय वादित्र, वीणा आदि बजने पर मृत के पुत्र-पौत्र उत्तरीयों तथा व्यञ्जनों से पँखा झलते हुए उसकी तीन-तीन प्रदक्षिणा करें। कुछ के मत में स्त्रियाँ भी परिक्रमा करें। रात्रि के पूर्व, मध्य तथा अपर भागों में उस दिन बहुत अन्नदान करें, नृत्य गीत कराएँ, बाजे बजवाएँ तथा अस्थिकुम्भ को अन्न का उपहार दें। प्रातः होने से पूर्व अस्थिकुम्भसहित पूर्वोक्त कुम्भों तथा छत्रों को लेकर ग्राम के दक्षिण ओर अध्वर्यु, यजमान तथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यन्त विरुद्ध व्याख्यान किया है। उसमें से सत्यासत्य की परीक्षा के लिए उसके कुछ दोष यहाँ भी दिखलाते हैं—

अमात्य बाहर चले जाएँ। इतनी रात गये कार्य आरम्भ करना चाहिए कि श्मशानान्त कर्म करते-करते सूर्य निकल आये। पुरुषप्रमाण क्षेत्र बनाकर पूर्वादि दिक्कोणों में पलाश, शमी, वरणा तथा पत्थर के शंकु गाड़ दें। निकट यजमान का कोई पुरुष तृणों का पूला ऊँचा खड़ा कर दे, जिसे कार्यसमाप्ति पर घर आकर घर के ऊपर लगा दे, उससे प्रजावृद्धि होगी।

तदनन्तर तैयार किये हुए उस पुरुषप्रमाण क्षेत्र को रस्सी से घेरकर प्रथम मन्त्र से पलाश-शाखा द्वारा तृण, पत्ते आदि बाहर निकाल दे। फिर पलाशशाखा को दक्षिण में फेंककर द्वितीय मन्त्र द्वारा उस क्षेत्र के दक्षिण या उत्तर में ६ बैलों से हल चलवाएँ। तृतीय मन्त्र के पूर्व-भाग से हल द्वारा चार लीकें करवाये, उत्तर भाग में बैलों को खोल दें। फिर हल को दक्षिण दिशा में चुपचाप फेंककर चतुर्थ मन्त्र से कृष्ट क्षेत्र में ओषधियों को बोये। ५म-६ष्ठ मन्त्र से पुरुषप्रमाण क्षेत्र के मध्य मृत की अस्थियों को संचित करे। उस रिक्त कुम्भ को कोई विप्र दक्षिण में फेंक आये, तब यजमान या अध्वर्यु सप्तम मन्त्र का जप करे फिर उन अस्थियों को अंगों के क्रम से रखकर पुरुषाकृति बना ले, जिसका सिर पूर्व की ओर रहे। मध्य में ईंट (इष्टका) रखता हुआ अष्टम तथा नवम मन्त्र बोले, जिसमें शान्ति की प्रार्थना की गई है। फिर श्मशान बना, उसके दक्षिण में दो गढ़े कर, उन्हें दूध तथा जल से भर, मध्य में तीन पाषाण रख अध्वर्यु यजमान तथा अमात्य उन गढ़ों के ऊपर चलते हुए १० वाँ मन्त्र बोलें, जिसमें कहा है कि यह पत्थरों वाली नदी बह रही है, इसे पार कर जाओ। फिर अमात्य यज्ञोपवीत धारण कर, आचमन कर ११वें मन्त्र से अपामार्ग द्वारा अपने शरीरों का मार्जन करें। तत्पश्चात् यजमान और अमात्य १२वें मन्त्र से स्नानकर, नूतन वस्त्र पहन १३वें मन्त्र से बैल की पूँछ का स्पर्श कर, १४वें मन्त्र से ग्राम को चल पड़ें। ग्राम तथा श्मशान के मध्य में १५वें मन्त्र से मिट्टी का ढेला (मर्यादालोष्ठ) रखें। इत्यादि विधि कल्पित की गई है।

ग्रन्थकार ने इन विधियों से स्वतन्त्र होकर मन्त्रों की व्याख्या की है। उन्होंने सम्पूर्ण अध्याय को मृत के पक्ष में न लगाकर, जीवितों के लिए लगाया है, तथा जीवितों के लिए प्रेरणा ली है कि उन्हें अमुक-अमुक प्रकार के सत्कार्य करने चाहिएँ। सब जीवों के लिए सुख-प्राप्ति तथा मृत्यु को दूर भगाने का सन्देश लिया है। तुलना के लिए हम इस अध्याय का केवल एक मन्त्र यजु० ३५।२० ले रहे हैं।

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो
यत्रैनान् वेत्थ निहितान् पराके।
मेदसः कुल्या उप तान्त्स्रवन्तु
सत्या एषामाशिषः संनमन्ताँ स्वाहा॥

उव्वट तथा महीधर ने इस मन्त्र का विनियोग चर्बी (वपा) के होम में माना है। महीधर लिखते कि इस मन्त्र का विनियोग यद्यपि श्रौतसूत्र में नहीं है, वे कहते हैं कि इस मन्त्र से गाय की चर्बी का होम करे। अर्थ यह किया है—"हे जातवेदः अग्ने! तू पितरों के लिए गाय की जर्बी को वहन कर ले-जा, जहाँ कि दूर पर निहित हुआ तू उन्हें जानता है। चर्बी की नहरें उन पितरों के पास पहुँचें। दाताओं के मनोरथ भी पूर्ण हों। स्वाहा, सुहुत हो।"

इस अर्थ से ग्रन्थकार के अर्थ का मिलान कीजिए। उनके मत में पितर जनकलोग व विद्या-शिक्षा देनेवाले सज्जन हैं, 'जातवेदः' उत्तम ज्ञान को प्राप्त हुआ जन है। 'वपा' का अर्थ चर्बी नहीं,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥१॥
—यजुः० अ० २३। मं० १९ ॥

भाष्यम्—अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने 'तेनोक्तम्—[२]"अस्मिन्मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति। तद्यथा महिषी यजमानस्य पत्नी यज्ञशालायां पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते। शयाना सत्याह—हे अश्व ! गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः, अहम् आ अजानि आकृष्य क्षिपामि। त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि' ।।१।।

भावार्थ—(गणानां त्वा०) इस मन्त्र में महीधर[३] ने कहा है कि—गणपति शब्द से घोड़े का ग्रहण है। सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि, सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे, और सोती हुई घोड़े से कहे कि, हे अश्व ! जिससे गर्भधारण होता है, ऐसा जो तेरा वीर्य्य है उसको मैं खेंचके अपनी योनि में डालूँ, तथा तू उस वीर्य्य को मुझमें स्थापन करनेवाला है ॥ १ ॥

किन्तु भूमि है। यह शब्द बीज अर्थवाली 'वप' धातु से बना है। जिसमें बीज बोया जाए वह भूमि वपा हुई। 'मेदसः कुल्याः' का अर्थ भी 'चर्बी की नहरें' नहीं किन्तु 'स्निग्ध नहरें' है। ज्ञानी जनों को चाहिए कि वे जनक व विद्या-शिक्षा देनेवाले सज्जन पितरों से खेती योग्य भूमि को प्राप्त करें। उनकी सिंचाई आदि के लिए उन्हें जलप्रवाह से युक्त नदी व नहरें निकट प्राप्त हों, जिससे सत्यक्रिया द्वारा उनकी यथार्थ इच्छाएँ फलीभूत हों।

इस प्रकार ग्रन्थकार के यजुर्वेद-भाष्य पर संक्षेपतः तुलनात्मक दृष्टिपात करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उन्होंने वेदभाष्य के क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न की है। यद्यपि उनका उद्घोष है कि इसमें मेरा अपना कुछ नहीं है, ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त महर्षियों ने जो कुछ कहा है, उसी का संग्रह मैंने किया है, तथापि वे वेदव्याख्या के लिए एक अपूर्व प्रकाशस्तम्भ का कार्य करते हैं।

इस प्रकरण में महीधर तथा उसकी तुलना में ग्रन्थकार के भाष्यसहित १० मन्त्र उद्धृत किये गये हैं। इनमें मन्त्र संख्या २०, २२ और २३ **राजप्रजेदैवत** हैं, मन्त्र संख्या ३० और ३१ की देवता क्रमशः **राजा व न्यायाधीश** हैं। मन्त्र सं० १८-२८ व १९ की देवता क्रमशः **प्रजापति व गणपति** हैं। मन्त्र सं० २६ की देवता **श्रीः**, २९ की **विद्वांसः** और २४ के **भूमिसूर्यौ** हैं। **'या तेनोच्यते सा देवता'**—इन तीन पदों में 'या' वस्तु के लिए है, 'तेन' मन्त्र की ओर संकेत करता है और 'उच्यते' क्रियापद है। इन तीनों को मिला कर अर्थ बनता है—जिस वस्तु=बात को वह मन्त्र कहता है, अर्थात् जिस वस्तुतत्त्व का वर्णन करता है, वह वस्तुतत्त्व ही उसका देवता है। सर्वानुक्रमणी के देवता विषयक इस लक्षण की व्याख्या करते हुए षड्गुरुशिष्य ने 'वेदार्थ प्रदीपिका' में लिखा है—'तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता'। इन मन्त्रों के निर्दिष्ट देवताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये सभी मन्त्र राजनीतिपरक हैं। अश्वमेध के सन्दर्भ में इन मन्त्रों का विनियोग हुआ है। ग्रन्थकार ने 'राजप्रजाधर्मविषय' में लिखा है—राष्ट्र-

---

१. महीधरेणेति शेषः।
२. अस्मिन् प्रकरणे निर्दिष्टो महीधरस्यार्थस्तद्भाष्यस्य संक्षेपरूपो ज्ञेयः।
३. महीधर के अर्थों के सम्बन्ध में विशेष टिप्पणी प्रकरण के अन्त में देखें।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ सत्योऽर्थ गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यं, ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति, प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति ॥

—ऐत० पं० १। कं० २१ ॥

प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः ॥ क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः । क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम् ॥ ज्योतिर्वै हिरण्यम् ॥

—श० कां० १३। अ० २। ब्रा० २। कं० १४, १५, १७, १६ ॥

न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद ॥

—श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ३। कं० १ ॥

राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति ॥ क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति ॥ अथो क्षत्रं वा अश्वः क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं, क्षत्रमेव तत् क्षत्रेण समर्धयति ॥ विशमेव तद्विशा समर्धयति ॥

—श० कां० १३। अ० २। ब्रा० २। कं० १६, १५, १७, १६ ॥

गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति। पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतदतोऽन्येवास्मै ह्नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति, त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्धुवते, त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते, षड् वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते ॥ अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति, ये यज्ञे धुवनं तन्वते, नवकृत्वः परियन्ति, नव वै प्राणाः प्राणानेवात्मन् दधते, नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधमिति, प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन् धत्ते ॥१॥

—श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ८। कं० ४, ५ ॥

पालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति' अर्थात् 'जो न्याय से प्रजा का पालन करना है, वही क्षत्रियों का 'अश्वमेध' कहाता है' 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः' (शतपथ १३।१।६।३)। 'राष्ट्रं वा अश्वः' राष्ट्र को अश्व कहते हैं। 'एधृ वृद्धौ'—राष्ट्रं एधते इति राष्ट्रमेधः'—जिससे राष्ट्र बढ़े, उसका विकास हो, समुचित पालन व संरक्षण हो, वही राष्ट्रमेध है।

क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः—राजा का नाम अश्व है तो प्रजा का नाम अश्व से भिन्न पशु है। 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभते पूर्वप्रज्ञा च' (बृ० उ० ४।४।२; निरुक्त १४।७) । विद्या और कर्म का शास्त्रों में सहभाव कहा है। इसी प्रकार राजा और प्रजा का सहभाव है। एक के बिना दूसरे की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए यहाँ 'इतरे पशवः' से राजा से भिन्न तत्सदृश 'प्रजा' का ग्रहण होता है। जैसे अश्व की अपेक्षा दूसरे अजादि पशु निर्बल होते हैं, वैसे ही राजा के समीप प्रजा निर्बल होती है, जिसकी रक्षा का उल्लेख 'न्यायाधीशदैवत' मन्त्र 'यद्धरिणो यवमत्तीति' में किया है।

गणानां त्वेत्यस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिः गणपतिर्देवता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—(गणानां त्वा०) वयं गणानां गणनीयानां पदार्थसमूहानां गणपतिं पालकं स्वामिनं (त्वा) त्वां परमेश्वरं (हवामहे) गृह्णीमः । तथैव सर्वेषां प्रियाणामिष्टमित्रादीनां मोक्षादीनां च प्रियपतिं त्वेति पूर्ववत् । एवमेव निधीनां विद्यारत्नादिकोशानां निधिपतिं पूर्ववत् । वसत्यस्मिन् सर्वं जगद्वा यत्र वसति स वसुः परमेश्वरः, तत्सम्बुद्धौ हे वसो, परमेश्वर त्वम् । सर्वान् कार्य्यान् भूगोलान् स्वसामर्थ्ये गर्भवद्दधातीति स गर्भधस्तं त्वामहं भवत्कृपया आजानि सर्वथा जानीयाम् । (आ त्वमजासि) हे भगवन्! त्वं तु आ समन्ताज्ज्ञातासि । पुनर्गर्भधमित्युक्त्या वयं प्रकृतिपरमाण्वादीनां गर्भधानमपि गर्भधं त्वां मन्यामहे । नैवातो भिन्नः कश्चिद् गर्भधारकोऽस्तीति ।

एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे गणपतिशब्दार्थो वर्णितः—(ब्राह्मणस्पत्यं०) अस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य पतेर्भावो वर्णितः । ब्रह्म वै बृहस्पतिरित्युक्तत्वात् तेन ब्रह्मोपदेशेनैवं जीवं यजमानं वा सत्योपदेष्टा विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं करोति । आत्मनो भिषजं वैद्यमिच्छतीति । यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः, सप्रथश्च प्रकृत्याकाशादीनां प्रथेन स्वसामर्थ्येन वा सह वर्त्तते स सप्रथः, तदिदं नामद्वयं तस्यैवास्तीति ।

प्रजापतिः परमेश्वरो वै इति निश्चयेन 'जमदग्निसंज्ञोऽस्ति । अत्र प्रमाणम्—

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा, प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवति ॥

—निरु० अ० ७ । खं० २४ ॥

इमे सूर्य्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामर्थ्यादेव प्रज्वलिता भवन्ति । तैः सूर्य्यादिभिः कार्य्यैस्तन्नियमैश्च कारणाख्य ईश्वरोऽभिहुतश्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति । यः स जमदग्निः परमेश्वरः (सोऽश्वमेधः) स एव परमेश्वरोऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोऽर्थः ।

अथापरः—क्षत्रं वाश्वो विड्तिरे पशव इत्यादि । यथाऽश्वस्यापेक्षयेतर इमेऽजादयः पशवो न्यूनबलवेगा भवन्ति, तथा राज्ञः सभासमीपे विट् प्रजा निर्बलैव भवति । तस्य राज्यस्य यद्धिरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत् स्वरूपं भवन्ति । यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मो वर्णितः, तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसम्बन्धो वर्ण्यंते ।

ग्रन्थकार ने इस मन्त्र के तीन अर्थ किये हैं—परमेश्वरपरक, नारीपरक तथा राष्ट्रपरक, परन्तु आगे के सभी मन्त्रों के राष्ट्रपरक अर्थ किये हैं, क्योंकि उन सभी मन्त्रों की देवता शासनव्यवस्था के किसी न किसी अंग का निर्देश करती हैं । उव्वट और महीधर ने 'गणपति' का अर्थ अश्व =घोड़ा किया है । यह अर्थ व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मणग्रन्थ आदि के विरुद्ध होने से सर्वथा हेय है । कोशों में भी गणपति का अर्थ गणेश, बृहस्पति, शिव आदि तो हैं, पर घोड़ा कहीं नहीं है । स्वयं महीधर ने यजुर्वेद (१६।२५) में गणपति का अर्थ **'गणानां पालकाः गणपतयः'** किया है । इस मन्त्र की देवता 'गणपति' है और अगले तीनों मन्त्रों की देवता 'राजप्रजे' हैं । यहाँ 'गणपति' शब्द से किसी ऐसे अर्थ का बोध होना चाहिए जो राजा-प्रजा अथवा शासनव्यवस्था के सन्दर्भ में उपयुक्त हो । किसी भी राष्ट्र के सर्वोच्च शासक की सामान्य संज्ञा 'राष्ट्रपति' है । गणतन्त्रात्मक पद्धति में प्रशासित राष्ट्र के स्वामी के लिए 'गणपति' नाम निश्चय ही अधिक सार्थक है । वस्तुतः इस मन्त्र में राष्ट्रपति के रूप में ऐसे पुरुष की कामना की गई है जो विशिष्ट गुणों से युक्त हो—'गर्भध' =गर्भ धारण करनेवाली माता के समान प्रजा का सन्तानवत् पालन एवं रक्षण करने में समर्थ हो, सबका प्रिय हो—सबकी उस तक और उसकी सब तक पहुँच हो,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद, किन्त्वीश्वरानुग्रहेणैव जानाति। अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वः ॥ श० कां० १३। अ० ३। ब्रा० ३। कं० ५॥ अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत् सोऽश्व ईश्वर इत्युक्तत्वादीश्वरस्यैवात्राश्वसंज्ञास्तीति।

अन्यच्च (राष्ट्रं वा) राज्यमश्वमेधसंज्ञं भवति। तद्राष्ट्रे राज्यकर्मणि ज्योतिर्दधाति। तत्कर्मफलं क्षत्राय राजपुरुषाय भवति। तच्च स्वसुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां स्ववर्त्मनामनुकूलां करोति। अथो इत्यनन्तरं क्षत्रमेवाश्वमेधसंज्ञकं भवति। तस्य यद्धिरण्यमेतदेव रूपं भवति। तेन हिरण्याद्यन्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव सम्यग् वर्धते, न च प्रजा। सा तु स्वतन्त्रस्वभावान्वितया विशा समर्धयति। अतो यत्रैको राजा भवति, तत्र प्रजा पीडिता जायते। तस्मात् प्रजासत्तयैव राज्यप्रबन्धः कार्य्य इति।

(गणानां०) स्त्रियोऽप्येनं राज्यपालनाय विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणाख्यं यज्ञं परितः सर्वतः प्राप्नुयुः। प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्धये यदपह्नवाख्यं कर्माचरन्ति, अतः कारणाद् एतद् एतासामन्ये विद्वांसो दूरीकुर्वन्ति। अथो इत्यनन्तरं य एनं विचालयन्ति, तानप्यन्ये च दूरीकुर्य्युः। एवमस्य त्रिवारं रक्षणं सर्वथा कुर्य्युः। एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणेन चात्मशरीरबलानि सम्पादयेयुः। ये नराः पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति, नैव तेभ्यः प्राणा बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति। तस्मान्मनुष्यस्तं गर्भधं परमेश्वरमहमाजानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत्। (प्रजा वै पशवः०) ईश्वरसामर्थ्यगर्भात् सर्वे पदार्था जाता इति योजनीयम्। यश्च पशूनां प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति, स इमां सर्वां प्रजामात्मनि, अतति सर्वत्र व्याप्नोति, तस्मिन् जगदीश्वरे वर्त्तत इति, धारयति॥ १॥

इति संक्षेपतो गणानां त्वेति मन्त्रस्यार्थो वर्णितः। अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम्।

भाषार्थ—(गणानां त्वा) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि यह मन्त्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करता है। जैसे ब्रह्म का नाम बृहस्पति, ईश्वर तथा वेद का नाम भी ब्रह्म है। जैसे अच्छा वैद्य रोगी को औषध देके दुःखों से अलग कर देता है, वैसे ही परमेश्वर भी वेदोपदेश करके मनुष्य को विज्ञानरूप ओषधि देके अविद्यारूप दुःखों से छुड़ा देता है। जोकि—'प्रथ' अर्थात् विस्तृत सबमें व्याप्त, और 'सप्रथ' अर्थात् आकाशादि विस्तृत पदार्थों के साथ भी व्यापक हो रहा है। इसी प्रकार से यह मन्त्र ईश्वर के नामों को यथावत् प्रतिपादन कर रहा है। एसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी—राज्यपालन का नाम 'अश्वमेध' राजा का नाम 'अश्व' और प्रजा का नाम घोड़े से भिन्न 'पशु' रखा है। राज्य की शोभा धन है, और ज्योति का नाम हिरण्य है।

तथा 'अश्व' नाम परमेश्वर का भी है, क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता, किन्तु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है, वही उनके लिए स्वर्गसुख को जनाता और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा हैं, उनको सब स्वर्गसुख देता है।

हर प्रकार के ऐश्वर्य से प्रजा को पुष्ट एवं समृद्ध करनेवाला हो, सबके आवास आदि की समुचित व्यवस्था करने में समर्थ हो, इत्यादि।

देश के प्रसिद्ध विद्वान् तथा शिक्षाशास्त्री डा० सम्पूर्णानन्द ने अपनी पुस्तक 'गणेश' में इस मन्त्र के महीधरकृत अर्थ को इतना बेहूदा और अश्लील माना कि मन्त्र को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हुए भी उसके अर्थ को पुस्तक में उद्धृत करना उचित नहीं समझा, परन्तु इस अर्थ को उन्होंने इसलिए स्वीकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा (**राष्ट्रमश्वमेधः०**) राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा हो का काम, और उसी सभा का नाम राजा है। वही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है, क्योंकि राज ही से राज्य और प्रजा से ही प्रजा की वृद्धि होती है।

(**गणानां त्वा०**) स्त्री लोग भी राज्यपालन के लिए विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती रहें। जो इस यज्ञ को प्राप्त होके भी सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म्म में मिथ्याचरण करती हैं, उनके इस कर्म को विद्वान् लोग प्रसन्न नहीं करते। और जो पुरुष सन्तानादि की शिक्षा में आलस्य करते हैं, अन्य लोग उनको बाँधकर ताड़ना देते हैं। इस प्रकार तीन, छह वा नव वार इसकी रक्षा से आत्मा, शरीर और वल को सिद्ध करें। जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं, उनके बलादि गुण कभी नष्ट नहीं होते। (**आहमजानि०**) प्रजा के कारण का नाम 'गर्भ' है उसके समतुल्य वह सभा प्रजा और प्रजा के पशुओं को अपने आत्मा में धारण करे, अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे, वैसे ही प्रजा और उसके पशुओं का भी सुख चाहे ॥ १ ॥

(**गणानां त्वा०**) जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करनेहारा है, (**त्वा**) उसको (**हवामहे**) हम लोग पूज्यबुद्धि से ग्रहण करते हैं। (**प्रियाणां०**) जोकि हमारे इष्ट-मित्र और मोक्षसुखादि का प्रियपति, तथा हमको आनन्द में रखकर सदा पालन करनेवाला है, उसी को हम लोग अपना उपास्यदेव जानके ग्रहण करते हैं। (**निधीनां त्वा०**) जोकि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है, उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं तथा जोकि व्यापक होके सब जगत् में और सब जगत् उसमें बस रहा है, इस कारण से उसको 'वसु' कहते हैं। हे वसु परमेश्वर ! जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादिकारण में गर्भ धारण करते हैं, अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों को आप ही रचते हैं, इसी हेतु से आप का नाम 'गर्भध' है। (**आहमजानि**) मैं ऐसे गुणसहित आपको जानूँ। (**आ त्वा०**) जैसे आप सब प्रकार से सबको जानते हैं, वैसे ही मुझको भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिए। (**गर्भधं**) दूसरी वेर 'गर्भधं' शब्द का पाठ इसलिए है कि जो-जो प्रकृति और परमाणु आदि कार्यद्रव्यों के गर्भरूप हैं, उनमें भी सब जगत् के गर्भरूप बीज को धारण करनेवाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य्यजगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाला कोई भी नहीं है ॥ १ ॥

यही अर्थ ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में कहा है। विचारना चाहिए कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है। जैसे यह दोष खण्डित हुआ, वैसे इस भाष्य की प्रवृत्ति से इन सब मिथ्या दोषों की निवृत्ति हो जाएगी।

किया, क्योंकि उनके विचार में इसका 'कोई दूसरा अर्थ है भी तो नहीं'। जब हमने यहाँ प्रस्तुत अर्थ उन्हें लिखकर भेजा तो उत्तर में उसे स्वीकार करते हुए लिखा कि 'गणेश' पुस्तक को लिखने का प्रयोजन यह सिद्ध करना था कि पौराणिकों द्वारा पूज्य गणेश नामक देवता का वैदिक साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं मिलता यहाँ तक कि जिस मन्त्र (**गणानां त्वा०**) से गणेश पूजन किया जाता है उसमें भी हाथी की सूँडवाले गणेश का उल्लेख नहीं है। इसके लिए आवश्यक था कि जिस अर्थ को पौराणिक लोग प्रामाणिक मानते हैं, उसी के आधार पर उनकी मान्यता का खण्डन किया जाए। इसीलिए मैंने अपनी पुस्तक में पौराणिकों द्वारा मान्य महीधर के भाष्य में किये गये अर्थ को मान्य करके यह दर्शाने का प्रयास

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु ॥२॥ —य० अ० २३ । मं० २० ॥

महीधरस्यार्थः—'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति । महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति' ॥ २ ॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—'यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को पकड़कर आप ही अपनी योनि में डाल देवे ॥२॥

सत्योऽर्थः—ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति । तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुध्यै ॥ —श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ८ । कं० ५ ॥

किया है कि जिस मन्त्र से तुम गणेशपूजन करते हो, उसमें तुम्हारे मान्य भाष्यकार के अनुसार भी 'गणेश' नामक देवता का उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं, उसका अर्थ इतना अश्लील और बेहूदा है कि उसे कहीं उद्धृत भी नहीं किया जा सकता। (प्रस्तुतग्रन्थ के लेखक के नाम उनका पत्र दिनांक १५-२-५१)

वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य स्वामी भगवदाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—

गणानामिति। गणानां जनसमूहानां गणपतिं गणनीयं विशिष्टगुणैर्विशिष्टं कारुण्यवात्सल्यादिभिः परिपूर्णं त्वा त्वां परमेश्वरं हवामहे आह्वयामः । प्रियाणां त्वा प्रियाणां प्रजानां भक्तानां प्रपन्नामन्येषां च प्रियपतिस्तं हवामहे । निधीनां त्वय्यात्मसमर्पकाणां निधिपतिं हवामहे । ..... "

महामण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानन्द गिरि आदि अनेक विद्वानों ने भी इसी प्रकार ग्रन्थकार के परमेश्वरपरक अर्थ की पुष्टि की है। किसी ने भी महीधर के दूषित अर्थ का समर्थन नहीं किया है। साहित्याचार्य पं० कालीचरण झा चतुर्वेदोपाध्याय ने लिखा है—"सायणाचार्य के याज्ञिक अर्थ से वैदिक विज्ञान पर इतना परदा नहीं पड़ा जितना उव्वट महीधर सरीखे भाष्यकारों के भाष्यों से पड़ा। इन लोगों ने लौकिक व्याकरण के बल से वैदिक शब्दों को इतना तोड़ा-मरोड़ा कि वैदिक विज्ञान 'निहितं गुहायाम्' होकर रह गया है ...... जहाँ 'गणानान्त्वा गणपतिं हवामहे' आदि अतिशय प्रसिद्ध और विज्ञान-महत्त्व-प्रतिपादक मन्त्रों का अतिशय असंगत अर्थ किया जाता है, वहाँ अप्रसिद्ध और अज्ञेय मन्त्रों के समुचित अर्थ होने की आशा कैसे की जा सकती है?" ('गंगा' वेद विशेषांक, जनवरी १९३२, पृष्ठ २१२)

ता उभावित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः राजप्रजे देवता।

राजप्रजेदैवत इस मन्त्र में प्रजा की सुखसमृद्धि के लिए राजा और प्रजा दोनों के कर्त्तव्य का निर्देश किया है। लोकतन्त्र अथवा गणतन्त्र में राजा और प्रजा दोनों के परस्पर सहयोग से ही शासन व्यवस्था चल पाती है। राजा और प्रजा शासनतन्त्र के दो पहिये हैं। ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। मनुष्य जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति है। इन्हीं की प्राप्ति का नाम स्वर्ग है।

'स्वर्गे लोके'—स्वः = सुखं, स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् सः स्वर्गः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—आवां राजप्रजे, धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि सदैव मिलिते भूत्वा सम्यक् विस्तारयेवहि। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—स्वर्गे सुखविशेषे, लोके द्रष्टव्ये भोक्तव्ये, प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाय। येन सर्वान् प्राणिनः सुखैराच्छादयेवहि। यस्मिन् राज्ये पशुं पशुस्वभावसन्यायेन परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेशदण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति, सैष एव सुखयुक्तो देशो हि स्वर्गो भवति। तस्मात् कारणादुभयस्य सुखायोभये विद्यादिसद्गुणानामभिवर्षकं वाजिनं विज्ञानवन्तं जनं प्रति विद्याबले सततमेव दध्यात्वित्याहायं मन्त्रः॥ २॥

भाषार्थ—(ता उभौ०) राजा और प्रजा हम दोनों मिलके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें। किस प्रयोजन के लिए ? दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिए, जिससे हम दोनों परस्पर तथा सब प्राणियों को सुख से परिपूर्ण कर देवें। जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं, वही देश सुखयुक्त होता है। इससे राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिए सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की सदा सेवा करें, और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें। इस अर्थ का कहनेवाला **'ता उभौ'** यह मन्त्र है। इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है॥२॥

जो सांसारिक सुख है, वह सामान्य सुख तथा जो ब्रह्मप्राप्ति का आनन्द है, वह विशेष सुख कहाता है। **'स्वर्यस्य च केवलम्'** (अथर्व० १०।८।१)—**'यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति'** (ईश्वरप्रार्थनाविषये)। इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि 'मिथुनस्य' (शतपथे मिथुन=जोड़ा) राजा और प्रजा की 'अवरुध्यै' ('रुध् कामे' धातु से क्रियायोग में अवरुध्यै – कामना के लिए) इच्छा-पूर्ति के लिए दोनों ही 'प्रोर्णुवाथाम्' (प्र उपसर्गपूर्वक ऊर्णञ् आच्छादने धातु से लोट्लकार मध्यमपुरुष द्विवचन) प्रसार करने में प्रवृत्त हों।

शतपथ ब्राह्मण से उद्धृत वचन में **'संज्ञपन'** शब्द आया है। पौराणिक विद्वान् इसे हिंसार्थक मानते हैं। 'संज्ञप्' धातु णिजन्त है और मित् है। 'मितां ह्रस्वः' से 'संज्ञापयति' के स्थान में 'संज्ञपयति' रूप बनता है। यह शब्द 'सम्' पूर्वक णिजन्त 'ज्ञा' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय होकर बनता है। **देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते'** आदि शतशः प्रमाणों से सिद्ध है कि 'सं' पूर्वक 'ज्ञा' धातु का अर्थ परिचय, प्रेम, सम्यक् ज्ञान, सम्भूय ज्ञान आदि होता है। अथर्ववेद (६।७४।१-२) में **'संज्ञपन'** तथा **'संज्ञपयामि'** आदि का प्रयोग है। उस प्रकरण से स्पष्ट है कि इन शब्दों का अर्थ वहाँ ज्ञान देना-दिलाना तथा मेल कराना है। प्रजा में अनेक प्रकार के स्वभाववाले मनुष्य होते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो समझाने-बुझाने से मान जाते हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जिनपर समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उन्हें दण्ड के द्वारा समझाना पड़ता है। ऐसे लोगों की संज्ञा 'पशु' है। उन्हीं को लक्ष्य कर भगवान् मनु ने कहा है—**'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः'**। अपने यजुर्भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं –"जो राजा प्रजा पिता और पुत्र के समान बर्तें तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षफल को सिद्धि को यथावत् प्राप्त हों। जैसे राजा प्रजा के सुख और बल को बढ़ावे, वैसे प्रजा भी राजा के सुख और बल की उन्नति करे।

स्वामी भगवदाचार्य ने इस मन्त्र का गुरुशिष्यपरक अर्थ इस प्रकार किया है—

"ता उभाविति। ता तौ उभा उभौ गुरुशिष्यौ आवाम्। चतुरः चतुः संख्याकान् पदः प्राप्यन्ते धर्माद्या यैस्ते वेदाः। तान् संप्रसारयाव जगति कल्याणाय प्रचारयाव। तेन स्वर्गं स्वर् सुखं कल्याणं वा गच्छतीति स्वर्गः। कल्याणं गते लोके सुखेच्छौ वा लोके प्रोर्णुवाथां ताँश्चतुरः पादान् ज्ञाननिधीन् वेदानिति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यकासकौ शकुन्तिकाऽऽहलगिति वञ्चति ।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका ॥३॥

महीधरो वदति—'अध्वर्य्वादयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते । अङ्गुल्या योनिं प्रदेशयन्नाह स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः । (गभे) भगे योनौ शकुनिसदृश्यां यदा पसो लिङ्गमाहन्ति आगच्छति, (पसः) पुंस्प्रजननस्य नाम, हन्तिर्गत्यर्थः । यदा भगे शिश्नमागच्छति, तदा धारक) धरति लिङ्गमिति धारक योनिः (निगल्गलीति) नतरां गलति वीर्य्यं क्षरति, यद्वा शब्दानुकरणं गल्गलेति शब्दं करोति' ॥ ३ ॥

भावः । प्रकर्षेणाच्छादयाव प्रचारयावेति भावः । तेन को लाभ इत्याह—वृषा सर्वेषां तृप्तिप्रदाता वाजी ज्ञानवान् रेतोधा वीर्यधा बलधा शक्तिधा परमेश्वरो रेतो ज्ञानं दधातु ददातु । रीङ् संश्लेषणे । ज्ञानं हि संश्लेषयति ब्रह्म सदाचारं चेति ।"

गुरु-शिष्य के सन्दर्भ में आचार्यप्रवर ने 'चतुरः पदः' का अर्थ चार वेद किया है और वेदप्रचार की प्रेरणा की है। यद्यपि यह अर्थ ग्रन्थकार के अर्थ से भिन्न है (अनेकार्थका हि मन्त्राः), तथापि उसमें दूषित विचारों का सर्वथा अभाव है। महीधर को तो घोड़े और रानी के सिवा अन्य कुछ सूझता ही नहीं।

यकासकावित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः राजप्रजे देवते ।

अपने यजुर्भाष्य में ग्रन्थकार ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—

जिस (गभे) प्रजा में राजा अपने (पसः) राज्य को (आहन्ति) जाने वा प्राप्त हो वह (धारका) सुख की धारण करनेवाली प्रजा (निगल्गलीति) निरन्तर सुख को निगलती-सी वर्त्तमान होती है और जिससे (यका) जो (असकौ) यह प्रजा (शकुन्तिका) छोटी-सी चिड़िया के समान् निर्बल है, इससे इस प्रजा को (आहलक्) अच्छे प्रकार जो हल से भूमि करोदता है उसको प्राप्त होनेवाला अर्थात् हल से जुती हुई भूमि से कर को लेनेवाला राजा (वञ्चतीति) ऐसे वञ्चता अपनाकर धन लेता है कि जैसे प्रजा सुख को प्राप्त हो ।

पुनः भावार्थ में लिखते हैं—यदि राजा न्याय से प्रजा की रक्षा न करे और प्रजा से कर लेवे तो जैसे-जैसे प्रजा नष्ट हो वैसे राजा भी नष्ट होता है। यदि विद्या और विनय से प्रजा की भली-भाँति रक्षा करे तो राजा और प्रजा सब ओर से वृद्धि को पावें।

यका=यः, अव रक्षणे कन् (अ० ५।३।२५) जो बुरा निन्दित। असकौ=असौ—वह निन्दित राजा। शकुन्तिका-निर्बल पक्षी (इव, उपमा के कारण अध्याहार) की तरह विड्=प्रजा निर्बल होती है। **विशः इति मनुष्यनाम** (नि० २।२), **इमा प्रजा विशः** (शत० ४।२।१।१७)। श्येन के पास छोटी चिड़िया की भाँति राजा के सामने प्रजा निर्बल व असहाय होती है।

आर्यसमाज से सम्बन्धविच्छेद होजाने पर भी पं० भीमसेन शर्मा ने अपनी पुस्तक 'आश्वमेधिक मन्त्र मीमांसा' में इस मन्त्र का अर्थ करते हुए ग्रन्थकार का ही अनुसरण किया है।

स्वामी भगवदाचार्य ने लिखा है कि—"**यकासकाविति । यका या असुकौ असौ शकुन्तिका शकुनिरेव शकुन्तिका । शक्नोत्युन्नेतुमात्मानम् शक्नोति नदितुमिति वा सर्वतः शंकरोऽस्त्विति वा शक्नोतेर्वा**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यक्कोसकौ० ।।४।। —य० अ० २३ मं० २३ ।।

'कुमारो अध्वर्य्युं प्रत्याह । अंगुल्या लिङ्गं प्रदेशयन्त्याह—अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते' ।।४।।

भावार्थ - महीधर का अर्थ—यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उपहासपूर्वक संवाद करते हैं। इस प्रकार से कि अंगुली से योनि को दिखलाके हँसते हैं। (आहलगिति०) जब स्त्री लोग जल्दी-जल्दी चलती हैं, तब उनकी योनि में हलहला शब्द, और जब भग लिङ्ग का संयोग होता है तब भी हलहला शब्द होता, और योनि और लिङ्ग से वीर्य्य झरता है ।।३।।

(यकोसकौ०) 'कुमारी अध्वर्यु का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का अग्रभाग है, सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है' ।।४।।

अथ सत्योऽर्थः—"यकासकौ शकुन्तिकेति। विड् वै शकुन्तिकाहलगिति वञ्चतीति। विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगलगलीति धारकेति। विड् वै गभो राष्ट्रं पसो, राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्रो विशं घातुकः" ।। ३-४ ।।

—श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९ कं ६ ।।

परमेश्वरभक्तिः । आ हलक आ समन्तात् हलति दोषान्नाशयतीति हलक् । हल विलेखने। परमेश्वरभक्तिः सर्वपापापहारिणीति कृत्वा यो वञ्चति गच्छति। वञ्चु प्रलम्भने। इह गच्छतीत्यर्थः। स गभे गर्भे। पसः सपः वर्णविपर्ययः। स्पर्शं गर्भवासमिति यावत्। सपः सपते स्पृशतिकर्मणः। आहन्ति सर्वथा नाशयति। मुक्तो भवतीत्यर्थः ते तव धारका ईश्वरधारका स्मरणकर्त्ता यः स निगलगलीति अत्ति भक्षयति नाशयति स्रावयतीति वा जगज्जालमिति शेषः"

अर्थात् ईश्वरभक्ति दोषों का नाश करती है, इस प्रकार जानकर जो यहाँ मुक्त होते है, वे ही ईश्वरोपासक जगत् के जाल का नाश करते हैं।

यकोऽसकावित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः राजप्रजे देवते।

यकोऽसकौ शकुन्तक आहलगिति वञ्चति। विवक्षत इव ते मुखमध्वर्यो मा नस्त्वमभिभाषथाः ।।

ग्रन्थकारकृतभाष्य—"हे (अध्वर्यो) यज्ञ के समान आचरण करनेहारे राजा (त्वम्) तू (नः) हम लोगों के प्रति (मा अभिभाषथाः) झूठ मत बोल और (विवक्षत इव) बहुत गप्पसप्प बकते हुए मनुष्य के मुख के समान (ते) तेरा (मुखम्) मुख मत हो। यदि इस प्रकार (यकः) जो (असकौ) यह राजा गप्पसप्प करेगा तो (शकुन्तिका) निर्बल पखेरू के समान (आहलक्) भलो-भाँति उच्छिन्न जैसे हो (इति) इस प्रकार (वञ्चति) ठगा जाएगा।

भावार्थ में लिखा है—"राजा कभी झूठी प्रतिज्ञा करने और कटुवचन बोलनेवाला न हो तथा न किसी को ठगे। जो यह राजा अन्याय करे तो आप भी प्रजाजनों से ठगा जाएगा।

सत्य के प्रति अपने आग्रह को ग्रन्थकार ने 'एषा वः सा सत्या संवागभूत्' (यजु० ९।१२ के भाष्य में इस प्रकार व्यक्त किया है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—(विड् वै०) यथा श्येनस्य समीपेऽल्पपक्षिणी निर्बला भवति, तथैव राज्ञः समीपे (विट्) प्रजा निर्बला भवति। (आहलगिति वञ्चतीति) राजानो विशः प्रजाः (वै) इति निश्चयेन राष्ट्राय राजसुखप्रयोजनाय सदैव वञ्चन्तीति। (आहन्ति०) विशो गभसंज्ञा भवति, पसाख्यं राष्ट्रं, राज्यं प्रजया स्पर्शनीयं भवति। यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद्धननं पीडां करोति यस्माद्राष्ट्री एको राजा मतश्चेत्तर्हि विशं प्रजां घातुको भवति, तस्मात् कारणादेको मनुष्यो राजा कदाचिन्नैव मन्तव्यः। किन्तु सभाध्यक्षः सभाधीनो यः सदाचारी शुभलक्षणान्वितो विद्वान् स प्रजाभी राजा मन्तव्यः। अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्यातीवदुष्टोऽर्थोऽस्तीति विचारणीयम् ॥ ३-४ ॥

भाषार्थ—(यकासकौ०) प्रजा का नाम शकुन्तिका है, कि जैसे बाज़ के सामने छोटी-छोटी चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है, वैसे ही राजा के सामने प्रजा की। (आहलगिति०) जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ प्रजा ठगी जाती है। (अहन्ति गभे पसो०) तथा प्रजा का नाम 'गभ' और राज्य का नाम 'पस' है। जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है। इसलिए राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करनेवाला भी कहते हैं। इस कारण से एक राजा कभी नहीं मानना चाहिए, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के अधीन ही राज्यप्रबन्ध होना चाहिए।

'यकासकौ०' इत्यादि मन्त्रों के शतपथप्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगों के बनाये हुए अर्थों का अत्यन्त विरोध है ॥३-४॥

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः।
प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमंतँ सयत् ॥५॥

"राजा, उसके नौकर और प्रजापुरुषों को उचित है कि अपनी प्रतिज्ञा और वाणी को असत्य कभी न होने दें। जितना कहें उतना ठीक-ठीक करें। जिसकी वाणी सब काल में सत्य होती है, वही पुरुष राज्याधिकार के योग्य होता है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उन राजा और प्रजा के पुरुषों का विश्वास नहीं होता और वे सुखों को नहीं बढ़ा सकते।"

इस सत्य तथा सर्वहितकारी अर्थ की तुलना में महीधर का अर्थ सर्वथा शास्त्रविरुद्ध तथा नितान्त हेय है। स्वामी भगवदाचार्य आदि विद्वानों के भाष्य यद्यपि अन्यथा निर्दोष हैं, राजा-प्रजा के सन्दर्भ में ग्रन्थकारकृत अर्थ निश्चय ही अधिक उपयुक्त है।

माता चेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः भूमिसूर्यौ देवते।

शतपथ से उद्धृत वचन में 'माता च ते पिता च त इति' प्रतीक रूप है, यह 'इति' पद से स्पष्ट है। माता के रूप में पृथिवी का तथा पिता के रूप में 'द्युः' का वर्णन शास्त्रों में अनेकत्र मिलता है, यथा—

माता पृथिवी महीयम् द्यौर्मे पिता।—ऋ० १।१६४।३३

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।—अथर्व० १२।१।१२

द्यौर्वः पिता पृथिवी माता।—ऋ० १।१९१।६

तन्माता पृथिवी पिता द्यौः।—तै० ब्रा० २।७।१६।३

'इयं' स्त्रीलिङ्ग होने से पृथिवी का तथा 'असौ' पुंल्लिंग होने से 'द्यौः' या सूर्य का वाचक है। ये

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महीधरस्यार्थः ब्रह्मा महिषीमाह—महिषि हये हये महिषि ! ते तव माता च पुनस्ते तव पिता, यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिङ्गमतंसयत् तंसयति प्रक्षिपति एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम् । लिङ्गमुत्थानेनालङ्करोति वा तव भोगेन स्निह्यामीति वदन्नेवं तवोत्पत्तिः' ॥ ५ ॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—'अब ब्रह्मा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि—जब तेरे माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिङ्ग को तेरी माता के भग में डाला, तब तेरी उत्पत्ति हुई । उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है, इससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य है' ॥५॥

अथ सत्योऽर्थः—"माता च ते पिता च त इति । इयं वै मातासौ पिताभ्यामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति । श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रꣳ श्रियमेवैनꣳ राष्ट्रस्याग्रं गमयति । प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳ सयदिति । विड् वै गभो राष्ट्रं मुष्टी, राष्ट्रमेवाविश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः" ॥५॥

—श० कां १३। अ० २। ब्रा० ६। कं० ७॥

भाष्यम्—(माता च ते०) हे मनुष्य ! इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति । ओषध्याद्यनेक पदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात् । असौ द्यौः प्रकाशो विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति । सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात् । विद्वान् ताभ्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति । (अग्रं वृक्षस्य०) या श्रीर्विद्याशुभगुणरत्नादिशोभान्विता च लक्ष्मीः, सा राष्ट्रस्याग्रमुत्तमाङ्गं भवति । सैवैनं जीवं श्रियं शोभां गमयति, यद् राष्ट्रस्याग्रमग्र्यं मुख्यं सुखं च । प्रतिलामीति०) विट् प्रजा गभाख्याऽर्थादैश्वर्यप्रदा, (राष्ट्रं मुष्टिः, यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति, तथैवैको राजा चेत् तर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव । यस्माद् राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य आहन्ति, तस्माद् राष्ट्री विशं घातुको भवति । अस्मादर्थान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्धोऽस्ति, तस्मात् स नैव केनापि मन्तव्यः ॥ ५ ॥

दोनों मिलकर 'एनं' = पृथिवी अर्थात् पृथिवीस्थ प्राणियों को स्वर्गलोक सुख से परिपूर्ण बनाते हैं । 'रुह' प्रादुर्भावे से 'रोहतः' द्विवचनान्त है । इसलिए पृथिवी और द्यौः दोनों ही राष्ट्र अथवा 'गभ' अर्थात् प्रजा को सुखी और समृद्ध बनाते हैं । प्रकर्षार्थक 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'तिल स्नेहे' धातु से 'प्रतिलामि' (मैं राजा से स्नेह करता हूँ) शब्द सिद्ध होता है । अतंसयत् = तसि अलंकारे भूषणे च (तुदादिगण), 'तुदादिभ्यः शः' (अ० ३।१।७७), 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (६।४।७१) से अट् आदि में । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (३।४।६) से सर्वकालों में, अतः 'अतंसयत्' = अलंकरोति वर्त्तमान में ।

यहाँ विद्या माता और पृथ्वी माता का उल्लेख किया है । मनुष्य के कल्याण के लिए ही वेद का उपदेश है—'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः' (यजु० २६।२) । विद्या से आत्मा की उन्नति होती है तो ओषधि-वनस्पति तथा अनेक पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली पृथिवी (वसुधा) शरीर का पोषण करती है । इस कार्य में सूर्य इसका परम सहायक है जो पितृस्थानीय है । राजकर्म 'मुष्टि' है । भगवदाचार्य ने ग्रन्थकार से भिन्न अर्थ किया है । 'मुष्टि' शब्द का अर्थ उन्होंने **'मुष्टिं मोषणं त्यागवृत्तिम्'**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—सत्य अर्थ (माता च ते०) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार के मान्य करानेवाली, और सूर्य्यलोक, विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान हैं, क्योंकि सूर्यलोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशन और विज्ञानदान से पण्डित तथा परमात्मा सबका पालन करनेवाला है। इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान् लोग जीवों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त करा देते हैं। (अग्रं वृक्षस्य०) श्री जो लक्ष्मी है, सो ही राज्य का अग्रभाग अर्थात् सिर के समान है, क्योंकि विद्या और धन ये दोनों मिलके ही जीव को शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त कर देते हैं। (प्रतिलामीति०) फिर प्रजा का नाम 'गभ' अर्थात् ऐश्वर्य्य की देनेवाली और राज्य का नाम 'मुष्टि' है, क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है, कि जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे। वैसे ही जहाँ अकेला मनुष्य राजा होता है, वहाँ वह पक्षपात से अपने सुख के लिए जो-जो प्रजा की श्रेष्ठ गुण देनेवाली लक्ष्मी है, उसको ले-लेता है, अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीड़ा देनेवाला होता है। इसलिए एक को राजा कभी न मानना चाहिए। किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यक्षसहित सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिए। इस अर्थ से भी महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है ॥५॥

ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय गिरौ भारꣳ हरन्निव ।
अथास्यै मध्यमेधताꣳ शीते वाते पुनन्निव ॥६॥

किया है। 'मुष्टिर्मोचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वेति निरुक्तम्'। परन्तु किसी भी भाष्यकार ने महीधर का-सा दूषित और अश्लील अर्थ नहीं किया है।

ऊर्ध्वमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः श्रीर्देवता ।

ग्रन्थकारकृत पदार्थ – हे राजन् ! तू (गिरौ) पर्वत पर (भारम्) भार (हरन्निव) पहुँचाते हुए के समान (एनां ऊर्ध्वाम्) इस राज्यलक्ष्मीयुक्त उत्तम कक्षावाली प्रजा को (उच्छ्रापय) सदा अधिक से उन्नति दिया कर। (अथ) अब (अस्यै) इस प्रजा के (मध्यम्) मध्य भाग लक्ष्मी को पाकर (शीते वाते) शीतल पवन में (पुनन्निव) खेती करनेवालों की क्रिया से जैसे अन्न आदि शुद्ध हो वा पवन के योग से जल स्वच्छ हो, वैसे आप (एधताम्) वृद्धि को प्राप्त हूजिए।

भावार्थ—इस मन्त्र में दो उपमालंकार हैं—(१) जैसे कोई बोझा ले-जानेवाला अपने सिर वा पीठ पर बोझा उठा पर्वत पर चढ़ उस भार की ऊपर स्थापना करे वैसे लक्ष्मी को उन्नति होने को पहुँचावे। (२) जैसे खेती करनेवाले भूसा आदि से अन्न को अलग कर उस अन्न को खाके बढ़ते हैं वैसे सत्यन्याय से सत्य-असत्य को अलग कर न्याय करनेहारा राजा नित्य बढ़ता है।

पं० भीमसेन शर्मा, आचार्य गोपाल प्रसाद कौशिक, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, श्री भगवदाचार्य आदि पौराणिक विद्वानों ने भी महीधर के अश्लील भाष्य का अनुकरण न करके ग्रन्थकार की भावना के अनुसार अर्थ किये हैं, उदाहरणार्थ हम यहाँ श्री भगवदाचार्यकृत भाष्य प्रस्तुत कर रहे हैं। उन्होंने इस मन्त्र का वेदपरक अर्थ किया है—

"ऊर्ध्वेति। गिरौ गिरः षष्ठचर्थे सप्तमी। वेदयोर्ऋग्यजुषयोः भारं भरणं पोषणं हरन्निव प्रापयन्निव एनां श्रुतिमूर्ध्वामपि श्रेष्ठामपि उच्छ्रापय उच्छ्रितां कुरु। ऋग्वेदगता यजुर्वेदगता च श्रुति मन्त्रराशिमिति भावः सर्वत्र प्रवर्धय प्रचारयेति भावः। अथ अनन्तरम् अस्मै श्रुतये षष्ठयर्थे चतुर्थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महीधरस्यार्थः—यथा अस्यै अस्या वावाताया मध्यमेधतां—योनिप्रदेशो वृद्धिं यायात् यथा योनिर्विशाला भवति, तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह—यथा शीतले वायौ वाति पुनन् धान्यपवनं कुर्वाणः कृषीवलो धान्यपात्रं ऊर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः' ॥ ६ ॥

यद॑स्या अꣳहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपात॑सत् ।
मुष्का॒विद॑स्याऽएजतो गोश॒फे श॑कुलावि॑व ॥७॥

—य० अ० २३। मं० २८॥

'यत् यदा अस्याः परिवृक्तायाः कृधु ह्रस्वं स्थूलं च शिश्नमुपातसत् उपगच्छत् योनिं प्रति गच्छेत् तंस उपक्षये, तदा मुष्कौ वृषणौ इत एव अस्याः योनेरुपरि एजतः कम्पेते। लिङ्गस्य स्थूलत्वाद् योनेरल्पत्वाद् वृषणौ बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः, तत्र दृष्टान्तः—गोशफे जलपूर्णे गोखुरे शकुलौ मत्स्याविव, यथा उदकपूर्णे गोः पदे मत्स्यौ कम्पेते' ॥ ७ ॥

भावार्थ—महीधर का अर्थ—'पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खैंचके बढ़ा लेवें। (यदस्या ॐ हु०) परिवृक्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य निकल जाता है, जब छोटा या बड़ा लिङ्ग उसकी योनि में डाला जाता है, तब योनि के ऊपर दोनों अण्डकोश नाचा करते हैं, क्योंकि योनि छोटी और लिङ्ग बड़ा होता है। इसमें महीधर दृष्टान्त देता है कि—जैसे गाय के खुर के बने हुए गढ़े के जल में दो दो मच्छी नाचें तथा जैसे खेती करनेवाला मनुष्य अन्न और भुस अलग करने के लिए चलते वायु में एक पात्र में भरके ऊपर को उठाके कंपाया करता है, वैसे ही योनि के ऊपर अण्डकोश नाचा करते है ॥६-७॥

अस्याः प्रख्यातायाः श्रुतेः मध्यं मध्यं माधुर्यमिति भावः। एधतां वर्धताम्। वेदमाहात्म्यं वर्धतां तथा कर्त्तव्यमिति भावः। शीते वाते स्थितो घर्माकुल आत्मानं शमयति तद्वत् वेदधर्मप्रचारं कुर्वन्नात्मानमन्यं च पुनन् पुनानः शमय।"

अर्थात्—ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में आये मन्त्रसमूह का सर्वत्र प्रचार करें। इसके पश्चात् श्रुति के माधुर्य की वृद्धि करें। शीतवायु में आत्मा को शान्त करें और वेद प्रचार करें।

यदस्या इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः प्रजापतिर्देवता।

ग्रन्थकारकृत पदार्थ—(यत्) जो राजा वा राजपुरुष (अस्याः) इस (अंहुभेद्याः) अपराध का विनाश करनेवाली प्रजा के (कृधु) थोड़े और (स्थूलम्) बहुत कर्म को (उपातसत्) सुशोभित करें वे दोनों (अस्याः) इसको (एजतः) कर्म कराते हैं और वे आप (गोशफे) गौ के खुर से भूमि में हुए गढ़े में (शकुलाविव) छोटी दो मछलियों के समान (मुष्कौ) प्रजा से पाये हुए कर को चोरते हुए काँपते हैं।

भावार्थ—जैसे एक दूसरे से प्रीति रखनेवाली मछली छोटी ताल-तलैया में निरन्तर बसती हैं वैसे राजा और राजपुरुष थोड़े भी कर के लाभ में न्यायपूर्वक प्रीति के साथ बर्तें और यदि दुःख को दूर करनेवाली प्रजा के थोड़े-बहुत उत्तम काम की प्रशंसा करें तो वे दोनों प्रजाजनों को प्रसन्न कर अपने में उनसे प्रीति करावें।

महामण्डलेश्वर स्वामी भगवदाचार्य ने इस मन्त्र का वेदपरक बड़ा सुन्दर अर्थ किया है—

यदस्या इति। अंहुभेद्याः, अंहु पापं तद्भिनत्तीति अंहुभेदो। तस्या ज्ञानं पापनाशिकाया अस्याः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ सत्योऽर्थः—"ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयेति । श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति ॥ गिरौ भारँ हरन्निवेति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः, श्रियमेवास्मै राष्ट्रँ संनह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति । अथास्यै मध्यमेधतामिति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यँ श्रियमेव राष्ट्रं मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति ॥ शीते वाते पुनन्निवेति । क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति" ॥ ६-७ ॥

—श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० २-५ ॥

भाष्यम्—(ऊर्ध्वमेना०) हे नर ! त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रियमुच्छापय, सेव्यामुत्कृष्टां कुरु । एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगुणमुच्छ्रयितुं शक्यम् । (गिरौ भारं हर०) कस्मिन् किमिव, गिरिशिखरे प्राप्त्यर्थं भारवद्वस्तूपस्थापयन्निव । कोऽस्ति राष्ट्रस्य भार इत्यत्राह—'श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः, इति । सभाव्यवस्थयास्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नह्य सम्बध्य राष्ट्रमनुत्तमं[1] कुर्य्यात् । अथो इत्यनन्तरमेवं कुर्वन् जनोऽस्मिन् संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधिनिदधाति सर्वोपरि नित्यं धारयतीत्यर्थः । (अथास्यै०) किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमित्याकाङ्क्षायामुच्यते—'श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्' तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याऽऽभ्यन्तरे दधाति, सुसभया सर्वा प्रजां सुभोगयुक्तां करोति । कस्मिन् किं कुर्वन्निव (शीते वाते पुनन्निवेति) राष्ट्रस्य क्षेमो रक्षणं शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय क्षेमं सुसभया रक्षणं कुर्य्यात् । अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्य व्याख्यानमत्यन्तं विरुद्धमस्तीति ॥ ६-७ ॥

भाषार्थ—श्री नाम विद्या और धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम 'अश्वमेध' है। ये ही श्री और राज्य की उन्नति कराते हैं। (गिरौ भारँ हरन्निव) राज्य का भार श्री है, क्योंकि इसी से राज्य की वृद्धि होती है। इसलिए राज्य में विद्या और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि होने के अर्थ उसका भार अर्थात् प्रवन्ध श्रेष्ठपुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिए, क्योंकि (अथास्यै०) श्री राज्य का आधार और वह राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त करा देती है। इसमें दृष्टान्त यह है कि—(शीते वाते०) अर्थात् राज्य की रक्षा करने का नाम 'शीते' है, क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है, तभी उसकी उन्नति होती है।

प्र०—राज्य का भार कौन है ? उ०—(श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः०) क्योंकि वही[2] श्री धन के भार से युक्त करके राज्य को उत्तमता को पहुँचाती है। (अथो०) इसके अनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश अथवा संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रवन्ध को सबमें स्थापन कर देते हैं। (अथास्य०) प्र॰ प्रजा की ठीक-ठीक रक्षा, अर्थात् उसका नियमपूर्वक पालन करना, यही उसकी रक्षा में मध्यस्थ है। (गिरौ भारँ हरन्निव) जैसे कोई मनुष्य वोझ उठाके पर्वत पर ले-जाता है, वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त करा देती है ॥ ६-७॥

श्रुतेः कृधु ह्रस्वं सूक्ष्मभागं स्थूलं वृद्धिम् । उपातसत् उपगच्छेत् । श्रुतीनां यद्यल्पप्रचारोऽस्ति तदा प्रचुरप्रचारो भवत्वित्युपदेशः । मुष्काविद् मुष्णाति अज्ञानमिति । मुष्कम् ज्ञानम् तच्च वेदः । तथा च वेदं जानातीति मुष्काविद् । दीर्घत्वं छान्दसम् । तत्त्वज्ञाता । वेदस्य गोशफे गोशपे । गौर्वाणी । सा च वेदवाणी तस्याः शफः शपः आक्रोशः । उच्चैः स्वरेणोच्चारणम् उच्चारणेन, तृतीयार्थे प्रथमा । उच्चारणकाले शकुलौ अंशकुलाविति यावत् । लिङ्गव्यत्यय आर्षः । द्वावेवांशौ एजतः एजते कम्पेते इत्यर्थः । स्वभावोक्तिरेषा सस्वरवेदोच्चारणकाले ब्रह्मचारिणामंसौ कम्पेते इत्यर्थः ।

१. नास्त्युत्तमं यस्मात्तद् अनुत्तमं श्रेष्ठतममित्यर्थः । २. अर्थात् राज्यव्यवस्था ही ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्दे॒वासो॑ ल॒लाम॑गुं॒ प्र वि॑ष्टी॒मिन॒मावि॑षुः ।
स॒क्थ्ना दे॑दिश्यते॒ नारी॑ स॒त्यस्या॑क्षि॒भुवो॒ यथा ॥८॥

—य० अ० २३ । मं० २९ ॥

महीधरस्यार्थः—(यत्) यदा (देवासः) देवा दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवा होत्रादय ऋत्विजो (ललामगुं) लिङ्गं (प्र आविशुः) योनौ प्रवेशयन्ति, ललामेति सुखनाम, ललामं सुखं गच्छति प्राप्नोति ललामगुः शिश्नः, यद्वा ललामं पुण्ड्रं गच्छति ललामगुः लिङ्गम्, योनिं प्रविशदुत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः। कीदृशं ललामगुं (विष्टीमिनं) शिश्नस्य योनिप्रदेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः। यदा देवाः शिश्नक्रीडिनो भवन्तो, ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति तदा (नारी) (सक्थ्ना) ऊरुणा ऊरुभ्यां (देदिश्यते) निर्दिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते। भोगसमये सर्वस्य नार्यङ्गस्य नरेण व्याप्तत्वादूरुमात्रं लक्ष्यते। इयं नारीत्यर्थः, ॥ ८ ॥

भावार्थ—महीधर का अर्थ—**(यद्देवासो०)** जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज लोग ऐसा हँसते और नाचा करते हैं, तब तक घोड़े का लिङ्ग महिषी की योनि में काम करता है, और उन ऋत्विजों के भी लिङ्ग स्त्रियों की योनि में प्रवेश करते हैं, और जब लिङ्ग खड़ा होता है, तब कमल के समान हो जाता है। जब स्त्री पुरुष का समागम होता है, तब पुरुष ऊपर और स्त्री नीचे होने से थक जाती है ॥८॥

अथ सत्योऽर्थः –(यद्देवासो०) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं कृत्वेमं (विष्टीमिनम्) विविधतया आर्द्रीभावगुणवन्तं (ललामगुम्) सुखप्रापकं विद्यानन्दं (प्राविशुः) प्रकृष्टतया समन्ताद् व्याप्नुवन्ति, तथैव तैस्तेन सह वर्त्तमानेयं प्रजा देदिश्यते। यथा नारी वस्त्रैराच्छाद्यमानेन सक्थ्ना वर्त्तते, तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयेति ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्षज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं, वैसे ही उसी आनन्द से प्रजा को भी युक्त करते हैं। विद्वान् लोगों को चाहिए कि जैसे स्त्री अपने जंघा आदि अंगों को वस्त्रों से सदा ढाँप रखती है, इसी प्रकार अपने सत्योपदेश, विद्या, धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें ॥८॥

अर्थात् —श्रुति का ज्ञान पापनाशक है। वह वृद्धि को प्राप्त होवे। श्रुति का प्रचार थोड़ा है, उसकी वृद्धि करो। प्रचुर प्रचार होने का उपदेश है। वही ज्ञान है, वही वेद है। वही तत्त्वज्ञानरूपी वेदवाणी है।

यद्देवास इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः विद्वांसो देवताः।

पदार्थः—हे राजन् (यथा) जैसे (देवासः) विद्वान् लोग (अक्षिभुवः) प्रत्यक्षोद्भवस्य =साक्षात्कृत (सत्यस्य) सत्यज्ञान की प्राप्ति कर (विष्टीमिनम्) विविध प्रकार से करुणार्द्र हो (स्तीम आर्द्रीभावे) (ललामुगं) ललाम अर्थात् श्रेष्ठ, रमणीय, सुन्दर (स० श० कौ०) सुख अथवा मनोवांछित फल विद्यानन्द को (आविशुः) व्याप्त करते हैं। आविशुः =प्र प्रकृष्टतया आ समन्तात् विश् प्रवेशने। और जिस प्रकार (नारी) स्त्री (सक्थ्ना) वस्त्रों से आच्छादित जाँघों से (जाँघ यहाँ सम्पूर्ण शरीर का उपलक्षण है) जानी जाती है, वैसे ही विद्वज्जन प्रजा को बार-बार उपदेश दिया करें। जैसे नारी अपने अंगों को वार-बार ढाँपती है, वैसे ही विद्वान् प्रजा को सुख से ढाँप दें। **दिश् अतिसर्जने तुदादि। धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्** (अ० ३।१।२२)। बार-बार करने अर्थ में यङ्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्धरि॒णो यव॒मत्ति॒ न पु॒ष्टं प॒शु मन्य॑ते ।
शू॒द्रा यदर्य॑जारा॒ न पोषा॑य धनायति ॥९॥ —य० अ० २३ । मं० ३० ॥

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते ।
शूद्रो यदार्य्यायै जारो न पोषमनु मन्यते ॥१०॥ —य० अ० २३। मं० ३१॥

महीधरस्यार्थः—क्षत्ता पालागलीमाह—शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री, यदा अर्य्यजारा भवति, वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति, तदा शूद्रः पोषाय न धनायते, पुष्टिं न गच्छति, मद्भार्य्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते, किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः ।

(यद्धरिणो०) पालागली क्षत्तारमाह यत् यदा शूद्रः, अर्य्यायै अर्य्याया वैश्याया जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते, मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते, किन्तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—'(यद्धरिणो०) क्षत्ता सेवकपुरुष शूद्रदासी से कहता है कि—जब शूद्र की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है, तब वह इस बात को तो नहीं विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ व्यभिचार कराने से पुष्ट हो गई, किन्तु वह इस बात को विचारके दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी हो गई है। (यद्धरिणो०) अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि—जब शूद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्यभिचार कर लेता है, तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट हो गई, किन्तु नीच ने समागम कर लिया, इस बात को विचारके क्लेश मानता है' ॥९॥

अथ सत्योऽर्थः—"यद्धरिणो यवमत्तीति। विड् वै यवो राष्ट्रं हरिणो विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति। न पुष्टं पशु मन्यत इति। तस्माद् राजा पशून्न पुष्यति। शूद्रा यदर्य्यजारा न पोषाय धनायतीति। तस्माद् वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति" ॥९॥ —श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९। कं० ८॥

मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—"जैसे शरीर के अंगों से स्त्री-पुरुष लखे जाते हैं वैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सत्य लखा जाता है। उस सत्य से विद्वान् लोग जैसे पाने योग्य कोमलता को पावें वैसे, और राजा प्रजा के स्त्री-पुरुष विद्या से नम्रता को पाकर सुख को ढूँढें ।

यद्धरिण इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः राजा देवता । ३०
यद्धरिणो यवमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः राजप्रजे देवते । ३१

ग्रन्थकार ने यहाँ मन्त्र संख्या ३० व ३१ का अर्थ एक साथ प्रस्तुत किया है। दोनों के शब्दः प्रायः एक जैसे हैं और आशय भी समान है ।

(यत्) जब (हरिणः) राष्ट्र अर्थात् राष्ट्र का अधिकारी राजा (यवम्) प्रजा को (विड् वै यवो राष्ट्रं हरिणः—शत० १३।२।९।८) (अत्ति) खाने लगता है तो वह (पुष्टम्) राष्ट्र की उन्नत (पशुम्= प्रजा वै पशवः—शतः १।४।६।१७) प्रजा को आदर नहीं देता। समुन्नत प्रजा ही राष्ट्र का मूल है, ऐसा न समझकर वह भारी करों तथा अन्य अनेक उपायों द्वारा प्रजा के स्वत्व को हड़पने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार अपने ही मूलाधार को नष्ट कर देता है, (यद्) जब (शूद्रा) शूद्रा (अर्यजारा) वैश्य की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—(यद्धरिणो०) विट् प्रजेव यवोऽस्ति। राज्यसम्बन्ध्येको राजा हरिण इव उत्तम-पदार्थहर्त्ता भवति। यथा मृगः क्षेत्रस्थं सस्यं भुक्त्वा प्रसन्नो भवति, तथैवैको राजापि नित्यं स्वकीयमेव सुखमिच्छति। अतः स राष्ट्राय स्वसुखप्रयोजनाय विशं प्रजामाद्यां भक्ष्यामिव करोति। यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणणेच्छां करोति। नैव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं जीवयितुं वा मन्यते, तथैव स्वसुखसम्पादनाय प्रजायां कश्चिन्मत्तोऽधिको न भवेदितीच्छां सदैव रक्षति। तस्मादेको राजा प्रजां न पुष्यति नैव रक्षयितुं समर्थो भवतीति। यथा च यदा शूद्रा अर्य्यजारा भवति, तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति, पुष्टो न भवति। तथैको राजापि प्रजां यदा न पुष्यति तदा सा नैव पोषाय धनायति, पुष्टा न भवति। तस्मात् कारणाद् वैशीपुत्रं भीरुं शूद्रीपुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चति, नैवेतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः। अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्तादर्थान्महीधरकृतोऽर्थोऽतीवविरुद्धोऽस्ति॥ ९॥

भाषार्थ—(यद्धरिणो०) यहाँ प्रजा का यव और राष्ट्र का नाम हरिण है, क्योंकि जैसे मृग पशु पराये खेत में जवों को खाकर आनन्दित होते हैं, वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों का ग्रहण कर लेता है। अथवा (न पुष्टं पशु मन्यत०) जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मार के उसका मांस खा जाता है, वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करनेहारा होता है, क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है। और शूद्र तथा वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है। इसलिए किसी एक मूर्ख वा लोभी को कभी सभाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिए। इस सत्य अर्थ से महीधर उलटा ही चला है॥९॥

उत्सक्थ्याऽअव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्।
य स्त्रीणां जीवभोजनः॥१०॥—य० अ० २३। मं० २१॥

महीधरस्यार्थः—यजमानोऽश्वमभिमन्त्रयते। हे वृषन्! सेक्तः अश्व! उत् ऊर्ध्वे सक्थिनी उरू यस्यास्तस्या महिष्या गुदमव गुदोपरि, रेतो धेहि, वीर्य्यं धारय। कथम्? तदाह अञ्जि लिङ्गं सञ्चारय योनौ प्रवेशय। योऽञ्जिः स्त्रीणां जीवभोजनः। यस्मिन् लिङ्गे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय॥ १०॥

जारा बनकर उसकी शक्तियों को जीर्ण करने लगती है तो वह अपने पति के लिए धन (सन्तान) की कामना नहीं करती। आगे इसी भाव का विस्तार किया है।

मूर्ख होने के कारण शूद्र के पुत्र को और लोभी होने के कारण वैश्यपुत्र को राज्याधिकार नहीं देना चाहिए।

उत्सक्थ्या इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः न्यायाधीशो देवता।

न्यायाधीश देवत इस मन्त्र में दण्डव्यवस्था के सन्दर्भ में राजा के कर्त्तव्य का निर्देश करते हुए कहा है कि "जो विषयसेवन में रमते हुए जन वा वैसी स्त्री व्यभिचार को बढ़ावें उन-उनको प्रबल दण्ड से शिक्षा देनी चाहिए।"

'य स्त्रीणां जीवभोजनः'—जो कामुक होकर स्त्रियों के जीवन का नाश करता है, या स्त्रियों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(उत्सक्थ्या०) इस मन्त्र पर महीधर ने टीका की है कि—'यजमान घोड़े से कहता है, हे वीर्य के सेचन करनेवाले अश्व ! तू मेरी स्त्री के जंघा ऊपर को करके उसकी गुदा के ऊपर वीर्य डालदे, अर्थात् उसकी योनि में लिङ्ग चलादे। वह लिङ्ग किस प्रकार का है, कि जिस समय योनि में जाता है, उस समय उसी लिङ्ग से स्त्रियों का जीवन होता है और उसी से वे भोग को प्राप्त होती हैं। इससे तू उस लिङ्ग को मेरी स्त्री की योनि में डाल दे' ॥१०॥

अथ सत्योऽर्थः—(उत्सक्थ्या) हे वृषन् सर्वकामानां वर्षयितः प्रापक ससभाध्यक्षविद्वन् ! त्वमस्यां प्रजायामञ्जि ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं संचारय सम्यक् प्रकाशय। (य स्त्रीणां जीवभोजनः) कामुकः सन् नाशमाचरति तं त्वमवगुदमधःशिरसं कृत्वा ताडयित्वा कारागृहे धेहि। यथा स्त्रीणां मध्ये या काचित् उत्सक्थी व्यभिचारिणी स्त्री भवति, तस्यै सम्यग्दण्डं ददाति, तथैव त्वं तं जीवभोजनं परप्राणनाशकं दुष्टं दस्युं दण्डेन समुच्चारय ॥ १० ॥

भाषार्थ (उत्सक्थ्या०) परमेश्वर कहता है कि हे कामना की वृष्टि करनेवाले और उसको प्राप्त करानेवाले सभाध्यक्षसहित विद्वान् लोगो ! तुम सब एक सम्मति होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढ़ा-के न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो। तथा जो कोई दुष्ट (जीवभोजनः) स्त्रियों में व्यभिचार करने-वाला, चोरों में चोर, ठगों में ठग, डाकुओं में डाकू प्रसिद्ध, दूसरों को बुरे काम सिखानेवाला इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त स्त्री को ऊपर पग और नीचे सिर करके उसको टाँग देना, इत्यादि अत्यन्त दुर्दशा करके मार डालना चाहिए, क्योंकि इससे अत्यन्त सुख का लाभ प्रजा में होगा ॥१०॥

एतावतैव खण्डनेन महीधरकृतस्य 'वेददीपाख्यस्य खण्डनं सर्वैर्जनैर्बोद्धव्यमिति। यदा मन्त्रभाष्यं मया विधास्यते, तत्रास्य महीधरकृतस्य भाष्यस्यान्येऽपि दोषाः प्रकाशयिष्यन्ते। यदि ह्यार्य्यदेशनिवासिनां सायणमहीधरप्रभृतीनां व्याख्यास्वेतादृशी मिथ्या गतिरस्ति, तर्हि यूरोपखण्डनिवासिनामेतदनुसारेण स्वदेश-भाषायां कृतानां वेदार्थव्याख्यानानामनर्थंगतेस्तु का कथा ? एवं जाते सति ह्येतदाश्रयेण देशभाषया यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति, इति सज्जनैर्विचारणीयम्।

नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्तुमार्य्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते। तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च। तस्मात् तद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्त्तव्या। किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति, नैव किञ्चित् तेषु मिथ्यात्वमस्ति। तदेतच्च सर्वे मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति, यदा चतुर्णां वेदानां निर्मितं भाष्यं यन्त्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं भविष्यति। एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृतया वेदविद्यया तुल्या द्वितीया विद्याऽस्तीति सर्वे विज्ञास्यन्तीति बोध्यम्।

पर आजीविका चलाता है, या जीवों का मांस खाता है, ऐसे पुरुष तथा व्यभिचारिणी स्त्री को कठोर दण्ड दे जिससे न्यायव्यवस्था का सबको भली-भाँति ज्ञान हो, और उत्तम सुख सबको प्राप्त हो।

'जिस समय चारों वेदों का भाष्य बनकर छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा' इत्यादि के सन्दर्भ में 'भ्रान्तिनिवारण' में ग्रन्थकार का यह वक्तव्य द्रष्टव्य है—

"परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देखने को मिला कि वेदभाष्य सम्पूर्ण हो जावे तो निःसन्देह इस आर्यवर्त्त देश में सूर्य का-सा प्रकाश हो जावेगा जिसके मेटने और झांपने का किसी का सामर्थ्य न होगा, क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिसको कोई सुगमता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—आगे कहाँ तक लिखें, इतने ही से सज्जन पुरुष अर्थ और अनर्थ[1] की परीक्षा कर लेवें। परन्तु मन्त्रभाष्य में महीधर आदि के और भी दोष प्रकाश किये जाएँगे, और जब इन्हीं लोगों के व्याख्यान अशुद्ध हैं, तब यूरोपखण्डवासी लोगों ने जो उन्हीं की सहायता लेकर अपनी देशभाषा में वेदों के व्याख्यान किये हैं, उनके अनर्थ का तो क्या ही कहना है? तथा जिन्होंने उन्हीं के अनुसारी व्याख्यान किये हैं, इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है।

परन्तु जिस समय चारों वेद का भाष्य बनकर और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा, तब सब किसी को उत्तम विद्यापुस्तक वेद का परमेश्वर-रचित होना भूगोलभर में विदित हो जावेगा, और यह भी प्रगट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्य पुस्तक वेद ही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है। ऐसा निश्चय जानके सब मनुष्यों की वेदों में परमप्रीति होगी। इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में जान लेना।

इति भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः समाप्तः

से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान ग्रहण में आ भी जावे तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जावेगा।"

आर्यावर्त्त के दुर्भाग्य से वह शुभ दिन न आ सका।

---

१. महीधर ने जैसा अश्लील अर्थ किया है वैसा शतपथ में भी मिलता है। फिर ग्रन्थकार ने महीधर के अर्थों का ही खण्डन क्यों किया? शतपथ का निर्देश क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि शतपथ में उक्त प्रकार का अश्लील अर्थ **'अध्रिगोः परिशिष्टं भवति'** निर्देश करके लिखा है। परिशिष्ट शब्द से स्पष्ट है कि यह अर्थ शतपथ में पीछे से घुसेड़ा गया है। इतना ही नहीं, इसका प्रक्षेपपना तो शतपथ में पूर्वत्र यथाप्रकरण साधु अर्थों के विधान में ही स्पष्ट है। अन्यथा शतपथकार पूर्व उत्तम अर्थ का निर्देश ही न करते और यही अश्लील अर्थ यथा-स्थान पूर्व ही रख देते। इससे स्पष्ट है कि महीधर ने परिशिष्ट शब्द और पुनरुक्ति दोष की ओर ध्यान न देकर साध्वर्थ की (जो उसी ग्रन्थ में निर्दिष्ट हैं) उपेक्षा करके अश्लीलार्थ ही स्वीकार किया है, इससे ग्रन्थकार ने महीधर आदि के अर्थों की ही आलोचना की है, शतपथ की नहीं, क्योंकि उसमें परिशिष्ट शब्द के प्रयोग से उनका प्रक्षेपत्व स्पष्ट है। कात्यायन आदि श्रौतसूत्रों में भी इन्हीं अश्लील अर्थों का संकेत मिलता है। उससे प्रतीत होता है कि उनकी रचना शतपथ में परिशिष्टांश के प्रक्षेप के पीछे हुई है अथवा उनमें शतपथोक्त साध्वर्थ द्योतित विनियोग को उत्तर काल में निकालकर अश्लीलार्थपरक विनियोग डाला गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः ? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्।[1] पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो[2] मन्त्रार्थानुसृत[3]स्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।

तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते। कृतोऽस्यैकत्र विशेषस्तु पातञ्जलयोगशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोऽस्तीत्यतः। एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि। कुतः ? अस्य विशेषस्तु सांख्यवेदान्तोपनिषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः। एवं यत्र काण्डत्रयस्य बोधान्निष्पत्त्युपकारौ गृह्येते, तच्च

अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

१. एतेन सन्दर्भेणैतत् स्पष्टं भवति यद् ग्रन्थकारो भगवान् दयानन्दः श्रौतगृह्यधर्मसूत्रेषु प्रतिपादितं कर्मकाण्डं यथावत् स्वीकरोति। गृह्यसूत्रोक्तकर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं संस्कारविधिग्रन्थनिर्माणात् विस्पष्टमेवानुमतम्। श्रौतसूत्रोक्तकर्मकाण्डस्य प्रामाण्यमपि यत्रतत्र स्वग्रन्थेषु यज्ञादिनिरूपणे "अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्त" शब्दनिर्देशात् विज्ञापितं भवति। यतो हि अश्वमेधादयो यज्ञाः श्रौतसूत्रेष्वेव पठ्यन्ते। अपि च संस्कारविधौ दर्शपौर्णमासेष्टयोः प्रयोगार्हाणां पात्राणां निर्देशादपि तत्प्रामाण्यं स्वीक्रियते इति विज्ञापितं भवति।

अस्मिन् वाक्ये 'यथार्थं विनियोजितत्वात्' पदाभ्यामपि श्रौतसूत्रस्थस्य कर्मकाण्डस्य याथार्थ्यं सूचितम्। इदं त्वत्रावधेयम्—इदं यथार्थवचनं सापेक्षमिहप्रयुक्तम् तेन यद्यत् कर्म वेदाविरोधि तस्यैव याथार्थ्यमत्र ग्राह्यं, न वेदविरुद्धस्य। अयमेवार्थो 'वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतः' पदाभ्यामुत्तरं विस्पष्टी कृतः।

२. वेदप्रमाणविपरीतो विनियोगः कर्मकाण्डं वा न प्रमाणम्। तदुक्तं भगवता जैमिनिना— 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्' (१।३।३)।

३. मन्त्रार्थानुसृत एव विनियोगः प्रमाणमित्यर्थः 'यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति' इति (गोपथब्राह्मणवचनेनाप्युच्यते। अयमेव चाभिप्रायः उक्तब्राह्मणवचनमुद्ध्रियमाणेन यास्केनाप्यनुमोद्यते। एतेन मन्त्रार्थाननुसृतो विनियोगोऽप्रमाणम् इति द्योतितं भवति। तेन नवग्रहपूजासूक्तः 'शन्नोदेवी' इत्यादि मन्त्राणां विनियोगोऽप्रमाणम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञानकाण्डम् । परन्वेतत्काण्डचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तरस्तद्व्याख्यानेषु ग्रन्थेष्वस्ति । स एव सम्यक् परीक्ष्याविरुद्धोऽर्थो ग्रहीतव्यः । कुतः ? मूलाभावे शाखादीनामप्रवृत्तेः ।

एवमेव व्याकरणादिभि[1] र्वेदाङ्गै र्वैदिकशब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यमुच्चारणं च । तत्र यथार्थमुक्तत्वादत्र न वर्ण्यते । एवं पिङ्गलसूत्रच्छन्दोग्रन्थे[2] यथालिखितं छन्दोलक्षणं विज्ञातव्यम् । स्वराः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥ १ ॥ पिङ्गलशास्त्रे अ० ३ । सू० ६४ ॥' इति पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रानुसारेण प्रतिच्छन्दः स्वरा लेखिष्यन्ते[3] । कुतः ? इदानीं यच्छन्दोऽन्वितो यो मन्त्र-

---

१. आदिशब्देनात्र शिक्षानिरुक्तनाम्नोर्वेदाङ्गयोर्ग्रहणं द्रष्टव्यम् । तेन शिक्षाव्याकरणनिरुक्त-शास्त्रेषु शब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानम्, अर्थविज्ञानं, शब्दोच्चारणविज्ञानं च यथार्थं विहितमस्ति, तस्मात्कारणादिह नोच्यन्ते तानि च तत एव ज्ञेयानि, इति भावः ।

२. तत्तद् वेदसम्बद्धा अनेके छन्दोग्रन्थाः पार्थक्येनोपलभ्यन्ते । तद्यथा ऋग्वेदस्य कात्यायनी-यर्क्सर्वानुक्रमणी, शौनकीया छन्दोनुक्रमणी च, यजुर्वेदस्य कात्याननाम्ना प्रसिद्धीकृता सर्वानुक्रमणी, सामवेदस्य निदानसूत्रान्तर्गता छन्दोविचितिः, अथर्ववेदस्य च बृहत्सर्वानुक्रमणी प्रसिद्धा वर्तन्ते । प्राचीना वेदभाष्यकारा ऋग्यजुषोः कात्यायनसर्वानुक्रमण्यनुसारमेव प्रायेण छन्दोनिर्देशं कुर्वन्ति । तत्परित्यज्य किमर्थं ग्रन्थकारः पिङ्गलछन्दोग्रन्थप्राधान्येनोपससारेति जायते विचारणा । अत्रोच्यते—ऋग्वेदस्य सर्वानुक्रमण्याः परित्यागे द्वे कारणे । तत्र प्रथमं तस्यां यज्ञकर्मोपयोगिछन्दोनिर्देशात् अर्थज्ञाने तच्छन्द-सामनुपयोगित्वात् शुक्लयजुषः सर्वानुक्रमण्या कूटग्रन्थत्वाच्च ग्रन्थकारेणानयोः सर्वानुक्रमण्योराश्रयो छन्दोनिर्देशे नैव कृतः । द्वितीयमिदं कारणं यद् वेदाङ्गत्वेन पिङ्गलछन्दोग्रन्थ एव सर्वैराश्रीयतेऽतस्तस्या-श्रयणमेवोचितम् । पिङ्गलसूत्रस्य च वेदाङ्गत्वं तस्य सर्ववेदसाधारणत्वान्मन्यते । तथा चोक्तं पेत्ताशास्त्रिणा—

"याष्षट् पिङ्गलनागाद्यैः छन्दोविचतयः कृताः, तासां पिङ्गलनागीया सर्वसाधारणी भवेत् ॥" इति ।

३. प्राचीनैराचार्यैः प्रतिमन्त्रमृषिदैवतछन्दांस्युक्तानि । स्वरनिर्देशो न केनापि भाष्यकारेण कृतः, तस्माद् अयं ग्रन्थकारस्य विशिष्टः प्रयत्नो द्रष्टव्यः ।—युधिष्ठिर मीमांसक

अर्थात् ग्रन्थकार कर्मकाण्ड के विषय में श्रौत, गृह्य एवं धर्मसूत्रों को प्रमाण मानते हैं। संस्कारविधि का तो मुख्य आधार गृह्यसूत्रोक्त कर्मकाण्ड ही है। यज्ञादि के निरूपण में अनेकत्र 'अग्निहोत्र से अश्वमेध पर्यन्त' आदि शब्दों के व्यवहार से यह भी स्पष्ट है कि उन्हें श्रौतसूत्रोक्त कर्मकाण्ड का प्रामाण्य स्वीकार है, क्योंकि अश्वमेधादि यज्ञों का विधान मुख्यतः श्रौतसूत्रों में ही उपलब्ध है। संस्कारविधि में दर्शपौर्ण-मासादि यज्ञों में प्रयोग में आनेवाले पात्रों का निर्देश होने से भी इसकी पुष्टि होती है। परन्तु जहाँ **'यथार्थं विनियोजितत्वात्'** पदों से श्रौतसूत्रस्थ कर्मकाण्ड का याथार्थ्य सूचित होता है, वहाँ ग्रन्थकार ने **'वेदप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुकूलः'** पदों से यह भी विस्पष्ट कर दिया है कि विनियोग वेदानुकूल अथवा वेदाविरोधी होने पर ही ग्राह्य है। वेदविरुद्ध होने पर उसका प्रामाण्य नहीं रहता। ग्रन्थकार की यह मान्यता मीमांसाशास्त्र के **'विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्'** (१।३।३) के अनुसार सर्वमान्य सिद्धान्त है। 'मन्त्रार्थानुसृत विनियोग ही मान्य है'—इसमें गोपथ ब्राह्मण का यह वचन भी साक्षी है—**'यत्कर्म क्रियमाण-मृग्यजुर्वाऽभिवदति ।'** गोपथ ब्राह्मण के इस वचन को उद्धृत कर यास्क ने भी इसका अनुमोदन किया है। अतएव मन्त्रार्थ के विपरीत विनियोग मान्य नहीं हो सकता। इस प्रकार **'शन्नो देवी'** इत्यादि मन्त्रों का नवग्रह पूजा में विनियोग निश्चय ही सर्वथा अवैदिक है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धेः। एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यक-विद्यादयो विशेषा विज्ञेयाः। तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमन्त्रार्थभाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते। एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन सयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसन्देहनिवृत्तिर्भविष्यति।

'व्याकरणादिभिः'- में 'आदि' शब्द से यहाँ शिक्षा, निरुक्त आदि वेदाङ्ग अभिप्रेत हैं। शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त आदि में शब्दों का उदात्तादि स्वर विज्ञान, अर्थविज्ञान, शब्दोच्चारण विज्ञान यथार्थ-रूप में विद्यमान है। इसलिए उनके विषय में विस्तृत विवेचन यहाँ अनावश्यक है।

प्रत्येक वेद से सम्बन्धित अलग-अलग छन्दोग्रन्थ उपलब्ध हैं। जैसे – ऋग्वेद की कात्यायनीय ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी और शौनकीय छन्दोनुक्रमणी, यजुर्वेद की कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध सर्वानुक्रमणी सामवेद की निदान-सूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति तथा अथर्ववेद की बृहत्सर्वानुक्रणी प्रसिद्ध हैं। प्राचीन भाष्यकार प्रायः ऋग्वेद तथा यजुर्वेद की कात्यायन-सर्वानुक्रमणी के अनुसार छन्द निर्देश करते हैं। तब ग्रन्थकार ने उनका परित्याग करके विशेषरूप से पिङ्गलछन्दोग्रन्थ का निर्देश करना किसलिए आवश्यक समझा ? ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी की अवहेलना के दो कारण प्रतीत होते हैं। पहला यह है कि उनमें यज्ञक-र्मोपयोगी छन्दों का निर्देश होने से वे अर्थज्ञान में उपयोगी नहीं हैं। शुक्ल यजुर्वेद की सर्वानुक्रमणी के कूटग्रन्थ होने के कारण भी ग्रन्थकार ने इन सर्वानुक्रमणियों का आश्रय लेना उपयुक्त नहीं समझा। दूसरा यह कि वेदाङ्ग के रूप में प्रायः सभी विद्वान् पिङ्गलछन्दोग्रन्थ का ही उपयोग करते हैं, इसलिए उसका अनुसरण करना उचित है।[1] पेत्ताशास्त्री ने ठीक कहा है—

"याष्षट्पिङ्गलनागाद्यैः छन्दोविचितयः कृताः तासां पिङ्गलनागीया सर्वसाधारणी भवेत्।' इति

प्राचीन आचार्यों ने प्रत्येक मन्त्र के देवता तथा छन्द का निर्देश तो किया है, किन्तु स्वर का निर्देश किसी भाष्यकार ने नहीं किया। वेदार्थप्रक्रिया में स्वरविज्ञान की उपादेयता पर आगे **संक्षेपतः स्वरव्यवस्थाविषयः**' के अन्तर्गत प्रकाश डाला गया है। लीक से हटकर स्वरनिर्देश करना ग्रन्थकार की अपनी विशेषता है।

वेदार्थ की जितनी प्रक्रियाएँ हैं उनमें ऐतिहासिक प्रक्रिया को छोड़कर अन्य सभी प्रक्रियाओं में वैदिक नामपदों को धातुज अथवा यौगिक माना गया है। जब सब नाम धातुज हैं तो जिस धातु से उनकी उत्पत्ति हुई है, उस धातु के अर्थ को वे अवश्य कहेंगे। जैसे एक अर्थवाले अनेक शब्द होते हैं और एक शब्द अनेक धातुओं से निष्पन्न होता है, वैसे ही धातुज होने के कारण एक-एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न शब्दों की व्युत्पत्तियाँ इसलिए की गई हैं कि उन शब्दों की निरुक्तियों को लेकर तत्तत् शब्द का अर्थ होता है। धातुओं का अनेकार्थक होना शब्दों के अनेकार्थक होने, शब्दों का अनेकार्थक होना मन्त्रों के अनेकार्थक होने और मन्त्रों का अनेकार्थक होना वेद के सर्वज्ञानमय अथवा सब विद्याओं का पुस्तक होने में हेतु है।

ग्रन्थकार के मत में पूर्वकृत विनियोग कोई ऐसी अटल रेखा नहीं है जिसका अनुसरण करना अनिवार्य हो। प्राचीन आचार्यों ने यथामति मन्त्रों के विनियोग किये हैं। कोई अन्य आचार्य इतर किसी विधि में भी विनियुक्त करने में स्वतन्त्र है। प्राचीनों में भी सभी आचार्यों ने एक मन्त्र का विनियोग

१—इस विषय में अधिक जानकारी के लिए पं० युधिष्ठिर मीमांसककृत 'वैदिक छन्दोमीमांसा' तथा वेदसंज्ञा मीमांसा' ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते । यत्र यत्र व्याकरणादि-प्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र तत्र लेखिष्यते । येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यान-ग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम् । संहितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्य्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतम्, अनेनात्रानर्थो महान् जातः । तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति । यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणर्षिमुनि-महर्षिमहामुनिभिरार्य्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेयब्राह्मणादिषूक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते ।

एक ही प्रकार से किया हो, ऐसी बात भी नहीं है । ऐसा भी नहीं है कि एक आचार्य ने भी एक मन्त्र का एक ही विनियोग किया हो । एक मन्त्र को अनेकत्र भी विनियुक्त किया है । इससे स्पष्ट है कि मन्त्र का पूर्वकृत विनियोग के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं है । दुर्भाग्य से विनियोग को नित्य समझ लेने के कारण मन्त्रार्थ संकुचित होकर रह गये । उव्वट – महीधरादि ने अपने भाष्यों में कात्यायन श्रौतसूत्र में विनियो-जित कर्मकाण्ड का अनुसरण करके मन्त्रार्थ को सीमित कर दिया और वे याज्ञिकों की स्वार्थसिद्धि का साधन बनकर रह गये ।

ग्रन्थकार का भाष्य इन विनियोगों से स्वतन्त्र है । वास्तव में उन्होंने मन्त्रों के अपने ही विनि-योग किये हैं जो अनेक स्थानों पर प्रत्येक मन्त्र के आरम्भ में दी गई भूमिका से निःसृत होते हैं । वेद मनुष्य के अभ्युदय व निःश्रेयस के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है । जिस मन्त्र में जिस विषय का वर्णन होता है, वह उसका देवता कहाता है । वेद मनुष्य के ज्ञान में आसकनेवाले समस्त तत्त्वों-पदार्थों को देवता नाम से अभिहित करता है । ऐसे तत्त्व लौकिक हों या अलौकिक, जड़ हों या चेतन, आध्यात्मिक हों या आधिदैविक अथवा आधिभौतिक, द्रव्यरूप हों या गुणरूप, मनुष्य हों या पशु-पक्षी कीट-पतंग, भले हों या बुरे—प्रत्येक प्रतिपाद्य वस्तुतत्त्व का वर्णन वेद में मिलता है । यतः वेद के सर्वज्ञान-मय होने से ऐसे पदार्थों-तत्त्वों की संख्या अनन्त है, अतः वेद में वर्ण्यविषयों की इयत्ता का अवधारण करना मानवशक्ति से बाहर है । पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के शब्दों में जितने भी पदार्थों-तत्त्वों को मानव-ज्ञान का विषय बनाया जा सकता है, वे सब देवता हैं । ग्रन्थकार का यह कहना है कि क्योंकि वेद केवल कर्मकाण्डपरक नहीं हैं, इसलिए उसके ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा विज्ञानकाण्डपरक अर्थ भी किये जाने चाहिएँ । पूर्वकृत विनियोगों से न बँधने तथा प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं तत्कृत वेदाङ्ग, उपाङ्ग, ऐतरेय, शतपथ आदि का अनुसरण करते हुए स्वतन्त्र बुद्धि से भाष्य करने के कारण उनका भाष्य चहुँ-मुखी बन गया है जिसे देखकर वेद के सर्वज्ञानमय होने के विश्वास को बल मिलता है ।

यहाँ 'सायण-माधव' परस्पर सम्बद्ध-पद है । सायण माधव का अनुज है । सायण ने अनेक ग्रन्थ लिखकर अपने ज्येष्ठ भ्राता माधव के नाम से प्रसिद्ध किये हैं । वेदव्याख्याताओं में माधव नाम के दो अन्य आचार्य भी प्रसिद्ध हैं । एक सायण से प्राचीन सामवेद व्याख्याता माधव और दूसरा ऋग्वेद व्याख्याता वेङ्कटमाधव ।

ग्रन्थकार ने आरम्भ में प्रति मन्त्र दो-दो अर्थ किये थे । तदनुसार उन्होंने सं० १९३३ में ऋग्वेद-भाष्य का एक नमूने का २४ पृष्ठों का अंक छपवाया था । उसमें प्रथम सूक्त सम्पूर्ण और द्वितीय सूक्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धेः। एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यक-विद्यादयो विशेषा विज्ञेयाः। तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमन्त्रार्थभाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते। एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन सयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसन्देहनिवृत्तिर्भविष्यति।

'व्याकरणादिभिः'- में 'आदि' शब्द से यहाँ शिक्षा, निरुक्त आदि वेदाङ्ग अभिप्रेत हैं। शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त आदि में शब्दों का उदात्तादि स्वर विज्ञान, अर्थविज्ञान, शब्दोच्चारण विज्ञान यथार्थ-रूप में विद्यमान है। इसलिए उनके विषय में विस्तृत विवेचन यहाँ अनावश्यक है।

प्रत्येक वेद से सम्बन्धित अलग-अलग छन्दोग्रन्थ उपलब्ध हैं। जैसे -- ऋग्वेद की कात्यायनीय ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी और शौनकीय छन्दोनुक्रमणी, यजुर्वेद की कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध सर्वानुक्रमणी सामवेद की निदान-सूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति तथा अथर्ववेद की बृहत्सर्वानुक्रणी प्रसिद्ध हैं। प्राचीन भाष्यकार प्रायः ऋग्वेद तथा यजुर्वेद की कात्यायन-सर्वानुक्रमणी के अनुसार छन्द निर्देश करते हैं। तब ग्रन्थकार ने उनका परित्याग करके विशेषरूप से पिङ्गलछन्दोग्रन्थ का निर्देश करना किसलिए आवश्यक समझा? ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी की अवहेलना के दो कारण प्रतीत होते हैं। पहला यह है कि उनमें यज्ञक-र्मोपयोगी छन्दों का निर्देश होने से वे अर्थज्ञान में उपयोगी नहीं हैं। शुक्ल यजुर्वेद की सर्वानुक्रमणी के कूटग्रन्थ होने के कारण भी ग्रन्थकार ने इन सर्वानुक्रमणियों का आश्रय लेना उपयुक्त नहीं समझा। दूसरा यह कि वेदाङ्ग के रूप में प्रायः सभी विद्वान् पिङ्गलछन्दोग्रन्थ का ही उपयोग करते हैं, इसलिए उसका अनुसरण करना उचित है।' पेत्ताशास्त्री ने ठीक कहा है—

"याष्षट्पिङ्गलनागाद्यैः छन्दोविचतयः कृताः तासां पिङ्गलनागीया सर्वसाधारणी भवेत्।' इति

प्राचीन आचार्यों ने प्रत्येक मन्त्र के देवता तथा छन्द का निर्देश तो किया है, किन्तु स्वर का निर्देश किसी भाष्यकार ने नहीं किया। वेदार्थप्रक्रिया में स्वरविज्ञान की उपादेयता पर आगे संक्षेपतः **स्वरव्यवस्थाविषयः'** के अन्तर्गत प्रकाश डाला गया है। लीक से हटकर स्वरनिर्देश करना ग्रन्थकार की अपनी विशेषता है।

वेदार्थ की जितनी प्रक्रियाएँ हैं उनमें ऐतिहासिक प्रक्रिया को छोड़कर अन्य सभी प्रक्रियाओं में वैदिक नामपदों को धातुज अथवा यौगिक माना गया है। जब सब नाम धातुज हैं तो जिस धातु से उनकी उत्पत्ति हुई है, उस धातु के अर्थ को वे अवश्य कहेंगे। जैसे एक अर्थवाले अनेक शब्द होते हैं और एक शब्द अनेक धातुओं से निष्पन्न होता है, वैसे ही धातुज होने के कारण एक-एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न शब्दों की व्युत्पत्तियाँ इसलिए की गई हैं कि उन शब्दों की निरुक्तियों को लेकर तत्तत् शब्द का अर्थ होता है। धातुओं का अनेकार्थक होना शब्दों के अनेकार्थक होने, शब्दों का अनेकार्थक होना मन्त्रों के अनेकार्थक होने और मन्त्रों का अनेकार्थक होना वेद के सर्वज्ञानमय अथवा सब विद्याओं का पुस्तक होने में हेतु है।

ग्रन्थकार के मत में पूर्वकृत विनियोग कोई ऐसी अटल रेखा नहीं है जिसका अनुसरण करना अनिवार्य हो। प्राचीन आचार्यों ने यथामति मन्त्रों के विनियोग किये हैं। कोई अन्य आचार्य इतर किसी विधि में भी विनियुक्त करने में स्वतन्त्र है। प्राचीनों में भी सभी आचार्यों ने एक मन्त्र का विनियोग

१—इस विषय में अधिक जानकारी के लिए पं॰ युधिष्ठिर मीमांसककृत 'वैदिक छन्दोमीमांसा' तथा वेदसंज्ञा मीमांसा' ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते । यत्र यत्र व्याकरणादि-प्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र तत्र लेखिष्यते । येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यान-ग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम् । संहितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्य्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतम्, अनेनात्रानर्थो महान् जातः । तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति । यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणर्षिमुनि-महर्षिमहामुनिभिराय्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेयब्राह्मणादिषूक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते ।

एक ही प्रकार से किया हो, ऐसी बात भी नहीं है । ऐसा भी नहीं है कि एक आचार्य ने भी एक मन्त्र का एक ही विनियोग किया हो । एक मन्त्र को अनेकत्र भी विनियुक्त किया है । इससे स्पष्ट है कि मन्त्र का पूर्वकृत विनियोग के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं है । दुर्भाग्य से विनियोग को नित्य समझ लेने के कारण मन्त्रार्थ संकुचित होकर रह गये । उव्वट – महीधरादि ने अपने भाष्यों में कात्यायन श्रौतसूत्र में विनियो-जित कर्मकाण्ड का अनुसरण करके मन्त्रार्थ को सीमित कर दिया और वे याज्ञिकों की स्वार्थसिद्धि का साधन बनकर रह गये ।

ग्रन्थकार का भाष्य इन विनियोगों से स्वतन्त्र है । वास्तव में उन्होंने मन्त्रों के अपने ही विनि-योग किये हैं जो अनेक स्थानों पर प्रत्येक मन्त्र के आरम्भ में दी गई भूमिका से निःसृत होते हैं । वेद मनुष्य के अभ्युदय व निःश्रेयस के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है । जिस मन्त्र में जिस विषय का वर्णन होता है, वह उसका देवता कहाता है । वेद मनुष्य के ज्ञान में आसकनेवाले समस्त तत्त्वों-पदार्थों को देवता नाम से अभिहित करता है । ऐसे तत्त्व लौकिक हों या अलौकिक, जड़ हों या चेतन, आध्यात्मिक हों या आधिदैविक अथवा आधिभौतिक, द्रव्यरूप हों या गुणरूप, मनुष्य हों या पशु-पक्षी कीट-पतंग, भले हों या बुरे—प्रत्येक प्रतिपाद्य वस्तुतत्त्व का वर्णन वेद में मिलता है । यतः वेद के सर्वज्ञान-मय होने से ऐसे पदार्थों-तत्त्वों की संख्या अनन्त है, अतः वेद में वर्ण्य विषयों की इयत्ता का अवधारण करना मानवशक्ति से बाहर है । पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के शब्दों में जितने भी पदार्थों-तत्त्वों को मानव-ज्ञान का विषय बनाया जा सकता है, वे सब देवता हैं । ग्रन्थकार का यह कहना है कि क्योंकि वेद केवल कर्मकाण्डपरक नहीं हैं, इसलिए उसके ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा विज्ञानकाण्डपरक अर्थ भी किये जाने चाहिएँ । पूर्वकृत विनियोगों से न बँधने तथा प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं तत्कृत वेदाङ्ग, उपाङ्ग, ऐतरेय, शतपथ आदि का अनुसरण करते हुए स्वतन्त्र बुद्धि से भाष्य करने के कारण उनका भाष्य चहुँ-मुखी बन गया है जिसे देखकर वेद के सर्वज्ञानमय होने के विश्वास को बल मिलता है ।

यहाँ 'सायण-माधव' परस्पर सम्बद्ध-पद है । सायण माधव का अनुज है । सायण ने अनेक ग्रन्थ लिखकर अपने ज्येष्ठ भ्राता माधव के नाम से प्रसिद्ध किये हैं । वेदव्याख्याताओं में माधव नाम के दो अन्य आचार्य भी प्रसिद्ध हैं । एक सायण से प्राचीन सामवेद व्याख्याता माधव और दूसरा ऋग्वेद व्याख्याता वेङ्कटमाधव ।

ग्रन्थकार ने आरम्भ में प्रति मन्त्र दो-दो अर्थ किये थे । तदनुसार उन्होंने सं० १९३३ में ऋग्वेद-भाष्य का एक नमूने का २४ पृष्ठों का अंक छपवाया था । उसमें प्रथम सूक्त सम्पूर्ण और द्वितीय सूक्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति। कुतः ? निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्मिन् कार्य्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात्, कार्य्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च। यत्र खलु व्यावहारिकोऽर्थो भवति, तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च। एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तस्मिन् कार्य्यार्थसम्बन्धात् सोप्यर्थ आगच्छतीति।

के प्रथम मन्त्र के द्वितीय अर्थ (संस्कृत) का कुछ भाग था। इसी प्रकार दो-दो अर्थवाला ऋग्भाष्य कुछ सूक्तों तक हस्तलिखित रूप में परोपकारिणी सभा के संग्रह में विद्यमान है। सन् १९७२ में परोपकारिणी सभा ने नमूने के अंक का नया संस्करण छापा था। उसमें सूक्त २, ३ का वह अर्थ नहीं है जो सं० १९३३ के नमूने के अंक में दूसरे सूक्त के प्रथम मन्त्र का छपा था।

संक्षेप में कहें तो ग्रन्थकार का भाष्य निम्नलिखित विशेषताओं को लिए हुए है—

१—मन्त्रों में ईश्वर के वास्तविक स्वरूप, गुण-कर्म-स्वभाव, आदि का तथा उसकी स्तुति-प्रार्थना-उपासना का विशद एवं विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

२—वेद में अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेक देवी-देवताओं की पूजा की भ्रान्ति नहीं होती। इतर भाष्यों में जहाँ अग्नि, वायु, सूर्य आदि से परमेश्वर-भिन्न उन-उनके अभिमानी देवों का ग्रहण किया जाता था, वहाँ ग्रन्थकार के भाष्य में उन्हें एक परमेश्वर का गुणवाची नाम बताया गया है।

३—वेदमन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक त्रिविध अर्थ प्रक्रिया व्याकरण-निरुक्त-ब्राह्मणग्रन्थ आदि से सम्मत थी, तथापि भाष्यकारों ने प्रायः आधिदैविक या कर्मकाण्डपरक ही अर्थ किये थे। प्रस्तुत भाष्य में तीनों प्रकार के अर्थ किये गए हैं। प्रत्येक मन्त्र के त्रिविध अर्थ दिखाना सम्भव न होने से कहीं आध्यात्मिक, कहीं अधिदैवत और कहीं अधिभूत अर्थ दर्शाये गये हैं। साथ ही अनेक स्थानों पर एक मन्त्र को दो-दो या तीन-तीन अर्थ भी प्रदर्शित किये हैं। श्लेष एवं वाचकलुप्तोपमा का आश्रय लेकर एक से अधिक अर्थ प्रस्तुत किए गये हैं।

४—वैदिक देवों के स्वरूप पर भी तीनों दृष्टियों से विचार किया है। 'अग्नि' से ईश्वर, भौतिक अग्नि, विद्युत्, सूर्य, जाठराग्नि, अग्रणी राजा, सेनापति आदि विविध अर्थ गृहीत होते हैं। 'उषा' केवल प्राकृतिक उषा नहीं है, किन्तु वह तेजस्विनी नारी का वाचक भी है। 'अश्विनौ' के द्यावापृथ्वी, सूर्य-चन्द्रमा, अध्यापक-उपदेशक, यजमान-ऋत्विज्, सभेश, प्राणापान, सुशिक्षित स्त्री-पुरुष आदि अर्थ किये हैं। 'आपः केवल पेय जल नहीं, किन्तु गुणवती कन्याएँ, माताएँ, विदुषियाँ, प्राण आदि भी हैं। 'आदित्य' केवल सूर्य नहीं है, किन्तु अविनाशी परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण, ब्रह्मचारी आदि भी आदित्य कहाते हैं। इन्द्र के अर्थ भी परमात्मा, जीवात्मा, सूर्य, विद्युत्, राजा सेनापति आदि अनेक होते हैं। रुद्र, कैलास पर्वत पर रहनेवाला कोई देवता नहीं, किन्तु पापियों का रोदक, जीवात्मा, सेनापति, वैद्य एवं प्राण भी रुद्र हैं। इसी प्रकार अन्य देवों के अर्थ देखे जा सकते हैं।

५—इस भाष्य के अनुसार वेदमन्त्र केवल पारमार्थिक ज्ञान के ज्ञापक नहीं हैं, किन्तु व्यक्ति और समाज के व्यावहारिक पक्ष के भी द्योतक हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजा, प्रजा, राजपुरुष, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, चिकित्सक, शिल्पी, न्यायाधीश, प्रशासक आदि सभी के धर्मों और कर्त्तव्यों का उपदेश उनमें पाया जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावार्थ—इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थ द्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे। परन्तु कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहाँ-जहाँ, जो-जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्तपर्यन्त करने चाहिएँ, उनका वर्णन यहाँ नहीं किया जाएगा, क्योंकि उनके अनुष्ठान का जो वेदानुकूल यथार्थ विनियोग ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ सकता है। इसलिए जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है, उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं।

६—इसी प्रकार वेदमन्त्र में अध्यात्मविद्या, योगविद्या, प्राणविद्या, भूगोल-खगोलविद्या, शिल्पविद्या, धनुर्विद्या, गान्धर्वविद्या, वाणिज्यविद्या, अध्ययन-अध्यापनविद्या, धर्म, ज्योतिष, राजनीति, रणनीति, कृषिविद्या, नौ-विमानादिविद्या, चिकित्साशास्त्र आदि विविध ज्ञान-विज्ञान की बातें दृष्टिगोचर होती हैं।

७—सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत होने के कारण वेदों में बाद में हुए ऋषियों, राजाओं आदि का इतिहास सिद्ध नहीं होता। आपाततः इतिहास की प्रतीति करानेवाले मनुष्यों, नगरों आदि के नाम भौतिक तत्त्वों के वाचक हैं। जैसे-यजुर्वेद ३।६२ में जमदग्नि, कश्यप आदि का अर्थ चक्षु, प्राण आदि सिद्ध किया है। वेद के अनादि और शाश्वत होने से उसमें शाश्वत इतिहास को छोड़कर किसी भी अन्य प्रकार के इतिवृत्त की कल्पना करना वेद के विषय को ठीक से नहीं समझना है

८—श्रुति परमात्मा से उद्भूत रचना है। इसलिए वह स्वतःप्रमाण है और श्रुति-वाक्यों में समस्त प्राकृत पदार्थों के समान विविध अभिप्रायों को व्यक्त करने की स्वाभाविक क्षमता है।

९—वेद और सृष्टि एक ही परमात्मा की रचनाएँ हैं। इस भाष्य के अनुसार श्रुति के अभिप्राय में और सृष्टि सम्बन्धी ऋत और सत्य में परस्पर किसी प्रकार के विरोध की प्रतीति नहीं होती।

१०—सृष्टि प्रभु की सोद्देश्य रचना है। यही स्थिति मानव शरीर की है। न सृष्टि मिथ्या है और न मानव-शरीर हेय है, अतः लोक-परलोक, संभूति-असंभूति, अभ्युदय-निःश्रेयस, परा और अपरा इन सबका समन्वय ही शाश्वत सत्य है। यह भाष्य इस समन्वय का प्रतिपादक है।

११ इस भाष्य में लौकिक तथा वैदिक शब्दों के भेद को ध्यान में रखकर यास्काचार्य, पाणिनि, पतञ्जलि आदि ऋषियों के आधार पर वेद के शब्दों के अर्थ के लिए समस्त वैदिक नियमों का आश्रय लिया गया है। निघण्टु, निरुक्त, ब्राह्मणग्रन्थ आदि के आधार पर ही वैदिक शब्दों की व्याख्या की गई है, सायणाचार्य आदि की तरह लौकिक व्याकरण वा कोशों के आधार पर नहीं।

१२—वेद में आये नाम शब्दों को धातुज मानकर प्रकरणादि के आधार पर उनके सभी सम्भव अर्थों का निरूपण पदार्थ में किया गया है। निर्वचन भेद से भिन्न-भिन्न अर्थों का निरूपण भी इस भाष्य में मिलता है।

१३—काव्य के अंगभूत श्लेष, उपमा, लुप्तोपमा, यमक आदि अलंकारों का उपयोग सबसे पहले इसी भाष्य में किया गया है। इन अलंकारों के द्वारा अर्थों में उत्पन्न चमत्कार देखते ही बनता है।

१४—व्यत्यय के सिद्धान्त का बहुत ही सुन्दर, सप्रमाण उपयोग इस भाष्य में मिलता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे ही उपासनाकाण्डविषयक मन्त्रों के विषय में भी पातञ्जल, सांख्य, वेदान्तशास्त्र और उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना, परन्तु केवल मूलमन्त्रों ही के अर्थानुकूल का अनुष्ठान और प्रतिकूल का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि जो-जो मन्त्रार्थ वेदोक्त हैं, सो सब स्वतः-प्रमाणरूप और ईश्वर के कहे हुए हैं, और जो-जो ग्रन्थ वेदों से भिन्न हैं, वे केवल वेदार्थ के अनुकूल होने से ही प्रामाणिक हैं, ऐसे न हों तो नहीं।

ऐसे ही व्याकरणादि शास्त्रों के बोध से उदात्त, अनुदात्त स्वरित, एकश्रुति आदि स्वरों का ज्ञान और उच्चारण तथा पिङ्गलसूत्र से छन्दों और षड्जादि स्वरों का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। जैसे अ॒ग्निमी॑ळे यहाँ अकार के नीचे अनुदात्त का चिह्न, 'ग्नि' उदात्त है, इसलिए उसपर चिह्न नहीं लगाया है, 'मी' के ऊपर स्वरित का चिह्न है, 'ले' में प्रचय अर्थात् एकश्रुति स्वर है, यह बात ध्यान में रखना। इसी प्रकार जो-जो व्याकरणादि के विषय लिखने के योग्य होंगे, वे सब संक्षेप में आगे लिखे जाएँगे, क्योंकि मनुष्यों को उनके समझने में कठिनता होती है। इसलिए उनके साथ में अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के भी विषय लिखे जाएँगे कि जिनके सहाय से वेदों का अर्थ अच्छी प्रकार विदित हो सके।

१५—प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द, स्वर आदि का निर्देश किया गया है जिनका सायणादि के भाष्यों में नितान्त अभाव है।

१६– यास्क, पाणिनि आदि के दिखाये नियमानुसार अनेक स्थानों में प्राचीन कहे जाने वाले पद-पाठों से भिन्न पदविभाग भी इस भाष्य में दिखाये गये हैं। महाभाष्य (३।१।१०९) के अनुसार पदकारों के अनुसार सूत्रकार नहीं चलेंगे, अपितु पदकारों को व्याकरण के पीछे चलना होगा। वेद में अर्थ के पीछे स्वर है, न कि स्वर के पीछे अर्थ।

१७—इस भाष्य की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें नैरुक्त शैली के अनुसार संस्कृत पदार्थ मन्त्रगत पदों के क्रम से रखा गया है और उसमें मन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों प्रकार के अर्थों को लक्ष्य में रखकर निर्वचन तथा अर्थ दर्शाया गया है जो अन्वय में सम्भव न था। अन्वय को संस्कृत पदार्थ का एक अंश ही समझना चाहिए।

१८ इस भाष्य के अनुसार पशुबलि, नरबलि, मांसभक्षण आदि अमानवोचित कार्य तथा अश्लील बातें वेदों में नहीं हैं। अतएव सायण-महीधर आदि के उन अर्थों का युक्ति तथा प्रमाण-पुरस्सर खण्डन किया है जिनसे वेदों में उपर्युक्त प्रकार की बातें सिद्ध प्रतीत होती हैं, और ऐसे मन्त्रों का सत्यार्थ प्रस्तुत किया है।

वेद मन्त्रों के अनेकार्थक होने पर भी उनका ईश्वरपरक अर्थ किया जाना अनिवार्य है, क्योंकि सब प्रकार के अर्थों में वह मुख्य है। वेद ईश्वरप्रदत्त हैं, अतः ईश्वर के साथ वेदों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार वह अपने प्रायोगिक क्षेत्र– सृष्टि के कण-कण में ओत-प्रोत है, उसी प्रकार वह अपनी सैद्धान्तिक कृति वेद के प्रत्येक मन्त्र में समाहित है। ब्रह्म को वेद का मुख्य प्रतिपाद्य मानते हुए यास्क ने निरुक्त (७।४) में लिखा है—

'महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा स्तूयते'—अर्थात् देवता के अत्यन्त भाग्यशाली होने से एक ही देवता की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है। वह एक देवता कौन है? इसका उत्तर देते हुए निरुक्त के परिशिष्ट में कहा है—**"अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः, तत्परं, तद् ब्रह्म"**—अर्थात् वह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस भाष्य में पद-पद का अर्थ पृथक्-पृथक् क्रम से लिखा जाएगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई हैं, उन सबकी निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जाएगा, तथा जो सायण, माधव, महीधर और अङ्गरेज़ी वा अन्य भाषा में उलथे वा भाष्य किये जाते वा किये गये हैं, तथा जो-जो देशान्तरभाषाओं में टीका हैं, उन अनर्थ व्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुखलाभ पहुँचेगा, क्योंकि बिना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में सत्य और असत्य कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है, ऐसे ही यहाँ भी समझ लेना चाहिए—इत्यादि प्रयोजनों के लिए इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है।

इति प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः।

महानात्मा पर (परमात्मा) है, वह ब्रह्म है। वेद की दृष्टि में वह अग्नि—**'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः'** (ऋ० ३।२६।७)। **'अग्निमीळे'** कहकर ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में उसी की स्तुति का उल्लेख किया गया है। उसी को अन्यत्र अन्यान्य नामों से पुकारा गया है।

कुछ लोग अध्यात्म विषय को उपनिषदों में निहित मानते हैं, परन्तु स्वयं उपनिषद् आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार सम्पूर्ण वेद का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ—कठोपनिषद् (२।१५) में कहा है—

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति···तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।"

इससे स्पष्ट है कि समस्त वेद का प्रतिपाद्य 'ओम्' है। कठोपनिषद् के इसी वचन की प्रतिध्वनि गीता के ८वें अध्याय के ११वें श्लोक में है। आगे चलकर तो श्रीकृष्ण ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह डाला **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (गीता १५।१५)। यही बात श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को अध्यात्मविद्या का उपदेश करके अन्त में कही—

दशेदमृक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमद्भुतम्।
नवनीतं यथा दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च।
तथैव विदुषां ज्ञानं पुत्रहेतोः समुद्धृतम्॥—महा० शा० प० २४६।१४-१५

अर्थात्—जैसे दही को मथकर मक्खन निकाला जाता है, या लकड़ियों को रगड़कर अग्नि को प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार दश सहस्र ऋचाओं को मथकर मैंने यह अध्यात्म ज्ञान निकाला है।

यहाँ दी हुई उपमाओं से स्पष्ट है कि जैसे दही के प्रत्येक भाग में सूक्ष्म अथवा अदृश्य रूप में मक्खन विद्यमान है और जैसे लकड़ी के प्रत्येक भाग में सूक्ष्म एवं अदृश्य रूप में अग्नि विद्यमान है वैसे ही दश सहस्र ऋचाओं (के समूह ऋग्वेद) की प्रत्येक ऋचा में सूक्ष्मरूप में अध्यात्मज्ञान निहित है। इसीलिए ग्रन्थकार ने यहाँ बलपूर्वक कहा है—

"नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तत्यागो भवति'—अर्थात् वेद के एक भी मन्त्र का अर्थ करते समय ईश्वरपरक अर्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वेदाध्ययन का मुख्य प्रयोजन तो अन्ततः ईश्वर-प्राप्ति ही है। समस्त ऋचाएँ उसी परमसत्ता का अवबोध कराने के लिए हैं। प्रत्यक्षतः भौतिक अग्नि को देखकर भी वेदानुयायी वास्तव में अग्निरूप परमेश्वर का ही चिन्तन करता है। जब हम किसी कार्य की प्रशंसा करते हैं तो वह वास्तव में कर्त्ता की ही प्रशंसा होती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः

प्रश्नः—अथ किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति ?

उत्तरम्—भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय ।

प्र०—कास्ताः?

उ०—त्रिधा गानविद्या भवति, गानोच्चारणविद्याया द्रुतमध्यमविलम्बितभेदयुक्तत्वात् । यावता कालेन[1] ह्रस्वस्वरोच्चारणं क्रियते, ततो दीर्घोच्चारणे द्विगुणः, प्लुतोच्चारणे त्रिगुणश्च कालो गच्छतीति । अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतसृषु संहितासु पाठः कृतोऽस्ति । तद्यथा—"ऋग्भिस्स्तुवन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिर्गायन्ति[2] ।" ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोऽस्ति, तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां

अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः

वेद को ज्ञान तथा वाणी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। ज्ञान आत्मा का गुण है। आत्मा ही ज्ञाता, द्रष्टा और वक्ता होता है, इन्द्रियाँ नहीं। वेदज्ञान परमात्मा में रहता है। वह सनातन अथवा नित्य है। इसलिए वेदज्ञान मनुष्यकृत न होकर परमात्मा द्वारा ऋषियों के आत्मा में संक्रान्त ज्ञान है। 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'–जब परमात्मा अपनी वाणी द्वारा अपने ज्ञान को ऋषियों के आत्मा में संक्रमित करता है[3] तब अग्न्यादि पूर्व ऋषि उस ज्ञान से सम्पन्न हो जाते हैं। वे ऋषि इस आत्मदृष्ट ज्ञान को स्थूलरूप में व्यक्त करने के लिए वाणी का प्रयोग करते हैं। तब जो शब्द सुनाई पड़ते हैं उन्हें श्रुति-

---

१. द्रुतमध्यमविलम्बितवृत्तीनामुच्चारणकाले वक्तव्ये ह्रस्वादीनामुच्चारणकालनिर्देशवचनमप्रासङ्गिकम्, तस्मादयमपपाठः । भाषापदार्थोऽप्यस्माभिरूह्यमाणं पाठं पोषयति । तस्मादत्रानेन पाठेन भाव्यम् 'यावता कालेन द्रुतवृत्त्योच्चारणं क्रियते ततो मध्यमवृत्त्योच्चारणे द्विगुणः, विलम्बितवृत्त्योच्चारणे त्रिगुणश्च कालो गच्छतीति' । महाभाष्यकृत् त्वासां वृत्तीनां कालविभागमेवमन्वाचष्टे—ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते मध्यमायाम् । ये च मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते विलम्बतायाम् । महा० १।१।६९ ।। इमं ग्रन्थं कैयट एवं स्पष्टयति—द्रुतं श्लोकमृचं वोच्चारयति वक्तरि नाडिकाया यस्या नव पानीयपलानि स्रवन्ति तस्या एव मध्यमायां वृत्तौ द्वादशपलानि स्रवन्ति । नवानां त्रिभागास्त्रीणि पलानि तदधिकानि नव द्वादश सम्पद्यन्ते । विलम्बितायां तु वृत्तौ षोडश पलानि स्रवन्ति इति । —युधिष्ठिर मीमांसक

२. तुलनीयम्—निरुक्त १३।७।।

३. अग्निमीले पुरोहितम्० – ऋ० १।१।१

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखे प्राविशत् ।—ऐत. उप. ३।२।४

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि ।—यजु० २६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकाशात् क्रियया॑ऽनेकविद्योपकारग्रहणाय विधानं कृतमस्ति, तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्य्यन्तं विद्याविचारः । एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोऽस्ति तस्य पूर्त्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः । एतदाद्यर्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति ।

(प्रश्नः) वेदानां चतुःसंहिताकरणे किं प्रयोजनमस्तीति ?

(उत्तरम्) यतो विद्याविधायकानां मन्त्राणां प्रकरणशः पूर्वापरसन्धानेन सुगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरेतदर्थं संहिताकरणम् ।

प्र०—वेदेष्वष्टकमण्डलाध्यायसूक्तकाण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुवाकविधानं किमर्थं कृतमस्ति ।

उ०—अत्र ब्रूमः—अत्राष्टकादीनां विधानमेतदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनं, मन्त्रपरिगणनं, प्रतिविद्यं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेदेतदर्थमेतद्विधानं कृतमस्तीति ।

प्र० –किमर्था ऋग्यजुःसामाथर्वाणः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थसंख्यायाः क्रमेण परिगणिताः सन्ति ?

उ०—अत्रोच्यते—न यावद् गुणगुणिनोः साक्षाज्ज्ञानं भवति, नैव तावत्संस्कारः प्रीतिश्च, न चाभ्यां विना प्रवृत्तिर्भवति, तया विना सुखाभावश्चेति । एतद्विद्याविधायकत्वादृग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योऽस्ति । एवं च यथा पदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रियया॑कारेण सर्वजगद्धितसम्पादनं कार्य्यं भवति, यजुर्वेद एतद्विद्याप्रतिपादकत्वाद् द्वितीयः परिगणितोऽस्तीति बोध्यम् । तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति, किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायकत्वात् तृतीयो गण्यत इति । एवमेवाथर्ववेदस्त्रय्यन्तर्गतविद्यानां परिशेषरक्षणविधायकत्वाच्[1] चतुर्थः परिगण्यत इति ।

अतो गुणज्ञानक्रियाविज्ञानोन्नतिशेषविद्यारक्षणानां पूर्वापरसहभावे संयुक्तत्वात् क्रमेणर्ग्यजुस्सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति । 'ऋच स्तुतौ'[2] 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु'[3], 'साम, सान्त्वने'[4], 'षो अन्तकर्मणि'[5], थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः ।।निरु० अ० ११ ख० १८।। 'चर संशये'[6], अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवारणार्थो गृह्यते । एवं धात्वर्थोक्तप्रमाणेभ्यः क्रमेण वेदा परिगण्यन्ते चेति वेदितव्यम् ।

वाक्य या मन्त्र कहते हैं । इस प्रकार ये श्रुतिवाक्य ऋषियों द्वारा आत्मा में साक्षात् (अनुभव) किये हुए ज्ञान का वाणी में व्यक्तिकरण है ।

ज्ञान की यह शाब्दिक अभिव्यक्ति चार रूपों में होती है—

"तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः, निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्" (मीमांसा सूत्र २।१।३५-३८) गानविद्या की भाँति वेद के ये चार भेद किये गये हैं । छन्दशास्त्र में वैदिक तथा लौकिक भेद से दो प्रकार के छन्द कहे हैं । गायत्री आदि वैदिक छन्द हैं तथा आर्या आदि लौकिक । जो छन्दोबद्ध अर्थात् पादव्यवस्थायुक्त मन्त्र हैं उनको ऋक् संज्ञा है । 'अग्निमीळे' से लेकर 'समानी व आकूतिः' तक के मन्त्र समुदाय में ऋचाओं (पद्यबद्ध मन्त्रों) का बाहुल्य होने से उसे ऋग्वेद के नाम से अभिहित किया गया । जो मन्त्र गान किये जा सकें अर्थात् जिनकी रचना गानव्यवस्था के अनुकूल है उन्हें सामसंज्ञक कहा गया । 'अग्न आ याहि' से 'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' तक मन्त्र समुदाय

---

१. अनेन प्रकारेण यत्र यत्र त्रयो वेदा उक्तास्तत्र तेषामेव पारिशेष्याद् अथर्ववेदस्य तेष्वेवान्तर्भावमाश्रित्य त्रित्वमुक्तमिति ज्ञेयम् ।

२. क्षीरतरङ्गिणी ६।२३।। ३. क्षीरत० १।७२९।।

४. द्र० क्षीरत० १०।२६५।। इह 'सान्तने' 'सान्त्वने' 'सान्त्वप्रयोगे' वेति त्रिविधः पाठः ।

५. क्षीरत० ४।३७।। ६. क्षीरत० १०।१८३।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—प्र०—वेदों के चार विभाग क्यों किये हैं ?

उ०—भिन्न-भिन्न विद्या जनाने के लिए, अर्थात् जो तीन प्रकार की गानविद्या है एक तो यह कि—उदात्त आर षड्जादि स्वरों का उच्चारण ऐसी शीघ्रता से करना, जैसा कि—ऋग्वेद के स्वरों का उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्र वृत्ति में होता है। दूसरी—मध्यमवृत्ति, जैसे कि यजर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दूने काल में होता है। तीसरी—विलम्बितवृत्ति है, जिसमें प्रथमवृत्ति से तिगुना काल लगता है, जैसाकि सामवेद के स्वरों के उच्चारण वा गान में। फिर उन्हीं तीनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है, परन्तु इसका द्रुतवृत्ति में उच्चारण अधिक होता है[1], इसलिए वेदों के चार विभाग हुए हैं।

तथा कहीं-कहीं एक मन्त्र का चार वेदों में पाठ करने का यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकार की गानविद्या में गाया जावे तथा प्रकरणभेद से कुछ-कुछ अर्थ भेद भी होता है, इसलिए कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है।

ऐसे ही **'ऋग्भिस्तु०'** ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है, जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त हो सके, क्योंकि बिना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो सकता, और आरम्भ के विना यह मनुष्यजन्म व्यर्थ ही चला जाता है। इसलिए ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है।

तथा यजुर्वेद में क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है, सो उसमें ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है, क्योंकि जैसा ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है, वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याओं का ठीक-ठीक विचार करने से संसार में व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है। जिनसे लोगों को नाना प्रकार का सुख मिले, क्योंकि जब तक कोई क्रिया विधिपूर्वक न की जाए, तब तक उसका अच्छी प्रकार भेद नहीं खुल सकता। इसलिए जैसा कुछ जानना वा कहना, वैसा ही करना भी चाहिए, तभी ज्ञान का फल और ज्ञानी की शोभा होती है।

तथा यह भी जानना अवश्य है कि जगत् का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है, एक—आत्मा और दूसरा शरीर का अर्थात् विद्यादान से आत्मा, और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीर का उपकार होता है। इसलिए ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिनसे मनुष्य लोग ज्ञान और क्रियाकाण्ड को पूर्ण रीति से जान लेवें तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति, और अथर्ववेद से सर्व संशयों को निवृत्ति होती है, इसलिए इनके चार विभाग किये हैं।

में गीति की प्रधानता होने के कारण उसे सामवेद का नाम दिया गया। जो पादबद्ध भी नहीं और गाने योग्य भी नहीं, वे सब यजुर्वेद संज्ञक हैं। **'इषे त्वोर्ज्जे' से हिरण्मयेन पात्रेण'** पर्यन्त मन्त्रसमूह में गद्य का प्राधान्य होने से उसे यजूंषि या यजुर्वेद कहा गया। जो मन्त्र इन सबसे भिन्न स्पष्ट अर्थवाले हैं, उनकी अथर्ववेद संज्ञा है। छन्दोबद्ध (पाद) तथा गीतियुक्त मन्त्रों से भिन्न होने पर भी **'शेषे यजुः'** के अनुसार उनको यजुर्वेद के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से यज्ञों में यजुः के उपांशुत्व **(उपांशु यजुषा)** तथा अथर्व **(निगद)** के उच्चैस्त्व **(उच्चैर्निगदेन)** धर्म में परस्पर विरोध होगा। अथर्ववेद में किसी भी एक प्रकार के मन्त्रों की प्रमुखता नहीं है, अतः उसका नामकरण रचना के आधार पर न हो सकने से उसे अथर्ववेद, छन्दांसि आदि नामों से अभिहित किया गया।

---

१. साम्प्रतिक वैदिक द्रुतवृत्ति से अथर्ववेद को पढ़ते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्र०—वेदों की चार संहिता करने का क्या प्रयोजन है ?

उ०—विद्या के जनानेवाले मन्त्रों के प्रकरण से जो पूर्वापर का ज्ञान होना है, उससे वेदों में कही हुई सब विद्या सुगमता से जान ली जाए, इत्यादि प्रयोजन संहिताओं के करने में हैं।

प्र०—अच्छा अब आप यह तो कहिए कि वेदों में जो अष्टक, अध्याय, मण्डल, सूक्त, काण्ड, वर्ग, दशति, त्रिक और अनुवाक रक्खे हैं, ये किसलिए हैं ?

उ०—इनका विधान इसलिए है कि जिससे पठन-पाठन और मन्त्रों की गिनती विना कठिनता के जान ली जाए, तथा सब विद्याओं के पृथक्-पृथक् प्रकरण निर्भ्रमता के साथ विदित होकर सब विद्या-व्यवहारों में गुण और गुणी के ज्ञानद्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होने से अनुवृत्तिपूर्वक आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य सबको विदित हो सके, इत्यादि प्रयोजन के लिए अष्टकादि विभाग किये हैं।

प्र०—प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः, तीसरा साम और चौथा अथर्ववेद, इस क्रम से चार वेद क्यों गिने हैं ?

उ०—जब तक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्य को नहीं होता, तब पर्य्यन्त उनमें प्रीति से प्रवृत्ति नहीं हो सकती, और इसके विना शुद्ध क्रियादि के अभाव से मनुष्यों को सुख भी नहीं हो सकता था, इसलिए वेदों के चार विभाग किये हैं कि जिससे प्रवृत्ति हो सके, क्योंकि जैसे इस गुणज्ञान विद्या को जनाने से पहले ऋग्वेद की गणना योग्य है, वैसे ही पदार्थों के गुणज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत् का अच्छी प्रकार से हित भी सिद्ध हो सके, इस विद्या के जनाने के लिए यजुर्वेद की गिनती दूसरी वार की है। ऐसे ही ज्ञान, कर्म, और उपासनाकाण्ड की वृद्धि वा फल कितना और कहाँ तक होना चाहिए, इसका विधान सामवेद में लिखा है, इसलिए उसको तीसरा गिना है। ऐसे ही तीन वेदों में जो-जो विद्या हैं, उन सबके शेष भाग की पूर्त्ति का विधान, सब विद्याओं की रक्षा और संशय निवृत्ति के लिए अथर्ववेद को चौथा गिना है।

"प्रकरण के भेद से कुछ-कुछ अर्थ भेद होता है, इसलिए कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है"—इसकी व्याख्या भूमिका में 'वेद में पुनरुक्ति' के अन्तर्गत की गई है।

ज्ञान-कर्म-उपासना और विज्ञान का विधान होने से भी वेदों के चार विभाग किये गये हैं। काठक ब्राह्मण में चारों वेदों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—**यदेनं ऋग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति सामभिस्स्तुवन्ति अथर्वभिर्जपन्ति।**' ऋचाओं या ऋग्वेद को ईश्वरीय वाणी द्वारा प्राप्त ज्ञान का आधार माना जाता है। ऋग्वेद का ऋषि अग्नि है जो ज्ञान का या प्रकाश का प्रतीक है। **'ऋचं वाचं प्रपद्ये'** (यजु० ३६।१) ज्ञान के बिना संस्कार और प्रवृत्ति का प्रारम्भ नहीं होता, अतः ऋग्वेद में समस्त पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य का वर्णन करके उनके गुणों का प्रकाश किया है। ज्ञान के पश्चात् कर्त्ता की कर्म में प्रवृत्ति होती है, परन्तु जब तक क्रिया विधिपूर्वक न की जाए तब तक अभीष्ट को सिद्धि नहीं होती। ऋग्वेद के द्वारा पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें उपयोग में लाने का विधान यजुर्वेद में मिलता है। यजूंषि या यजुर्वेद को कर्म का वेद माना जाता है। **यन्मनसा मनुते तत्कर्मणा करोति** । मनुष्य जैसा मन में सोचता है वैसा कर्म करता है। इसलिए ऋग्वेद के बाद यजुर्वेद गति—कर्म—आचरण का वेद है। यजुर्वेद का ऋषि वायु (वा गतौ) है—**'मनो यजुः प्रपद्ये (यजुः ३६।१)**। वैज्ञानिक दृष्टि से ऋग्वेद और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सो गुणज्ञान, क्रियाविज्ञान इनकी उन्नति तथा रक्षा को पूर्वापर क्रम से जान लेना, अर्थात् ज्ञानकाण्ड के लिए ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिए यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिए सामवेद और शेष विद्याओं वा रक्षाओं के प्रकाश करने के लिए अथर्ववेद की प्रथम, दूसरी, तीसरी और चौथी करके संख्या बाँधी हैं, क्योंकि **(ऋच स्तुतौ) (यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु) (षो अन्तकर्मणि)** और **(साम सान्त्वप्रयोगे) (थर्वतिश्चरतिकर्मा०)** इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की ये चार संज्ञा रक्खी हैं तथा अथर्ववेद का प्रकाश ईश्वर ने इसलिए किया है कि जिससे तीनों वेदों की अनेक विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकार से हो सके।

यजुर्वेद के विषयों का निरूपण करते हुए श्री पन्यम् नारायण गौड़ ने अपनी पुस्तक Introduction to the Message of 20th Century में लिखा है—"The Rigveda deals with theorems and experiments, while the process of preparing reagents and apparatus is recorded in the Yajurveda." अर्थात् ऋग्वेद वैज्ञानिक सिद्धान्तों व परीक्षणों का निरूपण करता है, जबकि उनके साधनों और उपकरणों के तैयार करने की प्रक्रिया यजुर्वेद में पाई जाती है। यजुर्वेद यज्ञप्रधान है, किन्तु वहाँ यज्ञ से केवल अग्नि-होत्र अभिप्रेत नहीं। **'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु'** तथा **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** के अनुसार 'यज्ञ' शब्द में मनुष्य जीवन के लिए उपयोगी समस्त कर्मों का समावेश है।

ज्ञान और कर्म का पर्यवसान उपासना में होता है। साम या सामवेद आदित्य ऋषिप्रोक्त है। आदित्य से तात्पर्य है स्वप्राणानुभूति **'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्'** (यजुः ४०।१७)। इसलिए साम-वेद का विषय है—मानसिक रूप में अनुभूति का सामीप्य या तादात्म्य। चित्त की वृत्तियों को अन्तर्मुख करके और प्राणों को अन्तर्जीवन की ओर प्रवृत्त करके उसे उपासना के योग्य बनाने के साधनोपायों का विधान सामवेद में है। मन केवल प्राण का सतत प्रवाहमात्र है। प्राण से अतिरिक्त मन की सत्ता नहीं। **'साम प्राणं प्रपद्ये'** (यजु० ३६।१)

सामवेद के विषय में यह कहना कि इसकी स्वतन्त्रता सत्ता नहीं है, क्योंकि इसके प्रायः सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं, नितान्त अशुद्ध है। यदि ऐसा होता तो स्वयं ऋग्वेद में सामवेद और उसके गीतों का अनेक स्थानों पर निर्देश न होता। उदाहरणार्थ—ऋग्वेद १।१०७; १०।३८।५; २।४३।१०२; ५।४४।१४; ८।६८।१; १०।३६।१; १।१६५।२४; ६।६६।१२; ६।१२१।२।

अथर्ववेद को कई नामों से अभिहित किया गया है—ब्रह्म, छन्द, छन्दांसि, छन्दोह आदि। मीमांसा शास्त्र में इसी को निगद कहा है—**'गद व्यक्तायां वाचि'** (भ्वा० प०)। जो ऊँचे स्वर से बोला जाए वह निगद कहाता है। सरलार्थ छन्दों को भी निगद कहते हैं। अथर्ववेद में अनेक प्रकार के छन्द हैं। वे सभी सरलार्थ द्योतक हैं। उसका निगदत्व ही उसे तीनों वेदों से पृथक् किये हुए है। निरुक्त के अनुसार जो समझ में न आये उसे अथर्ववेद से समझा जा सकता है—**'यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।'** इसीलिए ग्रन्थकार ने उसे संशयनिवृत्ति का साधन कहा है। जो चलायमान नहीं, वह अथर्वा है—**'न थर्वतीति अथर्वा'**। अथर्ववेद से शेष सब विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर संशयरहित हो जाने से स्थैर्य की प्राप्ति होती है।

किसी विचार या वाक्य के भाव को पूरी तरह समझने के लिए चार तत्त्वों=हेतुओं का निर्देश किया गया है—आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। इनके बिना वाक्यार्थबोध सम्भव नहीं। सत्यार्थप्रकाश (भूमिका) में ग्रन्थकार ने लिखा है—"आकांक्षा—किसी विषय पर वक्ता की और वाक्यस्थ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[ऋषि-देवता-छन्दः-स्वरनिर्देशप्रयोजनम्]

प्रश्नः—प्रत्येकमन्त्रस्योपरि ऋषिदेवता-छन्दः स्वराः किमर्था लिख्यन्ते ?

उत्तरम् यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद् विदितस्तस्मात् तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति। कुतः ? यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थः प्रकाशितः, तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्यमस्त्यतः। अत्र प्रमाणम्—

पदों की आकांक्षा परस्पर होती है।" साधारणतया आकांक्षा का अर्थ किया जाता है कि पद से प्रतीत होनेवाले अर्थ का अन्वयबोध कराने से अभिलाषा का न होना, परन्तु ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि वाक्यस्थ पद एक दूसरे की, वक्ता की भाँति आकांक्षा करें, अर्थात् वाक्यरचना ऐसी हो जिसमें पद परस्पर एक-दूसरे से सम्वद्ध हों तभी उनमें योग्यता की भी सम्भावना हो सकती है। ग्रन्थकार का यह अर्थ मनमाना नहीं है, प्रत्युत आकांक्षा पद के लोकप्रसिद्ध अर्थ के सर्वथा अनुकूल है। वाक्य में किस पद का किसके साथ अन्वय होना चाहिए, इसका निर्धारण आकांक्षा के द्वारा ही होगा। अतएवं आकांक्षा को प्रथम स्थान दिया है। इस रीति से विचारने पर 'आसत्ति' गौण हो जाती है। जिस पद के साथ जिसका सम्बन्ध हो उसी के समीप उस पद का बोलना वा लिखना 'आसत्ति' है। **कारणं सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते** ? [भाषापरिच्छेदः]। वात्स्यायन मुनि ने न्यायसूत्र **'कालात्ययापदिष्टः कालातीतः'** (१२।९) का भाष्य करते हुए लिखा है।—**'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः'**—अर्थात् जिस पद या वाक्य का जिस अन्य पद या वाक्य से अर्थकृत सम्बन्ध होता है' उस पद या वाक्य के दूर पड़ जाने पर भी वह अपने बोध्य अर्थ को प्रकट करने में समर्थ रहता है। इसके विपरीत जिन पदों का अर्थकृत सम्बन्ध नहीं रहता, यदि वे क्रमवद्ध भी पठित हैं तो भी मात्र सामीप्य के कारण 'वे किसी अभिमत अर्थ के बोधक नहीं होते। इसीलिए आलङ्कारिकों ने आसत्ति का उदाहरण देते हुए, कहा कि एकपद 'गाम्' को प्रातः काल और दूसरे पद 'आनय' को सायंकाल वोला जाए तो इन दो पदों के अन्वय की योग्यता होने पर भी वे वाक्य नहीं कहला सकते। ग्रन्थकार के अनुसार "योग्यता वह कहाती है कि जिससे हो सके, जैसे जल से सींचना—स॰ प्र॰ भूमिका। ज्ञान की संगति अर्थात् शब्दों द्वारा संकेतित वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध की असंगति का अभाव योग्यता कहाता है। **'वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्' (भाषापरिच्छेदः)**' वक्ता या लेखक की भावना या विचारधारा को जानते हुए भी वाक्छल आदिके द्वारा कथित पदों के अर्थ को झुठलाने का प्रयास सत्य की प्राप्ति में बाधक है। अनेक पद तथा वाक्य ऐसे होते हैं जिनके एकाधिक अर्थ रहते हैं। उस पद या वाक्य को बोलकर वक्ता का तात्पर्य किसी एक अर्थ की अभिव्यक्ति करना होता है। तदनुसार अर्थात् वक्ता के आशय के अनुरूप ही पद या वाक्यविशेष के अर्थ का ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार पूर्वापर वाक्यों के अर्थों में सांमजस्य करके ही वेदार्थ का निर्धारण हो सकता है।

मन्त्रार्थ जाने बिना वेदपाठ करनेवाले व्यक्ति के लिए निरुक्त (१।१८) में कहा है—

'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्'।

अर्थात्—जो वेद का पाठमात्र करता है, किन्तु उसका अर्थ नहीं जानता वह ईंट-पत्थर का भार ढोनेवाले पशु के समान है। अर्थज्ञान के बिना वेदपाठ में किये परिश्रम को व्यर्थ बताते हुए वहीं (नि॰ १।१८) एक अत्यन्त मार्मिक बात कही है—

'यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा । अर्थं वाचः पुष्पफलमाह । याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा । साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च । बिल्मं भिल्मं भासनमिति वैतावन्तः समानकर्माणो धातवो धातुर्दधातेरेतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानं नैघण्टुकमिदं देवतानाम प्राधान्येनेदमिति । तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्।। —निरु० अ० १ । खं० २०।।

जो बिना समझे ग्रहण किया जाता है—पढ़ा जाता है और पाठमात्र से उच्चरित होता है, वह पठित शास्त्र अग्निरहित स्थान में पड़ी सूखी लकड़ियों की भाँति कभी प्रज्वलित नहीं होता—ज्ञान का प्रकाश नहीं करता । इसके विपरीत अर्थज्ञानसहित वेदपाठ करनेवाले के सम्बन्ध में वहीं पर कहा है —

'योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा '।

अर्थात् जो वेद को पढ़ता और यथावत् उसका अर्थ जानता है, वह ज्ञान द्वारा पापों को नष्ट कर मृत्यु के उपरान्त परमसुखमोक्ष को प्राप्त करता है ।

आदिकाल में धर्म का साक्षात् करनेवाले ऋषि थे । वे स्वयमागत विज्ञान थे । उन्हें मन्त्र और ज्ञान के तत्त्व स्वयं ज्ञात हुए । इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में जिन ऋषियों ने परमेश्वर के ज्ञान वेद का साक्षात्कार किया उनका ज्ञान उपदेश द्वारा आगे बढ़ा । सर्गादि में जब मानवबुद्धि निर्मल और स्मृति धारणाशक्ति से युक्त थी तब सत्त्वशुद्ध तेज से देदीप्यमान अपरिमित सामर्थ्यवाले विद्वान् सीधे वेदों से ही सब तरह का ज्ञान प्राप्त कर लेते थे । उस समय वेद को छोड़कर अन्य कोई शास्त्र न था । जब कालान्तर में मानव क्रमशः सत्त्वहीन, अल्पबुद्धि और प्रवर्धमान रजोगुण तथा तमोगूण से अभिभूत होने लगे और उपदेश द्वारा भी वेद में विद्यमान विद्याओं को ग्रहण करने में असमर्थ हो गये तब विस्तारपूर्वक सुगम उपाय से विविध विद्याओं का ज्ञान कराने के लिए विविध शास्त्रों की रचना की गई । इस शास्त्रावताररूप इतिहास का प्रतिपादन यहाँ यास्क ने "साक्षात्कृतधर्माण··· ···· वेदाङ्गनि च" इस उद्धरण में किया है । यास्काचार्य के इस मत का समर्थन महर्षि याज्ञवल्क्य ने इन शब्दों में किया है—

दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते ।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम् ।। —याज्ञवल्क्यस्मृति १२।२

ऋषि

मन्त्रसंहिता में तीन बातों को बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझा जाता है—छन्दोज्ञान, ऋषिज्ञान और देवताज्ञान। वैदिक ऋषियों को कर्त्ता और मन्त्रद्रष्टा माननेवाले दोनों इस विषय में एकमत हैं कि इन तीनों को अच्छी तरह समझे बिना वेद का यथार्थ ज्ञान असम्भव है । सायण ने अपने ऋग्भाष्य की भूमिका में बृहद्देवता का यह श्लोक उद्धत किया है—

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं यागमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद् वापि पापीयान् जायते तु सः ।। —बृ० दे० ८।१३६

अर्थात् ऋषि, देवता और छन्द को जाने बिना जो वेदमन्त्रों का अध्यापन या जप करता है, उसे पाप लगता है । अभिप्राय यह है कि उसके अध्ययन-अध्यापन या जप में कुछ कमी रह जाती है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(यो वाचं) यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने करोति तदफलं भवति। (प्रश्नः) वाचो वाण्याः किं फलं भवतीति ? (उत्तरम्) अत्राह विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम्। 'य एवं ज्ञात्वा कुर्वंति त ऋषयो भवन्ति। कीदृशास्ते ? साक्षात्कृतधर्माणः। यैः सर्वा विद्या यथावद् विदितास्त ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षत्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान् सम्प्रादुः, मन्त्रार्थांश्च प्रकाशितवन्तः। कस्मै प्रयोजनाय ? उत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचाराय। ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञापनायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं त ऋषयः समाम्नासिषुः, सम्यगभ्यासं कारितवन्तः[1]। येन

यो ह वा अविदितार्षेय छन्दो दैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वा पद्यते प्र वा मीयते पापीयान् भवति, यातयामान्यस्य छन्दाँसि भवन्ति। अथ यो मन्त्रे-मन्त्रे वेद सर्वमायुरेति श्रेयान् भवति, अयातयामान्यस्य छन्दाँसि भवन्ति। तस्मादेतानि मन्त्रे-मन्त्रे विद्यात्।

— आर्षेय ब्राह्मण

जो विद्वान् ऋषि, देवता, छन्द और ब्राह्मण को जाने बिना वेदमन्त्रों से यज्ञ कराता है, या इन्हें पढ़ाता है, वह निरा ठूंठ है, गड्ढे में गिरेगा और मर जाएगा। उसके लिए मन्त्र निःसार हो जाते हैं और जो विद्वान् इन्हें प्रतिमन्त्र में जानता है, वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है, उसका आदर-सत्कार होता है। उसके सन्मुख वेदमन्त्र अपना रहस्य प्रकट करते हैं। इसलिए मन्त्रार्थ करने से पूर्व इन चारों का ज्ञान आवश्यक है।

ऋषि, देवता और छन्द को सुविधा के लिए कर्त्ता, कर्म और करण माना जा सकता है। यस्य वाक्यं स ऋषिः—कर्त्ता, 'यः स्तुयते सा देवता'—कर्म, येन साधनेन स्तौति तच्छन्दः—करण। इसलिए मन्त्रार्थ को आत्मसात् करने के लिए अनुक्रमणी में लिखा है—"अर्थेप्सव ऋषयो देवता छन्दोभि उपधावन्," अर्थात् ऋषि मन्त्र में निहित रहस्यभूत तत्त्व को समझने के लिए छन्द के शब्दों का अध्ययन करके उसके सारभूत देवता तत्त्व को समझने का प्रयास करते हैं।

वेंकटमाधव की ऋग्वेदानुक्रमणी (अष्टक ५, अध्याय १, श्लोक ५-७) और कात्यायनकृत ऋक्सर्वानुक्रमणी (उपोद्घात) एवं यजुः सर्वानुक्रमसूत्र (अध्याय १, १) में भी ऐसा ही लिखा है। वेंकटमाधव के अनुसार वेदार्थज्ञान में ऋषितत्त्व का ज्ञान आवश्यक है—अर्थज्ञाने ऋषिज्ञानं भूयिष्ठमुपकारकम्'। छन्द मानो मन्त्र का कलेवर है, ऋषि उसका प्राण और देवता उसका आत्मा है। जिस प्रकार कोई भी बात कहने या लिखने के लिए एक मूल उद्देश्य होता है जो उस कथन या लेख का विषय होता है, दूसरे उसका कोई माध्यम या परिचायक होता है जिससे मूलविषय को समझा-समझाया जा सके और

---

१. प्रायेण सर्वैरपि निरुक्तव्याख्यातृभिः 'समाम्नासिषुः' इत्यस्यार्थः 'रचितवन्तः' इत्येव कृतः। अयमर्थो धात्वर्थाद् विपरीतः। 'म्ना अभ्यासे' इत्येव स्मर्यते वैयाकरणैः। न चान्यत्र क्वचिदपि समाङ्पूर्वस्य म्नाधातो रचनार्थे प्रयोग उपलभ्यते, तस्मात् 'रचितवन्तः' इत्यर्थोऽसाधुरेव। ग्रन्थकर्ता तु 'समाम्नासिषुः' इत्यस्यान्तर्णीतण्यर्थमाश्रित्य धात्वर्थानुसारं 'सम्यगभ्यासकारितवन्तः' इत्यर्थो निर्दिष्टः'। स च धात्वर्थानुरोधात् समीचीनः (रचितवन्त इत्यर्थे यास्कानभिमतं वेदस्य पौरुषेयत्वमपि प्रसज्यते)। निरुक्तस्य 'निरुक्तश्लोकवार्तिकम्' नाम प्राचीनमेकं व्याख्यानं कतिपयवर्षेभ्यः प्रागुपलब्धम् (अस्य प्रतिलिपिरस्मत्सकाशे विद्यते)। तस्मिन् निरुक्तस्यैतत् प्रकरणमित्थं व्याख्यायते—

असाक्षात् कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविधि उपदेशेन सम्प्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च ।। अपरे ये ततो न्यूना ग्लायन्नेते सकृच्छ्रतौ। सम्यगभ्यस्तवन्तस्तु वेदान् साङ्गान् यथाविधि ।। प्रथमाः प्रतिभानेन द्वितीयास्तूपदेशतः, अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थान् प्रतिपेदिरे। वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गान्यपि यत्नतः। श्लोकवार्तिक अ० १, पाद ६, श्लोक १९०, १९१, १९५-१९७, २०४ ।। —यु० मी०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदं वेदाङ्गानि च यथार्थविज्ञानतया सर्वे मनुष्या जानीयुः। ये समानार्थाः समानकर्माणो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियते, अस्यार्थस्यैतावन्ति नामधेयानि, एतावतामर्थानामिदमभिधानार्थमेकं नाम, अर्थादेकस्यार्थस्यानेकानि नामान्यनेकेषामेकं नामेति तन्नैघण्टुकं व्याख्यानं विज्ञेयम्. यत्रार्थानां द्योत्यानां पदार्थानां प्राधान्येन स्तुतिः क्रियते, तत्र सैवेयं मन्त्रमयी देवता विज्ञेया। यच्च मन्त्राद् भिन्नार्थस्यैव सङ्केतः प्रकाश्यते, तदपि नैघण्टुकं व्याख्यानमिति ॥१॥

तीसरे शब्द योजना या अक्षरों एवं ध्वनियों का समुदायरूप वाक्य होता है, ऋषि उसका माध्यम अथवा परिचायक होता है और छन्द पदयोजना द्वारा निश्चित किया हुआ शब्दमय वाक्य होता है। मन्त्र के अन्तर्गत होने से छन्द उसका अटूट अंग है, क्योंकि उसके बिना किसी भी मन्त्र को सत्ता व्यवस्थित नहीं रह सकती। वह मन्त्र से अलग अपना नाम तो रखता है, पर सत्ता नहीं। इसी प्रकार मन्त्र की देवता भी मन्त्र के अन्तर्गत आत्मरूप से प्रतिष्ठित है, वाक्य और अर्थ भिन्न नहीं होते—मन्त्र और उसका देवता भी अभिन्न होते हैं। अर्थ के बिना जैसे वाक्य की कोई सत्ता नहीं, देवता के बिना मन्त्र की भी कोई सत्ता नहीं होती। इस प्रकार जब छन्द और देवता मन्त्र से अलग अपनी सत्ता नहीं रखते, तब ऋषि-पद वाच्य के बिना भी उनकी कोई अलग सत्ता नहीं रह सकती। छन्द एवं देवता की भाँति ऋषि भी मन्त्र का अनिवार्य अंग है।

वेद सृष्टि के आदि में एक ही समय में चार ऋषियों के माध्यम से प्रादुर्भूत हुए। उस समय मन्त्रों पर ऋषि, छन्द, देवता आदि के नाम अंकित न थे। आदिकाल से ही अनेक ऋषि-मुनि, ब्राह्मण और साधारणतया द्विजमात्र ज्ञाननिधि वेदों का चिन्तन-मनन अपना परम धर्म मानते हुए किसी भी प्रकार के प्रलोभन से सर्वथा अनुपहतचित्त हो उनका अध्ययन करते आये हैं[1]। ऐसे परमव्रतो एवं तपस्वी पवित्रात्मा ऋषियों ने समाधिप्रज्ञा द्वारा विविध मन्त्रों एवं सूक्तों के तत्त्वार्थ का दर्शन किया। उस मन्त्रगत तत्त्वार्थ का स्वयं साक्षात्कार करके उसे आत्मसात् किया और तदनुसार दूसरों को भी प्रेरित किया[2]। इस प्रकार वेदार्थ का दर्शन करनेवाले अनेक ऋषि हो गये। **'यस्य वाक्यं स ऋषिः'**—जिसका वाक्य अथवा दृष्ट मन्त्र है, वही उस दृष्ट-मन्त्र का ऋषि है। ऐसे पुण्यात्मा ऋषियों के प्रति अपनी कृतज्ञता को स्थायित्व प्रदान करने के लिए तत्तन्मन्त्रों के साथ उनके नाम लिखे गये हैं।

निरुक्त (२।११) में यास्काचार्य ने ऋषि शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद्यदेनांस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवन्। तदृषीणामृषित्वम्।"

अर्थात् ऋषि मन्त्रार्थ के द्रष्टा होते हैं। आचार्य औपमन्यव (उपमन्यु के पुत्र अथवा शिष्य) ने भी कहा है कि वेदों में प्रयुक्त स्तुतिपरक मन्त्रों के वास्तविक अर्थ का साक्षात्कार करनेवालों को ऋषि नाम से पुकारा जाता है। तपस्या व ध्यान करते हुए इनको स्वयम्भू वेद के अर्थ का ज्ञान हुआ, इसलिए

---

१. **वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।**
ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। —महाभाष्य पस्पशाह्निक।

२. **साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। साक्षात्कृतधर्माणो धार्मिका आप्ता यैः सर्वा विद्या यथावद्विदिता तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्धर्मभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान् मन्त्रार्थांश्च सम्प्रादुः प्रकाशितवन्तस्तस्मात्ते ऋषयो जाताः।**
—निरुक्तभाष्यसहित १।२०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतो नैव कश्चिन्मनुष्यो मन्त्रनिर्मातेति विज्ञेयम् । एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोऽस्ति । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति, स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते । एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम् । एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिछन्दोऽस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम् । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति, तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम् ।

वे ऋषि कहलाये । यह अर्थदर्शन ही ऋषित्व है । अन्यत्र (निरुक्त ७।३) उन्होंने **'ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति'** कहा है ।

अनेक ऋषि ऐसे हैं जिनके नाम मन्त्रों के बीच में पठित हैं । ये नाम इतने अधिक हैं कि उनकी सहसा उपेक्षा नहीं की जा सकती । उदाहरण के रूप में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल को ही लें तो पता चलता है कि मन्त्रार्थ द्रष्टा अधिकांश ऋषियों के नाम मन्त्रों में पठित हैं । यथा—

ऋषि	ऋक् सूक्त	ऋषि	ऋक् सूक्त
शुनःशेपः	१.२४	कुत्सः	१.१०६
प्रस्कण्वः	१.४४, ४५	कक्षीवान्	१.१२६
नोधा	१.६१, ६२	दीर्घतमाः	१.१५८
गोतमः	१.७७	अगस्त्यः	१.१७०

जिन ऋषियों का नाम तद्दृष्ट मन्त्रों में उसी रूप में पठित नहीं है, उनका भी उनमें कुछ-न-कुछ संकेत प्रायः मिल जाता है । इन नामों को देखकर उनके तत्तत् मन्त्रों अथवा सूक्तों के रचयिता होने का भ्रम होता है ।

वस्तुतः रचना के बीच अपना नाम डालने को शैली या परम्परा प्राचीन संस्कृत साहित्य में किसी भी काल में विद्यमान नहीं रही । मध्याकालीन कवियों तक ने अपने नाम नहीं लिखे । यदि वेद में ऐसी प्रवृत्ति होती तो पश्चाद्वर्ती साहित्य में इसका अनुकरण सर्वत्र नहीं तो अनेकत्र अवश्य मिलता । हिन्दी कविता में यह व्यवस्था अवश्य है, परन्तु वहाँ का नाम अनर्थक अथवा असम्बद्ध-सा रहता है । वेदमन्त्रों में ऋषिनाम समझे जानेवाले पद मन्त्र का अनिवार्य अंग होते हैं । उन्हें छोड़कर मन्त्र का अर्थ पूरा नहीं होता । वास्तव में वे नाम सामान्य नाम या गुणवाचक शब्द हैं, न कि विशिष्ट नाम ।

वेद में जितने भी शब्द हैं, वे सब यौगिक या योगरूढ़ है । **'उणादयो बहुलम्'** (पा० ३।३।१) सूत्र पर पतञ्जलि मुनि ने तीन कारिकाएँ दी हैं । इनमें से दूसरी कारिका की पहली पंक्ति इस प्रकार है—**'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्'** । यह कारिका इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है कि वेद के किसी भी शब्द, चाहे वह ऋषि, देवता या छन्द किसी का भी नाम क्यों न हो, का अर्थ यौगिक अर्थात् धातु, प्रत्यय या किसी क्रिया के आधार पर करना होगा । तभी ऋषि नाम का ज्ञान वेदार्थ में सहायक होगा । वस्तुतः मन्त्रार्थ का दर्शन करनेवाले शरीरधारी व्यक्तिविशेष तो ऐतिहासिक हैं, किन्तु मन्त्रों पर लिखे नाम यौगिक होने से गुणवाची हैं । मन्त्र को पढ़-सुनकर स्वानुभूति द्वारा उस का बोध प्राप्त करके उस भाव को अपने आचरण द्वारा प्रचारित करके कोई भी व्यक्ति उस मन्त्र का ऋषि बन सकता है **'अधीतिबोधाचरणप्रचारैः'**—श्रीहर्ष । ऋक्० ५।५७।८ के भाष्य में श्री अरविन्द

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—प्र०—प्रति मन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छन्द और स्वर किसलिए लिखते हैं ?
उ०—ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि

लिखते हैं—'**कवयः=श्रोतारः—दिव्यस्य सत्यस्य अन्तःश्रोतारः ऋषयः**'। ग्रन्थकार ने लिखा है—"**य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति**"। आख्याः प्रवचनात्।' मीमांसा १।१।३०

वेदमन्त्रों में अनेक ऋषियों के नाम आये हैं। ग्रन्थकार ने उन सब नामों को सार्थक मानकर उनका निर्वचन किया है। तदनुसार शेष नामों का भी व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ करना विद्वानों का काम है। तभी मन्त्र के अर्थ के साथ उनका सम्बन्ध बनेगा। इस सम्बन्ध को जाननेवाला ही वेदमन्त्र के गूढार्थ को जान सकता है। पण्डित हरिशरणजी ने 'ऋग्वेद के ऋषि' नामक ग्रन्थ में ३४९ ऋषियों का यौगिकार्थ लगाने का प्रयास किया है।

वस्तुस्थिति यह है कि जैसे आज वैदिक ऋषियों, औपनिषद् मनीषियों तथा रामायण, महाभारत आदि में चर्चित विद्वानों और वीर पुरुषों में से चुनकर नाम अपनाये जाते हैं, वैसे ही हमारे पूर्वज वेदों में से शब्द (जो अपने-आपमें सब धातुज अथवा यौगिक हैं) चुनकर अपना नाम रख लेते थे। जिन विद्वानों ने जिन मन्त्रों का सर्वप्रथम अर्थानुसन्धान किया उन्होंने उन मन्त्रों में वर्णित किसी प्रमुख नाम को या मन्त्रागत किसी प्रमुख आशय को लेकर तदनुसार अपना उपनाम रख लिया ? अथवा वेद प्रवक्ता ऋषियों को मन्त्रों के प्रवचन द्वारा प्रचार-प्रसार करने के कारण वामदेव, अत्रि, अंगिरा, कण्व, मधुच्छन्दा, विश्वामित्र आदि ऋषिवाची उपाधियाँ अनायास ही विप्रों द्वारा प्राप्त हो गईं। यह भी सम्भव है कि मन्त्र में निर्दिष्ट गूढ़ार्थ को हृदयंगम करके, अपने जीवन में आचरण द्वारा उस ज्ञान को सार्थक करने-वाले व्यक्ति मन्त्रों के ऊपर लिखित गौतम, विश्वामित्र, भारद्वाज आदि नामों से विख्यात हो गये। शिव-सङ्कल्पसूक्त पर शिवसङ्कल्प नामी ऋषि का नाम लिखा जाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

इस दृष्टि से विचार करने पर ऋषि-नाम का मन्त्र के साथ अन्तरंग सम्बन्ध भी सिद्ध हो जाता है। '**दीर्घतमा**' एक ऋषि-नाम है, जिसका अर्थ है 'दीर्घकाल तक तमोग्रस्त रहनेवाला'। स्वभावतः ऐसा व्यक्ति आग्न्येय सूक्तों से प्रकाश का आह्वान कर रहा है।

ऋग्वेद ८।६७ सूक्त के ऋषि जालबद्ध मत्स्य आदि हैं। '**ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता**' निरुक्त के इस वचनानुसार उक्त सूक्त के साथ भी आख्यान की कल्पना की गई कि '**कृत्रिमा शरुः (जालम्) पुरा नु जरसा वधीत्**' अर्थात् जिस प्रकार मछियारा जाल से मत्स्यों को पकड़ लेता है और मत्स्य जल से वियुक्त होकर प्राण त्याग देते हैं, उसी प्रकार हम इस संसाररूपी जाल में न फँसें, अन्यथा ब्रह्मानन्दरूप जल से पृथक् होकर हम भी मृतवत् हो जाएँगे। मन्त्रगत इस भाव का अत्यधिक प्रचार करनेवाले ऋषियों की '**जालबद्धमत्स्य**' नाम से प्रसिद्धि हो गई। मत्स्य न किसी मन्त्र के रचि-यिता हो सकते हैं और न द्रष्टा। हाँ, इस नाम से इस रूपकार्थ को समझने में सांकेतिक सहायता मिल सकती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

प्रसिद्ध श्रद्धासूक्त (ऋग् १०।१५१) की ऋषिका श्रद्धा के पीछे दीवानी '**श्रद्धा**' है जो काम की पौत्री होने के कारण कामायनी कहलाती है। सम्भवतः इसी कारण कात्यायनसर्वानुक्रमणि में '**यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता**' यह लिखा है। अर्थात् ऋषि मन्त्र का वक्ता है और वह जिससे निवेदन कर रहा है वह देवता है। इस प्रकार ऋषियों के नाम व्यक्तिवाची होने के साथ-साथ गुणवाचक भी हो जाते हैं। एवं ऋषि नामों से दुहरा प्रयोजन सिद्ध होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे, फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ, जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस-उसका नाम उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा गया है। इसी कारण

अनेक ऋषियों के नाम उनके व्याख्यात मन्त्र के देवता (वर्ण्यविषय) के नाम से प्रसिद्ध हो गये ऋषि और देवता का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से—विशेष और विशेषज्ञ के साहचर्य के कारण वे नाम रख दिये गये। जब किसी ऋषि ने किसी शब्द या किसी देवतावाले सूक्त के भाव का विशेषरूप से दर्शन किया तब वह शब्द अथवा देवता ही उसका नाम हो गया। ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १६१वें सूक्त में ५ मन्त्र हैं जिनमें राजयक्ष्मा आदि रोगों की चिकित्सा का वर्णन है। इस सूक्त का देवता **'राजयक्ष्मघ्नम्'** है और ऋषि **'राजयक्ष्मनाशनः'** है। इसी प्रकार यजुर्वेद १२।७६ का देवता 'वैद्य ओषधिस्तुतिश्च' है और ऋषि 'भिषक्' है।

कभी-कभी, उपनाम इतने प्रसिद्ध हो जाते हैं कि कालान्तर में वास्तविक सांस्कारिक नाम विस्मृत हो जाते हैं और उनका स्थान उपनाम या उपाधियाँ ले-लेती हैं। चाणक्य या कौटिल्य को सब जानते हैं, पर उसके असली नाम विष्णुगुप्त को कोई-कोई ही जानता है। महाभारतकार को वेदव्यास के नाम से जानते हैं, उनके असली नाम पाराशर, सत्यवतीपुत्र या कृष्ण द्वैपायन को कोई-कोई जानता है। कितने लोग जानते हैं कि भीष्मपितामह का सांस्कारिक नाम देवव्रत था। अनेक ऋषि लोकैषणा के प्रति इतने उदासीन थे कि अपना असली नाम उन्होंने गुप्त ही रखा, परन्तु अपने पिता-पितामह या गोत्र को अमर करने के लिए 'अमुक का पुत्र, या अमुक का पौत्र या अमुक गोत्र का' यह विशेषण अपने उप-नाम के साथ अधिकांश ने लगा लिया। यथा - **'गोतमो राहूगणः'** (राहूगण का पुत्र गोतम); **'कुत्सः अङ्गिरसः'**। (अङ्गिरागोत्री कुत्स); **श्यावाश्वः आत्रेयः'** (अत्रि का पुत्र या अत्रि-गोत्री श्यावाश्व); **'भरद्वाजः बार्हस्पत्यः'** (बृहस्पति का पुत्र भरद्वाज)।

इसके विपरीत दूसरा मत यह है जिस सूक्त या ऋचा के आरम्भ में जिस ऋषि का नाम अंकित है वही उस सूक्त या मन्त्र का रचयिता है। इस मान्यता के अनुसार अनेक ऋषियों द्वारा रचित सूक्तों और मन्त्रों के संकलन का नाम ही वेद है, परन्तु यह पक्ष प्रथम दृष्टि में जितना सबल प्रतीत होता है, वास्तव में उतना ही अधिक निर्बल है। कुल्लूकभट्ट ने ठीक ही कहा है—**'ब्रह्माद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मारका न तु कारकाः'**—अर्थात् ब्रह्मा से लेकर सभी ऋषि वेदों का स्मरण करानेवाले हैं, उनके बनाने-वाले नहीं। कात्यायनश्रौतसूत्र ३।२।८ पर कर्क ने अपनी टीका में लिखा है—**मन्त्रकृतो मन्त्रदृश उच्यन्ते। न हि मन्त्राणां करणं भवति अनित्यप्रसंगात्, न हि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसि।** (महा० ४।३।१०२) अनादि परम्परा से प्राप्त होने के कारण वेदों के बनाये जाने का व्यवहार नहीं किया जाता। मन्त्रों पर लिखे ये नाम मन्त्रों के समान अनादि अथवा नित्य नहीं हैं। सूक्तों अथवा मन्त्रों पर नाम लिखना परम्परा-गत है।

ऋग्वेद (१।१।२) में कहा है—**'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।'** ऋषि दो प्रकार के होते हैं—पूर्व (प्राचीन) तथा नूतन (नवीन)। अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा, जिनके हृदय में परमात्मा ने सृष्टि के आदि में वेद की प्रेरणा की, प्राचीन ऋषियों की कोटि में हैं। नूतन ऋषि वे हैं जिन्होंने तपस्या द्वारा वेद के तत्त्वार्थ को समझा और जनहित में उसका प्रचार किया। इन ऋषियों के नाम मन्त्रों के ऊपर लिख दिये गये। इन ऋषियों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती। निरुक्त १३।१२ में लिखा है कि जब ऋषि होने बन्द हो गये तो वेदप्रेमियों को चिन्ता हुई कि अब मन्त्रार्थ का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उनका ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े-बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिए पूर्ण उपकार किया है, इसलिए विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं।

ज्ञान कैसे होगा ? तब देवों ने उन्हें तर्करूप ऋषि दिया। उसके आधार पर ऋषि बनते रहे और भविष्य में भी बनते रहेंगे। इसी को लक्ष्य कर ऋग्वेद १०।१४।१५ में लिखा है—

"इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पथिकृद्भ्यः।"

परन्तु स्वयं वेद में तथा वेदेतर अन्य वैदिक साहित्य में अनेकत्र मन्त्रकृत् आदि शब्दों के आने से वेदमन्त्रों का मनुष्यकृत होना प्रतीत होता है।

वैदिक वाङ्मय में तथा अन्यत्र भी अनेक ऋषियों को मन्त्रकृत्, मन्त्रकर्ता आदि कहा गया है। उदाहरणतः—

१. ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः ·····(ऋग्वेद ९.११४.२)
२. शिशुर्वा अङ्गिरसां मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत् ·····(ता. ब्रा. १३.३.२४)
३. नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः मन्त्रपतिभ्यो मा मामृषये। मन्त्रकृतो मंत्रपतयः परादुः। माऽहम् ऋषीन् मंत्रकृतो मंत्रपतीन् परादाम्॥ (त० आ० ४.१.१४)
४. मंत्रकृतो वृणीते। यर्थाषमंत्रकृतो वृणीत इति विज्ञायते। (आप० श्रौ० २४.५६)।
५. तान् होवाच काद्रवेयः सर्प ऋषिर्मन्त्रकृत्। (ऐ० ब्रा० ६-१)
६. अथ येषामु ह मंत्रकृतो न स्युः स पुरोहितप्रवरास्ते प्रवृणीरन्। (आप० श्रौ० २४.१०.१३)
७. इत ऊर्ध्वान्मन्त्रकृतोऽध्वर्यु र्वृणीते। यर्थाषमंत्रकृतो वृणीत इति विज्ञायते। (कात्या० श्रौ० २.१.३)
८. दक्षिणत उदङ्मुखो मंत्रकारः (आ० गृ० सू० १.८.२)
९. दक्षिणतस्तिष्ठन् मंत्रवान् ब्राह्मणः····· (आ० गृ० सू० २.१.१०)
१०. सुकर्मपापमंत्रपुण्येषु कृञः। (पाणिनि अष्ट० ३.२.८९) कर्मकृत्, पापकृत्, मंत्रकृत् पुण्यकृत्।
११. श्रद्धया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसर्षीणां मंत्रकृतां बभूव। (का० गृ० सू० १४.१३)
१२. मंत्रकृतां ऋषीणाम्। (रघुवंश ४.५)

उपर्युक्त १२ उद्धरणों में 'मन्त्रकृत्' शब्द उपलब्ध है। संख्या ३,५,७ में 'मन्त्रकृत्' शब्द के साथ 'ऋषि' शब्द भी पढ़ा है। संख्या २ में मन्त्रकर्त्ता, मन्त्रवान् एवं मन्त्रपति पदों का भी प्रयोग किया है। १०वें उद्धरण में मन्त्र उपपद होने पर कृञ् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर मन्त्रकृत् रूप की सिद्धि भी की गई है। इस प्रकार ऋषियों का मन्त्रकर्त्ता अर्थात् मन्त्रों का रचयिता होना सर्वथा सिद्ध है।

परन्तु आपाततः ऐसा प्रतीत होने पर भी यह युक्तियुक्त नहीं है।

किसी भी शब्द के अर्थ का विचार करते समय हमें यह न भूलना चाहिए कि 'अनेकार्थका हि धातवः' के अनुसार धातु और उससे निष्पन्न होने के कारण शब्द अनेकार्थवाची होते हैं। संस्कृत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विषय में अर्थसहित प्रमाण लिखते हैं—

(यो० वाचं०) जो मनुष्य अर्थ को समझे बिना अध्ययन वा श्रवण करते हैं, उनका सब परिश्रम निष्फल होता है। प्र०—वाणी का फल क्या है ? उ०—अर्थ को ठीक-ठीक जानके उस के अनुसार

के अनेक शब्द तो हमारी वर्त्तमान भाषाओं तक में यथायथ चले आये हैं। 'विद्या' कोई रुपए-पैसे या मिष्टान्न जैसा पदार्थ नहीं है। फिर भी हम कहते हैं—गुरु विद्या देता है। यहाँ 'देना' से ज्ञान का संक्रमणमात्र अभिप्रेत है। शब्द प्रयोग की महिमा को न समझकर ही लोग 'गोदान' के समान 'कन्यादान' को मान बैठते हैं, यद्यपि कन्यादान का अभिप्राय भार्यारूप में देना मात्र है। 'कृ' धातु क्रियासामान्यवाची है। इस कारण यह जितने अधिक अर्थों में प्रयुक्त होता है, उतने अर्थों में कदाचित् ही कोई अन्य धातु प्रयुक्त होता हो। भिन्न-भिन्न शब्दों के साथ किन्हीं विशिष्ट क्रियाओं को गम्य मानकर यह अनेकश: प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ —

खड्गं करोति	तलवार चलाता है	वचनं करोति	आज्ञापालन करता है
हृदयङ्गमं ,,	ध्यान में रखता है	पदं ,,	पग धरता है
बुद्धि ,,	निश्चय करता है	चिरं ,,	देर लगाता है
कथां ,,	कथा कहता है	अन्नं ,,	अन्न पकाता है
सूत्रं ,,	सूत्र को बाहर निकालता है	तृणी ,,	तुच्छ समझता है
नखं ,,	नख निर्मल करता है	पादौ ,,	पैर फैलाता है
घटं ,,	घड़े में डालता है	हारं कंठे,,	हार गले में पहनता है
मनोधर्मं ,,	मन को धर्म में लगाता है।		

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि क्रियासामान्यवाचक यह 'कृञ्' धातु विशिष्ट क्रियाओं को गर्भित करके भिन्न-भिन्न अर्थों का वाचक हो जाता है।

दर्शन, ग्रहण, अध्यापन, निर्मलीकरण, निक्षेपण तथा विनियोजन के अर्थों में 'कृञ्' धातु का प्रयोग होता है।

तैत्तिरीयारण्यक के 'नम ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्य:' की व्याख्या में भट्टभास्कर मिश्र ने लिखा है — "अथ नम ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्यः··· मंत्राणां द्रष्टृभ्यः, दर्शनमेव कर्तृत्वम्"। ऐतरेय ब्राह्मण के सर्व-ऋषिर्मन्त्रकृत् के भाष्य में सायणाचार्य कहते हैं—ऋषिरतोन्द्रियद्रष्टा मंत्रकृत करोति धातुस्त्वत्र दर्शनार्थ:। यावन्तो वा मंत्रकृत:—इस श्रौतसूत्र (२.१.१३) के भाष्य में कात्यायन गर्ग ने लिखा है—मंत्रकृतो मंत्रदृश उच्यन्ते। न हि मंत्राणां करणं भवति। अनित्यप्रसंगात् तेन दर्शनार्थः कृञ् इत्यध्यवसीयते। दृश्यते चानेकार्थता धातूनां - गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः (अष्ट० १।३।३२) इत्यात्मनेपदप्रतिपादने गन्धादीनर्थान् कृञो दर्शयति। अर्थात् मन्त्रद्रष्टा ही मन्त्रकृत् कहे जाते हैं। मन्त्र बनाये नहीं जाते, क्योंकि वे नित्य हैं, अतः कृञ् धातु यहाँ देखने के अर्थ में है। धातु अनेकार्थक होते हैं। कृञ् धातु के भी अनेक अर्थ हैं।

जैसा जैमिनिमुनिकृत मीमांसाशास्त्र के आदाने करोति शब्दः (४.२.१६) के भाष्य में शबर स्वामी लिखते हैं—आदाने करोति शब्दो भविष्यति। स्वरुं करोति, स्वरूमादत्ते। यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोति, आदाने करोति, शब्दो भवति। यहाँ करोति का अर्थ है—ग्रहण करता है। जैसे लकड़ी ग्रहण करता है, उपले ग्रहण करता है, भात ग्रहण करता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है और जो लोग इस नियम पर चलते हैं, वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं। इसलिए जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था, वे ही ऋषि हुए थे।

ताण्ड्य ब्राह्मण के अंगिरस शिशु के अध्यापन प्रसंग में मंत्रकृत् का अर्थ स्पष्टतः मन्त्रार्थाध्यापक कहा गया है। अध्यापक होने के कारण ही अंगिरसशिशु को पितरों का मंत्रकृत् कहा गया—'देवा व अब्रवन्नेष वाव पिता यो मंत्रकृत्'। मनुस्मृति (२-१५१ से १५३) के वैसे ही सन्दर्भ में 'मंत्रकृत्' के स्थान में 'मंत्रदः' शब्द का प्रयोग कर मंत्रकृत् के मंत्रार्थाध्यापक अर्थ की पुष्टि की गई है। अन्यत्र मनुस्मृति में मन्त्र के पर्याय 'ब्रह्म' का प्रयोग कर इसी भाव को इन शब्दों में पुष्ट किया है—उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।

भूवादयो धातवः (अष्टा० १.३.१) के भाष्य में वैयाकरणमूर्धन्य पतंजलि मुनि ने लिखा—यथा करोतिरयमभूत् प्रादुर्भावे दृष्टः। निर्मलीकरणे चापि दृश्यते—पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु। उन्मृदान इत्यवगम्यते। निक्षेपणे चापि वर्त्तते—कटं कुरु, घटं कुरु स्थापयेति गम्यते। अर्थात् 'कृञ्' धातु का प्रयोग निर्मलीकरण में (पीठ साफ़ करो, पैर साफ़ करो) और स्थापन करने में (चटाई बिछाओ, घड़ा रखो) किया जाता है।

मन्त्रों को ग्रहण करने और यथास्थान उनका विनियोग करने के अर्थ में भी मंत्रकृत् का प्रयोग किया जाता है। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिल भट्ट ने अपने तन्त्रवार्त्तिक में ताण्ड्य ब्राह्मण की पूर्व संकेतित अंगिरस की कथा का उल्लेख करके कहा है—शिशुर्वा अङ्गिरसो मंत्रकृतां मंत्रकृदासीदित्यत्र मंत्रकृच्छब्दः प्रयोक्तरि प्रयुक्तः—अर्थात् अंगिरस के लिए जो मन्त्रकृत् शब्द का प्रयोग किया गया है वह मंत्र बनानेवाला इस अर्थ में नहीं, अपितु मंत्रों को ठीक स्थान में प्रयुक्त करनेवाला इस अर्थ में है।

महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंश के वरतन्तु विषयक प्रकरण (५-४) में प्रयुक्त मंत्रकृताम् शब्द का अर्थ भी उसके टीककार गोविन्द शास्त्री नामक विद्वान् की टिप्पणी के अनुसार मन्त्रों का ठीक-ठीक प्रयोग या विनियोग करनेवाला अथवा मन्त्रार्थाध्यापक ही है। वहाँ लिखा है—

अत्र न मंत्रान् कुर्वन्तीति, मंत्रकृदिति व्युत्पत्तिर्गरीयसी वेदापौरुषेयत्वभंगात्। किन्तु मंत्रान् कुर्वन्ति प्रयोगविधिना इष्टलाभाय प्रयुञ्जत इति मंत्रकृतः।

'मंत्रकार' शब्द पर विचार करते समय सुवर्ण आदि उपपद लगाकर 'कृञ्' धातु से बने अन्य प्रयोगों पर भी ध्यान देना चाहिए। सुवर्णकार (सुनार) चर्मकार (चमार), लोहकार (लुहार) आदि सुवर्ण, चर्म अथवा लोहे को नहीं बनाते, अपितु पहले से उपलब्ध इन पदार्थों का रूपान्तर करके विभिन्न कार्यों में उनका उपयोग करते हैं। इसी प्रकार मन्त्रकार कहानेवाले ऋषि मंत्र बनाते नहीं, अपितु प्रत्येक मंत्र के विविध रूप उत्पन्न करके कल्पोक्त यज्ञादि के विधान में उनका उपयोग करते हैं।

कर्मकाण्ड में मंत्रकृत् या मंत्रकार शब्द का प्रयोग मंत्रविनियोजक के अर्थ में होता है। उस अवस्था में इन शब्दों का अर्थ होगा—यज्ञादौ कर्मण्यनेन मंत्रेणेदं कर्म कर्त्तव्यमित्येवंरूपेण या मंत्रान् करोति व्यवस्थापयति स मंत्रकृत्—अर्थात् जो यज्ञ प्रारम्भ में 'इस मंत्र से इस प्रकार कार्य करना चाहिए' इस रूप में यज्ञादि की व्यवस्था करता है, वह मंत्रकृत् कहाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है। प्र०—किस प्रयोजन के लिए ? उ०—वेदप्रचार की परम्परा स्थिर रहने के लिए तथा जो लोग वेद-शास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं, वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें, इसलिए उन्होंने निघण्टु और

तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय व शतपथ ब्राह्मण, काण्व संहिता तथा सर्वानुक्रमणी आदि में मंत्रार्थद्रष्टाओं को ही ऋषि नाम से संबोधित किया गया है। उनके विषय में यह भी उल्लेख किया गया है कि उन्होंने किन-किन मण्डलों, सूक्तों अथवा मंत्रों के अर्थों का साक्षात्कार किया। इस विषय में उदाहरणार्थ कुछ स्थलों का निर्देश किया जाता है—

१. **स पूषा एतं मंत्रमपश्यत्—सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रतिपश्यामीति** । तै० सं० २-६-८
२. **स वामदेवः एतं सूक्तमपश्यत्—कृणुष्व वाजः प्रसितिं न पृथिवीम्** । काण्व सं० १०-५
३. **ते देवा एतद् यजुरपश्यन् —'अजोऽसि महोऽसि'** । काण्व सं० १७-७
४. **महीं गामिति काण्वो हैनां ददर्श** । शत० ब्रा० ९-२-२८
५. **इन्द्र क्रतुं न आभर इति वसिष्ठोऽपश्यत्** । ताण्ड्य ब्रा० ४-७-३
६. **गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत्** । सर्वानुक्रमणी २-१
७. **गाथिनो विश्वामित्रः तृतीयं मण्डलमपश्यत्** । सर्वानुक्रमणी ३-१
८. **बार्हस्पत्यो भरद्वाजः षष्ठं मण्डलमपश्यत्** ।
९. **सप्तमं मण्डलं वसिष्ठोऽपश्यत्** ।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि वेदमंत्रों के अर्थद्रष्टा तथा साक्षात् करके उनका व्याख्यान और प्रचार करनेवालों को ऋषि कहते हैं। यदि ये ऋषि वेदमंत्रों के रचयिता होते तो उपर्युक्त सभी वाक्यों में 'अपश्यत्' (देखा) के स्थान पर 'अरचयत्' (बनाया) क्रिया का प्रयोग होना चाहिए था। शतपथ ब्राह्मण (४-३-९) में ऋषि के विषय में कहा है—**'यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिः'**—अर्थात् जो ज्ञान को प्राप्त करते और उसका प्रवचन करते हैं वे ऋषि कहाते हैं।

ऋषियों को मंत्रकर्त्ता (रचयिता) मानने पर अनेक प्रबल आक्षेपों का सामना करना होगा जिनका कोई समाधान न हो सकेगा। उदाहरणार्थ—

१. अनेक मंत्र ऐसे हैं जिनके कई-कई ऋषि हैं। दो-दो, चार-चार ऋषियोंवाले तो सैकड़ों मंत्र है। ऋग्वेद ९-१०७ के सप्तर्षयः सात ऋषि बताये गये हैं। ऋग्वेद (९-६६-१९) के 'अग्न आयूंषि ' मन्त्र के शतं वैखानसा ऋषयः सौ वानप्रस्थ ऋषि हैं। इसका तात्पर्य यह है कि २४ अक्षरों के गायत्री छन्द के इस मंत्र को सौ ऋषियों ने मिलकर बनाया। ऋग्वेद के ८वें मण्डल क तीन मन्त्रोंवाले सूक्त ३४ को सहस्रसंख्यका ऋषयः एक हज़ार ऋषियों ने मिलकर बनाया होगा। मंत्र के अर्थ को जानने, उसका विनियोग, व्याख्यान और प्रचार करनेवाले तो हज़ार व्यक्ति भी हो सकते हैं परन्तु एक मंत्र के सौ व्यक्तियों द्वारा बनाये जाने की कल्पना सर्वथा असंगत तथा उपहासास्पद होगी। ऐसा होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

२. ऐसे भी अनेक मंत्र हैं जो एक से अधिक वेदों में पाये जाते हैं परन्तु भिन्न-भिन्न वेदों में उनके भिन्न-भिन्न ऋषि हैं। उदाहरणार्थ—'अग्ने नय सुपथा राये ·····' यह प्रसिद्ध मन्त्र ऋग्वेद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरुक्त आदि ग्रन्थ भी बना दिये हैं कि जिनके सहाय से सब मनुष्य वेद और वेदाङ्गों को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश करें। 'निघण्टु' उसको कहते हैं कि जिसमें तुल्य अर्थ और तुल्य कर्म-

---

१-१८९-१ में भी है और यजुर्वेद ४०-१६ में भी है, परन्तु ऋग्वेद में उसका ऋषि अगस्त्य है और यजुर्वेद में 'दध्यङ्ङाथर्वण' है। क्या यजुर्वेद के ऋषि ने ऋग्वेद का मन्त्र चुराकर उसे अपने नाम से प्रचलित कर दिया?

३. ऐसे मन्त्र भी हैं जो एक ही वेद में एक से अधिक बार आये हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों पर उनके भिन्न-भिन्न ऋषि हैं। उदाहरणार्थ—'इडा सरस्वती मही…' इस मन्त्र का ऋषि ऋग्वेद १-१३-१९ में मेधातिथिः काण्वः है परन्तु ५-५-८ में इसी मन्त्र का ऋषि बहुश्रुत आत्रयः है। एक ही मन्त्र को पहले एक ऋषि बनाये और फिर उसी को ज्यों-का-त्यों दूसरा ऋषि बनाये—यह कैसे सम्भव है?

४. ऐसे मन्त्र भी हैं जिनके देवता और ऋषि एक ही नामवाले अथवा मिलते-जुलते नाम वाले हैं। ऋग्वेद १०-१२४ के मन्त्र २-४ का देवता भी अग्नि है और ऋषि भी अग्नि। ऋग्वेद के ही १०-९७ सूक्त का देवता 'ओषधिस्तुतिः' है और ऋषि भिषक् अर्थात् वैद्य है। राजयक्ष्मा आदि रोगों की चिकित्सा विषयक ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १६१वें सूक्त का देवता 'राजयक्ष्मघ्नम्' है और ऋषि **राजयक्ष्मनाशन** है। क्या मन्त्र रचयिता ऋषि अपनी ही स्तुति के मन्त्र बनाता है?

इन समस्त आपत्तियों का समाधान ऋषियों को मन्त्रार्थद्रष्टा, व्याख्याता अथवा प्रवक्ता मानकर ही होता है।

देवता—देवता-ज्ञान के बिना मन्त्र का आशय पूर्णतः हृदयङ्गम नहीं हो सकता, भले ही मन्त्रगत पृथक्-पृथक् पदों का अर्थ एवं वाक्यार्थ ज्ञात हो जाए। किसी इन्द्र-देवताक मन्त्र के विषय में यह ज्ञात न हो कि इसका देवता इन्द्र है तो मन्त्र-प्रोक्त स्तुति, प्रार्थना, उपासना आदि के साथ इन्द्र-पद से सूचित होनेवाले परमैश्वर्यत्व आदि गुणों का चिन्तन हम कैसे कर सकेंगे और इन्द्र देवता के साथ जो व्यापक वैदिक रहस्यवाद जुड़ा हुआ है उसका दर्शन मन्त्र में कैसे हो सकेगा? शीर्षक और पृष्ठभूमि के ज्ञान के बिना किसी लौकिक कविता की जो गति होती है, वही गति देवता ज्ञानविहीन वेदमन्त्र की होगी।

मन्त्र में जिस नाम से किसी की स्तुति होती है, या जिस नाम से किसी की स्तुति के लिए मनुष्यों को प्रेरणा की जाती है, अथवा जो मन्त्र में आत्म-परिचय प्रस्तुत कर रहा होता है, अथवा जिस नाम से किसी से याचना, किसी की उपासना या किसी का आह्वान किया जाता है, वह उस मन्त्र का देवता होता है। यथा—'**अग्निमीळे पुरोहितम्**' (ऋ० १।१।१) में अग्नि नाम से परमेश्वर, भौतिक अग्नि, राजा आदि की स्तुति (गुण-प्रशंसा) की गई है, अतः अग्नि इस मन्त्र का देवता है। '**आ त्वेता निषीदतेन्द्रमभि प्रगायत**' (ऋ० १।५।१) में मनुष्यों को इन्द्र का स्तुति-गान करने की प्रेरणा की गई है, अतः इन्द्र इस मन्त्र का देवता है। '**विश्वानि देव सवितः**' (ऋ० ५।८२।५) में सविता से दुरित के दूरीकरण तथा भद्र-प्राप्ति की याचना की गई है, अतः सविता इस मन्त्र का देवता है। '**युञ्जते मन उत युञ्जते धियः**' (ऋ० ५।८१।१) में सविता नाम से परमेश्वर की उपासना का वर्णन है, अतः सविता इसका देवता है। '**अग्न आ याहि वीतये**' (ऋ० ६।१६।१० व साम १) में अग्नि का आह्वान किया गया है, अतः यह मन्त्र अग्नि देवताक है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले धातुओं की व्याख्या, एक पदार्थ के अनेक नाम तथा अनेक अर्थों का एक नाम से प्रकाश और मन्त्रों से भिन्न अर्थों का संकेत है। 'निरुक्त' उसका नाम है कि जिसमें वेदमन्त्रों की व्याख्या है ॥१॥

कई मन्त्रों में देवता किसी पदार्थविशेष का नाम न होकर वर्णनीय विषय को सूचित करने-वाले शीर्षक के समान होते हैं, यथा **'मन आवर्त्तनम्'** (मन को लौटाना, ऋ० १०।५८), **'धनान्नदान-प्रशंसा'** (धन और अन्न के दान को प्रशंसा, ऋ० १०।११७), **'भाववृत्तम्'** (सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन, ऋ० १०।१२९), **'सपत्नीबाधनम्'** (सौत को न आने देने का उपाय, ऋ० १०।१४५), **अलक्ष्मोघ्नम्'** (अलक्ष्मी का विनाश, ऋ १०।१५५), **'यक्ष्मनाशनम्'** (रोगविनाश, ऋ० १०।१६३), **'दुःस्वप्नना-शनम्'** (दुःस्वप्नविनाश, ऋ० १०।१६४), **'राज्ञः स्तुतिः'** (राजा की स्तुति, ऋ० १०।१७३)। संवाद-सूक्तों में वक्ता ऋषि और बोद्धव्य (श्रोता) देवता कहलाता है। यथा, यम-यमी-संवाद-सूक्त (ऋ० १०।१०) में जो मन्त्र यमी द्वारा कहे गये हैं उनको ऋषिका यमी और देवता यम है, किन्तु जो यम द्वारा यमी को उक्त हैं उनका यम ऋषि और यमी देवता हैं। अनेक मन्त्र ऐसे भी हैं जिनमें देवता नाम अग्नि, इन्द्र आदि पठित नहीं होते। तो भी जिस सूक्त, अध्याय आदि का वह मन्त्र होता है, उसमें उस मन्त्र से पूर्व या पश्चात् के मन्त्रों में प्रायः देवता का नाम आ जाता है। इस प्रकार पूर्वापर प्रकरण को देखने से प्रायः देवता निर्णीत हो जाता है। देवताओं के सम्बन्ध में एक यह बात ध्यान में रखने को है कि देवता निर्देश से केवल यह ज्ञात होता है कि अमुक मन्त्र का अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, सूर्य या अन्य कोई देवता है, पर वह देवता किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इसका निश्चय व्याख्याकार को स्वयं करना होता है।

देवतातत्त्व को जाने विना कोई व्यक्ति वेद को नहीं जान सकता। बृहद्देवताकार १।२ ने तो बलपूर्वक कहा है—**दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति**। अर्थात् दैवतज्ञ ही मन्त्रार्थ को जान सकता है। मन्त्रान्तर्भूता देवता—देवतातत्त्व को कहीं बाहर से खोजना नहीं पड़ता—वह तो मन्त्र में ही निहित होता है। उस अन्तर्हित तत्त्व को जानकर उसी के द्वारा ऋषि मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष करते हैं। परन्तु इस स्वरूपस्थ देवता को ढूंढ निकालना अत्यन्त दुष्कर एवं श्रमसाध्य है। **तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा**—ऋग्वेद के इस मन्त्र (५-४४-१) के सन्दर्भ में दुर्गाचार्य ने लिखा है—"**स एव सर्वथाप्युवं दुरवधारदेवतो मन्त्रः** (नि.टी. पृ १३१) अर्थात् इस मन्त्र के देवता का निश्चय करना अत्यन्त कठिन है। ऋग्वेदभाष्यकार वेङ्कटमाधव के शब्दों में **देवतातत्वविज्ञानं महता तपसा भवेत्**—देवतातत्त्व विज्ञान महान् तपःसाध्य है। इसीलिए हमने यास्काचार्य का अनुकरण करते हुए कहा है—**नानृषेरतपसो मन्त्रार्थप्रत्यक्षम्**।

यदि किसी मन्त्र का देवता अग्नि है तो समझना चाहिए कि इस मन्त्र में अग्नि का वर्णन है और ऐसा मानकर ही उस मन्त्र का अर्थ करना चाहिए, परन्तु निर्वचन के आधार पर अग्नि शब्द के कई अर्थ होते हैं, अतः अग्नि के विशेषणों तथा मन्त्र की अन्य परिस्थितियों से जान लेना चाहिए कि यहाँ अग्नि किस विशिष्ट अर्थ वा विषय का द्योतक है। इसी प्रकार ओषधिस्तुति दैवतमन्त्रों में चिकित्साशास्त्र का, **राजप्रजे दैवत** मन्त्रों में राजनीतिशास्त्र का दर्शन करके तदनुसार ही उन मन्त्रों के अर्थ होंगे।

वस्तुतः मन्त्र का देवता पहचानना ही वेदज्ञता है। वेदों का जितना बड़ा कोई विद्वान् है उतना ही देवता के विषय में ठीक-ठीक निर्णय करना उसके लिए सम्भव है। मन्त्र में निर्दिष्ट देवता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जिन-जिन मन्त्रों में जिन-जिन पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है, उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहिए—अर्थात् जिस मन्त्र का जो-जो अर्थ होता है, वही उसका देवता कहाता है। सो यह इस

का निश्चय करने के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वैदिक शब्द आख्यातज अथवा यौगिक हैं। ऐसा न होने पर न देवता की पहचान हो सकेगी और न मन्त्र के वास्तविक अर्थ को जाना जा सकेगा। ऋग्वेद में कई (जैसे १०-१२५) सूक्त ऐसे हैं जिन्हें **वागाम्भृणी** देवतावाला कहा गया है। कात्यायन और सायण 'आम्भृण' नामक व्यक्ति की कन्या को वाक् बताते हैं, परन्तु इन मन्त्रों को पढ़कर कोई यह विश्वास नहीं कर सकता कि ये मन्त्र किसी कन्या द्वारा रचे गये हैं और इन मन्त्रों में उसने अपने ही गुणों का वर्णन किया है। यौगिक प्रक्रिया के अनुसार **वाक्** वाणी का नाम (निघण्टु १-११) और **अम्भृण** महान् के अर्थों में (निघण्टु ३-३ में) पढ़ा गया है। इस प्रकार **वागाम्भृणी** का अर्थ हुआ—ऊँची वाणी या ऊँचा घोष। सुतरां सूक्तगत मन्त्रों को भी पढ़ने से यही सिद्ध होता है कि इन मन्त्रों के द्वारा वेदवाणी का स्वामी परमात्मा अपने विषय में कुछ घोषणा कर रहा है।

जिस मन्त्र में जिस विषय का वर्णन होता है वही उसका देवता कहलाता है सर्वानुक्रमणी में कहा है—**या तेनोच्यते सा देवता**। इन तीन पदों में **या** वस्तु के लिए है 'तेन' मन्त्र की ओर संकेत करता है और **'उच्यते'** क्रियापद है। इन तीनों को मिलाकर अर्थ बनता है—जिस वस्तु को वह मन्त्र कहता है अर्थात् जिस वस्तुतत्त्व का वर्णन करता है वह वस्तुतत्त्व ही उसका देवता है। सर्वानुक्रमणी के देवता विषयक इस लक्षण की व्याख्या करते हुए षड्गुरुशिष्य ने **वेदार्थप्रदीपिका** में लिखा है—**तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता**।

शब्दों का समुदाय ही वाक्य कहलाता है। वह वाक्य अपने भीतर कोई अर्थ रखता है। उस वाक्य का कहनेवाला अपने अभीष्ट भाव को प्रकट करने के लिए ही वाक्य का प्रयोग करता है। किन्तु यह भाव भी शब्दों के बिना प्रकट नहीं किया जा सकता। तथापि शब्दमय वाक्य अर्थ को प्रकट करने का साधन है। वास्तविक मूल्य शब्दों का नहीं, प्रत्युत उनके साध्य अथवा लक्ष्य अर्थ, भाव या प्रतिपाद्य वस्तु का है। इसलिए केवल संज्ञापद के आधार पर देवता का निश्चय नहीं किया जा सकता। संज्ञापद चिह्न का काम भले ही दे, वह देवता नहीं हो सकता। देवता का निश्चय करने के लिए मन्त्रगत प्रतिपाद्य वस्तु को ही सामने रखना होगा। अर्थात्—देवता वही होगा जिसका मन्त्र में वर्णन होगा। उदाहरण के लिए ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १७३ को देखा जा सकता है। इस समस्त सूक्त का देवता राजा है, यद्यपि सूक्तभर के छह मन्त्रों में राजा पद केवल दो बार पढ़ा गया है, वह भी मुख्य संज्ञापद के रूप में नहीं, अपितु इन्द्र, वरुण आदि पदों के विशेषण के रूप में, परन्तु वर्ण्य विषय को ध्यान में रखते हुए कात्यायन ने ध्रुवो **राज्ञः स्तुतिः** और सायण ने **अभिषिक्तस्य राज्ञः स्तुतिरूपोऽर्थो देवता** लिखा है।

प्रतिपाद्यविषय होने से सूर्य देवता है तो रात्रि भी देवता है। वैद्य भी देवता है और ओषधियाँ भी। इसी प्रकार रथ और सारथि, अन्न और अन्नाद, नदी और पर्वत, हल और किसान, पशु और पक्षी, अग्नि और जल, चन्द्रमा, स्त्री, पुरुष और दम्पती—जो भी मन्त्र का वर्ण्य विषय है, अर्थात् जिस किसी के विषय में कुछ कहा गया है वे सब देवता हैं।

देवता दो प्रकार के हैं—एक वे जो मन्त्रों के आरम्भ में देवता नाम से लिखे-पढ़े जाते हैं और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए है कि जिससे मन्त्रों को देखके उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थ ज्ञान हो जाए—इत्यादि प्रयोजन के लिए देवता शब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है।

दूसरे वे जो प्रतिपाद्य विषय होने से मन्त्रों के अन्तर्गत देवता नाम से वर्णित हैं। पहली प्रकार के देवताओं की संख्या लगभग ४७८ मानी जाती है, परन्तु प्रतिपाद्य वस्तु अथवा वर्ण्य-विषय के रूप में मन्त्रों के अन्दर वर्णन किये गये देवताओं की संख्या निश्चित करना प्रायः असम्भव है। वेद मनुष्य के ज्ञान में आसकनेवाले समस्त तत्त्वों—पदार्थों को देवता नाम से अभिहित करता है। ऐसे तत्त्व पदाथ लौकिक हों या अलौकिक, जड़ हों या चेतन, स्थावर हों या जंगम, निराकार हों या साकार, कारणरूप हों या कार्यरूप, आध्यात्मिक हों या आधिदैविक या आधिभौतिक, द्रव्यरूप हों या गुणरूप, मनुष्य हों या पशु-पक्षी-कीट-पतंग, भले हों या बुरे—प्रत्येक प्रतिपाद्य वस्तुतत्त्व का वर्णन वेद में मिलता है। यतः ऐसे पदार्थों तत्त्वों की संख्या (वेद के सर्वज्ञानमय होने से) अनन्त है, अतः वेद के देवताओं की इयत्ता का निश्चय करना भी मानवशक्ति के बाहर है। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के शब्दों में "All that can form subject of human knowledge is Devata."

अर्थात् जितने भी पदार्थों - तत्त्वों को मानवज्ञान का विषय बनाया जा सकता है, वे सब देवता हैं।

मन्त्र ईश्वरोक्त हैं, किन्तु मन्त्रदेवता ईश्वरोक्त न होकर मनुष्य द्वारा निर्धारित हैं, अतः वे नियत नहीं हैं।

समय-समय पर जिन आचार्यों ने मन्त्रों के अर्थ पर विचार किया, यथामति उन मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय लोक में उपकारार्थ प्रकट कर दिया, पर उन्होंने सीमा नहीं बाँध दी अर्थात् इयत्ता का आवधारण नहीं किया। जो देवता लिख दिये गये उनसे भिन्न देवता नहीं हो सकते, यह बात नहीं। वास्तव में किसी मन्त्र का कोई देवता निश्चित नहीं है। निरुक्त (१-२) में इस विषय में लिखा है—**यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।** अर्थात् ऋषि लोग जिस अर्थ के प्रकाश करने की कामना करते हुए जिस देवता का वर्णन करते हैं, वहा उस मन्त्र का देवता होता है। इस प्रकार एक ही मन्त्र से एक दो या कई भाव निकाले जा सकते हैं और वे सभी भाव उस मन्त्र के देवता हो सकते हैं। वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—"चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा (ऋ०-४-५८-३)। महाभाष्यकार पतंजलि ने इस मन्त्र को **महान् देवः शब्दः** कहकर शब्ददैवत माना है। यास्क ने इसी मन्त्र का यज्ञपरक व्याख्यान (नि० १३-७) करते हुए **एष हि महान् देवो यद्यज्ञः** कहकर इसे **यज्ञदैवत** माना है। सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता में अग्नि, सूर्य, गव्य आदि को इस मन्त्र का देवता माना है। निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्ग के मत में **कामतो देवताः कल्प्याः** (पृ० ७२८) इच्छानुसार देवता को कल्पना कर लेनी चाहिए। तथापि स्कन्द स्वामी का कथन है—**नैरुक्तः शक्नोति दैवतं ज्ञातुम्** (नि० भा० पृ० १०८) अर्थात् निरुक्त को जाननेवाला देवता को जान सकता है। स्कन्द के मत में भी देवता नियत नहीं, क्योंकि यदि नियत होते तो किसी-न-किसी शास्त्र से जाने जाते, परन्तु नियत न होने पर भी स्कन्द यह आवश्यक समझते हैं कि देवता का ज्ञान यदृच्छया नहीं, निरुक्त शास्त्र के आधार पर करना चाहिए।

जब यह निश्चय है कि मन्त्र में वर्णित विषय ही उसका देवता है तो यह देखना होगा कि कोई देवता मन्त्रार्थ के अनुकूल है या नहीं। यदि प्रतिकूल जान पड़े तो उसे यथार्थरूप में कर देना, बदलना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे ही जिस-जिस मन्त्र का जो छन्द है, सो भी उसके साथ इसलिए लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे तथा कौन-कौन-सा छन्द किस-किस स्वर में

नहीं अपितु उलटे को उलटा कर सीधा या ठीक करना है। उव्वट यजुर्वेद भाष्य को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः ।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छन्दांसि च यत् ॥

अर्थात् मैं अपने गुरु की शिक्षानुसार, अपनी तर्कबुद्धि के भरोसे और शतपथ ब्राह्मण की सहायता से ही ऋषि, देवता और छन्द निश्चय करूँगा। उव्वट भाष्य के इस लेख से स्पष्ट है कि केवल शास्त्र के आधार पर ही नहीं अपितु गुरुपरम्परा और तर्क से भी ऋषि, देवता आदि की कल्पना को जा सकती है। जो बात उव्वट ने कही वही स्वामी दयानन्द सरस्वती ने की। जब वैदिक वाङ्मय के गंभीर अध्ययन से दयानन्द को निश्चय हो गया कि मन्त्रार्थ अर्थात् मन्त्र द्वारा प्रतिपाद्य वस्तुतत्त्व ही वास्तविक देवता है और उनके संज्ञापद चिह्नमात्र हैं तब उनका कर्त्तव्य था कि देखें कि साम्प्रदायिक आचार्यों ने जो देवता निश्चित किये हैं वे इस सिद्धान्त के अनुकूल हैं या नहीं। वैसा न होने पर प्रतिपाद्य विषय के अनुसार देवता निश्चय करना उनका धर्म था। इसीलिए उन्होंने यत्र-तत्र मन्त्रों के अर्थ करने में प्रचलित देवता की उपेक्षा कर दी, परन्तु इसका आधार भी आर्षग्रन्थ ही हैं स्वामीजी की अपनी कल्पना नहीं।

छन्द—'छन्दोभूतमिदं सर्वं वाङ्मयं स्याद्विजानतः' —छन्दोऽनुशासन १।२। छन्द शब्दमय होते हैं। शब्दों के बिना ज्ञान नहीं चलता, अर्थात् ज्ञान का आदान-प्रदान शब्दों के बिना सम्भव नहीं। इसलिए छन्द को वेदज्ञान का शरीर माना गया है। वेद में परिवेश—सन्निवेश या मर्यादाबद्ध आकार को ही छन्द कहते हैं। छन्द-शरीर है—मर्त्य है, नश्वर है। मन्त्र-ज्ञान अमर्त्य है, नित्य है। जैसे अमर्त्य जीवात्मा शरीर धारण किये बिना वाणी का प्रयोग किये बिना ज्ञान का आदान-प्रदान नहीं कर सकता, वैसे ही नित्य चेतनस्वरूप परमात्मा ऋषिरूप शरीर और छन्दरूप वाणी के बिना मन्त्रज्ञान का संक्रमण नहीं कर सकता।

"छन्दांसि वै देवानां पशवो तद्यथा पशवो युक्ता मनुष्येभ्यो वहन्ति, एवं छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति।" (शत० १।८।२।८)। छन्द देवताओं के वाहनतुल्य हैं। जैसे अश्वादि पशु वाहन में जुतकर मनुष्य को इधर-उधर ले-जाते हैं, वैसे ही छन्द अपने पर सवार देवताओं का यज्ञ में पहुँचाने के लिए एक लोक से दूसरे लोक में, एक क्षत्र से दूसरे क्षेत्र में ले-जाते हैं। उदाहरणार्थ—

(क) 'विश्वानि देव०' (ऋ० ५।८२।५) में 'सविता देव' गायत्री छन्द पर सवार है और गायत्री छन्द का सम्बन्ध पृथिवीलोक से है। इसलिए इसका अर्थ होगा कि हम पृथिवीलोक या शरीरसम्बन्धी दुरितों को दूर करने की प्रार्थना कर रहे हैं।

ख) 'आ देवो याति सविता०' (ऋ० १।३५।३) तथा 'हिरण्यहस्तो असुरः; (ऋ० १।३५।१०) इन दोनों मन्त्रों में सविता देव त्रिष्टुप् छन्द पर सवार हैं; त्रिष्टुप् छन्द का सम्बन्ध अन्तरिक्षलोक से है। इसलिए इन मन्त्रों मे हृदय या मन के दुरितों और राक्षसों से छुटकारा पाने की प्रार्थना है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाना चाहिए, इस बात को जानने के लिए उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं। जैसे गायत्री छन्दवाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिए। ऐसे ही और-और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य

(ग) **हिरण्यपाणिः सविता;** (ऋ० १।३५।६) इस मन्त्र में सविता देव जगती छन्द पर आरूढ़ हैं। जगती छन्द का सम्बन्ध द्युलोक से है। इसलिए यह समझना चाहिए कि इस मन्त्र में द्युलोक या मस्तिष्क सम्बन्धी दोषों से मुक्त होने का उल्लेख है। तीनों मन्त्रों का देवता एक होने पर भी उनके अर्थों का अपना वैशिष्ट्य है।

सविता देव की तरह अग्नि देवता के ये तीन मन्त्र उदाहृत हैं—**'उप त्वाग्ने०'** (ऋ० १।१।७); **'प्र सु ····· अभिशस्ति पावा'**। (ऋ० १।७६।३) तथा **हृदयाग्निम् ···· सवितारमूतये।'** (ऋ० १।३५।१) इन तीनों मन्त्रों के छन्द क्रमशः गायत्री; त्रिष्टुप् तथा जगती हैं। इसलिए इन मन्त्रों में 'अग्नि' का अर्थ क्रमशः जाठराग्नि, संकल्पाग्नि तथा ज्ञानाग्नि हो सकता है।

श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने छन्दज्ञान को मन्त्रार्थज्ञान में एक दूसरी दृष्टि से सहायक बताया है। उनके मत में—

१—**'विश्वानि देव०'** (ऋ० ५।८२।२)—इस मन्त्र का छन्द पूर्ण गायत्री है, इसलिए इस मन्त्र में 'सविता' कहने से उदित सविता का ग्रहण होगा और इससे हमें यह समझना होगा कि उदित सविता शरीर के सब दुरितों को दूर करके शरीर में कल्याणकारी तत्त्वों को प्रविष्ट करेगा।

२—**'तत्सवितुर्वरेण्यम्०'** (ऋ० ३।६२।१०)—इसका छन्द भी गायत्री है, किन्तु उसमें एक अक्षर कम होने से वह निचृत् गायत्री है, क्योंकि यह पूर्ण गायत्री नहीं है, इसलिए इस मन्त्र में आये सविता शब्द से उदित सविता का ग्रहण न करके, उदित होनेवाले सविता का ग्रहण किया जाएगा। इसी कारण इस प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र के जप का समय सूर्योदय से पूर्व माना जाता है। मन्त्रगत 'तत्' शब्द भी परोक्ष सविता का ही संकेत करता है।

जैसे प्रातः-सायं, रात्रि आदि भिन्न-भिन्न कालों के लिए भिन्न-भिन्न राग नियत हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न लोक, देवता आदि के लिए भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग होता है। अथवा छन्द का परिवर्तन होने पर देवता की स्थिति में परिवर्तन होता रहता है।

छन्द केवल ज्ञान के वाहक ही नहीं हैं, अनधिकारी व्यक्ति के सन्मुख ये अपने रहस्य को प्रकट तो करते ही नहीं, उसे तिरोहित कर लेते हैं। सम्भवतः इसी को लक्ष्य करके कहा गया है—**बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदः'** ये छन्द ही मन्त्रस्थित देवताओं को विकृत होने से बचाते हैं। गद्य की अपेक्षा छन्द में प्रक्षेप करना कठिन होता है। इसलिए कहा है—

'तद्यदेनान् (देवान्) छन्दांसि मृत्योः पाप्मनोऽच्छादयन्'। जै०—१।२०४

छन्दों के योग और प्रयोग को विद्वज्जन ही जानते हैं। सामान्य जन उनके शरीर को तो देख लेते हैं, उनके भीतर स्थित आत्मा=निहित ज्ञान तक उनकी पहुँच नहीं हो पाती।

छन्द का ज्ञान वेदमन्त्रों के लयपूर्वक शुद्ध उच्चारण में तो सहायक होता ही है, विविध छन्द विविध विषयों की व्यञ्जना करने में भी समर्थ होते हैं, अतः छन्दोज्ञान से विषयवस्तु को समझने में भी सहायता मिलती है। जैसे हिन्दी में वीररस के लिए कवित्त, शृङ्गार के लिए सवैया, और उपदेश के लिए दोहा अधिक उपयुक्त समझे जाते हैं, वैसे ही वेद में गायत्री एवं उष्णिक् भक्तिरस के लिए, पंक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग गानविद्या में प्रवीण हों। इसीलिए वेद में प्रत्येक मन्त्रों के उनके षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं।

कलात्मक वर्णन के लिए, त्रिष्टुप् वीररस के लिए तथा अनुष्टुप और जगती उपदेशप्रधान एवं वर्णनात्मक प्रसंगों के लिए अधिक प्रयुक्त हुए हैं। एतद्विषयक अधिक अनुसन्धान अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त छन्दो-ज्ञान से पादज्ञान होता है जो वेदार्थ में परमोपयोगी है। प्रत्येक पाद अपने भीतर एक अर्थविशेष को रखता है और सब पादों का अर्थ मिलकर मन्त्र के सम्पूर्ण अर्थ को व्यक्त करता है।

प्रतिपादमृचामर्थाः सन्ति केचिदवान्तराः।
ऋगर्थः समुदायः स्यात् तेषां बुद्ध्या प्रकल्पितः ॥

(माधवीय आख्यातानुक्रमणी का उपाद्घात प्रकरण)

इसके साथ ही सन्दिग्ध देवतावाले मन्त्रों में छन्द का ज्ञान देवता का निश्चय करने में भी सहायक हो सकता है, क्योंकि छन्दशास्त्रकारों तथा निरुक्तकार ने विभिन्न छन्दों का देवताओं से सम्बन्ध निर्दिष्ट किया है[1]। इस प्रकार वेदाध्ययन में छन्दोज्ञान की उपयोगिता स्पष्ट है।[2]

वैदिक छन्द—वैदिक छन्दों के तीन सप्तक हैं—गायत्र्यादि सप्तक, अतिजगत्यादि सप्तक और कृत्यादि सप्तक। गायत्र्यादि सप्तक में गायत्री, उष्णिक् अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्द हैं। ये सातों गायत्र्यादि छन्द आर्ष, दैव, आसुर, प्राजापत्य, याजुष, सामन्, आर्च और ब्राह्म के भेद से आठ प्रकार के होते हैं। इसके संक्षिप्त परिचयार्थ निम्न तालिका प्रस्तुत है—

	छन्द-नाम	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पङ्क्ति	त्रिष्टुप्	जगती	अक्षरों में वृद्धि या ह्रास
१	आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८	वृद्धि ४ अक्षर
२	दैवी	१	२	३	४	५	६	७	वृद्धि १ अक्षर
३	आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	ह्रास १ अक्षर
४	प्राजापत्य	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२	वृद्धि ४ अक्षर
५	याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२	वृद्धि १ अक्षर
६	सामनी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४	वृद्धि २ अक्षर
७	आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६	वृद्धि ३ अक्षर
८	ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२	वृद्धि ६ अक्षर

१. द्रष्टव्यः ऋग्० १०।१०३।४,५; पिङ्गल ३।६३; ऋक् प्रातिशाख्य १७।७।८

२. छन्दःशास्त्र की वेदार्थ में उपयोगिता के लिए द्रष्टव्य—युधिष्ठिर मीमांसककृत 'वैदिक छन्दोमीमांसा' अध्याय ५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[अग्निवाय्विन्द्रादीनां क्रमेण वर्णनप्रयोजनम्]

प्रश्न – वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः किमर्थः कृतोऽस्ति ।

उत्तर - पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थम्, विद्यासङ्ग्यनुषङ्गिप्रतिविद्यानुषङ्गिबोधार्थं चेति । तद्यथा—

आर्षी गायत्री २४ अक्षर की होती है, आगे प्रत्येक छन्द में ४-४ अक्षरों की वृद्धि होती चलती है। दैवी गायत्री १ अक्षर को होती है, यथा 'ओ३म्'। आगे प्रत्येक छन्द में १-१ अक्षर की वृद्धि होती है। आसुरी गायत्री १५ अक्षर की होती है, आगे क्रमशः १-१ अक्षर का ह्रास होता है। इसी प्रकार प्राजापत्य आदि अन्य छन्दों को जानना चाहिए।

इन अष्टविध आर्ष, दैव, आसुर प्रभृति छन्दों में से वेदों में अधिकतर प्रयोग आर्ष छन्दों का ही हुआ है। (आर्ष गायत्र्यादि सप्तक ही वेदों में अधिक प्रयुक्त होने के कारण नीचे उसका कुछ विस्तृत परिचय दिया जा रहा है।)

आर्ष गायत्र्यादि सप्तक

गायत्री कुल २४ अक्षर तथा ८-८ अक्षर के तीन पाद होते हैं। क्वचित् अक्षर संख्या न्यूनाधिक भी हो जाती है तथा पाद-संख्या में भी अन्तर आ जाता है। यथा ७, ७,, ७ (२१) पादनिचृद् गायत्री; ६, ८, ७, (२१) अतिपादनिचृद् गायत्री, ६, ७, ८ (२१) वर्धमाना गायत्री; ७, १०, ७ (२४) यवमध्या गायत्री; ८, १०, ७ (२५) या ८, ७, १० (२५) भुरिग् गायत्री; ५, ५, ५, ५, ५, (२५) या ४, ५, ५, ५, ६ (२५) पदपंक्ति गायत्री तथा १२, ८, (२०) द्विपदा विराड् गायत्री कहलाती है।

उष्णिक्—कुल २८ अक्षर होते हैं। सामान्यतः दो पाद ८-८ अक्षर के और एक पाद १२ अक्षर का रहता है। द्वादशाक्षर पाद की स्थिति के आधार पर इसके विभिन्न नाम हो जाते हैं। ८, १२, ८ (२८) ककुप् उष्णिक्, १२, ८, ८ (२८) पुर उष्णिक्; ८, ८, १२ (२८)परा उष्णिक् कहाती है। ७, ७, ७, ७ (२८) की चतुष्पदा उष्णिक्; होती है, यद्यपि ऋक्प्रातिशाख्यकार ने इसे अनुष्टुप् के समान पाद चार होने से अनुष्टुप् वर्ग में सम्मिलित किया है।

अनुष्टुप्—कुल ३२ अक्षर तथा ८-८ अक्षर के चार पाद होते हैं। त्रिपाद् अनुष्टुप्; भी होता है, यथा १२, ८, १२ (३२) मध्येज्योति या पिपीलिकामध्या; १२, १२, ८ (३२) उपरिष्टाज्ज्योतिः; ८, १२, १२ (३२) पुरस्ताज्ज्योतिः। अष्टाक्षर पाद को ज्योति मानकर उसकी स्थिति के आधार पर यह नामकरण है। ११, ११, ११, (३३) विराड् अनुष्टुप् कहलाती है। इसे समानाक्षर तीन पाद होने के कारण पिंगल ने त्रिपदा विराट् गायत्री कहा है, यद्यपि अक्षर-संख्या की दृष्टि से यह अनुष्टुप् ही मानी जानी चाहिए।

बृहती—कुल ३६ अक्षर होते हैं। इसके भेद हैं—८, ८, १२, ८ (३६) पथ्या बृहती; ८, १२, ८, ८(३६) उरो बृहती; स्कन्धोग्रीवी या न्यंकुसारिणी; ८, ८, ८, १२ (३६) उपरिष्टाद् बृहती; १२, ८, ८, ८ (३६) पुरस्ताद् बृहती कहलाती है। यह नामकरण द्वादशाक्षर पाद की स्थिति के आधार पर है। १०, १०, ८, ८ (३६) और ९, ९, ९, ९ (३६) को बृहती ही कहते हैं। १२, १२, १२, (३६) को महा-बृहती, या सतोबृहती, ८, १०, १०, ८ (३६) को विष्टार बृहती और ९, ८, ११, ८ (३६) को विषमपदा बृहती कहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं भवति। यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानव्यापकत्वादयो गुणा विज्ञातव्या भवन्ति, यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात् प्रथमं[1] गृह्यते, तथेश्वरस्य

पङ्क्ति—कुल ४० अक्षर होते हैं। पादाक्षर-संख्या भिन्न-भिन्न होने से इसके विभिन्न नाम हो जाते हैं। १२, ८, १२, ८ (४०) या ८, १२, ८, १२ (४०) को सतःपङ्क्ति या सतोबृहतीपङ्क्ति, ८, ८, १२, १२ (४०) को आस्तारपङ्क्ति, १२, १२, ८, ८ (४०) को प्रस्तार पङ्क्ति, ८, १२, १२, ८ (४०) को विष्टार पङ्क्ति, १२, ८, ८, १२ (४०) को संस्तार पङ्क्ति ८, ८, ८, ८, ८ (४०) को पथ्या पङ्क्ति, १०, १०, १०, १० (४०) को विराट् पङ्क्ति कहते हैं। ५, ५, ५, ५, ५ (२५) को भी पिंगल ने पदपङ्क्ति के नाम से पङ्क्ति के भेदों में परिगणित किया है, यद्यपि अक्षर-संख्या की दृष्टि से यह गायत्री ही है तथा ऋक्प्रातिशाख्यकार ने इसे गायत्री का ही भेद माना है।

त्रिष्टुप्—इसमें सामान्यतः कुल ४४ अक्षर तथा ११-११ अक्षर के चार पाद होते हैं। पादाक्षर-संख्या के भेद से इसके विभिन्न नाम हो जाते हैं, जिनमें किसी-किसी में कुल अक्षरसंख्या भी न्यूनाधिक हो जाती है। १२, १२, ११, ११ (४६) जागती त्रिष्टुप्, १०, १०, १२, १२, (४४) अभिसारणी त्रिष्टुप् ११, ११, ११, ८, (४१) विराड्रूपा या परानुष्टुप् त्रिष्टुप् ८, १२, १२, १२ (४४) या १२, १२, ८, १२ (४४) मध्येज्योतिः त्रिष्टुप्, १२, १२, १२, ८ (४४) उपरिष्टाज्ज्योतिः त्रिष्टुप् कहलाती है। इन ८ अक्षरवाली सभी त्रिष्टुपों को सामान्यतः ज्योतिष्मती त्रिष्टुप् भी कह देते हैं।

जगती—कुल ४८ अक्षर तथा १२-१२ अक्षर के चार पाद होते हैं। त्रिष्टुप् के भेदों में परिगणित १२, १२, ११, ११ (४६) को जगती का भी भेद माना गया है तथा इसे उपजगती नाम दिया गया है। ८, ८, ८, १२, १२, (४८) की महासतोबृहती जगती और ८, ८, ८, ८, ८, ८, (४८) की षट्पदा महापङ्क्ति जगती कहलाती है। छन्दःशास्त्र के आचार्यों ने इसके ४४ अक्षरसंख्यावाले भी कतिपय भेद वर्णित किये हैं। यथा, पिंगल, ने १२, ८, ८, ८, ८ (४४) को पुरस्ताज्ज्योतिष्मती जगती, ८, ८, १२, ८, ८ (४४) को मध्येज्योतिष्मती जगती एवं ८, ८, ८, ८, १२ (४४) को उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती जगती कहा है।

अतिजगत्यादि और कृत्यादि सप्तक

अतिजगत्यादि सप्तक ५२ अक्षर से आरम्भ होकर ४-४ अक्षर की वृद्धि से ७६ अक्षरसंख्या तक जाता है। उसके पश्चात् कृत्यादि सप्तक ८० अक्षर से प्रारम्भ होकर ४-४ अक्षर की वृद्धि से १०४ अक्षरसंख्या तक जाता है। इन सप्तकों में सम्मिलित छन्दों के नाम अक्षरसंख्या सहित नीचे दिये जा रहे हैं—

अतिजगत्यादि सप्तक		कृत्यादि सप्तक	
अतिजगती	५२	कृति	८०
शक्वरी	५६	प्रकृति	८४
अतिशक्वरी	६०	आकृति	८८
अष्टि	६४	विकृति	९२
अत्यष्टि	६८	संस्कृति	९६
धृति	७२	अभिकृति	१००
अतिधृति	७६	उत्कृति	१०४

१. अग्निशब्दः पूर्ववाक्यात् संबध्यते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वाधारकत्वानन्तबलवत्त्वादिगुणा वायुशब्देन प्रकाश्यन्ते। यथा शिल्पविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्त्तद्रव्याधारकत्वात् तदनुषङ्गित्वाच्च भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति, तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति। यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्य्यवत्त्वादिगुणा विदिता भवन्ति, तथा भौतिकेन[1]

निचृत्, भुरिक्, विराट्, स्वराट्

अनेक मन्त्रों में छन्दों की वास्तविक निर्दिष्ट अक्षर-संख्या की अपेक्षा न्यूनता या अधिकता भी पाई जाती है। एक या दो अक्षर की न्यूनता या अधिकता होने पर छन्द वही रहता है। एक अक्षर की न्यूनता होने पर वह छन्द निचृत् कहाता है, यथा गायत्री के २४ के स्थान पर २३ अक्षर होने पर निचृद् गायत्री कहाती है। एक अक्षर की अधिकता होने पर वह छन्द भुरिक् विशेषण से व्यपदिष्ट होता है, यथा गायत्री में २५ अक्षर होने पर वह भुरिग् गायत्री होती है। दो अक्षर की न्यूनता होने पर कोई छन्द विराड् तथा दो अक्षर की अधिकता होने पर स्वराड् कहलाता है। परन्तु अधिकांश छन्दों में क्योंकि उत्तरोत्तर ४-४ अक्षरों की वृद्धि होती है, अतः २६ अक्षर का छन्द विराड् उष्णिक् भी हो सकता है और स्वराड् गायत्री भी। ३० अक्षर का छन्द विराड् अनुष्टुप् भी हो सकता है और स्वराड् उष्णिक् भी। इसी प्रकार ३४, ३८, ४२, ४६ आदि अक्षरों के छन्दों में भी सन्देह उत्पन्न हो सकता है। इसके निर्णय में प्रकरण, पाद, देवता आदि नियामक होते हैं।[2]

शंकुमती, ककुम्मती, पिपीलिकामध्या, यवमध्या

पिंगल[3] के अनुसार छन्दों के शंकुमती, पिपीलिकामध्या और यवमध्या नामक भेद भी होते हैं। किसी छन्द में कोई एक पाद ५ अक्षर का होने पर वह छन्द शंकुमती विशेषण से विशिष्ट कहलाता है। किसी छन्द में कोई एक पाद ६ अक्षरों का होने पर वह छन्द ककुम्मती विशेषण से विशिष्ट कहाता है। किसी त्रिपाद् छन्द में मध्य का पाद इतर पादों से छोटा होने पर पिपीलिका (चिऊँटा) जैसी आकृति बनने के कारण वह छन्द पिपीलिकामध्या विशेषण से युक्त होता है। किसी त्रिपाद् छन्द का बीच का पाद अधिक अक्षरों का होने पर यव जैसी मोटे मध्यवाली आकृति बनने के कारण वह छन्द यवमध्या कहाता है। यवमध्या को मध्य में बैल की पीठ के समान कुब्ज निकला होने के कारण ककुब् भी कहते हैं। वेदमन्त्रों का छन्द प्रदर्शित करनेवाले कोई आचार्य इन शंकुमती आदि विशेषणों को प्रयुक्त करते हैं, कोई नहीं भी करते।

छन्दः शास्त्र में षड्ज प्रभृति स्वरों के क्रमशः सित, सारंग, पिशंग, कृष्ण, नील, लोहित और

---

१. इन्द्रशब्देनेह वायुर्गृहीतः। तत् कथमिति चेत्? नैरुक्तपक्षे अन्तरिक्षदेवताया विकल्प उच्यते—'वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः' (निरु० ७।५)। देवताविकल्पे च ये नैरुक्ता वायुदेवतामामनन्ति ते इन्द्रादिपदान् वाय्वर्थत्वेन व्याचक्षते, इन्द्रदेवतां स्वीकुर्वाणाः वाय्वादिपदान् इन्द्रपरत्वेन व्याचक्षते। तथा ह्याह निरुक्तसमुच्चयकारो वररुचिः 'इन्द्र क्रतुम्···। नैरुक्तपक्षेऽपि इन्द्र दानादिगुण! इन्द्रो मध्यस्थानो वायुरुच्यते'। अनयैव प्रक्रियया ग्रन्थकारेणापीहेन्द्रशब्देन वायुर्गृहीतः।

२. पिंगल ३.५९–६३

३. पिंगल ३.५५–५८।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वायुनाप्युत्तमैश्वर्य्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते । एतदर्थमिन्द्रशब्दस्य ग्रहणं कृतमस्ति । अश्विशब्देन शिल्पविद्यायां यानचालनादिविद्याव्यवहारे जलाग्निपृथिवीप्रकाशादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्ति, एतदर्थमग्नि-

गौर ये सात रंग भी बताये गये हैं। तदनुसार गायत्री छन्द का रंग गोरा, उष्णिक् छन्द का रंग सारंग, अनुष्टुप् छन्द का गोरोचन के समान भूरा होता है। बृहती का अगुरु के समान काला, पंक्ति का नीले कमल के समान नीला, त्रिष्टुप् का इन्द्रवधूटी के समान लाल और जगती छन्द का सरसों या हल्दी के समान पीला रंग होता है।—'तेषां सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः' (पि० छ० सू० ३।६५) प्रातिशाख्य तथा दैवत ब्राह्मण में भी कहा है—'सितञ्च सारङ्गमतः पिशङ्गः कृष्णमेव च। नीलं च लोहितं चैव सवर्णमिव सप्तमम्।' ऋक् प्रातिशाख्य के उव्वटभाष्य में भी इसी प्रकार कहा है—'श्वेतं गायत्रम्, सारङ्गमौष्णिहम्, पिशङ्गमनुष्टुभम्, बार्हतं कृष्णमगुरुवर्णम् नीलं वैराजम्, लोहितं त्रैष्टुभम्, सुवर्णवर्णं जागतम्।'

ऋष्यादिज्ञान के विषय में योगी याज्ञवल्क्य का कथन है—

> यस्तु जानाति तत्त्वेन आर्षं छन्दश्च दैवतम्।
> विनियोगं ब्राह्मणं च मन्त्रार्थं ज्ञानकर्म च ॥
> देवतायाश्च सायुज्यं गच्छत्येव न संशयः।
> पूर्वोक्तेन प्रकारेण ऋष्यादीन् यो द्विजः ॥
> अधिकारो भवेत्तस्य रहस्यादिषु कर्मसु।
> आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च ॥
> वेदितव्यं प्रयत्नेन ब्राह्मणेन प्रयत्नतः ॥

अर्थात्—जिस व्यक्ति को मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग आदि का ज्ञान है वह उस मन्त्र से सायुज्य प्राप्त करता है। ······ इसलिए ब्राह्मण को मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग को जानने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहना चाहिए।

ऋग्वेद में प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त का देवता अग्नि, द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र से तृतीय मन्त्र तक का देवता वायु, तदनन्तर चौथे से छठे मन्त्र तक के देवता इन्द्र-वायु, तत्पश्चात् तृतीय सूक्त के प्रथम से तृतीय मन्त्रपर्यन्त अश्विनौ तथा दशम मन्त्र से सूक्त के अन्त तक सरस्वती देवता हैं।

अग्नि से अभिप्राय उस शक्ति से है जो पृथिवी के सब पदार्थों में देखी जाती है। मनुष्य के शरीर में वह स्थूल रूप में तो है ही; प्राण के रूप में वह अन्तर्हित रहकर भी शासन करती है। अग्नि सब रूपों में मध्यस्थानी देवता है। मध्यस्थानी देवता से अभिप्राय सृष्टिरचनाक्रम में मध्य में होना है। वैसे यह अन्तरिक्ष और पृथिवीपर का देवता भी है। यह शक्तिरूप है और परमात्मा के तेज का परिवर्त्तित रूप है।

वायु वह शक्ति है जिससे समस्त पदार्थों के स्वरूप बनते हैं। पंचमहाभूतों के सूक्ष्मरूप को स्थूलरूप देनेवाला यही है। इसीलिए इसे वस्तुओं के स्वरूप देनेवाली और सबको सुख देनेवाली शक्ति कहा है। गति उत्पन्न करनेवाली शक्ति भी वायु है—'वा गतौ'। ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश (समु० १ में लिखा है,—'वाति सोऽयं वायुः चराचरं जगत् धारयति वा स वायुः'—जो चराचर जगत् को धारण करे वा प्रलय करे और सब बलवानों से बलवान् होय, उसी का नाम वायु है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वायुग्रहणानन्तरमश्विशब्दप्रयोगो वेदेषु कृतोऽस्ति । एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्त्वशब्दार्थ-सम्बन्धरूपवेदोपदेष्टृत्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वाग्व्यवहाराश्च । इत्यादिप्रयोजनायाग्निवाय्विन्द्रा श्विसरस्वत्यादिशब्दानां ग्रहणं क्रमेण कृतमस्ति । एवमेव सर्वत्रैव वैदिकशब्दार्थव्यवहारज्ञानं सर्वैर्मनुष्यै-र्बोध्यमस्तीति विज्ञाप्यते ।

भाषार्थ—प्र०—वेदों में क्रमवार अग्नि, वायु, इन्द्र, सरस्वती आदि शब्दों का प्रयोग किस लिये किया है ?

पूर्वापर विद्याओं के जनाने के लिए, अर्थात् जिस-जिस विद्या में जो-जो मुख्य और गौण हेतु हैं, उनके प्रकाश के लिए ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वापर सम्बन्ध से किया है, क्योंकि अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक आदि कितने ही अर्थों का ग्रहण होता है, इस प्रयोजन से कि उसका अनन्त ज्ञान अर्थात् उसकी व्यापकता आदि गुणों का बोध मनुष्यों को यथावत् हो सके । फिर इसी अग्नि शब्द से पृथिव्यादि भूतों के बीच में जो प्रत्यक्ष अग्नितत्त्व है, वह शिल्पविद्या का मुख्य हेतु होने के कारण उसका ग्रहण प्रथम ही किया है ।

तथा ईश्वर के सबको धारण करने और उसके अनन्त बल आदि गुणों का प्रकाश जनाने के लिए वायु शब्द का ग्रहण किया गया है तथा शिल्पविद्या में अग्नि का सहायकारी और मूर्त्त द्रव्य का धारण करनेवाला मुख्य वायु ही है, इसलिए प्रथम सूक्त में अग्नि का और दूसरे में वायु का ग्रहण किया है तथा ईश्वर के अनन्त गुण विदित होने और भौतिक वायु से योगाभ्यास करके विज्ञान तथा शिल्पविद्या से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के लिए इन्द्र शब्द का ग्रहण तीसरे स्थान में किया है, क्योंकि अग्नि और वायु की विद्या से मनुष्यों को अद्भुत-अद्भुत कलाकौशलादि बनाने की युक्ति ठीक-ठीक जान पड़ती है ।

तथा अश्विशब्द का ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में इसलिए किया है कि उससे ईश्वर की अनन्त क्रियाशक्ति विदित हो, क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि यान चलाने के लिए जल, अग्नि, पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य होते हैं, अर्थात् जितने कलायन्त्र विमान, नौका और रथ आदि यान होते हैं, वे सब पूर्वोक्त प्रकार से पृथिव्यादि पदार्थों से ही बनते हैं । इसलिए अश्विशब्द का पाठ तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में किया है तथा सरस्वती नाम परमेश्वर की अनन्त वाणी का है, कि जिससे उसकी अनन्त विद्या जानी जाती है तथा जिस करके उसने सब मनुष्यों के हितों के लिए अपनी अनन्तविद्यायुक्त वेदों का उपदेश भी किया है, इसलिए तीसरे सूक्त और पाँचवें स्थान में सरस्वती शब्द का पाठ वेदों में किया है । इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना ।

अग्नि और वायु के संयोग से शिल्पविद्या का विकास करके औद्योगिक, तकनीकी एवं वैज्ञानिक उन्नति होती है । उसी के द्वारा ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है । इसलिए वेद में देवताक्रम में अग्नि और वायु के पश्चात् तीसरे स्थान पर इन्द्र को रखा है जो ऐश्वर्य का प्रतीक है ।

'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से क्वन् प्रत्यय होकर **'अश्वि'** शब्द बनता है । **अश्वः कस्मात्** ? मार्ग को व्यापन करता है—बड़ी तेजी से दौड़ता है । अश्व शक्ति का प्रतीक है ।

'सृ गतौ' इससे सरस् शब्द से मतुप् और ङीप् प्रत्यय करने से सरस्वती शब्द सिद्ध होता है । **'सरो सरस् नाम विज्ञानम्, विज्ञानं नाम विविधं यत् ज्ञानं तत् विज्ञानम्'** सर शब्द विज्ञान का वाचक है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[अग्निवाय्वादिपदैरीश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणम्]

प्र०—वेदानामारम्भेऽग्निवाय्वादिशब्दप्रयोगैः प्रसिद्धिर्जायते यद् वेदेषु भौतिकपदार्थानामेव तत्तच्छब्दैर्ग्रहणं भवति, यत आरम्भे खल्वीश्वरशब्दप्रयोगो नैव कृतोऽस्ति ?

उ०—'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति महाभाष्यकारेण पतञ्जलिमहामुनिना 'लण्'[1] इति सूत्रव्याख्यानोक्तन्यायेन सर्वसन्देहनिवृत्तिर्भवतीति। कुतः ? वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणग्रन्थेष्वग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्व्याख्यानस्य विद्यमानत्वात्। तथेश्वरशब्दप्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वथा सन्देहनिवृत्तिर्न भवति। ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते, तथा सामर्थ्यवतो राज्ञः[2] कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वर इति नामास्ति। तयोर्मध्यात् कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति शङ्कायां व्याख्यानत एव सन्देहनिवृत्तिर्भवत्यत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो ग्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति। एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद्दोषो भवतीति। अन्यथा कोटिशः श्लोकैस्सहस्रग्रन्थैरपि विद्यालेखपूर्त्तिरत्यन्तासम्भवास्ति। अतः कारणादग्न्यादिशब्दैर्व्यावहारिकपारमार्थिकयोर्विद्ययोर्ग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्पग्रन्थैश्च भवतीति मत्वेश्वरेणाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः। यतोऽल्पकालेन पठनपाठनव्यवहारेणाल्पपरिश्रमेणैव मनुष्याणां सर्वा विद्या-विदिता भवेयुरिति।

परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैस्सर्वविद्योद्देशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम्। तथा च येऽग्न्यादयः शब्दार्थाः संसारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वैरीश्वरप्रकाशः क्रियते। कुतः ? ईश्वरोऽस्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम्। एवं चतुर्वेदस्थविद्यानां मध्यात् काश्चिद्विद्या अत्र भूमिकायां संक्षेपतो लिखिताः, इतोऽग्रे मन्त्रभाष्यं विधास्यते। तत्र यस्मिन् मन्त्रे या या विद्योपदिष्टाऽस्ति, सा सा तस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे यथावत् प्रकाशयिष्यते[3]।

भावार्थ—प्र०—वेद के आरम्भ में अग्नि वायु आदि शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जगत् में जिन पदार्थों का नाम अग्नि आदि प्रसिद्ध है, उन्हीं का ग्रहण करना चाहिए, और इसीलिए लोगों ने उन शब्दों से संसार के अग्नि आदि पदार्थों को मान भी लिया है, नहीं तो उचित था कि जो-जो शब्द जहाँ-जहाँ होना चाहिए था, वहाँ-वहाँ उसी का ग्रहण करते, कि जिससे कभी किसी को भ्रम न होता, अथवा आरम्भ में उन शब्दों की जगह ईश्वर-परमेश्वरादि शब्दों ही का ग्रहण करना था ?

विविधप्रकार के ज्ञान का नाम विज्ञान है। 'सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चित्तौ सा सरस्वती'—जिसमें विविध विज्ञान अर्थात् शब्द, अर्थ, शब्दार्थ सम्बन्ध तथा प्रयोग का ज्ञान यथावत् होने से परमेश्वर का नाम सरस्वती है। उसकी अनन्त विद्यायुक्त वाणी का नाम भी सरस्वती है।

वेद के सभी शब्द यौगिक हैं। व्यवहार में आने पर वे रूढ़ बनते हैं। वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ, अतः उनके व्यवहार में आकर रूढ़ बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। शब्दों के यौगिक होने से तात्पर्य है उनका धातु-प्रत्यय के योग से निष्पन्न होना। धातु अनेकार्थक होते हैं। जब एक एक धातु के अनेक अर्थ होंगे तो उनसे निष्पन्न शब्दों के और उस शब्दसमुदाय से बने मन्त्रों का एक ही अर्थ

---

१. अष्टा० प्रत्याहार सूत्र ६ ॥ २. तथा च व्यवह्रियते—'नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मशास्त्रकाराः पठन्ति—गर्गाः शतं दण्ड्यन्तामिति'। महाभाष्य १।१।१॥

३. ग्रन्थकृता स्वजीवनावधौ यजुर्वेदस्य सम्पूर्णस्य ऋग्वेदस्य सप्तममण्डलस्य द्वाषष्टितमस्य सूक्तस्य द्वितीयमन्त्रपर्यन्तं भाष्यं विरचितम्। तेनावशिष्टस्यर्ग्वेदस्य सामाथर्वयोश्च कस्मिन् मन्त्रे सूक्ते वा का विद्योपदिष्टेति विज्ञानार्थं ग्रन्थकारकृतश्चतुर्वेदविषयानुक्रमो द्रष्टव्यः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उ०—यूं तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है, परन्तु जब व्याख्यानों के द्वारा मन्त्रों के पद-पद का अर्थ खोल दिया गया है, तब उनके देखने से सन्देह आप से आप ही निवृत्त हो जाते हैं. क्योंकि शिक्षा आदि अंग वेदमन्त्रों के पद-पद का अर्थ ऐसी रीति से खोलते हैं कि जिससे वैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का सन्देह शेष नहीं रह सकता, और जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी विना व्याख्यान के सन्देह की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्यवाले राजादि मनुष्यों का भी हो सकता है, और किसी-किसी की ईश्वर संज्ञा ही होती है तथा जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दों का ही प्रयोग करते, तो भी अनेक कोटि श्लोक और हजारह ग्रन्थ वेदों के बन जाने का सम्भव था, परन्तु विद्या का पारावार फिर भी नहीं आता, और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़-पढ़ा सकते। इस प्रयोजन अर्थात् सुगमता के लिए ईश्वर ने अग्न्यादि शब्दों का प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातें सिद्ध करनेवाली विद्याओं का प्रकाश किया है, कि जिससे मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्याओं को जान लें।

इसी मुख्य हेतु से सबके सुखार्थ परमकरुणामय परमेश्वर ने अग्न्यादि सुगम शब्दों के द्वारा वेदों का उपदेश किया है, इसलिए अग्न्यादि शब्दों के अर्थ जो संसार में प्रसिद्ध हैं, उनसे भी ईश्वर का ग्रहण होता है, क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर ही के जानने और जनाने के लिए हैं। इस प्रकार चारों वेदों में जो-जो विद्या हैं, उनमें से कोई-कोई विद्या तो इस वेदभाष्य का भूमिका में संक्षेप से लिख दी है, शेष सब इसके आगे जब मन्त्रभाष्य में जिस जिस मन्त्र में जिस-जिस विद्या का उपदेश है, सो-सो उसी-उसी मन्त्र के व्याख्यान में यथावत् प्रकाशित कर देंगे।

इति प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः

कैसे हो सकता है ? एकार्थक शब्दों से सर्वज्ञानमय वेद की रचना सम्भव नहीं, अतः अगत्या यौगिकवाद का आश्रय लेना अनिवार्य था। अनेकार्थक शब्द का नियामक प्रकरण होता है। "अभिधानेऽर्थवादः" (मीमांसा १।२।४६) जो अचेतन पदार्थों को सम्बोधन करके कहा गया है, वह अर्थवाद है। जहाँ वेद में इस प्रकार आये कि 'हे सोम तू ओषधियों में सर्वश्रेष्ठ है' इत्यादि वहाँ ऐसा आजाने से बातचीत करना नहीं कहा जाता। वह तो सोम ओषधि के उत्तम गुणों का वर्णन करना है, क्योंकि अचेतन के लिए श्रवणेन्द्रिय न होने से कोई सम्बोधन नहीं हो सकता। 'गुणादप्रतिषेधः स्यात्' (मी० १।२।४३) के अनुसार गुणवृत्ति होने से अर्थों में परस्पर विरोध नहीं होता। वेद में कहा है—'अदिति ही द्यौ है और अदिति ही अन्तरिक्ष है—यह गुणवृत्ति द्वारा अदिति शब्द से अनेकार्थ का बोध कराया गया है। लोक में भी एक शब्द अनेकार्थ का बोधक होता है, यथा हरि, सैंधव आदि अनेक अर्थों के बोधक हैं। पर ऐसा होने पर भी परस्पर विरोध नहीं माना जाता। इसी प्रकार वेद में भी अग्नि आदि शब्दों के अनेकार्थक होने से यथास्थान संगतिपूर्वक व्यवस्था कर लेनी चाहिए। जड़ अग्नि सुपथ और कुपथ में भेद नहीं कर सकती। इसलिए 'अग्ने नय सुपथा राये' में अग्नि शब्द से भौतिक अग्नि ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जिससे 'दुरितानि परासुव' और 'भद्रमासुव' की प्रार्थना की जा रही है उस 'सविता' शब्द से भौतिक सूर्य अभिप्रेत नहीं हो सकता।

वेद के प्रत्येक शब्द के यौगिक होने से उसके व्युत्पत्त्यर्थ को कहते हुए प्रसिद्ध अर्थ को कहना सार्थक है। जैसे 'वरुण' का अर्थ केवल राजा या परमात्मा न करके वरणीय, वरप्रदाता अथवा पाप-ताप निवारक राजा या परमात्मा करना चाहिए। उसी प्रकार 'अग्नि' शब्द का अर्थ न केवल परमात्मा करके उससे पूर्व 'आगे बढ़ानेवाला' मार्गदर्शक या कोई अन्य विशेषण (जिससे अग्नि शब्द के यौगिक अर्थ का बोध हो) अवश्य लगाना चाहिए। इसी में एकार्थवाची भिन्न-भिन्न नामों के प्रयोग का सामर्थ्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः

अथ निरुक्तकारः संक्षेपतो वैदिकशब्दानां विशेषनियमानाह—

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च । तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य ।। अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना । अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि । अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ।।

—निरु० अ० ७ । खं० १, २ ।।

वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः

वेदार्थ प्रक्रिया में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रथम, मध्यम तथा उत्तम पुरुष के प्रयोग में वेद में लौकिक नियम पूर्णतः लागू नहीं होते । वेदार्थदीपक निरुक्तशास्त्र में इस विषय में जो विशेष नियम निर्धारित किये हैं, उनकी उपेक्षा करने से पौराणिक एवं तदनुयायी पाश्चात्य विद्वानों ने अपने वेदभाष्यों के आधार पर यह कल्पना करडाली कि वेदों में अग्नि आदि जड़ पदार्थों की पूजा का विधान है । लोक तथा वेद के व्याकरणसम्बन्धी सामान्य तथा विशेष नियमों से अनभिज्ञ भाष्यकारों ने जाने-अनजाने इस प्रकार की अनेक भूलें की हैं ।

लौकिक पुरुष-नियम—पाणिनीय नियम के अनुसार अस्मद् उपपद होने पर क्रियाओं में उत्तमपुरुष का प्रयोग होता है, जैसे—**अहं पठामि, आवां पठावः, वयं पठामः,**—इत्यादि । युष्मद् उपपद होने पर मध्यमपुरुष का प्रयोग होता है, जैसे— **त्वं पठसि, युवां पठथः, यूयं पठथ** इत्यादि । अस्मद्-युष्मद् उपपदों से अन्यत्र प्रथमपुरुष का प्रयोग होता है, जैसे—**अग्निर्ज्वलति, वायुः प्रवहति, अश्वो धावति** इत्यादि । अभिप्राय यह है कि संस्कृत में अस्मद्-युष्मद् का प्रयोग चेतनों में ही हो सकता है, जड़ पदार्थों में नहीं और प्रथमपुरुष का प्रयोग सामान्य रूप से होता है । वेद में यह नियम ज्यों-का-त्यों चरितार्थ नहीं होता । जिन भाष्यकारों ने इस अन्तर को नहीं समझा, उन्होंने वेदार्थ करते समय अनेक भूलें की हैं । इन भाष्यकारों की भूलों का दिग्दर्शन कराते हुए ग्रन्थकार ने 'भाष्यकरण-शङ्कासमाधानविषयः' में लिखा—**"सायणाचार्येण वेदानां परमार्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः कर्मकाण्डपराः सन्तीत्युक्तं तदन्यथास्ति ।"**

'तास्त्रिविधा ऋचः' इस स्थल पर 'ऋच्' पद मन्त्रवाचक है । यतः इससे पूर्व उपक्रम में **'तद्दे वतः स मन्त्रो भवति'** कहकर पुनः उन्हीं मन्त्रों के तीन भेद दर्शाये हैं और तीनों भेदों को लक्षण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अयं नियमः वेदेषु सर्वत्र सङ्गच्छते। तद्यथा—मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति। केचित् परोक्षाणां, केचित् प्रत्यक्षाणां, केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः। तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति, अपरेषु मध्यमस्य, तृतीयेषूत्तमपुरुषस्य च। तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ स्तः। यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति तत्र मध्यमपुरुषयोगा भवन्ति। यत्र च स्तोतव्या अर्थाः परोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षास्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवतीति।

तथा उदाहरणों से बतलाकर उपसंहार में पुनः **'परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः'** में मन्त्र शब्द का प्रयोग किया है।

'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है' ग्रन्थकार की यह मान्यता सर्वथा सत्य एवं शास्त्रसम्मत है और भगवान् मनु के **'सर्वज्ञानमयो हि सः'** के अनुरूप है। सब विद्याओं के प्रकाशक होने से वेदमन्त्र **'ऋच्'** या **'ऋचा'** कहलाते हैं। वे मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं। कोई परोक्षरूप से अर्थ का प्रकाश करते हैं और कोई प्रत्यक्षरूप से अर्थों को कहते हैं। कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं जो जीवात्मा या परमात्मा को अधिकृत करके उनका प्रतिपादन करते हैं। ये क्रमशः **परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत** तथा **आध्यात्मिक** कहलाते हैं।

अभिप्राय यह है कि ऋचाओं अथवा वेदमन्त्रों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है परोक्ष देवता की स्तुति करनेवाले, प्रत्यक्ष देवता की स्तुति करनेवाले तथा अध्यात्म देवता की स्तुति करनेवाले। प्रत्यक्ष तो वह है जो सामने दीखता है—वह जड़ भी हो सकता है और चेतन भी। नदी-पर्वत-सूर्य-चन्द्रमा, पृथिवी आदि जड़ तथा प्रत्यक्ष हैं। इन्हें सम्बोधन कर स्तुति की गई, किन्तु जड़ को स्तुति का यह अर्थ नहीं कि जड़ में आत्मा है। सूर्य, चन्द्र आदि को सम्बोधित करके जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, वे उनमें जीवात्मा को मानकर नहीं पढ़े जाते। लोक-व्यवहार में मूर्ख से लेकर विद्वान् तक सभी को जड़ पदार्थों के विषय में चेतनवत् व्यवहार करते देखा जाता है। कवि लोग जड़ पदार्थों के विषय में ठीक उसी प्रकार गीत गाते हैं, जैसे चेतन के विषय में। वेद भी काव्य है—**'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'** का। यदि वेदमन्त्रों में अग्नि, सूर्य, चन्द्रादि जड़ पदार्थों के विषय में चेतनवत् व्यवहार मिलता है तो उससे मैक्समूलर आदि की यह कल्पना युक्तिसंगत नहीं मानी जा सकती कि प्राचीन आर्य इन्हें परमेश्वर या उसका प्रतीक मानकर उनकी उपासना करते थे। जैसे-सूर्य-चन्द्रादि जड़ तथा प्रत्यक्ष पदार्थों के सम्बन्ध में उन्हें सम्बोधित करके वेदों में उनके स्तुतिपरक मन्त्र हैं, वैसे ही माता, पिता, गुरु, राजा आदि चेतन तथा प्रत्यक्ष सत्ताओं के स्तुतिपरक मन्त्र वेदों में पाये जाते हैं।

परोक्ष वह है जो सामने न हो। इस अर्थ में अध्यात्मपरक भी परोक्ष है, परन्तु निरुक्तकार ने परोक्ष को परोक्ष तथा अध्यात्म दो स्वतन्त्र वर्गों में बाँटा है। अध्यात्म में आत्मा-परमात्मा आ जाते हैं, जो निश्चितरूप से परोक्ष हैं। जितना भी परोक्ष संसार है, उसमें आत्मा-परमात्मा से अतिरिक्त जो कुछ है, वह 'परोक्षकृताः' में आ जाता है। आत्मा-परमात्मा भी परोक्ष हैं, परन्तु उनके महत्त्व को देखते हुए उन्हें 'आध्यात्मिक' के नाम से एक अलग वर्ग में रक्खा गया है। आविष्कारों के कारण अनेक परोक्ष—अज्ञात पदार्थ प्रत्यक्ष या ज्ञात होकर परोक्ष से प्रत्यक्ष की कोटि में आ जाते हैं। 'सः' के सामने आने पर वह 'त्वम्' बनकर परोक्ष से प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु आत्मा-परमात्मा अज्ञात रहकर सदा परोक्ष-अध्यात्म की कोटि में ही रहते हैं। इस प्रकार परोक्षपरक को दो भागों में बाँटा जा सकता है—नितान्त परोक्ष, जैसे आत्मा-परमात्मा तथा सापेक्ष परोक्ष अर्थात् जो परोक्ष है, किन्तु प्रत्यक्ष हो सकता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्यायमभिप्रायः—व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति। तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च। अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदक-व्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति। तत्रेदं बोध्यम् जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरण-मात्रमेव तस्य प्रयोजनमिति।

इससे निरुक्तकार का तात्पर्य यह है कि स्तोता जिन शक्तियों को सम्बोधित करके अपनी कामना से उनकी स्तुति करता है उन शक्तियों को तीन कोटियों में रक्खा जा सकता है—प्रत्यक्ष शक्ति को लक्ष्य में रखकर स्तुति करना, परोक्ष शक्ति को लक्ष्य में रखकर स्तुति करना और अध्यात्म शक्ति को लक्ष्य में रखकर स्तुति करना। कामना का जो देवता है—लक्ष्य है—वह प्रत्यक्ष, परोक्ष या अध्यात्म हो सकता है। जब हम मन्त्र उच्चारण कर रहे होते हैं, तव कामना के उस देवता को सम्बोधित कर रहे होते हैं।

परोक्षकृत मन्त्रों में अदृश्य (अप्रत्यक्ष) अर्थों का वर्णन होता है। इन मन्त्रों में सातों नाम विभक्तियों का तथा आख्यात में प्रथमपुरुष का प्रयोग होता है। यास्काचार्य ने यहाँ उदाहरणार्थ ऋग्वेद से इन मन्त्रों को उद्धृत किया है—

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः॥—१०।८९।१०

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत॥—१।७।१

इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः।
दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाना जहुर्विश्वानि भोजना सुदासे॥—७।१८।१५

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥ —८।९८।१

सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते।
तन्तुं ततं परिसर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन॥—९।६९।६

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्रवक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्॥—१।३२।१

'इन्द्रे कामा असंयत इति'। यह वचन कहाँ है, यह ज्ञात नहीं।

दुर्गाचार्य ने इस प्रतीक का पूर्ण पाठ इस प्रकार दिया है—

इन्द्रे कामा असंयत दिव्यासः पार्थिवा उत। त्यमूषु गृणता नरः॥

इन मन्त्रों में क्रमशः सव नाम विभक्तियों का प्रयोग हुआ है। 'ईशे' 'पवते' 'ईरते' 'असंयत' पदों में प्रथमपुरुष का प्रयोग है, किन्तु 'गायत' 'अनूषत' 'प्रवोचम्' पदों में नहीं है। यहाँ ऐसा अपवाद-रूप में हुआ है जो आगे स्पष्ट हो जाएगा।

प्रत्यक्ष अर्थ को कहनेवाले प्रत्यक्षकृत मन्त्र मध्यमपुरुषयोगी होते हैं और 'त्वम्' इस सर्वनाम से युक्त होते हैं। जैसे—

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः। त्वं वृषन्वृषेदसि॥—१०।१५३।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्य्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः।

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः॥ —१०।१५२।४

प्रायः चेतन पदार्थों के लिए मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है, परन्तु कभी-कभी जड़ पदार्थों के लिए भी मध्यमपुरुष का प्रयोग होता है। वेद में ऐसा संवाद शैली के कारण होता है, तथापि यह मात्र औपचारिक होता है और लक्षणा से उनके समुचित उपयोग का संकेत करता है। इस रहस्य को न समझने के कारण अनेक वेदभाष्यकार वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा का विधान बताने लगते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **'धातोः कर्मणः समानकर्त्तृकादिच्छायां वा'** (अ० ३।१।७) के भाष्य में **'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्'** सारे पदार्थों में चेतनवदुपचार मानकर **'शृणोत ग्रावाण'** यह उदाहरण दिया है। इतना ही नहीं, **'दामहायनान्ताच्च'** (अ० ४।१।२७) के भाष्य में तो **'अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः'** स्पष्ट ही लिखा है। शबर स्वामी ने अपने मीमांसाभाष्य (पृ० १५५-५६) में लिखा है—

"नदीति नद्याः स्तुतिः। यज्ञसमृद्धये साधनानां चेतनसादृश्यमुपपादयितुकाम आमन्त्रणशब्देन लक्षयति। 'ओषधे त्रायस्वैनमिति'। शृणोत ग्रावाण इति। यत्राचेतनाः सन्तो ग्रावाणोऽपि शृणुयुः किं पुनर्विद्वांसोऽपि ब्राह्मणा इति।"

अर्थात् वेद में चेतनों के सादृश्य से, अचेतनों में चेतनवद् व्यवहार होता है। सम्बोधन-आमन्त्रण आदि से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वे चेतन हो गये। मुण्डन-संस्कार के अवसर पर जब बालक का पिता उस्तरे को सम्बोधित करके कहता है—**'स्वधिते मैनं हिंसीः'** तो वह **'मञ्चाः क्रोशन्ति'** की भाँति उस्तरे में चेतनता का आरोप करके वास्तव में उस्तरे से नहीं, उस्तरा हाथ में लिये हुए नाई से बात करता है।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में इस प्रकार के आरोप का अत्यन्त सुन्दर एवं भावपूर्ण उदाहरण मिलता है। मनमें पापभावना के उदय होने पर कोई सत्यसंकल्प साधक उसे किस प्रकार मार भगाये—यह बताने के लिए मन्त्र में कहा गया है—

परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षांन् वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः॥—६।४५।१

अये मन की पापवासना! दूर हो। क्यों तू मेरे सामने निन्दनीय कामों की प्रशंसा कर रही है। परे हट, मैं तुझे नहीं चाहता। मेरा मन तो घरलू कामकाज और सद्विचारों में रम रहा है। जा, कहीं जंगल में जाकर अपना शिकार ढूँढ।

पापभावना चेतन नहीं है, पर उस भावना को प्रश्रय देनेवाला स्वयं चेतन है। इसलिए वह उसे चेतन के रूप में सम्बोधित करके अपने शिवसंकल्प को और सुदृढ़ करने के लिए अपना मनोभाव सुदृढ़ कर रहा है।

यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि मन्त्रों में जहाँ स्तोता प्रत्यक्ष होते हैं और स्तोतव्य परोक्ष होते हैं वहाँ भी मध्यमपुरुष का प्रयोग होता है। ऐसे स्थलों में स्तोतव्य देवताओं को ध्यान में रखते हुए मन्त्र परोक्षकृत ही समझने चाहिएँ 'त्वम्' आदि शब्दों को देखकर भ्रमवश उन्हें प्रत्यक्षकृत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ :—अब इसके आगे वेदस्थ प्रयोगों के विशेष नियम संक्षेप से कहते हैं—जो-जो नियम निरुक्तकारादि ने कहे हैं, वे बराबर वेदों के सब प्रयोगों में लगते हैं—(तास्त्रिविधा ऋचः०) वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं—कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को, कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को। उसमें परोक्ष अर्थ के कहनेवाले मन्त्रों में प्रथमपुरुष, अर्थात् अपने और दूसरे के कहनेवाले जो ['सः'] अर्थात् 'सो' और 'वह' आदि शब्द

नहीं मानना चाहिए। इसके स्पष्टीकरण के लिए यास्क ने निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं—

मा चिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत। —८।१।१

क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभं। कण्वा अभि प्र गायत॥ —ऋ १।३७।१

उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं राये प्रमुञ्चता सुदासः।
राजा वृत्रं जङ्घनत्प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्याः॥ ऋ ३।५३।११

इन मन्त्रों में यद्यपि **विशंसत, रिषण्यत, स्तोत, शंसत, अभिप्रगायत, उपप्रेत, चेतयध्वम्, प्रमुञ्चत**— ये सब मध्यमपुरुष के प्रयोग हैं, परन्तु इनका सम्बन्ध **सखायः कण्वाः कुशिकाः** इन स्तोतृजनों के साथ है, स्तोतव्य देवताओं के साथ नहीं। इसलिए देवताओं के परोक्षकृत होने से उपर्युक्त मन्त्र परोक्षकृत ही समझे जाएँगे। इसी प्रकार पूर्वोल्लिखित **'इन्द्रमिद् गाथिनो .... अनूषत'** तथा **'इन्द्राय साम गायत'** में समझना चाहिए।

एवं **'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्** में **'प्रवोचम्'** का सम्बन्ध स्तोता के साथ है, स्तोतव्य देवता के साथ नहीं, अतः उत्तमपुरुष का प्रयोग होने पर भी वह मन्त्र परोक्षकृत ही है।

जिनका वर्ण्यविषय ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा होता है, वे मन्त्र आध्यात्मिक होते हैं और उत्तमपुरुषयोगी होते हैं। ऋग्वेद के इन्द्र-वैकुण्ठ सूक्त, लव सूक्त एवं वागाम्भृणीय सूक्तों में ऐसे ही मन्त्र हैं। इन्द्र वैकुण्ठ सूक्त का प्रथम मन्त्र यह है—

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम्॥ —१०।४८।१

यह परमात्मपरक मन्त्र का उदाहरण है। ऋग्वेद के मण्डल १०, सूक्त ११९ का देवता 'लव इन्द्र' है। **'लव इन्द्र'** का अर्थ है जीवात्मा, अतएव कई आचार्य इस सूक्त का देवता आत्मस्तुति मानते हैं। उसी सूक्त का जीवात्मपरक यह मन्त्र है—

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति। कुवित्सोमस्यापामिति॥

वेदों में परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत मन्त्र बहुत अधिक हैं, आध्यात्मिक मन्त्र थोड़े हैं। अर्थात्—वेद में परोक्षरूप या प्रत्यक्षरूप में अधिक तत्त्वज्ञान पाया जाता है, परन्तु आध्यात्मिकरूप में बहुत थोड़ा है।

वेदार्थ करते समय परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत तथा आध्यात्मिक मन्त्रों के उपर्युक्त नियमों का भलीप्रकार ध्यान करना चाहिए। इन नियमों की अवहेलना होने पर वेदमन्त्रों का वास्तविक अर्थ नहीं जाना जा सकता। जहाँ देवता के लिए प्रथमपुरुष का प्रयोग हो वहाँ समझलेना चाहिए कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं तथा उनकी क्रियाओं के अस्ति, भवति, करोति, पचति इत्यादि प्रयोग हैं। एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहनेवालों में मध्यमपुरुष, ['त्वम्'] अर्थात् 'तू' 'तुम' आदि शब्द और उनकी क्रिया के असि, भवसि, करोषि, पचसीत्यादि प्रयोग हैं। तथा अध्यात्म अर्थ के कहनेवाले मन्त्रों में उत्तमपुरुष ['अहम्'] अर्थात् 'मैं' 'हम'

किसी वस्तु का परोक्षरूप में वर्णन है। जहाँ मध्यमपुरुष का प्रयोग हो वहाँ किसी वस्तु का प्रत्यक्ष-रूप में प्रतिपादन समझ लेना चाहिए और जहाँ उत्तमपुरुष का प्रयोग हो वहाँ जीवात्मा या परमात्मा का प्रसंग समझना चाहिए एवं 'त्वम्' आदि का प्रयोग करते हुए प्रत्यक्ष रूप में जड़-चेतन दोनों का वर्णन हो सकता है, अतः यह आवश्यक नहीं कि ऐसे स्थानों में केवल चेतन का ही प्रतिपादन हो।

जब मेधाशक्ति के ह्रास के कारण प्राचीन विविध ज्ञानविज्ञानपरिगुम्फित वेदार्थ भूलने लगा तो ऋषियों ने विविध प्रक्रियानुसारी बहुविध प्राचीन वेदार्थ को आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन तीन प्रक्रियाओं के अन्तर्गत सीमित कर दिया। इस सन्दर्भ में दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्त टीका ४।१९ में लिखा है—**"मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेरध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेष्ववस्थानम्।"** वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया के अनुसार अधिदेव, अधिभूत तथा अध्यात्म एक त्रिक है और अधिदेव, अधियज्ञ तथा अध्यात्म दूसरा त्रिक है। दुर्गाचार्य ने दोनों त्रिकों को मिलाकर चार वाद के रूप में लिखा है।

ग्रन्थकार ने यहाँ लिखा है—**"सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति।'** अर्थात् सब मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं। **'धातूनामनेकार्थत्वादनेकार्थका मन्त्रा भवन्ति'**—धातुओं के अनेकार्थक होने से मन्त्रों के अनेक अर्थ होते हैं। **'चत्वारो शृङ्गा त्रयोऽस्य पादाः०** (ऋ. ४।५८।३) इस मन्त्र के विविध अर्थ प्रसिद्ध हैं, किन्तु इससे यह समझना कि प्रत्यक मन्त्र के इतने अर्थ होंगे, भूल होगी। मन्त्रों को अनेकार्थक मानते हुए भी ग्रन्थकार के मत में प्रत्येक मन्त्र अनेकार्थक नहीं होता। **'केचित् परोक्षाणां, केचित् प्रत्यक्षाणां, केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः,** ग्रन्थकार के इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सब मन्त्र सब प्रकार के अर्थों के बोधक नहीं होते। ऋ० भा० भू० के 'प्रतिज्ञाविषय' में ग्रन्थकार ने लिखा है—**"यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिक-व्यावहारिकयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते।"** अर्थात् जिस-जिस मन्त्र के श्लेषालङ्कारादि से सम्भव होगा, उसके दो-दो अर्थ किये जाएँगे। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक मन्त्र के अनिवार्यरूप से तीन अर्थ होना सम्भव नहीं।

इस सन्दर्भ में पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक का कथन है—"मन्त्रार्थ की तीन प्राचीन विधाएँ हैं—अधियज्ञ-अधिदैवत-अध्यात्म। निरुक्तकार ने अधिदैवत के साथ कहीं अधियज्ञ और कहीं अध्यात्म अर्थ दर्शाकर दो-दो अर्थ लिखे हैं। निरुक्त १।२० में लिखा भी है—**'याज्ञदैवते पुष्पफले देवताऽध्यात्मे वा।'** इस प्रकार दो-दो अर्थ तो प्रायः सम्भव हैं, परन्तु जो मन्त्र श्रौतयज्ञों में विनियुक्त हैं उनके आधिदैविक अर्थ के साथ आध्यात्मिक अर्थ भी सम्भव हैं। जो अध्यात्मपरक मन्त्र हैं उनका आधिदैविक अर्थ सम्भव हो सकता है। जो जीव और ब्रह्म के प्रतिपादक मन्त्र हैं उनका आधिदैविक जगत् में सूर्यपरक अर्थ किया जा सकता है; परन्तु यह विपरीत गति होगी। नियम है—**'यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे, न कि 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'।** अतः यह मानना उचित है कि याज्ञिक कर्म में विनियुक्तों का तीन प्रकार का अर्थ हो सकता है, आधिदैविक जगत् का व्याख्यान करनेवालों का दो प्रकार का और अध्यात्मवालों का एक प्रकार का। इसमें किसी प्राचीन परम्परा का लोप वा अतिक्रमण नहीं होता है।"

इस विवरण से स्पष्ट है कि प्रत्येक मन्त्र त्रिविधार्थबोधक नहीं होता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि शब्द और उनकी अस्मि, भवामि, करोमि, पचामि इत्यादि क्रिया आती हैं। तथा जहाँ स्तुति करने के योग्य परोक्ष और स्तुति करनेवाले प्रत्यक्ष हों, वहाँ भी मध्यमपुरुष का प्रयोग होता है।

यहाँ यह अभिप्राय समझना चाहिए कि—व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम अपनी-अपनी जगह होते हैं, अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम ही, चेतन में मध्यम वा उत्तम ही होते हैं सो यह तो लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है

वैदिक भाषा के कुछ सामान्य नियम

यों तो लौकिक संस्कृत और वैदिक भाषा का अन्तर बतानेवाला विस्तृत वैदिक व्याकरण है, पर वैदिक भाषा के कतिपय सामान्य नियम हम यहाँ दे रहे हैं, जो वेदमन्त्रों में बार-बार प्रयुक्त हुए हैं तथा जिनका ज्ञान वेद के अध्येता के लिए आवश्यक है।

१. लोक में उपसर्ग धातु से अव्यवहित-पूर्व प्रयुक्त होते हैं, यथा आगच्छति, परागच्छति आदि, परन्तु वेद में उपसर्गों का धातुरूप के परे तथा व्यवधान के साथ भी प्रयोग मिलता है। यथा, पर-प्रयोग-या दोहते प्रति वरं जरित्र (२१०), स नः पर्षद् अति द्विषः (२१५), ततस्त ईर्ष्या मुञ्चामि निर् ऊष्माणं दृतेरिव (३०३। पूर्व-व्यवहित प्रयोग—वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्तदर्शतम् (११), नि त्वामग्ने मनुर्दधे (१३), प्र मण्डूका अवादिषुः (१३९), वि ते मुञ्चामि रशनाम् (३२१)। पर-व्यवहित प्रयोग—अवेः इन्द्र प्रणो धियः (१४९); अगन्महि मनसा सं शिवेन (२२०)।×

२. वेद में लेट्लकार सर्वथा नवीन है, जो लोक में प्रयुक्त नहीं होता। उदाहरणार्थ, यज धातु के लेट् लकार प्रथम-पुरुष एकवचन परस्मैपद में—यजति, यजाति, यजत् यजात्, यजिषति, यजिषाति, यजिषत्, यजिषात्, याजिषति, याजिषाति, याजिषत्, याजिषात्—ये १२ रूप बनते हैं। आत्मनेपद में—यजते, याजते, यजिषते, यजिषाते, याजिषते, याजिषाते—ये ६ रूप होते हैं। असत् (३९), पारयात् (४०) असति (५८), जोषयासे (८७), यजाते, स्ववत्, पृणात् (११७), याचिषत् (१४०), करत् वशत् (१५६) आदि लेट् के रूप हैं। यह लकार विधि आदि अर्थों में आता है।↓

३. जाने के लिए (गन्तुम्), पढ़ने के लिए (पठितुम्) आदि तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वेद में धातु से परे से, असे, अध्यै, तवै, तवे आदि प्रत्यय लगते हैं, जो लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त नहीं होते।

× ते प्राग् धातोः। छन्दसि परेऽपि, व्यवहिताश्च (पा० १.४.८०-८२)।

↓ लिङर्थे लेट् (पा० ३.४.७), उपसंवादाशंकयोश्च (३.४.८), सिब्बहुलं लेटि (३.१.३४), सिब्बहुलं णिद् वक्तव्यः (वा०), इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३.४.९७), लेटोऽडाटौ (३.४.९४), स उत्तमस्य ३.४.९८), आत ऐ (३.४.९५), वैतोऽन्यत्र (३.४.९६)।

१. २१०=ऋ० १०।१३३।७ २१५=ऋ० १०।१८२।१
३०३=अ० ६।१८।३ ११=ऋ० १।३६।९
१३=ऋ० १।३६।१९ १३९=ऋ० ७।१०३।१
३२१=अ० ७।७८।१ १४९=ऋ० ८।२१।१२ २२०=यजु० २।२४

२. ३९=ऋ० १।१२५।२ ४०=ऋ० १।१४०।१२
५८=ऋ० २।२६।२; ११७=ऋ० ६।४७।१५; १४०=ऋ० ८।१।२०, १५६=ऋ० ८।९९।४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहाँ निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यमपुरुष का प्रयोग होता है और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है, दूसरा प्रयोजन नहीं है।

यातवे (४३), अन्वेतवे (१३२), निकर्तवे, परिशक्तवे (१५९), दोहसे (११२), अवसे (१६६) आदि इसके उदाहरण हैं।+

४. अदन्त नपुंसकलिंग शब्दों के प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन 'वनानि' 'ध्रुवाणि' आदि के नि या णि का लोप होकर 'वना,' ध्रुवा' आदि रूप भी वेद में बनते हैं। यथा—पदा [पदानि] (६), ता [तानि] (१०), सख्या [सख्यानि] (२३), विसदृशा जीविता [विसदृशानि जीवितानि] (३६), काव्या [काव्यानि] (४९), व्रता ध्रुवा [व्रतानि ध्रुवाणि] (५०), विभृता [विभृतानि] (१९७)।O

५. वेद में तु, नु, घ, मक्षु, कु, त्र आदि को, लोट् मध्यमपुरुष-बहुवचन के 'त' को, दो अच्वाले अदन्त तिङन्तों (क्रियापदों) को, निपातों को तथा क्वचित् अन्यत्र भी दीर्घ हो जाता है। यथा—घा (५), मक्षू (६८), यत्रा (१३८), दक्षता (१२९), विद्मा (१६१), एवा (८४), अच्छा (१४८), चना (१६०), रन्धया (२२), चकृमा (४७), मिनवामा (१०१)।□

६. लोक में अदन्त शब्दों के तृतीया-बहुवचन में भिस् को नित्य ऐस् होकर देवैः, भद्रैः आदि रूप बनते हैं, किन्तु वेद में भिस् को ऐस् कहीं हो जाता है, कहीं नहीं होता, अतः देवेभिः, भद्रेभिः आदि रूप भी पाये जाते हैं। यथा—वाजेभिः (१), तेभिः (४६), वृष्ण्येभिः (७३)।∴

७. वेद में सुपों के स्थान पर सु, सुपों का लुक्, पूर्व-सवर्णदीर्घ, आ, आत्, शे, या डा, ड्या,

---

+ तुमर्थे से-सेन्-असे-असेन्-क्से-कसेन्-अध्यै-अध्यैन्-कध्यै-कध्यैन्-शध्यै-शध्यैन्-तवै-तवेङ्-तवेनः। (पा० ३.४.९)।

O शेश्छन्दसि बहुलम्। (पा० ६.१.७०)

□ ऋचि तु-नु-घ-मक्षु-तङ्-कु-त्र-उरुष्याणाम् (पा० ६.३.१३३), द्व्यचोऽतस्तिङः (पा० ६.३.१३५), निपातस्य च (पा० ६.३.१३६), अन्येषामपि दृश्यते (६.३.१३७)।

∴ अतो भिस ऐस्। बहुलं छन्दसि (पा० ७.१.९, १०)।

३. ४३=ऋ० १।१५७।१, १३२=ऋ० ७।३३।८, १५९=ऋ० ८।७८।५
११२=ऋ० ६।४५।७, १६६=ऋ० ८।९९।८

४. ६=ऋ० १।२२।१८, १०=ऋ० १।३२।१५, २३=ऋ० १।७१।१०
३६=ऋ० १।११३।६, ४९=ऋ० २।५।३,
५०=ऋ० २।५।४, १९७=ऋ० १०।८०।४

५. ५=ऋ० १।१८।४, ६८=ऋ० ३।३१।२०, १३८=ऋ० ७।८२।२
१२९=ऋ० ७।३२।९, १६१=ऋ० ८।८१।२, ८४=ऋ० ४।५०।८
१४८=ऋ० १।८।२११९, १६०=ऋ० ७।७८।१०, २२=ऋ० १।५१।८
४७=ऋ० ११८५।८, १०१=ऋ० ५।४५।५

६. १=ऋ० १।३।१०, ४६=ऋ० १।१७०।२, ७३=ऋ० ३।४६।२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु इस नियम को नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदों के भाष्यकारों तथा उन्हीं के बनाये हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने भी जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है, सो

याच् और आल हो जाते हैं। यथा, वीर्येण के स्थान पर वीर्या (२५) में तृतीया विभक्ति को आ, ऊत्यै के स्थान पर ऊती (३४) में पूर्वसवर्णदीर्घ, अश्विनौ के स्थान पर अश्विना (४३) में औ को आ, आजौ के स्थान पर आजा (१३८) में सप्तमी विभक्ति को डा (आ) हुआ है। =

८. 'गच्छामः' (गच्छामस्) आदि उत्तमपुरुष-बहुवचन के अन्त में इ जुड़कर क्वचित् 'गच्छामसि' आदि रूप बनते हैं। यथा—अधीमसि (२५), वदामसि (१४८), परिव्ययामसि (२३९), नाशयामसि (३१७), उत्थापयामसि (३३१)। इन रूपों में अन्त में 'सि' देखकर 'गच्छसि' आदि के समान मध्यमपुरुष-एकवचन का भ्रम नहीं करना चाहिए।×

९. क्वचित् 'स्नात्वा', 'पीत्वा' आदि में अन्त के आ को ई होकर 'स्नात्वी', 'पीत्वी' (स्नान करके, पीकर) आदि रूप बन जाते हैं। यथा—हत्वा के स्थान पर हत्वी (६९)।+

१०. अकारान्त शब्दों में जस् के अन्त में असुक् (अस) जुड़कर 'ब्राह्मणाः' आदि के स्थान पर 'ब्राह्मणासः' आदि वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। यथा—वीरासः (१०४), देवासः (१२९), स्तोमासः (१४२), कामासः (१४८), प्रियमेधासः (१५७), उपस्तुतासः (१६९)।÷

११. एक ही पाद में आन् से परे कोई स्वर अ, इ, उ, आदि हो तो न् का लोप होकर आ को अनुनासिक हो जाता है। यथा—महाँ इन्द्रः (३) महाँ असि (११), देवाँ उषर्बुधः (१८), त्वावाँ इन्द्र (२६), वीराँ उत, विद्वाँ अस्य (५०), अन्तराँ अमित्रान् (६६), अत्याँ उत (६९), द्युम्नवाँ असि (९७), मधुमाँ उतायं, रसवाँ उतायं (११३), अश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्यून् (१२७)।→

= सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः। (पा० ७.१.३९)
× इदन्तो मसि। (पा० ७. १. ४५)
+ स्नात्व्यादयश्च। (पा० ७. १. ४९)
÷ आज्जसेरसुक्। (पा० ७. १. ५०)
→ दीर्घादटि समानपादे। (पा० ८. ३. ९.) आतोऽटि नित्यम्। (८. ३. ३.)

७. २५=ऋ० १।८०।१५, ३४=ऋ० १।१००।८
४३=ऋ० १।१५७।१, १३८=ऋ० ७।८२।२
८. २५=ऋ० १।८०।१५, १४८=ऋ० ८।२१।६, २३९=यजु० १७।५
३१७=अ० ७।२३।१, ३३१=अ० १०।१।२९
९. ६९=ऋ० ३।३४।९
१०. १०४=ऋ० ६।७।३, १२९=ऋ० ७।३२।९, १४२=ऋ० ८।४।३,
१४८=ऋ० ८।२१।६, १५७=ऋ० ८।६९।८, १६९=ऋ० ८।१०३।८
११. ३=ऋ० १।८।५, ११=ऋ० १।३६।९, १८=ऋ० १।४४।१
२६=ऋ० १।८१।५, ५०=ऋ० २।५।४, ६६=ऋ० ३।१८।२
६९=ऋ० ३।३४।९, ९७=ऋ० ५।२८।४
११३=ऋ० ६।४७।१, १२७=ऋ० ७।६।३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह उनकी भूल है और इसी से वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है, जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है।

✽ इति वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः ✽

---

१२. ऋग्वेद में दो स्वरों के मध्य में जब ड् या ढ् अक्षर आता है, तब उसके स्थान पर क्रमशः ळ् और ळ्ह हो जाते हैं। यथा—मृळ् (११५), अग्निमीळे (१५०), जिह्वोळ (१९८), हव्यवाळुत (२०६) में ड् को ळ् हो गया है। निषाळ्हः (३५), मीळ्हुषः (५१) में ढ् को ळ्ह हुआ है। दोनों ओर स्वर न रहने पर यह परिवर्तन नहीं होता। यथा 'ईड्यं' में ड् से पूर्व तो स्वर (ई) है, किन्तु ड् से परे य है, जो स्वर नहीं है, अतः यहां ड् को ळ् नहीं होता है।✽

१३. यजुर्वेद में ह, श, ष, स और र परे होने पर अनुस्वार को ँ हो जाता है। यथा—प्रत्युष्टꣳ रक्षः (२१७), सिꣳ ह्यसि (२२५) समितꣳ संकल्पेथाम् (२३४), अस्मभ्यꣳ शिवो भवो (२३९)। इसे कई लोग 'ग्वङ्' पढ़ते हैं, पर वस्तुतः इसका उच्चारण अनुस्वार और अनुनासिक के बीच का होता है। ∧

✽ द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः॥—(ऋक्प्रातिशाख्य १. ५२)

∧ अनुस्वारस्य ꣳ इत्यापद्यते ह श ष स रेफेषु। (शुक्लयजुः प्रातिशाख्य)।

१२. ११५=ऋ० ६।४७।१०, १५०=ऋ० ८।४३।२४, १९८=ऋ० १०।८३।५
२०६=ऋ० १०।१२४।१, ३५=ऋ० १।१०६।६, ५१=ऋ० २।८।१

१३. २१७=यजु० १।७, २२५=यजु० ५।१०,
२३४=यजु० १२।५७, २३९=यजु० १७।५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ स्वरव्यवस्थाविषयः संक्षेपतः

अथ वेदार्थोपयोगितया[1] संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। ते स्वरा द्विविधाः, उदात्तषड्जादिभेदात् सप्त सप्तैव सन्ति। तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते—

स्वयं राजन्त इति स्वराः[2]।

आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता, अणुता खस्य, कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य।[3]

संक्षेपतः स्वरव्यवस्थाविषयः

स्वयं राजन्त इति स्वराः (महाभाष्य १।२।२९)—वह वर्णात्मक शब्द जिसका उच्चारण आप से आप अर्थात् किसी की सहायता के बिना होता है, स्वर कहलाता है। व्याकरण में वह ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत तीन प्रकार से उच्चारित होता है। वेदमन्त्रों का उच्चारण उदात्तादि स्वरों में होता है। व्याकरण आदि के समान ही स्वर का ज्ञान भी वेद के अर्थ और निर्वचन के लिए आवश्यक है। क्या शिक्षा ग्रन्थों में, क्या प्रातिशाख्यों में, क्या निरुक्त में और क्या पाणिनीय व्याकरण में सर्वत्र स्वर को ध्यान में रखकर अर्थ करने की प्रेरणा की गई है, परन्तु यह स्वर वेदार्थ में किस प्रकार सहायक होता है—इसे बहुत कम लोग जानते हैं। अनेकार्थक धातुओं से निष्पन्न शब्दों की अनेकार्थता ही वेदमन्त्रों की अनेकार्थता का कारण है और मन्त्रों की अनेकार्थता ही वेदों की अनन्तता (अनन्ता वै वेदाः) में हेतु है, परन्तु मन्त्रों में पठित शब्दों का नियमन स्वरविज्ञान के बिना नहीं हो सकता।

---

१. उदात्तादयः स्वरा वेदार्थे कथमुपयोगिनो जायन्ते, तेषां परित्यागे च कथं वेदार्थो दूषितो भवतीति विषये युधिष्ठिर-महाभागैर्विरचिते वैदिकस्वरमीमांसाग्रन्थे 'वेदार्थ में स्वर की विशेष सहायता और उसकी उपेक्षा के दुष्परिणाम' नाम्नि अध्याये विस्तरेण प्रतिपादितम्। वस्तुतो 'वैदिकस्वरमीमांसाग्रन्थः' अस्यैव वाक्यस्य व्याख्यारूपो विद्यते।

२. महाभाष्य १।२।२९॥ ३. १।२।२९, ३०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैस्वर्य्येणाधीमहे, त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः, कैश्चिदुभयगुणैः। तद्यथा शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते––कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति।[1]

त एते तन्त्रेतरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति। उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते यः उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः[2]। अ० १। पा० २। उच्चैरुदात्त[3] इत्याद्युपरि[4]॥

वेदमन्त्रों पर अंकित उदात्तादि स्वरों का ज्ञान क्यों आवश्यक है, इसे स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने अपनी 'सौवर' नामक पुस्तक में लिखा है—"जब तक उदात्तादि स्वरों को ठीक-ठीक नहीं जानते तब तक लौकिक-वैदिक वाक्यों वा छन्दों का स्पष्ट, प्रिय उच्चारण, गान और ठीक-ठीक अर्थ भी नहीं जान-सकते और उच्चारण आदि के यथार्थ होने के बिना वैदिक शब्दों से यथार्थ सुखलाभ भी नहीं होता।"
—'सौवर' की भूमिका

इस प्रकार ग्रन्थकार के अनुसार उदात्तादि स्वरों के ज्ञान के चार प्रयोजन हैं—

(क) छन्दों का स्पष्ट व मधुर उच्चारण करना।

(ख) छन्दों का आरोह-अवरोह क्रम से गान करना।

(ग) वेदमन्त्रों का ठीक-ठीक अर्थ जानना।

(घ) यथार्थ उच्चारण से यथार्थ सुखलाभ करना।

इस सन्दर्भ में महाभाष्यकार की यह उक्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

इस प्रमाण की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—"जो शब्द अकारादि वर्णों के स्थान-प्रयत्न-पूर्वक उच्चारण-नियम और उदात्तादि स्वरों के नियम के विरुद्ध बोला जाता है, उसको मिथ्याप्रयुक्त कहते हैं, क्योंकि जिस अर्थ को जताने के लिए उसका प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ को वह शब्द नहीं कहता, किन्तु उससे विरुद्ध अर्थान्तर को कहता है। इसलिए उच्चारण किया हुआ वह शब्द अभीष्ट अभिप्राय को नष्ट करने से वाणी का वज्र बनकर यजमान अर्थात् शब्द-अर्थ की संगति करनेवाले को ही दुःख दे देता है अर्थात् प्रयोक्ता के अभिप्राय को बिगाड़ देना ही उसको दुःखदेना है।"

स्वरभेद से अर्थभेद हो जाता है। 'इन्द्रशत्रुः' शब्द में अन्तोदात्त स्वर है तो तत्पुरुष समास होगा और इस समस्त पद का अर्थ होगा—इन्द्रस्य शत्रुः = इन्द्रशत्रुः। यहाँ 'शत्रुः' शब्द यौगिकार्थ (शम-

---

१. महाभाष्य १।२।३१॥ २. महाभाष्य १।२।३३॥ ३. महा० १।२।२९॥

४. आदिशब्देनोत्तरसूत्राणि निर्दिश्यन्ते। उपर्युक्ताः पाठा यस्मिन् यस्मिन् सूत्रभाष्ये वर्तन्ते तेषां निर्देशो यथोद्धरणं कृतः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा षड्जादयः सप्त—'(स्वराः) षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥'
—पिङ्गलसूत्रे अ० ३। सू० ६४॥

एषां लक्षणव्यवस्था गान्धर्ववेद-प्रसिद्धा ग्राह्या। अत्र तु ग्रन्थभूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या।

भाषार्थ :—अब वेदार्थ के उपयोगहेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते हैं—जोकि उदात्त और षड्ज आदि भेद से चौदह १४ प्रकार के हैं। अर्थात् सात उदात्तादि और सात षड्जादि। उनमें से उदात्तादिकों के लक्षण जोकि महाभाष्यकार पतञ्जलि महामुनिजी ने दिखलाये हैं, उनको कहते हैं—

(**'स्वयं राजन्त०**) आप ही अर्थात् जोकि दूसरे के बिना सहाय प्रकाशमान हैं, वे स्वर कहाते हैं। (आयामः) अङ्गों को रोकना, (दारुण्यम्) वाणी को रूखा करना, अर्थात् ऊँचे स्वर से बोलना,

---

यिता शातयिता वा) का बोधक होने से उसका अर्थ होगा - इन्द्र को शान्त करनेवाला अथवा इन्द्र को मारनेवाला। इन्द्र सूर्य को कहते हैं, उसको आवृत करने से शान्त करनेवाला मेघ है। इन्द्रशत्रुः इस स्वर के कारण अर्थ होगा—इन्द्रशत्रु अर्थात् इन्द्र को शान्त करनेवाला उसका शत्रु मेघ बढ़े अथवा विजयी हो। और यदि यहाँ पूर्वपद का प्रकृति स्वर मानकर आद्युदात्त है तो इस शब्द में बहुब्रीहि समास होने से अर्थ होगा—इन्द्रः शत्रुः यस्य स इन्द्रशत्रुः अर्थात् इन्द्र=सूर्य जिसको शान्त करने अथवा नष्ट करनेवाला है, वह बढ़े। यहाँ तुल्ययोगितालंकार से वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन किया गया है। समस्त पद के अन्तोदात्त होने पर इन्द्र अर्थात् सूर्य की श्रेष्ठता सिद्ध होगी और आद्युदात्त होने पर मेघ की वृद्धि होगी।

ऋग्वेद (१०।१५।१४) की व्याख्या करते हुए ग्रीफिथ ने प्रथमा एकवचन 'स्वराट्' अन्तोदात्त) को 'स्वराट्' आद्युदात्त समझकर सम्बोधन का रूप मानकर व्याख्या की। ऐसी ही भूल विलसन ने **'प्रथमजा ब्राह्मणः'** का अनुवाद करने में की है। पौराणिक चतुर्मुख ब्रह्मा वेद में नहीं है। यदि ऐसा अभिप्रेत होता तो **'ब्रह्मणः'** मध्योदात्त (पुंल्लिग) होता, किन्तु स्वर बता रहा है कि यहाँ ब्रह्मणः आद्युदात्त होने से नपुंसकलिंग का रूप है। स्वर से लिङ्ग बदल जाता है। इसलिए, जिस प्रकार लौकिक संस्कृत में नपुंसक **'मित्रम्'** का अर्थ सुहृद् होता है, परन्तु पुंल्लिग में इसका अर्थ सूर्य होता है, इसी प्रकार वेद में भी समझना चाहिए। नपुंसक **'भूमन्'** सृष्टि का वाचक है तो पुंल्लिग **'भूमन्'** महिमा या बहुत्व का। स्वरभेद के कारण ही **'ते'** (तत् का प्रथमा बहुवचन) का अर्थ **'वे सब'** है तो युष्मदन्वादेश होने पर उसका अर्थ 'तेरा' या 'तुझे' होगा। **'मा'** का अर्थ निषेधात्मक **'न'** भी है और **'माम्'** (मुझको) भी है। कहाँ कौन-सा अर्थ अभीष्ट है, इसका निर्धारण स्वर से ही होगा। अनुदात्त होने पर वह सर्वनाम **'माम्'** का बोधक होगा और उदात्त होने पर निषेधात्मक **'न'** का वाचक होगा। स कर्त्ता और स कर्त्ता इन दोनों वाक्यों में दो प्रकार के स्वर हैं। पहले में लुट्लकार होने से अर्थ होगा - वह अगले दिन करेगा। दूसरे वाक्य में कर्तृवाच्य में तृच् प्रत्यय होने से अन्तोदात्त स्वर है, जिसके अनुसार अर्थ होगा—वह करनेवाला (पुरुष आदि)। इसी प्रकार अध्यापकपुत्रः तथा अध्यापकपुत्रः शब्दों में भी स्वरभेद से अर्थभेद है। बहुब्रीहि समास में 'अध्यापक है पुत्र जिसका' अर्थ होगा और तत्पुरुष समास में 'अध्यापक का पुत्र' अर्थ होगा। इस प्रकार बहुव्रीहिसमास में 'अध्यापक पुत्र' कहने से 'अध्यापक का पिता' अर्थ होगा तो तत्पुरुष समास में 'अध्यापक का पुत्र' अर्थ होगा। **'ज्येष्ठ'** और **'कनिष्ठ'** पद यदि आद्युदात्त होंगे तो उनका अर्थ आकार में छोटे-बड़े होगा, परन्तु यदि अन्तोदात्त होंगे तो 'आयु में छोटे-बड़े होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और (अणुता) कण्ठ को भी रोक देना, ये सब यत्न शब्द के उदात्त विधान करनेवाले होते हैं, अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल बोला जाता है। तथा (अन्वव०) गात्रों का ढीलापन, (मार्दव०) स्वर की कोमलता, (उरुता) कण्ठ को फैला देना, ये सब यत्न शब्द के अनुदात्त करनेवाले हैं। (त्रैस्वर्य्येणा०) हम सब लोग तीन प्रकार के स्वरों से बोलते हैं अर्थात् कहीं उदात्त, कहीं अनुदात्त और उदात्तानुदात्त, अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार अक्षरों का उच्चारण करते हैं।

'सुकृत' शब्द जब आद्युदात्त होगा तो 'अच्छी प्रकार किया हुआ' के अर्थ में विशेषण होगा, परन्तु जब अन्तोदात्त होगा तो वह 'अच्छा कार्य' के अर्थ में संज्ञा होगा।[१-२]

स्वरभेद की भाँति उच्चारण स्थान से भी अर्थभेद हो जाता है, जैसे—**सकलम्-शकलम्, सकृत् शकृत्, पलाशः-पलाषः** इत्यादि में अर्थभेद लोकविदित है। ग्रन्थकार ने स्वर आदि का ज्ञान अनिवार्य बताते हुए और उसके अभाव में अनर्थ होने का संकेत करते हुए लिखा है—"जो स्वरव्यवस्था का बोध न हो तो अर्थों का लौट-पौट व्यभिचार होने से बड़ा अँधेर फैल जावे ···। उदात्तादि स्वरज्ञान के बिना अर्थ की भ्रान्ति नहीं छूटती।"—सौवर भूमिका

स्वर अपने कौशल से किस प्रकार अर्थ को पुष्ट करते हैं, इसे एक लौकिक उदाहरण से समझा जा सकता है। एक व्यक्ति के पास एक ही समय में एक भिखारी और एक महाजन आते हैं। एक उससे भीख माँगता है, जबकि दूसरा अपना ऋण के तौर पर दिया हुआ पैसा वापस माँगता है, जबकि मुख से एक जैसा शब्द 'दीजिए' निकालने पर भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक के स्वर में करुणा है तो दूसरे के स्वर में दर्प अथवा क्रोध है। दोनों के स्वर में अन्तर जानना हो तो उन्हें सारंगी के स्वरों में निकालकर देखिए, तुरन्त मालूम हो जाएगा कि दोनों की सरगम भिन्न-भिन्न हैं। आजकल संगीत लिपि जिसे अंगरेजी में नोटेशन कहते हैं, सर्वत्र प्रचलित है। वेदमन्त्रों पर अंकित स्वर अपने शब्द के अर्थ का निश्चय कराने में सहायक होते हैं। संगीत की भाषा में—

उच्चैर्निषादगान्धारौ नीचैर्ऋषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः॥—याज्ञवलक्यशिक्षा

जो निषाद और गान्धार स्वर हैं, वेद में वे उदात्त स्वर हैं, ऋषभ और धैवत अनुदात्त और शेष षड्ज, मध्यम और पञ्चम स्वरित हैं। अनुदात्त स्वर का बोध नीचे पड़ी '–' रेखा से होता है, स्वरित का ऊपर खड़ी '।' रेखा से। उदात्त बिना चिह्न के होता है।

उदात्तादि स्वरों के सात भेद हैं—**उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त** और **एकश्रुति**। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—(१) **उदात्त**—इस स्वर का लक्षण पाणिनिमुनि ने यह किया है—**उच्चैरुदात्तः**। (अ० १।२।२९) अर्थात् मुख के किसी एक स्थान में जिस 'अच्' (स्वर वर्ण) का ऊँचे स्वर से उच्चारण हो, वह 'अच्' उदात्तसंज्ञक होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसकी कुछ अन्य विशेषताएँ भी बताई हैं। जैसे—

आयामः—शरीर के सब अवयवों को सख्त कर लेना अर्थात् ढीले न रखना।

१—द्रष्टव्य वैदिक स्वरमीमांसा—युधिष्ठिरमीमांसककृत

२—वर्त्तमान में पाणिनिमुनिकृत शिक्षासूत्रों के दो संस्करण उपलब्ध हैं—
महर्षि दयानन्दकृत 'वर्णोच्चारणशिक्षा' तथा श्री युधिष्ठिरमीमांसककृत 'शिक्षासूत्राणि'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे श्वेत और काला रङ्ग अलग-अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिलाकर जो रङ्ग उत्पन्न हो उसका नाम तीसरा होता है, अर्थात् खाखी वा आसमानी, इसी प्रकार यहाँ भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग-अलग हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो उसको स्वरित कहते हैं। विशेष अर्थ के दिखलाने-

---

दारुण्यम्—शब्द के उच्चारण के समय सख्त, रूखा स्वर निकालना अर्थात् कोमलता न होना।

अणुता खस्य—कण्ठविवर को रोककर बोलना, अर्थात् फैलाना नहीं। ऐसे उच्चारण प्रयत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त होता है।

(२) **अनुदात्त नीचैरनुदात्तः।** (अ० १।२।३०) मुख के किसी स्थान में जिस 'अच्'=स्वर का नीचे प्रयत्न से उच्चारण किया जाता है, उसको अनुदात्त स्वर कहते हैं। महाभाष्य में अनुदात्त के उच्चारण में जिन विशेषताओं का कथन किया गया है, वे इस प्रकार हैं—

अन्वसर्गः—अनुदात्त स्वरों के उच्चारण के समय शरीर के अवयवों को शिथिल कर देना।

मार्दवम्—कोमलता से शब्दों का उच्चारण करना।

उरुता खस्य—कण्ठविवर को कुछ फैलाकर बोलना अर्थात् कण्ठविवर को संकुचित न करना। अनुदात्त स्वर का चिह्न वर्णों के नीचे पड़ी रेखा होती है, जैसे— '_औ_प_ग_वः'। इस शब्द में प्रथम तीनों वर्ण अनुदात्त हैं।

(३) **स्वरित—समाहारः स्वरितः** (अ० १।२।३१) जिस स्वर में उदात्त और अनुदात्त दोनों का मेल हो, उस स्वर को स्वरित कहते हैं। स्वरित का स्वरचिह्न उर्ध्वरेखात्मक होता है। जैसे—क्वं।

वेदमन्त्रों का उच्चारण उदात्तादि तीन स्वरों में होता है। कहीं उदात्त स्वर, कहीं अनुदात्त स्वर और कहीं उदात्तानुदात्त=स्वरित स्वर होता है। जैसे श्वेत तथा श्याम रंग पृथक्-पृथक् होते हैं परन्तु इन दोनों को मिलाकर जो रंग बन जाता है, उसको न तो श्वेत कह सकते हैं और न श्याम। उसको इसी नाम से कल्माष=खाखी अथवा सारंग या आसमानी रंग कहते हैं। इसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त के मेल से जो उच्चारण होता है, उसे स्वरित कहते हैं।

इस स्वरित स्वर के सम्बन्ध में यह शङ्का उपस्थित होती है कि पहले उदात्त का उच्चारण होता है और तत्पश्चात् अनुदात्त का, या पहले अनुदात्त का उच्चारण होता है और तत्पश्चात् उदात्त का, क्योंकि जैसे—दूध और पानी के मिलने पर यह नहीं पता चलता कि दूध में पानी मिला है या पानी में दूध; अथवा इस मिश्रण में कितना दूध है और कितना पानी; अथवा किधर दूध है और किधर पानी।

इस शङ्का के समाधान केलिए पाणिनिमुनि ने यह सूत्र बनाया है—**तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्'** (अ० १।२।३२) अर्थात् उदात्तानुदात्तवाले स्वरित के तीन भेद होते हैं—**ह्रस्वस्वरित, दीर्घस्वरित** तथा **प्लुतस्वरित।** इन सभी में आदि में आधी मात्रा उदात्त होती है और शेष सब अनुदात्त। ह्रस्वस्वरित में आदि में आधी मात्रा उदात्त होती है और शेष सब अनुदात्त, क्योंकि ह्रस्वस्वरित एकमात्रिक स्वर होता है, जैसे क्वं। दीर्घस्वरित में दो मात्राएँ होती हैं। उनमें आदि में आधी मात्रा उदात्त होती है, शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त। जैसे कन्या। इसी प्रकार प्लुतस्वरित में तीन मात्राएँ होती हैं। उनमें आदि में आधी मात्रा उदात्त और शेष ढाई मात्रा अनुदात्त। जैसे— शुक्कि३।

इन उदात्तादि स्वरों में भी उच्चता और नीचता गुण सापेक्ष होती है, अर्थात् जिसे हम उदात्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले 'तरप्' प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं, अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति ॥'

उक्त रीति से इन सातों स्वरों को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए।

कहते हैं उसका भी विशेष अर्थ दिखाने के लिए आतिशायिक 'तरप्' प्रत्यय लगाकर भेद प्रकट होता है। इसी प्रकार अनुदात्त का भी। इससे अन्य दो भेद हो जाते हैं—

(४) उदात्ततर—**'उच्चैस्तरां वा वषट्कारः'** (अ० १।२।३५) सूत्र इसका बोधक है।

(५) अनुदात्ततर—**'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः'** (अ० १।२।४०) सूत्र इसका बोधक है।

(६) स्वरितोदात्त—स्वरित में जो उदात्त का मिश्रण है, वह अमिश्रित उदात्त से विशेष होता है, अतः उसका नाम 'स्वरितोदात्त' होता है। **'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्'** (अ० १।२।३२) सूत्र इसका बोधक है।

(७) एकश्रुति—इस स्वर का अभिप्राय यह है कि जिस उच्चारण में उदात्त, अनुदात्त, स्वरितादि स्वरों के विभाग के विना उच्चारण होता है, उसे एकश्रुति स्वर कहते हैं। इस स्वर का विधान पाणिनिमुनि के निम्नलिखित सामान्य सूत्रों से हुआ है—

१—**यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु।** (अ० १।२।३४) हवन में जिन मन्त्रों का उच्चारण होता है, उनमें उदात्तादि स्वरों की एकश्रुति होती है, परन्तु जप करने में 'न्यूङ्ख' नामक स्तोत्रों तथा सामवेद के मन्त्रों में एकश्रुति नहीं होती है, अर्थात् हवन में सामवेद को छोड़कर ऋग्वेदादि तीन वेदों के मन्त्र स्वरभेद के बिना ही पढ़ने चाहिए।

२—**विभाषा छन्दसि।** (अ० १।२।३६) वेदमन्त्रों का सामान्यरूप से उच्चारण करने में भी विकल्प से एकश्रुति होती है।

३—**स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्:** (अ० १।२।३९) वेदमन्त्रों के संहितापाठ—सन्धि-सहित पाठ करने में स्वरित से परे एक, दो अथवा अनेक अनुदात्तों को भी एकश्रुति स्वर होता है।

४—**एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ:** (अ० १।२।३३) लोकभाषा में भी जब दूर से बल लगाकर बुलाते हैं, तब एकश्रुति स्वर होता है, अर्थात् उदात्तादि के विभाग के विना उच्चारण किया जाता है।

छन्दशास्त्र में महर्षि पिङ्गल लिखते हैं **स्वराः षड्जादयः** (छन्दो० ३।६४) इस विषय में भरतमुनि ने लिखा है—

> **षड्ज-ऋषभगान्धारा मध्यमः पञ्चमस्तथा।**
> **धैवतश्च निषादश्च स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः॥**

आप्टे—संस्कृत कोश में अमरकोश के नाम से उद्धृत एक अन्य श्लोक में कहा—

> **निषादर्षभगान्धाराः षड्जमध्यमधैवताः।**
> **पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः।**

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद—ये सात स्वरों के नाम हैं। उदात्तादि स्वरों की सहायता से ही षड्जादि स्वर गानविद्या में उपयोगी होते हैं। ग्रन्थकार ने यहाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब षड्जादि स्वरों को लिखते हैं, जोकि गानविद्या के भेद हैं—(स्वराः षड्जऋषभ०) अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इनके लक्षण व्यवस्थासहित जोकि गान्धर्ववेद अर्थात् गानविद्या के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं, उनको देखलेना चाहिए। यहाँ ग्रन्थ बढ़जाने के कारण नहीं लिखते।

✽ इति स्वरव्यवस्थाविषयः संक्षेपतः ✽

इनके लक्षण न देकर गानविद्या के ग्रन्थों से जानने का संकेत किया है। याज्ञवल्क्यशिक्षा के अनुसार षड्जादि में निषाद और गान्धार तो उदात्त के लक्षण से, ऋषभ और धैवत अनुदात्त के लक्षण से तथा षड्ज, मध्यम और पञ्चम ये तीनों स्वरित के स्वर से गाये जाते हैं।

छन्दः शास्त्र की टीका में नारदमुनि का निम्न श्लोक षड्जादि स्वरों के लक्षण के रूप में लिखा मिलता है—

षड्जं रौति मयूरोऽपि वृषो नदति चर्षभम्।
अजा विरौति गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम् ॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम्।
अश्वश्च धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः।

अर्थात् मयूर की तरह षड्ज स्वर, वृष=बैल की तरह ऋषभ स्वर, अजा (बकरी) की तरह गान्धार स्वर, क्रौञ्च पक्षी की तरह मध्यम स्वर, कोयल पक्षी की तरह पञ्चम स्वर, घोड़े की तरह धवैत स्वर और हाथी की तरह निषाद स्वर का उच्चारण करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि षड्जादि स्वरों की शिक्षा उपर्युक्त पशु-पक्षियों की ध्वनियों की अनुकृति से ली है।

वैदिक गायत्री आदि छन्दों का निर्णय संगीत-शास्त्र के विशेषज्ञों ने षड्जादि स्वरों के आश्रय से भी किया है। जैसे—गायत्री छन्द षड्जस्वर में, उष्णिक छन्द ऋषभस्वर में, अनुष्टुप छन्द गान्धार-स्वर में, बृहती छन्द मध्यमस्वर में, पंक्ति छन्द पञ्चमस्वर में, त्रिष्टुप् छन्द धैवतस्वर में और जगती छन्द निषादस्वर में गाया जाता है। इसी बात की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार ने 'प्रश्नोत्तर विषय' में लिखा है—"तथा कौन कौन-सा छन्द किस-किस स्वर में गाना चाहिए, इस बात को जनाने के लिए उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं। जैसे—गायत्रो छन्दवाले मन्त्रों को षड्जस्वर में गाना चाहिए। ऐसे ही और भी बता दिये हैं जिससे मनुष्य लोग गानविद्या में भी प्रवीण हों। इसीलिए वेद में प्रत्येक मन्त्र के साथ उनके षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ व्याकरणनियमविषयः

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति, त इदानीं प्रदर्श्यन्ते । तद्यथा—

वृद्धिरादैच् ।।१।। अ० ।१।१।१।।

अथ व्याकरणनियमविषयः

(१) उभयसंज्ञान्यपिच्छन्दांसि दृश्यन्ते ।। (महाभाष्य १।१।३।१)

महर्षि पाणिनि ने आ कडारादेका संज्ञा (अ० १।४।१) एका संज्ञा का अधिकार करके भसंज्ञा और पदसंज्ञा का विधान किया है। व्याकरण के नियमानुसार जहाँ भसंज्ञा होती है, वहाँ पदसंज्ञा नहीं होती । भसंज्ञा के कार्यक्षेत्र को छोड़कर पदसंज्ञा का सन्निवेश होता है, किन्तु वैदिक प्रयोगों में इन दोनों का एकत्र भी सन्निवेश देखा जाता है ।

भसंज्ञा का स्वरूप—(यचि भम् अ० १।४।१८) यह सूत्र पदसंज्ञा का अपवाद है। यकारादि और अजादि (स्वरादि) जो सर्वनामस्थान भिन्न स्वादि प्रत्यय हैं, उनके परे होने पर पूर्व को भसंज्ञा होती है। [स्वादि प्रत्यय कौन से हैं ? अष्टाध्यायी के चतुर्थाध्याय के प्रथमपाद के प्रारम्भ में (स्वौजस्०) स्वादि प्रत्ययों का विधान है, वे और समस्त चतुर्थाध्याय एवं पंचमाध्याय में जितने भी प्रत्ययविधान किये हैं, उन्हें 'स्वादि' शब्द से ग्रहण किया जाता है। सर्वनामस्थान से अभिप्राय है—नपुंसकलिंग से अन्यत्र सु, औ, जस् अम्, औट् प्रत्ययों तथा नपुंसक में जस्-शस् के स्थान में होनेवाले 'शि' को सर्वनामस्थान संज्ञा है ।]

जैसे **गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः** । यहाँ (गर्ग+यञ्) यकारादि प्रत्यय के परे होने पर 'गर्ग' की भसंज्ञा होती है और भसंज्ञा के कारण **'यस्येति च'** सूत्र से भसंज्ञक के अन्त्य अकार का लोप यहाँ होकर रूप बना है। इसी प्रकार **'दक्षस्य' अपत्यं दाक्षिः**। (दक्ष+इञ्) यहाँ भी अजादि प्रत्यय से पूर्व को भसंज्ञा होने से अकार लोप हुआ है।

पद-संज्ञा का स्वरूप (१) सुप्तिङन्तं पदम् ।। (अ० १।४।१४) स्वादि प्रत्ययान्त और तिङ् प्रत्ययान्त शब्दों की पद संज्ञा होती है। जैसे—**सुबन्त—ब्राह्मणः । तिङन्त—पचन्ति ।**

(२) स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ।। (अ० १।४।१७)

सर्वनामस्थान से भिन्न स्वादिप्रत्ययों के परे होने पर पूर्व की पदसंज्ञा होती है। जैसे—**राजभ्याम् । राजभिः । राजत्वम्** । इनमें पूर्व की पद-संज्ञा होने से 'राजन्' शब्द के नकार का लोप हुआ है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते। तद्यथा—स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन, पदत्वात् कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति' इति भाष्यवचनम्।

अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्य्यद्वयं वेदेष्वेव भवति, नान्यत्र ॥१॥

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥२॥ अ० १।१।५६॥

प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न काञ्चित् प्राधान्येन विभक्तिमा-श्रयन्ति। यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या इति भाष्यम्।

अनेनार्थप्राधान्यं भवति, न विभक्तेरिति बोध्यम् ॥२॥

'वृद्धिरादैच्' सूत्र भी यहाँ वैदिक नियम का एक विशेष उदाहरण है। इस सूत्र में पद के अन्तिम चकार को (चोः कुः) सूत्र से कुत्व की प्राप्ति है, अतः चकार के स्थान में ककार होना चाहिए, किन्तु सूत्रों में भी छन्दोवत् कार्य मानकर भसंज्ञा होने से पदसंज्ञा का कार्य कुत्व नहीं हुआ और (वृद्धिरादै-अदेङ् गुणः) यहाँ पदसंज्ञा का कार्य जश् हो गया है।

दोनों संज्ञाओं के होने का दूसरा उदाहरण यह दिया है—'स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन।' इस वाक्य में 'ऋक्वता' ही उदाहरण है। इसमें प्रकृति-प्रत्यय का विभाग इस प्रकार है—

ऋच्+मतुप्+टा (ऋच्+वत्+आ)

इस उदाहरण में मतुप् प्रत्यय से पूर्व की (स्वादिष्वसर्वनामस्थाने) सूत्र से पद संज्ञा है। जिसके फलस्वरूप (चोः कुः) सूत्र से चकार के स्थान पर ककार हो गया है। इसके बाद पदसंज्ञा का ही एक अन्य कार्य प्राप्त है—जश्त्व जिसके कारण ककार को गकार हो जाना चाहिए। वह जश्त्व क्यों नहीं हुआ, उसका समाधान यह दिया है भत्वाज्जश्त्वं न भवति, अर्थात् यहाँ पदसंज्ञा और भसंज्ञा दोनों का सन्निवेश है, अतः भसंज्ञा होने से पदसंज्ञा को मानकर प्राप्त जश्त्व नहीं हुआ है।

प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति॥ (महाभाष्य १।१।७।५६)

व्याकरण महाभाष्य में इस निगम का (स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (अ० १।१।५६) सूत्र पर निर्देश किया है। यह नियम इस सूत्र के 'अनल्विधौ' पद में सप्तमी से भिन्न विभक्तियों का भी निर्देश कराता है।

संस्कृत-भाषा का एक सामान्य नियम है "अपदं न प्रयुञ्जीत" अर्थात् किसी भी शब्द का प्रयोग बिना विभक्ति के नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए विभक्ति का प्रयोग करना तो एक अपरिहार्य नियम है, परन्तु जिन शब्दों में एक से अधिक विभक्तियों की आवश्यकता है और एक साथ अनेक विभक्तियों का प्रयोग किया नहीं जा सकता ऐसे प्रयोगों के लिए महर्षि पतञ्जलि ने यह विशिष्ट नियम बनाया है। इस नियम के अनुसार वैदिक-पदों में जिस-जिस विभक्ति का प्रयोग मिलता है, उसी विभक्ति में उसका अर्थ किया जाए, यह बात नहीं है। उनमें अर्थतन्त्र=शब्दार्थ की मुखयता होती है और प्रसंगानुसार जिस-जिस विभक्ति से अर्थ की संगति होती है, उसी-उसी विभक्ति का प्रश्रय करना चाहिए। वेदार्थ-दीपक निरुक्त में महर्षि यास्काचार्य ने भी इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखा है—

यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् ॥ (निरुक्त २।१।१)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न वेति विभाषा ॥३॥ अ० १।१।४४॥

'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः इति' भाष्यसूत्रम्[1]। लौकिकवैदिकेषु शब्देषु सार्वत्रिकः समानोऽयं नियमः ॥३॥

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥४॥ अ० १।२।४५॥

'बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति। तद्यथा—इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः, कन्दुः, कोष्ठः, कुसूल इति। एकश्च शब्दो बह्वर्थः। तद्यथा—अक्षाः, पादाः, माषाः'। सार्वत्रिकोऽयमपि नियमः। यथाग्न्यादयः शब्दा वेदेषु बह्वर्थवाचकास्त एव बहव एकार्थाश्च ॥४॥

ते प्राग्धातोः ॥५॥ अ० १।४।८०॥

'छन्दसि परव्यवहितवचनं च।' अनेन वार्तिकेन गत्युपसर्गसंज्ञकाः शब्दाः क्रियायाः परे पूर्वे दूरे व्यवहिताश्च भवन्ति। यथा आयातमुपनिष्कृतम्,[2] उपप्रयोभिरागतम्[3] ॥५॥

अर्थात् वैदिक पदों में अर्थ की संगति के अनुसार विभक्तियों का परिवर्तन कर लेना चाहिए। वैदिकपदों के निर्वचन करनेवाले को इस नियम पर विशेष ध्यान देना चाहिए। ग्रन्थकार ने इस नियम की पुष्टि में लौकिक तथा वैदिक सर्वत्र प्रयुक्त होनेवाला एक अन्य सामान्य नियम भी दिखाया है—

अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः ॥ (महा० १.१।६।४४)

यह नियम (न वेति विभाषा अ० १।१।४४) सूत्र पर निर्दिष्ट है। लोक तथा वेद में शब्दों का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि उनसे अर्थ का बोध होवे। अर्थ का बोध कराना ही शब्दों का मुख्य प्रयोजन होता है। यदि कहीं अर्थ के स्थान पर अनर्थ बोध होता है, तो उन शब्दों का प्रयोग करना ही निरर्थक है। ग्रन्थकार ने इस नियम का पालन अपने वेद-भाष्य में पूर्णतः किया है। उदाहरणार्थ—

अग्ने हव्याय वोढवे ॥ (यजु० १५।३१॥)

यहाँ 'हव्याय' पद में द्वितीया के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होने से अर्थ के अनुसार विभक्ति का परिवर्तन किया गया है।

(३) यह नियम लोक और वेद में सामान्य रूप से प्रवृत्त होता है। बहुत-से शब्द पर्यायवाची होते हैं, वे एक ही अर्थ का बोध कराते हैं, और बहुत-से शब्द विभिन्नार्थक होते हैं, जो बहुत अर्थों के वाचक होते हैं। जैसे—इन्द्र, शक्र, पुरुहूत और पुरन्दर शब्द पर्यायवाची हैं और कन्दु, कोष्ठ एवं कुसूल शब्द भी पर्यायवाची हैं इसी प्रकार अग्नि, वायु, इन्द्र आदि शब्द एक परमेश्वर तथा सांसारिक भौतिक पदार्थों के भी वाची होने से अनेकार्थक हैं। अक्षादि शब्दों के भी विभिन्न अर्थ हैं, जैसे—

(१) अक्ष=जुआ खेलने के पासे, इन्द्रिय, धुरी, प्राण, वेदज्ञान, विद्वान् इत्यादि।

---

१. वृत्तिसूत्रशब्देन पाणिनीयसूत्राणि लक्ष्यन्ते, एवं भाष्यसूत्रशब्देन वार्तिकानि। एतस्मिन् विषयेऽस्माभिः स्वीये 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थे विस्तरेण लिखितं तत्तत्रैव द्रष्टव्यम् (भाग १ पृष्ठ २८२, २८३ सं० २।)

२. ऋ० १।२।६॥ ३. ऋ० १।२।४॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ :—अब चारों वेदों में व्याकरण के जो-जो सामान्य नियम हैं, उनको यहाँ लिखते हैं - (उभ०) वेदों में एक शब्द के बीच में 'भ' तथा 'पद' ये दोनों संज्ञा होती हैं। जैसे **'ऋक्वता'** इस शब्द में पद संज्ञा के होने से चकार के स्थान में ककार हुआ, और भ संज्ञा के होने से ककार के स्थान में गकार नहीं हुआ ।।१।।

(प्रातिपदिक०) वेदादि शास्त्रों में जो-जो शब्द पढ़े जाते हैं उन सबके बीच में यह नियम है कि जिस विभक्ति के साथ वे शब्द पढ़ हों, उसी विभक्ति से अर्थ करलेना, यह बात नहीं है, किन्तु जिस विभक्ति से शास्त्रमूल युक्ति और प्रमाण के अनुकूल अर्थ बनता हो, उस विभक्ति का आश्रय करके अर्थ करना चाहिए ।।२।।

क्योंकि—**(अर्थग०)** वेदादि शास्त्रों में शब्दों के प्रयोग इसलिए होते हैं कि उनमें अर्थों को ठीक-ठीक जानके उनसे लाभ उठावें। जब उनसे भी अनर्थ प्रसिद्ध हो तो वे शास्त्र किसलिए माने जावें? इसलिए यह नियम लोकवेद में सर्वत्र घटता है ।।३।।

(बह्वो हि०) तीसरा नियम यह है कि वेद तथा लोक में बहुत शब्द एक अर्थ के वाची होते, और एक शब्द भी बहुत अर्थों का वाची होता है। जैसे अग्नि, वायु, इन्द्र आदि बहुत शब्द एक परमेश्वर अर्थ के वाची, और इसी प्रकार वे ही शब्द संसारी पदार्थों के नाम होने से अनेकार्थ हैं अर्थात् इसी प्रकार के एक-एक शब्द कई-कई अर्थों के वाची हैं ।।४।।

(छन्दसि०) व्याकरण में जो-जो गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द हैं, वे वेद में क्रिया के आगे-पीछे दूर अर्थात् व्यवधान में भी होते हैं। जैसे **'उप प्रयोभिरागतम्'** यहाँ 'आगतम्' क्रिया के साथ 'उप' लगता तथा 'आयातमुप०' यहाँ 'उप' 'आयातम्' क्रिया के पूर्व लगता है, इत्यादि। इसमें विशेष यह है कि लोक में पूर्वोक्त शब्द क्रिया के पूर्व ही सर्वत्र लगाये जाते हैं ।।५।।

---

(२) **पाद**=शरीरांग (पैर), चतुर्थांश, छन्दों के चतुर्थभाग, दिशा, यान, इत्यादि।

(३) **माष**=मासा (८ रत्ती का एक मासा), उड़द, इत्यादि।

निरुक्त में यास्काचार्य कहते हैं—

एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम्। अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः ।।

—निरुक्त, नैगम काण्ड ४।१।१

अर्थात् निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों में ऐसे शब्दों का संग्रह है जो समानार्थक हैं और निघण्टु के चतुर्थाध्याय में विभिन्नार्थक शब्दों का संग्रह किया गया है।

अनेकार्थक शब्दों में प्रकरण अथवा प्रतिपाद्यविषय नियामक होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि प्रत्येक अर्थ की संगति सर्वत्र ही हो। उसका एक उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश में दिया है, जिससे इसका स्पष्टीकरण भली-भाँति होता है। जैसे—**'सैन्धव'** शब्द के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं—नमक और घोड़ा। किन्तु प्रकरण का ज्ञाता व्यक्ति प्रसंगानुसार ही अर्थ की संगति लगाता है। यदि जाने का समय हो तो—**'सैन्धवमानय'** वाक्य से घोड़े को लाता है और भोजन का समय हो तो इस वाक्य को सुनकर नमक ही लाएगा, घोड़ा नहीं। इसी प्रकार वेदादि शास्त्रों में अनेकार्थक शब्दों की सर्वत्र संगति जाननी चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥६॥ अ० २।३।६२॥

'षष्ठचर्थे चतुर्थी वक्तव्या । या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति[1] । तस्या इति प्राप्ते ।'

एवमन्यत्रापि । अनेन चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, षष्ठचर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः । महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि । अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वाच्छन्दो ग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥६॥

---

(४) उपसर्ग और गतिसंज्ञकों का विशेष नियम—

प्रादयः उपसर्गाः क्रियायोगे ॥ अ० १।४।५८॥

गतिश्च ॥ अ० १।४।५९॥

इन दो सूत्रों में उपसर्गसंज्ञा तथा गतिसंज्ञा का विधान किया गया है। प्रादि एक गण है, जिसमें निम्नलिखित शब्दों का पाठ है—

प्र । परा । अप । सम् । अनु । अव । निस् । दुस् । वि । आङ् ।

नि । अधि । अपि । सु । उत् । अभि । प्रति । परि । उप ।

इन प्र आदि शब्दों की क्रियायोग में उपसर्ग और गतिसंज्ञा होती है ।

ते प्राग्धातोः ॥ अ० १।४।८०॥

उन उपसर्ग और गति संज्ञकों का प्रयोग धातुओं से पहले करना चाहिए ।

जैसे—पराजयते । अवगच्छति । विस्मरति इत्यादि ।

इन शब्दों के प्रयोग का लोक और वेद में यह सामान्य नियम है । इस नियम का वैदिकप्रयोगों में विशेष नियम यह है--

छन्दसि पर-व्यवहितवचनं च ॥

'छन्दसि परेऽपि' और 'व्यवहिताश्च' (अ० १।४।८१-८२) इन दोनों सूत्रों का यह संक्षिप्त रूप ही है। इसका अभिप्राय यह है कि—

व्याकरणशास्त्र में जिन शब्दों (प्रादि) की उपसर्गसंज्ञा और गतिसंज्ञा की है, उनका वैदिक प्रयोगों में क्रिया से पूर्व, पीछे, दूर अर्थात् व्यवधान में भी प्रयोग होता है । जैसे—

क्रिया से पूर्व=आयातम् ॥ अग्न आयाहि वीतये ॥

क्रिया से पीछे=याति नि हस्तिना ॥ हन्ति नि मुष्टिना ॥

व्यवधान में=आयातमुपनिष्कृतम् ऋ० १।२।६ उपप्रयोभिरागतम् । ऋ० १।२।४

आमन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि० ॥ ऋ० ३।४५।१॥

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु० ॥ ऋ० १।८९।१॥

---

१. द्र०तै०सं० २।५।१॥ महाभाष्योद्धरणे 'जायते' पदमानुषङ्गिकम् । भाष्यकारेण वाक्यपूर्त्यर्थं सम्बद्धम् । संहितायां तु 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वस्तिस्रो रात्रीः' इत्येव पाठः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुलं छन्दसि ॥७॥ अ० २।४।३९॥

अनेन अद्धातोः स्थाने घस्लृ आदेशो बहुलं भवति। घस्तान्नूनम्, सग्धिश्च मे, आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम्, इत्याद्युदाहरणं ज्ञेयम् ॥७॥

बहुलं छन्दसि ॥८॥ अ० २।४।७३॥

वेदविषये शपो बहुलं लुग्भवति वृत्रं हनति,[1] अहिः शयते। अन्येभ्यश्च भवति-त्राध्वं नो देवाः[2] ॥८॥

बहुलं छन्दसि ॥९॥ अ० २।४।७६॥

वेदेषु शपः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति। दाति प्रियाणि[3], धाति प्रियाणि। अन्येभ्यश्च भवति—पूर्णां विवष्टि[4]; जनिमा विवक्ति, इत्यादीन्युदाहरणानि सन्तीति बोध्यम् ॥९॥

सरस्वत्यै वाचो यन्तु० ॥ यजु० १८।३७॥

इयमुपरि मतिस्तस्यै० ॥ यजु० १३।५८॥

(५) चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियों का विपर्यय—

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ अ० २।३।६२ ॥

षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या ॥ महाभाष्यवार्तिक ॥

प्रत्येक विभक्ति का प्रयोग व्याकरणशास्त्र में निश्चित है, किन्तु वैदिक प्रयोगों में चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी और षष्ठी विभक्ति के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग भी मिलता है। लोक के प्रयोगों में ऐसा नहीं होता है। जैसे—

षष्ठ्यर्थ में चतुर्थी के महर्षि-भाष्य के अन्य उदाहरण—

दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम् ॥ यजु० २४।३५ ॥ तै० ५।५।१५।१॥ (वनस्पतिभ्य इति प्राप्नोति)

या खर्वेण पिबति तस्मै खर्वो जायते। (तस्या इति प्राप्नोति)

ये दोनों प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों के हैं, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण वेदसंज्ञा से नहीं होता है, यह द्वितीया ब्राह्मणे (अ० २।३।६०) सूत्र से 'ब्राह्मणे' पद की अनुवृत्ति होने पर (चतुर्थ्यर्थे अ० २।३।६२) सूत्र में 'छन्दसि' शब्द के पाठ से स्पष्ट हो रहा है, पुनः यहाँ वैदिक प्रयोग न देकर ब्राह्मणग्रन्थों के उदाहरण क्यों दिये गये हैं, यह एक प्रश्न है। इसका समाधान महाभाष्यकार के अनुसार दिया है—ब्राह्मण-ग्रन्थों को वेदों के तुल्य मानकर वैदिक नियमों के उदाहरण ब्राह्मणग्रन्थों से उद्धृत किये हैं।

अद् भक्षणे (अदादिगण) धातु के प्रयोग में लोक से विशेषता—

बहुलं छन्दसि ॥ अ० २।४।३९॥

लौकिक प्रयोग में अद् भक्षणे (अदादि०) धातु के स्थान पर लुङ्लकार तथा घञ् और अप्

---

१. ऋ० ८।८९।३॥ २. ऋ० २।२९।६॥ ३. ऋ० ४।८।३॥
४. ऋ० ७।१६।११॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(या खर्वेण०) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में षष्ठी विभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है, लौकिक ग्रन्थों में नहीं। इसमें ब्राह्मणों के उदाहरण इसलिए दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मानके, अर्थात् इनमें जो व्याकरण के कार्य होते हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं और जो ऐसा न मानें तो 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती, फिर 'चतुर्थ्यर्थे०' इस सूत्र में 'छन्दः' शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाए ॥६॥

(बहुल०) इस सूत्र से 'अद्' धातु के स्थान में 'घस्लृ' आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है ॥७॥

(बहुलं०) वेदों में 'शप्' प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है, और कहीं नहीं भी होता। जैसे 'वृत्रं हनति' यहाँ शप् का लुक् प्राप्त था, सो भी न हुआ, तथा 'त्राध्वं०' यहाँ त्रैङ् धातु से प्राप्त नहीं था, परन्तु हो गया। महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यनादि का लुक् होता है, क्योंकि शप् के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है। शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है, जब शप् का लुक् हो गया तो श्यनादि प्राप्त ही नहीं होते। ऐसे ही श्लु के विषय में भी समझ लेना ॥८॥

(बहुलं०) वेदों में शप् प्रत्यय के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होता है, अर्थात् उक्त से भी नहीं होता और अनुक्त से भी हो जाता है। जैसे 'दाति०' यहाँ शप् के स्थान में श्लु प्राप्त था परन्तु न हुआ, और 'विवष्टि' यहाँ प्राप्त नहीं फिर भी हो गया ॥९॥

प्रत्यय के परे होने पर घस्लृ आदेश होता है जैसे—लुङ् = अघसत्। अघसताम्। अघसन्। घञ् = घासः। अप्—प्रघसः।

किन्तु वैदिक प्रयोगों में अन्यत्र भी अद् के स्थान पर घस्लृ का प्रयोग बहुल करके होता है। जैसे—

घस्तान्नूनम् ॥ यजु० २१।४३ ॥ यहाँ लङ् लकार में घस्लृ आदेश है।

सग्धिश्च मे ॥ यजु० १८।९ ॥ यहाँ क्तिन्' प्रत्यय के परे घस्लृ हुआ है।

आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम् ॥ यहाँ घस्लृ आदेश नहीं हुआ है।

(७) शप्-विकरण का विशेष प्रयोग

कर्त्तरि शप् ॥ अ० ३।१।६८ ॥

धातुमात्र से कर्त्तृवाचक सार्वधातुक प्रत्यय के परे होने पर शप् प्रत्यय होता है। जैसे—पठ्+शप्+तिप्=पठ्+अ+ति=पठति।

अदिप्रभृतिभ्यः शपः ॥ अ० २।४।७२॥

यह पूर्व सूत्र का अपवाद है। धातुपाठ में अदादिगण में पठित धातुओं से विहित शप् प्रत्यय का लुक्=अदर्शन (अप्रयोग) होता है।

बहुलं छन्दसि ॥ अ० २।४।७३॥

किन्तु वैदिक प्रयोगों में शप् का लुक् बहुल करके होता है, अर्थात् जिनसे विधान किया है, उनसे भी कहीं नहीं होता है और कहीं अदादिगण से भिन्न धातुओं से भी शप् का लुक् हो जाता है।

जैसे— वत्रं हनति। हन् अदादिगणीय धातु है, शप् का लुक् नहीं हुआ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिब्बहुलं लेटि ॥१०॥ अ० ३। १। ३४॥

'सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः। सविता धर्मं साविषत्, प्र ण आयूंषि तारिषत्[1]।

अयं लेटि विशिष्टो नियमः ॥१०॥

छन्दसि शायजपि ॥११॥ अ० ३।१।८४॥

शायच्छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम्। क्व सर्वत्र ? हौ चाहौ च। किं प्रयोजनम्? महो अस्कभायत्, यो अस्कभायत्, उद्गभायत्, उन्मथायतेत्येवमर्थम्।

अयं लोटि मध्यमपुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियम ॥११॥

व्यत्ययो बहुलम् ॥१२॥ अ० ३।१।८५॥

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥१॥

व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति। अनेन विकरणव्यत्ययः।

(१) सुपां व्यत्ययः, (२) तिङां व्यत्ययः, (३) वर्णव्यत्ययः, (४) लिङ्ग-व्यत्ययः, (५) पुरुषव्यत्ययः, (६) कालव्यत्ययः, (७) आत्मनेपदव्यत्ययः, (८) परस्मैपदव्यत्ययः, (९) स्वरव्यत्ययः, (१०) कर्तृव्यत्ययः, (११) [2]यङ्व्यत्ययश्च।

अहिः शयते। शीङ् अदादिगणीय धातु है, शप् का लुक् नहीं हुआ है।

त्राध्वं नो देवाः। यह त्रैङ् पालने धातु अदादिगण की नहीं है। भ्वादिगणीय है, उससे भी शप् का लुक् हुआ है। इसी प्रकार शप् के स्थान पर श्यनादि का भी लुक् समझना चाहिए।

(८) श्लु-विकरण का विशेष प्रयोग

जुहोत्यादिभ्यः श्लुः ॥ अ० २।४।७५॥

जुहोत्यादिगण में पठित धातुओं से शप् के स्थान पर श्लु होता है। यद्यपि लुक् की भाँति श्लु भी प्रत्यय के अदर्शन का ही नामान्तर है किन्तु श्लु होने से धातु को द्वित्त्व हो जाता है। जैसे—जुहोति। ददाति। यह लौकिक प्रयोग में सामान्य नियम है।

बहुलं छन्दसि ॥ अ० २।४।७६॥

वैदिक प्रयोगों में बहुल करके शप् के स्थान पर श्लु होता है। जिन धातुओं से श्लु का विधान

---

१. ऋ० १।२५।१८॥

२. यङ् इति प्रत्याहारः, तेन 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) इत्यस्य यकारमारभ्य 'लिङ्याशिष्यङ्' (३।१।८६) इति अङो ङकारपर्यन्तं विहिता सर्वे विकरणा गृह्यन्ते।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एषां क्रमेणोदाहरणानि—(१) युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः[1], दक्षिणायामिति प्राप्ते। (२) चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति[2], तक्षन्तीति प्राप्ते। (३) त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्, शुधितमिति प्राप्ते। (४) मधोस्तृप्ता इवासते, मधुन इति प्राप्ते। अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः[3], वियूयादिति प्राप्ते। (६) श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन, आधाता यष्टेति प्राप्ते। (७) ब्रह्मचारिणमिच्छते[4], इच्छतीति प्राप्ते। (८) प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति, युध्यत इति प्राप्ते।

आधाता यष्टेति लुट्प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगौ तयोः स्थाने आधास्यमानेन, यक्ष्यमाणेन भवतः 'व्यत्ययो भवति स्यादीनाम्' इत्यस्योदाहरणं, तासि प्राप्ते स्यो विहितः ॥१२॥

बहुलं छन्दसि ॥१३॥ अ० ३।२।८८॥

अनेन क्विप्प्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते। मातृहा, मातृघातः इत्यादीनि ॥१३॥

छन्दसि लिट् ॥१४॥ अ० ३।२।१०५॥

वेदेषु सामान्यभूते लिड् विधीयते। अहं द्यावापृथिवी आततान ॥१४॥

किया है, उनसे भी कहीं नहीं होता है और जिनसे विधान नहीं किया है, उनसे भी श्लु हो जाता है। जैसे—

दाति प्रियाणि ॥ ऋ० ४।८।३॥ दा धातु जुहोत्यादिगणीय है, यहाँ श्लु नहीं हुआ है।

धाति प्रियाणि ॥ धा धातु जुहोत्यागणीय है, यहाँ श्लु नहीं हुआ है।

पूर्णा विवष्टि ॥ ऋ० ७।१६।११॥ यहाँ 'वश कान्तौ' (अदादि०) से श्लु हुआ है।

जनिमा विवक्ति ॥ यहाँ 'वच परिभाषणे' (अदा०) से श्लु हुआ है।

(६) सिप्-विकरण का विशेष नियम

लिङर्थे लेट् ॥ अ० ३।४।७॥

वैदिक प्रयोगों में लिङर्थ=विधि आदि अर्थों में विकल्प से लेट् का प्रयोग होता है।

सिब् बहुलं लेटि ॥ अ० ३।१।३४॥

लेट् लकार में धातुमात्र से बहुल करके सिप् प्रत्यय होता है।

सिब् बहुलं णिद् वक्तव्यः ॥ वा० सू०॥

और यह सिप् विकरण विकल्प से णिद्वत् होता है। जैसे—

सविता धर्मं साविषत्। (यजु० ६।५) यहाँ णिद्वद् भाव होने से धातु को वृद्धि हुई है।

प्र ण आयूंषि तारिषत्।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (ऋ० ३।६२।१०)

---

१. ऋ० १।१६४।६॥
२. ऋ० १।१६२।६॥
३. ऋ० ७।१०४।१५॥
४. अथर्व ११।५।१७।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिटः कानज्वा ॥१५॥ अ० ३।२।१०६॥

वेदविषये लिटः स्थाने कानजादेशो वा भवति। अग्निं चिक्यानः[1] अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श। प्रकृतेऽपि लिटि पुनर्ग्रहणात् परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति ॥१५॥

क्वसुश्च। १६॥ अ० ३।२।१०७॥

वेदे लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति। पपिवान्, जग्मिवान्। न च भवति—अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श ॥१६॥

क्याच्छन्दसि ॥१७॥ अ० ३।२।१७०॥

क्यप्रत्ययान्ताद् धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्त्तृषु उकारप्रत्ययो भवति। मित्रयुः, संस्वेदयुः, सुम्नयुः। 'निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकस्यापि ग्रहणं भवति,'[2] इत्यनया परिभाषया क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन ग्रहणं भवति ॥१७॥

---

(१०) क्र्यादिगण की धातुओं से विहित 'श्ना' के स्थान पर शायच का विशिष्ट प्रयोग

छन्दसि शायजपि ॥ अ० ३।१।८४॥

क्र्यादिगण की धातुओं से कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय के परे होने पर शप् के स्थान पर 'श्ना' विकरण होता है। लोट् मध्यम पुरुष के एक वचन में 'श्ना' के स्थान पर शानच् आदेश होता है। जैसे—ग्रह = गृहाण। बन्ध = बधान, किन्तु वैदिक प्रयोगों में श्ना के स्थान पर शायच् और शानच् दोनों होते हैं। जैसे—शायच्—गृभाय (ऋ० ८।१७।५)। स्कभाय। स्तभाय। शानच्—स्तभान। बधान देव सवितः।

शायच्छन्दसि सर्वत्र ॥ वा० सू०

इस वार्तिक सूत्र से शायच् आदेश लोट् मध्यम पुरुष एक वचन में होता है, और वार्तिक से सभी लकारों, सभी पुरुषों तथा सभी वचनों में यथादृष्ट शायच् आदेश होता है। जैसे—महीः अस्काभयत्। यो अस्कभायत्। उद्गृभायत्। उन्मथायत्। इनमें प्रथम दो प्रयोगों में 'स्कम्भु' सौत्र धातु है, उससे लङ् तिप्, श्ना को शायच् हुआ है। शेष दो प्रयोगों में क्रमशः 'ग्रह्' तथा 'मन्थ' धातुएँ हैं।

(११) वैदिक प्रयोगों में व्यत्यय = व्याकरण के नियमों का विपरीत भाव अनेक प्रकार का मिलता है। वैयाकरण निकाय में व्यत्यय के ये प्रमुख भेद प्रसिद्ध हैं—

व्यत्ययो बहुलम् ॥ अ० ३।१।८४॥

इस सूत्र के महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

(सुप्तिङुपग्रहलिङ्नराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन।)

वैदिक प्रयोगों की सिद्धि = प्रकृति-प्रत्यय विभाग यथादृष्ट ही व्याकरण शास्त्र में दिखाया गया है। सामान्य और अपवाद नियमों में जिन वैदिक प्रयोगों का अन्तर्भाव नहीं हो सका, उनको

१. तै० सं० ५।२।३।६॥ २. परिभाषावृत्ति सीरदेव ५३।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(सिब्बहुलं०) लेट् लकार में जो सिप् प्रत्यय होता है, वह वेदों में बहुल करके णित्संज्ञक होता है, जिससे वृद्धि आदि कार्य हो सकें। जैसे—'साविषत्' यहाँ सिप् को णित् मानके वृद्धि हुई है। यह लेट् में वेद विषयक विशेष नियम है ॥१०॥

(शायच्छन्दसि०) वेद में 'हि' प्रत्यय के परे [रहने पर] 'श्ना' प्रत्यय के स्थान में जो 'शायच्' आदेश विधान किया है, वह 'हि' से अन्यत्र भी होता है ॥ ११ ॥

(व्यत्ययो०) वेदों में जो व्यत्यय अर्थात् विपरीतभाव बहुधा होता है, वह भाष्यकार पतञ्जलिजी ने नव प्रकार से माना है। वे सुप् आदि ये हैं—सुप्; तिङ्; वर्ण; लिङ्ग—पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग; पुरुष—प्रथम, मध्यम और उत्तम; काल—भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान; पद—आत्मनेपद और परस्मैपद; वर्ण—वेदों में अचों के स्थान में हल् और हलों के स्थान में अच् के आदेश हो जाते हैं, स्वर – उदात्तादि का व्यत्यय, कर्त्ता का व्यत्यय, और 'यङ्[1] का व्यत्यय होते हैं। इन सबके उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं, वहाँ देख लेना ॥ १२॥

(बहुलम्०) इससे क्विप् प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है ॥ १३॥

(छन्दसि०) इस सूत्र से लिट् लकार वेदों में सामान्य भूतकाल में भी होता है ॥ १४॥

(लिटः का०) इस सूत्र से वेदों में लिट् लकार के स्थान में कानच् आदेश विकल्प करके होता है। इसके 'आततान' इत्यादि उदाहरण बनते हैं। 'छन्दसि०' इस सूत्र में से लिट् की अनुवृत्ति हो जाती, फिर लिट्ग्रहण इसलिए है कि 'परोक्षे लिट्' (अष्टा० ३।२।११५) इस लिट् के स्थान में भी कानच् आदेश हो जावे ॥ १५॥

व्यत्यय = विपरीतभाव दिखाकर सिद्ध किया गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने प्रमुख व्यत्यय उपर्युक्त कारिका में दिखाये हैं—

(१) **सुप्-व्यत्यय—युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः।** (ऋ० १।१६४।९) यहां 'दक्षिणायाम्' ऐसा प्रयोग प्राप्त है। सप्तमी के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का व्यत्यय हुआ है।

(२) **तिङ्-व्यत्यय – चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति।** (ऋ० १।१६२।६) यहाँ 'तक्षन्ति' प्रयोग इष्ट है। इसमें प्रथम पुरुष बहुवचन के स्थान पर एक वचन का व्यत्यय है।

(३) **हल् = वर्ण-व्यत्यय — त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्** । यहाँ 'शुधितम्' के स्थान पर 'शुभितम्' पाठ है। धकार के स्थान पर वर्णव्यत्यय से भकार हुआ है।

(४) **लिङ्-व्यत्यय—मधोस्तृप्ता इवासते।** यहाँ 'मधुनः' के स्थान पर 'मधोः' का प्रयोग हुआ है। नपुंसकलिंग मधु शब्द का रूप 'मधुनः' बनता है। 'मधोः ? नहीं।

(५-६) **उपग्रह-व्यत्यय—[परस्मैपद-आत्मनेपदयोरुपग्रहशब्देनात्र ग्रहणम्]**

'उपग्रह' शब्द से यहाँ परस्मैपद और आत्मनेपद का ग्रहण किया गया है।

परस्मैपदव्यत्यय—प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति। यहाँ 'युध्यते' के स्थान पर युध्यति का प्रयोग हुआ

---

१. यङ् यह प्रत्याहार ग्रहण है। इससे 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) के यकार से 'लिङ्याशिष्यङ्' (३।१।८६) के अङ् के ङकारपर्यन्त सभी विकरणों का ग्रहण होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क्वसुश्च) इस सूत्र से वेदों में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हो जाता है ॥ १६॥

(क्या०) इस सूत्र से वेदों में क्यप्रत्ययान्त धातु से 'उ' प्रत्यय हो जाता है ॥ १७॥

कृत्यल्युटो बहुलम् ॥१८॥ अ० ३।३।११३॥

कृल्ल्युट इति वक्तव्यम्, कृतो बहुलमिति वा पादहारकाद्यर्थम् पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः। अनेन धातोर्विहिताः कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः। अयं लौकिकवैदिकशब्दानां सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति वेद्यम् ॥१८॥

छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥१९॥ अ० ३।३।१२९॥

ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच् प्रत्ययो भवति। उ०—सूपसदनोऽग्निः ॥१९॥

अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॥२०॥ अ० ३।३।१३०

अन्येभ्यश्च धातुभ्यो युच् प्रत्ययो दृश्यते। उ०—सुदोहनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम् ॥२०॥

है। आत्मनेपद-व्यत्यय—ब्रह्मचारिणमिच्छते। अथर्व ११।५।१७। 'इच्छति' के स्थान 'इच्छते' का प्रयोग हुआ है।

(७) नर=पुरुषव्यत्यय—अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः। ऋ० ७।१०४।१५। यहाँ 'वियूयात्' इस प्रथम पुरुष के स्थान पर मध्यमपुरुष का प्रयोग हुआ है।

(८) काल-व्यत्ययः—श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन ॥ श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन।

इन दोनों प्रयोगों में लुट् लकार के क्रमशः 'आधाता' और 'यष्टा' प्रयोगों के स्थान पर लृट् का प्रयोग हुआ है।

(९) अच्-व्यत्यय—उपगायन्तु मां पत्नयो गर्भिणयः। यहाँ 'पत्न्यो गर्भिण्यः' के स्थान पर ईकार के स्थान पर इकार का प्रयोग हुआ है।

(१०) स्वर-व्यत्यय—अश्ववती। सोमवती। प्रजावती। इन प्रयोगों में 'अन्तोऽवत्याः' (अ० ६।१।२२०) सूत्र से अन्तोदात्त प्राप्त है, इसको बाधकर स्वर-व्यत्यय से 'अश्व' शब्द का प्रकृतिस्वर (आद्युदात्त) होता है। इसी प्रकार सोम तथा प्रजा शब्दों का भी होता है।

(११) कर्तृ=कारकव्यत्यय—आसादयद्भिरुभयोर्वेदाः। यहाँ सम्प्रदान 'आसादयद्भ्यः' के स्थान पर करणकारक का प्रयोग हुआ है।

(१२) यङ्-व्यत्यय—यहाँ 'यङ्' शब्द से प्रत्याहार का ग्रहण है।

'सार्वधातुके यक्' (अ० ३।१।६०) सूत्र से लेकर लिङ्याशिष्यङ् (अ० ३।१।८६) सूत्र के ङकार तक। इससे यक् से लेकर अङ् तक प्रत्ययों का व्यत्यय माना गया है। जैसे—'आण्डा शुष्मस्य भेदति। यहाँ श्नम् के स्थान पर 'शप्' का व्यत्यय हुआ है। इसी प्रकार 'स च न मरति' यहाँ 'म्रियते' के स्थान पर 'मरति' का प्रयोग है।

यह व्यत्ययों का निदर्शनमात्र ही है। महाभाष्य में 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र में योगविभाग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ।।२१।। अ० ३।४।६।।

वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति । उ०–लुङ्–अहं तेभ्योऽकरं नमः[1] । लङ्—अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः[2] । लिट्—अद्या ममार[3] ।।२१।।

लिङर्थे लेट् ।।२२।। अ० ३।४।७।।

यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शकीच्छार्थेषूर्ध्वमौहूर्तिकेष्वर्थेषु लिङ् विधीयते, तत्र वेदेष्वेव लेट् लकारो वा भवति । उ०—जीवाति शरदः शतम्[4] इत्यादीनि ।।२२।।

उपसंवादाशङ्कयोश्च ।।२३।। अ० ३।४।८।।

उपसंवादे आशङ्कायां च गम्यमानायां वेदेषु लेट्प्रत्ययो भवति । उ०—उपसंवादे-अहमेव पशूनामीशै । आशङ्कायाम्—नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम[5] ।। मिथ्याचरणेन नरकपात आशङ्क्यते ।।२३।।

लेटोऽडाटौ ।।२४।। अ० ३।४।९४।।

लेटः पर्यायेण अट् आट् आगमौ भवतः ।।४।।

आत ऐ ।।२५।। अ० ३।४।९५।।

छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहितस्य लेडादेशस्य द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति । उ०—मन्त्रयैते; मन्त्रयैथे ।।२५।।

वैतोऽन्यत्र ।।२६।। अ० ३।४।९६।।

'आत ऐ' इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति । उ०—अहमेव पशूनामीशै, ईशे वा ।।२६।।

करके यह नियम स्थापित किया है—छन्दसि विषये सर्वे विधयो बहुलं भवन्ति—अर्थात् वैदिक प्रयोगों में व्याकरण की समस्त विधियों का यथादृष्ट विकल्प से विधान है ।

(१२) वैदिक प्रयोगों में क्विप् प्रत्यय का विशेष विधान

बहुलं छन्दसि ।। अ० ३।२।८८ ।।

इससे पूर्व सूत्र (ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्) से ब्रह्मादि उपपद हों तो हन् धातु से क्विप् प्रत्यय होता है । उसका यह विशेषविधान है—वैदिक प्रयोगों में हन् धातु से क्विप् प्रत्यय (ब्रह्मादि से भिन्न उपपद होने पर भी) बहुल=विकल्प से होता है । पक्ष में सामान्य अण् प्रत्यय होता है । जैसे—मातृ+हन्+क्विप्=मातृहा । पक्ष में—मातृ+हन्+अण्=मातृघातः ।

इसी प्रकार—पितृहा । पक्ष में—पितृघातः ।।

(१३) वेद में लिट्लकार का सामान्य प्रयोग

छन्दसि लिट् ।। अ० ३।२।१०५ ।।

---

१. यजुः १६।८।।
२. द्र० आश्व श्रौ० ३।६।१६।।
३. ऋ० १०।५५।५।।
४. ऋ० १०।८५।४६।।
५. ऋ० खिल १०।१०६।१।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ॥२७॥ अ० ३।४।९७॥

लेटः स्थान आदिष्टस्य तिबादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति । उ०—तरति, तराति, तरत्, तरात्; तरिषति, तरिषाति, तरिषत्, तरिषात्, तारिषति, तारिषाति, तारिषत्, तारिषात्; तरसि, तरासि, तरः, तराः; तरिषसि, तरिषासि, तरिषः, तरिषा; तारिषसि, तारिषासि, तारिषः तारिषाः, तरमि,[1] तरामि, तरम्, तराम्, तरिषमि तरिषामि, तरिषम्, तरिषाम्, तारिषमि, तारिषामि, तारिषम् तारिषाम् । एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेड्विषये बोध्यम् ॥२७॥

स उत्तमस्य ॥२८॥ अ० ३।४।९८॥

लेट उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति । [2]करवव, करववः; करवाव, करवावः; करवम, करवमः; करवाम करवामः ॥२८॥

व्याकरण में सामान्यरूप से (परोक्षे लिट् अ० ३।२।११५) सूत्र से लिट् लकार का विधान अनद्यतन = (जो आज का न हो) परोक्ष भूतकाल में विधान किया है, किन्तु वेद में सामान्यभूतकाल में लिट् लकार का प्रयोग होता है । जैसे—**अहं द्यावापृथिवी आततान ॥ स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् ॥**

अहं सूर्यमुभयतो ददर्श ॥ (यजु० ८।९)

यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान ॥ (ऋ० १०।८८।३)

(१४) वेद में लिट् के स्थान में कानच् और क्वसु का प्रयोग—

लिटः कानज्वा ॥ क्वसुश्च ॥ अ० ३।२।१०६-१०७॥

वेद में सामान्यभूत और अनद्यतन परोक्षभूत में विहित लिट् के स्थान पर विकल्प से कानच् और क्वसु आदेश होते हैं । जैसे–कानच्—**अग्निं चिक्यानः** तै० सं० ५।२।३।६ ॥ कानच् के अभाव में लिट्—**अहं सूर्यमुभयतो ददर्श ।** क्वसु—पपिवान् ऋग्० १।६१।७ । जग्मिवान् क्वसु के अभाव में—**अहं सूर्यमुभयतो ददर्श** ॥ यजु० ८।९)

(१५) क्याच्छन्दसि ॥ अ० ३।२।१७०)

(**सुप आत्मनः क्यच्** अ० ३।१।८) सूत्र से आत्मसम्बन्धी सुबन्त से इच्छार्थ में और (**उपमानादाचारे** अ० ३।१।१०) सूत्र से उपमानवाची कर्म से आचरण अर्थ में क्यच् का विधान किया है । **कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च,** (अ० ३।१।११) सूत्र से उपमानवाची कर्त्ता से आचरण अर्थ में क्यङ् प्रत्यय का विधान किया है तथा (**लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्,** अ० ३।१।१३) सूत्र से लोहितादि शब्दों एवं डाच् प्रत्ययान्त शब्दों से अभूततद्भाव विषय में क्यष् प्रत्यय होता है ।

प्रस्तुत सूत्र में 'क्य' शब्द से क्यच्, क्यङ् और क्यष् तीनों प्रत्ययों का ग्रहण है । वेद में क्य-प्रत्ययान्त धातुओं से तच्छीलादि अर्थों में 'उ' प्रत्यय होता है । जैसे—**मित्रयुः । संस्वेदयुः । सुम्नयुः ।**

देवयुः ॥ (ऋ० ४।१।७) **अघायवः ॥** (यजु० ४।३४) **सुम्नयुः ॥** (अ० १।७९।१०)

कृत्-कृत्य प्रत्ययों का लोक और वेद में प्रयुक्त सामान्य नियम

---

१. उत्तमपुरुषस्य अडागमे 'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) इति दीर्घत्वं न प्रवर्तते, यञादित्वस्याभावात् । ततः 'अतो गुणे' (६।१।९४) इति पररूपे दीर्घाभावो वेद्यः ।

२. पूर्ववदडागमे दीर्घाभावः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(छन्दसि०) इस सूत्र से ईषत्, दुर, सु ये पूर्वपद लगे हों, तो गत्यर्थक धातुओं से वेदों में युच् प्रत्यय होता है ॥ १९॥

(अन्येभ्यो०) और धातुओं से भी वेदों में युच् प्रत्यय देखने में आता है, जैसे 'सुदोहनाम्' यहाँ सुपूर्वक 'दुह' धातु से युच् प्रत्यय हुआ है ॥ २०॥

(छन्दसि०) जो तीन लकार लोक में भिन्न-भिन्न कालों में होते हैं, वे वेदों में लुङ, लङ् और लिट् लकार ये सब कालों में विकल्प करके होते हैं ॥ २१॥

(लिङर्थे०) अब 'लेट्' लकार के विषय में जो सामान्य सूत्र हैं, उनको यहाँ लिखते हैं। यह लेट् लकार वेदों में ही होता है। सो वह लिङ् लकार के जितने अर्थ हैं, उनमें तथा उपसंवाद और आशङ्का इन अर्थों में 'लेट्' लकार होता है ॥ २२-२३॥

(कृदतिङ्) सूत्र से धातुओं से विहित तिङ्भिन्नप्रत्ययों की कृत्संज्ञा होती है और (कृत्याः) सूत्र से तव्यत् आदि कतिपय प्रत्ययों की कृत्य संज्ञा भी है। इन दोनों प्रकार के प्रत्ययों की सामान्य-संज्ञा कृत् है और कृत्य विशिष्ट संज्ञा है और दोनों प्रत्ययों का यह अर्थ भेद है—

(१७) यच् प्रत्यय का वेद में विशिष्ट-प्रयोग—

छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥ अ० ३।३।१२९ ॥

वैदिक प्रयोगों में ईषदादि उपपद होने पर गत्यर्थक धातुओं से युच् प्रत्यय होता है। जैसे—

सूपसदनोऽग्निः ॥

सूपसदनमन्तरिक्षम् ॥

ईषत्सदनः ॥ दुःसदनः ॥ सुसदनः ॥

अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॥ अ० ३।३।१३० ॥

वैदिक प्रयोगों में गत्यर्थक धातुओं से भिन्न धातुओं से भी ईषदादि उपपद होने पर युच् का प्रयोग मिलता है। जैसे—

सुदोहनमकृणोद् ब्रह्मणे गाम् ॥

सुवेदनाम् अकृणोद् ब्रह्मणे गाम् ॥

(१८) वेद में लुङ् लङ् और लिट् का विशिष्ट प्रयोग—

छन्दसि लुङ्लङ् लिटः ॥ अ० ३।४।६ ॥

लोक में लुङ् लङ् तथा लिट् तीनों लकारों का प्रयोग भूत काल में होता है। जैसे लुङ् का प्रयोग सामान्य भूतकाल में, लङ् का प्रयोग अनद्यतन भूतकाल में और लिट् का प्रयोग परोक्षभूतकाल में होता है। किन्तु वेद में इनका प्रयोग सब कालों में विकल्प से होता है। जैसे—

लुङ्—**देवो देवेभिरागमत्** ॥ ऋ० १।१।५ ॥

लङ्—**अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः** ॥

अहं तेभ्योऽकरं नमः ॥ यजु० १६।८ ॥

लिट्—**अद्या ममार स ह्यः समानः** ऋ० १०।५५।५ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(लेटो०) लेट् को क्रम से 'अट्' और 'आट्' आगम होते हैं, अर्थात् जहाँ 'अट्' होता है, वहाँ 'आट्' नहीं होता, जहाँ 'आट्' होता है वहाँ 'अट्' नहीं होता ॥ २४॥

(आत ऐ) लेट् लकार में प्रथम और मध्यमपुरुष के 'आताम्' के आकार को ऐकार आदेश हो जाता है। जैसे 'मन्त्रयैते' यहाँ 'आ' के स्थान में 'ऐ' हो गया है ॥ २५ ॥

(वैतोऽन्यत्र) यहाँ 'लेट्' लकार के स्थान में जो एकार होता है, उसके स्थान में विकल्प से ऐकार आदेश हो जाता है ॥२६॥

(इतश्च०) यहाँ लेट् के तिप्, सिप् और मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता है ॥ २७ ॥

(स उत्त०) इस सूत्र से लेट् लकार के उत्तम पुरुष के वस् मस् के सकार का विकल्प करके लोप हो जाता है ॥ २८॥

यह लेट् का विषय थोड़ासा लिखा, आगे किसी को सब जानना हो तो वह अष्टाध्यायी पढ़के जान सकता है, अन्यथा नहीं।

स दाधार पृथिवीम् ॥ यजु० १३।४ ॥

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ अथर्व० ॥ १०।८।३२ ॥

इत्यादि प्रयोगों में लोक में विहित भूतकालीन लुङ् आदि लकार वेद में सामान्य काल के ही बोधक हैं। जैसे 'स दाधार पृथिवीम्' इसका अभिप्राय है कि वह परमेश्वर पृथिवी का धारण कर रहा है। मनुष्यों की दृष्टि में धारण करता था, धारण कर रहा है और आगे भी धारण करेगा। यदि इस नियम को न समझकर लौकिक नियम के अनुसार यह अर्थ किया जायेगा—'वह पृथिवी को धारण करता था तो वेद का अनर्थ ही होगा। इस नियम को न समझने के कारण ही वेदों में अनित्य इतिहास की पाश्चात्य विद्वानों को भ्रान्ति हुई है। वेदानुसन्धान करनेवाले विद्वानों को इस नियम का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

(१६) लेट् लकार के सामान्य नियम—

लिङर्थे लेट ॥ अ० ३।४।७॥

वैदिक प्रयोगों में लिङ् लकार के जितने अर्थ हैं, उनमें विकल्प से लेट् प्रत्यय होता है। लिङ् प्रत्यय विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न, प्रार्थना, हेतु, हेतुमान्, शक्नोत्यर्थ, और इच्छादि अर्थों में होता है, उन्हीं अर्थों में लेट् का प्रयोग समझना चाहिए। जैसे—

धियो यो नः प्रचोदयात्। ऋ० ३,६२,१० सविता धर्मं साविषत् ॥ यजु ६।५ ॥

उपसंवादाशङ्कयोश्च ॥ अ० ३।४।८॥

वेद में उपसंवाद=किसी कार्य में वचनबद्ध होना और आशंका अर्थ में लेट् प्रत्यय होता है।

जैसे—उपसंवाद में—अहमेव पशूनामीशै।

निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥यजु० ३।५० ॥

आशंका में—नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम ॥ (ऋ० खिल० १०।१०६।१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ॥२६॥ अ० ३।४।६॥

धातुमात्रात् तुमुन्प्रत्ययस्यार्थे से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन् अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन् इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति।

कृन्मेजन्त[1] इति सर्वेषामव्ययत्वम्। सर्वेषु नकारोऽनुबन्धः स्वरार्थः, ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थः, ङकारोऽपि, शकारः शिदर्थः। से-वक्षे रायः। सेन्-तावामेषे रथानाम्[2]। असे असेन्-क्रत्वे दक्षाय जीवसे[3]। क्से कसेन्-प्रेषे[4] श्रियसे[5]। अध्यै अध्यैन्-कर्मण्युपाचरध्यै। कध्यै-इन्द्राग्नी आहुवध्यै[6] कध्यैन्-श्रियध्यै। शध्यै शध्यैन्-पिबध्यै[7], सहमादयध्यै[8], अत्र शित्वात् पिबादेशः। तवै-सोममिन्द्राय पातवै। तवेङ्-दशमे मासि सूतवे[9]। तवेन् स्वर्देवेषु गन्तवे[10] ॥२६॥

यहाँ मिथ्याभाषणादि से नरकपतन की आशंका की गई है।

लेटोऽडाटौ ॥ अ० ३।४।६४ ॥

लेट् प्रत्यय को क्रम से अट् और आट् आगम होते हैं। जैसे—

अट्=तरति। तरत्।

आट्=तराति। तरात्।

आत ऐ ॥ अ० ३।४।६५ ॥

लेट् लकार में आत्मनेपद में विहित प्रथम पुरुष और मध्यमपुरुष के द्विवचन प्रत्ययों के आकार के स्थान में ऐकारादेश होता है।

जैसे—मन्त्रयैते। यह प्रथमपुरुष के द्विवचन में रूप है।

मन्त्रयैथे। यह मध्यमपुरुष के द्विवचन में रूप है।

वैतोऽन्यत्र ॥ अ० ३।४।६६ ॥

लेट् लकार में अन्यत्र='आत ऐ' सूत्र के कार्य को छोड़कर एकार के स्थान में विकल्प से ऐकारादेश होता है। जैसे—

अहमेव पशूनामीशै ईशे वा ॥

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ॥ अ० ३।४।६७ ॥

लेट् लकार में परस्मैपदसंज्ञक तिप्, सिप् और मिप् के इकार का विकल्प से लोप हो जाता है। जैसे—

तिप्=तरति, तराति तरत्, तरात्।
तरिषति, तरिषाति, तरिषत्, तरिषात्।
तारिषति, तारिषाति, तारिषत् तारिषात्।

---

१. अष्टा० १।१।३८॥ २. ऋ० १।६६।३॥ ३. अथर्व ६।१६।२॥
४. यजुः ५।७॥ ५. ऋ० ५।५६।३॥ ६. यजुः ३।१३॥
७. ऋ० ७।६२।२॥ ८. यजुः ३।१३॥ ९. १०।१८४।३॥
१०. यजुः १५।५५॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शकि णमुल्कमुलौ ॥३०॥ अ० ३।४।१२॥

शक्नोतौ धातावुपपदे धातुमात्रात् तुमर्थे वेदेषु णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः। णकारो वृद्ध्यर्थः, ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः लकारः स्वरार्थः। अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्, विभक्तुमित्यर्थः ॥३०॥

ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ॥३१॥ अ० ३।४।१३॥

ईश्वरशब्द उपपदे वेदे तुमर्थे वर्त्तमानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः। ईश्वरोभिचरितोः; कसुन्ईश्वरो विलिखः ॥३१॥

सिप् = तरसि, तरासि, तरः, तराः।
तरिषसि, तरिषासि, तरिषः, तरिषाः।
तारिषसि, तारिषासि, तारिषः, तारिषाः।

मिप् = तरामि, तराम्।
तरिषामि, तरिषाम्।
तारिषामि, तारिषाम्।

उत्तम पुरुष में दीर्घ होने से अट् और आट् में अन्तर नहीं होता, अतः अट् के रूप नहीं दिये गये हैं।

स उत्तमस्य ॥ अ० ३।४।९८ ॥

लेट् लकार में उत्तमपुरुष के वस् और मस् प्रत्ययों के अकार का लोप विकल्प से होता है।

जैसे—करवाव। करवावः।
करवाम। करवामः।

(२०) तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में विहित विशिष्ट वैदिक प्रत्यय—

लोक में समानकर्तृक इच्छार्थक धातु उपपद हो तो धातुमात्र से तुमुन् प्रत्यय होता है। जैसे—इच्छति भोक्तुम्।

किन्तु वेद में तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में 'तुमर्थे से सेन०' (अ० ३।४।९) सूत्र से धातुमात्र से से, सेन् इत्यादि १५ प्रत्यय होते हैं। इन तुमर्थक प्रत्ययों की 'कृन्मेजन्तः' सूत्र से अव्यय संज्ञा होती है। अतः प्रत्ययान्त सभी शब्द अव्यय ही होंगे। प्रत्ययस्थ अनुबन्धों में नकार स्वर के लिए, ककार और उकार गुण और वृद्धि का निषेध करने के लिए, तथा शकार शित् कार्य के लिए है। इन प्रत्ययों के क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—

से—वक्षे रायः।

अभिचक्षे ॥ ऋ० १।१०२।२ ॥

सेन् तावामेषे रथानाम् ॥ ऋ० ६।६६।३ ॥

असे } क्रत्वे दक्षाय जीवसे ॥ यजु० ३।५४॥
असेन् } महेरणाय चक्षसे ॥ यजु० ११।५० ॥

क्से—प्रेषे भगाय ॥यजु ५।७ ॥

कसे } श्रियसे ॥ श्रिञ्, धातोः कसेन् ॥ ऋ० १।८७।६ ॥
} गवामिव श्रियसे ॥ (५।५९।३)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः ॥३२॥ अ० ३।४।१४॥

कृत्यानां मुख्यतया भावकर्मणी द्वावर्थौ[1] स्तोऽर्हादयश्च[2]। तत्र वेदविषये तवै, केन्, केन्य, त्वन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति। तवै- परिधातवै; केन् नावगाहे; केन्य—दिदृक्षेण्यः[3] शुश्रूषेण्यः; त्वन्—कर्त्वं हविः[4] ॥३२॥

भाषार्थ --(तुमर्थे०) इस सूत्र से वेदों में 'से' इत्यादि १५ पन्द्रह प्रत्यय सब धातुओं से हो जाते हैं ॥ २६॥

(शकि०) शक धातु का प्रयोग उपपद हो, तो धातुमात्र से 'णमुल्' 'कमुल्' ये दोनों प्रत्यय वेदों में हो जाते हैं। इसके होने से 'विभाजम्' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं ॥ ३०॥

(ईश्वर०) वेदों में ईश्वर शब्दपूर्वक धातु से 'तोसुन्' 'कसुन्' ये प्रत्यय होते हैं ॥ ३१॥

(कृत्यार्थे०) इस सूत्र से वेदों में भावकर्मवाचक 'तवै' 'केन्' 'केन्य' 'त्वन्' ये प्रत्यय होते हैं। इससे 'परिधातवै' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं ॥ ३२॥

अध्यै } कर्मण्युपाचरध्यै। स्वरे विशेषः ॥
अध्यैन् }

कध्यै=इन्द्राग्नी, आहुवध्यै ॥ ह्वेञ् धातोः कध्यै। (यजु० ३।१३)

कध्यैन्=श्रियध्यै।

शध्यै } पिबध्यै (ऋ० ७।८२।२)। यहाँ शित् होने से पा को पिबादेश हुआ है।
शध्यैन् } सहमादयध्यै ॥ मदीधातोर्णिजन्ताच्छध्यै ॥ यजु० ३।१३॥

तवै=सोममिन्द्राय पातवै ॥

तवेङ्=दशमे मासि सूतवे ॥ (ऋ० १०।१८४।३)

तवेन्=स्वर्देवेषु गन्तवे। यजु० १५।५५ ॥

अग्ने हव्याय वोढवे ॥ यजु० १५।३१ ॥

शकि णमुल्कमुलौ ॥ अ० ३।४।१२ ॥

वेद में शक् धातु का प्रयोग उपपद हो तो धातुमात्र से तुमर्थ में णमुल् और कमुल् प्रत्यय होते हैं। प्रत्ययस्थ अनुबन्धों में णकार वृद्धि के लिए है, ककार गुण प्रतिषेध के लिए है और लकार स्वर के लिए है।

जैसे--अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन् विभक्तुमित्यर्थः।
कमुल्-अपलुपं नाशक्नुवन्। अपलोप्तुमित्यर्थः।

ईश्वरे तोसुन् कसुनौ ॥अ० ३।४।१३॥

वेद में ईश्वर 'शब्द उपपद हो तो तुमर्थ में धातुमात्र से तोसुन् और कसुन् प्रत्यय होते हैं।

---

१. द्र० अष्टा० ३।४।७०॥
२. अर्हार्थः, द्र० ३।३।१७६॥ आदि शब्देन प्रैषादयः, द्र० ३।३।१६१॥
३. तै० ब्रा० २।७।६।४॥
४. अथर्व० १।४।३॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्यं संज्ञाछन्दसोः ।।३३।। अ० ४।१।२९।।

अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात् संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां ङीप्प्रत्ययो भवति । गौः पञ्चदाम्नी; एकदाम्नी ।।३३।।

नित्यं छन्दसि ।।३४।। अ० ४।१।४६।।

बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति । बह्वीषु हित्वा प्रपिबन् ।।३४।।

जैसे—तोसुन्=ईश्वरोऽभिचरितोः । अभिचरितुमित्यर्थः ।

कसुन्=ईश्वरो विलिखः । विलेखितुमित्यर्थः ।

तोसुन् और कसुन् प्रत्ययान्त शब्दों की 'क्त्वातोसुन् कसुनः' सूत्र से अव्यय संज्ञा होती है ।

(२१) कृत्यार्थे=भाव और कर्म में वेद में विशिष्ट प्रत्ययों का प्रयोग

कृत्यार्थे तवै केन् केन्यत्वनः ।। अ० ३।४।१४ ।।

तव्यत् आदि प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा है और ये प्रत्यय लोक में भाव तथा कर्मवाच्य में होते हैं । वैदिकप्रयोगों में कृत्यार्थ में धातुमात्र से तवै, केन्, केन्य और त्वन् प्रत्ययों का प्रयोग होता है । जैसे—

तवै=परिधातवै ।। परिधातव्यमित्यर्थः ।।

केन्=नावगाहे ।। नाविगाहितव्यमित्यर्थः ।।

केन्य=दिदृक्षेण्यः । दृश्धातोः सन्नन्तात् केन्यः ।। ऋ० १।१४६।५ ।।

शुश्रूषेण्यः ।। श्रुधातोः सन्नन्तात् केन्यः ।।

त्वन् कर्त्वं हविः ।। अथर्व० १।४।३।। कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

(२२) स्त्री-प्रत्यय विषयक छान्दस विशेष नियम—

नित्यं संज्ञाछन्दसोः ।। अ० ४।१।२९ ।।

इससे पूर्व सूत्र से, अन्नन्त बहुराजन् आदि उपधालोपी शब्दों से बहुव्रीहि समास में स्त्रीलिंग में विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है । यह सूत्र उसका अपवाद है—संज्ञा और छान्दस प्रयोगों में, अन्नन्त शब्दों से ङीप् प्रत्यय नित्य होता है । जैसे—

पञ्चदामन्=गौः पञ्चदाम्नी ।

एकदामन्=एकदाम्नी ।

नित्यं छन्दसि ।। अ० ४।१।४६ ।।

इससे पूर्वसूत्र से बहु आदि शब्दों से स्त्रीलिंग में विकल्प से ङीष् प्रत्यय का विधान किया है । यह सूत्र छान्दस बहु आदि शब्दों से स्त्रीलिंग में नित्य ङीष् प्रत्यय करता है । जैसे—

बह्वीषु हित्वा प्रपिबन् ।।

बह्वीनां गर्भो अपसाम् ।। ऋ० १।१६४।४।।

भवे छन्दसि ।।अ० ४।४।११०।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवे छन्दसि ।।३५।। अ० ४।४।११०।।

सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत् प्रत्ययो भवति । अयमणादीनां घादीनां चापवादः । सति दर्शने तेऽपि भवन्ति । मेध्याय च विद्युत्याय च नमः[५] ।।३५।।

इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्य्यन्तानि वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति, तान्यत्र न लिख्यन्ते, कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र यत्र मन्त्रेष्वागमिष्यन्ति, तत्र तत्र तानि लेखिष्यामः ।

यह सूत्र भव अर्थ में विहित सामान्य अण् आदि प्रत्ययों तथा विशेष विहित घ आदि प्रत्ययों का अपवाद है । सप्तमी समर्थ प्रातिपदिकमात्र से भव अर्थ में वैदिक प्रयोगों में यथादृष्ट यत् प्रत्यय होता है । और यदि कहीं वेद में अणादि व घादि प्रत्ययों का प्रयोग हो तो वे भी साधु ही समझने चाहिएँ ।

जैसे—**मेध्याय च विद्युत्याय च नमः** ।। यजु० १६।३८ ।।

इस सूत्र से लेकर 'छन्दसि' का अधिकार पाद पर्यन्त ३४ सूत्रों में जाता है । ये सभी सूत्र वेद विषयक ही हैं, परन्तु उनका वेदभाष्य में यथास्थान ही उल्लेख किया गया है ।

(२४) बहुलं छन्दसि ।। अ० ५।२।१२२ ।।

इससे पूर्वसूत्र से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय का विधान असन्त शब्दों तथा मायादि कतिपय शब्दों से ही किया है, किन्तु यह सूत्र छान्दस प्रयोगों में प्रातिपदिक मात्र से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय बहुल करके करता है । जैसे—

अग्ने तेजस्विन् ।। यहाँ 'तेजस्' शब्द से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय हुआ है ।

सूर्यो वर्चस्वान् ।। यहाँ 'वर्चस्' शब्द से विनि के अभाव में मतुप् हुआ ।

महाभाष्य में इस सूत्र पर भी वैदिक प्रयोगों की सिद्धि के लिए अनेक वार्त्तिक पठित हैं, उनका उल्लेख यथास्थान वेदभाष्य में ही द्रष्टव्य है ।

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ।। अ० ५।२।९४ ।।

यह सूत्र प्रथमा समर्थ प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ तथा सप्तम्यर्थ में लोक तथा वेद में सामान्य रूप से मतुप् प्रत्यय का विधान करता है । महाभाष्य में इस सूत्र पर मतुप् आदि प्रत्ययों के विशिष्ट अर्थ बताने के लिए निम्न कारिका का पाठ है—

भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ।।

अर्थात् महाभाष्य के इस प्रमाण से मतुप् आदि प्रत्यय लोक तथा वेद में निम्नलिखित भूमा, आदि सात अर्थों में होते हैं—

भूमा=बहुत्व अर्थ में—**गोमान् । यवमान् इत्यादि ।**

निन्दा अर्थ में—**कुष्ठी । ककुदावर्त्तिनी इत्यादि ।**

---

५. यजुः १६।३८।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुलं छन्दसि ।।३६।। अ० ५।२।१२२।।

वेदेषु समर्थानां प्रथमात् प्रातिपदिकमात्राद् भूमादिष्वर्थेषु[1] विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते। तद्यथा—भूमादयः

[2]तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप् ।।३७।। अ० ५।२।९४।।

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धे[3]ऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ।।

अस्य [4]सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुबादयो भवन्तीति बोध्यम् ।

(बहुलं[5]) अस्मिन् सूत्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहूनि वार्त्तिकानि सन्ति, तानि तत्तद्विषयेषु प्रकाशयिष्यामः ।।३६-३७।।

अन्नसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ।।३८।। अ० ५।४।१०३।।

'अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि (टच् प्रत्ययो) वेति वक्तव्यम्'। ब्रह्मसामं, ब्रह्मसाम; देवच्छन्दसं, देवच्छन्दः ।।३८।।

प्रशंसा अर्थ में—रूपवती कन्या आदि।

नित्ययोग अर्थ में—क्षीरिणो वृक्षाः, आदि।

अतिशय अर्थ में—उदरिणी कन्या, इत्यादि।

सम्बन्ध में—दण्डी। छत्री, इत्यादि।

अस्ति विवक्षा में—अस्तिमान्, इत्यादि।

(२५) वेद में समासान्त प्रत्ययों का विशिष्ट प्रयोग—

अन्नसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वेति वक्तव्यम् ।। (अ० ५।४।१०३)

वैदिक प्रयोगों में अन्नन्त और असन्त नपुंसकलिंग शब्दों से विकल्प से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। जैसे—

अन्नन्त शब्दों से टच्—ब्रह्मसामम्। टच् के अभाव में—ब्रह्मसाम।

असन्त शब्दों से टच्—देवच्छन्दसम्।, देवच्छन्दः।

२६ धातुपाठ में पठितधात्वर्थों से भिन्न अर्थ भी होते हैं—

सन्यङोः ।। अ० ६।१।९।।

---

१. मत्वर्थं इति वक्तव्ये भूमादिग्रहणं मतुप्प्रत्ययो येषु भूमादिष्वर्थेषु भवति तान् द्योतयितुम्।

२. द्र० एतत्पृष्ठस्था टि० १।

३. महाभाष्ये 'संसर्गे' पाठः।

४. 'तदस्यास्त्यस्मिन्नि०' (५।२।९४) सूत्रस्येति भावः।

६. ५।२।१२२।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्यङोः ॥३९॥ अ० ६।१।९॥

बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति । तद्यथा—वपिः प्रकिरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्त्तते-केशान् वपति । ईडिः स्तुतिचोदनायाच्ञासु दृष्टः, ईरणे चापि वर्त्तते—अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति । करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि वर्त्तते—पृष्ठं कुरु, पादौ कुरुः उन्मृदानेति गम्यते । निक्षेपणेऽपि वर्त्तते—कटे कुरु, घटे कुरु, अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते ।

एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विज्ञातव्यम्, धातुपाठे येऽर्था निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येऽपि बहवोऽर्था भवन्ति । त्रयाणामुपलक्षणमात्रस्य दर्शितत्वात् ॥३९॥

शेश्छन्दसि बहुलम् ॥४०॥ अ० ६।१।७०॥

वेदेषु नपुंसके वर्त्तमानस्य शेर्लोपो बहुलं भवति । यथा – विश्वानि भुवनानीति प्राप्ते विश्वा भुवनानीति भवति ॥४०॥

बहुलं छन्दसि ॥४१॥ अ० ६।१।३४॥

अस्मिन् सूत्रे वेदेषु एषां धातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते । यथा—हूमहे इत्यादिषु ॥४१॥

इस सूत्र पर महाभाष्य में यह लिखा है—बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति । अर्थात् धातुपाठ में धातुओं के पठित अर्थों से भिन्न भी अर्थ होते हैं । जैसे वप् धातु का प्रयोग प्रकिरण = बीज बोने अर्थ में होता है, किन्तु इसका छेदन करना अर्थ भी है—केशान् वपति । ईड् धातु का प्रयोग स्तुति, प्रेरणा, और याच्ञा अर्थों में देखा[1] जाता है, किन्तु इसका ईरण = गति अर्थ में भी प्रयोग मिलता है । जैसे—अग्निर्वा इतो वृष्टिमीहे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति । इसी प्रकार कृ धातु का प्रयोग अभूतप्रादुर्भाव—जो पहले नहीं है, उसके प्रकट करने अर्थ में होता है—कटं कुरु, घटं, कुरु इत्यादि । किन्तु इसका निर्मल—स्वच्छ करने और रखने अर्थों में भी प्रयोग होता है । जैसे—पृष्ठं कुरु । पादौ कुरु । यहाँ धोने—अर्थ में कृ का प्रयोग है । और 'कटे कुरु । घटे कुरु' । यहाँ निक्षेपण—रखने अर्थ में प्रयोग हुआ है ।

ग्रन्थकार ने भी इसका अनुसरण किया है । जैसे—

पीयति—निन्देत् । अनेकार्था अपि धातवो भवन्तीति निन्दार्थः ॥ यजु० १२।४२ ॥

२७ शेश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।७०॥

वैदिक प्रयोगों में 'शि' का बहुल करके लोप हो जाता है । [यह 'शि' नपुंसलिंग में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन 'जस्' तथा द्वितीय विभक्ति के बहुवचन 'शस्' के स्थान पर आदेश होता है ।] जैसे—(१) 'विश्वा भुवनानि' । यहाँ 'विश्वानि भुवनानि' प्रयोग प्राप्त था ।

(२) याते धामानि ॥यजु० १७।२१॥ यहाँ 'यानि' प्रयोग प्राप्त था ।

---

१. ईड स्तुतौ (अदादि०) ईडिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा । (निरुक्त ७।१५) । ईळते याचन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा । (निरुक्त ८।१) ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ।।४२।। अ० ६।१।१२७।

'ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ।'

ईषा अक्षा, ईमिरे, इत्याद्यप्राप्तः[1] प्रकृतिभावो विहितः ।।४२।।

देवताद्वन्द्वे च ।।४३।। अ० ६।३।२६।।

देवतयोर्द्वन्द्वसमासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते। ङित्त्वादन्त्यस्य स्थाने भवति। उ०—सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्[2]; इन्द्राबृहस्पती इत्यादीनि।

अस्य सूत्रस्योपरि द्वे वार्तिके स्तः। तद्यथा—

'देवताद्वन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः ।।'

अग्निवायूः वाय्वग्नी।

'ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च ।।'

ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ।

सूत्रेण विहित आनङादेशो वार्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते, सार्वत्रिको नियमः ।।४३।।

---

२८ बहुलं छन्दसि ।। ६।३।३४।।

वैदिक प्रयोगों में जिन धातुओं को किसी सूत्र से सम्प्रसारण प्राप्त नहीं है, उनमें यह बहुल सम्प्रसारण करता है। जैसे—हूमहे।

इन्द्राग्नी-हुवे ।। (ऋ० ५।४६।३ ।।

ह्वयामि देवान् ।। ऋ० ७।३४।८)

२९ ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ।।

यह वार्त्तिकसूत्र 'इकोऽसवर्णे०' (अ० ६।१।१२७) सूत्र पर है। इस से वैदिक प्रयोगों में अप्राप्त प्रकृतिभाव हो जाता है। जैसे—ईषा अक्षा ईमिरे।

यहाँ प्रकृतिभाव होने से यथाप्राप्त दीर्घसन्धि नहीं हुई।

लोक और वेद का सामान्य नियम—

देवताद्वन्द्वे च ।। ६।३।२६।।

देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में पूर्वपद को आनङ् आदेश होता है। यह आनङ् आदेश ङित् होने से अन्त्य-अल् के स्थान पर होता है।

जैसे—सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।।

इन्द्राबृहस्पती ।। (ऋ० ४।४९।१)

---

१. अत्र सूत्रेण (६।१।१२७) ह्रस्वप्रकृतिभावौ विकल्पेन प्राप्तौ। तत्र प्रकृतिभाव एव स्यादित्यर्थं वार्तिकम्। तेन पक्षे ह्रस्वप्राप्त्या प्रकृतिभावो न प्राप्नोति, तत्रानेन प्रकृतिभावो विधीयते इति 'अप्राप्तः प्रकृतिभावो विधीयते' इत्यस्य तात्पर्यम्।

२. ऋ० १०।१९०।३।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुलं छन्दसि ॥४४॥ अ० ७।१।८॥

अनेनात्मनेपदसंज्ञस्य झकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते । उ०—देवा अदुह्र ॥४४॥

बहुलं छन्दसि ॥४५॥ अ० ७।१।१०॥

अनेन वेदेषु भिसः स्थाने ऐस् बहुलं विधीयते । यथा—देवेभिर्मानुषे जने[1] ॥४५॥

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥४६॥ अ० ७।१।३९॥

'सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । तिङां च तिङो भवन्तीति वक्तव्यम् ।' 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् ।'

इया-दार्विया परिज्मन् । डियाच्-सुमित्रिया न आप०, सुक्षेत्रिया, सुगात्रिया[2] । ईकार-दृति न शुष्कं सरसी शयानम्[3] । 'आङ्याजयारां चोपसंख्यानम्' । आङ्-प्रबाहवा । अयाच्—स्वप्नया वाच सेचनम् । अयार्—स नः सिन्धुमिव नावया ।

इन्द्रावरुणौ ॥ (ऋ० ६।६८।१)

इन्द्रासोमौ ॥ (ऋ० ६।७२।३)

इस नियम के अपवाद निम्नलिखित हैं—

(१) उभयत्र वायोः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में वायु शब्द के पूर्वपद में तथा उत्तरपद में आनङ् आदेश नहीं होता है । जैसे—अग्निवायू । वाय्वग्नी ।

(२) ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च ॥

देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में ब्रह्म-प्रजापती इत्यादि शब्दों में भी आनङ् आदेश नहीं होता है । जैसे—ब्रह्म-प्रजापती । शिव-वैश्रवणौ । स्कन्द-विशाखौ ।

३०—वैदिक प्रयोगों में झादेश को रुट्-आगम का विशेष नियम—

बहुलं छन्दसि ॥७।१।८॥

वैदिक प्रयोगों में प्रथम पुरुष के बहुवचन झ प्रत्यय को बहुल करके रुट् आगम होता है । जैसे देवा अदुह्र ॥ (मैं० ४।२।१३) यहाँ दुह प्रपूरणे (अदादि०) धातु से लङ्लकार के आत्मनेपद के प्रथम पुरुष-बहुवचन झ प्रत्यय के स्थान पर 'आत्मनेपदेष्वनतः' (अ० ७।१।५) सूत्र से अत् आदेश इस सूत्र से रुट् आगम और 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (अ० ७।१।४१) से तकार का लोप हुआ है ।

अदृशमस्य केतवः ॥ (ऋ० १।५०।३) बहुल वचन से यहाँ 'अम्' को भी रुट् हुआ है ।

३१—वेद में भिस् के स्थान पर ऐसादेश का विशेष नियम—

बहुलं छन्दसि ॥ ७।१।१० ॥

---

१. ऋ० ६।१६।१॥ २. 'सुगातुया' इति शुद्धः पाठो द्रष्टव्यः । ३. ऋ० ७।१०३।२॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुप्, लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच् आल्, इया, डियाच्, ई, आङ्, अयाच्, अयार्, वैदिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थाने सुबाद्ययारन्ता षोडशादेशा विधीयन्ते। तिङां च तिङिति पृथङ् नियमः। सुप्-ऋजवः सन्तु पन्थाः, पन्थान इति प्राप्ते। लुक्—परमे व्योमन्[१], व्योम्नीति प्राप्ते। पूर्वसवर्ण—धीती मती, धीत्या मत्या इति प्राप्ते। आत्—उभा यन्तारा, उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते। शे—न युष्मे वाजबन्धवः[२], यूयमिति प्राप्ते। या—उरुया, उरुणा इति प्राप्ते। डा—नाभा पृथिव्याः[३], नाभौ इति प्राप्ते। ड्या—अनुष्ट्या, अनुष्टुभा इति प्राप्ते। याच्—साधुया, साधु इति प्राप्ते। आल्—वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते ॥४६॥

आज्जसेरसुक् ॥४७॥ अ० ७।१।५०॥

अनेक प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वम्[६] असुक् इत्ययमागमो विहितः। उ०—विश्वेदेवास आगतः,[७] विश्वेदेवा इति प्राप्ते। एवं देव्यासः। तथैवान्यान्यपि ज्ञातव्यानि ॥४७॥

भाषार्थ—(नित्यं संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अन्नन्त प्रातिपदिक से 'ङीप्' प्रत्यय होता है ॥ ३३॥

(नित्यं) इस सूत्र से बह्वादि प्रातिपदिकों से वेदों में 'ङीष्' प्रत्यय नित्य होता है ॥३४॥

(भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिकमात्र से वेदों में 'यत्' प्रत्यय होता है ॥३५॥

इस सूत्र से आगे पादपर्य्यन्त सब सूत्र वेदों ही में लगते हैं, सो यहाँ इसलिए नहीं लिखे कि वे एक-एक बात के विशेष हैं, सो जिस-जिस मन्त्र में उनके विषय आवेंगे, वहाँ-वहाँ लिखे जाएँगे।

(बहुलं०) इस सूत्र से प्रातिपदिकमात्र से 'विन्' प्रत्यय वेदों में 'मतुप्' के अर्थ में बहुल करके होता है। इस सूत्र के ऊपर वैदिक शब्दों के लिए वार्त्तिक बहुत हैं, परन्तु विशेष हैं, इसलिए नहीं लिखे ॥ ३६-३७॥

(अनसन्ता०) इस सूत्र से वेदों में (अनन्त और असन्त से) समासान्त 'टच्' प्रत्यय विकल्प करके होता है ॥३८॥

(बह्वर्था अपि०) महाभाष्यकार के इस बचन से यह बात समझनी चाहिए कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिये हैं, उनसे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं। जैसे 'ईड' धातु का स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पढ़ा है, और चोदना आदि भी समझे जाते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए ॥३९॥

वैदिक प्रयोगों में तृतीया विभक्ति के बहुवचन भिस् प्रत्यय के स्थान पर बहुल करके ऐस् आदेश होता है। इससे पूर्वसूत्र (अतो भिस् ऐस्) से अदन्त शब्दों से परे 'भिस्' को 'ऐस्' का विधान नित्य किया है। जैसे - वृक्ष+भिस्। वृक्ष+ऐस्। वृक्षैः, आदि। किन्तु वेद में अदन्त शब्दों से भी नहीं होता,

जैसे— देवेभिर्मानुषे जने ॥

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः (यजु० २५।२१)

---

३. ऋ० १।१६४।३९॥ ४. ऋ० ८।६८।१९॥

५. यजु० ११।७६॥ ६. कित्त्वादिति शेषः। ७. ऋ० १।३।७॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(शेश्छ०) इससे प्रथमा विभक्ति जो जस् (और शस्) के स्थान में नपुंसकलिङ्ग में 'शि' आदेश होता है, इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है ।।४०।।

(बहुलं०) इससे धातुओं को अप्राप्त संप्रसारण होता है ।।४१।।

(ईषा०) इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है ।।४२।।

(देवताद्व०) इस सूत्र से दो देवताओं के द्वन्द्व समास में पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है। जैसे (सुर्य्याचन्द्रमसौ०) यहाँ सूर्या शब्द दीर्घ हो गया है, और इस सूत्र से जिस कार्य्य का विधान है, उसका प्रतिषेध महाभाष्यकर दो वार्त्तिकों से विशेष शब्दों में दिखाते हैं। जैसे—(इन्द्रवायू) यहाँ इन्द्र शब्द को दीर्घ नहीं हुआ। यह नियम लोक और वेद में सर्वत्र घटता है ।।४३।।

(बहुलं०) इस सूत्र से प्रथम पुरुष के बहुवचन आत्मनेपद में 'झ' प्रत्यय को 'रुट्' का आगम होता है ।।४४।।

(बहुलं) इससे 'भिस्' के स्थान में ऐस्भाव बहुल करके होता है ।।४५।।

(सुपां सु०) इससे विभक्तियों के सब वचनों के स्थान में 'सुप्' आदि १६ आदेश होते हैं।।४६।।

(आज्जसे०) इस सूत्र से वेदों में प्रथमा विभक्ति का बहुवचन जो जस् है, उसको असुक् का आगम होता है, जैसे—(दैव्याः) ऐसा होना चाहिए, वहां (दैव्यासः) ऐसा हो जाता है, इत्यादि जान लेना चाहिए ।।४७।।

३२—वेद में सुप्-विभक्तियों के विशिष्ट नियम

सुपां सु-लुक्-पूर्वसवर्ण आत्-शे-या-डा-ड्या-याच्-आलः। अ० ७।१।३९

वैदिक प्रयोग विषय में समस्त सुप् विभक्तियों के सब वचनों के स्थान पर सु आदि यथादृष्ट आदेश होते हैं। जैसे क्रमशः उदाहरण—

सु-अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः ।। (ऋ० १०।८५।२३) यहाँ **जस् के स्थान पर सु आदेश हुआ** है। अतः **'पन्थानः'** के स्थान पर **'पन्थाः'** का प्रयोग है।

(२) **लुक्—ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्** ।। (ऋ० १।१६४।४९) यहाँ व्योम्नि' के स्थान पर 'व्योमन्' का प्रयोग है 'ङि' विभक्ति का लुक् हुआ है।

(३) **पूर्वसवर्ण धीती मती**। 'धीत्या मत्या' का प्रयोग होना चाहिए किन्तु इस सूत्र से 'टा' विभक्ति को पूर्वसवर्ण हुआ है।

(४) आत् उभा यन्तारा ।। यहां औ प्रत्यय के स्थान पर आत्, आदेश हुआ है। अन्यथा 'उभौ यन्तारौ' रूप होना चाहिए था।

(५) **शे—न युष्मे वाजबन्धवः**। (ऋ० ८।६८।१९) यहाँ जस् के स्थान पर 'शे' आदेश है। युष्मद् को 'यूय' आदेश भी छान्दस होने से नहीं हुआ है। **अस्मे इन्द्राबृहस्पती** ।। (ऋ० ४।९४।४)

(६) **या—उरुया** ।। यहाँ 'टा' के स्थान पर 'या' आदेश हैं अन्यथा 'उरूजा' रूप होना चाहिए।

(७) **डा—नाभा**। (ऋ० १।४३।९) यहाँ **'ङि' के स्थान पर पर डा आदेश हुआ है। अन्यथा 'नाभौ'** प्रयोग होना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुलं छन्दसि ।।४८।। अ० ७।३।९७।।

वेदेषु यत्र क्वचिदीडागमो दृश्यते तत्रानेनैव भवतीति वेद्यम् ।।४८।।

---

(८) ड्या—अनुष्ट्या ।। यहाँ अनुष्टुभ्' शब्द से टा के स्थान पर ड्या आदेश हुआ है। अन्यथा 'अनुष्टुभा' प्रयोग होना चाहिए।

(९) याच्—साधुया ।। (य० १७।७३) यहां तृतीया के स्थान पर याच्)

(१०) आल्—वसन्ता यजेत ।। यहाँ सप्तमी विभक्ति 'ङि' के स्थान पर आल् आदेश हुआ है। अन्यथा 'वसन्ते' प्रयोग होना चाहिए।

इत्याडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् ।। वार्त्तिक सूत्र ।।१।।

इस वार्त्तिक सूत्र से सुपों के स्थान पर 'इया' डियाच्, ईकार, ये तीन आदेश होते हैं। जैसे—

(१) इया—दार्विया परिज्मन् ।।

यहाँ 'दारु' शब्द से परे सुप् प्रत्ययों के स्थान पर इयादेश हुआ है।

(२) डियाच्—सुमित्रिया न आप० ।। (यजु० ६।२२)

(सुक्षेत्रिया ।। (ऋ० १।९७।२)

सुगातुया ।। (ऋ० १।९७।२)

यहाँ भी सुप् प्रत्ययों के स्थान पर डियाच् आदेश हुआ है।

(३) ईकार—दृति न शुष्कं सरसी शयानम् ।।

यहाँ (सरस्+ङि) सप्तमी एकवचन के स्थान पर ईकारादेश हुआ है।

आङ्-अयाच्-अयारां चोपसंख्यानम् ।। वा० सू० ।। २।।

और वेदविषय में सुप् विभक्तियों के स्थान पर आङ्, अयाच् और अयार आदेश भी होते हैं। जैसे—

आङ्—प्रवाहवा ।।

अयाच्—स्वप्नया वाव सेचनम् ।।

अयाद्—सनः सिन्धुमिव नावया ।।

सुपां च सुपो भवन्ति ।। वा० सू० ।।३।।

वैदिक प्रयोगों में सूत्र से विहित कार्यों से भी पूर्ति न देखकर यह वा० सू० बनाया है। सुप् विभक्ति संज्ञक प्राप्त प्रत्ययों के स्थान पर सामान्य रूप से सुप् प्रत्यय यथादृष्ट होते हैं। जैसे—

युक्ता माताऽसीद्धुरि दक्षिणायाः ।।

यहाँ 'दक्षिणायाम्' के स्थान पर 'दक्षिणायाः' का प्रयोग है, अर्थात् सप्तमी के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है।

तिङां च तिङ भवन्तिः ।। वा० सू० ।।४।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुलं छन्दसि ।।४६।। अ० ७।४।७८।।

अनेनाभ्यासस्य (भृञादीनाम्) इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं विधीयते ।।४६।।

छन्दसीरः । ५०।। अ० ८।२।१५।।

वैदिक प्रयोगों में तिङ् प्रत्ययों के स्थान पर तिङ् प्रत्यय यथादृष्ट होते हैं। अर्थात् यथाप्राप्त प्रत्ययों में इस वार्त्तिक से व्यत्यय होता है। जैसे—

चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति ।।

यहाँ 'तक्षन्ति' के स्थान पर एकवचनान्त 'तक्षति' का प्रयोग हुआ है।

आङ्याजयारां चोपसंख्यानम् ।। वा० सू० ।।५।।

वैदिक प्रयोगों में सुप् प्रत्ययों के स्थान पर आङ् अयाच् और अयाद् आदेश होते हैं। जैसे—आङ्-प्रबाहवा। यहाँ प्रबाहु से टा के स्थान पर आङ् आदेश हुआ है। अयाच् - स्वप्नया वाव सेचनम्। यहां स्वप्न शब्द से परे 'टा' के स्थान पर अयाच् आदेश है। अयाद्—सनः सिन्धुमिव नावया। यहां नौ शब्द से परे टा को अयाद् आदेश हुआ है।

आज्जसेरसुक् ।।अ० ७।१।५०।।

वैदिक प्रयोगों में अकारान्त शब्दों से प्रथमाविभक्ति के बहुवचन जस् प्रत्यय को असुक् आगम होता है। जैसे—विश्वेदेवास आगत।

यहाँ 'विश्वे देवाः' प्रयोग होना चाहिए था। इसी प्रकार निम्नलिखित उदाहरण भी हैं—

(१) दैव्यासः ।।

(२) ब्राह्मणासः पितरः सौम्यासः ।। ऋ० ६।७५।१०।।

(३) यस्मिन्नश्वासऽऋषभासः ।। यजु० २०।७८ ।।

(४) ब्राह्मणासः ।। ऋ० ७।१०३।७८)

(५) पितरः सौम्यासः ।। (ऋ० १०।१५।१)

३४ बहुलं छन्दसि ।। अ० ७।३।९७ ।।

यह सूत्र वैदिक प्रयोगों में ईट् आगम का विधान करता है। इससे पूर्वसूत्र से अस् धातु और सिच् प्रत्ययान्त से परे अपृक्त सार्वधातुक को ईट् आगम नित्य करता है। यह सूत्र उसका अपवाद है। वैदिक प्रयोगों में जहाँ कहीं ईट् आगम का प्रयोग दिखाई देता है, वहाँ इसी सूत्र से बहुल करके समझना चाहिए। जैसे—

(१) गोभिरक्षाः ।। (ऋ० ६।१०७।६) अक्षाः=क्षर संचलने धातोर्लुङ्।

(२) प्रत्यञ्चमत्साः ।। (ऋ० १०।२८।४) अत्सा=त्सरछद्मगतौ धातोर्लुङ्।

इन दोनों प्रयोगों में (अस्तिसिचोऽपृक्ते अ० ७।३।९६) सूत्र से प्राप्त ईट् आगम नहीं हुआ है। ईट् आगम का उदाहरण वैदिक पदों में अनुसन्धान करना चाहिए।

३५—बहुलं छन्दसि ।।अ० ७।४।७८।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेन मतुपो मकारस्याप्राप्तं वत्वं विधीयते । उ०—रेवान् इत्यादि ।।५०।।

कृपो रो लः ।।५१।। अ० ८।२।१८

'संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम् ।'

कपिलका, कपिरका इत्यादीनि ।।५१।।

धि च ।।५२।। अ० ८।२।२५।।

यह सूत्र वैदिक प्रयोगों में अभ्यास को इकारादेश बहुल से करता है। जैसे—

(१) पूर्णां विवष्टि (ऋ० ७।१६।११) यह वंश, कान्तौ (अदा०) धातु का रूप है।

(२) जनिमा विवक्ति (ऋ० १-६७-७) यह वच् परिभाषणे (अदादि०) धातु का रूप है।

(३) वत्सं न माता सिषक्ति (ऋ० १-३८-८) यह षच् समवाये धातु का रूप है।

इन सभी प्रयोगों में अभ्यास को इकारादेश इस सूत्र से हुआ है।

३६—छन्दसीरः ।। ८।२।१५।।

वैदिक प्रयोगों में यह सूत्र मतुप् प्रत्यय के मकार को बकारादेश विधान करता है। इकारान्त और रेफान्त शब्दों से परे मतुप् के मकार को वकारादेश बहुल से होता है। जैसे—

इकारान्तान्मतुप् त्रिवली याज्यानुवाक्या भवन्ति ।। (काठ० ११।१) (त्रि+मतुप्+ङीप्)

हरिवो मेदिनं त्वा ।। (तै० सं० ४।७।१४।४) (हरि+मतुप्+सु)

अधिपतिवती जुहोति चरुरग्निवानिव ।। (अधिपति+मतुप्+ङीप्)

आरेवानेतु मा विशत् ।। (रयि+मतुप्)

रयिवः सुवीरम् ।। यजु० १८।७४।। (रयि+मतुप्+सु)

उपब्रह्माणि हरिवः ।। यजु०।८६ ।। (हरि+मतुप्+सु)

याहि हरिवः ।। यजु० ३४।१६।। (हरि+मतुप्+सु)

रेफान्तान् मतुप्=गीर्वान् ।। धूर्वान् । आशीर्वान् ।

इन सब प्रयोगों में मतुप् के मकार को अप्राप्त वकारादेश हुआ है।

३७ कृपो रो लः ।। (८।२।१८)

यह सूत्र कृप् धातु के रेफ को लकारादेश करता है। जैसे—कल्पना, किन्तु वैदिक प्रयोगों में इतना विशेष है—

संज्ञा-छन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम् ।।

कपिलादि प्रकृतिगण है। कपिलादि शब्दों में भी संज्ञा तथा वेद में रेफ को लकारादेश विकल्प से होता है। जैसे—कपिरकः । कपिलकः । कर्म । कलम ।

समवंन्तो रघुद्रुवः ।। यजु० १३।४२।। अत्र कपिलकादित्वाल्लत्वम् ।

अश्वं अज्ञानं सरिरस्य मध्ये ।। यजु०१३।४२।। अत्र कलपिकादित्वाल्लस्यरेफः ।

३८—धिच ।।८।२।२५।।

यह सूत्र धकारादि प्रत्यय के परे होने पर सकार का लोप करता है। जैसे—अलविध्वम् ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सिज्ग्रहणं न तत् ।
छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्त्तारमध्वरे ॥१॥

उ०—(इष्कर्तारमध्वरस्य), निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते । अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्प्यते । अप्राप्तविभाषेयम् ॥५२॥

दादेर्धातोर्घः ॥५३॥ अ० ८।२।३२॥

'हृग्रहोश्छन्दसि हस्य भत्वं वक्तव्यम् ।'

उ०—गर्दभेन संभरति, मरुदस्य गृभ्णाति ॥५०॥

मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि ॥५४॥ अ० ८।३।१॥

वेदविषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवति । गोमः, हरिवः, मीढ्वः ॥५४॥

वा शरि ॥५५॥ अ० ८।३।३६॥

वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्यः । वृक्षा स्थातारः, वृक्षाः स्थातारः । अनेन 'वायव स्थ'[1] इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते । अतः सामान्येनायं सार्वत्रिको नियमः ॥५५॥

यहाँ सिच् प्रत्यय के सकार का लोप हो गया है । इसी सूत्र पर महाभाष्य में 'घि सकारे सिचो लोपः' इत्यादि कारिका श्लोक दिये हैं । यहाँ ग्रन्थकार ने उसी कारिका का अन्तिम भाग उद्धृत किया है—

घसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सिज्ग्रहणं न तत् ।
छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्त्तारमध्वरे ॥

इस प्रकरण में यह सूत्र केवल सिच् के सकार का ही लोप न करके सकारमात्र का लोप करता है । इसी का दूसरा समाधान अन्तिम पंक्ति में किया है कि वैदिक प्रयोगों में वर्णलोप की भाँति यहाँ भी सलोप (घस् और भस् धातुओं में) मान लेना चाहिए । अन्तिम पंक्ति का निर्देश करना ही यहाँ अभीष्ट है, उसका अर्थ यह है -

वैदिक प्रयोगों में वर्ण का लोप विकल्प से समझना चाहिये । और यह विकल्प यथादृष्ट प्रयोगों के साधन के लिये ही है । जैसे—

(१) इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसम् ॥ यजु० १२।११०॥ अत्र निष्कर्त्तारम्' पदस्य छान्दसो-वर्णलोपः ।

(२) यम् अप्नवानो भृगवः ॥यजु० १५।२६॥ अत्र छान्दसो मतोस्तलोपः ।

(३) अभिष्टिराजुह्वानः ॥यजु० २०।३८॥ अत्रेष्टिशब्दस्येकारलोपश्छान्दसः ।

३९—दादेर्धातोर्घः ॥८।२।३२॥

इस सूत्र का निर्देश सूत्रस्थ निम्नवार्त्तिक के निर्देश के लिए है—

हृ-ग्रहोश्छन्दसि हस्य भत्वं वक्तव्यम् ॥वा० सू०॥

---

१. यजु० १।१॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में 'ईट्' का आगम होता है ॥४८॥

(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में धातु के अभ्यास को इकारादेश हो जाता है ॥४९॥

(छन्दसीरः) इससे वेदों में मतुप् प्रत्यय के मकार को वकारादेश हो जाता है ॥५०॥

(संज्ञा०) इससे वेदों में रेफ का लकार विकल्प करके होता है ॥५१॥

(घसि०) इससे वेदों में किसी-किसी अक्षर का कहीं-कहीं लोप हो जाता है ॥५२॥

(हृग्रहो०) इससे वेदों में हृ और ग्रहधातु के हकार को भकार हो जाता है ॥५३॥

(मतु०) इससे वेदों में मतुप् और वसु के नकार को रु होता है ॥५४॥

(वा शरि) खर् परे है जिससे ऐसा शर् परे रहने पर विसर्जनीय का विकल्प से लोप होता है ॥५५॥

उणादयो बहुलम् ॥५६॥ अ० ३।३।१॥

बहुलवचनं किमर्थम् ? "बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः" तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते, न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते । "प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्"—प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिताः, न सर्वे समुच्चिताः । "कार्य्यसशेषविधेश्च तदुक्तम्"—कार्य्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि, न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । किं पुनः कारणं तन्वीभ्यः

वैदिक प्रयोगों में हृ और गृह धातुओं के हकार को भकारादेश हो जाता है ।

जैसे—**गर्दभेन सम्भरति ॥** (तै० सं० ५।१।५।५)

मरुदस्य गृभ्णाति ॥

उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्मदेवा अवीवृधन् ॥ (यजु० १७।६४)

निग्राभेणाधरां २ अकः ॥ (यजु० १७।६३)

४०—मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि ॥८।३।१॥

वैदिक प्रयोगों में मतुप् प्रत्ययान्त और क्वसु प्रत्ययान्त शब्दों में मतुप् और वसु के लकार को सम्बुद्धि से रु होता है । जैसे—

गोमः । हरिवः । मीढ्वः ।

मत्वन्त=हरिवो मेदिनं त्वा ॥ (तै० ४।७।१४।४)

वसु=प्रत्ययान्त=मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ ॥ (ऋ०.२।३३।१४)

४१—उणादयो बहुलम् ॥ अ० ३।३।१॥

इस सूत्र पर उणादिपाठ में पठित उण् आदि प्रत्ययों की व्यवस्था बताने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने तीन कारिका श्लोकों का पाठ किया है । इनका प्रयोजन यह है—

नैगम-रूढिभवं हि सुसाधु ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते, न सर्वाभ्यः। किञ्च कारणं प्रायेण समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः। किञ्च कारणं कार्य्याणि सशेषाणि कृतानि, न पुनः सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि? "नैगमरूढिभवं हि सुसाधु"—नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चावैदिकास्ते सुष्ठु साधवः[1] कथं स्युः।

"नाम च धातुजमाह निरुक्ते"—नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः। "व्याकरणे शकटस्य च तोकम्"—वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति। अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः, कथं तत्र भवितव्यम्? "यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्"—प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्य्याद् विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

(बाहुलकं०) उणादिपाठे अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योऽपि भवन्ति। एवं प्रत्यया अपि न सर्वे एकीकृताः किन्तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतं, तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति, यथा फिडफिड्डौ भवतः[2]। तथा सूत्रैर्विहितानि कार्य्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति। यथा दण्ड इत्यत्र डप्रत्ययस्य डकारस्य इत्संज्ञा न भवति। एतदपि बाहुलकादेव।

अर्थात् निरुक्त में समस्त वैदिक शब्दों को आख्यातज माना है और उनकी सिद्धि का और लौकिक जो असंख्य रूढ़ि शब्द हैं, जिनकी व्याकरण से सामान्य अपवाद नियमों से सिद्धि नहीं की जा सकी है, उनकी अच्छी प्रकार से सिद्धि के लिए यह सूत्र तथा सूत्रस्थ कारिका श्लोकों की रचना क. गई है। इन श्लोकों का भाव यह है—

(१) उणादिसूत्रों से परिगणित धातुओं से ही प्रत्यय विधान किये गये हैं। उनमें यह नहीं समझना चाहिए कि केवल पठित धातुओं से ही ये प्रत्यय होते हैं। इनसे भिन्न धातुओं से भी यथादृष्ट प्रयोगों की सिद्धि के लिये उणादि प्रत्यय बहुल से होते हैं जैसे—'हृषेरुलच्' सूत्र से हृष् धातु से उलच् प्रत्यय का विधान किया है, किन्तु यह प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होता है। जिससे 'शकि' धातु से उलच् प्रत्यय करने से 'शंकुला' आदि शब्द सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार उण आदि प्रत्यय भी थोड़े से संकेतमात्र ही पठित है, बहुल वचन से अविहित प्रत्यय भी यथादृष्ट प्रयोग देखकर समझने चाहिए। जैसे—ऋफिडः। ऋफिड्डः। यहाँ ऋ धातु से फिड् और फिड्ड प्रत्यय अविहित ही समझने चाहिएँ।

---

१. महाभाष्ये 'रूढिभवाश्चोणादिकाः सुसाधवः' इति पाठः। अत्रत्यस्त्वपपाठ एव प्रतीयते।

२. फिडफिड्डावविहितावप्यौणादिकौ प्रत्ययौ। तदुक्तं महाभाष्यकृता—'फिडफिड्डावौणादिकौ प्रत्ययौ' इति ऋलृक् सूत्रभाष्ये।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(किं पुनः०) अनेनैतच्छङ्क्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रैः कार्य्याणि वि हतानि तावन्त्येव कथं न स्युः ? अत्रोच्यते—

(नैगम०) नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः। एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति। (नाम०) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः, (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः, तोकमित्यास्यापत्यनामसु[1] पठितत्वात्।

(यन्न०) यद् विशेषात् पदार्थान्न सम्यगुत्थितमर्थात् प्रकृतिप्रत्ययविधानेन न व्युत्पन्नं तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृति, । एतदूहनं क्व कथं च कर्तव्यमित्यत्राह—संज्ञाशब्देषु, धातुरूपाणि पूर्वमूह्यानि परे च प्रत्ययाः। (कार्य्याद्वि०) कार्य्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात्, एतत् सर्वं कार्य्यमुणादिषु बोध्यम् ॥५६॥

भाषार्थ—(उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि उणादिपाठ की व्यवस्था बाँधते हैं कि—(बहुलकं०) उणादिपाठ में थोड़े-से धातुओं से प्रत्ययविधान किया है, सो बहुल के होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यय भी उस ग्रन्थ में थोड़े-से नमूने के लिये पढ़े हैं, इनसे अन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में देखकर समझ लेना चाहिए। जैसे (ऋफिडः) इस शब्द में ऋ धातु से फिड प्रत्यय समझा जाता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए, तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते हैं उनमें जितने कार्य्य सूत्रों से होने चाहिएँ वे सब नहीं होते हैं, सो भी बहुल ही का प्रताप है।

और (कार्य विशेषविधेश्च०) अष्टाध्यायी में जो सूत्रों से कार्य होते हैं, वे सब कार्य भी उणादि में सर्वत्र नहीं होते हैं और अनेक अविहित कार्य भी हो जाते हैं। जैसे—दण्डः। यहाँ 'दम्' धातु से ड प्रत्यय हुआ है। इसमें 'चुटू' सूत्र से डकार की इत् संज्ञा नहीं होती। इसी प्रकार शम् धातु से ढ प्रत्यय करने पर 'षण्ढः' प्रयोग बनता है। इसमें मूर्धन्यादेश किसी सूत्र से प्राप्त नहीं है, फिर भी हो जाता है।

उणादिसूत्रों से पूर्वोक्त त्रिविध कार्य इसलिये विधान किये हैं कि जिससे वैदिक पदों तथा लौकिक संज्ञा शब्दों की भली-भाँति सिद्धि की जा सके।

(२) और निरुक्तकार तथा वैयाकरणों में शकट ऋषि के पुत्र शाकटायन ने समस्त संज्ञा शब्दों को धातुज=यौगिक=प्रकृतिप्रत्यय के संयोग से सिद्ध माना है। इसलिये अव्युत्पन्न रूढ़ि शब्दों को यौगिक कैसे माना जाये, उसका प्रकार समझाते हैं—व्याकरणशास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय माने गये हैं, इनमें से रूढ़ि शब्दों में यदि धातु (प्रकृति) का पता लग जाये तो नवीन प्रत्यय की कल्पना, और प्रत्यय का बोध हो जाये तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी चाहिये। और यह ऊहा (कल्पना) शब्दार्थ पर विचार कर यथादृष्ट ही करनी चाहिए।

(३) संज्ञा शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय की ऊहा कैसे करनी चाहिए! यह समझाते हैं—(**संज्ञासु०**) जो अव्युत्पन्न संज्ञा शब्द हैं, उनमें धातु को देखकर उससे परे प्रत्यय की तथा प्रत्यय को देखकर उससे पूर्व धातु की ऊहा करनी चाहिए और इसीप्रकार अनुबन्धों के कार्य देखकर प्रकृति और प्रत्ययों में भी अनुबन्धों की कल्पना करनी चाहिए। जैसे आद्युदात्त शब्द को देखकर प्रत्ययों में ञकार व नकार अनु-

१. निघं० २।२॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(किं पुन०) इसमें जो कोई ऐसी शंका करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किये और जितने कार्य्य शब्दों की सिद्धि में सूत्रों से हो सकते हैं, उनसे अधिक क्यों होते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम) वेदों में जितने शब्द हैं तथा संसार में असंख्य संज्ञाशब्द हैं, ये सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिए पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्य्य बहुलवचन से उणादि में होते हैं, जिसके होने से अनेक प्रकार के हज़ारह शब्द सिद्ध होते हैं।

(नाम०) अब इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने हैं, वे सब धातु और प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहिएँ तथा वैयाकरण जितने ऋषि हैं, उनमें से शाकटायन ऋषि का मत निरुक्तकारों के समान है और इनसे भिन्न ऋषियों का मत यह है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे रूढि हैं।

अब इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु-प्रत्यय मालूम कुछ भी नहीं होता, वहाँ क्या करना चाहिए ? उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिए कि व्याकरणशास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय हैं, इनमें से जो धातु मालूम पड़ जाएँ तो नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी और जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी। इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ विचार लेना चाहिए और दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दों में जिस अनुबन्ध का कार्य्य दीखे वैसा ही धातु वा प्रत्यय अनुबन्ध के सहित कल्पना करनी। जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो उसमें 'ञ्' अथवा 'न्' अनुबन्ध के सहित प्रत्यय समझना। यह कल्पना सर्वत्र नहीं करने लगना, किन्तु जो संज्ञाशब्द लोक में और वेद में प्रसिद्ध हों, उनके अर्थ जानने के लिए शब्द के आदि के अक्षरों में धातु की और अन्त में प्रत्यय की कल्पना करनी चाहिए।

यह सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिए है कि शब्दसागर अथाह है, इसकी थाह व्याकरण से नहीं मिल सकती। जो कहें कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्दसागर के पार पहुँच जाते, तो यह समझना कि कितने ही पोथा बनाते और जन्म-जन्मान्तरों भर पढ़ते तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता[1]। इसलिए यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है, जिससे शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाए ॥५६॥

इति व्याकरणनियमविषयः

बन्धों की कल्पना करनी चाहिए। इसीप्रकार टित् का कार्य ङीप् प्रत्यय देखकर टित् अनुबन्ध लगाना चाहिए।

यह सब ऋषियों की व्यवस्था अथाह शब्दसागर को स्वल्पकाल में समझने के लिये ही है। अन्यथा अथाह शब्दसागर को जानना अनेक जन्म-जन्मान्तरों में भी सम्भव नहीं है।

ग्रन्थकार ने यहाँ वैदिक कुछ विशिष्ट नियमों का दिग्दर्शनमात्र ही कराया है। इनसे भिन्न नियमों का ज्ञान अष्टाध्यायी-महाभाष्यादि ग्रन्थों से करना चाहिये।

---

१. द्र० बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रं चाध्ययनकालः, न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरंजीवति, वर्षशतं जीवति। महाभाष्य अ० १। पाद १। आ० १॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथालंकारविषयः संक्षेपतः

अथालङ्कारभेदाः संक्षेपतो लिख्यन्ते । तत्र तत्र तावदुपमालङ्कारो व्याख्यायते पूर्णोपमा चतुर्भिरुपमेयोपमानवाचकसाधारणधर्मैर्भवति । अस्योदाहरणम्—स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव[1] ॥१॥

उक्तानामेकैकशोऽनुपादानेऽष्टधा लुप्तोपमा । तत्र वाचकलुप्तोदाहरणम्—भीम इव बली भीमबली ॥१॥ धर्मलुप्तोदाहरणम्—कमलनेत्रः ॥२॥ धर्मवाचकलुप्तोदाहरणम्—व्याघ्र इव पुरुषः पुरुषव्याघ्रः ॥३॥ वाचकोपमेयलुप्तोदाहरणम्—विद्यया पण्डितायन्ते ॥४॥ उपमानलुप्ता ॥५॥ वाचकोपमानलुप्ता ॥६॥ धर्मोपमानलुप्ता ॥७॥ धर्मोपमानवाचकलुप्ता ॥८॥ आसामुदाहरणम्—काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः । एवमष्टविधा ॥१॥

अतोऽग्रे रूपकालङ्कारः । स चोपमानस्याभेदताद्रूप्याभ्यामधिकन्यूनोभयगुणैरुपमेयस्य प्रकाशनं रूपकालङ्कारः । स च षड्धा—

तत्र अधिकाभेदरूपकोदाहरणम्—अयं हि सविता साक्षाद् येन ध्वान्तं विनाश्यते । पूर्णविद्य इति शेषः ॥१॥

अथालङ्कारविषयः संक्षेपतः

'लुप्तोपमा' के दृष्टान्त इस प्रकार हैं—१—वाचकलुप्तोपमा—यथा 'भीमबली' । इसका अर्थ है 'भीम इव बली' अर्थात् भीम के समान बलवान् । इसमें 'इव' (के समान) इस उपमावाचक शब्द का लोप हो गया है । २—'धर्मलुप्ता', यथा 'कमलतुल्यनेत्रः' अर्थात् कमल के समान नेत्रोंवाला । यहाँ उपमेय 'नेत्र' तथा उपमान 'कमल' भी हैं और उपमावाचक शब्द 'तुल्य' भी है । किन्तु उपमान और उपमेय के साधारण धर्म 'सौन्दर्य' का लोप है । ३—'धर्मवाचकलुप्ता' यथा 'पुरुषव्याघ्रः' अर्थात् व्याघ्र के समान पराक्रमादिगुणयुक्त पुरुष । यहाँ उपमावाचक शब्द 'इव' तथा 'पराक्रमादि' धर्म दोनों का ही लोप हो गया है । ४—'वाचकोपमेयलुप्ता' यथा 'विद्यया पण्डितायन्ते' अर्थात् अपने आपको विद्या के कारण पण्डित की तरह दिखाते हैं । यहाँ 'पण्डित' उपमान है, स्वयं (अपने आप) उपमेय है, 'की तरह' (इव) उपमावाचक शब्द है । परन्तु इस उदाहरण में वाचक और उपमेय दोनों तुल्य अदृश्य हैं । इनके आगे की चारों प्रकार की लुप्तोपमा का एक ही दृष्टान्त है—"काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः" अर्थात् गुरु-शिष्य का समागम काकतालीय न्याय से है । इस दृष्टान्त में शेष चारों प्रकार की लुप्तोपमाएँ निम्न प्रकार से आ जाती हैं ।

---

१. ऋ० १।१।९॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यूनाभेदरूपकोदाहरणम्—अयं पतञ्जलिः साक्षाद्भाष्यस्य कृतिना विना ॥२॥

अनुभयाभेदरूपकोदाहरणम्—ईशः प्रजामवत्यद्य स्वीकृत्य समनीतिताम् ॥३॥

अधिकताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्—विद्यानन्दे हि सम्प्राप्ते राज्यानन्देन किं तदा ॥४॥

न्यूनताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्—साध्वीयं सुखदा नीतिरसूर्य्यप्रभवा मता ॥५॥

अनुभयाताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्—अयं घनावृतात् सूर्य्याद् विद्यासूर्य्यो विभज्यते ॥६॥

अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः। स च त्रिविधः—प्रकृतानेकविषयः, अप्रकृतानेकविषयः, प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च। तत्र

प्रकृतविषयस्योदाहरणम्—यथा नवकम्बलोऽयं मनुष्यः। अत्र नव कम्बला यस्य, नवो नूतनो वा कम्बलो यस्येति द्वावर्थौ भवतः। यथा च, श्वेतो धावति, अलंबुसानां यातेति[1]। तथैव अग्निमीळे[2] इत्यादिः।

अप्रकृतविषयस्योदाहरणम्—हरिणा त्वद्बलं तुल्यं कृतिना हितशक्तिना।

अथ प्रकृताप्रकृतविषयोदाहरणम्—उच्चरन्भूरिधानाढ्यः शुशुभे वाहिनीपतिः।

एवंविधा अन्येऽपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति। ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते। यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते।

'काकगमनमिव तालपतनमिव काकतालम्'—यहाँ पर इवार्थ में समास हुआ है। यद्यपि
व्याकरणानुसार इवार्थ में समास नहीं होता, तथा 'समासाच्च तद्विषयात्' (पा० ५।३।१०६) क्योंकि इस
सूत्र में तद्विषय अर्थात् इवार्थविषयसमास की ओर निर्देश किया है, अतः इसी उपर्युक्त सूत्र के ज्ञापक
से 'काकतालम्' यहाँ इवार्थ में समास हुआ है। इसी का नाम है 'समासार्थोपमा'। इसका यह अर्थ हुआ
कि जाते हुए शिष्य से इस प्रकार भेंट हो गई कि जैसे एक कौआ ताल के वृक्ष के नीचे जाकर बैठा और
उसके सामने उसी समय ताल का एक फल भी गिर पड़ा, अर्थात् कौए और ताल की तरह गुरु और
शिष्य का सङ्गमन हुआ। यहाँ कौए और ताल का 'सङ्गमन' उपमान है, गुरु-शिष्य का 'सङ्गमन'
उपमेय है तथा 'इव' उपमावाचक हैं। इस समासार्थोपमा' में उपमावाचक 'इव' और उपमान काकताल
का सङ्गमन इन दोनों का लोप हो गया है। अतः यह 'वाचकोपमानलुप्तोपमा' है। इसी प्रकार आगे
'काकतालमिव काकतालीयम्'—यहाँ दूसरे 'इव' के अर्थ में 'इवे प्रतिकृतौ' (पा० ५।३।९६) इस अधिकार
में पठित 'समासाच्च तद्विषयात्' (पा० ५।३।१०६) इस सूत्र से 'छ' प्रत्यय हुआ है। 'छ' को 'ईय्' आदेश
होकर 'काकतालीय' रूप बना है। इसी का नाम है 'प्रत्ययार्थोपमा'। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार
अकस्मात् प्राप्त हुए तालफल को कौए ने आनन्द से खाया, इसी प्रकार अकस्मात् प्राप्त हुए गुरु से शिष्य
ने बहुत कुछ सीखा। काककृततालफल का 'उपभोग' उपमान है। इस प्रत्ययार्थोपमा में उपमान फल
का 'उपभोग' लुप्त है, परन्तु उपमावाचक शब्द लुप्त नहीं है, क्योंकि 'इव' के अर्थ को यहाँ 'छ' प्रत्यय
दे रहा है, अतः यह पाँचवीं उपमानलुप्तोपमा है। इस समासार्थोपमा तथा प्रत्ययार्थोपमा में उपमान

---

१. द्र० महाभाष्यस्य प्रथमाह्निकस्यान्ते।

२. ऋ० १।१।१॥ अत्र अग्निशब्दः श्लेषेण प्रकृतं भौतिकमीश्वरं च द्वावर्थौ ब्रवीतीति भावः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—अब कुछ अलङ्कारों का विषय संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से पहिले उपमालङ्कार के ८ (आठ) भेद हैं—वाचकलुप्ता १, धर्मलुप्ता २, धर्मवाचकलुप्ता ३, वाचकोपमेयलुप्ता ४, उपमानलुप्ता ५, वाचकोपमानलुप्ता ६, धर्मोपमानलुप्ता ७, और धर्मोपमानवाचकलुप्ता ८॥ इन आठों से पूर्णोपमालङ्कार पृथक् है, जिसमें ये सब बने रहते हैं। उसका लक्षण यह है कि वह चार पदार्थों से बनता है, एक तो उपमान, दूसरा उपमेय, तीसरा उपमावाचक और चौथा साधारणधर्म। इनमें से 'उपमान' उसको कहते हैं कि जिस पदार्थ की उपमा दी जाती है। 'उपमेय' वह कहाता है कि जिसको उपमान के तुल्य वर्णन करते हैं। 'उपमावाचक' उसको कहते हैं कि जो तुल्य, समान, सदृश्य, इव, वत् इत्यादि शब्दों के बीच में आने से किसी दूसरे पदार्थ के समान बोध करावे। 'साधारणधर्म' वह होता है कि जो धर्म उपमान और उपमेय इन दोनों में बराबर वर्तमान रहता है। इन चारों के वर्त्तमान होने से पूर्णोपमा और इनमें से एक-एक के लोप हो जाने से पूर्वोक्त आठ भेद हो जाते हैं। पूर्णोपमा का उदाहरण यह है कि—'स नः पितेव०'। जैसे पिता अपने पुत्र की सब प्रकार से रक्षा करता है, वैसे ही परमेश्वर भी सबका पिता अर्थात् पालन करनेवाला है।

इसके आगे दूसरे रूपकालङ्कार के छह भेद हैं—१ अधिकाभेदरूपक, २ न्यूनाभेदरूपक, ३ अनुभयाभेदरूपक, ४ अधिकताद्रूप्यरूपक, ५ न्यूनताद्रूप्यरूपक, और ६ अनुभयताद्रूप्यरूपक॥ इसका लक्षण यह है कि उपमेय को उपमान बना देना और उसमें भेद नहीं रखना। जैसे—'यह मनुष्य साक्षात् सूर्य्य है, क्योंकि अपने विद्यारूप प्रकाश से अविद्यारूप अन्धकार का नाश नित्य करता है' इत्यादि।

तीसरा श्लेषालङ्कार कहाता है। उसके तीन भेद हैं—१ प्रकृत, २ अप्रकृत और ३ प्रकृताप्रकृतविषयक। जिसका लक्षण यह है कि किसी एक वाक्य वा शब्द से अनेक अर्थ निकलें, वह श्लेष कहाता है। जैसे 'नवकम्बल' इस शब्द से दो अर्थ निकलते हैं। एक नव हैं कम्बल जिसके, दूसरा नवीन है कम्बल जिसका।

इसी प्रकार वेदों में अग्नि आदि शब्दों के कई-कई अर्थ होते हैं सो श्लेषालङ्कार का ही विषय है। इस प्रकार के और भी बहुत अलंकार हैं, सो जहाँ-जहाँ वेदभाष्य में आवेंगे वहाँ-वहाँ लिखे जाएँगे।

और उपमेय में साधारण धर्म था, 'प्रवितर्कितसम्भव' अर्थात् इस सङ्गमन की सम्भावना ही नहीं थी, आशा ही नहीं थी। यह साधारण धर्म भी दोनों में लुप्त है, अतः समासार्थोपमा में यह आठवीं 'धर्मोपमानवाचकलुप्तोपमा' होगी और प्रत्ययार्थोपमा में यह सातवीं 'धर्मोपमानवाचकलुप्तोपमा' होगी।

रूपक में उपमान के रूप से उपमेय का रञ्जन होता है। इसमें कहीं तो उपमान और उपमेय में अभेद प्रतीति होती है और कहीं भेद प्रतीति होती है। केवल उपमान के धर्मों का उपमेय में आरोपमात्र होता है। पहले का नाम १—अभेदरूपक और दूसरे का नाम २—ताद्रूप्यरूपक है। इसमें से प्रत्येक में कहीं उपमान की अपेक्षया उपमेय में १—कुछ गुण अधिक बताकर या २—कुछ गुण न्यून बताकर या ३—न अधिक और न न्यून गुण कहकर वर्णन किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार होने से रूपक के छह भेद कहे गये हैं। इनके तथा आगे श्लेषालङ्कार के उदाहरण मूल में उपलब्ध हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १ ॥

—ऋ० मं० १ । सू० ८९ । मं० १० ॥

भाष्यम्—अस्मिन्मन्त्रे अदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति, तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते । नैवास्य मन्त्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम् ।

भाषार्थ—(अदिति०) इस मन्त्र में अदिति शब्द के बहुत अर्थ और बहुतेरे अर्थ इस शब्द के हैं, परन्तु इस मन्त्र में जितने हैं, वे सब वेदभाष्य में अवश्य लिये जाएँगे । वे अर्थ ये हैं—द्यौः, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेव, पञ्चजन, जात और जनित्व ।

॥ इत्यलङ्कारभेदविषयः संक्षेपतः ॥

अदितिरित्यस्य मन्त्रस्यार्थः "हे मनुष्यो ! तुम्हें यह जानना चाहिए कि (**द्यौः**) प्रकाशमान परमेश्वर या सूर्यादि, (**अन्तरिक्षम्**) आकाश, (**माता**) मान्य का कारण माता या विद्या, (**पिता**) उत्पन्न करनेवाला या पालनेवाला, (**पुत्रः**) औरस—विवाह सम्बन्ध से उत्पन्न, क्षेत्रज—नियोग से उत्पन्न या विद्या से उत्पन्न पुत्र [**द्विज**], (**विश्वेदेवाः**) समस्त विद्वान् या दिव्यगुणयुक्त पदार्थ, पञ्च (**इन्द्रियों का पञ्चक**) पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय, **जनाः**) जीव, (**जातम्**) जो कुछ उत्पन्न हो चुका है और (**उत्पत्स्यमानम्**) जो उत्पन्न होनेवाला है, वह सब (**अदिति**) अविनाशी है ।

इस प्रकार '**अदिति**' शब्द के यहाँ दस अर्थ किये हैं—द्यौः, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेवा, पञ्च, जनाः, जात (उत्पन्न) तथा जनित (उत्पत्स्यमान) । ईश्वर, जीव और प्रकृति की तो अविनाशी होने से अदिति संज्ञा है ही । वेदों में जहाँ-जहाँ अदिति शब्द पठित है वहाँ-वहाँ प्रकरणानुकूल उपयुक्त अर्थ का ग्रहण करना चाहिए ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ ग्रन्थसंकेतविषय:

अथ वेदभाष्ये ये सङ्केताः करिष्यन्ते त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। ऋग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां, षट्शास्त्राणां, षडङ्गानां, चतुर्णां ब्राह्मणानां, तैत्तिरीयारण्यकस्य च यत्र-यत्र प्रमाणानि लेखिष्यन्ते तत्र तत्रैते सङ्केता विज्ञेयाः—ऋग्वेदस्य ऋ०, मण्डलस्य प्रथमाङ्को, दितीयः सूक्तस्य, तृतीयो मन्त्रस्य विज्ञेयः। तद्यथा—ऋ० १।१।१।।

यजुर्वेदस्य य०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'य० १।१।।'

सामवेदस्य साम०, पूर्वार्चिकस्य पू०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो दशतेस्तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'साम० पू० १।१।१।।' पूर्वार्चिकस्यायं नियमः। उत्तरार्चिकस्य खलु—साम० उ०, प्रथमाङ्क प्रपाठकस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य।

अत्रायं विशेषोऽस्ति। उत्तरार्चिके दशतयो न सन्ति, परन्त्वर्द्ध प्रपाठके मन्त्रसंख्या[२] पूर्णा भवति। तेन प्रथमः पूर्वार्द्धप्रपाठको, द्वितीय उत्तरार्द्धप्रपाठकश्चेत्ययमपि सङ्केत उत्तरार्चिके ज्ञेयः। तद्यथा—'साम० उ० १। पू० १ ।। साम० उ० १। उ० १ ।।' अत्र द्वौ सङ्केतौ भविष्यतः। उकारेणोत्तरार्चिकं ज्ञेयं, प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन मन्त्रसंख्या ज्ञेया। पुनर्द्वितीये सङ्केते द्वितीयोकारेण[१] उत्तरार्द्धः, प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन तदेव।

अथर्ववेदे अथर्व०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयो वर्गस्य[३], तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'अथर्व १।१।१।।'

भाषार्थ—अब वेदभाष्य में चारों वेद के जहाँ-जहाँ प्रमाण लिखे जावेंगे उनके संकेत दिखलाते हैं। देखो ऋग्वेद का जहाँ-जहाँ प्रमाण लिखेंगे वहाँ ऋग्वेद का ऋ० और मण्डल १ सूक्त १ मन्त्र १ इनका पहला, दूसरा, तीसरा क्रम से संकेत जानना चाहिए। जैसे 'ऋ० १।१।१।'; इसी प्रकार यजुर्वेद का य०, पहला अङ्क अध्याय का, दूसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे—'य० १।१।'; सामवेद का नियम यह है कि साम० पूर्वार्चिक का पू०, पहला प्रपाठक का, दूसरा दशति का और तीसरा मन्त्र का जानना चाहिये। जैसे—'साम० पू० १।१।१।' यह नियम पूर्वार्चिक में है। उत्तरार्चिक में प्रपाठकों के भी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध होते हैं, अर्द्ध प्रपाठक पर्य्यन्त मन्त्रसंख्या चलती है। इसलिए प्रपाठक के अङ्क के आगे पू० वा उ० धरा जाएगा। उस पू० से पूर्वार्द्ध प्रपाठक और उ० से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा। इस प्रकार उत्तरार्चिक में दो संकेत होंगे। साम० उ० १। पू० १ ।।; साम० उ० १। उ० १।।, इसी प्रकार

---

१. वैमुद्रितेषु 'द्वितीय उकारेण' इत्यपपाठः। २. त्रिकरूपेति शेषः।

३. वर्ग शब्देनेह सूक्तं निर्दिष्टम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथर्ववेद में अथर्व०, पहला अङ्क काण्ड का, दूसरा वर्ग का, तीसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे—'अथर्व० १।१।१।।'

एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरेयस्य ऐ०, प्रथमांकः पञ्चिकायाः, द्वितीयः कण्डिकायाः। तद्यथा—ऐ० १।१।।

शतपथब्राह्मणे श०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयः प्रपाठकस्य[1], तृतीयो ब्राह्मणस्य, चतुर्थः कण्डिकायाः। तद्यथा—श० १।१।१।१।

एवमेव सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति, तेषां मध्याद् यस्य यस्य प्रमाणमत्र लेखिष्यते तस्य तस्य सङ्केतस्तत्रैव करिष्यते। तेष्वेवैकं छान्दोग्याख्यं, तस्य छां०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयः खण्डस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—छां० १।१।१।।

एवं गोपथब्राह्मणस्य गो०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य द्वितीयोः ब्राह्मणस्य[2]। यथा—गो १।१।।

एवं षट्शास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम् तस्य मी०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—मी० १।१।१।।

द्वितीयं वैशेषिकशास्त्रं तस्य वै०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीय आह्निकस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—वै० १।१।१।।

तृतीयं न्यायशास्त्रं, तस्य न्या०, अन्यद्वैशेषिकवत्।

चतुर्थं योगशास्त्रं, तस्य यो०, प्रथमाङ्कः पादस्य, द्वितीयः सूत्रस्य—यो० १।१।।

पञ्चमं सांख्यशास्त्रं, तस्य सां० प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः सूत्रस्य—सां० १।१।।

षष्ठं वेदान्तशास्त्रम् उत्तरमीमासाख्यं, तस्य वे०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य—वे० १।१।१।।

तथाङ्गेषु प्रथमं व्याकरणम् तत्राष्टाध्यायी, तस्या अ०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—अ० १।१।१।। एतेनैव कृतेन सूत्रसङ्केतेन व्याकरणमहाभाष्यस्य सङ्केतो विज्ञेयः। यस्य सूत्रस्योपरि तद्भाष्यमस्ति तद्व्याख्यानं लिखित्वा तत्सूत्रसङ्केतो धरिष्यते।

तथा निघण्टुनिरुक्तयोः प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः खण्डस्य। निघण्टौ—१।१।। निरुक्ते - १।१।। खण्डाध्यायौ द्वयोः समानौ।

तथा तैत्तिरीयारण्यके तै०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयोऽनुवाकस्य—तै० १।१।।

इत्थं सर्वेषां प्रमाणानां तेषु तेषु ग्रन्थेषु दर्शनार्थं सङ्केताः कृतास्तेन येषां मनुष्याणां द्रष्टुमिच्छा भवेदेतैरङ्कैस्तेषु ग्रन्थेषु लिखितसंकेतेन द्रष्टव्यम्। यत्रोक्तेभ्यो ग्रन्थेभ्यो भिन्नानां ग्रन्थानां प्रमाणं लेखिष्यते तत्रैकवारं समग्रं दर्शयित्वा पुनरेवमेव संकेतेन लेखिष्यत इति ज्ञातव्यम्।

भाषार्थ—इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम ऐतरेय ब्राह्मण का ऐ०, पहला अङ्क पञ्चिका का, दूसरा कण्डिका का—'ऐ० १।१।।'; शतपथ ब्राह्मण का श०, पहला अङ्क काण्ड का, दूसरा प्रपाठक

१. अत्र भूमिकायां प्रायेणाध्यायब्राह्मणयोर्निर्देश उपलभ्यते, क्वचिदेव प्रपाठकब्राह्मणयोः।

२. गोपथब्राह्मणे पूर्वोत्तरौ द्वौ भागौ स्तः, तदर्थं पू० उ० संकेताभ्यामपि भवितव्यम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का, तीसरा ब्राह्मण का, चौथा कण्डिका का—'श० १।१।१।१।।'; सामब्राह्मण बहुत हैं, उनमें से जिस-जिसका प्रमाण जहाँ-जहाँ लिखेंगे उस-उसका ठिकाना वहाँ धर देंगे। जैसे एक छन्दोग्य कहाता है उसका छां०, पहला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा खण्ड का, तीसरा मन्त्र का। जैसे –छां० १।१।१।।'; चौथा गोपथ ब्राह्मण कहाता है, उसका गो० पहला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा ब्राह्मण का जैसे—'गो० १।१।।' इस प्रकार का संकेत चारों ब्राह्मण में जानना होगा।

ऐसे ही छह शास्त्रों में प्रथम मीमांसा शास्त्र, उसका मी०, अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो—'मी० १।१।१।'; दूसरा वैशेषिक का वै०, पहला अङ्क अध्याय का, दूसरा आह्निक का, तीसरा सूत्र का। जैसे—'वै०' १।१।१।।' तीसरे न्यायशास्त्र का न्या० और तीन अङ्क वैशेषिक के समान जानो। चौथे योगशास्त्र का यो०, प्रथम अङ्क पाद का, दूसरा सूत्र का—'यो० १।१।।'; पाँचवें सांख्यशास्त्र का सां०, अध्याय और सूत्र के दो अङ्क क्रम से जानो। जैसे—'सां० १।१।।'; छठे वेदान्त का वे०, अध्याय, पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से—'वे० १।१।१।।'

तथा अङ्कों में अष्टाध्यायी व्याकरण का अ०, अध्याय, पाद, सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो। जैसे—'अ० १।१।१।।' इसी प्रकार जिस सूत्र के ऊपर महाभाष्य हुआ करेगा उस सूत्र का पता लिखके महाभाष्य का वचन लिखा करेंगे। उसी से उसका पता जान लेना चाहिए तथा निघण्टु और निरुक्त में दो-दो अङ्क अध्याय और खण्ड के लिखेंगे। ये संकेत इसलिए लिखे हैं कि बारम्बार पूरा नाम न लिखना पड़े, थोड़े से ही काम चल जाए, जिस किसी को देखना पड़े, वह उन ग्रन्थों में देख ले और जिन ग्रन्थों के संकेत यहाँ नहीं लिखे उनके प्रमाणों का जहाँ कहीं काम पड़ेगा तो लिख दिया जाएगा, परन्तु इन सब ग्रन्थों के संकेतों को याद रखना सबको योग्य है कि जिससे देखने में परिश्रम न पड़े।

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः,
संक्षेपाद् भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता।
सम्पूर्णाकार्य्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः,
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम् ॥१॥

मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च।
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः ॥२॥

भाषार्थ—यह भूमिका जो वेदों के प्रयोजन अर्थात् वेद किसलिए और किसने बनाये, उनमें क्या-क्या विषय हैं, इत्यादि बातों की अच्छी प्रकार प्राप्ति करानेवाली है। इसको जो लोग ठीक-ठीक परिश्रम से पढ़ेंगे और विचारेंगे, उनको व्यवहार और परमार्थ का प्रकाश, संसार में मान्य और कामना-सिद्धि अवश्य होगी। इस प्रकार जो निर्मल विषयों के विधान का कोश अर्थात् खज़ाना और सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से युक्त जो भूमिका है, उसको मैंने संक्षेप से पूर्ण किया। अब इसके आगे जो उत्तम बुद्धि देनेवाली परमात्मा की भक्ति उसमें अपनी बुद्धि को दृढ़ करके प्रीति के बढ़ानेवाले मन्त्रभाष्य का प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूं ॥१॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस मन्त्रभाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है, फिर मूल मन्त्र, उसका पदच्छेद, क्रम से प्रमाणसहित मन्त्र के पदों का अर्थ, अन्वय, अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है। इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है ॥२॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥

—य० ३०।३॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिता संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां सुभूषिता
सुप्रमाणयुक्तर्ग्वेदादिचतुर्वेदभाष्यभूमिका
समाप्तिमगमत् ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्य वेदभाष्यस्य अपूर्वत्वे चत्वारो हेतवः

इदं वेदभाष्यमपूर्वं भवति । कुतः ?

(१) महाविदुषामार्याणां पूर्वजानां यथावद् वेदार्थविदामाप्तानामाप्तकामानां धर्मात्मनां सर्वलोकोपकारबुद्धीनां श्रोत्रियाणां ब्रह्मनिष्ठानां परमयोगिनां ब्रह्मादिव्यास-पर्यन्तानां मन्यृषीणामेषां कृतीनां सनातनानां वेदाङ्गानाम्, ऐतरेयशतपथसामगोपथब्राह्मण-पूर्वमीमांसादिशास्त्रोपवेदोपनिषच्छाखान्तरमूलवेदादिसत्यशास्त्राणां वचनप्रमाणसंग्रहलेख-योजनेन प्रत्यक्षादिप्रमाणयुक्त्या च सहैव रच्यते ह्यतः ।

(२) वेदानां यः सत्यार्थः सोऽनेन भाष्येण सर्वेषां सज्जनानां मनुष्याणामात्मसु सम्यक् प्रकाशीभविष्यति । पुनरनर्थव्याख्यानानि यानि वेदानामुपरि वर्तन्ते तन्निवृत्तिरनेन च तत्प्रयुक्तभ्रमजालोऽपि लयं गमिष्यत्यवश्यमतश्च ।

(३) ततोऽसत्यव्यवहारत्यागात् सत्याचारग्रहणप्रवृत्तिभ्यां मनुष्याणां महान् सुखलाभो निश्चितो भविष्यति, वेदेश्वरयोः सत्यसाम्राज्यप्रकाशश्चातः ।

(४) सत्यधर्मार्थकाममोक्षाणां यथावत् सिद्धेश्चेत्यादयोऽस्य भाष्यस्यापूर्वत्वे हेतवो विज्ञेयाः ।

एतदर्थं सत्यविद्याप्रियैर्विद्वद्भिः सत्यार्थजिज्ञासुभिर्मनुष्योपकारसत्यविद्योन्नति-चिकीर्षुभी राजादिनृवर्यैरस्मिन् महति सर्वोपकारके कार्ये मासिक-पुस्तक-ग्रहणेन अन्यप्रकारेण च सर्वैर्यथाशक्त्या सहायः कार्य इति विज्ञाप्यते ।

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

भाष्यकर्त्ता स्वभाष्यस्य वैशिष्टयनिदर्शनाय १९३३ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते विज्ञापनेऽय-मंशो वर्त्तते ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का मैक्समूलर पर प्रभाव

यद्यपि मैक्समूलर प्रत्यक्षतः भारत में नहीं आ सके, परन्तु अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वे भारत व भारतीयता के प्रशंसक रहे। यह उनके 'India : What can it teach us' ? (भारत से हम क्या सीखें ?) में व्यक्त विचारों से स्पष्ट है। ऑक्सफ़ोर्ड में रहते हुए अपने प्रारम्भिक वर्षों में उनके लिये अपने अन्नदाताओं को सन्तुष्ट रखना आवश्यक था। इसलिए उस अवधि में उन्होंने जो कुछ लिखा वह उस स्थिति का परिणाम था। बाद में उनके विचारों में जो परिवर्त्तन आया, उसके दो कारण थे—

१—अपने अन्तरात्मा का विद्रोह—प्रो० मैक्समूलर को आर्थिक विपन्नता के कारण अपनी आत्मा का सौदा करके लार्ड मेकाले की दासता स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा था। इस आत्म-समर्पण के कारण उसकी आत्मा उसे सदा कचोटती रही। इसलिए जैसे हो उसे इस स्थिति से उबरने का अवसर मिला, वैसे ही उसका मन विद्रोह कर उठा और भीतर की बातें बाहर आने लगीं।

२—ऋषि दयानन्द की मान्यताओं से परिचय—मैक्समूलर ने लिखा है—"भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम कृति ऋग्वेद के दो संस्करण मासिक रूप में प्रकाशित हो रहे हैं—एक बम्बई से और दूसरा प्रयाग (इलाहाबाद) से। पहले में मूलसंस्कृत टीका तथा उसका मराठी और अंग्रेजी में अनुवाद रहता है और दूसरे में संस्कृत में विस्तृत व्याख्या तथा हिन्दी में उसका अनुवाद रहता है। ये ग्रन्थ ग्राहकों के चन्दे से प्रकाशित हो रहे हैं। ग्राहकों की संख्या पर्याप्त है।" (Of the Rigveda, the most ancient of Sanskrit books, two editions are now coming out in monthly numbers. The one published at Bombay by what may be called the liberal party, the other at Prayag (Allahabad) by Dayanand Saraswati, the representative of Indian orthodoxy. The former gives a paraphrase in Sanskrit and Marathi and English translation; the latter a full explanation in Sanskrit, followed by a vernacular (Hindi) commentary. These books are published by subscription and the list of subscribers among the natives of India is very considerable.—India : What can it teach us)

मैक्समूलर स्वामी दयानन्द द्वारा प्रयाग से मासिक रूप में प्रकाशित हो रहे ऋग्वेदभाष्य के नियमित ग्राहक थे और उनका नाम मुखपृष्ठ पर प्रकाशित ग्राहकों की सूची में शामिल था। स्वामी जी कृत ऋग्वेदभाष्य को पढ़कर मैक्समूलर की आंखें खुलीं और उसके विचार पलटा खाने लगे। सन् १८८२ में कैम्ब्रिज में मैक्समूलर के कुछ व्याख्यान हुए जो सन् १८८३ में 'India : What can it teach us'। नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इन व्याख्यानों में स्वामी दयानन्द, वेद और भारत के सम्बन्ध में मैक्समूलर का स्वर बदला हुआ था। कभी मैक्समूलर ने स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा था—"स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद का संस्कृत में भाष्य किया है, पर उनके समूचे साहित्य में ऐसा कुछ नहीं है जिसे मौलिक कहा जा सके, सिवा इसके कि उन्होंने वैदिक शब्दों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वाक्यों के कुछ विचित्र' से अर्थ किये हैं।" (He actually published a commentary in Sanskrit of the Rigveda. But in all his writings there is nothing which could be quoted as original, beyond his somewhat strange interpretation of words and whole passages of the Veda. — Maxmuller : A Real Mahatman, P. 8)

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पढ़ने के बाद मैक्समूलर ने इस महान् ग्रन्थ को संस्कृत साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए स्वामी दयानन्द और उनकी कृति का इन शब्दों में स्तवन किया—"सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य को हम ऋग्वेद से आरम्भ करके दयानन्द की ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका तक दो भागों में बाँट सकते हैं।" (We may divide the whole of Sanskrit literature, beginning with the Rigveda and ending with Dayananda's Introduction to his commentary of the Rigveda, into two parts.—India : What can it teach us, P. 102) इस प्रकार मैक्समूलर ने जहाँ संस्कृत साहित्य के एक ध्रुव पर ऋग्वेद को रक्खा वहाँ दूसरे ध्रुव पर दयानन्द की ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका को प्रतिष्ठित किया।

सन् १८६६ में मैक्समूलर ने लिखा था—"वैदिक सूक्तों को एक बहुत बड़ी संख्या बिल्कुल बचकानी, जटिल, निकृष्ट और साधारण हैं। उनमें न परस्पर संगति है और न सुलझे हुए अर्थों की स्थापना। वेद धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पोथे हैं जिनका अधिकांश बुद्धिगम्य नहीं है। मानवजाति के सीखतड़ बच्चे जिस आश्चर्य से जगत् को देखते हैं, उसी की छाया मन्त्रों में है।" (A Large number of Vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low and commanplace.—Chips from a German Workshop, Ed, 1866, P. 27)

उन्हीं मैक्समूलर ने सन् १८८२ में लिखा—"वेद में जैसी भाषा पाई जाती है, उसमें जैसा जीवन दर्शन है और जैसे धर्म का दर्शन होता है, उनसे जो दृश्यावली दृष्टिगत होती है, वर्षों में तो कोई उसकी दूरी नाप नहीं सकता। वेद में ऐसी भावनाओं का प्रकाश हुआ है जो हम यूरोपियनों को १९वीं शती में आधुनिक प्रतीत होती हैं। उससे अधिक प्राचीन साहित्यिक कृति का हमें नाम भी सुनने को नहीं मिला। मानव विचारधारा के इतिहास के विषय में जो महत्त्वपूर्ण जानकारी हमें वेद से मिलती है वह वेदों की खोज से पूर्व हमारी कल्पना से भी परे थी।" (हम भारत से क्या सीख सकते हैं? पृ० १३०)

सन् १८६८ में मैक्समूलर ने अपने पुत्र को लिखे पत्र में वेदों का इन तिरस्कारपूर्ण शब्दों में अवमूल्यन किया था—

"संसार की सब पुस्तकों में नया अहदनामा (Bible or New Testament), सर्वोत्कृष्ट है। इसके पश्चात् कुरान को, जो एक प्रकार से बाइबल का रूपान्तर है, रक्खा जा सकता है। तत्पश्चात् पुराना अहदनामा (Old Testament), बौद्ध त्रिपिटक, वेद और अवेस्ता हैं।" (Would you say that any one sacred book is superior to all others in the world? ···I say, the New Testament. After that I should place the Koran, which, in its moral teachings, is hardly more than a later edition of the New Testament. Then would follow···The old Testament, the Buddhist Tripitaka···The Veda and the Avesta.)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद में सन् १८८३ में मैक्समूलर ने इन शब्दों में वेद का प्रशस्तिगान किया—

"यदि हम उस स्रोत को जानना चाहते हैं जो मनुष्य के चरित्र का निर्माता है, विचारों का प्रेरक एवं कार्यों का नियन्ता है, जो भारत के निम्नतम वर्गीय से लेकर उच्चतम वर्गीय व्यक्ति को प्रभावित एवं अनुप्राणित करता है तो हमें भारतीयों के धर्म से परिचित होना चाहिए जिसकी भित्ती वेद की आधारशिला पर है।"—हम भारत से क्या सीख सकते हैं, पृष्ठ २२८

"यदि किसी को मानव जाति का अध्ययन करना हो, या आप चाहें तो यूं कह सकते हैं कि यदि किसी को आर्य जोवन के विषय में अध्ययन करना हो तो उसके लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होगा। संसार का कोई भी साहित्य इस क्षेत्र में वैदिक साहित्य की तुलना में नहीं ठहर सकता।"—वही, पृष्ठ १२४

"भारतीयों के इतिहास, धर्म, दर्शन, कानून इत्यादि को समझने के लिए यह अनिवार्य है कि उनका अध्ययन वेद से हो। बिना वेद के आधार के हिन्दू धर्म का पूर्ण ज्ञान असम्भव है।" (No one will ever understand the religious, philosophical, legal and social opinions of the Hindus who is unable to trace them back to their true sources in the Vedas.—India 126)

"लोगों ने वेद की महत्ता को कम करने के प्रयत्न कम नहीं किये, पर उसका महत्त्व आज भी वैसा ही है। आज भी धार्मिक, सामाजिक या दार्शनिक विवादों में वेद को ही अन्तिम प्रमाण माना जाता है।" —वही, २२७

इसी सन्दर्भ में संस्कृत की महत्ता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा—

"संस्कृत साहित्य में ऐसा क्या मिलेगा जो विश्व के अन्य साहित्यों में नहीं मिलता। इस प्रश्न के उत्तर में मेरा कथन है कि संस्कृत साहित्य में हमें वास्तविक आर्य के दर्शन होते हैं। इन आर्यों को हम यूनानी, ईरानी, रोमन, जर्मन, कैल्ट तथा स्लाव लोगों के रूपों में देख चुके हैं। परन्तु जिस आर्य का पता हमें संस्कृत साहित्य में मिलता है, उसका व्यक्तित्व इन सबसे निराला है।"—वही, १०८

वेदों की विशालता और सुरक्षा

"यह निश्चित है कि एक हजार वर्ष ईसा पूर्व, और इससे भी पहले न केवल वैदिक ऋचाओं की रचना हो चुकी थी, वरन् मन्त्रों, ब्राह्मणग्रन्थों एवं सूत्रों में उनका विभाजन भी पूर्ण हो चुका था। केवल ऋग्वेद की विशालता को देखिए। दस मण्डल हैं। प्रत्येक मण्डल में विभिन्न देवताओं के कई-कई सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त में कम से कम दस ऋचायें हैं। इस प्रकार इस विशाल निधि में १०२८ सूक्त और १०५५२ मन्त्र हैं और इन मन्त्रों में एक लाख तरेपन हजार आठ सौ छब्बीस शब्द हैं। इन शब्दों की योजना पूर्णतः परिष्कृत है। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर यह विशाल भण्डार तीन सहस्र वर्षों तक किस प्रकार पूर्णतः सुरक्षित रहा? यदि मैं यह कहूं कि इतना विशाल वैदिक साहित्य तीन हजार वर्षों तक केवल भारतीयों की स्मरण शक्ति के सहारे जीवित एवं सुरक्षित रहा तो कदाचित् आप लोगों का मस्तिष्क इस पर विश्वास करने को तैयार न हो। परन्तु है यह एकदम सत्य और जिसे इसमें किसी भी प्रकार की शंका हो तो वह स्वयमेव अपनी शंका का समाधान कर सकता है। आज भी, जबकि वेद की रचना पाँच सहस्र वर्ष (कम से कम) पुरानी हो चुकी है, यह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति है कि यदि इस साहित्य की समूची सामग्री नष्ट हो जाये तो भी वह जीवित रहेगा। आज भी भारत में ऐसे श्रोत्रिय हैं जिन्हें आदि से अन्त तक समूचा साहित्य कण्ठस्थ है, सो भी गुरुमुख से सुनकर, न कि पुस्तकों से पढ़कर। मुद्रित संस्करणों को तो वे प्रामाणिक मानते ही नहीं। स्वयं अपने ही निवास पर मुझे ऐसे लोगों से मिलने का सौभाग्य मिला है जो न केवल समूचे वेद का मौखिक पाठ कर सकते थे, वरन् उनका पाठ सन्निहित सभी आरोहावरोहों से पूर्ण होता था। उन लोगों ने जब भी मेरे द्वारा सम्पादित संस्करणों को देखा और जहाँ कहीं भी उन्हें अशुद्धि मिली तो बिना किसी हिचकिचाहट के उन्होंने उन अशुद्धियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया। मुझे आश्चर्य होता है उनके इस आत्मविश्वास पर जिसके बल पर वे सहज ही उन त्रुटियों को प्रकाश में लादेते थे जो हमारे संस्करण में यत्र-तत्र रह जाती थीं। इन सजीव पुस्तकालयों (श्रोत्रिय ब्राह्मणों) के न रहने पर प्राचीन संस्कृत साहित्य का अधिकांश महत्त्वपूर्ण भाग अलभ्य हो जायेगा और सदा के लिए लुप्त हो जायेगा।

हमारे छात्र जीवन-यापन की सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए विद्या पढ़ते हैं। भारतीय छात्रों की तत्कालीन शिक्षा में जीवन यापन की सुविधा प्राप्त करने का उद्देश्य गौण था, प्रमुख नहीं। प्रमुख भावना होती थी ज्ञान की प्राप्ति और ज्ञान को प्राप्ति का यह कार्य कर्त्तव्य समझकर किया जाता था।"—भारत से हम क्या सीख सकते हैं, पृष्ठ १६५

"वैदिक काल में ब्राह्मण लोग एक विशिष्ट वर्ग के प्रतिभाशाली व्यक्ति होते थे। प्राचीन भारतीय समाज के वे एक अत्यावश्यक अंग थे और नाम के अनुरूप ही उनका चरित्र भी होता था। वे दूसरों के लिए जीते थे और धनोत्पादक श्रम से अलग रहकर वे अहर्निश समाज कल्याण का चिन्तन करते थे। पहले यह एक सामाजिक कर्त्तव्य था, किन्तु कालान्तर में यही उनका धार्मिक कर्त्तव्य बन गया कि उनके खान-पान का व्यय समाज ही संभाले।"—वही

वेदव्याख्यान

स्वामी दयानन्द ने पाणिनि की अष्टाध्यायी और यास्क के निरुक्त के आधार पर वेदों का व्याख्यान किए जाने पर बल दिया था, जबकि मैक्समूलर लौकिक संस्कृत के अनुसार वेदभाष्य करते रहे थे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का अध्ययन करने पर उनका दृष्टिकोण बदला और उन्होंने लिखा—

"वास्तव में वैदिक देवों को समझने के लिए वैदिक प्रणाली ही एकमात्र प्रणाली है। किसी अन्य प्रणाली से उनका स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। ४०० वर्ष ईसा पूर्व में एक ब्राह्मण लेखक हुए हैं। उन्हीं का अनुसरण करके हम वेदों का स्पष्टीकरण प्राप्त कर सकते हैं। यास्क नामक इस विद्वान् के अनुसार वैदिक देवताओं का एक प्रकार का उपयोगी विभाजन हो सकता है और वह किया भी गया है। यास्क के अनुसार देवता तीन प्रकार के हैं—पृथिवी के देव, अन्तरिक्षस्थ वायु में रहने वाले देव और आकाश में रहने वाले देव।"—भारत से हम क्या सीख सकते हैं ? पृष्ठ १५०

"यास्क वही हैं जो पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में हुए थे।"—वही, २२३[1]

---

१. Native scholars call these rivers devatas or deities and Europeon scholars too speak of them as gods and godesses. But in the language used by the poet with regard to the Indus and other rivers, there is nothing to justify us in saying, that he considered these

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाश्चात्य मत के अनुसार वैदिक आर्य अग्नि, वायु, इन्द्र आदि के रूप में अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे। मैक्समूलर ने इससे मिलते-जुलते एक नये वाद को जन्म दिया। बहुदेवतावाद (Polytheism) तथा एकेश्वरवाद (Monotheism) के मुकाबले में मैक्समूलर ने (Henotheism) के नाम से एक नये मत की स्थापना की। हीनोथीज्म का अर्थ है जब किसी देवता की उपासना की जाये, तब उसी में सब गुण आरोपित कर दिये जाएँ, अन्य देवताओं को उस देवता से हीन कल्पित कर लिया जाए। वस्तुतः यह बहुदेववाद का ही एक रूप है। यह कल्पना इसलिए की गई, क्योंकि मैक्समूलर विकासवाद के विपरीत यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि मानव संस्कृति के प्रारम्भिक काल में एकेश्वरवाद जैसा उत्कृष्ट विचार मानव के मस्तिष्क में आ सकता था।

बाद में उसका यह विचार बदल गया और सन् १८८२ में 'भारत से हम क्या सीख सकते हैं' में उसने लिखा—"प्रथम दृष्टि में तो यही प्रतीत होता है कि वैदिक धर्म बहुदेववादी है। परन्तु बहुदेववादी का जो अर्थ हम लगाते हैं, उस अर्थ में यह शब्द वैदिक धर्म का, विशेषण नहीं बन सकता। वेद की घोषणा है—**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** अर्थात् विद्वान् लोग एक ही ईश्वर को अनेक नामों से पुकारते हैं।"[1]

वेदों को इतिहास के किसी कालखण्ड में रचित मानने वाले पाश्चात्य तथा तदनुयायी भारतीय विद्वानों की मान्यता है कि वेदों में उपलब्ध इतिवृत्तात्मक वर्णनों का समय-समय पर घटनेवाली घटनाओं से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, जबकि वैदिक विद्वानों के मत में वहाँ नित्य घटने वाली घटनाओं का मात्र औपचारिक या आलंकारिक वर्णन है। महर्षि दयानन्द के सम्पर्क में आने के बाद मैक्समूलर ने वैदिक मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा—

पौराणिक, गाथाओं की यह विशेषता रही है कि उनमें प्रतिवर्ष या प्रतिदिन घटने वाली घटनाओं को एक विशेष घटना का रूप देकर उसे किसी देवता या राजा के नाम से सम्बद्ध कर एक कथा का रूप दे दिया जाता है। कालान्तर में वे नित्यप्रति की घटनायें एक विशेष महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं। जब ये हर रोज़ घटने वाली घटनायें 'एक बार की बात है' से प्रारम्भ की जाती हैं तो उनका रूप ऐतिहासिक-सा हो जाता है। हम जानते हैं कि दिन और रात का दैनिक संघर्ष, कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष का मासिक संघर्ष, पर्याय से आने वाली ऋतुओं का वार्षिक संघर्ष अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। ऐतिहासिक उठक-पठक की घटनाओं से इन प्राकृतिक घटनाओं से विभिन्न कथाओं की सृष्टि हुई है जो अपने समकालीन साहित्य की निधि बन गई हैं। इन घटनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली ऐतिहासिक घटनाओं की कमी तो थी नहीं। यदि कभी कमी जान पड़ी

---

rivers as gods and goddesses, unless we mean by gods and goddesses something very different from what the Greeks called River gods and River goddesses, Nymphs, Najades or even Muses. And what applies to these rivers, applies more or less to all the objects of Vedic worship.···It is best for our purpose to follow an ancient Brahmanical writer, Yaska, who is supposed to have lived about 400 B. C.

१. There are hymns that assert the unity of the Divine as fearlessly as any passage of the old Testament or the Koran. Thus one poet says : "That which is one, sages name it in various ways—they call it Agni, Yama, Matarishva. **(एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः—ऋ० १,१६४,४६)**—India : What can it teach us, P. 128)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो काल्पनिक कथाओं की रचना करके काम चला लिया गया। आज भी हमारे बीच अनेक अच्छी कथायें प्रचलित हैं जो अनेक बार विभिन्न ऐतिहासिक ख्याति प्राप्त व्यक्तियों के नाम से संबद्ध होकर कही-सुनी जाती हैं। एक ही कथानक को विभिन्न कालों एवं परिस्थितियों में विभिन्न नामों से जोड़ा गया है और जोड़े जाने का यह काम आज भी बन्द नहीं हुआ है। बचपन से ही हम ऐसी कहानियां कहते-सुनते चले आये हैं। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि प्रति वर्ष आने वाली भयंकर बाढ़ों एवं उनके कारण होने वाली अपरिमित हानियों को अतिशयोक्ति में रंग कर जलप्लावन की रोचक कथा बनी है।—भारत से हम क्या सीख सकते हैं —पृ० १५४

श्राद्ध—श्राद्ध की मैक्समूलर द्वारा की गई निम्नलिखित व्याख्या निश्चय ही स्वामी दयानन्द के एतद्विषयक विचारों का परिणाम है—

"श्राद्ध शब्द अर्थपूर्ण है। इस शब्द के विषय में सर्वाधिक मनोरंजक तथ्य यह है कि न तो श्राद्ध शब्द का दर्शन वेद में मिलता है और न ब्राह्मणग्रन्थों में, अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यह शब्द काफी देर बाद प्रचलित हुआ है। आपस्तम्बधर्मशास्त्र में एक अनुच्छेद ऐसा है जिससे हम यह समझ सकते है कि श्राद्ध की क्रियायें बहुत प्राचीन नहीं हैं। श्राद्ध शब्द के कई अर्थ होते हैं। मनु ने इसका प्रयोग पितृयज्ञ के पर्यायवाची के रूप में किया है, परन्तु वास्तव में जिस किसी भी यज्ञ में श्रद्धापूर्वक दान किया जाय, उसी को श्राद्ध कह सकते हैं। इसमें उचित पात्रों, विशेषकर ब्राह्मणों, को दान दिया जाता है। इस दान को ही श्राद्ध की संज्ञा दी गई थी। कालान्तर में पूरे यज्ञ को ही श्राद्ध कहने लगे। श्राद्ध शब्द का मूल श्रद्धा है—**श्रद्धया कृतमिति श्राद्धम्** अथवा **श्रद्धार्थमिदं श्राद्धम्**। ऐसी स्थिति में श्राद्ध शब्द को जो लोग केवल सपिण्डतिलोदकदान तक सीमित समझते हैं, वे भूल करते हैं।"—भारत से हम क्या सीख सकते है ? पृ० २१६

सन् १८६८ में अपनी पत्नी के नाम लिखे एक पत्र में मैक्समूलर ने लिखा था—

"मुझे आशा है कि मैं उस काम (वेदभाष्य) को पूरा कर दूंगा और मुझे विश्वास है कि यद्यपि मैं उसे देखने के लिए जीवित नहीं रहूंगा तो भी मेरा किया वेदों का अनुवाद भारत के भाग्य और करोड़ों भारतीयों के भविष्य को प्रभावित करेगा। यह (वेद) उनके धर्म का मूल है और मूल को दिखा देना, उससे पिछले तीन हजार वर्षों में जो कुछ उससे निकलता है, उसे मूल सहित उखाड़ फेंकने का एकमात्र उपाय है।"[२]

---

१. It is a peculiarity of many of the ancient myths that they represent events which happen everyday or every year as having happened once upon a time. The daily battle between day and night, the yearly battle between winter and spring, are represented almost like historical events and some of the episodes belonging originally to these constant batteles of nature have certainly been transferred into and mixed up with battles that took place at a certain time.

I have little doubt, therefore, that the accounts of deluge, for instance, which we find almost everywhere are originally recollections of the annual torrents of rain or snow. —India : What can it teach us ?. P. 136,

२. I hope I shall finish that work and I feel convinced, though I shall not live

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार मैक्समूलर योजनाबद्ध रूप में भारत का सर्वनाश करने पर तुला हुआ था। उसी मैक्समूलर ने भारत की प्रशासनिक सेवा में नियुक्त युवकों को इंगलैण्ड से भेजे जाते समय भारत का परिचय देते समय बताया—

"आप अपने विशेष अध्ययन के लिए चाहे जो भी शाखा अपनायें—भाषा, धर्म, दर्शन, कानून, परम्परायें, प्रारम्भिक कला या प्रारम्भिक विज्ञान—हर विषय का अध्ययन करने के लिए भारत ही सर्वाधिक उपयुक्त क्षेत्र है। आप पसन्द करें या न करें, परन्तु वास्तविकता यही है कि मानव के इतिहास की बहुमूल्य एवं निर्देशक सामग्री भारतभूमि में संचित है, केवल भारत भूमि में।

यदि हमने अपने ज्ञानक्षेत्र को ग्रीक अथवा नार्मन इतिहास तक ही संकुचित कर लिया या अपने अध्ययन की पृष्ठभूमि में केवल मिश्र, फिलस्तीन तथा बेवीलोनिया को ही रखकर काम चलाना स्वीकार कर लिया और अपने सर्वाधिक समीपस्थ बौद्धिक सम्बन्धियों को दृष्टि से परे कर दिया और भारत के आर्यों के प्रति अपने उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण नहीं बदला तो हमारा ज्ञान सीमित ही रह जायेगा हमें स्मरण रखना चाहिए कि भारत के आर्यों ने संसार में सर्वाधिक आश्चर्यजनक भाषा को जन्म दिया है। हमारी मौलिक भावनाओं की संरचना में भारत के आर्य हमारे सहकर्मी हैं। संसार के सर्वोत्तम दार्शनिक सिद्धान्तों को जिन्होंने खोज निकाला है, वे भारत के आर्य ही हैं।

हमारी शिक्षा योजना के अन्तर्गत हमारे विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में जो अध्याय के अध्याय पढ़ाये जाते हैं, उनकी अपूर्णता प्रकट हो जायेगी, यदि हम उस इतिहास के भारत सम्बन्धी अध्याय को समुचित रूप से पढ़ने का प्रयत्न करें तथा स्वतन्त्र रूप से उनकी व्याख्या करने का कष्ट करें।"—भारत से हम क्या सीख सकते हैं? पृष्ठ ३३

"यदि हम सच्चे सत्यान्वेषी हैं, यदि हममें ज्ञानप्राप्ति की भावना है और यदि हम ज्ञान का ठीक-ठीक मूल्यांकन करना जानते हैं तो हमें इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि सहस्राब्दियों से पीड़ित-प्रताड़ित भारत में हमारा गुरु बनने की पूर्ण क्षमता है। आवश्यकता है केवल सच्चे हृदय से उस क्षमता को पहचानने की। यदि मुझसे पूछा जाये कि किस देश के मानव मस्तिष्क ने अपने सर्वोत्तम गुणों को विकसित करने में सफलता प्राप्त की है, कहाँ के विचारकों ने जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों एवं समस्याओं का सर्वोत्तम समाधान खोज निकाला है तथा इसी कारण वह काण्ट तथा प्लेटो के अध्ययन में पूर्णता को पहुँचे हुए व्यक्ति को भी आकर्षित करने की क्षमता रखता है, तो मैं बिना किसी सोच-विचार के भारत की ओर अंगुली उठा दूंगा।"—वही, पृ० २२-२३

पाश्चात्य विद्वानों का यह मत था, और आज भी है, कि भारत के मूल निवासी द्रविड़, दास और दस्यु नाम से पुकारे जाने वाले लोग थे। कालान्तर में आर्यों ने इस देश पर आक्रमण कर इस देश के आदिवासियों को पराजित कर बलात् अधिकार कर लिया। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द की

---

to see it. This edition of mine (of the Rigveda) and the translation of the Vedas will hereafter tell to a great extent on the fate of India and millions of its souls. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of up-rooting all that has sprung from it during the last three thousand years.—Life and letters of F. Maxmueller, Vol. I, Chap. XV, P. 34

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान्यता थी कि आर्य इस देश के मूल निवासी थे। उनका कहना था कि "मनुष्यों की आदि सृष्टि त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में हुई और आर्य लोग सृष्टि के आदि में कुछ काल के पश्चात् सीधे इसी देश में आकर बसे थे। आर्यों के पहले न इस देश का कोई नाम था और न उनसे पहले यहाँ कोई रहता था।" स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में आने पर मैक्समूलर के विचारों ने पलटा खाया और स्पष्ट शब्दों में उसने घोषणा की कि हम सब भारत से आये हैं। उन्होंने लिखा—

यह निश्चित है कि हम सब पूर्व से ही आये हैं। इतना ही नहीं, हमारे जीवन में जो कुछ मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है, वह सब हमें पूर्व से ही मिला है। ऐसी स्थिति में जब भी हम पूर्व की ओर जायें तभी हमें यह सोचना चाहिए कि पुरानी स्मृतियों को संजोये हम अपने पुराने घर की ओर जा रहे हैं।[1]

---

१. "We all come from the East— all that we value most has come to us from the East and by going to the East everybody ought to feel that he is going to his 'old home' full of memories, if only we can read them."—P. 21

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट-२

ऋग्वेदभाष्य के नमूने का अङ्क, उसपर तथा भूमिका पर किये गये आक्षेपों का ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा दिये गये उत्तर पत्र तथा ग्रन्थों का संग्रह

पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

जब ऋषि दयानन्द सरस्वती की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का प्रकाशन आरम्भ हुआ तब पौरस्त्य और पाश्चात्त्य विद्वानों में उसी प्रकार खलबली मच गई जैसे किसी महान् जल से पूर्ण शान्त सरोवर में अकस्मात् भारी उल्कापात से उत्पन्न होती है। मध्य युगीन वेद सम्बन्धी मान्यताओं, जो कई सहस्र वर्षों से भारतीय विद्वानों में बद्धमूल चली आ रही थीं, और जिनको आधार बनाकर ईसाई, यहूदी मत के पक्षपाती अनेक पाश्चात्य विद्वान् वेद के गौरव को नष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो रहे थे, उनकी दृष्टि से ऋषि दयानन्द का यह प्रयास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और क्रान्तिकारी था।

दयानन्द के इस महान् प्रयास से अर्थात् वेद के वास्तविक महत्त्व और गाम्भीर्य को प्रकट करने वाले आर्ष-पद्धति के अनुसार वेदार्थ को प्रस्तुत करने वाले महान् कार्य से जहाँ भारतीय मध्य-युगीन परम्पराओं के प्रासाद के धराशायी होने की आशङ्का हो गई, वहाँ मध्ययुगीन भ्रष्ट वेदार्थ को आगे करके वेद और वैदिक धर्म की मान्यताओं का उपहास करने वाले और उसकी ओट में वैदिक धर्म को समूल नष्ट करके भारत में ईसाई मत के प्रचार व प्रसार का स्वप्न देखने वाले पाश्चात्य विद्वानों को भी अपने मनसूबे समाप्त होते दृष्टिगोचर होने लगे। इसलिए 'चोर-चोर मौसेरे भाई' की किंवदन्ती के अनुसार भारतीय और पाश्चात्य उभयविध विद्वानों ने दयानन्द की विचारधारा और उनके सत्य वेदार्थ और वेद के गाम्भीर्य को प्रकट करने वाले इस ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका ग्रन्थ का प्रचार व प्रसार रोकने के लिए इस ग्रन्थ के विरुद्ध अनेक लेख व पुस्तिकायें प्रकाशित कीं। इनमें आर० ग्रिफ़िथ, सी० एच० टानी, पं० गुरुप्रसाद, पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न और राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' तथा उनकी ओट में तीर चलाने वाले स्वा० विशुद्धानन्द व पं० बालशास्त्री आदि प्रमुख व्यक्ति थे।

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने इन सभी प्रमुख व्यक्तियों के आक्षेपों का उत्तर पत्र वा पुस्तिकाओं द्वारा उसी समय दिया। इन पत्र व पुस्तिकाओं का ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। इसलिए हम भूमिकाभास्कर के परिशिष्ट रूप में इन्हें प्रस्तुत कर रहे हैं।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि ऋषि दयानन्द की वेद सम्बन्धी प्राचीन आर्ष विचारधारा का भारतीयों और पाश्चात्य विद्वानों ने चाहे कितना ही विरोध क्यों न किया हो, परन्तु वह विचारधारा धीरे-धीरे विद्वानों के हृदय में बैठती चली गई। उसने विद्वानों के मस्तिष्कों को न केवल आन्दोलित किया, अपितु उनके विचारों को भी बहुत सीमा तक बदल दिया। मैक्समूलर के सन् १८६६ के आसपास के वेद सम्बन्धी विचारों की तुलना जब हम उसके सन् १८८२ के 'हम भारत से क्या सीखें?' शीर्षक व्याख्यानों से करते हैं तो दोनों में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। यह अन्तर निस्सन्देह ऋषि दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और वेदभाष्य (जितना उस समय तक छपा था) के अध्ययन के कारण हुआ था। मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियमित ग्राहक थे। इनका नाम ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अङ्क ७ के अन्त में छपी ग्राहक सूची में मिलता है। उसमें इनके साढ़े चार रुपया वार्षिक शुल्क की प्राप्ति का निर्देश है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रो० मैक्समूलर पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था इसका दूसरा प्रमाण है उनका ऋषि दयानन्द का जीवनचरित लिखने का संकल्प। ऋषि दयानन्द के स्वर्गवास के कुछ मास पश्चात् मैक्समूलर ने परोपकारिणी सभा के तात्कालिक मन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या से इस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार भी किया था। परोपकारिणी सभा की आदिम कार्यवाही से ज्ञात होता है कि इस विषय में सभा ने एक प्रस्ताव पास किया था जिसमें सभा ने 'सब आर्यसमाजियों को प्रेरणा दी कि जिन्हें स्वामी जी की कोई घटना ज्ञात हो तो वह प्रो० मैक्समूलर साहब को लिखें।'

हन्त ! यदि सभा उस समय प्रस्ताव मात्र पास करके न रहती और स्वयं घटनाओं को संगृहीत करके मैक्समूलर को इस कार्य में सहायता देती, तो मैक्समूलर द्वारा यह एक अद्भुत कार्य होता। हमने ऋषि की महत्ता को उतना नहीं आँका जितना मैक्समूलर ने आँका था। इसका ज्ञान इसी से हो जाता है कि मैक्समूलर ने तो ऋषि के स्वर्गवास के कुछ समय पश्चात् ही ऋषि का जीवनचरित लिखने का संकल्प किया और हमने (पंजाब प्रतिनिधि सभा ने, परोपकारिणी ने नहीं) १२ वर्ष पश्चात् ऋषि का जीवनचरित्र लिखने के लिए प्रयत्न किया।

ऋषि दयानन्द ने सं० १९३४ में ऋग्वेदभाष्य का जो नमूने का अङ्क छापा था, उसका संकेत इस ग्रन्थ में 'वेद विषय विचार' प्रकरण में पृष्ठ २६८ पर मिलता है। यथा—

(अग्निमीळे) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि 'इन्द्रं मित्रम्' ऋङ्मन्त्रोऽयम्। अस्योपरि 'इममेवाग्निं महान्तमात्मानम्' इत्यादि निरुक्तं च लिखितं तत्र द्रष्टव्यम्। तथा 'तदेवाग्निस्तदादित्य०' इति यजुर्मन्त्रश्च।

इतना ही नहीं महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि ने ऋषि के वेदभाष्य पर जो आक्षेप किये थे उनमें से कुछ इस नमूने के अङ्क पर भी थे। अत एव उनके जो उत्तर ऋषि दयानन्द ने दिए, उनका सम्बन्ध इस नमूने के अङ्क के साथ होने से हम उसे भी इस संग्रह में सर्वतः प्रथम स्थान दे रहे हैं। इस प्रकार यह पूरी सामग्री एक स्थान पर संगृहीत होने से पाठकों को अवश्य लाभ होगा, यह हमारा विश्वास है।

निवेदक

युधिष्ठिर मीमांसक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ ओ३म् ॥

॥ ऋग्वेदः ॥

अष्टक १ । अध्याय १ । वर्ग ॥

॥ अस्याग्नेयसूक्तस्य——मधुच्छन्दा ऋषिः, अग्निर्देवता, गायत्रीच्छन्दः, षड्जः स्वरः ॥

मू०— ओ३म् । अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् । होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥१॥

पदपाठः——अ॒ग्निम् । ई॒ळे । पु॒रःऽहि॑तम् । य॒ज्ञस्य॑ । दे॒वम् । ऋ॒त्विज॑म् ॥ होता॑रम् । र॒त्न॒ऽधात॑मम् ॥१॥

अथ वेदभाष्यम्

अथात्र प्रथमत ईश्वर एवार्थोऽग्निशब्देन गृह्यते । अत्र प्रमाणानि—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।

—ऋग्वेद अष्टक, अध्याय ३, वर्ग २२, मन्त्र ४६ ॥

अस्यायमर्थः । एकस्य सतः परब्रह्मण इन्द्रादीनि बहुधा नामानि सन्तीति वेदितव्यम् ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपस्स प्रजापतिः ॥

—यजुर्वेद अध्याय ३२, मन्त्र १ ॥

यत्सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्म तदेवाग्न्यादिनामवाच्यमत्र बोध्यम् ॥

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । देवो देवेभिरागमत् ॥

—ऋ० अ० १, अ० १, व० १, मन्त्र ५ ॥

कविः सर्वज्ञः, सत्यः सर्वदा विनाशरहितः, अत्यन्ताश्चर्य्यश्रवणश्चेत्यादिविशेषणयुक्तो मुख्यतया परमेश्वरो भवितुमर्हति नान्यः ॥

ब्रह्म ह्यग्निः ॥ शतपथ काण्ड १, अध्याय ५ ॥[1] आत्मा वा अग्निः ॥ श० कां० ७, अध्याय २॥[2] अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च । श० कां० ६, अ० १॥[3] संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः ॥ श० कां० ६, अ० ६ ॥[4] अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः ॥ श० कां० १, अ० १॥[5]

अग्निर्ब्रह्मात्मनोरत्र वाचकोऽस्ति । प्रजाशब्देन भौतिकोऽग्निः प्रजापतिशब्देनात्रेश्वरो ग्राह्यः ।[6]

एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् ॥ श० कां० १, अ० १ ॥[7]

सत्याचारनियमपालनं देवानां विदुषां व्रतं तत्पतिरीश्वरः ॥

---

१. शत० १।५।१।११॥ २. शत० ७।३।१।२॥ मूले 'अ० २' प्रमादपाठः ।

३. शत० ६।१।२।४२॥ ४. शत० ६।६।१।२०॥ ५. शत० १।१।१।२॥

६. इतोऽग्रे 'देवानां विदुषां व्रतम्' इत्येतावानंशः 'एतद्ध वै' इत्युद्धरणात् प्राक्पठ्यते । सोऽस्थान इति कृत्वा यथास्थानं स्थापितः ॥ ७. शत० १।१।१।५॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एष वै देवाननु विद्वान्यदग्निः ।। श० कां० १, अ० ५।।[1]
तेषूभयेषु मर्त्येष्वग्निरेवाऽमृत आस ।। श० कां० २, अ० २ ।।[2]

विद्यासंभव ईश्वरेऽस्ति नैव च भौतिके, यथाऽमृतत्वं परमेश्वर एव घटते नान्यत्रेति ।।

प्राणोग्निः परमात्मेति मैत्र्युपनिषदि[3] प्रपाठक ६, खण्ड ९ ।।

एष हि खल्वात्मेशानः शंभुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृक् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता विधाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निरिवाग्निनापि हितः सहस्राक्षेण हिरण्मयेनाण्डेन एष वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्वेत्यादि ।।

—मैत्र्युपनिषदि[4] प्र० ६, खं० ८।।

प्राणाग्न्यात्मेशानादीनीश्वरस्य नामान्यत्र सन्तीति बोध्यम् ।।

अग्निर्वै सर्वा देवता इत्याद्यैतरेयब्राह्मणे पञ्चिका १, अध्याय १ ।।[5]

यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितमिति मनुनोक्तत्वात् १२ अध्याये ।।[6]

अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति सन्नममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद्दग्धाद्वा नीतात् स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीःपरस्तस्यैषा भवतीति ।।

—निरुक्त अध्याय ७, खण्ड १४।।

अग्रणीः सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव[7] प्रतिपादनादीश्वरस्यात्र ग्रहणम् । दग्धाविति विशेषणाद्भौतिकस्यापि च ।।

अग्निः सर्वा देवता इति निर्वचनाय, इन्द्रं मित्रं वरु० एकं सद्विप्रा ब०, इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यञ्च गरुत्मन्तं, दिव्यो दिविजो गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यते यमेव सोग्निर्निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ।। —नि० अ० ७, खं० १८।।

अनेनोभयोर्ज्ञानप्रकाशवतोर्ज्योतिषोरीश्वर भौतिकाग्न्योर्ग्रहणमित्युभयार्थग्रहणस्येदं प्रमाणम् ।।

अग्निः पवित्रमुच्यते अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः पवित्रं ते माम्पुनन्त्वित्यपि निगमो भवति ।।—नि० अ० ५, खं० ६ ।।

---

१. शत० १।५।२।६।। २. शत० २।२।२।८।। ३, देखो पृष्ठ ६ की टि० १ ।।

४. मैत्रायण्युपनिषद् शुद्ध नाम है । यहाँ के पाठ तथा 'भ्रान्तिनिवारण' में मैत्र्युपनिषद् के नाम से उद्धृत समस्त पाठ श्री प० सातवलेकर जी द्वारा सम्पादित मैत्रायणी संहिता के अन्त में मुद्रित मैत्रायणी आरण्यक में मिलते हैं । अन्यत्र छपी मैत्रायण्युपनिषद् में सब पाठ नहीं मिलते । यदि मैत्रि और मैत्रायण नाम एक ही व्यक्ति के हों तो दोनों नामों से प्रोक्तार्थ में मैत्री मैत्रायणी पद बन सकते हैं । दाक्षि दाक्षायण आदि कुछ नाम एक ही व्यक्ति के हैं, यह इतिहाससिद्ध है ।

५. ऐत० ब्रा० १।१।१।। शत० १।६।२।८।। ६. मनु० १२।११९।।

७. तुलना कार्या—अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति । शाङ्करभाष्य, वेदान्त १।२।२८।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशासितारं सर्वेषामणीयां समणोरपि । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥१॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥२॥ इति
—मनुस्मृति, अ० १२, श्लोक १२२, १२३ ॥

पवित्रः पवित्रकर्ता परमात्मास्तीत्यतः पवित्रशब्देन परमेश्वरस्यैव ग्रहणम् ॥ तथापरः पुरुषोऽग्न्यादीनि च परमेश्वरस्यैवात्र नामानि सन्तीति बोध्यम् । इत्यादिभिः प्रमाणैरग्निशब्देन परमात्मनोऽत्र ग्रहणमिति सिद्धम् ॥

(अग्निमीले) सर्वज्ञस्सर्वशक्तिमान् न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तः परमेश्वरोऽग्निः पितृवत् पुत्रान् प्रत्युपदिशति स्म—हे जीव मनुष्यदेहधारिन् ! अहम् अग्निं परमात्मानं ईले स्तौमीति वदेति पूर्वान्वयः । ततो जीवोऽभिवदति सर्वज्ञं शुद्धं सनातनमजमनाद्यनन्तं सर्वव्यापकं जगदादिकारणं स्वप्रकाशं परमेश्वरमग्निमहमीले स्तौमि । तस्मादन्यमीश्वरत्वेन लेशमात्रमपि नाश्रये । कस्मै प्रयोजनाय ? धर्मार्थकाममोक्षसिद्धय इति निश्चयः । अञ्चु गतिपूजनयोः, णीञ् प्रापणे, अगि गत्यर्थः, इण् गतौ इत्यादि धातुभ्योऽग्निशब्दः सिध्यति । अञ्चति, अच्यते, जानाति, ज्ञायते, गच्छति, गम्यते, प्राप्नोति, प्राप्यते, पूजयति, सत्क्रियते, पूज्यते, नयति, प्राप्नोति, नीयते, प्राप्यते, धर्मात्मा जनो विद्वान् तथा विद्वद्भिर्धर्मात्मभिर्मुमुक्षुभिश्चेत्याद्विव्याकरणनिरुक्तप्रमाणैरप्यग्निशब्देन परमेश्वरग्रहणे सुष्ठूक्तिर्गम्यते ॥ कथंभूतः सोऽग्निः (पुरोहितम्) सर्वस्य जगतः स्वभक्तानां च धर्मात्मनां भक्तेरारम्भात् पूर्वमेव सकलपदार्थोत्पादनेन विज्ञानादिदानेन चैनं जीवं दधाति स पुरोहितः परमात्माऽग्निः । डुधाञ् धारणपोषणयोः, अस्मात् पुरः पूर्वात् क्तप्रत्ययान्तात् पुरोहितशब्दः सिध्यति । अतएव सर्वाधारकस्सर्वपोषकश्चेश्वर एव नान्यः ॥ अत्राह निरुक्तकारः—

पुरोहितः पुर एनं दधाति होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायद्देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति वृष्टिवर्निं वृष्टियाचिनं रराणो रातिरभ्यस्तो बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत् सोऽस्मै वाचमयच्छद् बृहदुपव्याख्यातमिति ॥
—नि० अ० २, खं० १२ ॥

(यज्ञस्य देवम्) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु अस्माद्धातोर्नङ्प्रत्ययान्ताद् यज्ञशब्दः साध्यते । अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तस्य क्रियासमूहजन्यस्य सर्वजगदुपकारकस्य यज्ञस्य । यद्वा परमेश्वरस्य सामर्थ्यात् सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरुत्पन्नासीत् तत् प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तकार्यकारणसंगत्योत्पन्नस्यास्य जगतो यज्ञस्य । अथवा सत्संगतिकरणोत्पन्नस्य विद्यादिविज्ञानयोगादेर्यज्ञस्य । यज्ञः कस्मात्प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ता याच्ञो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो यजूंष्येनं नयन्तीति वा ॥ नि० अ० ३, खं० १९ ॥ देवं दातारं सुखानां द्योतकं सर्वस्य जगतः प्रकाशकं सर्वैर्विद्वद्भिः कमनीयम्, स्वभक्तानां मोदकं हर्षकरम् । शत्रूणां मनुष्याणां कामक्रोधादीनां वा विजिगीषकम्, विजेतुमिच्छन्तं देवम् । दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, अस्माद्धातोरचि प्रत्यये कृते देवशब्दः सिध्यति ॥

(ऋत्विजम्) कृल्ल्युटो बहुलमिति वार्त्तिकम् । कृत्यल्युटो बहुलमित्यस्य भाष्येऽस्ति, अतः कर्मण्यपि क्विन् । सर्वेषु ऋतुषु यजनीयं पूजार्हं यथाकालं जगद्रचकं ज्ञानादियज्ञसाधकमृत्विजम् । ऋतूपपदात् क्विन् प्रत्ययान्ताद् यजधातोरयं प्रयोगः ॥

(होतारम्) सर्वजगते सर्वपदार्थानां दातारम्, मोक्षसमये प्राप्तमोक्षाणां जनानामादातारं ग्रहीतारम्, वर्त्तमानप्रलययोः समये सर्वस्य जगत आदातारं ग्रहीतारमाधारभूतं होतारम् ॥ हु दानादनयोः,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदाने चेत्येके, अस्माद्धातोरयं शब्दः सिद्धो जायते। अदनं भक्षणं न, किंतु चराचरस्य जगतो ग्रहणम्, तत्कर्त्ता परमेश्वरोऽत्तेत्युच्यते ।। अत्र प्रमाणम् – अत्ता चराचरग्रहणात् इति वेदान्तशास्त्रस्य सूत्रम् ।

—अ० १, पा० २, सू० ९ ।।

((रत्नधातमम्) रत्नानि सर्वजनै रमणीयानि प्रकृत्यादिपृथिव्यान्तानि ज्ञानहीरकसुवर्णादीनि च जीवेभ्यो दानार्थं दधातीति रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधाः स रत्नधातमः तं रत्नधातमम् । रत्नोपपदात् क्विबन्ताड् डुधाञ्-धातोस्तमबन्तः प्रयोगः ।।

इमं मन्त्रं यास्को निरुक्तकार एवं समाचष्टे—अग्निमीळेऽग्निं याचामीळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा, पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च । देवो दानाद्वा दापनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता, होतारं ह्वातारं जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभो रत्नधातमं रमणीयानां दातृतमम् तस्यैषापरा भवतीति ।।

—नि० अ० ७, खं० १५

अथास्य मन्त्रस्यान्वयो लिख्यते—पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमं परमात्मानमग्निमहमीळे स्तौमि याचामि तस्यैवाध्यन्वेषणं कुर्वे इत्यन्वयः ।।

अथ संस्कृतभाष्यस्य प्राकृतभाषयार्थो लिख्यते

(अग्निमीळे) इस मन्त्र का ईश्वराभिप्राय से जो अर्थ है सो प्रथम किया जाता है ।। इस मन्त्र में अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण होता है । इसके ग्रहण में "इन्द्रं मित्रं वरुण" इत्यादि यथालिखित प्रमाण का आधार है । सब जगत् को उत्पन्न करके, संसारस्थ पदार्थों का और परमात्मा का जिससे यथार्थ ज्ञान होता है, उस सनातन अपनी विद्या का सब जीवों के लिए, आदि सृष्टि में परमात्मा ने उपदेश किया है, जैसे अपनी संतानों को पिता उपदेश करता है, वैसे ही परम कृपालु पिता जो परमेश्वर है उसने हम सब जीवों के हित के लिए सुगमता से वेदों का उपदेश किया है जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और सब पदार्थों का विज्ञान और उनसे यथावत् उपकार लेवें, इसलिए अत्यन्त हित से हम लोगों को उपदेश किया है, सो हम लोग भी अत्यन्त प्रेम से इसको स्वीकार करें । अब जैसा उपदेश परमात्मा को करना है सो सब जीवों की ओर से परमेश्वर करता है; कि जीव लोग जब इस वेद को पढ़े, पढ़ावें, पाठ करें और विचारेंगे तब यथावत् कर्त्ता क्रिया और कर्म का सम्बन्ध हो जाएगा । जो सबका जाननेवाला, शुद्ध, सब विकारों से रहित, सनातन, जो सब काल में एकरस बना रहता है, जो अज है, जिसका कभी जन्म नहीं होता, जो अनादि है, जिसका आदि कारण कोई नहीं, जो अनन्त है, जिसका अन्त कोई नहीं ले सकता, जगत् में जो परिपूर्ण हो रहा है, सब जगत् का आदिकारण और जो स्वप्रकाशस्वरूप है, ऐसा जो परमेश्वर जिसका नाम अग्नि है, उसकी मैं स्तुति करता हूँ । इससे भिन्न कोई दूसरा ईश्वर नहीं है, और उसको छोड़के दूसरे का लेशमात्र भी आश्रय मैं कभी नहीं करता, किस प्रयोजन के लिए ? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनकी सिद्धि के लिए । अञ्जु गतिपूजनयोः इत्यादि धातुओं से अग्नि शब्द सिद्ध होता है, अञ्चतीत्यादि० जो सबको जानता है, जो सब वेदादिक शास्त्रों से जाना जाता है, जो सबमें गत नाम प्राप्त हो रहा है, जो सर्वत्र प्राप्त होता है, जो सब धर्मात्माओं का सत्कार करता है, जिसका सत्कार सब विद्वान लोग करते हैं, जो सब सुख को प्राप्त करता है और जो सब सुखों के अर्थ प्राप्त किया जाता है, इस प्रकार व्याकरण निरुक्त आदि के प्रमाणों से अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कोई भी विवाद नहीं है ।। पूर्वोक्त अग्नि कैसा है कि (पुरोहितः) सब देहधारियों की उत्पत्ति से प्रथम ही सब जगत् और स्वभक्त धर्मात्माओं के लिए सब पदार्थों की उत्पत्ति जिसने की है और विज्ञानादि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दान से जो जीवादि सब संसार का धारण और पोषण करता है, इससे परमात्मा का नाम पुरोहित है। पुरःपूर्वक क्त प्रत्ययान्त डुधाञ् धातु से पुरोहित शब्द सिद्ध हुआ है। इसी से सबका धारण और पोषण करनेवाला एक परमात्मा ही है। अन्य कोई भी नहीं। इस पुरोहित शब्द में पुर एनं० इत्यादि निरुक्त का भी प्रमाण है ।। (यज्ञस्य देवम्) यज धातु से यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। इसका यह अर्थ है कि अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त विविध क्रियाओं से जो सिद्ध होता है, जो वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् को सुख देनेवाला है उसका नाम यज्ञ है, अथवा परमेश्वर के सामर्थ्य से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, इन तीनों गुणों की जो एक अवस्थारूप कार्य उत्पन्न हुआ है जिसका प्रकृति अव्यक्त और अव्याकृतादि नामों से वेदादि शास्त्रों में कथन किया है, उससे लेके पृथिवी पर्यन्त कार्यकारण संगति से उत्पन्न हुआ जो जगत् रूप यज्ञ है, अथवा सत्यशास्त्र सत्यधर्माचरण सत्पुरुषों के संग से जो उत्पन्न होता है, जिसका नाम विद्या, ज्ञान और योग है, उसका भी नाम यज्ञ है, इन तीनों प्रकार के यज्ञों का जो देव है, जो सब सुखों का देनेवाला, जो सब जगत् का प्रकाश करनेवाला, जो सब भक्तों को आनन्द करानेवाला, जो अधर्म अन्यायकारी शत्रुओं का और काम क्रोधादि शत्रुओं का विजिगीषक नाम जीतने की इच्छा पूर्ण करनेवाला है,इससे ईश्वर का नाम देव है ।। (ऋत्विजम्) जो सब ऋतुओं में पूजने योग्य है, जो सब जगत् का रचने वाला और ज्ञानादि यज्ञ को सिद्धि का करनेवाला है, इससे ईश्वर का नाम ऋत्विज् है। ऋतु शब्दपूर्वक क्वन् प्रत्ययान्त यज धातु से ऋत्विज् शब्द सिद्ध होता है ।। (होतारम्) जो सब जगत् के जीवों को सब पदार्थों को देनेवाला है। जो मोक्ष समय में मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों का ग्रहण करनेवाला है तथा जो वर्त्तमान और प्रलय में सब जगत् का ग्रहण और धारण करनेवाला है, इससे परमात्मा का होता नाम है। हु दानादनयोः। आदाने चेत्येके। इस धातु से तृच् प्रत्यय करने से होता शब्द सिद्ध हुआ है ।। (रत्नधातमम्) जिनमें रमण करना योग्य है, जो प्रकृत्यादि पृथिवीपर्यन्त रत्न यथा विज्ञान हीरादि जो रत्न और सुवर्णादि जो रत्न हैं, जिनके यथावत् उपयोग करने से आनन्द होता है, उन रत्नों का सब जीवों को दान के लिए जो धारण करता है, वह रत्नधा कहाता है, और जो अतिशय से पूर्वोक्त रत्नों का धारण करनेवाला है, इससे परमेश्वर का नाम रत्नधातम है। रत्न शब्दपूर्वक क्विप् प्रत्ययान्त डुधाञ् धातु से तमप् प्रत्यय करने से यह शब्द सिद्ध हुआ है। इस मन्त्र को निरुक्तकार यास्क मुनि ने जिस प्रकार की व्याख्या की है सो संस्कृत में लिखी है, उसको वहीं देख लेना ।।

।। अथ द्वितीयोऽर्थः ।।

(अग्निमीले) अत्राग्निशब्देन भौतिकोऽग्निर्गृह्यते। रूपगुणं दाहकमूर्ध्वगामिनं भास्वरमग्निमहमीले, तस्य गुणानामन्वेषणं कुर्वे। कीदृशगुणोऽग्निरस्तीत्याह—कलाकौशलयानचालनादिपदार्थविद्याया अग्निरेव मुख्यं कारणमस्ति। विनाग्निनेदृगुत्तमक्रिया नैव सिध्यति। अतएव सर्वैर्विद्वद्भिः शिल्पिभिरग्नेः स्वभावगुणा यथावदध्यन्वेषणीयाः ।। पुरा ह्यार्यैर्याश्वविद्या शीघ्रगमनहेतुः सम्यक् संपादितेति श्रूयते साग्निविद्यैवासीत् ।। अत्र प्रमाणानि—

ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः। यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयंस्तस्याभयेनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत तस्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यात्तदश्वमानेतवै ब्रूयात्स पूर्वेणोपतिष्ठते वज्रमेवैतदुच्छ्रयति तस्याभयेनाष्ट्रेनिवातेऽग्निर्जायत, इति ।। —श० कां० २, अ० १ ।।[1] वृषो अग्निरिति ।। श० कां० १, अ० ४ ।।[2] अग्निर्वा

१. शत० २।१।४।१६। २. शत० १।४।१।२९।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अश्वः ।। श० कां० ३, अ० ६।।[1] अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति ।। श० कां० १, अ० ४।।[2] तूर्णिर्हव्यवाडिति ।। श० कां० १, अ० ४।।[3] अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्येति ।। श० कां० १, अ० ६।।[4]

इत्याद्यनेकप्रमाणैरश्वनाम्ना भौतिकोऽग्निरेवात्र गृह्यते। आशुगमनहेतुत्वादश्वोऽग्निर्विज्ञेयः अयमेवाग्निर्वज्रः सर्वपदार्थोच्छेदकत्वात् स्वयमच्छेद्यत्वाच्चाश्ववद्विमानादियानानां शीघ्रं गमयितेति विज्ञायते। वृषवद्यानानां वोढाऽग्निरिति च, तथाश्ववदपि। एषोऽग्निरश्वो भूत्वा देवेभ्यो विद्वद्भ्यः शिल्पविद्याविद्भ्यो मनुष्येभ्यः शिल्पविद्यासंगतं विमानादियानाख्यं यज्ञमेषोऽग्निरेव वहति प्रापयतीति शेषः अत एव तूर्णिः शीघ्रगमनहेतुः, हव्यवाड् दातुं ग्रहीतुं योग्यं शिल्पविद्यामयं यज्ञं वहति प्रापयतीत्यर्थः इत्थं शिल्पविद्यासमूहभूतस्य यज्ञस्याग्निरेव योनिः कारणं बीजं निदानमिति शेषः ।।

(पुरोहितम्) अत एव सोऽग्निः पुरोहितः पुरस्तात् विमानकलाकौशलक्रियाप्रचालनादिगुणमेनं शिल्पविद्यामयं दधातीति पुरोहितः ।। (यज्ञस्य देवम्) विविधक्रियाजातस्य शिल्पविद्यादिक्रियाजन्यबोधसंगतस्य, देवः व्यावहारिकविद्याप्रकाशकस्तम् ।। (ऋत्विजम्) सर्वशिल्पादिव्यवहारविद्याद्योतनमर्हम् ।। (होतारम्) तद्विद्यादिगुणानां दातारमादातारं च ।। अत एव (रत्नधातमम्) तद्विद्यानिष्ठानां शिल्पिनां रत्नैरतिशयेन पोषकम्। तद्विद्याऽऽधारकं वा।

अस्यान्वयस्तु पूर्ववद्वेदितव्यः।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायतेति ।। शुक्ल[5] य० अ० ३१। मन्त्र १२ ।। तथा तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः। वायोरग्निरिति० तैत्तिरीयोपनिषदि अनुवाक १ ।।

इत्यादिभिः प्रमाणैर्भौतिकोऽग्निरेवात्र ग्राह्यः। कुतः? उत्पत्तिस्थितिप्रलयवतां पदार्थानां संसारान्तर्गतभावात्। परमेश्वरस्त्वेतेभ्यो विलक्षण एवातः। भौतिकाग्न्यादीनि जन्मादिधर्मवन्ति सन्ति कार्यत्वात्। परमेश्वरस्य जन्मादयो धर्मा न विद्यन्ते सर्वस्यादिकारणत्वात्। इति द्वितीयोऽर्थः ।।

पूर्वेषां भाष्यकृतां सायणाचार्यादीनां ये गुणाः सन्ति ते त्वस्माभिरपि स्वीक्रियन्ते। गुणानां सर्वैः शिष्टैः स्वीकार्यत्वात्। तेषां ये दोषाः सन्ति तेऽत्र दिग्दर्शनेन खण्ड्यन्ते। रावणोवटसायणमाधवमहीधराणां दोषवद्भाष्यखण्डनविषये यत्र यत्र समानं भाष्यं तत्र तत्रैकस्य खण्डनेनेतरेषामपि भाष्यस्य खण्डनं वेद्यम्। यत्र यत्र च विशेषस्तत्र तत्र पृथक् पृथक् खण्डनं विधास्यामि। तेनैवाऽङ्ग्लेण्डभाषादिनिर्मितस्य व्याख्यानस्यापि खण्डनं बोध्यम्।

सायणाचार्यादिभिरग्निशब्देनात्र भौतिकोऽग्निर्गृहीतः। तद्यथा—तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं संपादयति। यद्वा यज्ञस्य संबन्धिनि पूर्वभाग आहवनीयरूपेणावस्थितम्। [1]यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थनादविरोधः इत्युक्तत्वात्।

---

१. शत० ३।६।२।५। २. शत० १।४।१।३०। ३. शत० १।५।२।१२।

४. शत० १।५।२।१६। मूलपाठः 'अ० ६' इत्यपपाठः।

५. ऋषिदयानन्द ने 'शुक्ल यजुर्वेद' शब्द का व्यवहार ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका (रा. ला. क/ ट्र. सं.) पृष्ठ १७३, ३६४ तथा भ्रमोच्छेदन (शताब्दी सं० पृष्ठ ८९८) में भी किया है।

१. इदं वाक्यमृग्वेदस्योपोद्घातस्यादौ 'तस्माद्यज्ञात्' मन्त्रव्याख्याने वर्तते। शिष्टं वचनं प्रकृतमन्त्रव्याख्यान एव।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इदमसमञ्जसं मुख्येश्वरार्थस्य त्यागात् । इन्द्रादिरूपधारणमपीश्वरो नैव करोति । स पर्यगाच्छुक्रमकायम्[1], अज एकपात्[2] इति मन्त्रार्थविरोधात् । इन्द्रं मित्र[3]मित्यादिप्रमाणैः सिद्धस्य परमेश्वरार्थस्य त्यागः शिष्टसंमतो नास्ति ।[4] भौतिकाग्न्यर्थस्य विषयस्याप्यल्पोक्तत्वात्[5] । तस्मादयमर्थोऽपि निर्दोषो नास्ति । इन्द्रादीनि परमेश्वरस्य सूर्यादीनां च नामानि सन्ति । तान्यैतरेयशतपथादिब्राह्मणनिरुक्तव्याकरणादिषु व्याख्यातानि । तथा वेदेष्वपि तेषां मध्यादस्मिन् मन्त्रभाष्येऽपि कानिचिदिन्द्रादीनि नामानि प्रकाशितानि ।[6] अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रार्थस्य विषय आगमिष्यति तत्र तत्र खण्डनं मयोदाहरिष्यते । सायणाचार्येण तथा प्रतिपादनं नैव कृतमतस्तद्भाष्यं दोषवदस्तीति बोध्यम् । एतत्खण्डनाभ्यन्तरे डाक्तरविलसनाख्यवेदार्थयत्नादीनामपि खण्डनमागतमिति विज्ञेयम् । कश्चिद् ब्रूयात् सायणाचार्यादिभिर्निरुक्तादिप्रामाण्ययुक्तं भाष्यं विहितम् । कथं दोषवदिति ? अत्रोच्यते । निरुक्तादिवचनानि तु लिखितानि । परन्तु तानि तद्वचनाद्विरुध्यन्त एव । तद्यथा—अग्निः कस्मादग्रणीर्भवती[7]त्यादि । अग्रणीः सर्वोत्तमः । अग्रं सर्वोत्तमं नयतीत्यनेन परमेश्वरस्यैव ग्रहणं भवितुमर्हति नान्यस्य । कुतः ? गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः[8] इति व्याकरणन्यायेन परमेश्वरादग्रणीर्मुख्यः कश्चिदपि नास्तीत्यतो विरोध एव तद्भाष्येऽस्ति । अन्येऽपि बहवो दोषास्तत्र सन्ति ग्रन्थभूयस्त्वभयान्नोल्लिख्यन्ते । एतावतैवेदृशानि पूर्वजकृतानि भाष्याण्यासन् । यानि भवन्ति भविष्यन्ति च तेषां खण्डनं तावतैव बोध्यम् । अग्रेऽग्रे यद्यदत्यन्तविरुद्धं भाष्यमस्ति तत्तदेव खण्डयिष्यामि नान्यदिति च ॥१॥

भाषार्थ—(अग्निमीले) अब दूसरा अर्थ व्यवहारविद्या के अभिप्राय से प्रमाण के सहित किया जाता है । इस अर्थ में अग्नि शब्द से भौतिक अग्नि जो यह जलाने और ऊपर चलनेवाला है तथा सब पदार्थों का अलग-अलग करने और बल देनेवाला तथा जिसका रूप गुण है और मूर्तिमान् द्रव्यों का जो प्रकाशक है, तथा जो ज्वालारूप है उसका ग्रहण किया जाता है । मैं उस अग्नि की स्तुति करता हूँ, उसके गुणों का अन्वेषण अर्थात् खोज करता हूँ । अग्नि में कौन-कौन गुण है और किस विद्या को सिद्धि होती है ? जो-जो कलाकौशल सवारी चालनादि पदार्थविद्याओं की सिद्धि करने के उत्तम गुण हैं सो-सो अग्नि से ही प्राप्त होते हैं, इससे अग्नि ही शिल्पविद्या का मुख्य कारण है, क्योंकि बिना अग्नि से कोई भी उत्तम गुणवाली पदार्थविद्या सिद्ध नहीं हो सकती, इसी से जो विद्वान् लोग पदार्थविद्या में हो गये, होते हैं, और होंगे, उन सबों ने पदार्थविद्या में अग्नि को ही मुख्य साधन माना है, मानते हैं और मानेंगे । इस समय में भी जो पदार्थविद्याओं को किया चाहे सो भी अग्नि के गुणों का खोज करे । पहिले आर्य्यों ने अश्वविद्या नाम से जो विमानादि शिल्पविद्या सिद्ध की थी वह अग्निविद्या ही थी । अश्वविद्या जो अग्न्यादि पदार्थों से रसायनविद्या होती है सो शिल्पविद्या ही थी । इसमें अनेक प्रमाण हैं । "ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः यदश्वमित्यादि" शतपथादि ग्रन्थों का यथालिखित प्रमाण देख लेना । उनमें अश्व जो अग्नि है उसी का ग्रहण किया है । इस प्रकार के अनेक प्रमाणों से अश्वादिक नामों से इस भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया जाता है । आशु नाम शीघ्र चलाने का जो हेतु है इससे अग्नि को ही अश्व जानना ।

---

१. यजु० ४०।८। २. ऋ० ७।३५।१३।। ३. ऋ० १।१६४।४६।

४. प्रकरणमिदं (सायणभाष्यदोषप्रदर्शनपरं) ग्रन्थ-कृता स्वीयर्ग्वेदभाष्यभूमिकायां भाष्यकरणशंकासमाधानादिविषयस्यादौ (पृष्ठ ३६४, ३६५) विस्तरेण निरूपितम् ।

५. भौतिकार्थसामान्ये ग्रहीतव्ये सायणेन केवलं यज्ञविषयक एवाग्निर्गृहीत इति तस्याल्पता ।

६. एतन्मन्त्रस्य प्रथमार्थस्यादौ । ७. निरु० ७।१४। ८. सीरदेवीय परिभाषावृत्ति १०३ ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिल्पविद्यारूप यज्ञ का अग्नि ही देव है। इसी अग्नि का वज्र नाम है क्योंकि सब पदार्थों को अलग-अलग करने और प्रकाशनेवाला अग्नि ही है और वह किसी से छेदन में नहीं आता, इससे अग्नि का नाम वज्र है। वृषः वृषवत् बैल की नाईं सवारियों को चलानेवाला अग्नि ही है तथा घोड़े की नाईं भी सवारियों को दौड़ानेवाला अग्नि ही है तथा तूर्णिः अग्नि को ही अत्यन्त वेगवाला सवारियों के चलाने में जानना तथा हव्यवाट् शिल्पविद्यारूप यज्ञ की प्राप्ति करानेवाला भी अग्नि ही है॥ (पुरोहितम्) इसीसे इस अग्नि को पुरोहित जानना। विज्ञान, कला, कौशल, क्रिया चालनादि गुणों का धारण करनेवाला है और सब विद्याओं का प्रथम हेतु होने से अग्नि का नाम पुरोहित है॥ (यज्ञस्य देवम्) यज्ञ का देव अर्थात् विविध क्रियाओं से जो शिल्पविद्या बनती है उस विद्या का जो प्रकाश करनेवाला है सो देव है॥ (ऋत्विजम्) जो शिल्पादि सब व्यवहारों की सिद्धि करनेवाला है॥ (होतारम्) जो उस विद्या के दिव्य गुणों को देने और धारण करनेवाला है॥(रत्नधातमम्) जो उस शिल्पविद्या के जाननेवाले मनुष्यों को रत्नों से अत्यन्त सुख देनेवाला है। उसी को हम लोग शिल्पविद्या की सिद्धि के लिए ग्रहण करें॥ चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ है, इत्यादि। शुक्ल[1] यजुर्वेद तथा तैत्तिरीयोपनिषदादि प्रमाणों से व्यवहार-विद्या में भौतिक अग्नि का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जिन पदार्थों की उत्पत्ति और वर्त्तमान होके पुनः प्रलय हो उन सब पदार्थों को संसार में ही जानना चाहिए, इससे भौतिक अग्नि को ही इस अर्थ में जानना। परमेश्वर तो इन जन्मादि धर्मवाले पदार्थों से सदा अलग ही है और सबका आदिकारण है॥

पूर्व जो सायणाचार्य आदि वेदभाष्य के करनेवाले हैं, और जो उनके भाष्य में दोष हैं, उनका खण्डन संक्षेप से दिखाया जाता है। जो रावण, उवट, सायण और महीधर वेदों के व्याख्या करनेवाले हैं इनमें से एक के खण्डन से इस प्रकार के अन्य का भी खण्डन सर्वत्र जान लेना और जहाँ-जहाँ उनमें बड़ा दोष है उस-उस का अलग-अलग खण्डन किया जायेगा। वैसे ही आर्यभाषा दक्षिणभाषा[2] किंवा अन्य भाषा तथा अंग्रेजी भाषा में किये व्याख्यान का भी खण्डन जानना। उनका दोष संक्षेप से लिखते हैं।

इस मन्त्र के अर्थ में सायणाचार्य आदि ने भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है, जिसमें होम करते हैं, इस अर्थ से भिन्न अर्थ का ग्रहण नहीं किया है। इसका खण्डन संस्कृत में लिखा है वहाँ समझ लेना। अन्यथा भाष्य बनानेवाले जितने पहिले हो गए, इस समय जितने हैं वा आगे जितने होंगे, इन सबका भाष्य खण्डन के योग्य अवश्य है, क्योंकि मनुष्यों की बुद्धि, विद्या, विचार, बल और पराक्रमादि अधिक न्यून होते ही रहते हैं। इससे बिना विचार किये ग्रन्थ का प्रमाण सर्वदा नहीं रहता इसमें कुछ आश्चर्य नहीं॥१॥

अथ द्वितीयामृचमाह--

मू०--अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त। स दे॒वाँ एह व॑क्षति॥२॥

प०--अ॒ग्निः। पूर्वे॑भिः। ऋषि॑ऽभिः ईड्यः॑। नूत॑नैः। उ॒त। सः। दे॒वान्। आ। इ॒ह। व॒क्ष॒ति॥२॥

---

१. द्रष्टव्य पृष्ठ ६ की टि० ७।

२. ऋषि दयानन्द के समय में महाराष्ट्र से 'वेदार्थयत्न' के नाम से ऋग्वेद का एक वेदभाष्य अङ्कों के रूप में छपता था। उसमें संस्कृत, मराठी और अंग्रेजी भाषा में भाष्य छपता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—(अग्निः) अयमग्निः परमेश्वरः। (पूर्वेभिः) पूर्वैस्तथा। (नूतनैरुत) नवीनैरपि। (ऋषिभिरीड्यः) मन्त्रद्रष्टृभिर्ऋषिभिस्तर्कैः प्राणैश्च सदैवेड्यः स्तुत्यो वन्द्योऽन्वेषणीयः पूज्यश्चास्ति। स जगदीश्वरः स्वकृपाकटाक्षेण। (देवान्) देवान् दिव्यानीन्द्रियाणि विद्यादिदिव्यगुणान् दिव्यर्त्तून् दिव्यभोगांश्च। (एह वक्षति) इहास्मिन् संसारे जन्मन्यात्मनि च। आवक्षति आवहतु। आसमन्तात् प्रापयतु न इति शेषः।। अत्र प्रमाणानि—

प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः।। ऐत० पं० २। अ० ४।।[1]
प्राणा ऋषयः। ऋतवो वै देवाः।।—श० का० ७। अ० २।।[2]

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति।।१।। अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीडितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहत्विति। स न मन्येतायमेवाऽग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते।। —नि० अ० ७। खं० १६।।

पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् इति।। नि० अ० १३। खं० १२।।

अयमर्थः—पूर्वेभिर्जगत्कारणस्थैर्नूतनैः कार्यशरीरस्थैर्ऋषिभिः प्राणैः सह मनुष्यैरीड्य इत्यर्थः। (अग्निर्य०) योऽग्निः परमेश्वरो भौतिको वास्ति सोत्र ग्राह्यः। कुतः। 'स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते' इत्युक्तत्वात्। परमेश्वरो विद्युदादिदिव्यश्चैतावग्नी उत्तरे ज्योतिषी अत्र ग्रहीतुं योग्ये स्तः। एवमेव तर्कैर्वेदशास्त्रादिस्थैः पूर्वेभिरस्मदादिभिरिदानीन्तनैर्नवतरैश्चैवेश्वरः स्तुत्या वन्दनेन वेद्योस्ति नान्यथा। अविज्ञाततत्त्वेर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क[3] इति गोतमाचार्येण न्यायशास्त्रे प्रतिपादितत्वात्, मनुष्याणां तर्कैर्विना यथार्थज्ञानं नैव कदाचिद्भवत्यत उक्तमृषिभिस्तर्कैरिति।। तथेश्वरस्य त्रिकालज्ञत्वात्। नवीनापेक्षया प्राचीनैः प्राचीनापेक्षया नवीनैश्च विद्वद्भिरीड्य इत्युक्ते सति न दोषो भवति, वेदस्य सर्वज्ञवाक्यत्वात् प्रथममन्त्रभाष्ये निरुक्तव्याकरणादिरीत्या देवशब्दार्थ उक्तः सोऽत्र द्रष्टव्यः।

एतन्मन्त्रार्थः सायणाचार्यादिभिरन्यथोक्तः तद्यथा —पुरातनैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः। नूतनैरुतेदानींतनैरस्माभिरपि स्तुत्यः।। देवान् हविर्भुज आवक्षतीति अन्यथेदं व्याख्यानमस्ति, तद्यूरोपखण्डस्थैरत्रस्थैश्च कृतमिङ्गलैण्डभाषायां वेदार्थयत्नादिषु च व्याख्यानमप्यसमञ्जसम्। कुतः। ईश्वरोक्तस्यानादिभूतस्य वेदस्येदृशं व्याख्यानं क्षुद्राशयं गम्यते, तथा निरुक्तशतपथादिग्रन्थाशयविरुद्धं चातः।।२।।

भाषार्थ—(अग्नि) अग्नि जो परमेश्वर (पूर्वेभिर्ऋ०) प्राचीन और नवीन ऋषि जो प्राण, मन्त्रार्थ जानने वाले जो विद्वान् और तर्क हैं, अर्थात् स्थूल जगत् का कारण जो ईश्वर की सामर्थ्य प्रकृति और परमाणु रूप है, इनमें जो सूक्ष्म प्राण हैं उनका नाम प्राचीन है और जो प्राण सदैव निर्विकार बने रहते हैं, जो ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले हैं उनका 'पूर्वेभिः' इस पद से ग्रहण होता है और कार्य जो स्थूल जगत् तथा शरीर में जो प्राण हैं तथा पहिले और वर्त्तमान में जो विद्वान् हैं उन पूर्व हो गये विद्वानों के जो तर्क थे और आत्मा में जो तर्क हैं उनको भी 'पूर्वेभिः' तथा 'नूतनैः' इन पदों से ग्रहण करते हैं,

---

१. ऐत० २।४।३।। २. प्राणा ऋषयः। शत० ७।२।३।५।। ऋतवो वै देवाः। शत० ७।२।४।२६।।
३. न्याय० १।१।४०।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि ये सब शरीर के साथ ही उत्पत्ति, वृद्धि और क्षय को प्राप्त होते हैं। इन दोनों प्राणों के साथ अभ्यास करने से इनके बीच ही परमेश्वर प्राप्त होता है तथा मन्त्रार्थ जाननेवाले प्राचीन और नवीन ऋषियों को भी स्तुति करने के योग्य परमेश्वर ही है। सो जगदीश्वर अपनी कृपाकटाक्ष से शुद्ध सद्विद्यादि गुण, श्रेष्ठ इन्द्रिय, उत्तम ऋतु और सब प्रकार के जो उत्तम भोग हैं कि जिन गुणों से परमानन्द मोक्ष प्राप्त होता है। जिन इन्द्रियों से धर्माचरण विद्या और उत्तम सुख होता है। दिव्यऋतु=जिनमें परमार्थ और व्यवहार के दोनों सुख बढ़ें। दिव्यभोग=जो मोक्ष और व्यवहार में भी होते हैं। (स देवानेह वक्षति) इस संसार, इस जन्म और हमारे आत्मा में, हे परमेश्वर! कृपा से आप हम लोगों को सब प्रकार से उन सुखों को प्राप्त करो। प्राण, तर्क और मन्त्रार्थ के जानने वाले विद्वानों को ऋषि कहते हैं। सद्विद्यादि जो दिव्यगुण और ऋतु आदि को देव कहते हैं। इसमें शतपथादि ग्रन्थों का लेख संस्कृत में लिखा है सो देख लेना।

इस मन्त्र का सायणाचार्य आदि लोगों ने अन्यथा अर्थ वर्णन किया है, इसका खण्डन भी संस्कृत में देख लेना। तद्वत् डाक्टर विलसन साहेब कृत और वेदार्थयत्न में भी इस मन्त्र का अर्थ ठीक नहीं किया है। वेदार्थयत्नवाले ने जो यह बात लिखी है कि यह मन्त्र लक्ष्य में रखने के योग्य हैं। अर्थात् वेद ईश्वरकृत सनातन नहीं है। उनका ऐसा अभिप्राय देखने में आता है। सो उनकी बुद्धि के अनुसार ही है यह प्रमाणयुक्त नहीं है ॥२॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

प्राक्तनैर्नवीनैः प्राणैः शिल्पविद्याविद्भिस्तर्कैः पूर्वोक्तैर्ऋषिभिरयमेवाग्निरन्वेष्टव्यगुणोऽस्ति। कुतः। सोऽयमग्निरिह पदार्थविद्यायां कलाकौशलस्य विमानादीनां यानानां दिव्यगुणानावक्षति। आवहत्वित्याकाङ्क्ष्येत चेति ॥२॥

भावार्थ—(अग्निः) शिल्पविद्या के जानने तथा शिल्पविद्या को सिद्ध करने की इच्छा रखने वाले, उसको पढ़ाने और पढ़ने वाले जो ऋषि अर्थात् कारीगर लोग हैं वे अग्नि के गुणों के सुतर्कपूर्वक खोज से पदार्थविद्या को सिद्ध करते हैं और करें। क्योंकि पदार्थविद्या में कलाकौशल विमान आदि सवारियों के परमोत्तम गुणों की प्राप्ति अग्नि से ही होती है। इससे अग्नि के गुणों के खोजने में सब लोग सदा प्रयत्न करें।

अथ तृतीयमन्त्रमाह

मू०—अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त्पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे। य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम् ॥३॥

प०—अ॒ग्निना॑। र॒यिम्। अ॒श्न॒व॒त्। पोष॑म्। ए॒व। दि॒वेऽदि॑वे॥

य॒शस॑म्। वी॒रव॑त्ऽतमम् ॥३॥

भाष्यम्—(अग्निना) विज्ञानानन्दस्वरूपेण दयालुना सद्धर्मानुष्ठानयोगाभ्यासपरमप्रीत्युपासनोपासितेनैवाग्निनेश्वरेण, विद्याधर्मयुक्तः सन् जीवः (रयिम्) धर्ममोक्षविद्याचक्रवर्तिराज्यारोग्यादिस्वरूपं धनम् (अशनवत्) प्राप्नुयात् प्राप्नोति वा नान्यथेति निश्चयः। कथंभूतं तद्धनम्? आत्ममनः शरीरेन्द्रियाणाम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(दिवेदिवे) प्रतिदिनं नित्यम्। (पोषमेव) पुष्टिकरमेव भवति, तथा (यशसम्) यशः सत्कीर्त्तिवर्धकं शिष्टाचारादिकीर्त्तिमच्च। तथा (वीरवत्तमम्) प्रतिदिनं बुद्धिबलवीर्यशौर्य्यधैर्य्यादिगुणयुक्ताः पुत्रबन्धुमित्रभृत्यादयो वीरा भवन्ति यस्मिन् धने तद्वीरवत्, अतिशयेन वीरवत् इति वीरवत्तमम्॥ अयमाशयः—परमेश्वरोपासनेन विना स्थिरं नित्यं च सुखं कदाचित् कस्यापि नैव भवतीति॥ रयिमिति धननामास्ति निघण्टौ[1]॥

सायणाचार्येण यज्ञहोमसम्बन्धमात्रेणैवेयमृग्व्याख्याता। अत्रेश्वरान्यपदार्थविद्यात्यागात् तद्-व्याख्यानं सम्यङ्नास्तीति विज्ञेयम्। तथा वेदार्थयत्नकर्तृडाक्तरविलसनाख्यकृतमपि[2] च तादृशमेवास्ति। अस्य स्वल्पविषयत्वात्, मुख्यार्थस्येश्वरस्य त्यागादस्पष्टार्थत्वाच्च विदुषामाह्लादकरमीदृशं व्याख्यानं नैव भवतीति दिक्॥३॥

भाषार्थ—(अग्निना) अग्नि जो विज्ञान और आनन्दस्वरूप है और दया करनेवाला है, सत्य धर्म का आचरण, योगाभ्यास जो समाधि का करना तथा परमेश्वर में अत्यन्त प्रीति और विज्ञान से जो दृढ़ विश्वास का यथावत् होना, इस प्रकार की उपासना से जो प्रसन्न होता है, उस अग्नि ईश्वर की कृपादृष्टि से सत्यविद्या और सत्यधर्माचरण से युक्त जो जीव, सो (रयिम्) जो धर्म मोक्षविद्या और चक्रवर्त्ति राज्यादि का होना इस धन को (अश्नवत्) प्राप्त होता है। इससे दूसरे प्रकार से नहीं। वह धन कैसा है? (पोषमेव दिवेदिवे) आत्मा, मन, शरीर और इन्द्रिय इनको नित्य पुष्टि और आनन्द करानेवाला है, तथा (यशसम्) अर्थात् दिन-दिन के प्रति सत्कीर्त्ति को बढ़ानेवाला और जिस धन से शिष्टाचार और सब मनुष्यों का उपकार हो तथा (वीरवत्तमम्) बुद्धि, बल, शरीर, पराक्रम, शूरता, धीरज आदि गुणवाले जो हैं वे पुत्र, भाई, मित्र और भृत्यादि वीरपुरुष प्राप्त हों जिस धन से उस धन को वीरवत् कहते हैं और जो पूर्वोक्त गुणों से अत्यन्त युक्त हो उस धन को वीरवत्तम कहते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि बिना परमेश्वर की उपासना से संसार में स्थिर जो सुख और मोक्ष में जो नित्य सुख उसको कोई भी प्राप्त नहीं हो सकता।

सायणाचार्य ने अग्निमीडे आदि मन्त्रों का अग्नि में आहुति डालना मात्र प्रयोजन लिखा है। इस अर्थ में ईश्वर और होम से भिन्न अन्य पदार्थविद्या के त्याग से वह व्याख्यान अच्छा नहीं है। तथा वेदार्थयत्न में और डाक्टर विलसन साहेब का किया व्याख्यान भी वैसा ही है तथा सायणाचार्य के व्याख्यान से इनका व्याख्यान बहुत अल्पार्थ है। क्योंकि ये सब व्याख्यान मुख्य अर्थ, जो ईश्वर उनके त्याग और निश्चितार्थ नहीं होने से विद्वानों को प्रिय और साधारण को भी यथावत् उपकारक नहीं हो सकता॥३॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

भौतिकाग्निनिमित्तेन शिल्पविद्याचिकीर्षुः पुरुषः सुवर्णरत्नादि राज्यादि च पूर्वोक्तविशेषणयुक्तं रयिं धनमश्नवत् प्राप्नोतु प्राप्तुमिच्छेत्। शिल्पविद्यायामग्नेरेव मुख्यसाधनत्वात्॥३॥

---

१. निघण्टु २।१०॥

२. वेदार्थयत्नकर्ता च डाक्टरविलसनाख्यश्च, वेदार्थयत्नकर्तृडाक्टरविलसनाख्यौ, ताभ्यां कृतम्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषार्थ—प्रत्यक्ष जो यह अग्नि इस के विना उत्तम कारीगरी सिद्ध नहीं हो सकती। कारीगरी के विना धन और राज्य के जो उत्तम व्यवहार तथा पदार्थ हैं वे सब मनुष्यों को यथावत् प्राप्त नहीं हो सकते, क्योंकि उत्तम कारीगरी के होने में अग्नि ही मुख्य साधन है। इस अग्नि से बिजुली आदि पदार्थों को सिद्ध करके अनेक विमानादि विद्या रच लेना चाहिए। इससे पृथिवी के जल और आकाशमार्ग में चलने के लिये विमान आदि विद्या रचनी सब मनुष्यों को उचित है ॥३॥

अथ चतुर्थो मन्त्रः

मू०—अग्ने॒ यं य॒ज्ञम॑ध्व॒रं वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑। स इद् दे॒वेषु॑ गच्छति ॥४॥

प०—अग्ने। यम्। य॒ज्ञम्। अ॒ध्व॒रम्। वि॒श्वतः। परि॒ऽभूः। असि॑ ॥सः। इत्। दे॒वेषु॑। ग॒च्छ॒ति ॥४॥

भाष्यम्—(अग्ने) हे अनन्तशक्ते परमात्मन्नग्ने! त्वं (विश्वतः) सर्वतः। (परिभूरसि) व्याप्तः सन्। (यं) यज्ञम्। (अध्वरम्) अहिंसनीयमर्थात् सर्वथारक्षयितव्यम् जगद्रूपम्। (यज्ञम्) किं वा अग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तं यज्ञं तथा भवत्स्तुतिप्रार्थनोपासनाख्यं च त्वमेव पालितवानसि, स एव यज्ञः परिपूर्णः सन्निष्टफलप्रापको भवति। अस्य यज्ञस्यानुष्ठातुर्जनस्य भवानेव रक्षकोऽस्ति। (सः) तस्मात् स मनुष्यः। (देवेषु) विद्यादिदिव्यगुणेषु विद्वत्सु वा प्रवर्त्तमानः सन्। (इत्) सुखेनैव। (गच्छति) परमानन्दं प्राप्नोति न चान्यथेति। (इत्) अत्र निश्चयार्थोऽस्ति ॥

अयमपि मन्त्रः सायणाचार्यादिभिरन्यथा व्याख्यातः। भौतिकाग्नेर्जडत्वाद्यज्ञरक्षणं न संभवति सर्वव्यापकत्वं चातः॥ विश्वतः परिभूरसीत्यग्नेरीश्वरस्यैव विशेषणत्वात्। एवमेव डाक्तरविलसनाख्यकृतं वेदार्थयत्नाख्यं च व्यख्यानमस्य मन्त्रस्य सम्यङ् नास्तीति गम्यते ॥४॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे परमेश्वर अग्ने! (विश्वतः परिभूरसि) सब संसार में परिपूर्ण होके (यं यज्ञमध्वरम्) रक्षा करने के योग्य यह जगत्‌रूप जो यज्ञ, अथवा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त जो यज्ञ, तथा आप की स्तुति प्रार्थना और उपासना का यथावत् करना जो यज्ञ, इन तीन प्रकार के यज्ञ का रक्षण आप ही कर रहे हो। इस कारण से यज्ञ परिपूर्ण होके सुखरूप फल को सदा करता है। जो मनुष्य इस यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला है उसकी भी रक्षा करने वाले आप ही हो। (स इद्देवेषु) सो मनुष्य विद्या मोक्षादि दिव्यगुणों में और श्रेष्ठ विद्वानों का संग करने में प्रवर्त्तमान होके सुखपूर्वक ही आनन्द को (गच्छति) प्राप्त होता है अन्य प्रकार से नहीं ॥

इस मन्त्र का भी सायणाचार्य और डाक्टर विलसन साहेब ने तथा वेदार्थयत्नादि में अन्यथा व्याख्यान किया है। क्योंकि जड़ पदार्थ को रक्षा करने का ज्ञान ही नहीं होता और वह सर्वत्र व्यापक नहीं हो सकता। इससे उनका व्याख्यान ठीक नहीं ॥४॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(अग्ने) हे परमेश्वर! भवद्रचितगुणोऽयमग्निः, शिल्पक्रियामयं (यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूः०) सर्वतो व्याप्तवानस्ति, यः परितः सर्वेषां शिल्पविद्यासाधनानामुपरि विराजमानः सन् सर्वशिल्प-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यायाः प्रधानसाधनं वर्त्तते, तमग्निं त्वं रचितवानसि। एवं तेनाग्निना निमित्तभूतेन यो मनुष्यः शिल्पविद्यां गृह्णाति (स इद्देवेषु) स एव पुरुषो दिव्येषु द्योतमानेषूत्तमेषु भोगेषु स्थिरः सन् परमानन्दं (गच्छति) प्राप्नोतीत्यर्थः ॥४॥

भाषार्थ—(अग्ने) जो कारीगरी क्रिया का मुख्य हेतु है। जिससे विमान आदि यान सिद्ध होते हैं जिनसे मार्ग में शीघ्र गमन कर सकें। हे परमात्मन् ! उस अग्नि को अनेक गुणयुक्त आपने ही उत्पन्न किया है। इसी अग्नि के गुणों के ज्ञान से जो मनुष्य पदार्थविद्या को सिद्ध करता है वही दिव्यभोगों में स्थिर होके सदैव अत्यन्त सुखी रहता है ॥४॥

अथ पञ्चमी ऋक्

मू०—अ॒ग्निर्होता॑ क॒विक्र॑तुः स॒त्यश्चि॒त्रश्र॑वस्तमः। दे॒वो दे॒वेभि॒रा ग॑मत् ॥५॥

प०—अ॒ग्निः। होता॑। क॒विऽक्र॑तुः। स॒त्यः। चि॒त्रश्र॑वःऽतमः। दे॒वः। दे॒वेभिः। आ। ग॒म॒त् ॥५॥

भाष्यम्—(अग्निः) पूर्वोक्तविशेषणयुक्तः परमेश्वरोऽग्निः। (होता) सर्वोत्तमपदार्थानां दाता पृथिव्यादीनामादाता ग्रहीता यो धारणकर्त्तास्ति। (कविक्रतुः) कविश्चासौ क्रतुश्च स कविक्रतुः। कवि=सर्वज्ञः क्रान्तप्रज्ञः सर्वेषां जीवानां बुद्धेः क्रमिता तदग्ने न कस्यापि बुद्धिः क्रमते सर्वेषां बुद्धेः प्रभुत्वात्। क्रतुः=सर्वजगत्कर्त्ता। (सत्यः) अस्तीति सत् सति साधुः सत्यः सर्वदा विनाशरहित। (चित्रश्रवस्तमः) चित्रमाश्चर्यं श्रवः श्रवणं यस्य स चित्रश्रवाः। अतिशयेन चित्रश्रवाः, इति चित्रश्रवस्तमः ॥ इत्यत्रार्थे प्रमाणम्—श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोपि बहवो यन्न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ कठोपनि० वल्ली २॥[1] इत्यनेनाश्चर्यश्रवणत्वं परमेश्वरे एव घटते नान्यत्रेति। (देवः) स जगदीश्वरः सर्वजगत्प्रकाशकः। (देवेभिरागमत्) दिव्यैः सर्वज्ञपरमानन्दादिभिर्गुणैः, सह, अस्माकं हृदयेऽस्मिन्संसारे च प्रकाशमागमत्, आगच्छतु। स्वसामर्थ्येन कृपया च सर्वथा प्रकाशितो भवत्विति प्रार्थ्यतेस्माभिः॥ कविसत्यशब्दार्थो यास्केनाप्येवं व्याख्यातः—कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा प्रसुवति भद्रमित्यादि॥ नि० अ० १२। खं० १३॥ कुङ् शब्दे, कु शब्दे, कवते, कौति वा सर्वविद्यायुक्तं वेदशास्त्रमुपदिशति स कविरीश्वरः। प्रसुवति भद्रं=भद्रैश्वर्योत्पादनदानाभ्याम् ॥ सत्यं कस्मात् सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा इति॥ नि० अ० १२। खं० १३॥ सत्सु गुणेषु, भोगेषु, पदार्थेषु वा संतानयति पालयति वा सर्वान् जनान् यः। सत्यप्रभ०=सता ज्ञानेन योगेन धर्मेण वेदैर्वा प्रभवः प्रकटता यस्य च॥ अतः स परमेश्वर एव सत्यो भवितुमर्हति नान्यः।

अयमपि मन्त्रः सायणाचार्येण तथा तदनुसारिभिरध्यापकविलसनाख्यादिभिश्च न सम्यग्वर्णितः। कुतः। अस्य मन्त्रस्यार्थो होममात्रसम्बन्धेनैव वर्णितस्तस्मात्। एवमेव प्राकृतभाषाकृतमप्यर्थोन्यथैवास्तीति बोध्यम् ॥५॥

भाषार्थ—(अग्निः) पूर्वोक्त विशेषणयुक्त जो परमेश्वर है। (होता) जो सत्यविद्यादि शुभगुण और चक्रवर्त्ति राज्य, ऐश्वर्य का देनेवाला है, तथा जो पृथिव्यादि लोकों का धारण करने वाला है।

१. कठोप० २/७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(कविक्रतुः) और जो सब का जानने वाला है और सब की बुद्धि का अध्यक्ष है उसको कवि कहते हैं। जिसके सामने सबकी बुद्धि अल्प हो जाती है। क्योंकि वह सबकी बुद्धियों का प्रभु है, तथा क्रतुः =जो सब जगत् का करने वाला है। (सत्यः) जिसका नाश कभी नहीं होता। (चित्रश्रवस्तमः) जिसका कथन, श्रवण, स्वरूप अत्यन्त अद्भुत है। (देवो देवेभिरागमत्) उस परमेश्वर की सत्य भाव से हम लोग भक्ति करते हैं वही जगदीश्वर एक अद्वितीय देव है। क्योंकि प्रकाश करने वाले जो सूर्य आदि सब लोक हैं उनका भी प्रकाशक एक वही परमेश्वर है और उसका प्रकाश करने वाला दूसरा कोई नहीं, किन्तु वह तो आपसे आप ही प्रकाशित है। वह परमेश्वर जो सर्वज्ञ और परमानन्दादि दिव्य उत्तम गुण हैं उनके सह वर्तमान हमारे हृदय और इस संसार में कृपा करके प्रकाश को प्राप्त हो, ऐसी प्रार्थना उसकी हम लोग करते हैं जिससे वह अपनी कृपा करके जगत् के बीच में सर्वदा प्रकाशित हो। श्रवणाया० =जिस परमेश्वर को सुनने को बहुत मनुष्य प्रवृत्त होते हैं परन्तु उन में से जो विद्वान् सत्याचरण करने वाले हैं वे ही परमेश्वर को सुनके प्राप्त होते हैं और जो इस प्रकार के नहीं हैं, वे परमेश्वर को सुनके भी प्राप्त नहीं होते। क्योंकि इस परमेश्वर का यथार्थ उपदेश करने वाले का मिलना कठिन है, तथा ब्रह्म जानने वाले से परमेश्वर को सुनके जानने वाला भी कठिन है, सो जो कुशल—अत्यन्त चतुर है वही इस ब्रह्म को प्राप्त होता है। क्योंकि इसका जानने वाला अत्यन्त अद्भुत है और इस कुशल पुरुष के उपदेश से भी जो इस ब्रह्म को यथावत् जानता है वह भी इस जगत् में आश्चर्यरूप ही है इस कारण से परमेश्वर को चित्रश्रवस्तम इस मन्त्र में विशेषण दिया है, तथा सत्सु ता० =जो सत्य गुण, सत्य भोग, सत्य पदार्थ और सत्यव्यवहार हैं, इन में ही जो मनुष्य प्रवर्त्तमान हैं उनको जो सुख में विस्तृत करता है, किंवा उनका जो पालनकर्त्ता है इससे परमेश्वर का सत्य नाम है, तथा सत्प्रभवं० =जो सत्य ज्ञान, सत्य योग, सत्य धर्म और सत्य जो वेद हैं, इनसे ही जिसकी प्रकटता होती है इसलिये परमेश्वर का नाम सत्य है॥

इस मन्त्र का भी सायणाचार्यादि, अध्यापक विलसन साहेब ने और वेदार्थयत्न में भी अच्छी रीति से व्याख्यान नहीं किया है ॥५॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(अग्निर्होता) अग्निर्भौतिकोऽश्वः। होता सर्वशिल्पविद्यागुणधारकोऽस्ति। (कविः) शिल्पविद्यायाः क्रान्तदर्शनः क्रमप्रकाशकः। (क्रतुः) शिल्पविद्या क्रियते येन सोयं क्रतुः। (सत्यः) सति शिल्पविद्या-व्यवहारे साधुर्यः स सत्योग्निः (चित्रश्रवस्तमः) विद्युदादिस्थगुणानां चित्रमद्भुतं श्रवः श्रवणं यस्मिन्सः। अतिशयेन चित्रश्रवा इति चित्रश्रवस्तमः। (देवः) शिल्पविद्यादिगुणद्योतकः सोग्निः। (देवेभिः) शिल्प-विद्याद्योतकैर्गुणैर्दिव्यैः सह वर्त्तमानो योग्निरस्ति सः। हे परमेश्वर ! भवत्कृपया (आगमत्) अस्माभि-र्ज्ञातो भवतु। येन सर्वां शिल्पविद्यां वयं लभेमहि ॥५॥

भाषार्थ—(अग्निर्होता) जिस अग्नि का नाम अश्व है जो सब शिल्पविद्या के गुणों का धारण करनेवाला है। (कविक्रतुः) कविः =जो शिल्पविद्या का प्रकाश करने वाला और क्रतु ..कि शिल्पविद्या जिससे की जाती है। (सत्यः) कारीगरी में जो साधु उत्तम साधन है। (चित्रश्रवस्तमः) बिजुली आदि में अत्युत्तम जो वेगादि गुण हैं, वे जिसमें सुनते हैं और जिसमें अत्यन्त अद्भुत सामर्थ्य ईश्वर ने रखा है। (देवो देवेभिः०) जो अग्नि वेगादि गुणों का प्रकाश करने वाला है सो हमारे शिल्पविद्याव्यवहार में अत्यन्त उपकार करने वाला आपकी कृपा से हो। जिससे शिल्पविद्या में जो दिव्यगुण उनको हम लोग यथावत् सिद्ध करके अत्यन्त सुखी हों ॥५॥

इति प्रथमेऽध्याये प्रथमो वर्गः ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[अ० १, अ० १, वर्ग २]

अथ षष्ठो मन्त्रः—

मू०—यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥६॥

प०—यत्। अङ्ग। दाशुषे। त्वम्। अग्ने। भद्रम्। करिष्यसि। तव। इत्। तत्। सत्यम् अङ्गिर ॥६॥

भाष्यम्—(यदङ्ग) हे अग्ने प्रापणीयेश्वर! हे अङ्ग सर्वमित्र! तुभ्यं सर्वपदार्थदात्रे परमेश्वराय, यो मनुष्य आत्मप्राणाद्युत्तमपदार्थान् दत्तवानस्ति, तस्मै (दाशुषे) त्वय्यत्यन्तप्रेमकारिणे मनुष्याय। (भद्रम्) भजनीयं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं कल्याणं सुखं च। (त्वमग्ने) त्वमेव। (करिष्यसि) करोषि वेति निश्चयो नः। (तवेत्तत्स०) हे अङ्गिरः प्राणानां रसभूतपरमेश्वरेदं सत्यं व्रतं शीलं तवैवास्ति न कस्यचिदन्यस्येति, त्वया यद्भद्रं क्रियते तदेव सत्यमविनाशिरूपमस्ति नान्यदीदृशमिति विजानीमः॥

यास्काचार्येण भद्रशब्दार्थ एवं वर्णितः—भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा इति॥ नि० अ० ४। खं० ९॥ प्राणो वा अङ्गिराः॥ श० कां० ६। अ० १॥[1] अङ्गिरसो अङ्गानाँ हि रसः। प्राणो वा अङ्गानाँ रसः॥ श० कां० १४। अ० ४॥[2] यजमानो वै दाश्वान् इति॥ श० कां० ७। अ० ३॥[3]

अयमर्थः—यत्र दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यन्मुक्त्याख्यं परमसुखं सत्यमस्ति तदत्र विज्ञेयम्। परमेश्वरं यजते स यजमानो विद्याविदानशीलः स दाश्वान्। अङ्गानां पृथिव्यादीनां सारभूतोन्तर्यामी परमेश्वरः सर्वस्य प्राणभूतत्वाद्रसोस्तीति बोध्यम्॥ अतः सायणाचार्येण वेदार्थयत्नकृताऽध्यापकविलसनादिभिश्चायं मन्त्रो यथावन्नैव व्याख्यात इति विज्ञायते।॥६॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे प्राप्ति होने के योग्य ईश्वर अग्ने! (अङ्ग) हे अङ्ग, सब के परममित्र! (दाशुषे) जो मनुष्य आपको प्राण और आत्मा आदि का समर्पण करता है, जो आप में अत्यन्त प्रेम करने वाला है, (भद्रं) परमानन्दस्वरूप जो मोक्ष का सुख, सो उस मनुष्य को आप ही देने वाले हो। (अङ्गिरः) हे प्राणों के प्राण ईश्वर! जो प्राणवत् प्रिय सुख है सो आपकी कृपा से ही होता है। क्योंकि (तवेत्तत्सत्यं) वह आप का ही स्वभाव है। जो सत्य सुखों को ही देना, यह सामर्थ्य अन्य किसी का नहीं। जो आपका दिया सुख है वही एक नित्य है, इससे दूसरा कोई ऐसा सुख नहीं है॥ इसकी व्याख्या निरुक्त और शतपथ के भाष्य में लिखी है सो देख लेना। इससे यह जानना कि सायणाचार्य, वेदार्थयत्न तथा डाक्तर विलसन साहेब आदि के व्याख्यान में इस मन्त्र का अर्थ ठीक नहीं किया है॥६॥

अथ सप्तमो मन्त्रः

मू० उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि ॥७॥

प०—उप। त्वा। अग्ने। दिवेऽदिवे। दोषाऽवस्तः। धिया। वयम्॥ नमः भरन्तः। आ इमसि ॥७॥

---

१. शत० ६। १। २। २८॥ २. शत० १४। ४। १। २१॥ ३. शत० ७। ३। १। २९॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यम्—(उप त्वाग्ने) हे अग्ने पूज्यतमेश्वर ! (दिवेदिवे) प्रतिदिनं नित्यं । (धिया) बुद्धया । (त्वा) त्वाम् । वयं (उपैमसि) तव उप सामीप्यं आ सर्वतः, इमः प्राप्नुमः । तथा (दोषावस्तः) अहर्निशं निरन्तरम्[1] । (भरन्तः) ज्ञानेन प्रेमभक्ति धारयन्तः सन्तो, (वयं) त्वां (नमः) नमस्कुर्मः : यतो भवान् सद्योऽस्मान् प्राप्नुयात् । भवत्प्राप्त्या वयं सुखिनो नित्यं भवेम ।।

अत्र मन्त्रव्याख्याने सायणाचार्याध्यापकविलसनादिभिर्भौतिकाग्निमात्रस्यैव गृहीतत्वात् तद्व्याख्यानमन्यथास्ति । कुतो, भौतिकाग्नेरनायासेन होममात्रे प्राप्तत्वान्नमस्करणीयाभावाच्चेति ।।७।।

भाषार्थ—(उप त्वाग्ने) हे अग्ने ईश्वर ! हमको एक पूज्य आप ही हो । हम लोग (धिया) बुद्धि जो ज्ञान है इससे । (दिवेदिवे) सब दिन के लिए, आपके समीप को (त्वामुपैमसि) शरणागति को प्राप्त होतेहैं । (दोषावस्तः) तथा दिन और रात्रि में, सत्यभक्तिपूर्वक आपको (वयम्) हम लोग, नित्य ही (नमो भरन्तः) नमस्कार करते हैं, जिससे कृपा करके आप हमको शीघ्र प्राप्त हों । आपकी प्राप्ति से हम लोग निरन्तर सुखी हों ।। सायण, डाक्तर विलसन और वेदार्थयत्नादि के कर्त्ताओं ने इस अर्थ को जाना भी नहीं ।।७।।

।। अथ द्वितीयोऽर्थः ।।

(उप त्वाग्ने) हे पूर्वोक्तविशेषणयुक्तेश्वराग्ने ! भवन्तमुपगता नमस्कुर्वन्तः कथयन्तश्च भवन्तं नित्यं प्रार्थयामः । भवत्प्रार्थनया त्वद्रचितस्य भौतिकाग्नेः सकाशाद् वायुवृष्टिशुद्धिकरं यज्ञानुष्ठानं शिल्पविद्यामयं च प्राप्नुयाम । एतदर्थं निरन्तरं नमोऽस्तु ते ।।७।।

भाषार्थ—(उप त्वाग्ने)हे परमेश्वर अग्ने ! हम लोग आपके शरणागत हैं । नित्य आपको नमस्कार और प्रार्थना करते हैं कि जो जो आपने भौतिकाग्नि में गुण रक्खे हैं उन-उन गुणों से हम लोग सुगन्धि आदि पदार्थों का होम करके वायु तथा वर्षा के जल की शुद्धि करें तथा शिल्पविद्या को भी प्राप्त हों । इसलिए और मोक्षादि सुख के लिए भी आपको निरन्तर नमस्कार करते हैं ।।७।।

अथाष्टमो मन्त्रः

मू०—राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्धमानं स्वे दमे ।।८।।

प०—राजन्तम् । अध्वराणाम् । गोपाम् । ऋतस्य दीदिविम् ।। वर्धमानम् । स्वे । दमे ।।८।।

भाष्यम्—एमसीत्यनुवर्त्तते ।। (अध्वराणाम्) अग्निष्टोमादियज्ञानां तत्कर्त्तॄणां धर्मात्मनां मानवानां च । (गोपाम्) रक्षकं । तथा (राजन्तम्) सूर्यादीनां लोकानां मध्ये योगिनामात्मनश्च मध्ये धारकान्तर्यामितया राजन्तं सदा प्रकाशमानम् । (ऋतस्य दीदिविम्) सत्यविद्यामयस्य वेदचतुष्टयस्य मोक्षस्य च, दीदिविम्=सम्यक् प्रकाशकम् । तथा (स्वे) स्वकीये । (दमे) परमोत्कृष्ट पदे । (वर्धमानम्) अत्यन्तवृद्धि-

---

१. स्वरानुरोधेन सम्बुद्ध्यन्तमिदम् । यजुर्भाष्येऽपीदं ग्रन्थकृता व्याख्यातम् । द्र० यजु० ३ । २२ ।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्तम् । एवं भूतं परमेश्वरमग्नि त्वां वयं सदैवोपैमसि । भवत्परमपदमोक्षप्राप्तये परमप्रेम्णा सर्वतः सदा भवन्तं जगदीश्वरमेवोपाप्नुमः । योऽस्मिन्नेव जन्मनि भवत्कृपयास्माकं निश्चितो मोक्षो भवेदिति नित्यमिच्छामः ॥८॥

भाषार्थ—(अध्वराणां गोपाम्) अध्वर जो अग्निष्टोम आदि यज्ञ और इन यज्ञों के करनेवाले जो धर्मात्मा मनुष्य हैं उनकी जो यथावत् रक्षा करने वाला है। तथा (राजन्तम्) सूर्य आदि जो लोक उनके बीच में और योगियों के आत्मा के बीच में जो धारण करने वाला और अन्तर्यामी रूप से प्रकाशमान है। तथा (ऋतस्य दीदिविम्) सत्य विद्यास्वरूप जो चारों वेद हैं उनका और मोक्ष का जो प्रकाश करने वाला है। (वर्धमानं स्वे दमे) स्वे=अपना जो दमे परमपद है उसमें वर्धमान सब सामर्थ्य से युक्त होके जो सदा विराजमान है, और जो मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं उनको अपने उस परमपद में विज्ञान और आनन्दादि गुणों से जो सदा बढ़ाने वाला है, उस परमात्मा को मोक्ष आदि सुखों की प्राप्ति के लिए (उपैमसि) हम लोग प्राप्त होते हैं। अर्थात् हे परमेश्वर! सत्य प्रेम भक्ति से हम लोग आपको सदा प्राप्त रहें कि आप और आपकी आज्ञा से विरुद्ध हम लोग कभी न हों। जिसमें हम लोगों को आप की प्राप्ति से मोक्ष आदि सुख इसी जन्म में प्राप्त हों ॥ ८ ॥

अथ नवमो मन्त्रः

मू०—स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व । सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑ ॥९॥

प०—सः । नः॒ । पि॒ताऽइ॑व । सू॒नवे॑ । अग्ने॑ । सु॒ऽउ॒पा॒य॒नः । भ॒व ॥ सच॑स्व । नः॒ । स्व॒स्तये॑ ॥९॥

भाष्यम् (सः) यः । अग्निमीडे पुरोहितमित्यादिमन्त्रेषु पुरोहितादिविशेषणैः प्रतिपादितोऽग्निसंज्ञः परमेश्वरः सोऽत्र गृह्यते। (अग्ने) हे परमात्मन्! (नः) अस्मान्। (सूपायनः) स्वकृपया सुखेनैव प्राप्तस्त्वं भव। तथा हे परमेश्वराभिधाग्ने! (नः) (स्वस्तये) ऐहिकपारमार्थिकसुखायास्मान् स्वकृपया। (सचस्व) समवेतान् कुरु। अर्थात् तत्सुखेन सह वर्त्तमानानस्मान्सदा कुरु। एवं तत्सुखस्य यथावत् सिध्यर्थं सचस्व त्वं नित्यं समवेतः कृपयानुकूलो भव! कस्मै क इव (पितेव सूनवे) यथा स्वसंतानाय स्वप्रजायै अत्यन्तप्रेम्णानुकम्पयमानः संतानसुखाय प्रवर्त्तमानः पिता इव। कुतः ? भवानेवास्माकं पितास्त्यतः॥

वर्गद्वयस्थैर्नवभिर्मन्त्रैरग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तेषु वायुवृष्टिजलशुद्धिप्रयोजनेषु यज्ञेषु युक्तिप्रमाणसिद्धानां कर्मणामनुष्ठानं कर्तुं योग्यमस्ति, परन्तु सूत्रब्राह्मणग्रन्थेषु यादृशो विनियोगः प्रतिपादितः सोऽप्यत्र तदुक्तरीत्या कार्य्यः[२] ॥९।

भाषार्थ—(सः) अग्निमीले इत्यादि आठ ८ मन्त्रों में पुरोहित आदि विशेषणों से जिस परमेश्वर का कथन किया है, उसी का 'सः' शब्द से ग्रहण होता है। (अग्ने) हे परमेश्वर अग्ने! अपनी कृपा से ही (नः)

---

१. ऋ० १।१।१। आदिशब्दादष्टमपर्यन्तेषु मन्त्रेषु।

२. तुलना कार्या—कर्मकाण्डस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्।''' तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति। ऋ० भा० भू० पृष्ठ ३८२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमको प्राप्त हो। तथा (सूपायनः) इस लोक और परलोक के सुख के लिए। (नः) हमको। (सचस्व) संयुक्त कर। तथा आप भी हमारे सहायकारी नित्य रहो। तथा (स्वस्तये) सद्विद्यादि शुभगुणों में मोक्ष आदि सुख के लिए हमको सदा युक्त कर। जिससे स्वस्ति=जो परम सुख सो सदा हमको प्राप्त हो। जैसे पिता अत्यन्त प्रेम से अपने सन्तानों को सुख देता है, वैसे ही आप हमको पुरुषार्थ से आनन्दयुक्त करके नित्य पालन करो। क्योंकि आप हो हम लोगों के पिता हो। इससे हमको सुख देने वाले एक आप ही हो ॥ ६ ॥

इति प्रथमस्याष्टकस्य प्रथमेऽध्याये द्वितीयो वर्गः॥

प्रथमं सूक्तं समाप्तम् ॥

अ० १, अ० १, वर्ग ३।

॥ सूक्तम् ॥२॥

वायवा याहीत्यस्य नवर्चस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। तत्र प्रथमद्वितीयतृतीयमन्त्राणां वायुर्देवता, चतुर्थपञ्चमषष्ठमन्त्राणाम् इन्द्रवायू देवते, सप्तमाष्टमनवममन्त्राणां मित्रावरुणौ च देवते। सर्वस्य सूक्तस्य गायत्रीच्छन्दः। षड्जः स्वरश्च॥

अथ प्रथमो मन्त्रः

मू०—वाय॒वा या॑हि दर्शते॒मे सोमा॒ अरं॑कृताः। तेषां॑ पाहि श्रु॒धी हव॑म् ॥१॥

प०—वायो॒ इति॑। आ। या॒हि॒। द॒र्श॒त॒। इ॒मे। सोमाः॑। अरं॑ऽकृताः॥ तेषा॑म्। पा॒हि॒। श्रु॒धि। हव॑म् ॥१॥

भाष्यम्—(वायो) हे वायो अनन्तबल सर्वप्राण अन्तर्यामिन्! (दर्शत) द्रष्टुं योग्यप्रेक्षणीयेश्वर कृपया अस्मद्हृद्देशं (आयाहि) आगच्छ, नित्यं प्रकाशको भव। (इमे सोमाः) सर्वे पदार्थाः भवतैव (अरंकृताः) अलंकृताः भूषिताः। सन्ति। (तेषां पाहि) तान् त्वमेव रक्ष। तथा (हवम्) स्तोत्रभागं त्वं (श्रुधी) श्रुधि शृणु। अस्मत्कृतां स्तुतिं सद्यो निशामय ८ ॥

वायुः परमेश्वरस्य नामास्ति। प्रथममन्त्रभाष्योक्तान्यपि प्रमाणान्यत्र वेद्यानि अन्यच्च—नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासीत्यादीन्यपि च तैत्तिरीयोपनिषदि अ० १ वल्ली १ अनु१ १॥ इत्येकोर्थः॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः॥

(वायो) अयं भौतिको वायुः (दर्शत) दर्शतः द्रष्टव्यः, पदार्थविद्यार्थप्रेक्षणीयोस्ति। येन वायुना (इमे सोमाः) सोमवल्ल्याद्या ओषधयः, तद्रसाश्च (अरंकृताः) तेनैवात्युत्तमा भवन्तीति जानीमः। कुतः? (तेषां पाहि) तेषां पाता रक्षकः स एवास्ति। यज्ञे सुगन्ध्यादिहोमेन शुद्धः सन् स एव पाति रक्षत्यतः। तथा (हवम्) देयं ग्राह्यायोग्यं विद्यान्वितं शब्दम् (श्रुधी) श्रुधि येन सर्वे जीवाः शृण्वन्ति स च श्रावयति विद्योपदेशार्थं यदाख्यानं भवति। तत्राचेतने चेतनवद्व्यवहारे न दोषो भवति।

भौतिको वायुर्द्वितीयेर्थे गृह्यते। कुतः? वायुशब्दग्रहण एतत्प्रयोजनं विद्याद्वयं यथा गृहीतं स्यात्। अन्यथा प्रभो वा स्पर्शवन् इत्येवं [वा] ब्रूयात्। यथा प्रथमसूक्ते व्यावहारिकपारमार्थिकविद्याद्वयमग्निशब्दग्रहणेनैवेश्वरः प्रकाशितवान्। तथास्मिन् द्वितीये सूक्तेपि बोध्यम्। व्यवहारविद्यायामग्नेर्मुख्य-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारणत्वात् प्रथमं ग्रहणं कृतम्, ततः तदनुसंगित्वाद्[1] वायोर्द्वितीयसूक्ते ग्रहणं च। वायुरेवाग्नेर्वर्धकोऽस्तीत्यतो याग्निविद्या प्रथमे द्वितीये च वर्गे उक्ता तस्या अपि वायुः कारणम्। वायुसहायेन विनाग्निरप्यकिंचित्करो भवति स्थावरजङ्गमस्य द्विविधस्य जगतो वायुर्वृद्धिरक्षाकरोऽस्ति। अतएव रक्षकः। तथा श्रवणकथनादिचेष्टामयस्य व्यवहारस्य वायुरेव मुख्यं कारणमस्ति। तस्माद्वायुगुणोपदेश ईश्वरेण कृतोऽस्ति ॥१॥

अत्रोभयार्थे प्रमाणानि—व्यत्यो बहुलम्। अष्टाध्याय्याम् अ० ३ पा० १।[2] अस्य सूत्रस्योपरि भाष्ये कारिकास्ति—

> सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
> व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेनेति ॥१॥

प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति। न कांचित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति। यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या। (अ० १, पा० १। सू० ५५)। स्थानिवदादेशोनल्विधावित्यस्य सूत्रस्योपरि भाष्यवचनम्।

अर्थगत्यर्थशशब्दप्रयोगः। न वेति विभाषे[3] त्यस्य सूत्रस्योपरि भाष्यसूत्रम्। अर्थवशाद्विभक्तेर्विपरिणामः। इति भाष्योक्ता परिभाषेयम्[4]। अथैषां संक्षेपतोर्थः। वैदिक शब्दनिर्देशे[5] ॥

१. षत्वं विनाऽयं प्रयोग ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामपि प्रयुज्यते। द्र० पृष्ठ ७७ ॥

२. अष्टा० ३।१।८५ ॥ ३. अष्टा० १।१।४३ ॥

४. महाभाष्य अ० १।३।१ ॥ ५. भाष्यनिदर्शनाङ्के (नमूने अङ्क में) अत्र पर्यन्तमेव पाठः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट-२

वेदभाष्य-सम्बन्धी पत्र[1]

मन्त्री आर्यसमाज लाहौर की ओर से,
डक्टर जी. डबल्यू. लाइटनर. एम. ए. बार. एट. ला.
रजिस्ट्रार पंजाब यूनिवर्सिटी कालेज सिमला।

श्रीमान् !

पञ्जाब सरकार ने आपके यूनिवर्सिटी कालेज की सैनेट को पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के गुणों को जानने के लिए एक पत्र भेजा था। उसका परिणाम जानने के लिए दक्षिण में मुम्बई और पूना की, पश्चिमोत्तर प्रान्त में मुरादाबाद और शाहजहाँपुर की, पञ्जाब में लाहौर और अमृतसर की आर्यसमाजें अत्यधिक उत्सुक थीं। जूँही मैसर्ज ग्रिफिथ और टानी तथा लाहौर के कुछ पण्डितों की दी हुई सम्मतियाँ प्रकाश में आईं, तब भी आर्यसमाज लाहौर ने, अभिमानी समझे जाने के भय में पड़कर भी, अपना यह कर्त्तव्य समझा कि आपको ऐसी सूचना दी जाए, जैसी इसकी सम्मति में, सैनेट ऐसी विद्वत्-सभा को अधिक ठीक और परिपक्व निर्णय पर पहुँचने के योग्य बना दे। वह विद्वत्सभा वह सब कुछ सुन ले, जो उस भावी कार्य के अनुकूल या विरुद्ध कहा जा सकता है।

स्वामी दयानन्द ने स्वयं भी इस विषय पर एक लेख लिखा है। समाज उसे स्वामी दयानन्द सरस्वती के आलोचकों के समस्त आक्षेपों का सन्तोषदायक उत्तर समझता है। वह मूल लेख भी साथ ही भेजा जाता है।[2]

प्रतीत होता है कि महाभारत-काल से पहले, जिसे यूरोपियन काल-गणना के अनुसार तथा बहुत न्यून गिनती से ईसा के संवत् से ६०० या ७०० वर्ष पहले सरलता से धरा जा सकता है, भारत में वेदों का पठन-पाठन नियम से होता था और उनपर भाष्य रचे जाते थे। उस समय ऐसे गुरुकुल वा विद्यालय थे, जिनमें केवल वेद ही अध्ययनाध्यापन में आते थे, और भाष्य, कोश तथा व्याकरण लिखे

---

१. २४ मई १८७७ सोमवार को लगभग १० बजे श्री स्वामी जी पंजाब के लेफ्टिनैण्ट गवर्नर से मिले। देखो लेफ्टिनैण्ट गवर्नर के निजी सचिव मि० जे० ग्रिफिथ का १२ मई का श्री स्वामी जी के नाम पत्र। उसी दिन गवर्नर से वार्तालाप के अनन्तर स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य के सहायतार्थ पंजाब सरकार को एक पत्र लिखा था। पत्र के साथ ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका और वैदभाष्य का नमूना भी भेजा था। यु० मी०

२. यह लेख इस पत्र के आगे छापा जा रहा है। यु० मी०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते थे। ये ग्रन्थ इसलिए रचे जाते थे कि वेदमन्त्रों का व्याख्यान और स्पष्टीकरण हो। इनमें से कई ग्रन्थ, काल के अनेक विनाशों के होने पर भी हम तक पहुँच पाए हैं। ये ग्रन्थ यद्यपि अलभ्य हैं, पर सर्वथा अप्राप्य नहीं हुए। इनमें सबसे अग्रणी ब्राह्मण, निरुक्त, निघण्टु और पाणिनि का व्याकरण आदि हैं। अतएव यही ग्रन्थ वेदों के सबसे पुरातन और विश्वसनीय भाष्य और व्याकरण हैं। क्योंकि जब महाभारत का महासंग्राम हुआ तो उसने हिन्दूसमाज को उसकी जड़ तक हिला दिया। उस समय अध्ययन की अपेक्षा लोगों को अपने प्राणों की चिन्ता अधिक थी। उस युद्ध में सारा उत्तर भारत एक अथवा दूसरे पक्ष की ओर हुआ।

तब न केवल युद्ध के काल में प्रत्युत उसके शताब्दियों पश्चात् वेद घोर लुप्तावस्था में रहे। अधिक शान्तिप्रद कालों के लौटने पर वैदिक विद्या पुनर्जीवित हुई। नए विद्यालय उठे और नए भाष्य निकल पड़े। इन्होंने पुराने ऋषियों की व्याख्याओं को तिलाञ्जलि दी और अपने युग की प्रवृत्तियों के अधिक अनुकूल व्याख्याएँ की। तथापि इससे निकृष्ट समय भी आने वाला था। बौद्ध धर्म भारत में सर्वोपरि हो गया। वेदों के विद्वान् पकड़े और मारे जाते थे। उनकी धार्मिक पुस्तकें जलाई जाती थीं और नष्ट की जाती थीं। ब्राह्मणों ने अभी बौद्धों को देश से निकाला ही था, अभी उन्होंने अपना प्रभुत्व पुनः प्राप्त किया ही था, जब उन्हे एक अधिक भयानक शत्रु से सामना करना पड़ा। महाभारत के युद्ध ने और बौद्ध-धर्म के विस्तार ने जो बात आंशिक रूप में की थी, देश पर मुसलमानों के अधिकार ने सर्वथा पूर्ण कर दी। सारी विद्या, सारा वाङ्मय और सारी सच्ची वैदिक विद्वत्ता समाप्त हो गई। इन्हीं उत्तर समयों में सायण, महीधर, उवट और रावण[1] के भाष्य हुए। इनसे लाभ के स्थान में हानि अधिक हुई। सर्व साधारण लोगों पर इनके भाष्यों का इतना प्रभाव हो गया है कि पुराने भाष्यों को निरर्थक समझा जाता है और उन्हें कभी ही कोई देखता है।

तथापि कुछ दूरी पर एक उज्ज्वल भविष्य होने वाला था। ईसा की गत शताब्दी के अन्तिम दिनों में संस्कृत भाषा और वाङ्मय ने कोलब्रुक, जोन्स और कारी (Carey) ऐसे प्रसिद्ध विद्वानों के ध्यान को पुनः अपनी ओर खेंचा। उनके दिये हुए धक्के ने भाषाविज्ञान में ही आश्चर्य नहीं किया, वाप्प, बर्नफ, श्लेगल, विलसन, वेबर और मैक्समूलर सदृश चमकते हुए प्राच्यविद्याविशारदों की एक विशेष पंक्ति को ही उत्पन्न नहीं किया, और हमें एक राजेन्द्रलाल मित्र ही नहीं दिया, परन्तु हम आशा करते हैं, वह धक्का अवश्य ही स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के रूप में परिणत होगा। परन्तु इस बात का बड़ा शोक है कि योरोपियन विद्वानों को अपनी अत्यधिक सामग्री के लिए एतद्देशीय पण्डितों पर आश्रित रहना पड़ता है। वे पण्डित ऐसे हैं जिनका अधिक से अधिक ज्ञान भी गहरा नहीं है। और इनमें से भी जो सबसे अधिक ज्ञानवान् हैं, सायण और महीधर से अधिक बड़े नाम नहीं जानते। यही कारण है कि वैदिक विद्वत्ता ने अपेक्षाकृत धीमी उन्नति की है और योरोप में वेदों की शिक्षा के सम्बन्ध में अशुद्ध विचार फैले हुए हैं।

---

१. रावण एक दाक्षिणात्य पण्डित था, इसने ऋग्वेद का भाष्य रचा था। इसके पदपाठ का एक हस्तलेख फर्रुखाबाद निवासी पं० केशवदेव निर्मल के घर में था। उसका एक अष्टक जिसपर रावण का नाम अंकित था, ३ मार्च १९२७ को श्री मामराज जी ले आए थे। डा० लक्ष्मणस्वरूप ने उसका फोटो कराकर पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर के पुस्तकालय में रख दिया था, परन्तु मूलकोश उन से नष्ट हो गया। हमने मूलकोश लालचन्द लायब्रेरी लाहौर में देखा था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

प्रति वर्ष, प्रति मास, और दिन-दिन हमारे महान् देश के प्राचीन साहित्य और सभ्यता पर निस्सन्देह अधिक प्रकाश पड़ रहा है। यद्यपि इस साहित्य के लिए योरोप में प्राच्य-विद्या के विद्वानों के सम्मिलित यत्नों द्वारा बहुत कुछ पहले ही किया गया है, परन्तु इससे भी अधिक अभी किया जाना शेष है। हमे विश्वास है, एक समय आयेगा जब उपस्थित वेदभाष्य वैदिक विद्वत्ता के प्रासाद का मूलाधार समझा जायगा। वेदों की उलटी व्याख्या करने वाले भाष्यकारों द्वारा योरोपियन विद्वान् जिस प्रकार उलटा समझे हैं, उससे यह सर्वथा आश्चर्य नहीं होता कि वे कुछ काल के लिए इस विचार की अवहेलना करें कि वेद एक ही सद्ब्रह्म की उपासना सिखाते हैं। परन्तु हमारी धारणा है कि स्वामी दयानन्द ने जो धक्का अब दिया है, वह अधिक गम्भीर अन्वेषण को प्रोत्साहन देगा और सत्य को प्रकाश में लायेगा। तथापि इस देश के पण्डितों की अपेक्षा योरोपियन विद्वानों से अधिक आशाएँ की जाती हैं। पण्डितों का यह स्वार्थ है कि जब तक वे कर सकें तब तक मूर्तिपूजा और उसकी विधियों को स्थिर रक्खें। समाज इस समय ऐसी ही आशा कर सकता है कि बढ़ता हुआ प्रकाश किसी दिन अन्धकार को दूर करेगा और सबको सचेत करेगा।

योरोप में वैदिक विद्वत्ता सम्प्रति भी थोड़ी है, इसके अधिक प्रमाण अपेक्षित नहीं। योरोप के सबसे बड़े वैदिक विद्वान् दृढ़ता से कहते हैं कि अब भी अनेक मन्त्र हैं कि जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता। योरोप में अब तक जितना हुआ है वह शब्दों के अर्थों का अनुमान मात्र करने से अधिक नहीं है। इनसे (मन्त्रों से) कोई सुसम्बद्ध विचार नहीं निकाले जा सकते। योरोप के सात प्रमुख प्राच्य विद्या-विशारदों के एक मन्त्र के निम्नलिखित अनुवाद, जो मूलार्थ से अत्यधिक भिन्न हैं उच्चस्वर से प्रमाणित करते हैं कि योरोप में वेदार्थ ज्ञान अभी स्थूल रूप में ही है।

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥ ५ ॥

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥[1]

देखो—ऋग्वेद संहिता की मैक्समूलर भूमिका पृ० २२—२४।

१. चाहे हमारे शत्रु कहते हैं, किसी और स्थान को चले जाओ तुम जो केवल इन्द्र की पूजा करते हो—

२. अथवा चाहे हे बलशालिन्, सारे लोग हमें भगवान् कहें, हम सदा इन्द्र की रक्षा में रहें।

इन मन्त्रों के सामान्य भाव के सम्बन्ध में मैंने विचारा कि कोई सन्देह ही नहीं हो सकता। यद्यपि इसमें एक शब्द अर्थात् 'अरिः' व्याख्या योग्य है। फिर भी अनेक प्रकार की व्याख्याएँ जो विविध विद्वानों ने की हैं, विलक्षण हैं। प्रथम यदि हम सायण को देखें, तो वह अर्थ करता है -

१. हमारे पुरोहित इन्द्र की स्तुति करें। हे शत्रुओ, इस स्थान से चले जाओ और दूसरे स्थान से भी। हमारे पुरोहित (इन्द्र की स्तुति करें) वही जो सदा इन्द्र की स्तुति करते रहते हैं।

२. हे शत्रुओं के नाशक, शत्रु हमें धनवान् कहे, कितना अधिक मित्र लोग ! हम इन्द्र की प्रसन्नता में हों।

प्रोफ़ेसर विलसन ने सायण का पूरा अनुकरण नहीं किया। परन्तु उसने अनुवाद किया—

१. ऋग्वेद १।४।५, ६॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. हमारा पुरोहित उत्सुकता से उसकी स्तुति करता हुआ बोले, ऐ गालियाँ निकालने वालो, यहाँ से चले जाओ और प्रत्येक दूसरे स्थान से (जहां वह पूजा जाता है)।

२. हे शत्रुओं के नाशक, हमारे शत्रु कहें कि हम समृद्ध हैं। लोग हमें (बधाई दें)। हम सदा उस आनन्द में वास करें जो इन्द्र की (अनुकूलता से मिलता हैं)।

लैंगलाएस ने अनुवाद किया'—

स्टीवन्सन ने अनुवाद किया—

१. इन्द्र की स्तुति में सब लोग पुनः सम्मिलित हो जाएँ। तुम दुष्ट और घृणा करने वाले सब यहाँ से चले जाओ और प्रत्येक दूसरे स्थान से (जहाँ वह पूजा जाता है)।

२. हे शत्रु-नाशक (तेरी कृपा से) हमारे शत्रु भी हमारे साथ जो हम धनों के स्वामी हैं शान्ति से बोलें। तब क्या आश्चर्य है कि यदि दूसरे आदमी ऐसा करते हैं। हम सदा उस आनन्द को भोगें जो इन्द्र के आशीर्वाद से उपजता है।

प्रोफ़ेसर बैनफ़ी अनुवाद करता है—

१. और घृणा करने वाले कहें, वे हर एक दूसरे से अस्वीकृत किये गये हैं, अतः वे इन्द्र का उत्सव करते हैं।

२. और शत्रु और देश हमें प्रसन्न घोषित करें, हे नाशक यदि हम केवल इन्द्र की रक्षा में हैं।

प्रोफ़ेसर राथ ने 'अन्यतः' का ठीक अर्थ लिया है अर्थात् भिन्न स्थान को। और इसलिए उसने उस वचन का यही अर्थ किया होगा किसी दूसरे स्थान को गति करो अर्थात् उसी अर्थ में, जैसा भाव मैंने लिया है। तथापि कुछ काल पश्चात् S. V. ar उसने अपने आप को ठीक किया, और उन्हीं शब्दों का यह अनुवाद प्रस्तावित किया—"तुम किसी अन्य पदार्थ को भुला दो।"

प्रोफ़ेसर बोल्लेनसन (ओरियण्ट एण्ड आक्सिडेण्ट वाल्यूम १, पृ० ४६२) ने किसी सीमा तक प्रोफ़ेसर राथ के दूसरे अनुवाद का अनुसरण किया और प्रोफ़ेसर बैनफ़ी के अनुवाद को ठीक न समझ-कर यह दिखाने का यत्न किया कि "वह अन्य पदार्थ जो भुलाया गया है' कुछ अनिश्चित पदार्थ नहीं है, परन्तु इन्द्र के अतिरिक्त दूसरे सारे देवताओं की पूजा है।

यह हैं वेदार्थ की योरुप में अनिश्चित अवस्था जिसने प्रोफ़ेसर मैक्समूलर को ऋग्वेद संहिता के प्राक्कथन में यह लिखने पर विवश किया है कि उसका अनुवाद अनेक स्थानों में शुद्धि योग्य है और शीघ्र या कालान्तर में इसका स्थान एक नए अनुवाद को लेना पड़ेगा।

और कि भारत में वैदिक विद्वत्ता इससे भी अधिक स्वल्प है, यह इसी बात से जाना जा सकता है कि स्वामी दयानन्द के बारम्बार के आह्वानों पर भी एक पण्डित भी अभी तक ऐसा प्रकट नहीं हुआ जो वेदों से यह सिद्ध करे कि उन में मूर्तिपूजा पाई जाती है, यद्यपि वे सब इस बात को कह तो देते हैं। ऐसी अवस्था का यही कारण कहा जा सकता है कि इस देश में वेद अपितु उनके थोड़े-थोड़े भाग ही अर्थज्ञान के बिना कण्ठस्थमात्र किये जाते हैं। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द न केवल अपनी वाग्मिता से, न केवल अपने तर्क के असाधारण बल से अपने श्रोतागणों के मनों में विश्वास उत्पन्न करा देता है, प्रत्युत अपने वेदभाष्य में शब्दों के इतिहास को खोलता है², प्रत्येक बात की व्याख्या करता

१. लैटिन भाषा में होने के कारण इस का अनुवाद नहीं दिया गया। २. अमुक शब्द का क्या अर्थ है और क्यों है? इस रहस्य को ऋषिदयानन्द ने शब्दों के यौगिक अर्थ करके दर्शाया है। उसकी ओर यह संकेत है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि जिस से वह अपने अर्थ पर पहुँचा है और शब्दों के जो अर्थ करता है उनकी पुष्टि में वेदों, ब्राह्मणों, निघण्टु और पाणिनि के व्याकरण से प्रमाण देता है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि अपनी महती विद्वत्ता की योग्यता से, अपनी धैर्ययुक्त गवेषणा से, अपने काम के लिए असीम प्रेम के द्वारा वह मानव-पुस्तकालय के इस सब से पुराने ग्रन्थ में जीवन-प्राण का संचार कर रहा है। वह उन कठिनाइयों को प्रकट करता है, जिन्होंने अब तक उस (वेद) की स्वतन्त्र उन्नति को रोक रखा है। वह भाषा-विज्ञान की सामान्य रूप से और भारतीय भाषा-विज्ञान की विशेष रूप से अचिन्त्य सेवा कर रहा है। उसके वेदभाष्य के एक हज़ार से ऊपर ग्राहक अब तक बन गए हैं। और ग्राहकों की संख्या प्रति दिन उन्नति पर है। इन बातों का विचार करके और इस बात को जानकर, जैसा कि पंजाब सरकार और भारत में दूसरी प्रान्तीय सरकारें जानती हैं कि वेदों ने भारतीय इतिहास के सब उत्तरवर्ती युगों पर कैसा प्रबल प्रभाव डाला है, और उनका भारतीय वाङ्मय की प्रत्येक शाखा के साथ कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, और उनके धार्मिक और सदाचार के विचारों ने भारतीय जाति के हृदयों में कितनी गहरी जड़ पकड़ी है, तथा उनके सनातन प्रमाणों से भारतीय जीवन के जनता सम्बन्धी और व्यक्तिगत सब काम नियमित किए जाते हैं, यह सब जानकर समाज विश्वास रखता है कि सरकार ऐसे महाशयों की दी हुई सम्मतियों के अनुकूल नहीं चलेगी कि जो अन्य गुणों के रखते हुए भी, समाज की नम्र दृष्टि में, वैदिक विद्वान् होने की प्रतिष्ठा नहीं रखते।

अन्ततः समाज आज्ञा चाहता है कि उन मुख्य कारणों को संक्षेप से दोहराए कि जिनके आधार पर वह स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य की पंजाब सरकार द्वारा संरक्षकता चाहता है, और आशा प्रकट करता है कि सरकार देश की दूसरी सब प्रान्तीय सरकारों को प्रेरित करे कि वे भी एक महान् सुधारक और विद्वान् के इस पुण्य और परोपकारयुक्त उद्देश्य के प्रोत्साहन में इसके साथ सम्मिलित हों।

(१) कि भारतीय भाषा-विज्ञान यदि यह स्वाभाविक गति[1] पर चले, तो अवश्य ही वेदों के स्वाध्याय से प्रारम्भ होगा, अतः उनके ज्ञान का प्रचार अत्यधिक अभीष्ट है।

(२) कि इस वेदभाष्य के प्रकाश ने गवेषणा का भाव उत्पन्न कर दिया है। इनको प्रोत्साहन देना श्रेष्ठ है।

(३) कि आशा की जाती है कि वेदों के सच्चे ज्ञान के प्रचार द्वारा हिन्दू मन मिथ्या विश्वास और गहरे गड़े हुए पक्षपात से मुक्त होगा।

(४) कि स्वामी दयानन्द का भाष्य उन सबसे अधिक विश्वसनीय प्रमाणों पर समाधारित है कि जिनको योरोपीय विद्वान् भी प्रामाणिक स्वीकार करते हैं, परन्तु जिन्हें वे अभी तक पूर्णतया प्रयोग में नहीं लाए।

(५) कि वर्तमान परिस्थितियों में स्वार्थी ब्राह्मणों अथवा भ्रान्त समझने वाले योरोपियनों से निष्पक्ष सम्मतियों की आशा नहीं हो सकती।

अतः पूरा अवसर मिलना चाहिये।

मैं हूँ.....................

जीवनदास

मन्त्री आर्यसमाज

लाहौर

२५ अगस्त १८७७

---

१. भारतीय भाषाविज्ञान की स्वाभाविक गति है—ईश्वर प्रदत्त वैदिकी वाक् से मानुषी (संस्कृत) भाषा की उत्पत्ति अथवा विकास और उससे संसार भरकी भाषाओं की उत्पत्ति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋषि दयानन्द का पत्र

ग्रिफ़िथ, टानो, हृषीकेश, भगवान्‌दास के आक्षेपों के उत्तर में

मुझे वकील हिन्द और यूनीवर्सिटी कालिज पंजाब के [प्रकाशित] पत्रों से ज्ञात हुआ कि कई एक साहबों ने मद्रचित वेदभाष्य पर प्रतिकूल अनुमति दी है। इसलिए मैं उनकी शंकाओ का उत्तर क्रम से निवेदन करता हूं।

प्रथम उन शंकाओं का उत्तर है जो मिस्टर आर. ग्रिफ़िथ एम. ए. प्रिंसिपल बनारस कालिज ने की हैं। पांच हज़ार वर्ष के लगभग से वेदविद्या जाती रही। महाभारत से पहले इस देश में सब विद्या ठीक २ प्रचारित थीं। परन्तु पीछे से पढ़ने-पढ़ाने के ग्रन्थ और रीति बिलकुल बदल गई। तब से अब तक वही अशुद्ध प्रणाली प्रचारित है। यद्यपि कहीं २ के लोग वेदादिक सत्य ग्रन्थों को कण्ठ कर लेते हैं परन्तु उसके शब्दार्थ को कोई भी नहीं जानता। न ऐसे कोई व्याकरणादिक ग्रन्थ अर्थ सहित पढ़ाए जाते हैं जिनसे वेदों का अर्थ हो सके। आधुनिक जो महीधर आदि के बनाए हुए वेदभाष्य देखने में आते हैं वे महाभ्रष्ट और अन्धकार के बढ़ाने वाले हैं। उनके देखने वालों को मद्रचित भाष्य ठीक समझ में नहीं आता। मेरा भाष्य शुद्ध वेदार्थबोधक और प्राचीन भाष्यों के ठीक अनुकूल है। वह तभी समझ में आवेगा जब लोग प्राचीन भाष्यादिक ग्रन्थों की सहायता स्वीकार करेंगे। मैंने प्रत्येक मन्त्र का अर्थ सत्य प्रतीत होने के अर्थ बहु प्राचीन आप्त व्याख्यानकारों का प्रमाण बहुत स्पष्ट पतेवार लिख दिया है। यदि ग्रिफ़िथ साहब ने प्राचीन भाष्य वा मेरे लिखे प्रमाणों और उदाहरणों को पढ़ा होता तो कभी उनकी ऐसी विरुद्ध सम्मति न होती जैसी कि उन्होंने हाल में दी है। उवट, सायण, महीधर, रावण आदि के रचे हुए भाष्य प्राचीन भाष्यों से सर्वथा विपरीत हैं। केवल इन्हीं भाष्यों का उलथा अंग्रेजी में विलसन और मैक्समूलर आदि प्रोफ़ेसरों ने किया है। इसलिए मैं इनके भाष्यों को भी शुद्ध और न्यायकारी नहीं कह सकता। इन्हीं ग्रन्थों के कारण ग्रिफ़िथ साहब आदि लोग भी सन्देह मार्ग में पड़े हैं और मुझको यह कहकर दूषित करते हैं कि स्वामी जी ने अर्थ पलट कर अपने प्रयोजन के सिद्धार्थ दूसरे ही अर्थ नियत किये हैं। परन्तु उनका यह तर्क सर्वथा निर्मूल है। मैंने सर्वत्र ऐतरेय और शतपथ नामक ब्राह्मणग्रन्थ और निरुक्त तथा पाणिनीय व्याकरणादिक सत्य ग्रन्थों का प्रमाण देकर प्रत्येक का सत्य २ अर्थ लिखा है। यदि ग्रिफ़िथ साहब उसको देखते तो कभी ऐसा न लिखते। विचार करता हूँ कि उनने मेरा भाष्य बिना ही देखे भाले अपनी मनमानी अनुमति प्रकाशित कर दी है।

मैं नहीं समझ सकता हूँ कि ग्रिफ़िथ साहब मेरा श्रम वृथा क्यों समझते हैं, जब कि मेरे भाष्य के लेने वाले हज़ार से अधिक बड़े-बड़े सत्पुरुष हैं और प्रत्यह नवीन जनों के निवेदन पत्र मेरी पुस्तक लेने के विषय में बराबर चले आते हैं। मेरे ग्राहकों में से बहुत से अच्छे-अच्छे संस्कृतज्ञ और बहुतेरे अंगरेज़ी और संस्कृत में पूरे-पूरे विद्वान् हैं। ग्रिफ़िथ साहब का यह अन्तिम लेख कि वेदों की ऋचाओं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से बहुत से देवताओं के नाम प्रकाशित होते हैं सो उनकी यह बात मुझको तब प्यारी लगे और विद्वानों के समीप प्रामाणिक ठहरे जब वे उस मतलब की कोई ऋचा मुझको लिख भेजें —

पूर्वलिखित की पुष्टि में निम्नलिखित उद्धरण दिये जाते हैं—

(a) ऐच. टी. कोलब्रूक रचित 'दी वेदाज़' से'

(b) चार्ल्स कोलमैन रचित 'माईथालोजी आफ़ दी हिन्दूज़' से'

(c) पादरी गैरट के अनूदित 'भगवद्गीता' के परिशिष्ट से'

(d) मैक्समूलररचित "हिस्टरी आफ़ एन्शण्ट संस्कृत लिटरेचर" पृ० ५६७ से'

ऋग्वेद में जो प्रथम मन्त्र है उसमें अग्नि शब्द आया है। उसका उल्था सी. एच. टानी साहब एम. ए. प्रिन्सिपल प्रेसीडेन्सी कालिज कलकत्ता ने आग के अर्थ में अपने उस प्रथमोक्त ध्यान से किया है कि अग्नि भी एक पदार्थ प्रतिष्ठा का वेद में है, परन्तु अग्नि को तत्त्व मानकर किसी प्राचीन ऋषि-मुनि ने पूजन वा आवाहन नहीं किया और अग्नि शब्द का जो स्वाभाविक अर्थ आग का है वह केवल

---

१. यद्यपि वेदों को शीघ्र दृष्टि से देखने से देवताओं के नाम उतने दीख पड़ते हैं जितने कि स्तुति करने वाले के हैं, परन्तु पुराने व्याख्यानग्रन्थों के अनुसार कि जो ठीक आर्यधर्म के विषयक हैं वे अनेक नाम देवता वा मनुष्य और वस्तुओं के नहीं ठहर सकते अर्थात् वे सब तीन देवताओं के ही नाम से सम्बन्ध रखते हैं और फिर वे तीनों नामों की देवता भी पृथक्-२ नहीं हैं अर्थात् वे तीनों नाम एक ही परमेश्वर के हैं। निघण्टु अर्थात् वेदों के शब्दकोष के अन्त में तीन नामावली देवताओं की हैं। उनमें से पहिली अग्नि के, दूसरी वायु के तीसरी में सूर्य के पर्यायवाची नाम हैं।

निरुक्त के अन्त भाग में जिसमें केवल देवताओं का वृत्तान्त है, यह दो बार कथन किया गया है कि देवता केवल तीन हैं (तिस्र एव देवताः) इनसे अधिकतर अनुमान सिद्धान्त यह निकलता है कि केवल एक ही देवता है। यह बात वेद के अनेक वाक्यों से भी सिद्ध होती है और यही आशय निरुक्त और वेद के प्रमाण के अनुसार अति सुगम और संक्षेप रीति से ऋग्वेद के सूचीपत्र में वर्णन किया है। इससे यह निर्णय होता है कि आर्यों के पुराने धर्ममार्ग की पुस्तकें केवल एक ही ब्रह्म को गाती हैं और सूत्रों से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

१. वेदों से ज्ञात होता है कि आर्य ऋषियों का धर्ममार्ग केवल एक बड़े ब्रह्म के पूजन और श्रद्धा वा भक्ति में था जिस को वे सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक जानते थे और जिसके सम्बन्धी गुणों को वे अत्यन्त पूजनीय वाक्यों में प्रकट करते थे और वे सम्बन्धित गुण उसकी तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं। उनमें से प्रथम उत्पादक, दूसरी पालक, तीसरी संहारक नाम से वर्णन की जाती है।

२. इन अतिसत्य ध्यानों से हमें पूर्ण विश्वास होता है कि चारों वेद एक ब्रह्म को गाते हैं जो सर्वशक्तिमान् अनन्त, चिरस्थायी, स्वयंभू संसार का द्योतक और पालक है। मैं इसके संग एक और ऋचा लिखता हूँ जिससे एक ही ब्रह्म निश्चित होता है। इस से हम आपकी शंका निवृत्ति करते हैं जानिये कि आर्य लोग स्वाभाविक बुद्धि से सदैव अद्वैतसेवी अर्थात् केवल एक ईश्वर को ही मानते थे।

३. उसी उक्त ऋचा का एक चरण यह है जिससे निस्सन्देह केवल एक ही ब्रह्म का निरूपण होता है— यद्यपि हम उस को अनेक नाम से आवाहन करते हैं। ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ की ४६ वीं ऋचा को देखो स्पष्ट लिखा है कि उसी एक परब्रह्म को ज्ञानवान् इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि के नाम से पुकारते हैं। कोई कहते हैं कि वह आकाश में सपक्ष गरुत्मान् है और कोई-२ बुद्धिमान् उसी के अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नाम मानते हैं।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन वाक्यों में लिया जाता है जिनमें लौकिक सम्बन्धी बातें हैं परन्तु ऐसे वाक्यों में जहाँ ईश्वर की स्तुति प्रार्थना निवेदन आदि का प्रसंग होता है वहाँ अग्नि शब्द का अर्थ परमेश्वर का घटित किया जाता है। यह अर्थ कुछ मैंने मिथ्या कल्पित नहीं किया। इस प्रकार के युक्तार्थ ब्राह्मण और निरुक्त नामी ग्रन्थों में बराबर वर्णन हो आए हैं।

अन्त पर टानी साहब की जो यह सम्मति है कि मैंने जो भाष्य बनाया है वह इस कारण से रचा है कि सायण और अंग्रेजी उल्थाकारों के भाष्य कट जावें अर्थात् अशुद्ध ठहरें, सो इस विषय में मैं कभी दूषित नहीं हो सकता हूँ। यदि सायण ने भूल की है और अंगरेजों ने उसको अपना मार्ग-प्रदर्शक जानकर अंगीकार कर लिया तो भले ही करें, परन्तु मैं जान-बूझकर कभी भूल का काम नहीं कर सकता। परन्तु मिथ्या मत बहुत काल तक नहीं ठहर सकता, केवल सत्य ही ठहरता है और असत्य सत्यता के सन्मुख शीघ्र धुमैला हो जाता है। पण्डित गुरुप्रसाद हेड पण्डित ओरियंटल कालिज लाहौर ने यह बात कहकर कि स्वामी जी के भाष्य में कोई अशुद्धि छापे की कहे सो नहीं है, मेरे प्रत्येक आशय को दूषित ठहराया है। तथापि मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। उनने मेरे भाष्य के छापने वाले का विश्वास माना, यह क्या थोड़ी बात है। परन्तु मैं कहता हूँ कि उसका भी दोष वे मेरा ही जाने, परन्तु थोड़ा मुँह खोलकर कहें तो कैफियत खुले। नहीं तो क्या जान पड़े। और जो वे मुझे दूसरे स्थल पर यह दोष लगाते हैं कि अपने ही पन्थ का प्रचार किया चाहता है सो मैं ऐसी बातों को सुन अति पश्चात्ताप से कहता और समझता हूँ कि वे वेदविद्या से नितान्त अजान हैं। यदि उन्होंने प्राचीन भाष्यों का अवलोकन किया होता तो कभी ऐसा न कहते।

और तीसरा कलंक जो वे मुझे यह लगाते हैं कि इन्द्र, मित्र और त्वष्टा आदि शब्दों के अर्थ स्वामी जी ने अपनी ओर से गढ़े हैं सो उनकी इस शंका के उत्तर में मैं उनको वेदभाष्य के विज्ञापन[1] का प्रमाण देता हूँ और एक प्रति साथ ही इस उत्तर के ऐसी लगाये देता हूँ कि जिसमें उन शब्दों का यथावत् वर्णन है। फिर भी इन सब वातों के परिणाम में मुझे निस्सन्देह हो यही कहना पड़ता है कि उनमें पुरातन संस्कृत विद्या अत्यन्त ही कम है।

चौथा दोष जो वे मेरे व्याकरण में यह आरोपण करते हैं कि परस्मैपद के स्थान में आत्मनेपद लिखा है सो अब मैं इस वात का निश्चय कराने को कि स्वयं पण्डितजी व्याकरण का ज्ञान नहीं रखते कैयट के भाष्यप्रदीप और नागेश, रामाश्रम आचार्य, अनुभूतिसरूप आचार्य आदि के ग्रन्थों के कई एक प्रामाणिक उदाहरण पृथक् लिखता हूँ। वे मेरे विदधीमहि[2] के प्रयोग को सर्वथा युक्त समझते हैं। वदामहे[3] के शुद्ध प्रयोग के लिये मैंने पाणिनीय व्याकरण के प्रथमाध्याय के तीसरे पाद के ४७वें सूत्र का प्रमाण दिया है। और उन स्थलों की नकल भी हूबहू उनको भेज सकता हूँ जिससे मेरा किया प्रयोग कैसा शुद्ध है यह प्रतीति यथेच्छ हो जावेगी। परंन्तु बिना व्याकरण बोध क्योंकर उनके समझ में आवे।

---

१. यह विज्ञापन 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थ में पूर्णाङ्क २४ पर छपा है।

२. वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि—ऋग्वेदा० भा० भूमिका ईश्वरप्रार्थनाविषय, पृष्ठ ३, पं० २४ (रा. ला. क. ट्रस्ट संस्क०)।

३. एवं प्राप्ते वदामहे—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदोत्पत्तिविषय, पृष्ठ १४, पं० २६ (रा. ला. क. ट्रस्ट संस्क०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(सब प्रमाण मूल भाषा लेख के साथ नष्ट हो गए।)

पाँचवीं शंका उनको मेरे एक छन्द के प्रयोग पर उपस्थित हुई है। वह अत्यन्त हास्यजनक है। जो मैं उसका इस संक्षिप्त उत्तर में कुछ वर्णन करूँ तो असार विस्तार होगा। रहा उनका समाधान सो उनके लिये पैंगल सूत्र और उसके भाष्यकार हलायुधभट्ट का एक स्पष्ट प्रमाण पृथक् लिखता हूँ। देख शान्त होवें।

(वह प्रमाण मूल भाषा लेख के साथ ही नष्ट हो गया।)

ज्ञात होता है कि पण्डित हृषीकेश भट्टाचार्य द्वितीय पण्डित ओरयन्टल कालिज लाहौर सर्वत्र पण्डित गुरुप्रसाद जी के ही अनुगामी हुए हैं। इससे उनकी शंकाओं का उत्तर वही समझना चाहिये जो पीछे लिख आए हैं। उपचक्रे[1] शब्द में उनकी शंका एक पृथक् है। सो उन्हें यह बात सुझाने को कि मेरा अर्थ बहुत ही निर्मल है मैं उन्हें केवल पाणिनीय व्याकरण के प्रथमाध्याय के तीसरे पाद के ३० वें सूत्र का प्रमाण देता हूँ। उसको देख तुष्ट होवें।

अब रहे पण्डित भगवान्दास असिस्टैण्ट प्रोफेसर गवर्नमेण्ट संस्कृत कालिज लाहौर। सो उनकी कोई नवीन शंका नहीं है। इसलिए जो मैंने ऊपर कहा वही बहुत है। वे भी तुष्ट होवें इति।

अन्त में मुझे प्रतीत होता है कि इन विरुद्ध लेखों का सारा बल देश के विद्यालयों में मेरे वेदभाष्य के लगाए जाने के विपरीत है। परन्तु मेरे आलोचक भारी भूल कर रहे हैं। मेरा वेदभाष्य महाभारत के पूर्व के भाष्यों के प्रमाणों को देने के कारण और योरोपीय विद्वानों के विचारों से विरुद्ध होने के कारण गवेषणा का एक ऐसा भाव उत्पन्न कर देगा कि जिससे सत्य प्रकट हो जायगा और हमारे विद्यालयों में सदाचार के भाव को उत्पन्न करेगा। और इसी कारण सरकार की संरक्षता का अधिकारी है।

---

१. यथा पिता स्वसन्तति ...... सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपचक्रे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदोत्पत्तिविषय, पृष्ठ १६, पं० १५ (रा. ला. क. ट्रस्ट संस्क०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्रान्ति-निवारण

भूमिका

विदित हो कि जो मैंने संसार के उपकारार्थ वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है, कि जो सब प्राचीन ऋषियों की की हुई व्याख्या और अन्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनाया जाता है, जिसमें इस बात की साक्षी वे सब ग्रन्थ आज पर्य्यन्त वर्त्तमान हैं। और मेरे बनाये मासिक अङ्कों[1] में भी विद्वानों के समझने के लिये संकेतमात्र जहाँ-तहाँ लिख दिये हैं, कि देखने वालों को सुगमता हो। और किसी प्रकार की भ्रान्ति वा शङ्का मेरे लेख पर होकर वृथा कुतर्क खड़ी करके कोई मनुष्य मेरे काल को न खोवे, कि जिससे देशभर की हानि हो और उस को भी कुछ लाभ न हो। परन्तु बहुधा संसार में यह उलटी रीति है कि लोग उत्तम कर्म कर चुके और करते हुये को देख कर ऐसे प्रसन्न नहीं होते जैसे कि निषिद्ध कर्म वा हानि को देख कर होते हैं।

जो मैं निरानिरी संसार ही का भय करता और सर्वज्ञ परमात्मा का कुछ भी नहीं, कि जिसके अधीन मनुष्य के जीवन मृत्यु और सुख दुःख हैं, तो मैं भी ऐसे ही अनर्थक वादविवादों में मन देता। परन्तु क्या करूं मैं तो अपना तन मन धन सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण कर चुका। मुझ से खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता, किन्तु संसार को लाभ पहुँचाना ही मुझ को चक्रवर्ती राज्य के तुल्य है।

मैं इस बात को प्रथम ही अच्छे प्रकार जानता था कि न्यारिये के समान बालू से सुवर्ण निकालने वाले चतुर कम होंगे, किन्तु मलीन मच्छी की नाईं निर्मल जल को गदला करने और बिगाड़ने वाले बहुत हैं। परन्तु मैंने इस धर्म-कार्य का सर्वशक्तिमान्, सत्यग्राहक और न्याय-सम्बन्धी परमात्मा के शरण में सीस धरके उसी के सहाय के अवलम्ब से आरम्भ किया है।

मैं यह भी जानता था कि इस ग्रन्थ के विषय में जो शङ्का होंगी तो कम विद्वान् और ईर्ष्या करने वालों को होंगी, परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई विद्वान् भी इसी अन्धकार में फिसल पड़े, और इतना न हुआ कि आंख खोलकर अथवा लालटेन लेकर चलें कि जिसमें चाल चूकने पर हँसी और दुःख न हो। यह पूर्व विचार करना बड़े विद्वान् अर्थात् दीर्घदृष्टि वाले का काम है नहीं तो गिरे की लज्जा का फिर क्या ही ठीक है।

इस वेदभाष्य के विषय में पहिले आर० ग्रिफिथ साहब, सी० एच० टानी और पण्डित गुरु प्रसाद आदि पुरुषों ने कहीं-कहीं अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ की थी, सो उनका उत्तर तो अच्छे

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य का प्रथम संस्करण मासिक अङ्कों में छपा था। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के एक दो अङ्क के पीछे ही ऋग्वेदभाष्य के नमूने का भी एक अङ्क छपा था। इस ग्रन्थ में इस नमूने के अङ्क और भूमिका के कुछ अङ्कों पर पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न ने जो आक्षेप किए उनका उत्तर इस पुस्तिका में दिया है। इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण टिप्पणियाँ हमारी हैं। यु० मी०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार दे दिया गया था'। परन्तु अब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जो आफीशियेटिंग प्रिन्सिपल कलकत्ते के संस्कृत कालिज के हैं, उन्होंने भी पूर्वोक्त विद्वान् पुरुषों का रंग पकड़ कर सुन के छूछे गोले चलाये हैं। इसलिये यद्यपि मेरा बहु अमूल्य समय ऐसे तुच्छ कामों में खर्च होना न चाहिये, परन्तु दो बातों की सिद्धि समझ कर संक्षेप से कुछ लेख करना आवश्यक जानता हूँ। एक तो यह कि ईश्वरकृत सत्यविद्या पुस्तक वेदों पर दोष न आवे कि उनमें अनेक परमेश्वर की पूजा पाई जाती है। और दूसरे यह कि आगे को मनुष्यों को प्रकट हो जाय कि ऐसी-ऐसी व्यर्थ कुतर्क फिर खड़ी करके मेरा काल न खोवें। क्योंकि इससे कई कठिन शङ्का तो मेरे बनाए ग्रन्थों ही के ठीक-ठीक मन लगाकर विचारने से हो निवारण हो सकती हैं, फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हैं।

यह दोष इस देश में बहुत काल से पड़ा हुआ है, अर्थात् महाभारत के युद्ध में जब अच्छे-अच्छे पूर्ण विद्वान् वेद और शास्त्रादिक के जानने वाले चल बसे, विद्या का प्रचार तथा सत्य उपदेश की व्यवस्था छूटकर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे, लोगों ने अपना-अपना छप्पर अपने अपने हाथ से छाने की फिकर को, और इस थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम-उत्तम विद्याओं को ऐसा हाथ से खो बैठे कि जिससे उनका विचारा हुआ लाभ भी नष्ट हो गया, और तमाम अपने देश को भी धर कर डुबा दिया। बड़े शोक की बात यह है कि आँखों से देखकर भी कूप में ही गिरना अच्छा समझकर, अपनी अज्ञानता पर दुःखी और लज्जावान् होने की जगह भी बराबर हठ ही करते चले जाते हैं। इसका परिणाम न जाने क्या होना है।

दूसरा कारण आर्यों के बिगाड़ का यह भी है कि उनको जैन लोगों ने बहुत कुछ दबाया और सत्यग्रन्थों का नाश किया। फिर इन्हीं के समान मुसलमानों ने भी अपने धर्म का पक्ष करके दुःख दिया। और जब से अंग्रेजों ने इस देश में राज किया तो इन्होंने यह बात बहुत अच्छी की कि सब प्रकार को विद्याओं का प्रचार करके प्रजा को समान दृष्टि से सुधारा। परन्तु कुछ-कुछ निज धर्म का पक्ष करते ही रहे। इसी से लोगों का उत्साह भी कमती होता गया। और आज तक वेदों का प्रचार और सत्य उपदेश का प्रबन्ध ठीक-ठीक होता, तो किसी को शङ्का भ्रान्ति और हठ वेद के विरुद्ध नवीन कल्पित मत-मतान्तर का न होता, जैसा कि पण्डित महेशचन्द्र का गुमान है। यह केवल उनका वेदों से विमुख होने का कारण है। इसलिये उनकी भ्रान्ति-निवारण विषय में कुछ लिखा जाता है।

[दयानन्द सरस्वती]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

✽ ओ३म् ✽

भ्रान्ति-निवारण

अर्थात्

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नकृत वेदभाष्यपरत्व प्रश्नपुस्तक का पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी की ओर से उत्तर

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नजी ने विरुद्ध पण्डितों के साथ में अपनी राय दी है, तो उन्हीं के उत्तर में इनका भी उत्तर मेरी ओर से जान लेना।

पं॰ महेश॰—पण्डित दयानन्द सरस्वती जो के परिश्रम, विद्या और पण्डिताई निस्सन्देह प्रशंसा योग्य हैं, परन्तु उनका कुछ फल मालूम नहीं देता।

स्वामीजी—सम्मति देने वालों की निर्पक्षता और न्याय तो उनके कथन ने ही प्रत्यक्ष हैं कि जिस को छोटे विद्वान् लड़के भी जान लेंगे। क्योंकि पण्डित जी लिखते हैं कि "स्वामीजो सब तरह विद्या आदि पूर्ण गुणयुक्त होने से प्रशंसायोग्य है, परन्तु कुछ फलदायक नहीं"। तो उनका यह कथन पूर्वापर विरोधी है, और इसमें उनका हठ वा वेदविद्या से विमुखता साबित होती है।

पं॰ महेश॰—स्वामीजी का यह गुमान वा अभिप्राय है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा ठीक है, तथा सब संसारी विद्या और वर्त्तमानकाल की कलाकौशलादि पदार्थविद्या वेदों से ही निकली है। इत्यादि बातें उनका काम मट्टी कर देती है।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर मैं ग्रिफ़िथ साहब के उत्तर से दे चुका हूँ।[२] जब पण्डित जी के विचार से वेदों में एक परमेश्वर की उपासना नहीं है, तो उनको उचित था वा अब भी चाहिये कि कोई मन्त्र वेदों में से लिख कर यह बात सिद्ध कर दें कि वेदों में अनेक परमेश्वरों का होना सिद्ध है। क्योंकि उन्होंने वेद मन्त्रों में से कोई प्रमाण अपने पक्ष की पुष्टि के लिये नहीं लिखा, इससे इनके मन का अभिप्राय खुल गया और उनकी विद्या की थाह मिल गई कि उन्होंने जो अटकलपच्चू कूपमण्डूक[३]

---

१. इस ग्रन्थ में उद्धृत उद्धरणों में से अधिकांश उद्धरणों के पते शताब्दी संस्करण भाग-२ में छपे संस्करण में दिए गए हैं, परन्तु उत्तरवर्ती संस्करणों में वे पुनः लुप्त हो गए। हमने उन उद्धरणों के भी पते देने का प्रयत्न किया है जिनके शताब्दी संस्करण में नहीं दिए गए।

यह भी ध्यान रहे कि वै॰ य॰ मुद्रित पाठ अनेक स्थानों पर भ्रष्ट है। हमने प्रथम संस्करण, जो शाहजहाँपुर से सं॰ १९३४ में लीथो पर छपा था के अनुसार इसे शोधा है।

२. यह लेख हम पूर्व छाप चुके हैं। द्रष्टव्य पृ॰ ९८६-९८९। यु॰ मी॰

३. सब संस्करणों में 'कूप शब्द के' पाठ है जो अर्थरहित है। यहाँ 'कूप मण्डूक के' पाठ प्रकरणानुसार चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समान चतुराई दिखलाई है, ये सब किसी ईर्ष्यक, स्वार्थी, विद्याहीन और पक्षपाती मनुष्य के फुसलाने से वा अपनी ही थोड़ी सामग्री अर्थात् हलदी की गांठ[1] के बल से लिखकर बैठ रहे, कि जिसमें वृथा कीर्त्ति देश में हो जावे।

सो पण्डित जी यह न समझें कि भारतवर्ष में विद्वान् नहीं रहे। यह व्याघ्र की खाल किसी दिन उघड़ कर सब कलई खुल जावेगी। और मैं तो अपनी थोड़ी सी विद्या और बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखूंगा वह सब को मालूम होता जावेगा, और जितना कर चुका वह जान लिया होगा। और कदाचित् पण्डित जी ने भी समझ लिया होगा, परन्तु मूक के समान संसारी और कल्पित भय से कन्द का स्वाद जान कर यथार्थ और निर्पक्षता से कह और मान नहीं सकते हैं।

परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देख मिला कि वेद भाष्य सम्पूर्ण हो जावे तो निस्सन्देह इस आर्य्यावर्त्त देश में सूर्य्य का सा प्रकाश हो जावेगा कि जिसके मेटने और झाँपने[2] को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आ जावे, तो थोड़े ही काल में फिर उग्र[3] अर्थात् निर्मल हो जावेगा।

पं० महेश०—स्वामीजी हिन्दुओं के धर्म प्रचारी ग्रन्थों को नहीं मानते जिनमें कर्मकाण्ड और होमादि का विधान है, किन्तु केवल वेदों ही की तरफ खिचते हैं। इससे मेरी समझ से तो उनको यही उचित है कि वेदों को भी एक तरफ डाल कर अपनी युक्ति और बुद्धि ही के अनुसार बर्ताव बर्त्तें।

स्वामी जी—इस जगह पण्डित जी की और भी बढ़कर भूल साबित होती है, तथा जाना जाता है कि उन्होंने प्राचीन सत्य ग्रन्थ कभी देखे भी न हों। और कल्पना किया कि देखे हों तो केवल दर्शनमात्र किया हो, नहीं तो खाली तुकें न मिलाते। अब कोई साहब पण्डित जी से पूछें कि उन्होंने हिन्दू शब्द कौन से ग्रन्थ[4] में देखा है, कि जिसके अर्थ गुलाम वा काफ़िर आदि के हैं, और जो कि आर्यावर्त्तियों को कलंकरूप नाम यवनादिक की ओर से है। और आर्य्य शब्द जिसके अर्थ श्रेष्ठ के हैं, वह वेदों में अनेक ठिकाने मिलता है। सो पण्डित जी नौका में धूर[5] उड़ाते हैं। सो कब हो सकता है? और भूषण को दूषण करके मानते हैं, तो माना करो, परन्तु विद्वानों और पूर्ण पण्डितों की ऐसी उल्टी रीति निज धर्मशास्त्र के विरुद्ध कभी नहीं होगी।

आगे वे लिखते हैं कि 'स्वामी जी धर्मप्रचारी ग्रन्थों को ही नहीं मानते हैं कि जिनमें कर्मकाण्ड का विधान है।' तो यह बड़े तमाशे की बात है कि न तो पण्डितजी ने कभी मुझसे मिलकर चिरकाल विचार किया, और न उन्होंने मेरे बनाये हुए ग्रन्थ देखे[6], किन्तु प्रथम ही मेरे मानने न मानने के विषय में अपना सिद्धान्त कर[7] बैठे। तो यह वही बात हुई कि सोवें झोंपड़े में और स्वप्न देखें राजमहलों का।

---

१. तुलनीय 'हलदी की गाँठ पाके ऊन्दरो (चूहा) पंसारी बण बैठ्यो' मारवाड़ी कहावत। यु० मी०

२. अर्थात् ढाँपने। यु० मी०

३. 'उग्रह' अपपाठ है।

४. यहाँ संस्कृत ग्रन्थों से अभिप्राय है।

५. अर्थात् धूलि।

६. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि में सर्वत्र श्रौतगृह्य आदि कर्मकाण्ड के ग्रन्थों को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, भूमिकाग्रन्थ के प्रतिज्ञाविषय में वेद के कर्मकाण्डानुसारी याज्ञिक अर्थ को भी स्वीकार किया है।

७. अर्थात् बना बैठे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेके पूर्व मीमांसा पर्य्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।'[1]

तथा कर्मकाण्ड के विषय में यह उत्तर है कि मेरा मत वेद पर है। इसलिये जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल है, उस सबको मानता हूँ उससे विरुद्ध को नहीं। क्योंकि वे ग्रन्थ मनुष्यों ने अपने स्वार्थसाधन के निमित्त रच लिये हैं। वे वेद युक्ति वा प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। जो-जो संस्कार आदि मैं मानता हूँ ये सब मेरी बनाई हुई वेदभूमिका अङ्क ३ (तीन)[2] में तथा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में देखना चाहिएँ।

और वे लिखते हैं कि वेदों को भी एक तरफ धर दें केवल अपनी युक्ति वा बुद्धि ही के आधारी रहें, तो उत्तर यह है कि में वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता, और उन्हीं पर मेरा मत है। तो यह सब भेद मेरे वेदभाष्य में खुलता जायेगा। और विद्वानों का यह काम नहीं कि किसी हेतु से सत्य को त्यागके असत्य का ग्रहण करें।

पं० महेश०—हिन्दुओं का विश्वास है कि देववाणी का प्रकाश परमेश्वर की ओर से वेद पुस्तकों के रूप से हुआ है, वा ऋषियों के द्वारा प्रेरणा की गई है. परन्तु मेरी समझ से तो दोनों प्रकार ठीक नहीं रह सकता।

स्वामी जी—इस बात का उत्तर वेदभाष्य की भूमिका अङ्क १ प्रथम 'वेदोत्पत्तिप्रकरण'[3] में देख लेना चाहिये। परन्तु इतना यहाँ भी मैं कहता हूँ कि आर्य लोग सनातन से युक्तिप्रमाण सहित वेदों को परमेश्वरकृत मानते बराबर चले आये हैं। इसका ठीक-ठीक विचार आर्य्य लोग ही कर सकते हैं। हिन्दू विचारों का क्या ही सामर्थ्य है।

पं महेश०—वेद इस विषय में स्वत: प्रमाण हैं कि उनमें बहुधा होम बलिदान आदि का विधान है। तथा इसका प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है कि जिनको स्वामी जी भी मानते हैं। इसलिये वे बेदमत को स्वीकार करके होमादिक से अलग नहीं बच सकते हैं, सिवाय ऐसे मनुष्य के कि जो स्वामी जी की तरह अपनी नवीन रीति से मन्त्रभाष्य की रचना करे। देखना चाहिये कि यह स्वामीजी का परिश्रम कैसा वृथा समझा जा सकता है कि जब मैं उनके माध्यम की परीक्षा करूँगा।

स्वामीजी—वेदों में जो यज्ञादिक करने की आज्ञा है, उस सबको प्रमाण और युक्ति सिद्ध होने के कारण मैं मानता हूं, और सबको अवश्य मानना चाहिये, जैसे कि वेदभूमिका अङ्क ३ के 'यज्ञप्रकरण'[4] में लिख दिया है। उससे विरुद्ध जो बलिदान आदि आजकल के लोगों ने समझ रक्खा है, यह सब वेदविरुद्ध है। और मेरा भाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता, क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनता है। परन्तु पण्डित जी का जो कथन है, सो केवल अप्रमाण है, और पण्डित जी ने मन के ही गुलगुले खाये हैं। आगे मेरे ग्रन्थ की परीक्षा तो तमाम देशभर को हो ही जावेगी, परन्तु पण्डितजी की विद्या तो अभी खुल गई।

---

१. जिस व्यक्ति ने परीक्षा करके तीन हजार ग्रन्थों को प्रामाणिक रूप में चुना उसने कितने सहस्र ग्रन्थों का अध्ययन किया होगा, यह अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है।

२. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ ५३-७३। ३. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ १०-३०।

४. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ ५३-७३।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं० महेश०—स्वामी जी का मन्त्रभाष्य ही अद्भुत नहीं है, किन्तु उनके लिखने की रीति और व्याकरण भी पण्डितों के आगे हंसी के कराने वाले हैं। तथा कई अशुद्धियाँ जो उनके परीक्षकों ने निकाली हैं, वे इस बात को साफ़-साफ़ सिद्ध करती हैं कि स्वामीजी सत्य का प्रकाश तो नहीं करते किन्तु अपनी कीर्त्ति और नाम की प्रसिद्धि अवश्य चाहते हैं। जैसे कि वे 'उपचक्रे' शब्द को पाणिनि के 'गन्धनावक्षे०[1]' सूत्र से सिद्ध करते हैं, यह कभी नहीं हो सकता। यह बात मानी जा सकती है कि 'उपचक्रे' में आत्मनेपद लाया गया है साफ़ कहने के अर्थ में। परन्तु 'उपकृञ्' से यह अर्थ नहीं निकल सकता है, और न स्वामी जी का यह अभिप्राय है, क्योंकि वे उसका भाषा में अर्थ करते हैं कि 'किया है'।

स्वामीजी—इनका उत्तर मैं पण्डित गुरुप्रसाद आदि के 'तर्कखण्डन' के साथ दे चुका हूँ,[2] और पण्डितजी ने कुछ उनसे विशेष पकड़ नहीं की है।[3]

भाषार्थ में जो शब्द 'किया है' लाया गया, तो इसका कारण यह है कि भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है, शब्दार्थ ही नहीं। क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है, उनको बिना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये भला यह कोई बात है कि ऐसी तुच्छ बातों में दोष पैदा करना, जो कि विद्वानों के विचार से दूर हैं। और 'उप कृञ्' धातु का अर्थ है 'उपकार और किया'। ये दोनों अर्थ भी भूतकाल की क्रिया को बतलाते हैं कि ईश्वर ने जीवों के हित के लिये वेदों का उपदेश किया है और ठीक-ठीक घट सकता है। परन्तु इस बात का भेद सिवाय अन्तर्यामी परमेश्वर के जीव नहीं जान सकता कि मैं लोकहित चाहता हूँ वा केवल विजय, अर्थात् नाम की प्रसिद्धि।

पं महेश०—खैर ये तो साधारण बातें थीं, परन्तु अब मैं भारी-भारी दोषों पर आता हूँ। तन्त्र-भाष्य[4] के प्रथम संस्कृतखण्ड में 'अग्निमीडे पुरोहितम्'[5] इसके भाष्य में स्वामी जी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है, जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्त्तमान है।

---

१. अष्टा० १।३।३२॥ २. द्रष्टव्य पूर्वत्र पृष्ठ ९८९।

३. इससे आगे वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'परन्तु······की प्रसिद्धि।' पाठ छपा मिलता है। यह अस्थान में है। इस ग्रन्थ का जो सर्व प्रथम संस्करण शाहजहाँपुर से लीथो प्रेस में छपा था उसमें "हीं की है' परन्तु इस······प्रसिद्धि[2]। 'भाषार्थ में ······ घट सकता है'[1]।" इस प्रकार पाठ को आगे पीछे पढ़ने के लिए (जो लेखक प्रमाद से अस्थान में लिखा जा चुका था) २ तथा एक के संकेत दिए थे। परन्तु उत्तरवर्ती संस्करण के संशोधक के अज्ञान के कारण अर्थात् संख्या देने का कारण न समझने के कारण यह पाठ पूर्ववत् अस्थान में छप गया। तदनुसार ही अगले संस्करणों में भी छपता चला आ रहा है। ऐसी ही एक भयङ्कर अशुद्धि यजुर्वेदभाष्य अ० १ मं० ५ के अन्वय में हस्तलेख में पाठ को आगे पीछे करने के लिए लगाये गए २.२ १.१ संख्या संकेतों को न समझने के कारण हुई और आज तक यह पाठ वै० य० मुद्रित में अस्थान में छप रहा है। इसके लिए देखिए रा. ला. क. ट्रस्ट का संस्करण पृष्ठ ४९ पर टिप्पणी।

४. यह संकेत ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित वेदभाष्य के नमूने के अङ्क की ओर है। यह लाजरसप्रेस काशी से सं० १९३३ में छपा था।

५. ऋ० १।१।१॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामीजी अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त आदि को प्रमाण मानते हैं, परन्तु क्या ये भाष्य आदि अग्नि शब्द से परमेश्वर के अर्थ की पुष्टि कर सकते हैं, अर्थात् कभी नहीं। क्योंकि जो-जो शब्द उनमें ईश्वरार्थ में लिखे हैं, उनमें अग्नि शब्द का नाम भी नहीं है। फिर स्वामी जो इसी पक्ष में ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरते हैं कि—"अग्निर्वै सर्वा देवताः ।। ऐ० १ । पै० १ ।।" जिसका यहाँ कुछ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु दीक्षास्थिति यज्ञ में लग सकता है। मैं यह आगे का वाक्य डाक्टर एम०हाग साहब के टीकासहित लिखता हूँ।

स्वामीजी—अब पण्डित जी की ऐसी पकड़ से मालूम हो गया कि उनको संस्कृतग्रन्थ समझने का बहुत ही बोध है, और विद्वानों को चाहिये कि पण्डित जी की खातर से मान भी लें कि वेदविद्या के बड़े प्रवीण हैं। सत्य तो यह है कि उन्होंने प्राचीन ऋषि मुनियों के ग्रन्थ कभी नहीं देखे, और उनको ठीक ठीक अर्थ समझने का बिलकुल ज्ञान नहीं। क्योंकि जिन जिन ग्रन्थों अर्थात् वेद, शतपथ और निरुक्त आदियों के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में लिखे हैं उनको ठीक ठीक विचारने से आयने[1] के समान जान पड़ता है कि 'अग्नि' शब्द से 'आग' और 'ईश्वर' दोनों का ग्रहण हैं। जैसे देखो कि—

१—'**इन्द्रं मित्रं वरुण०**[2] ।।' २—'**तदेवाग्निस्तदादित्य०**[3] ।।' ३—'**अग्निर्होता कवि०** ।।[4]'
४—'**ब्रह्म ह्यग्निः**[5] ।।' ५—'**आत्मा वा अग्निः**[6] ।।'

देखिये विद्यानेत्र से इन पाँच प्रमाणों में 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

'**अयं वा अग्निः प्रजापतिश्च**[7] ।।' और इस प्रमाण में प्रजा शब्द से भौतिक अग्नि और प्रजापति शब्द से परमेश्वर लिया जाता है। इसी प्रकार '**संवत्सरोऽग्निः**[8] ।।' इत्यादि प्रमाणों में 'अग्नि' शब्द से ठीक ठीक परमेश्वर का ग्रहण होता है।

तथा **अग्निर्वै सर्वा देवताः**[9] ।।' इस वचन में भी परमेश्वर और सांसारिक अग्नि का ग्रहण होता है। क्यों जहाँ उपास्य उपासक प्रकरण में सर्व देवता शब्द से अग्निसंज्ञक परमेश्वर का ग्रहण होता है, इसमें मनु का प्रमाण दिया है।[10] क्योंकि—'**यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः**[11] ।।' जो वे इस पङ्क्ति का अभिप्राय समझते तो उनको अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कभी भ्रम न होता।

तथा निरुक्त से भी परमेश्वर और भौतिक इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। देखो एक तो '**अग्रणीः**'[12] इस शब्द से उत्तम परमेश्वर ही माना जाता है,[13] इसमें कुछ सन्देह नहीं। और दूसरा

१. अर्थात् दर्पण। २. ऋ० १ । १६४ । ४६ ।। ३. यजु० ३२ । १ ।।
४. ऋ० १ । १ । ५ ।। ५. शत० १ । ५ । १ । ११ ।। ६. शत० ७ । ३ । १ । २ ।।
७. शत० ६ । १ । २ । ४२ ।। ८. शत० ६ । ३ । १ । २५ ।। ६. ऐत० १ । १ ।। शत० १ । ६ । २ । ८

१०. यह संकेत ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत मनु के '**आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्**' (१२ । ११६) वचन की ओर है।

११. यह पंक्ति ग्रन्थकार की है जो वेदभाष्य के नमूने के अङ्क में वर्णित '**अग्नर्वै सर्वा देवताः**' के आगे पढ़ी हुई है।

१२. यह पद तथा अगले पद ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत '**अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति**' निरुक्त ७।१४ के पाठ के हैं।

१३. '**अग्रणीः**' निर्वचन से अग्निशब्द से परमेश्वर का ग्रहण होता है, इसमें आचार्य शंकर का भी प्रमाण है। वे लिखते हैं—'**अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति**।' द्र० वेदान्तभाष्य १ । २ । २८ ।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेतु यह है कि 'इतात्' इस शब्द से अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही का ग्रहण हो सकता है, क्योंकि 'इण् गतौ' इस धातु से यहां ज्ञानार्थ ही[1] अभिप्रेत है। 'दग्धात्' इस पद से केवल भौतिक अग्नि लिया जायगा, परमेश्वर नहीं। तथा 'अक्तात्' और 'नीतात्' इन दोनों से परमेश्वर और भौतिक दोनों लिये जाते हैं, क्योंकि इण्' धातु से ऋषि का प्राप्ति और गमन अर्थ ही लेने का अभिप्राय होता, तो 'अक्तात् दग्धात्, नीतात्' ऐसे शब्दों का ग्रहण नहीं करते।

तथा जो 'अग्नि' शब्द से धात्वर्थ[2] ग्रहण में यास्कमुनि का अभिप्राय नहीं होता, तो पृथक् पृथक् धातुओं को नहीं गिनते। और 'अग्निर्वै सर्वा देवता इति ·· निर्वचनाय'[3] इस वचन का अर्थ निरुक्तकार करते हैं कि जिसको बुद्धिमान् लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं, जो कि एक अद्वितीय सबसे बड़ा, सबका आत्मा है, उसी को 'अग्नि' कहते हैं।[4]

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥[5] इस वचन में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण होता है, क्योंकि इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तर ज्योति अर्थात् अनन्त ज्ञान प्रकाश-युक्त परमेश्वर जो कि प्रलय के उत्तर सबसे सूक्ष्म तथा आधार है, उसका,[6] और जो विद्युत् रूप गुण वाला सबसे सूक्ष्म स्थूल पदार्थों में प्रकाशित और प्रकाश करने वाला भौतिक अग्नि है, इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है।

इसी प्रकार 'अग्निः पवित्रमुच्यते'[7] इत्यादि में भी अग्नि शब्द से दोनों ही को लेना होता है। तथा 'प्रशासितारं०'[8] जो सबको शिक्षा करने वाला, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधियोग से जानने योग्य परमपुरुष परमात्मा है, विद्वान् उसी को परमेश्वर जाने। फिर 'एतमेके वदन्त्यग्निं०'[9] विद्वान् लोग अग्नि आदि नामों करके एक परमेश्वर को ही कहते हैं।

ऊपर के सब प्रमाण अग्नि अर्थात् परमेश्वर में प्राचीन सत्यग्रन्थों की साक्षी से ठीक ठीक घटते हैं, परन्तु जो पण्डित जी के घर के निराले ग्रन्थ है, उनमें न होगा और कदाचित् वे कहें कि निघण्टु में जो ईश्वर के नाम हैं उनमें अग्नि शब्द नहीं आता, इससे मालूम हुआ कि अग्नि परमेश्वर

---

१. 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इस वैयाकरण-नियम से।

२. पाश्चात्य मतानुयायी निरुक्त के निर्वचनों का प्रयोजन धातुनिर्देश मानते हैं और उसी के अनुसार यास्क के लगभग १२०० निर्वचनों में से लगभग ६०० निर्वचनों को अशुद्ध बताते हैं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने 'एटिमोलोजी आफ यास्क' में और डा० वेल्वेल्कर ने निरुक्त की भूमिका व टिप्पणी में यास्क के निर्वचनों को बेहूदा और यास्क को प्रमादी आदि कहा है। वस्तुतः निरुक्त का प्रयोजन शब्द निर्वचन नहीं है वह तो व्याकरण का क्षेत्र है। यास्क का क्षेत्र अर्थ निर्वचन है। दुर्गादि समस्त प्राचीन नैरुक्त 'निरुक्तम् अर्थनिर्वचनशास्त्रम्' ऐसा कहते हैं। इसी प्राचीन मत की दृष्टि से ऋषि दयानन्द ने भी 'धात्वर्थ ग्रहण' शब्दों का प्रयोग किया है। इसी ग्रन्थ में आगे ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट लिखा है कि 'धात्वर्थ' के निर्देश से प्रतीति कराई है, क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है, निरुक्त का नहीं। ३. निरुक्त ७।१७॥

४. निरुक्तकार ने उक्त वचन के आगे 'इन्द्रं मित्रं' (ऋ० १।१६४।४६) को उद्धृत करके यह अभिप्राय दर्शाया है। ५. निरुक्त ७।१८॥

६. यद्यपि आधिदैविकपक्ष में 'उत्तरे' पद से सूर्य और विद्युत् (=इन्द्र) का संकेत है तथापि निरुक्त अ० १३-१४ की अतिस्तुति अर्थात् अध्यात्मपक्ष में परमेश्वर का ही ग्रहण होता है।

७. निरुक्त ५।६॥ ८. मनु० १२।१२२॥ ९. मनु० १२।१२३॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का वाची नहीं, तो समझना चाहिये कि जैसे—निघण्टु के अ० २। खं० २२ में जो 'राष्ट्री, अर्य्यः, नियुत्वाम्, इनः' ये चार ईश्वर के अप्रसिद्ध नाम हैं, और यह नहीं हो सकता कि जो नाम ईश्वर के निघण्टु में हों, वे भी माने जायँ, औरों को विद्वान् लोग छोड़ देवें। परमेश्वर के तो असंख्यात नाम हैं, और आप क्या चार ही नाम ईश्वर के समझते ? और क्या निघण्टु में न लिखने से ब्रह्म, परमात्मा आदि ईश्वर के नाम नहीं हैं ? यह पण्डितजी की बिल्कुल भूल है। जैसे ब्रह्म आदि ईश्वर के नाम निघण्टु के बिना लिखे भी लिये जाते हैं, वैसे अग्नि आदि भी परमेश्वर के नाम हैं। इस पूर्वपक्ष में जो कुछ अवश्य[1] था संक्षेप से लिख दिया। यह बात वेदभाष्य के अङ्क[2] में विस्तारपूर्वक सिद्ध कर दी है, वहाँ देख लेना।

पण्डितजी आर० ग्रिफ़िथ साहब और सी० एच० टानी साहबों के पीछे-पीछे चलते हैं। सो इसका कारण यह है कि पण्डितजी ने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है और उक्त साहबों ने प्रोफ़ेसर विल्सन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उलथे अंग्रेजी में देख लिये होंगे। उनसे क्या हो सकता है! जब तक सत्य ग्रन्थों और मूलमन्त्रों को न देखें समझें, तब तक वेद मन्त्रों का अभिप्राय ठीक-ठीक जान लेना लड़कों का खिलौना नहीं है। इसी के समान पण्डितजी का और कथन भी है, इसलिये अब दूसरी बात का उत्तर लिखते हैं—

'अग्निर्वै सर्वा देवताः देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः'[3] इत्यादि पर जो पण्डित जी ने लिखा है, सो भी अयुक्त है, क्योंकि वेदमन्त्रादि प्रमाणों को छोड़कर **'अग्निर्वै सर्वा०'** इस पद पर लिखने से मालूम होता है कि पण्डितजी ने भाष्य की परीक्षा तो न की किन्तु छल अवश्य किया है। सो भी पण्डितजी ने इस वाक्य को तो लिखा परन्तु उसके अभिप्राय को यथार्थ नहीं जाना क्योंकि इसका अभिप्राय यह है कि—सब कर्मकाण्ड के अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्य्यन्त होम क्रिया से अग्निमन्त्र और विष्णुमन्त्र का पश्चात् उच्चारण करते हैं। जहां कहीं व्यावहारिक ३३ देव गिनाये हैं, वहाँ भी अग्नि प्रथम और विष्णु अन्त में गिनाया है। तथा **"अग्निर्देवता०"**[4] इस मन्त्र में भी अग्नि का प्रथम वरुण[5] का अन्त में ग्रहण किया है। सो **ऐतरेय ब्राह्मण के** पं० १, अ० २, कं० १० में लिखा है कि—**'त्रयस्त्रिंशद् वै देवा अष्टौ वसव' इत्यादि।**

तथा शतपथ ब्राह्मणमें भी इसी बात की व्याख्या [लिखी है] वेदभाष्य की भूमिका के अङ्क ३ के पृष्ठ ५९ की पंक्ति ३१[6] में देवता शब्द से किस-किसको किस-किस गुण से ग्रहण करना लिखा है, वहां देख लेना तथा उसी अङ्क ३ के पृष्ठ ६६ पंक्ति ७[7] में अग्नि से आरम्भ करके प्रजापति यज्ञ अर्थात् विष्णु में गिनती पूर्ण कर दी है। इसलिये **'अग्निर्वै०'** इस वचन में अग्नि की प्रथम और विष्णु को अन्त में गिना है। सो पूर्व लिखित ग्रन्थ में देखने से सब शंका निवारण हो जायेगी। तथा उक्त साहब लोगों और पण्डितजी की यह भी शंका निवृत्त हो जावेगी कि वेदों में एक के सिवाय दूसरा

---

१. अर्थात् 'पूर्वपक्ष के उत्तर में आवश्यक था'।

२. पृष्ठ १-२। इस संग्रह में पृष्ठ ३४ ३. ऐत० १।१

४. यजुः० १४।२०॥

५. प्रथम संस्करण में 'वरुण' पाठ ही है। मन्त्र में भी 'वरुण' पद ही अन्त में है। उत्तरवर्ती संस्करणों में 'वरुण' के स्थान पर 'विष्णु' पाठ मिलता है, वह अपपाठ है।

६. रा० ला० क० ट्र० संस्क० पृष्ठ ६७। ७. रा० ला० क० ट्र० संस्क० पृष्ठ ७३॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर कोई भी नहीं है, किन्तु जिस-जिस हेतु से जिस-जिस पदार्थ का नाम देव धरा है, उस-उस को वहाँ अर्थात् अङ्क३ में देख लेना।'

और डाक्टर एम० [हाग] साहब की अशुद्ध टीका[२] का जो हवाला देते हैं, तो यह पण्डितजी को एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़कर इधर-उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं। डाक्टर एम० साहब वा सी० एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफ़िथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं कि जो कुछ वे लिख चुके, वह बिना परीक्षा वा विचार के मान लेने योग्य ठहरे। क्या डाक्टर एम० हाग साहब हमारे आर्य्य ऋषि मुनियों से बढ़कर हैं कि जिनको हम सर्वोपरि मान निश्चय कर लें, और प्राचीन सत्यग्रन्थों को छोड़ देवें, जैसाकि पण्डितजी ने किया है। जो उन्होंने ऐसा किया तो किया करो, मेरी दृष्टि में तो वे जो कुछ हैं सो ही हैं।

तथा इस कण्डिका[३] में भी 'यज्ञस्यान्ते' वचन में आदि में अग्निमन्त्र और अन्त में विष्णुमन्त्र का प्रयोग किया जाता है, फिर इन दोनों के बीच में व्यवहार के सब मन्त्रदेवते गिने हैं, अग्नि को प्रथम [इस कारण माना है कि] जिन-जिन द्रव्यों का वायु और वृष्टि जल को शुद्धि के लिए अग्नि में होम किया जाता है, वे सब परमाणुरूप होकर विष्णु अर्थात् सूर्य के आकर्षण से वायु द्वारा आकाश में चढ़ जाते हैं। फिर मेघमण्डल में जलवृष्टि के साथ उतरकर बाकी जो बीच में ३० देव गिना दिये हैं, उन सभी को लाभ पहुँचाते हैं। इस अभिप्राय को पण्डितजी नहीं समझते हैं।

पं० महेश—अब ऊपर के वचन से साफ़ जाना जा सकता है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा नहीं, किन्तु निस्सन्देह देवता विधान पाया जाता है। और उन देवताओं को बलिदान आदि पदार्थों का भेंट करना लिखा हुआ है। इस वाक्य में यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर है, किन्तु उसमें ईश्वर का ज़िकर भी नहीं है। इस बात की साबूती में स्वामी जी एक प्रमाण[४] देते हैं—'यत्रोपास्यत्वेन०' अर्थात् जहाँ सब देवों का पूजन कहा है, वहाँ परमेश्वर को समझना चाहिये। फिर इसकी पुष्टि में स्वामी जी मनु का प्रमाण देते हैं —'आत्मैव देवताः सर्वा.०' अर्थात् आत्मा सब देव है, और आत्मा ही में संसार स्थित है। यह नहीं समझ सकते कि यह वचन स्वामी जी का मन प्रसन्न[५] प्रमाण की पुष्टता कैसे कर सकती है।

स्वामीजी—ऊपर के वचनों से ईश्वर का नाम अग्नि सिद्ध कर दिया गया है। परन्तु पक्षपात छोड़के विद्या को आँख से देखने वाले को स्पष्ट मालूम होता है कि निःसन्देह अग्नि ईश्वर का भी नाम है। वेदों में अनेक ईश्वर का विधान कहीं नहीं है। और जो देवता शब्द से सृष्टि के भी पदार्थों का विधान है, उसका उत्तर 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अंक ३ के 'देवताविधानप्रकरण'[६] को देखने से

---

१. अङ्क में पृष्ठ ५९-७१ तक। रा० ला० क० ट्र० संस्क० में पृष्ठ ६७-७९ तक।

२. यह ऐतरेय ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद है।

३. ऐत० १।१॥

४. अगला वचन प्रमाणरूप नहीं है अपितु स्वामी दयानन्द का अपना वचन है। द्र० पृष्ठ ३६६ की ११वीं टिप्पणी।

५. अर्थात् पसन्द। ऋषि दयानन्द 'पसन्द' के अर्थ में सर्वत्र 'प्रसन्न' शब्द का ही व्यवहार करते हैं प्र—सद्—क्त—प्रसन्न।

६. रा० ला० क० ट्र० संस्कर० पृष्ठ ६७-८० तक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छी प्रकार जान लेना, अर्थात् जिस-जिस गुण और अभिप्राय से सृष्टि के पदार्थों का नाम देवता रक्खा गया है, उसको देख लेना चाहिये, क्योंकि वहाँ यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दी है। परन्तु चारों वेदों में उनको[1] दूसरा ईश्वर कहीं नहीं माना है और न ईश्वर के तुल्य पूजना कहा है, किन्तु उनको दिव्यगुणों से व्यवहारमात्र में 'देवता' संज्ञा मानी है। चारों वेदों में एक से दूसरा ईश्वर कहीं प्रतिपादन नहीं किया है। तथा इन्द्र, अग्नि और प्रजापति आदि शब्दों से ईश्वर और भौतिक दोनों का प्रतिपादन किया है।

और जो पण्डित जी लिखते हैं—कि 'अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु उस स्थान में जिकर भी नहीं। इसका उत्तर यह है कि इसमें वेद-वेदान्त, ब्राह्मण तथा मेरा दोष नहीं, किन्तु इसमें पण्डित जी के शास्त्रों में न्यून अभ्यास का दोष है, क्योंकि जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों का यथार्थ अर्थ न समझा होगा, उसके उलटे ज्ञान हो जाने का सम्भव है। वेदों में एक ईश्वर के प्रतिपादन में भूमिका अंक ४ में ८६ के पृष्ठ से ६२ तक' 'ब्रह्मविद्याप्रकरण' की समाप्ति पर्य्यन्त देखना चाहिये।

'आत्मैव देवताः सर्वाः०'[3] इसका अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक-ठीक नहीं समझा है, क्योंकि इसका मतलब यह है कि आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही अग्नि आदि सब व्यवहार के देवताओं का रचन, पालन और विनाश करने वाला है तथा 'अग्निर्देवताः'[4] इत्यादि प्रकरण में व्यवहार के देवता और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का भी ग्रहण है, क्योंकि 'सर्वमात्मन्यवस्थितम्'[5] इस वचन से सिद्ध होता है कि सब जगत् का आत्मा जो परमेश्वर है सो उसी में स्थिर है, और वही सब में व्यापक है। इस अभिप्राय से यह बात सिद्ध होती है कि अग्नि परमेश्वर का भी नाम है। इससे मेरा कहना यथार्थ पुष्टि रखता है।

पं० महेश—ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से अग्नि और विष्णु दो ही देव मुख्य करके पूजनीय माने हैं, क्योंकि वे ही यज्ञ में आदि [और] अन्त के देव हैं, जिनके द्वारा सब बीच वालों को भाग पहुँचता है। इसलिए इन्हीं दोनों की सब देवों के तुल्य स्तुति की गई है। इसमें स्वामीजी ऐतरेय ब्राह्मण का जो प्रमाण देते हैं, सो उनके कथन की पुष्टि तो नहीं करता, किन्तु विरुद्ध पड़ता है।

स्वामीजी—अब जो पण्डितजी '**अग्निर्वै सर्वा देवताः**'[6] इसमें भ्रान्त हुए हैं, सो ठीक नहीं। और जो '**अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्ता देवताः॥**'[7] इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरा है, इसका अर्थ ठीक ठीक पण्डित जी नहीं समझे हैं इसका अभिप्राय यह है कि **अग्निर्वै सर्वा देवताः, विष्णुः सर्वा देवताः**' इसका भी मनु के प्रमाण समान अर्थ होने से मेरे अभिप्राय की पुष्टि करता है और जहाँ भौतिक वा मन्त्र ही देवता लिये गये हैं, वहाँ पुरोडाश आदि करने की क्रिया द्रव्ययज्ञ में संघटित यथावत् की गई हैं। क्योंकि जब प्रथम अग्नि में होम किया जाता है और उससे सब द्रव्यों के रस और जल आदि के परमाणु पृथक् पृथक् हो जाते हैं, तब वे हलके होके सूर्य्य के आकर्षण से वायु के साथ मेघमण्डल में जाके रहते हैं। फिर वे ही मेघाकार संयुक्त होकर वृष्टि द्वारा पृथ्वी आदि

---

१. अर्थात् अग्नि आदि भौतिक पदार्थों को।
२. रा० ला० क० ट्र० संस्क० पृष्ठ १०२-१०५ तक। ३. मनु० १२।११९॥
४. यजुः० १४।२०॥ ५. मनु० १२।११९॥
६. ऐत० १।१। शत० १।६।२।८॥ ७. ऐत० १।१॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यस्थ देवसंज्ञक व्यवहार के पदार्थों को पुष्ट करते हैं। इसका नाम 'भाग' और 'बलिदान'[1] है तथा इसी कारण अग्नि को प्रथम और सूर्य को अन्त में माना है। ऐसे ही अग्नि को सूक्ष्म और सूर्यलोक को अग्नि का बड़ा पुञ्ज समझा है। इत्यादि अभिप्राय से यह पंक्ति ऐतरेयब्राह्मण में लिखी है, जिसको पण्डितजी ने न जानकर मेरे लेख पर विरुद्ध सम्मति दी है।

पं० महेश—निरुक्त भी कुछेक ही साक्षी देता है। स्वामीजी **'अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति'**[2] इत्यादि निरुक्त का प्रमाण धरते हैं, कि जिसमें अग्निशब्द की साधना की गई है। कई धात्वर्थ केवल भौतिक अग्नि के वाची हैं और स्वामीजी भी इस बात को मानते हैं, और कहते हैं कि 'सिवाय भौतिक के अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है'। और यह अर्थ 'अग्रणी' शब्द से लेते हैं जैसाकि निरुक्तकार समझता है अग्नि शब्द 'अग्र-नी से मिलकर बना है। निरुक्तकार इस शब्द के कुछ विशेष अर्थ नहीं करता है। शतपथ ब्राह्मण जिसको स्वामीजी मानते हैं विशेष अर्थ बताता है, परन्तु ईश्वर के नहीं। यद्यपि वे कुछ कहते हैं, लेकिन सिवाय भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

स्वामीजी—अब जो पण्डितजी लिखते हैं कि निरुक्तकार भी कुछेक ही सम्मति देता है, सो नहीं, क्योंकि निरुक्त में 'अग्नि' शब्द से 'परमेश्वर' और भौतिक दोनों अर्थों का यथावत् ग्रहण किया है।[3] तथा उसमें अग्नि शब्द का साधुत्व तो कुछ भी नहीं लिखा है, किन्तु धात्वर्थ के निर्देश से अर्थप्रतीति कराई है,[4] क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है, निरुक्त का नहीं। इसलिए उसमें रुढ़ि यौगिक और योगरूढ़ि शब्दों [के अर्थों] का निरूपण मुख्य करके किया गया है। जैसेकि **'इतात्, अक्तात्, दग्धात् या नीतात्'** इनमें **'इण्'** धातु गत्यर्थक, **'अञ्जू'** व्यक्त्याद्यर्थ **'दह'** भस्मीकरणार्थ, **'णीञ्'** प्रापणार्थ दिखाने से विद्वानों को ऐसा भ्रम कभी नहीं हो सकता है कि अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण नहीं है, क्योंकि **'इण्'** और **'अञ्जू'** इन धातुओं के गत्यर्थ होने से ज्ञान, गमन, प्राप्ति ये तीनों अर्थ लिये जाते हैं। इनमें ज्ञान और प्राप्त्यर्थ से परमेश्वर तथा गमन और प्राप्त्यर्थ से भौतिक पदार्थ ये दोनों ही लिये जाते हैं।

और **'अग्रणी'** शब्द तथा **'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति'**[5]।' इसके अभिप्राय से अग्निशब्द परमेश्वर[6] और **'न क्नोपयति स्नेहयति'** इससे भौतिक पदार्थ में लिया जाता है। यह निरुक्त का अभिप्रायार्थ है, [यह] मन्त्रभाष्य के दूसरे पृष्ठ[7] में ठीक-ठीक लिख दिया गया है। जो उसको पण्डितजी यथार्थ विचारते तो इस वेदभाष्य पर ऐसी विरुद्ध सम्मति कभी न देते, क्योंकि निरुक्तकार ने पूर्वोक्त

---

१. यहां 'भाग' शब्द के साथ केवल 'बलि' शब्द का प्रयोग होना चाहिए अर्थात् भाग और बलि पर्याय हैं।

२. निरुक्त ७।१४।।

३. अग्निशब्द का साक्षात् रूप से परमात्मा अर्थ निरुक्तकार ने अध्याय १३ के आरम्भ में अतिस्तुति प्रकरण में किया है। वहाँ भी ये ही निर्वचन अभिप्रेत हैं। 'अग्रणी' पद से परमेश्वर अर्थ लिया जाता है, इस विषय में ग्रन्थकार ने इसी सन्दर्भ में आगे विशेष रूप से कहा है वहाँ देखिए। उसपर हमारी टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

४. द्र० पृष्ठ ९९७ टिप्पणी २।

५. निरुक्त ७।१४।।

६. 'अग्रणी' आदि निर्वचनों से अग्नि का अर्थ ब्रह्म स्वीकार किया जाता है इसमें शङ्कराचार्य की सम्मति भी है। यह हम पूर्व पृष्ठ ४ टि० ४ में दर्शा चुके हैं।

७. इस संग्रह में पृष्ठ ४ पर।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार से दोनों अर्थ को विशेष अच्छी तरह दिखला रक्खा है, परन्तु जो कोई किसी के लेख का अर्थ यथावत् नहीं समझते, उनको उसके विशेष वा सामान्य अर्थ का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

पं० महेश०—**'प्रजापतिर्ह या इदमग्र'**[1] हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूँढें, किन्तु मैं यह बताता हूँ कि पूर्वोक्त वाक्य से निश्चय होता है कि अग्नि सिवाय आग के दूसरा अर्थ नहीं देती है।

स्वामीजी—पण्डितजी का कथन है हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूँढें इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि मैं पूर्वोक्त प्रकार अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों को लेता हूँ, सो वेदादि शास्त्रों के प्रमाण से विनम्रता के साथ सिद्ध है, परन्तु पण्डितजी का अभिप्राय जो अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में विरुद्ध है, उसका हेतु यह मालूम पड़ता है कि पण्डितजी बाल्यावस्था से लेकर आज पर्यन्त अग्नि शब्द से भौतिक अर्थात् चूल्हे आदि में जलने वाली ही अग्नि को सुनते और देखते आये हैं, इसलिए वहीं तक उन की दौड़ है।

परन्तु मैं उनसे मित्रभाव से कहता हूँ कि वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग और ब्राह्मण आदि सनातन आर्षग्रन्थों के अर्थ जानने में अधिक पुरुषार्थ करें कि जिससे ऐसी-ऐसी तुच्छ शङ्का हृदय में उत्पन्न न हों, क्योंकि जो-जो शतपथ के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में धरे हैं, वे क्या शतपथ के नहीं हैं ? जो शङ्का हो तो उक्त जगह पुस्तक में देख लेवें।

और जिस वाक्य की पंक्ति का प्रमाण पण्डितजी ने धरा है उसमें का मुख्य पाठ उन्होंने पहिले ही उड़ा दिया। इस चालाकी को देखना चाहिये कि—**'तद्यदेनं मुखादजनयत् तस्मादन्नादोऽग्निः, स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति॥'**[2] इस में 'अन्नाद' शब्द अग्नि का वाची है। और—'**अहमन्नमहमन्नम् अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः॥**' यह तैत्तिरोय उपनिषद्[3] का वचन परमेश्वर के विषय में है, अर्थात् वह उपदेश करता है कि मैं ही अन्नाद हूँ। और 'अन्नाद' अग्नि को कहते हैं, इससे यहाँ भी परमेश्वर का नाम अग्नि आता है।

और दूसरी चाल पण्डितजी यह भी खेले हैं कि जिस आधी पंक्ति से शतपथ में अग्नि शब्द से परमेश्वर लिया है, उस पाठ को अपने पुस्तक में नहीं लिखा। देखिये कि—

प्रजापतिः परमेश्वरः यत् यस्मात् मुख्यात् प्रकाशमयान्मुख्यात् 'कारणात् एनं भौतिकमग्निमजनयत् तस्मात् स परमेश्वरोऽग्निरर्थाद्ब्रह्मसंज्ञो विज्ञेयः। यो मनुष्यो ह इति निश्चयेनैवममुना प्रकारेणैतमन्नादं परमेश्वरमग्निं वेद जानाति ह इति प्रसिद्धे स एवान्नादो भवत्यर्थाद् ब्रह्मविद्भवतीति॥"

इस प्रकार से यह बात निश्चित होती है कि पण्डितजी उन ग्रन्थों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं जानते, और जितना जानते हैं उसमें भी कपट और आग्रह से सत्य नहीं लिखते। पण्डितजी को विदित हो कि यहाँ पाठशालाओं के लडकों से प्रश्नोत्तर लेख वा उनकी परीक्षा नहीं है। इससे जो कुछ वे लिखें सो विचारपूर्वक होना चाहिये कि उनको किसी खुशामद वा आग्रह से लिखना उचित नहीं। जो-जो शतपथ के प्रमाण मैंने वहाँ-वहाँ लिखे हैं, उसका अर्थ भी संक्षेप से लिख दिया है, उनको ध्यान देकर देख लेवें।

---

१. शत० २।२।४।१॥ २. शत० २।२।४।१॥ ३. भृगुवल्ली १०।६॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं० महेश० - 'अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ॥'[1] पृथिवी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी नहीं लिया जा सकता है। इस बात को अच्छी तरह प्रकाश करने के लिए कि निरुक्तकार अग्नि शब्द के क्या अर्थ लेता है। (इसमें उक्त वचन प्रमाण है)।

स्वामीजी—फिर जो पण्डितजी ने 'अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः' इसमें अपना अभिप्राय जताया है कि क्या पृथ्वी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी लिया जा सकता है ? इसमें पण्डितजी से मैं पूछता हूँ कि क्या आप अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकस्थ अग्नि ईश्वर-अर्थ में ग्रहण नहीं करते तथा क्या परमेश्वर के व्यापक होने से [उसका] पृथिवीस्थान नहीं हो सकता ?

और उनको विचारना चाहिये कि **'पृथ्वी स्थानं यस्य सः परमेश्वरोऽग्निर्भौतिकश्चेत्यर्थद्वयं गृह्यताम्।'** इस वचन के अर्थ पर उनका अभिप्राय ठीक नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इस बात को कौन सिद्ध कर सकता है कि पृथिवी से भिन्न अन्य पदार्थ में भौतिक अग्नि नहीं है, जब कि यहाँ पृथिवी अर्थात् सब सृष्टिभर ली जाती है। तथा कार्य और कारणरूप को भी पृथिवी अर्थात् सब सृष्टिभर ली जाती है। तथा कार्य और कारणरूप को भी पृथिवी शब्द से लेते हैं। फिर इनका अभिप्राय इस बात में शुद्ध कभी नहीं हो सकता, क्योंकि रूप-गुण वाला पदार्थ अग्नि शब्द से गृहीत होता है, और न केवल चूल्हे वा वेदि में धरा हुआ।

तथा पृथिवी-स्थान शब्द के होने से अग्नि शब्द का ग्रहण परमेश्वर अर्थ में भी यथावत् होता है। जैसे—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोऽयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्य्याम्यमृतः।"

यह वचन शत कां० १४ अ० ६ ब्रा० ५ कण्डिका ७ का है, कि जिसमें पृथिवीस्थान शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है, क्योंकि जहाँ कहीं अन्तर्यामी शब्द से परमेश्वर की विवक्षा होती है, वहाँ एक जीव के हृदय की अपेक्षा से भी परमेश्वर का ग्रहण होता है। जैसे—"स त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः॥"[2] अर्थात् गौतम ऋषि से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गौतमजी ! जो पृथिवी में ठहर रहा है और उससे पृथक् भी है, तथा जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसके शरीर के समान पृथिवी है, जो पृथिवी में व्यापक होकर उसको नियम में रखता है, वही परमेश्वर अमृत अर्थात् नित्यस्वरूप तेरा, जीवात्मा का अन्तर्य्यामी आत्मा है।

इतने ही से बुद्धिमान् समझ लेंगे कि पण्डितजी निरुक्त का अभिप्राय कैसा जानते हैं ?

पं० महेश०—तथा देवता विषय में उसका कैसा विचार था, आगे के प्रमाण अंग्रेजी टीका सहित लिखते हैं—**"यत्काम ऋषिर्यस्यां०"**[3] जिस मन्त्र से जिस देवता की स्तुति की जाती है वही उस मन्त्र का देवता है। **"महाभाग्याद्देवतायाः०"**[4] अर्थात् देवता एक ही है परन्तु उसमें बहुत-सी शक्ति होने के कारण अनेक रूपों में पूजा जाता है, उसके सिवाय और-और देव उसके अंग हैं। प्राचीन अनुक्रमणिकाकार[5] भिन्न-भिन्न मन्त्रों के पृथक्-पृथक् देवता विभाग करता है। और इसका प्रमाण स्वामीजी

१. निरुक्त ७।१४।
२. शत० १४।६।७।७॥
३. निरु० ७।१॥
४. निरु० ७।४॥
५. अर्थात् ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नें माना है।[1] देखो पृष्ठ १ पं० २ तथा पृ० २३ पं० १४[2] इसी विषय की।

परन्तु बात काटके उसके असली अर्थ के विरुद्ध कहते हैं कि सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर है, अग्नि, वायु आदि नहीं। यह हिन्दुओं का बड़ा सत्यानुसार धर्म है कि अनेक देवते एक ईश्वर ही के प्रकाशरूप हैं। इस बात का प्रमाण ऐतरेयोपनिषद्[3] में लिखा है कि जिसको स्वामीजी भी मानते हैं। जैसे—

"निहितमस्माभिरेतद् यथावदुक्तं मनसीत्यथोत्तरं प्रश्नमनुब्रूहीति० इत्यादि।।"[4] ४। ५-६।।

स्वामीजी—"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।।"[5] इसका उत्तर भूमिका अङ्क के देवता विषय में देख लेना। वहाँ अभिप्राय सहित लिख दिया है, अर्थात् प्रकारान्तर से व्यवहार के पदार्थों की भी देवसंज्ञा मानी है, पूज्योपास्य बुद्धि से नहीं।

अब प्राचीन अनुक्रमणिकाकार जो भिन्न-भिन्न देवता मानता है, सो भी इस अभिप्राय से है कि 'इस मन्त्र का अग्नि देवता' [है] इत्यादि लेख से कुछ आपकी बात की पुष्टि नहीं होती, क्योंकि वहाँ केवल नाममात्र का प्रकाश है विशेष अर्थ का नहीं। वैसे ही अग्नि शब्द के पूर्वोक्त प्रकार से घटित दोनों अर्थ लिखे जाते हैं। तथा सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर इस अभिप्राय से है कि सब देवों का देव पूजनीय और उपासना योग्य एक अद्वितीय ईश्वर ही है। सो यथावत् देवता प्रकरण में लिख दिया है,[6] वहाँ देख लेना, कि व्यावहारिक अग्नि, वायु को देवता किस लिये और परमेश्वर किस प्रकार माना जाता है।

ऐसे ही सब जगत् को ब्रह्म मानना तथा ब्रह्म को जगत्‌रूप समझना, यह हिन्दुओं की बात होगी, आर्यों की नहीं। हम लोग आर्य्यावर्त्तवासी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमस्थ ब्रह्मा से लेकर आज पर्य्यन्त परमेश्वर को वेदरीति से ऐसा मानते चले आये हैं कि वह शुद्ध, सनातन, निर्विकार अज, अनादिस्वरूप, जगत् के कारण से कार्यरूप जगत् का रचन, पालन और विनाश करने वाला है। और हिन्दू उसको कहते हैं कि जो वेदोक्त सत्य मार्ग से विरुद्ध चले। इसमें पण्डितजी ने जो मैत्र्युपनिषद्[7] का प्रमाण धरा है सो भी बिना अर्थ जाने हुए लिखा है, क्योंकि वहाँ ब्रह्म की उपासना का प्रकरण है। तद्यथा—

---

१. ऋषि दयानन्द ने भी अपने वेदभाष्य में ऋग्वेद के देवता इसी ग्रन्थ के अनुसार "प्रायः" लिखे हैं (क्वचित् भेद भी है)।

२. यह पृष्ठ पङ्क्ति संख्या पं० महेशचन्द्र के ग्रन्थ की है।

३. यहाँ 'मैत्रायण्युपनिषद्' पाठ चाहिए। अगला उद्ध्रियमाण प्रमाण मैत्रायण्युपनिषद् का है। श्री स्वामी जी ने भी अपने उत्तर में मैत्र्युपनिषद् का ही उल्लेख किया है। वहां भी 'मैत्रायण्युपनिषद्' पाठ होना चाहिए। 'मैत्रायण्युपनिषद्' को श्री स्वामी जी महाराज दशोपनिषद् के समान प्रमाण नहीं मानते, पुनरपि वेदभाष्य के नमूने के अङ्क में पृष्ठ ६ (यही संग्रह) में प्रमाण देने से पं० महेशचन्द्र को भ्रान्ति हुई है।

४. मैत्रायण्युपनिषद् प्रपाठक ४। मैत्रायण्युपनिषद् के समस्त पाठ श्री पं० सातवलेकरजी द्वारा सम्पादित मैत्रायणी आरण्यक के अनुसार हैं। अन्यत्र छपी मैत्रायण्युपनिषद् में ये पाठ नहीं मिलते।

५. निरुक्त ७।१।। द्रष्टव्य ऋ० भा० भू० रा० ला० क० ट्र० सं० पृष्ठ ६८।

६. ऋ० भा० भू० रा० ला० क० ट्र० सं० पृष्ठ ७२।

७. मैत्रायण्युपनिषद् शुद्ध पाठ होना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"यस्तपसाऽपहतपाप्मा ओं ब्रह्मणो महिमेत्येवैतदाह । यः सुयुक्तोजस्रं चिन्तयति तस्माद् विद्यया तपसा चिन्तया चापलभ्यते ब्रह्म । स ब्रह्मणः पर एता अधिदैवत्वं देवेभ्यश्चेत्यक्षय्यमपरिमितमनामयं सुखमश्नुते य एवं विद्वाननेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते ।।"

जो पण्डितजी इस प्रकरण का अर्थ ठीक-ठीक समझ लेते, तो परमेश्वर का नाम अग्नि नहीं ऐसा कभी न कह सकते, क्योंकि उसी ब्रह्म के अग्नि आदि नाम यहाँ भी हैं। और ब्रह्म की तनू अर्थात् व्याप्य जो पूर्वोक्त स्थान 'शतपथ ब्राह्मण' में अन्तर्यामी पृथिवी से लेकर जीवात्मा पर्य्यन्त अर्थात् ३० कण्डिका[1] अन्वय और व्यतिरेकालङ्कार से शरीर शरीरी अर्थात् व्याप्य [व्यापक] सम्बन्ध परमेश्वर का जगत् के साथ दिखलाया है सो देख लेना।

उसी शतपथ में पाँचवें ब्राह्मण की ३१ कण्डिका में—"अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योस्ति द्रष्टेत्यादि।" व्याप्यव्यापक सम्बन्ध पूर्वोक्त अलङ्कार से यथावत् दिखला दिया है। इससे—"ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्।"[3] इसका अर्थ इस प्रकार से है कि ब्रह्म केवल एक चेतन-मात्र तत्त्व है। जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'यह सुवर्ण खरा है', तो इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि इस सुवर्ण में दूसरे धातु का मेल नहीं। इसी प्रकार जैसे कार्य्यजगत् के संघातों में अनेक तत्त्वों का मेल है, वैसा ब्रह्म में नहीं, किन्तु वह भिन्न वस्तु है। तथा तात्स्थ्योपाधि से यह सब जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थ है और ब्रह्म सर्व विश्वस्थ भी है। यह इस वचन का ठीक अर्थ है, क्योंकि फिर इसी के आगे यह पाठ है कि—

"या वास्या अग्र्यास्तनवस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निह्नुयच्चातस्ताभिः सहैवोपर्य्युपरि लोकेषु चरत्यथ कृतस्नः क्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य ।।"[4]

अर्थात् जो विद्वान् पुरुष अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना ध्यान और उसी की अर्च्चा कर अपने हृदय के सब दोषों को अलग करे। इसके उपरान्त जब अपने अन्तःकरण से शुद्ध होकर मुक्ति पा चुकता है, तब वह उन्हीं पूर्वोक्त तनुओं के सहित उपरि सब लोकों के बीचों बीच रहता हुआ, अन्त में परमेश्वर की सत्तामात्र को प्राप्त हो जाता है। सब मुक्तपुरुषों के समीप रहता हुआ अकथनीय परम आनन्द में किलोल करता है।

इसके आगे भी 'मैत्र्युपनिषद्'[5] के पञ्चम प्रपाठक के आरम्भ में कौत्सायिनी स्तुति के अनुसार भी "त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः, त्वमग्निः" इत्यादि प्रमाण से अग्न्यादि परमेश्वर के नाम यथावत् हैं। इससे यह बात पाई गई कि यद्यपि पण्डितजी प्रोफ़ेसर ग्रिफिथ, टानी साहब के वकील भी हुए, तथापि मुकद्दमा में खारिज होने के योग्य हैं। तथा यह भी जान पड़ा कि वेदभाष्य पर विरुद्ध सम्मति देनेवाले वेदादि शास्त्रों का ज्ञान कम रखते हैं।

---

१. अजमेर मुद्रित में 'पर्यन्त २४ अर्थात् अन्वय' ऐसा अपपाठ है। द्र० शत० १४।६।७।७-२४।

२. यह ब्राह्मण निर्देश प्रपाठक विभाग के अनुसार हैं, अध्याय विभाग के अनुसार 'सातवां ब्राह्मण' पाठ जानना चाहिए। सर्वत्र प्रायः अध्यायविभागानुसार ही शतपथ के पते ग्रन्थकार ने दिये हैं।

३. मैत्रायण्युप० प्रपा० ४।६।।

४. मैत्रायण्युप० प्रपा० ४।।

५. यहां 'मैत्रायण्युपनिषद्' पाठ होना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पं० महेश०—"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः ।।"[1] जो लोग निरुक्त के समझने वाले हैं, वे कहते हैं कि देवता तीन ही हैं। अग्नि, वायु और सूर्य। इन देवताओं का बल बहुत और काम पृथक्-पृथक् होने से उनको कई नामों से बोलते हैं।

"अथाकारचिन्तनं देवतानाम्; पुरुषविधाः स्युरित्येके चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते ।।"[2]

कितने ही देवते मनुष्यों के समान हैं, अर्थात् वे मनुष्यों के तुल्य घोड़े आदि की सवारी और खाना सुनना पीना बोलना आदि काम करते हैं। कुछ देवते ऐसे हैं कि मनुष्यों के तुल्य नहीं, परन्तु दृष्टि में आते हैं जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी और चन्द्रमा। तथा कितने ही चेतन नहीं हैं जैसे सिक्का[3] वनस्पति आदि।

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात् तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ।।[4]

हम कह चुके हैं कि देवता तीन हैं—अग्नि, वायु और सूर्य, जिनके गुणों की व्याख्या कर दी है। अब अग्नि के गुण बताते हैं, अर्थात् वह देवताओं के पास चढ़ावा पहुँचाता है तथा उनको यज्ञ में बुलाता है, ये अग्नि के प्रत्यक्ष काम हैं।

"अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ।।"[5] जो अग्नि पृथिवी पर रहता है, प्रथम हम उसी का वर्णन करते हैं। इसका अग्नि नाम क्यों हुआ, क्योंकि वह प्रथम ही आता है, देखो '**अग्निमीडे**' इत्यादि।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निरुक्तकार अग्नि शब्द से सिवाय भौतिक के दूसरी चीज नहीं समझा है। यह ब्रा० और नि० से स्वामी जी का कथन ठीक नहीं। **श्रौतसूत्र**[6] जो वेद की प्राचीन व्याख्या है, यद्यपि स्वामीजी ने उसका कोई प्रमाण नहीं दिया, परन्तु मैं कुछ साक्षी के तौर पर प्रमाण देता हूँ—सू० २६। कण्डिका १। अ० १ तथा सू० ७। कं० १३। अ० ४ में देखने से साफ़ मालूम होता है कि '**अग्निमीडे०**' यह मन्त्र भौतिक अग्नि की पूजाविधान में लिखा गया है।

स्वामीजी—इसके आगे पण्डितजी "**तिस्र एव देवता०**" इत्यादि निरुक्त का अभिप्राय लिखते हैं। सो उन्होंने इसका भी अर्थ ठीक-ठीक नहीं जाना। क्योंकि इस प्रकरण में भी पूर्वोक्त प्रकार से दोनों व्यवस्था जानी जाती हैं अर्थात् अग्नि आदि नामों से व्यवहारोपयुक्त पदार्थ और पारमार्थिक उपास्य परमेश्वर दोनों ही का यथावत् ग्रहण होता है। इस निरुक्त का अर्थ भूमिका के अङ्क३ पृष्ठ ६० पंक्ति ८ वीं से अङ्क ४ पृष्ठ ७८ तक[7] देखने से ठीक-ठीक उत्तर मिल जायेगा।

---

१. निरुक्त ७।५।। २. निरुक्त ७।६।।

३. यह पाठ सन्दिग्ध है। निरुक्त के अनुसार यहाँ 'अक्ष' पाठ होना चाहिए—'**यथाऽक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि**' निरुक्त ७।७।।

४. निरु० ७।८।। यह पाठ प्रथम संस्करण और शताब्दीसंस्करण (पृष्ठ ८९५ भाग २) में उपलब्ध होता है। अगले संस्करणों में छूट गया है।

५. निरुक्त ७।१४।। ६. यहां आश्वलायनश्रौतसूत्र से अभिप्राय है।

७. रा० ला० क० ट्र० सं० में पृष्ठ ६७ पं० २६ से पृष्ठ ८८ पं० १८ तक।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इसके आकार चिन्तन से यह अभिप्राय है कि—जिस-जिस पदार्थ में जो गुण होते हैं, उनका यथावत् प्रकाश करना 'स्तुति' कहाती है। सो जड़ और चेतन दोनों में यथावत् घटती है। इसी प्रकरण में **"एकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति तथाऽभिधानानि ॥'**[1] इस पंक्ति का अर्थ पण्डितजी ने न विचारा होगा, नहीं तो इतने आडम्बर का लेख क्यों करते, क्योंकि देखो—

"तासां महाभाग्यादेकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति ॥"[2] इसका अभिप्राय यह है कि अग्न्यादि संसारी पदार्थों में भी ईश्वर की रचना से अनेक दिव्य गुण हैं कि जिनके प्रकाश के लिये वेदों में उन पदार्थों के अग्न्यादि कई-कई नाम लिखे हैं। तथा वे ही नाम गुणानुसार एक अद्वितीय परमेश्वर के भी हैं। उन्हीं पृथक्-पृथक् गुणयुक्त नामों से परमेश्वर की स्तुति होती है। तथा उसी के वेदों में सर्वसुखदायक, स्वयंप्रकाश 'सत्य' ज्ञानप्रकाशक नाना प्रकार के व्याख्यान लिखे हैं।

इस प्रकार सब सज्जन लोगों को जान लेना चाहिये कि अग्न्यादि नामों से पूर्वोक्त दोनों अर्थों का ग्रहण होता है, केवल एक का नहीं। और—

"तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ॥"[3]

इसका अभिप्राय यह है कि उन व्यावहारिक देवताओं का जुदापन, साहचर्य अर्थात् संयोग दो प्रकार का होता है—एक समवायसम्बन्ध, दूसरा संयोगसम्बन्ध। समवाय नित्य गुण-गुणी आदि में होता है, और संयोग सम्बन्ध गुणी और गुणियों[4] का होता है। जैसे जगत् के पदार्थों में स्वाभाविक और नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जान लेना, कि वह अपने स्वाभाविक गुण और सामर्थ्यादि के साथ समवाय और जगत् के कारण-कार्य तथा जीव के साथ संयोगसम्बन्ध अर्थात् व्याप्य-व्यापकतादि प्रकार से है। इस वचन में भी परमेश्वर का त्याग कभी नहीं हो सकता।

तथा जैसे भौतिक अग्नि का काम व्यावहारिक देवताओं को हवि[5] चढ़ाना व पहुँचाना है तथा मन्त्र देव और दिव्य गुणों को जगत् में प्राप्त करना है, वैसे ही सब जीवों को पाप पुण्य के फल पहुंचाना और ज्ञानानन्दी मोक्षरूप यज्ञ में धार्मिक विद्वानों को हर्षयुक्त कर देना परमेश्वर का काम है।

"अग्निः पृथिवीस्थान॰" इसकी व्याख्या पूर्व कर आये हैं। और **"अग्निमीडे"** इसकी व्याख्या निरुक्त के अनुसार इसी मन्त्र के भाष्य में लिख दी है[6] परन्तु वहां भी दो ही अग्नि लिये हैं, क्योंकि एक अध्येषणाकर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक, दूसरा पूजाकर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है।

तथा **"अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः[7]॰"** इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्तकार का स्पष्ट लेख है कि—

"स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते ॥"[8]

इसका अर्थ यह है कि—वह अग्नि जो परमेश्वर का वाची है, चूल्हे में प्रत्यक्ष जलने वाला

---

१. निरुक्त ७।५॥ २. निरुक्त ७।५॥

३. निरुक्त ७।८॥

४. प्रथम संस्करण में यही शुद्ध पाठ है। अगले संस्करणों में 'अगुणियों का' अपपाठ मिलता है। 'गुणी गुणियों का' से अभिप्राय 'द्रव्य के साथ द्रव्य का' से है। द्रव्यों में परस्पर संयोगसम्बन्ध होता है।

५. मूलपाठ 'जल' है। ६. इसी संग्रह में पूर्व पृष्ठ ४॥

७. ऋ० १।१।२॥ ८. निरुक्त ७।१६॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है, किन्तु जोकि अपने भाष्य में व्यापक विद्युद्रूप और जो उत्तर अर्थात् कारणरूप ज्योतिस्वरूप और सब का प्रकाशक है तथा जो परमेश्वर का अग्निशब्द से ग्रहण करना कहा है, एक आनन्दस्वरूप परमात्मा का स्वीकार है, जैसा कि पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धिमान् लोग जान लेंगे कि वे सब प्रमाण जो मैंने इस विषय में लिखे हैं, मेरी बात की पुष्टि करते वा नहीं। तथा पण्डित जी की पकड़ ठीक है वा नहीं ?

और जो कि वे श्रौतसूत्र का प्रमाण लिखते हैं, उसका भी अभिप्राय उन्होंने यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि वहाँ तो केवल होमक्रिया करने का प्रसङ्ग है, और होता आदि के आसनादिक और अध्वर्यु आदि के काम पृथक्-पृथक् लिखे हैं, इसलिये वहां तत्संसर्गी का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि जो जिसका काम है, उसको वही करे, यहां उस सूत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये उसका लिखना व्यर्थ है।

तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र के चतुर्थाध्याय तेरहवीं कण्डिका के ७ सूत्र में भी केवल कर्मकाण्ड ही की क्रिया के मन्त्रों की प्रतीकें धरी हैं। वहाँ भी पण्डित जी अग्नि शब्द से परमेश्वर का त्याग कभी नहीं करा सकते। किसलिये कि वहाँ मन्त्र ही देवता हैं। और सब शुभ कर्मों में परमेश्वर ही की स्तुति करना सब को उचित है। वहाँ मन्त्र का पाठातिदेश किया है अर्थ नहीं। इससे सूत्र का लिखना पण्डित जी को योग्य नहीं था, क्योंकि वहाँ तो केवल क्रियायज्ञ का प्रकरण है, दूसरी बात का नहीं।

पं० महेश०—'अग्निमीड०' इस मन्त्र की सिद्धि में और अधिक प्रमाण स्वामी जी ने नहीं दिये हैं परन्तु कई मन्त्रों का प्रमाण धरके कहते हैं कि अग्नि से ईश्वर का ग्रहण है, सो उन मन्त्रों की साधारण विचार परीक्षा से ही मालूम हो जाता है कि उनसे स्वामी जी के अर्थ नहीं निकल सकते। पहिला मन्त्र **'इन्द्रं मित्रम्०'**[1] वे उसको इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। यह मालूम नहीं होता कि इस मन्त्र में किस को सन्मुख करके बोलते हैं। निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है। कोई सूर्य को बताते हैं। खैर, कुछ भी हो, परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता।

और यह जाना गया है कि जब किसी विशेष देवता की स्तुति करते हैं तो उसको शब्द और-और देवताओं के नाम से लाते हैं उसके बल आदि गुण बताने के लिए। **'तदेवाग्नि०' शुक्लयजुर्वेद**[2] से कि जिसके समान कृष्णयजुर्वेद में भी है—देखो **'तैत्तिरीय आरण्यक अ० १। प्र०।'**[3] इस स्थान में अद्वैत मत का प्रतिपादन है। जैसे देखो —'जो सर्वज्ञ पुरुष सदा था, है, और रहेगा, जिसका तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिससे वेद उत्पन्न हुए हैं तथा जिससे घोड़ा, गौ, बकरी और खटमल आदि निकले हैं। जिसके मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य, कानों से वायु और प्राण और मुख से अग्नि वह सर्वव्यापी और सब संसार का आधार है।

इसके बाद स्वामीजी मन्त्र का प्रमाण देते हैं, जैसे—**'तदेवाग्नि'** अर्थात् अग्नि, सूर्य, वायु आदि सब एक परमेश्वर के ही गुण[4] नाम हैं। जैसे अग्निशब्द के अर्थ परमेश्वर में नहीं घटते वैसे ही ऊपर

१. ऋ० १।१६४।४६॥
२. यजु० ३२।१॥ द्र०—ऋ० भा० भू० रा० ला० क० ट्र० संस्करण पृष्ठ १७३ टि० १ ॥
३. यहां तै० आ० का पता अशुद्ध है। शुद्ध पता तै० आ० १०।१।२ होना चाहिए।
४. गुणों के संयोग से होने वाले अर्थात् गौण।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अर्थ भी नहीं लग सकते, सिवाय इसके जो 'तदेवाग्नि' पदभेद को विषय अर्थ से मिलावें तो स्वामीजी का अग्नि शब्द को परमेश्वर अर्थ में मिलाना ऐसा असम्भव होगा जैसे कह दे कि मनुष्य पशु है अथवा पशु मनुष्य है ।

अग्निर्होता कविक्रतुः०[1] स्वामीजी 'कवि' शब्द के अर्थ सर्वज्ञ के लेते हैं तथा सत्य का विनाश-रहित, परन्तु निरुक्त में कवि का और ही अर्थ है । और स्वामीजी भी जब मन्त्र को शास्त्रसम्बन्धी अर्थ में लेते हैं तो कई प्रकार के अर्थ करते हैं । कदाचित् स्वामीजी का अर्थ मान भी लें तो वह उनके अभिप्राय को अग्नि ईश्वर का नाम है नहीं खोलता, क्योंकि यह दस्तूर को बात है कि देवता की स्तुति करने में सब प्रकार के विशेषण लाते हैं ।

स्वामीजी—अब पण्डितजी प्रमाणों की परीक्षा पर बहुत भूले हैं, क्योकि मैंने 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर के ग्रहणविषय में वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण मन्त्रभाष्य के आरम्भ[2] में लिखे हैं । उनका विचार छोड़कर मृग के समान आगे कूदकर चले गये हैं । इससे मालूम होता है कि पण्डितजी को मन्त्रों का अर्थ मालूम नहीं । और बिना इतनी विद्या के वे साधारण वा विशेष परीक्षा कैसे कर सकते हैं ? उनका यह भी लिखना ठीक नहीं कि इन प्रमाणों से स्वामीजी का अर्थ नहीं निकल सकता ।

अब विद्वान् लोग पण्डितजी के इस लेख की परीक्षा करें, अर्थात् वे लिखते हैं कि यह मालूम नहीं होता कि **'इन्द्रं मित्रं०'**[3] इस मन्त्र में 'उसको' शब्द किस के लिये आया है इत्यादि । तथा निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक अग्नि के लिए आया है इत्यादि । सो पण्डितजी को जानना चाहिये कि बिना ज्ञान वेदविद्या के उनकी परीक्षा करना बालकों का खेल नहीं । इस ग्रन्थ में भी अग्नि का पाठ दो बार है । एक —

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः·········।···अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।"[4]

इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्द से दोनों अर्थों का ग्रहण होता है, अर्थात् भौतिक और परमेश्वर । तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं, अर्थात् अग्न्यादि नाम भौतिक अर्थ में और परमेश्वर अर्थ में भी दो अन्वय होते हैं ।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम् ।'[5] अर्थात् एक शब्द से परब्रह्म को विद्वान् लोग अथवा वेद-मन्त्र अग्न्यादि नामों से अनेक प्रकार की स्तुति करते हैं । तथा सबका निरुक्त जो दूसरे पृष्ठ[6] में लिख दिया है, उसका भी अर्थ पण्डितजी ने नहीं जाना, क्योंकि वहाँ भी—

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥'[6] इसका यह अर्थ है कि अग्नि नाम करके पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर ज्योति गृहीत होते हैं, अर्थात् भौतिक और परमेश्वर इन दो अर्थों का ग्रहण होता है । तथा **'इमवेवाग्नि०'**[7] इत्यादि इन दोनों अर्थों के अभिप्राय में है, क्योंकि बिना पठनाभ्यास के कोई कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न हो गूढ़ शब्दों का यथावत् अर्थ जानने में उसको कठिनता पड़ जाती है ।

इस मन्त्र का अभिप्राय मैंने अच्छी तरह वेदभाष्य में[8] प्रकाशित कर दिया था, तिस पर भी

---

१. ऋ० २।१।५।। २. अर्थात् नमूने के अङ्क में । प्रथम मन्त्र के भाष्य के आरम्भ में ।

३. ऋ० १।१६४।४६।।

४. ऋ० १।१३४।४६। ५. अर्थात् नमूने के अङ्क में । इस संग्रह में पृष्ठ ३-४ ।

६. निरुक्त ७।१६।। ७. निरुक्त ७।१८।। ८. अर्थात् नमूने के अङ्क में ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पण्डितजी न समझे। बड़े आश्चर्य की बात है कि विद्या के अभिमानी होकर ऐसी भ्रान्ति में गिर पड़ते, और उन प्रमाण मन्त्रों के यथार्थ अर्थ को उलटा समझते हैं। क्या यह हठ की बात नहीं है कि विद्वान् कहाकर बार-बार यही कहते चले जाना कि अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता।

जैसे इस मन्त्र के अर्थ में पण्डितजी भूल गये हैं, वैसे ही 'तदेवाग्नि०'[1] जो इसमें तैत्तिरीय आरण्यक का नाम लिखा उसके प्रकरण का अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक-ठीक नहीं जाना, 'क्योंकि वहाँ परमेश्वर का निरूपण और सृष्टिविद्या दिखलाई है। जैसे वह परमेश्वर भूत' भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल में एक रस रहता हैं, अर्थात् जब-जब जगत् हुआ था, है और होगा तब-तब वह—

तदक्षरे परमे व्योमन्।[2] सर्वव्यापक आकाशवत् विनाशरहित परमेश्वर में स्थित होता है। क्योंकि—

'येनावृतं खं च दिवं महीं च०' इत्यादि।[3] जिसने आकाश सूर्यादि लोक और पृथिव्यादियुक्त जगत् को अपनी व्याप्ति से आवृत कर रक्खा है।

'येन जीवान् व्यवससर्ज भूम्याम्।'[4] जोकि जीवों को कर्मानुसार फल भोगने के लिये भूमि में जन्म देता है।

'अतः परं नान्यदणीयमस्ति।'[5] जिससे परे=सूक्ष्म वा बड़ा कोई पदार्थ नहीं है। तथा जो सबसे पर एक अद्वितीय अव्यक्त और अनन्तस्वरूपादि विशेषणयुक्त है।

'तदेवावर्त्तत्तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्।'[6] वही 'एक यथार्थ नित्य' एक चेतन तत्त्व-मय है, वही सत्य वही ब्रह्म तथा विद्वानों का उपास्य परमोत्कृष्ट इष्ट देवता है।

और **'तदेवाग्नि०'**[7] अर्थात् वही परमेश्वर अग्न्यादि नामों का वाच्य है।

'सर्वे निमेषा जज्ञिरे'[8] इत्यादि।' जिससे सब कालचक्रादि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तथा—

'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥'[9]

अर्थात् उस परमेश्वर का स्वरूप इयत्ता से दृष्टि में नहीं आ सकता, अर्थात् कोई उसको आंख से नहीं देख सकता किन्तु जो धार्मिक विद्वान् अपनी बुद्धि से अन्तर्यामी परमात्मा को आत्मा के बीच में जानते वे ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

तथा जिस अनुवाक का पण्डितजी ने नाम लिखा है, उसका अभिप्राय ही कुछ और है। अद्वैत शब्द का अर्थ उनको समझ में ठीक-ठीक नहीं आया, क्योंकि उनके मन में भ्रम होगा कि सिवाय परमेश्वर के जगत् में दूसरा पदार्थ कोई भी नहीं, किन्तु परमेश्वर ही जगत् रूप बन गया है। क्योंकि वे

---

१. यजुः० ३२।१॥ तै० आ० १०।१।२०॥

२. तैत्तिरीय आरण्यक में **'तदक्षरे परमे प्रजाः'** पाठ है, द्र० १०।१।१॥ **'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्'** यह ऋक्पाठ है, द्र० १.१६४।३९॥ (तै० आ० २।११।१ में भी)।

३. तै० आ० १०।१।१॥
४. द्र० तै० आ० १०।१।१॥
५. तै० आ० १०।१।१॥
६. तै० आ० १०।१।१॥
७. तै० आ० १०।१।२॥
८. तै० आ० १०।१।२॥
९. तै० आ० १०।१।१३॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखते हैं कि तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिससे घोड़ा, गौ और खटमल आदि निकले हैं। इससे उनका अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म ही सब जगत्‌रूप बन गया है।

यह भ्रान्ति उनको वेदादि शास्त्रों के ठी-ठीक न जानने के कारण हुई है' क्योंकि देखो 'अद्वैत' शब्द परमेश्वर का विशेषण है, कि जैसे एक-एक मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्याप्तिमय है, वैसा परमेश्वर नहीं, किन्तु वह तो सब प्रकार से एकमात्र ही है। इसका उत्तर भूमिका अङ्क ४ पृष्ठ ९० की पंक्ति २० में[1] मिलता है। जैसे—

'न द्वितीयो न तृतीयः ॥'[2] इत्यादि में देख लेना। तथा—

'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' ॥ [3] इत्यादि मन्त्रों का अर्थ भूमिका अंक ५ के ११८ पृष्ठ[4] में 'सहस्रशीर्षा०' इत्यादि की व्याख्या से लेकर अङ्क ६ के १३४ पृष्ठ[5] की समाप्ति पर्यन्त देखने से इसका ठीक उत्तर मिल जायगा।

और—'अग्निर्होता कविक्रतुः० ॥'[6] इसके अर्थ-विषय में जो पण्डितजी को शंका हुई है कि अग्नि शब्द से ईश्वर कैसे लिया जाता है तो निरुक्त में कवि शब्द का अर्थ क्रान्तदर्शन अर्थात् सबको जानने वाला है। सो सिवाय परमेश्वर के भौतिक में कभी नहीं घट सकता, क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है। इस मन्त्र का अर्थ वेदभाष्य के अङ्क १ पृष्ठ १६ में[7] देख लेना—[कवि] क्रतुः सब जगत् का करने वाला। सत्यश्चित्रश्रवस्तमः—इत्यादि पदों का अर्थ वहीं देख लेना। जब आग्रह छोड़के विद्या की आँख से मनुष्य देखता है, तब उसको सत्यासत्य का ज्ञान यथावत् होता है। और जब इस प्रकार की ठीक-ठीक विद्या ही नहीं तो उसको सत्यासत्य का विवेक कभी नहीं हो सकता।

तथा निघं० अ० ३ खं० १५ में 'मेधावी' का नाम 'कवि' लिखा है। सो परमेश्वर के सिवाय भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। तथा यजुर्वेद अ० ४०। मं० ८—'स पर्यगाच्छुक्र०।' इस मन्त्र में कविर्मनीषी इत्यादि लिखा है। यहाँ भी कवि नाम सिवाय परमेश्वर के भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। और ये सब प्रमाण मेरे अभिप्राय को ठीक-ठीक सिद्ध करते हैं। तथा पण्डितजी का विशेष लेख मेरे लेख की परीक्षा तो नहीं कर सकता, किन्तु उन की न्यूनविद्या की परीक्षा अवश्य कराता है।

पं० महेश०—'ब्रह्म ह्यग्निः'[8] जोकि आगे की संस्कृत[9] में आता है। जैसे—

'अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारतेति०'[10] इस में अग्नि को ब्राह्मण कहा है। क्योंकि अग्नि इस नियम से—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[11] ब्रह्म है। और भारत इसलिए कहते हैं कि वह चढ़ाया हुआ पदार्थ

---

१. रा० ल० क० ट्र० संस्क० पृष्ठ १०४॥
२. अथर्व० १३।४।१६-१८, २०, २१॥
३. यजुः० ३१।२॥ द्र० रा० ल० क० ट्र० संस्क० पृ० १३९।
४. रा० ल० क० ट्र० संस्क० पृष्ठ १३२॥
५. रा० ला० क० ट्र० संस्क० पृ० १४८।
६. ऋ० १।१।५॥
७. इस संग्रह में पृष्ठ १४ में।
८. शत० १।५।१।११॥
९. संस्कृत में अर्थात् वेदभाष्य के नमूने के अङ्क की संस्कृत में।
१०. शत० १।४।२।२॥
११. छा० उ० ३।१४।१॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवताओं को पहुँचाता है। शत०[1] कां० १, अ० ४, ब्रा० ४, कं० २ इससे मालूम होता है कि यह अग्नि शब्द का अर्थ नहीं किन्तु ब्राह्मण और भारत अग्नि में लगाये हैं।

'आत्मा वा अग्निः'[2] यह शत० कां० ७, अ० ३, ब्रा० ३, कं० ४ के अगले प्रमाण में आया है। जैसे—

'यद्वेव चिते गार्हपत्येऽचित आहवनीयेऽथ राजानं क्रीणाति। आत्मा वा अग्निः। प्राणः सोमः आत्मंस्तत् प्राणं मध्यतो दधाति।'[3]

अर्थात् 'बाद रखने गार्हपत्य और पूर्व रखने (आहवनीय) अग्नि के होम करने वाला सोमलता को मोल लेता है। क्योंकि आत्मा अग्नि है तथा प्राण नाम सोम का है, और आत्मा के बीच में प्राण रहते हैं।' यहां आत्मा का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु मनुष्य के जीव से मुराद है, तथा अग्नि का नाम भी आत्मा अलङ्कार रूप से है। इसीलिए सोमलता प्राण का अर्थ लिया है। अग्नि का अर्थ आत्मा नहीं है जैसे कि सोमलता का अर्थ प्राण है। ११ [वाँ प्रमाण[4]] भी शतपथ ब्राह्मण से लिया गया है जिस में इस बात का नाम भी नहीं है कि अग्नि का अर्थ ईश्वर माना जावे किन्तु जहां से ये प्रमाण रक्खे हैं, वे बराबर होमादि का विधान करते हैं, और वे निस्सन्देह केवल भौतिक अग्नि का अर्थ देते हैं दूसरा नहीं।

ऐतरेयोपनिषद् के हैं अर्थात् १८ [वें] प्रमाण में ईश्वर का वर्णन प्राण, अग्नि, पञ्चवायु आदि से तथा १३ [वें] में ईशान, शंभु, भव, रुद्र आदि ये सब अर्थ उसी नियम पर हैं कि जिसका कथन कर चुके। सब वस्तु ब्रह्म है, इन प्रमाणों से भी स्वामीजीके कथन की पुष्टता नहीं होती। १३ [वें] प्रमाण में अग्नि कहीं नहीं आया है। सिवाय 'अग्निरिवाग्निना पिहितः'[5] ब्रह्म को अग्नि शब्द के तुल्य करने से कि जो 'अग्निरिव' से उत्पन्न होता है। साफ मालूम होता है कि अग्नि और ईश्वर में बड़ा भेद है, परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि स्वामीजी इसी को अपना प्रमाण मानते हैं। १४ [वां] ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के हैं, जो कह दिये गये।

स्वामीजी—इसके आगे जो-जो प्रमाण मैंने शतपथ के इस विषय में क्रम से धरे हैं, उनको तो देखते विचारते नहीं, परन्पु इधर-उधर घूमते हैं। विद्वानों का यह काम है कि उलट-पुलट के आगे का पीछे और पीछे का आगे कर देवें। 'ब्रह्म ह्यग्निः'[6] इस वचन से स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म का नाम अग्नि है। तथा—

'अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारतेति।' इस वचन के भी दूसरे अर्थ हैं, क्योंकि वहां 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[7] यह नियम कहीं नहीं लिखा—

---

१. अगला पता अशुद्ध है। शत० १।४।२।२ चाहिए। द्र०—एष (अग्निः) उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्मादेवाह भारतेति।

२. शत० ७।३।१।२॥ अगला निर्दिष्ट पता अशुद्ध है, तृतीय अध्याय में दो ही ब्राह्मण हैं।

३. शत० ७।३।१।२॥ वै० य० मु० में 'सोमः आत्मनं ततः प्राण' अपपाठ है।

४. यह तथा अगली प्रमाण संख्या वेदभाष्य के नमूने में उद्धृत प्रमाणों की है। द्र० यही संग्रह पृष्ठ ३-१९ तक।

५. मैत्रायण्युपनिषद् ६।८॥ ६. शत० १।४।२।२॥

७. शत० १।४।२।२॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मण इति भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भारतोऽग्नि-रित्याहुरेष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति तस्मादेवाह भारतेति ।"[1]

इस कण्डिका का अर्थ पूर्वापर सम्बन्ध से पण्डितजी न समझे, क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हे अग्ने परमेश्वर ! आप महान्—सबसे बड़े हैं और बड़े होने से 'ब्राह्मण' तथा सब प्रजा को धारण करने से 'भारत' कहाते हैं, और विद्वानों के लिये सब उत्तम पदार्थों का धारण करते हैं, इसलिए भी आपका नाम भारत है । इस कण्डिका के अर्थ से यथावत् सिद्ध होता है कि अग्नि, भारत और ब्राह्मण ये नाम परमेश्वर के हैं ।

और जो 'आत्मा वा अग्निः'[2] इसमें अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक अग्नि का ग्रहण है, इससे दोष नहीं आ सकता । वहं मेरा अभिप्राय है, इसको पण्डित जी ठीक-ठीक नहीं समझते और—'तस्मादयमात्मन् प्राणो मध्यतः ।।'[3] इसका यह अर्थ है कि—'(अयम्) यह होम करने वाला वा परमेश्वर का उपासक सबके बलकारक प्राण को शरीर में वा मोक्षस्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के बीच में धारण करता है, क्योंकि सबके प्राण सामान्य से परमेश्वर की सत्ता में ठहर रहे हैं । इससे सबका आत्मा प्राण के बीच में है, और मनुष्य के प्राण की अपेक्षा व्यवहार दशा में है । परन्तु 'स उ प्राणस्य प्राणः ।।' इस केनोपनिषद् [१।२] के विधान से परमेश्वर का नाम भी प्राण है । इससे यहाँ आत्मन् शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण है ।

और आत्मा का नाम अग्नि अलङ्कार से नहीं, किन्तु संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध से है, क्योंकि उस प्रकरण में वैसे ही, अग्नि नाम से पूर्वोक्त दोनों अर्थ सिद्ध हैं । और यज्ञादि कर्मों में परमेश्वर का ग्रहण सामान्य से आता है । सोम का नाम प्राण शतपथ में इसलिये है कि यह प्राण अर्थात् बल बढ़ाने का निमित्त है । परमेश्वर का नाम सोम है, सो पूर्वोक्त ऐतरेयब्राह्मण के प्रकरण में सिद्ध है । और जहाँ-जहाँ से प्रमाण लिखते हैं वहाँ वहाँ सर्वत्र होमादि क्रिया उपासना और परमेश्वर का ग्रहण है । परन्तु पण्डित जी लिखते हैं कि अग्नि नाम से भौतिक अर्थ का ही ग्रहण होता है, यह केवल उनका आग्रह है, इसका उत्तर पूर्व भी हो चुका ।

और 'प्राणो अग्निः परमात्मेति ।' यह मैत्र्युपनिषद्[4] का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है । प्राण अग्नि, परमात्मा, ये तीनों नाम एकार्थवाची हैं । तथा आत्मा और ईशानादि भी संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध में स्पष्ट हैं । और 'सब वस्तु ब्रह्म हैं' इसका उत्तर मैं पूर्व दे चुका हूं । पण्डित जी वेदादि-शास्त्रों को न जानकर भ्रम से जगत् को ब्रह्म मानते हैं । इस प्रकरण में प्राण, अग्नि और परमात्मा पर्य्यायवाचक लिखे हैं उनका अर्थ बिना विचारे कभी नहीं मालूम हो सकता, क्योंकि 'पञ्चवायु'[5] इस शब्द से पण्डितजी को भ्रम हुआ है । इसमें केवल व्याकरण का कम अभ्यास कारण है । क्योंकि जिसमें पाँच वायु स्थित हों सो पञ्चवायुः[6] परमेश्वर कहाता है । और इस प्रकरण में 'विश्वभुक्' आदि शब्द भी हैं, इससे दोनों अर्थ वहाँ लिये जाते हैं ।

१. शत० १४।२।२।। २. शतपथ १४।२।२।।

३. शत० ७।२।१।२।। यहां 'आत्मंस्तत् प्राणम्' पाठ होना चाहिए ।

४. यहां शुद्धनाम मैत्रायण्युपनिषद् चाहिए । द्र० ६।९।।

५. मैत्रायण्यु० ६।९—परमात्मा वै पञ्च वायुः समाश्रितः ।

६. मूलपाठस्थ स्वरानुसार पञ्च वायुः दो पद हैं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'य एष तपति अग्निरिवाग्निना पिहितः। एष वाव जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्वाऽरण्यं गत्वाऽथ बहिः कृत्वेन्द्रियार्थान् स्वाच्छरीरादुपलभेतैनमिति। विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। तस्माद्वा एष उभयात्मैवंविदात्मन्येवाभिध्यायत्यात्मन्येव यजतीति ध्यानम्।'[1]

जो परमेश्वर अग्नि और सूर्य्य के समान सर्वत्र तप रहा है, जिसको सब विद्वान् लोग जानने को इच्छा करते और खोजते हैं। तथा सब प्राणियों को अभयदान देके विषयों से इन्द्रियों को रोकके एकान्त देश में समाधिस्थ होकर इसी मनुष्य-शरीर में जिसको प्राप्त होते हैं, वह परमेश्वर विश्व रूप है, अर्थात् जिसका स्वरूप विश्व में व्याप्त हो रहा है, और सब पापों को नाश करने वाला, उसी से वेद प्रकाशित हुए हैं, वह सब विश्व का परम अयन, ज्योतिःस्वरूप, एक अर्थात् अद्वितोय, सूर्य्यादि को तपाने वाला असंख्यात ज्योतियुक्त अर्थात् सब विश्व में असंख्यात गुण और सामर्थ्य से सह वर्त्तमान सबका प्राण अर्थात् सब प्रजाओं के वीच में ज्ञानस्वरूप से उदित और चराचर जगत् का आत्मा है। उस परमेश्वर को जो पुरुष उभयात्मा अर्थात् अन्तर्यामी और परमेश्वर की आत्मा परमेश्वर ही को जानने वाला तथा अपने आत्मा में जगदीश्वर का अभिध्यान और समाधियोग से उसका पूजन करता है, वही मुक्ति को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार से—'उपलभेतैनमिति'[2] मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं। क्योंकि पण्डितजी ने इस प्रकरण का अर्थ कुछ भी नहीं जाना इसी से विरुद्ध लेख किया। इस प्रकार से यह प्रकरण मेरे लेख का मण्डन और पण्डित जी के लेख का खण्डन करता है। भौतिक अग्नि और परमेश्वर में बड़ा भेद है, यह मैं भी जानता और मानता हूँ, परन्तु पण्डितजी ने मेरे लेख में उन दोनों का भेद कुछ भी नहीं समझा।

पं० महेश०—'अग्निः पवित्रमुच्यते'[3] पवित्र शब्द की खराबी लगी है[4] कि उसको पवित्र शब्द के अर्थ में लिया है। १८ [वाँ प्रमाण] मनु का है। इस स्थान में मैं कुछ अवश्य कहना चाहता हूं कि बड़ा भाग मनु का जो कि हिन्दू धर्म का बयान करता है। स्वामी जी उसके लौट डालने को अपनी ओर प्रेरणा अर्थात् रसूली समझते हैं। इसलिये मनु के प्रमाण रखने में उनको चतुराई नहीं समझी जा सकती। और धरा तो धरा करो परन्तु उससे भी सिद्ध नहीं हो सकता कि अग्नि ईश्वर का वाची है। जैसे सब दृष्ट अदृष्ट सृष्टि को परमेश्वर में स्थित देखना चाहिये, आत्मा सर्व देवता है, सब आत्मा में स्थित हो रहे हैं। कोई कहते हैं कि वह अग्नि है, कोई मनु अर्थात् प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई कोई उसको नित्य ब्रह्म करके समझते हैं। वह मनुष्य जो परमात्मा को सबमें व्यापक देखता है स्वीकार करता है कि सब समान हैं, वह परमेश्वर में लवलीन हो जाता है—

'सर्वमात्मनि सपश्येत् सच्चासच्च समाहितम्। आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।'[5]

अब देखना चाहिये कि ये सब मन्त्रों के प्रमाण स्वामी जी ने अग्नि शब्द के परमेश्वरार्थ में सिद्ध करने को दिये हैं, सो कैसे वृथा हैं?

---

१. मैत्रायण्युप० ६।८, ६॥ २. मैत्रायण्युपनिषद् ६।८॥
३. निरुक्त ५।६॥ ४. यहां पाठ कुछ भ्रष्ट है, अर्थ अस्पष्ट है। ५. मनु १२।१२३॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी जी—'**अग्निः पवित्रमुच्यते**'[१] इसका उत्तर दे चुके और मनु के प्रमाण के विषय में पण्डितजी का लेख विपरीत है। क्योंकि जो आर्यों का वेदोक्त सनातन धर्म है उसको पण्डित जी के समान विचार करने वाले मनुष्यों ने उलटा दिया है। उस उलटे मार्ग को उलटा कर पूर्वोक्त सत्यधर्म का स्थापन मैं किया चाहता हूँ। इससे मेरी चतुराई तो ठीक हो सकती है, परन्तु पण्डितजी की चतुराई ठीक नहीं समझी जाती, क्योंकि मनु के प्रमाण का अभिप्राय पण्डितजी ने कुछ भी नहीं समझा। '**प्रशासितारं सर्वेषां**'[२] इस पूर्वोक्त से पुरुष अर्थात् परमेश्वर की अनुवृत्ति '**एतमेके वदन्त्यग्निम्**' इस श्लोक में बराबर आती है। तथा—'**अपरे ब्रह्म शाश्वतम्**।'[३] इस वचन से भी ठीक-ठीक निश्चय है जिसका नाम परमेश्वर और ब्रह्म है। उसी के अग्न्यादि नाम भी हैं। इस सुगम बात को भी पण्डित जी ने नहीं समझा यह बड़े आश्चर्य की बात है। और

'सर्वमात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितः। सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥१॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥२॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्[५] ॥३॥'

इन श्लोकों से पण्डितजी ने ऐसा अर्थ जाना है कि परमेश्वर ही सब देवता हैं, और सब जगत् परमेश्वर में स्थित है। यह पण्डितजी का जानना बिलकुल मिथ्या है, क्योंकि इन श्लोकों से इस अर्थ को नहीं सिद्ध करते। '**समाहितः**' इस पद को अशुद्ध करके '**समाहितम्**' यह पण्डितजी ने लिखा है, 'जो समाधान पुरुष असत्कारण और सत्कार्य्यरूप जगत् को आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे, वह कभी अपने मन को अधर्मयुक्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है ॥१॥

आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं को रचने वाला, और जिसमें सब जगत् स्थित है, वही सब मनुष्यों का उपास्य देव तथा सब जीवों को पाप पुण्य से फलों का देनेहारा है ॥२॥

इसी प्रकार समाधियोग से जो मनुष्य सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है, वह सबको अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता है। वही परमपद जो ब्रह्म परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है ॥३॥'

अब देखना चाहिये कि मेरे वेदभाष्य पर बिना समझे जो पण्डितजी ने तर्क लिखे हैं, वे सब मिथ्या हैं, क्या इस बात को सब सज्जन लोग ध्यान देके न देख लेंगे।

पं० महेश०—फिर स्वामीजी लिखते हैं कि 'अग्नि परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् न्यायकारी पिता पुत्र के समान मनुष्य को उपदेश करता है कि हे जीव! तू इस प्रकार कहो कि मैं अग्नि परमेश्वर की स्तुति करता हूँ। तिस पर जीव कहता है कि मैं अग्ने ईश्वर की स्तुति करता हूँ जो कि सर्वज्ञ, शुद्ध अविनाशी, अजन्मा, आदि-अन्त रहित, सर्वव्यापक, सृष्टिकर्त्ता और स्वयं प्रकाशस्वरूप है, दूसरे की नहीं।'[६] इस विषय में स्वामीजी कोई प्रमाण नहीं देते हैं। संसार स्वामीजी की इस प्रेरणा के बताने का ऋणी है, परन्तु उनको ऐसी मधुरता से अपने भाष्य में लेख करना उचित नहीं।

---

१. निरुक्त ५।६॥ २. मनु० १२।१२२॥

३. मनु० १२।१२३॥ ४. मनु० १२।१२३॥ ५. मनु० अ० १२, श्लोक ११८, ११९, १२५॥

६. यह वेदभाष्य के नमूने के अङ्क में प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र के संस्कृत भाष्य का अनुवाद है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब 'अग्निमीडे०' 'पुरोहित' शब्द को देखना चाहिये। स्वामीजी अर्थ करते हैं—वह जो जीवों का पालन और रक्षा करता तथा हर एक को उत्पन्न करके सत्यविद्या का उपदेश करता और अपने उपासकों के हृदय में प्रेम-भक्ति का प्रकाश करता है। स्वामीजी हित शब्द को 'डुधाञ्' धातु से बनाते हैं जिससे आगे 'क्त' है, इसमें वह निरुक्त का प्रमाण धरते हैं।

'पुरोहितः पुर एनन्दधाति०'[1] यह नहीं समझा जा सकता कि स्वामीजी पुरोहित शब्द से अपने अर्थ कैसे निकालते हैं। व्याकरण की रीति से इस 'हित' शब्द के अर्थ आगे रक्खे के हैं, स्वामीजी लेते हैं कि जो कुछ रखता है। व्याकरण की रीति से हित शब्द डुधाञ् धातु का कर्माधार गौण क्रिया है, सकर्मक गौण क्रिया नहीं। स्वामीजी उसे व्याकरण के सूत्र से सिद्ध करदें परन्तु इस बात का दावा किया जा सकता है कि हित शब्द किसी उदाहरण से सकर्मक गौण क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते।

स्वामीजी—जो अग्नि नाम परमेश्वर का लिखा है, उसके प्रमाण उसी मन्त्र के भाष्य में यथावत् लिखे हैं, वहां ध्यान देकर देखने से मालूम हो जायेंगे। तथा 'पुरोहित' शब्द पर जो मैंने प्रमाण वा उसका अर्थ लिखा है, सो भी वहाँ देखने से ठीक-ठीक मालूम होगा कि जैसा व्याकरण और निरुक्तादि से सिद्ध है। पण्डितजी 'पुरोहित' शब्द को कर्मवाच्य कृदन्त मानते हैं. किन्तु कर्तृवाच्य कृदन्त नहीं, यह उनका कथन ऐसा है कि जैसा प्रमत्तगीत, अर्थात् किसी ने किसी से प्रयाग का मार्ग पूछा—उसने उत्तर दिया कि यह द्वारिका का मार्ग सूधा जाता है।

'पुरोहित' शब्द के साधुत्व में यहाँ व्याकरण का यह सूत्र उपयोगी है—

'आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च ॥ अष्टा० अ० ३। पा० ४। सू० ७१॥' इससे आदिकर्मविषयक जो क्त प्रत्यय है वह कर्त्ता में सिद्ध है, क्योंकि सकल पदार्थों का उत्पादन और विज्ञानादि दान अर्थात् वेद द्वारा सकल पदार्थ विज्ञान करा देना यह परमेश्वर का आदि-कर्म है। इसके न होने से सत्यासत्य का विवेक, और विवेक के न होने से परमेश्वर को जानना और परमेश्वर के न होने से उसकी भक्ति होना, ये सब परस्पर असम्भव हैं।

निरुक्तकार ने भी 'पुरोहित' शब्द में 'डुधाञ्' से कर्त्ता में 'क्त' प्रत्यय मानकर परमेश्वर का ग्रहण किया है। वहाँ अन्वादेश[2] इसी अभिप्राय में है कि परमेश्वर सब जगत् को उत्पन्न करके उसका धारण और पोषण करता है। उसी परमेश्वर को संसारी जन इष्टदेव मानकर अपने आत्माओं में धारण करते हैं। देखिये वेदों में अन्यत्र भी—

विश्वस्मा उग्रकर्मणे पुरोहितः ॥ ऋ० १। सू० ५५। मं० ३॥' यह उदाहरण भी प्रत्यक्ष है।

और जो पण्डितजी 'यद्देवापिः०'[3] इस मन्त्र में पुराण की आख्यायिका झूठी कहते हैं, सो उनकी बड़ी भूल है। क्योंकि उनको इस मन्त्र के अर्थ की ख़बर भी नहीं है। और जो इसके ऊपर निरुक्त लिखा है, उसका भी ठीक-ठीक अर्थ नहीं जानते। क्योंकि पण्डितजी ने 'शान्तनु' शब्द से भीष्मजी का पिता समझ लिया है, जो 'शन्तनु' शब्द का निरुक्त में अर्थ लिखा है, उसकी ख़बर भी नहीं है—

'शन्तनुः शं तनोऽस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा ॥'[4] इसका यह अर्थ है कि (शं)

---

१. निरुक्त २।१२॥

२. पुर एनं दधाति (निरुक्त १।१२)। यहां 'एनं' अन्वादेश में प्रयुक्त होने वाला पद है।

३. ऋ० १०।९८।७॥ निरुक्त २।१२॥ ४. निरुक्त २।१२॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्याणयुक्त तनु शरीर होता है जिससे वह परमेश्वर 'शन्तनु' कहाता है। और जिस शरीर से जीव कल्याण को प्राप्त होता है, इसलिये उस जीव का नाम भी 'शन्तनु' है। इससे पण्डितजी ने इस में जो कथा लिखी सो सब व्यर्थ है।

अब **'यज्ञ'** शब्द पर पण्डितजी लिखते हैं कि यज्ञ और देव शब्द को मिला करके लिया है, सो बात नहीं है, क्योंकि यह लेखक और यन्त्रालय का दोष है।"[1] **'यज्ञस्य'** यह शैषिकी षष्ठी है, पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नधातम ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं और अग्नि के विशेषण हैं। यज्ञ शब्द का अर्थ जैसा भाष्य में लिया है, वैसा समझ लेना चाहिये और निरुक्तकार भी वैसा ही अर्थ लेते हैं, क्योंकि प्रख्यात अर्थात् प्रसिद्ध जो तीन प्रकार का वेदभाष्य में यज्ञ लिखा है, वह निरुक्तकार के प्रमाण से युक्त है।

और जो 'गौ शब्द का दृष्टान्त दिया सो भी नहीं घट सकता, क्योंकि प्रकरण, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्य, संज्ञा आदि कारणों से शब्द का अर्थ लिया जाता है और जो 'देव' शब्द के विषय में पण्डितजी ने लिखा है कि स्वामीजी ने 'जय की इच्छा करने वाले' कहां से वा कैसे लिये हैं, इसका उत्तर है कि 'दिवु' का धात्वर्थ विजिगीषा भी है और जो यज्ञ में विघ्नकारक दुष्ट प्राणी और कामक्रोधादि शत्रु हैं, उनका जीतने वाला वही परमेश्वर देव है, क्योंकि त्रिविध यज्ञ का रक्षक, इष्ट और पूज्यदेव परमेश्वर ही है।

'पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च'[2] इसके अर्थ में पण्डितजी की बहुत भूल है, क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि हमने पुरोहित और यज्ञ शब्द की पूर्व[3] व्याख्या कर दी है और पण्डितजी कहते हैं कि 'निरुक्त के तीसरे अध्याय के १९ खण्ड में 'यज्ञ' शब्द को व्याकरण से सिद्ध किया है,' सो झूठ है, क्योंकि वहाँ अर्थ[4] की निरुक्तिमात्र कही है, सिद्धि कुछ भी नहीं और 'जो निघण्टु के अ० ३। खं० १७ प्रमाण से यज्ञ के अनेक नाम लिखे हैं कि बहुधा वे होमादिक के विधान में आते हैं और स्वामीजी के अर्थों में उनमें से एक भी नहीं मिलता,' यह बात पण्डितजी की भ्रान्तियुक्त है, क्योंकि उन १५ नामों का अर्थ मेरे अर्थ के स[ाथ] बराबर मिलता है, क्योंकि मैंने यज्ञ शब्द का अर्थ त्रिविध लिया है, इसके साथ उनको मिलाकर देखो।

और पण्डितजी निरुक्तकार के विषय में कहते हैं कि 'देव' शब्द के अर्थ देने वाला, प्रकाश करने वाला और स्वर्ग में रहने वाला ये तीन ही हैं। इस देव शब्दविषयक निरुक्त का अर्थ भूमिका

---

१. जो लोग ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में लिपिकर वा मुद्रण आदि के दोषों को भी स्वीकार नहीं करते और उनको शुद्ध करने का भी विरोध करते हैं उन्हें इस लेख पर ध्यान देना चाहिए। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं ऋषि दयानन्द के लेख में उनकी अस्वस्थता आदि के कारण शारीरिक, मानसिक उद्विग्नता से भी लेखन प्रमादजन्य दोष हुए हैं। इस बात को ऋषि दयानन्द ने संस्कृत वाक्यप्रबोध में हुई अशुद्धियों का कारण विवेचन करते हुए स्वयं स्वीकार किया है। देखो श्री मुंशी बख्तावर सिंह के नाम शु० १३ बुध सं० १९३७ का पत्र—'इस अशुद्धि के तीन कारण हैं—एक शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न रहना। दूसरा भीमसेन के अधीन शोधने का होना और मेरा न देखना, न प्रूफ शोधना। तीसरा छापेखाने में उस समय कोई भी कम्पोजीटर बुद्धिमान् न होना, लैम्पों की न्यूनता होनी। ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २२१ द्वि० सं०।

२. निरुक्त ७। १५॥ ३. निरुक्त २। १२ में।

४. निरुक्तशास्त्र अर्थनिर्वचन विधायक है, शब्द निर्वचन विधायक नहीं; यह हम पूर्व भी लिख चुके हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के तीसरे अङ्क के ६२ पृष्ठ की ५ पंक्ति[1] से देख लेना चाहिये। निरुक्तकार—'यो: देव: सा देवता०'[2] इत्यादि जो पाँच अर्थ[3] लेते हैं, उनको पण्डितजी ठीक-ठीक नहीं समझे कि निरुक्तकार कितने अर्थ लेते हैं। इसमें पण्डितजी की परीक्षा हुई कि वे निरुक्तकार का अभिप्राय ठीक नहीं जानते हैं।

पं० महेश० — इसी प्रकार स्वामीजी 'ऋत्विजम्' 'होतारम्' और 'रत्नधातमम्' शब्दों के कई-कई अर्थ अद्भुत रीति से करते हैं परन्तु क्योंकि उनकी भूल 'यज्ञस्य,' 'देवं' शब्दों से सिद्ध कर चुका हूं। इसलिए विशेष लिखना वृथा है। स्वामीजी 'ऋत्विजम्' का अर्थ करते हैं कि जिसकी सब ऋतुओं में पूजा की जाय परन्तु सबके प्रामाणिक अर्थ इस शब्द के चढ़ाने वाले अर्थात् भेंट करने वाले के हैं न कि जिसको भेंट चढ़ाई जाय। यह बात भी निरुक्त की साक्षी से सिद्ध है कि जिस का स्वामीजी भी प्रमाण मानते हैं।

स्वामीजी—अब पण्डितजी 'ऋत्विज्' शब्द पर लेख करते हैं, सो भी ठीक-ठीक नहीं वे समझे।

'कृल्ल्युटो बहुलम्'[4] इस वार्त्तिक का अर्थ भी नहीं समझे, क्योंकि इस वार्त्तिक में कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्म में भी उन शब्दों में माने जाते हैं जोकि वेदादि सत्य शास्त्रों में प्रयुक्त हों। इसलिए इस वेदभाष्य में जो इसका अर्थ लिखा गया है सो व्याकरण से सिद्ध है परन्तु पण्डिजी 'ऋत्विज्' शब्द का अर्थ नहीं समझे।

पं० महेश०—स्वामीजी 'होतारं' शब्द के जो कई अर्थ करते हैं, उनमें से एक 'आदातारं' अर्थात् ग्रहण करने वाले के हैं, यह भिन्न पद है कि जिनसे यह अर्थ लिये जाते हैं। 'होतारं' जो 'हु' से बनता है, जिसके अर्थ अगले नियम धातुपाठ के से 'अदन' होते हैं और इस ग्रन्थ को स्वामीजी मानते हैं। जैसे—'हु दानादनयोरादाने चेत्यके।' 'हु' धातु के अर्थ दान, अदन और किसी के मत में आदान अर्थात् ग्रहण करना, अदन का अर्थ ग्रहण वा आदान का अर्थ ग्रहण करना है। वेदान्तदर्शन का एक सूत्र है—'अत्ता चराचरग्रहणात्।'[5]

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि अदन का अर्थ ग्रहण करना है और फिर धातुपाठ के उसी नियम से सिद्ध होता है कि अदन शब्द जो उसमें आया है, उसके अर्थ आदान के नहीं हो सकते, किन्तु उसके अर्थ कुछ और ही हैं, नहीं तो उक्त नियम के अनुसार 'आदाने चेत्यके' कैसे बन सकता। किसी के मत में 'हु' धातु का अर्थ भी आदान होता है, इससे मालूम हो गया कि धातुपाठकार ने अदन—आदान अर्थ में लाने का कभी ख्याल भी नहीं किया, अर्थात् उस अर्थ में कि जिसमें स्वामीजी ने लिया है।

इस सूत्र में कदाचित् स्वामीजी इस बात को सिद्ध कर सकें कि अदन—आदान के अर्थ में आता है तो यह वेदान्तदर्शन का सूत्र ही हो, यह माना, फिर भी वह धातुपाठ के नियम की वृत्ति में नहीं

---

१. रा. ला. क. ट्र. संस्क० पृष्ठ ७० पं. १६ से। २. निरुक्त ७। १४॥

३. देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। निरुक्त ७। १४ में चार अर्थ हैं। यहाँ भी ऋषि दयानन्द ये देव के अर्थ निर्वचन हैं यह स्पष्ट कहते हैं।

४. अष्टा० ३। ३। ११३ के भाष्य में। ५. वेदान्त १। २। ९॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लग सकता तथा पण्डितजी के प्रमाण की पुष्टि कभी नहीं कर सकता। अब इसलिये इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदान्तसूत्र भी जिसको कि स्वामीजी मानते हैं, अदन को आदान अर्थ में सिद्ध नहीं कर सकता है, यह तमाशे की बात है कि स्वामीजी ने 'हु' धातु से अर्थ लेने की अनेक युक्तियाँ घूस-घूम कीं, परन्तु न मालूम स्वामीजी 'होतारम्' शब्द का अर्थ ग्रहण करने वा लेने में ऐसे अधीर क्यों हो गये। निस्सन्देह ग्रहण करने का जो गुण है सो ईश्वर में कभी नहीं लग सकता।

अब मैं स्वामीजी के एक ईश्वर प्रतिपादन विषय की परीक्षा कर चुका कि जिसको पढ़ने वाले समझ लेंगे।

स्वामीजी—अब 'होता' शब्द पर पण्डितजी के लेख की परीक्षा करता हूं। पण्डितजी को यह शङ्का हुई है कि अदन का अर्थ जब ग्रहण लेंगे, तब आदान व्यर्थ हो जाएगा परन्तु इसमें यह बात समझी जाय कि जब होता शब्द परमेश्वर का विशेषण है तब क्या किसी मनुष्य को शङ्का न होगी कि परमेश्वर भी अत्ता होने वाला होने से जगत् का **'भक्षणकारक'** होगा। इस की निवृत्ति के लिये आदान का अर्थ धारण किया है। जो इसके तीन अर्थ हैं उनमें से प्रथम अर्थ को लेकर होता शब्द के अर्थ ईश्वर को जगत् का भक्षण करने वाला कोई मनुष्य न माने, क्योंकि ईश्वर में यह अर्थ नहीं घट सकता। जो निराकार और सर्वव्यापक है, वह भक्षणादि कैसे कर सकता है। हाँ, धारण शक्ति से व्यापक होके ग्रहण अर्थात् धारण तो कर रहा है। इसलिए इस शङ्का का निवारण इस अर्थ के बिना नहीं हो सकता।

और जो पण्डितजी ने लिखा कि धातुपाठ के कर्त्ता का यह अभिप्राय नहीं है, सो भी पण्डितजी की समझ उलटी है, क्योंकि जब 'हु' धातु का केवल ईश्वरार्थ के साथ ही प्रयोग हो और अन्यत्र न हो, तब यह दोष हो सकता है, परन्तु **'देवदत्तो भोजनं जुहोत्यत्तीत्यर्थः'** ऐसे वाक्य में 'अदनशब्द' भक्षण के अर्थ में हो आता है। इस अभिप्राय से पाणिनिमुनि ने 'हु' धातु तीन अर्थों में लिखा है। 'आदाने चेत्यके' इसके कहने से स्पष्ट मालूम होता है कि धातुपाठकार के मत में 'हु' धातु दान और अदन इन दोनों अर्थों में है और अदन अर्थ से भक्षण तथा आदान दोनों के लिये जावेंगे, परन्तु कोई आचार्य आदान को पृथक् मानते हैं। धातुपाठकार नहीं। इसीलिये अर्थ का पृथक् ग्रहण किया है। इससे जान लो धातुपाठकार का यह ध्यान होता तो स्वयं दान और अदन में आदान का पाठ क्यों नहीं कर लेते। इससे धातुपाठ को वृत्ति[1] में ठीक-ठीक मेरा अभिप्राय मिलता और मेरे ही अर्थ की पुष्टि करता है, पण्डितजी की नहीं।

इसी प्रकार वेदान्त का सूत्र भी मेरे अर्थ की पुष्टि करता है। पण्डितजी की कुछ भी नहीं, क्योंकि 'अत्ता' शब्द का ग्रहण करने वाले के अर्थ में वेदान्त सूत्रकार का अभिप्राय है। **'आदान'** शब्द के अर्थ के लिये नहीं, क्योंकि 'आदान' शब्द तो स्वयं ग्रहण करने अर्थ में है। इसलिये इस सूत्र आदि प्रमाणों के बिना 'अत्ता' शब्द को ग्रहणार्थ में कोई कभी नहीं ला सकता। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पण्डितजी अपनी निर्मूल बात को समूल करने के लिये बहुत-से यत्न करते हैं, परन्तु क्या झूठा सच्चा और सच्चा झूठा कभी हो सकता है?

---

१. प्रतीत होता है ऋषि दयानन्द अर्थनिर्देश को ही वृत्ति मानते हैं, और यह अर्थनिर्देश धातुपाठकार पाणिनि का है यह स्वीकार करते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतने ही लेख से पण्डितजी की विद्या की परीक्षा विद्वान् लोग कर लेवें, और पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नजी की संस्कृत में विद्वत्ता कितनी है इसको समझ लेवें कि इन्होंने क्या केवल विद्याहीन पौराणिक लोगों का वेदार्थविरुद्ध टीका और वैसे ही अँग्रेज़ी में जो वेदों पर मूलार्थ विरुद्ध उलटे तरजुमे हैं, उनके सिवाय ब्रह्माजी से लेके जैमिनि मुनि पर्य्यन्त के किये वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों को कुछ भी कभी देखा वा समझा है। नहीं तो ऐसी व्यर्थ कल्पना क्यों करते। हाँ मैं यह कहता हूं कि—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किराती करिकुम्भजाता मुक्ता परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः॥[1]

'चोर कोटपाल को दण्डे' अर्थात् जो सच्चे को झूठा दोष लगाते हैं, वे ऐसे दृष्टान्त के योग्य होते हैं कि जो जिसके उत्तम गुण नहीं जानता वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे जङ्गली मनुष्य गजमुक्ताओं को हाथ में लेकर उनको छोड़के घुँघची का हार बनाकर गले में पहन कर फूला-फूला फिरे, वैसे जिन्होंने मेरे बनाये भाष्य पर विरुद्ध बात लिखी है। क्या इस पत्र को जो-जो बुद्धिमान् लोग देखेंगे वे जैसी उनकी पण्डिताई की खण्डबण्ड दशा को न जान लेंगे।

परन्तु मैं यह प्रसिद्ध विज्ञापन देता हूं कि ग्रिफ़िथ साहब आदि अंग्रेज, पं० गुरुप्रसाद और महेशचन्द्र न्यायरत्नजी और मैं कभी सम्मुख बैठकर वेदविषय में वार्तालाप करें, तब सबको विदित हो जावे कि विरुद्धवादियों को वेद के एक मूल मन्त्र का भी अर्थ ठीक-ठीक नहीं आता। यह बात सब को विदित हो जावे मैं चाहता हूं कि ये लोग मेरे पास आवें वा मुझको अपने पास बुलावें तो ठीक-ठीक विद्या और अविद्या का निश्चय हो जावे कि कौन पुरुष वेदों को यथार्थ जानता है, और कौन नहीं। क्योंकि—'विद्यादम्भः क्षणस्थायी।'[2] सब का दम्भ कुछ दिन चलता जाता, परन्तु विद्या का दम्भ क्षणमात्र में छूट जाता है॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतशङ्कासमाधानयुक्तपत्रं पूर्तिमगात्॥

संवत् १९३४, कार्त्तिक शुक्ला २॥

---

१. यह श्लोक चाणक्यनीति का है।   २. सुभाषितसंग्रह।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद (काशी) के प्रश्नों के ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदत्त उत्तर

प्रथम पत्र[1]

॥ ओम् ॥

सं० १९३७ चैत्र सुदी १२ गुरुवार।

राजा शिवप्रसाद जी आनन्दित रहो।

आप का चैत्र शुक्ल ११ बुधवार का लिखा पत्र मेरे पास आया। देखके आप का अभिप्राय विदित हुआ। उस दिन आपसे और मुझसे परस्पर जो-जो बातें हुई थीं वे तब आपको अवकाश कम होने से मैं न पूरी बात कह सका और न आप पूरी बात सुन सके, क्योंकि आप उन साहबों से मिलने को आये थे। आपका वही मुख्य प्रयोजन था। पश्चात् मेरा और आपका कभी समागम न हुआ जो कि मेरी आप की बातें उस विषय में परस्पर होतीं। अब मैं आठ दस दिनों में पश्चिम को जाने वाला हूं। इतने समय में जो आप को अवकाश हो सके तो मुझसे मिलिये। फिर भी बात हो सकती है। और मैं भी आप को मिलता, परन्तु अब मुझको अवकाश कुछ भी नहीं है इससे मैं आप से नहीं मिल सकूंगा, क्योंकि जैसा सम्मुख में परस्पर बातें होकर शीघ्र सिद्धान्त हो सकता है, वैसा लेख से नहीं, इसमें बहुत काल की अपेक्षा है।

आप का प्रश्न	मेरा उत्तर
१. आप का मत क्या है?	१. वैदिक।
२. आप वेद किसको मानते हैं?	२. संहिताओं को।
३. क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते?	३. मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता[2], किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मणग्रन्थों में हैं। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।
४. क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते?	४. नहीं, क्योंकि जो ईश्वरोक्त है वही वेद होता है, जीवोक्त नहीं। जितने ब्राह्मणग्रन्थ हैं वे सब ऋषि-मुनि प्रणीत और संहिता ईश्वर प्रणीत है। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त

---

१. द्रष्टव्य ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १८५ (द्वि० सं०)।

२. अर्थात् ईशोपनिषद् को स्वामीजी महाराज यजुर्वेद के अन्तर्गत मानते हैं। इसी कारण पृष्ठ ३६ पंक्ति २, ३ में जो १० उपनिषदें गिनाई हैं उन में इसका उल्लेख नहीं है। दश संख्या की पूर्ति "मैत्रेयी" को गिनकर की है। यह भी ध्यान रहे कि स्वामी जी महाराज ईशोपनिषद् के माध्यन्दिन संहितानुसारी पाठ को ही वेदान्तर्गत मानते हैं। उसी का उन्होंने भाष्य किया है। काण्व संहिता को उसकी शाखा अर्थात् व्याख्यात्मक पाठ मानते हैं। इसलिए उनके मत में काण्व शाखानुसारी ईशोपनिषद् माध्यन्दिन ईशोपनिषद् की व्याख्या रूप होने से उसकी पृथक् गणना की कोई आवश्यकता नहीं रहती। सम्पा०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य और मत्त के साथ स्वीकार करने योग्य होता है वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता, क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं। परन्तु जो वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सबको माननीय ही हैं।'[1]

अब रह गया यह विचार कि जैसा संहिता ही को ईश्वरोक्त निर्भ्रान्त सत्य वेद मानना होता है वैसा ब्राह्मणग्रन्थों को क्यों नहीं, इसका उत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ६ से लेके ८८ पृष्ठ तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व, और वेदसंज्ञाविचार विषयों को देख लीजिये। वहाँ मैं जिसको जैसा मानता हूँ सब लिख रक्खा है। इसी को विचारपूर्वक देखने से सब निश्चय आपको होगा कि इन विषयों में जैसा मेरा सिद्धान्त है वैसा ही जान लीजियेगा ।।

(दयानन्द सरस्वती) काशी

[द्वितीय पत्र][2]

राजा शिवप्रसाद जी आनन्दित रहो !

आपका पत्र मेरे पास आया। देखकर अभिप्राय जान लिया। इससे मुझको निश्चय हुआ कि आपने वेदों से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त[3] विद्या पुस्तकों के मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है। इसलिए आपको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित नहीं हुआ, जो आप मेरे पास आके समझते तो कुछ समझ सकते। परन्तु जो आपको अपने प्रश्नों के प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा हो तो स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती व बालशास्त्री जी को खड़ा करके सुनियेगा तो भी आप कुछ-कुछ समझ लेंगे, क्योंकि वे आपको समझावेंगे तो कुछ आशा है समझ जाएँगे। भला विचार तो कीजिये कि आप उन पुस्तकों के पढ़े बिना वेद और ब्राह्मण पुस्तकों का कैसा आपस में सम्बन्ध, क्या-क्या उनमें हैं और स्वतःप्रमाण तथा ईश्वरोक्त वेद और परतःप्रमाण और ऋषि-मुनिकृत ब्राह्मण पुस्तक हैं इन हेतुओं से क्या-क्या सिद्धान्त सिद्ध होते और ऐसे हुए बिना क्या-क्या हानि होती है इन विद्यारहस्य की बातों को जाने बिना आप कभी नहीं समझ सकते।

(दयानन्द सरस्वती)

सं० १९३७ मि० वै० व० सप्तमी शनिवार

---

१. प्रश्न और उत्तर का भाग एक दो शब्दों के अन्तर से भ्रमोच्छेदन में भी छपा है। सम्पा०।

२. यह पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १८७ (द्वि० सं०) पर छपा है।

३. इस स्थल पर राजा जी ने अपने निवेदन में एक टिप्पण दिया है। उसमें उन्होंने इस बात पर हास्य किया है कि स्वामीजी महाराज पूर्वमीमांसा पर्यन्त ही पढ़े थे। उन्होंने उत्तरमीमांसा न देखी थी। राजा जी इस पर बड़े प्रसन्न दीखते हैं, परन्तु यह उनका अज्ञान है। उन्हें यह ज्ञान नहीं कि अन्तिम आर्षग्रन्थकार जैमिनि मुनि हुए हैं। उन्हीं का बनाया पूर्वमीमांसा है। ग्रन्थ गणना में चाहे वह पहले गिना जाए वा पीछे, परन्तु रचयिता की दृष्टि से जैमिनि ही अन्तिम हैं। अतएव ऋषि का उपर्युक्त लेख सत्य ही है। सम्पा०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ ओ३म् ॥

भ्रमोच्छेदन

(अविद्वानों का)*

मैंने राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुनके चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व समय में बहुत ऋषि-मुनि विद्वानों के बीच प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे, क्या पुनरपि वे ही महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्योन्य विरुद्ध मत-मतान्तर के इस वर्त्तमान समय में शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं ?

देखना चाहिए कि जैसा उनको मैं सुनता हूं, वैसा ही वे हैं वा नहीं, ऐसी इच्छा थी। यद्यपि मैंने संवत् १९२६ से लेके पाँच बार[1] काशी में जाकर निवास भी किया, परन्तु कभी उनसे ऐसा समागम न हुआ □ कि कुछ वार्तालाप होता। मैंने प्रस्तुत संवत् १९३६ कार्तिक सुदी १४ गुरुवार[2] को काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्दबाग में निवास किया। इतने में मार्गशीर्ष सुदी[3] में अकस्मात् राजा शिवप्रसादजी प्रसिद्ध एस॰ एच॰ कर्नल आॅलकाट साहब और एच॰ पी॰ मेडम ब्लेवेत्सकी को मिलने के लिये आनन्दबाग में आ, उनने मुझसे मिलकर कहा कि मैं उक्त साहब और मेडम से मिला चाहता हूं। सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज राजा साहब की सूचना कराई और जब तक उक्त साहब के साथ राजाजी न उठ गये तब तक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूं[4] उनसे बातें हुई, परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था वैसा उनको न पाया ×। मन में विचारा कि जितनी दूसरे

---

* जो राजा शिवप्रसादजी अपने लेख पर स्वामी विशुद्धानन्दजी का हस्ताक्षर न कराते तो मैं इस पर एक अक्षर भी न लिखता, क्योंकि उनको तो संस्कृतविद्या में शब्दार्थ सम्बन्धों के समझने का सामर्थ्य ही नहीं है। इसलिये जो कुछ इसपर लिखता हूं सो सब स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर ही समझा जावे।

□ एक बार सय्यद अहमदखां सदरसदूरजी की कोठी पर दूर से देखा था, पर वार्तालाप नहीं हुआ था॥

× राजाजी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी॥

[इस ग्रन्थ में चिह्नों वाली टिप्पणी ग्रन्थकार की हैं और संख्या वाली हमारी हैं। यु॰ मी॰]

१. प्रथम वार कार्त्तिक कृष्णा २, ३ सं॰ १९२६, द्वितीय बार चैत्र शुक्ल सं॰ १९२७, तृतीय बार फाल्गुन सं॰ १९२८, चतुर्थ वार ज्येष्ठ सं॰ १९३१, पाँचवीं बार ज्येष्ठ कृष्ण ४ सं १९३३॥

२. ऋ॰ द॰ के पत्रव्यवहार पृष्ठ १९९ द्वि॰ सं॰ (में कार्त्तिक शुक्ला ८ शुक्रवार का एक पत्र है। वह काशी से लिखा गया है। इस विषय में पत्र व्यवहार की टिप्पणी द्रष्टव्य है। सम्भव है कार्त्तिक सुदि १४ से पूर्व १२-१३ दिन के लिए बीच में काशी से बाहर गये हों। अथवा इससे पूर्व आनन्द बाग में न ठहरकर अन्यत्र ठहरे हों और वहां आनन्द बाग में ठहरने की तिथि का उल्लेख हो। है यह बात विचारणीय।

३. यहाँ तिथि की संख्या '३' छूट गई है। देवेन्द्रनाथ विरचित जीवन-चरित में राजा शिवप्रसाद का १६ दिसम्बर को आना लिखा है। उस दिन मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया थी। द्र॰ जी. च. पृष्ठ ५९३ (प्र॰ सं॰)।

४. चैत्र सुदी १२ सं॰ १९३७ का पत्र, यह पूर्व छापा गया है, पाठक उसे देखें (पृ॰ १०२१-२२)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मुख से बात सुनी जाती है, सो सब सच नहीं होती ।

राजाजी लिखते हैं कि—'स्वामी जी की बात सुनकर मैं भ्रम में पड़ गया' ।

यहाँ बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि क्या मेरी बात का सुनना ही राजाजी के बड़े सन्देह में पड़ने का निमित्त है, और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं है?* जब कि उनको सन्देह ही छुड़ाना था तो मेरे पास आके उत्तर सुनके यथाशक्ति सन्देह निवृत्त कर आनन्दित होना योग्य न था ? जैसा कोमल लेख उनके पत्र में है, वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं ×, किन्तु इसमें प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है ।

देखो, मार्गशीर्ष सुदी १४ से लेके वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवार पर्यन्त सवा चार मास[1] उनके मिलने के पश्चात् मैं और वे काशी में निवास करते रहे, क्यों न मिलके सन्देह निवृत्त किये ? जब मेरी यात्रा सुनी, तभी पत्र भेजके प्रत्युत्तर क्यों चाहे ? मेरे चलने के समय प्रश्न करना, मेरे बुलाये पर भी उत्तर सुनने न आना[2], सवाचार महीने पर्यन्त चुप होके बैठे रहना और काशी से चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिए पुस्तक छपवाकर काशी में और जहाँ तहाँ भेजना कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ किन्तु एक राजा शिवप्रसादजी ने किया । ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेंगे, ऐसी इच्छा का विदित कराना आदि हेतुओं से क्या उनकी अयोग्यता की बात नहीं है + । भला ऐसे मनुष्यों से किसी विद्वान् को उचित है कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होवे ?

ऐसे कपट-छल के व्यवहार करनेवाले के साथ व्यवहार न करने में मनुजी की भी साक्षी अनुकूल है—

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति । तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ।। १ ।।[3]

अर्थ—(यः) जो (अधर्मेण) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह से वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे, और उस भाषा के सचझूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त होवे, और कोई प्रतिवादी सत्य कहे उसका निरादर करे, इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल-कपट से ÷ (पृच्छति) पूछता है, (च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि

---

* कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो परन्तु अविद्वान् मनुष्य को विद्या की बातें बिना पढ़ाये कभी नहीं समझा सकता, न वह बिना पढ़े समझ सकता है ।

× हाथी के खाने के दाँत भीतर और दिखाने के बाहर होते हैं ।।

+ जो राजाजी प्रश्नों के उत्तर चाहते तो ऐसी अयोग्य चेष्टा क्यों करते ? जब मैंने उनकी अन्यथा रीति जानी, तभी उनसे पत्र-व्यवहार आगे को न चलाया, क्योंकि उनसे संवाद चलाना व्यर्थ देखा ।।

÷ जिसके आत्मा में और, और जिसके बाहर और होवे वह 'छली' कहाता है ।।

१. यह काल चार मास १३ दिन होता है । देवेन्द्र बाबू विरचित जीवन-चरित के अनुसार बीच में प्रयाग भी गये थे (पृष्ठ ५९७ प्र. सं.) । उसका काल निकाल कर यह समय लिखा गया है ऐसा प्रतीत होता है ।

२. इस विषय में देवेन्द्र बाबू विरचित जीवन-चरित पृष्ठ ६०६ (प्र. सं.) द्रष्टव्य है ।

३. मनु २।१११।। तत्र 'तु' स्थाने 'च' पाठः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है। (वा) अथवा (विद्वेषम्) अत्यन्त विरोध को (अधि गच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखित होते हैं॥ १॥

जब इस वचनानुसार राजाजी को अयोग्य जानकर लिखके उत्तर नहीं दिये□ तो फिर क्या मैं ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूं? हाँ, मैं अपरिचित मनुष्यों के साथ चाहे कोई धर्म से पूछे अथवा अधर्म से, उन सबों के समाधान करने को एक बार तो प्रवृत्त हो ही जाता हूं परन्तु उस समय जिसको अयोग्य समझ लेता हूं, जब तक वह अपनी अयोग्यता को छोड़कर नहीं पूछता और न कहता है, तब तक उससे सत्यासत्यनिर्णय के लिये कभी प्रवृत्त नहीं होता हूं। हां, जो सब विद्वानों को योग्य है वह काम तो करता ही हूं अर्थात् जब-जब अयोग्य पुरुष मुझसे मिलता वा मैं उससे मिलता हूं, तब-तब प्रथम उसकी अयोग्यता के छुड़ाने में प्रयत्न करता हूं। जब वह धर्मात्मता से योग्य होता है तब मैं उसको प्रेम से उपदेश करता हूं। वह भी प्रेम से पूछके निस्सन्देह होकर आनन्दित हो जाता है* ॥

अब जो राजा शिवप्रसादजी ने स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति लिखी, ज्येष्ठ[1] महीने में 'निवेदन पत्र' छपवाके प्रसिद्ध किया है, उसी के उत्तर में यह पुस्तक है। इसमें जहाँ-जहाँ (रा०) चिह्न आवे, वहाँ वहाँ राजा शिवप्रसादजी का और जहाँ जहाँ (स्वा०) आवे, वहाँ वहाँ मेरा लेख जानना चाहिये॥

रा०—जितना महाराजजी के मुखारविन्द से सुना था, बड़े सन्देह का कारण हुआ, निवृत्त्यर्थ पत्र लिखा। महाराजजी ने कृपा करके उत्तर दिया,[2] उसे देख मेरा सन्देह और भी बढ़ा। महाराजजी के लिखे अनुसार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मंगाके पृष्ठ ६ से ८८ तक[3] देखा, विचित्र लीला दिखाई दी। आधे-आधे वचन जो अपने अनुकूल पाये ग्रहण किये हैं, शेषार्द्ध जो प्रतिकूल पाये परित्याग× किये। उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे, उनके अर्थ पलट दिये, मनमाना लगा लिये+ परन्तु आपने याज्ञवल्क्यजी का यह[4] वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ क्यों लिखा?

□ जो जिस बात के समझने और जिस काम के करने में सामर्थ्य नहीं रखता, वह उसका अधिकारी नहीं हो सकता॥

* कोई भी वैद्य जबतक रोगी के आंखों की पीड़ा सोजा और मलीनता दूर नहीं कर देता, तब तक उसको दिखला भी नहीं सकता परन्तु जिसके नेत्र ही फूट गये हैं, उसको कुछ भी दिखलाने का उपाय नहीं है।

× देखिये राजाजी की अद्भुत लीला। मैंने जो वेदार्थ के अनुकूल लिखा है उसको मेरे अनुकूल और जो वेदार्थ प्रकरण के प्रतिकूल का त्याग किया है, उसको मेरे प्रतिकूल समझते हैं। इसीलिये राजाजी विद्यारहस्य को कुछ नहीं समझते हैं क्योंकि उनको भी ऐसा ही करना पड़ता है॥

+ जैसी राजाजी की समझ है, वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं हो सकती क्योंकि जो व्याख्येय शब्दार्थ के विरुद्ध का छोड़ना और अनुकूल का ग्रहण करना सबको योग्य होता है उस-उसको वे उलटा समझते→

१. संवत् १९३७। २. द्र० पूर्वमुद्रित चैत्रसुदी १२ सं. १९३७ का पत्र (पृ० १०२१)।

३. रा. ला. क. ट्र. सं० में पृष्ठ १०—१०१ तक।

४. सम्भवतः यह संकेत 'एवं वा अरेऽस्य……' वचन की ओर है। यह वचन पृष्ठ ११ (रा. ला. क. ट्रस्ट संस्क०) में उद्धृत है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या इसीलिये कि शेषार्द्ध वादी का उपयोगी है ?[1]

स्वा०—क्या मेरी बात ही सन्देह की बढ़ानेहारी है ? उनकी अल्प समझ और आलस्य नहीं है ? और यह भी सच है कि जब-जब अविद्वान् होकर विद्वान् के बनाये ग्रन्थ को देखने लगता है, तब-तब कांच के मन्दिर में प्रविष्ट हुए श्वान के समान भूँस-भूँस[2] सुख के बदले दुख ही पाया करता है।

विदित हो कि जहाँ जितने वाक्य के भाग के लिखने की योग्यता हो, उतना ही लिखना उचित होता है, न अधिक न्यून। जिसलिये यह वेदभाष्य की भूमिका है, इसलिये उस वाक्यसमूह में से जितना वेदों का उपयोगी लिखना उचित था, उतना ही लिखा है। जो इतिहासादि में से जिस किसी की व्याख्या करनी होती, तो वहां उस-उस भाग का लिखना भी योग्य था। प्रकरणविरुद्ध लिखना विद्वानों का काम नहीं।*

सब विद्वान् इस बात को निश्चित जानते हैं कि पदों का पद, वाक्यों का वाक्य, प्रकरणों का प्रकरण और ग्रन्थों का ग्रन्थों ही के साथ सम्बन्ध होता ही है। जब ऐसा है, तब राजाजी को अपनी बात की पुष्टि के लिये सब पद, सब वाक्य, सब प्रकरण और सब ग्रन्थों का प्रमाणार्थ एकत्र लिखना उचित हुआ, क्योंकि यह उन्हीं की प्रतिज्ञा है× कि आधा छोड़ना और आधा लिखना किसी को योग्य नहीं। और जो राजाजी सम्पूर्ण का लिखना उचित समझते हैं, सो यह बात अत्यन्त तुच्छ और असम्भव है। ऐसी बात कोई बालबुद्धि मनुष्य भी नहीं कह सकता। देखिये फिर यही उनकी अविद्वत्ता उलटा उनको उन्हीं मिथ्यादोषों में पकड़कर गिराती रहती है, अर्थात् जो मिथ्या दोष वे मेरे लेख पर देते हैं, उन्हीं में आप डूबे हैं।

यहाँ जो कोई मनुष्य राजाजी से पूछेगा कि—आप जो स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी की बनाई भूमिका में दोष देते हैं, वही आप के **"अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः"**[3] इस लेख में भी आते हैं। इसकी वाक्यावली+ तो ऐसी है—

हैं और फिर कोई उदाहरण भी नहीं लिखते कि इसका अर्थ उलटा वा मनमाना किया। क्या ज्वरयुक्त मनुष्य के लिये कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य का ग्रहण करना वैद्य का दोष है और मैंने तो अपनी समझ के अनुसार जो कुछ लिखा है सो सब शास्त्रानुकूल ही है। उसको उलटा वा मनमाना लगा लेना जो समझते हैं, यह उनकी समझ का दोष है॥

* चेत करना चाहिये यह उल्टी समझ राजाजी की है कि जो अनेक वाक्यों को एक वाक्य समझना॥

× ऐसा असम्भव वचन किसी विद्वान् के मुख से नहीं निकल सकता है, और न हाथ से लिखा जा सकता है॥

+ जैसे कोई प्रमत्त अर्थात् पागल पगड़ी पग पर और जूते सिर पर धरता है, वैसे काम विद्वान् कभी नहीं कर सकता।

१. उक्त वाक्य में इतिहास पुराणादि का उल्लेख होने से।

२. अर्थात् भौंक-भौंकके।

३. मुण्डकोप० १।२।८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीरा पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमाना अपि यन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥'

फिर आपने इस वाक्यावली में से पूर्व के तीन भाग छोड़, चौथे भाग को क्यों लिखा? तब राजा साहब घबरा कर मौन ही साध जायँगे, क्योंकि वे वाक्यावली में से प्रकरणोपयोगी एक ही भाग का लिखना उचित नहीं समझते, चाहे प्रकरणोपयोगी हो वा न हो, किन्तु पूरी वाक्यावली लिखना योग्य समझते हैं÷।

जो ऐसा न समझते तो—**एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।"** इस वाक्यसमुदाय को स्वामीजी ने नहीं लिखा, यह मिथ्या दोष क्यों लगाते। पर विचारे क्या करें, उन्होंने न कभी किसी से वाक्यलक्षण सुना और न पढ़कर जाना है। जो सुना या जाना होता तो **'एवं वा०'** इससे लेके **'निःश्वसितानि'** इस अनेक वाक्य के समुदाय को एक वाक्य क्यों समझते।*

देखिये! यह महाभाष्य में वाक्य का लक्षण लिखा है—**'एकतिङ् वाक्यम्'**। जिसके साथ एक तिङन्त के प्रयोग का सम्बन्ध हो, वह 'वाक्य' कहाता है। जैसे—**'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य साक्षाद्वा परम्परासम्बन्धादेतत्सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्वसितमस्तीति'** एक और **'पूर्वोक्तस्य सकाशादृग्वेदो निःश्वसितोऽस्तीति'** दूसरा वाक्य है। इसी प्रकार इस कण्डिका में २० वाक्य तो पठित हैं और आकांक्षित वाक्य **'त्वं विद्धि'** इत्यादि ऊपर से और चकार से इन्हीं के अविरुद्ध अपठित उपयोगी अनेक अन्य वाक्य भी अन्वित होते हैं।

क्या जिनको वाक्य का बोध न हो, उनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध, जिनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध न हो, उनको प्रकरणार्थ और ग्रन्थ के पूर्व पदार्थ का बोध होने की आशा कभी हो सकती है?× इसीलिये जो राजाजी को दूसरे पत्र[४] में मैंने लिखा है, सो बहुत ठीक है कि इससे मुझको निश्चित हुआ कि राजाजी ने वेदों से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त विद्यापुस्तकों में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है+ इसलिये उनको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित न हुआ।

÷ मेरी प्रतिज्ञा तो यह है कि जहां जितना लिखना योग्य हो, वहां उतना ही लिखना ॥

* जो राजाजी विद्या में वास कर अविद्या से पृथक् होते, तो उनके मुख से ऐसी असम्भव बात कभी न निकलती ॥

× राजाजी ने समझा होगा कि मैं बड़ा बुद्धिमान हूं। हां 'अन्धानां मध्ये काणो राजा' यहां इस न्याय के तुल्य तो चाहे कोई समझ लेवे ॥

+ ईश्वरोक्त चार वेद स्वतःप्रमाण और ब्रह्मा से लेके जैमिनि पर्यन्त ऋषि-मुनि और ऐतरेयब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त ग्रन्थों की गणना से कोई भी आर्ष पुस्तक पढ़ना बाकी नहीं रहता कि जिसका परतः→

१. मुण्डकोप० १।२।८॥ तत्र 'परियन्ति' इति पाठः।

२. बृ० उप० ४।५।११ काण्वपाठ। माध्यन्दिन पाठ में 'इष्टं' से 'भूतानि' पर्यन्त अंश नहीं हैं। द्र०शत० १४।५।४।१०॥

३. महाभाष्य २।१।१॥

४. यह पत्र वैशाख बदी ७ सं० १९३७ को लिखा गया था। इसे भी पूर्वत्र हमने छापा है(पृ० १०२२)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या अब जिसको थोड़ी-सी भी बुद्धि होगी, वह राजासाहब को शास्त्रों के तात्पर्यार्थ ज्ञान-शून्य जानने में कुछ भी शङ्का रख सकता है ? यहाँ 'चोर कोटपाल को दण्डे' यह कहानी चरितार्थ होती है कि जो "अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः"[1] के समान स्वयं राजाजी और उनके विचारानुकूल चलने वाले होकर भ्रम से इसके अर्थ को मेरी बनाई भूमिका और मेरे उपदेश को माननेहारे पर झोंक देते हैं। क्या यह उलट पलट नहीं है।

इससे मैं सब आर्यसज्जनों को विदित करता हूं कि जो अपना कल्याण चाहें, वे उनके व्यर्थ वाक्याडम्बर जाल में बद्ध हो अपने मनुष्य जन्म के धर्मार्थ-काम-मोक्ष फलों से रहित होकर दुःखदुर्गन्ध-सागर रूप घोर नरक में गिरकर चिरकाल दारुण दुःख भोग न करें और सर्वानन्दप्रद वेद के सत्यार्थ प्रकाश में स्थिर होकर सर्वानन्दों का भोग न छोड़ बैठें।

अब जो स्वामी विशुद्धानन्दजी की पक्षपातरहित विद्वत्ता की परीक्षा बाकी है, सो करनी चाहिये—

रा०—श्रीमत्पण्डितवर×बालशास्त्रीजी तो बाहर गये हैं, परमपूजनीय जगद्गुरु+ श्री स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंचा, वे पत्र और उत्तरों को देखकर बहुत हँसे÷ और पिछले उत्तर पर जिसमें इन दोनों महात्माओं का नाम है कुछ लिखवा भी दिया। स्वामी विशुद्धानन्दजी का लिखवाया राजा साहब के प्रश्नों का उत्तर दयानन्द से नहीं बना इति।

स्वा०—जिनका पक्षी पक्षपातान्धकार से विचारशून्य हो, उनके साक्षी तत्सदृश क्यों न हों ? क्या यथाबुद्धि कुछ विद्वान् होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी को योग्य था कि ऐसे अशास्त्रवित् अव्युत्पन्न व्यर्थ वैतण्डिक मनुष्य के अत्यन्त अयुक्त लेख पर बिना सोचे समझे सम्मति लिख देवें, और इससे 'सजातीय प्रवाहपतन' न्याय करके यह भी विदित हुआ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी राजाजी के तुल्यत्व की उपमा के योग्य हैं। मैं स्वामी विशुद्धानन्दजी को चिताता हूं कि आगे कभी ऐसा निर्बुद्धिता का काम न करें □ भला मैंने तो राजाजी को संस्कृतविद्या में अयोग्य जानकर लिख दिया है कि आपने जिसलिए वेदादिविद्या के पुस्तकों में से एक का भी अभ्यास नहीं किया है, जो आप को उत्तर ग्रहण की इच्छा हो तो मेरे पास आके सुन समझकर अपनी बुद्धि के योग्य ग्रहण करो। आप दूर से वेदादि-विषयक प्रश्न करने और उत्तर समझने योग्य नहीं हो सकते। इसीलिए उनको लिखके यथोचित उत्तर न भेजे और न भेजूंगा।

प्रमाण ग्रहण न हो सके, क्योंकि ग्रन्थकारों में जैमिनि सबके पश्चात् हुए हैं और पुस्तकों में [आर्ष ग्रन्थों में] पूर्वमीमांसा सब से पीछे बनाया है, इसलिये जो राजाजी ने नोट में "स्वामीजी ने पूर्वमीमांसा पर्यन्त पढ़ा होगा". लिखा है, सो भ्रम से ही है ॥

× काशी के पण्डितों में तो बालशास्त्रीजी किसी प्रकार श्रेष्ठ हो सकते हैं, भूगोलस्थ पण्डितों में नहीं ॥

+ जगत् में जो-जो उनके शिष्यवर्ग में हैं, उन-उनके परमपूजनीय और गुरु होंगे, सबके क्योंकर हो सकते हैं ?

÷ जो कुछ भी पत्रों के अभिप्राय को समझते, तो हास करके अयोग्य पत्र पर सम्मति क्यों लिख बैठते ?

□ जो कोई बिना विचारे कर बैठता है, उसको बुद्धिमान् प्राज्ञ नहीं कहते ॥

१. मुण्डकोप० १।२।८ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बात भी मेरे दूसरे पत्र से प्रसिद्ध है कि जो वे वेदादिशास्त्रों में कुछ भी विद्वान् होते, तो मेरी बनाई भूमिका का कुछ तो अर्थ समझ लेते* न ऐसी किसी की योग्यता है कि अन्धे को दिखला सके। यह भी मैं ठीक जानता हूं कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी वेदादि शास्त्रों में विद्वान् नहीं, किन्तु नवीन टीकानुसार दश उपनिषद्, शारीरक और पूर्वमीमांसा सूत्र और प्राचीन आर्षग्रंथों से विरुद्ध कपोलकल्पित तर्कसंग्रहादि ग्रंथों का अभ्यास तो किया है, परन्तु वे भी नशा से× विस्मृत हो गये होंगे, तथापि उनका संस्कारमात्र तो ज्ञान रहा ही होगा। इसलिए वे संस्कृत पदवाक्य प्रकरणार्थों को यथाशक्ति जान सकते हैं परन्तु न जाने उन्होंने राजाजी के अयोग्य लेख पर क्योंकर साक्षी लिखी।

अस्तु, जो किया सो किया, अब आगे को वे वा बालशास्त्रीजी जिसके उत्तर वा प्रश्नों पर हस्ताक्षर करके मेरे पास अपनी ओर से भेज दिया करें और यह भी समझ रक्खें कि जो प्रश्नोत्तर उनके हस्ताक्षरयुक्त आयेंगे, वे उन्हीं की ओर से समझे जावेंगे, जैसा कि यह निवेदनपत्र का लेख स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर से समझा गया है। इसीलिए ये तीनों स्वामी सेवक मिलकर प्रश्नों का विचार शुद्ध लिखकर मुन्शी बख्तावरसिंह जी के पास भेज दिया करें। मुन्शी जी आपकी ओर से यह लेख है वा नहीं, इस निश्चय के लिए पत्र द्वारा आप से सम्मतिपत्र मंगवा के मेरे पास भेज दिया करेंगे और मेरा लेख भी मेरे हस्ताक्षर सहित अपने[1] हस्ताक्षर करके पत्रसहित उनके[2] पास भेज दिया करेंगे।

वे लोग राजाजी आदि को समझाया करें और वे आपसे मेरे लेखाभिप्राय को समझ लिया करें। जो इसपर भी आप लोग परस्पर विचार करने में प्रवृत्त न होंगे, तो क्या सब सज्जन लोग आप लोगों को भी अयोग्य न समझ लेंगे? क्योंकि जो स्वपक्ष के स्थापन और परपक्ष के खंडन में प्रवृत्त न होकर केवल विरोध ही मानते रहें, वे अयोग्य कहाते हैं। इसलिए मैं सबको सूचना करता हूं कि जो मेरे पक्ष से विरुद्ध अपना पक्ष जानते हों, तो प्रसिद्ध होकर शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते? और टट्टी की आड़ में स्थित होकर ईंट पत्थर फेंकने वाले के तुल्य कर्म करना क्यों नहीं छोड़ते?

और जो विरुद्ध पक्ष नहीं जानते हों तो अपने पक्ष को छोड़ मेरे पक्ष में प्रवृत्त होकर प्रीति से इसी पक्ष का प्रचार करने में उद्यत क्यों नहीं होते?+ जो ऐसा नहीं करके दूर ही दूर रहकर झूठे गाल बजाने और जैसे मेरे काशी से चले आने पर राजाजी के पत्र पर व्यर्थ हस्ताक्षर करने से उनने अपनी

---

* यह तो सच है कि जो मनुष्य योग्य होकर समझना चाहता है वह समझ भी सकता है।

× सुना है कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भांग और अफीम का सेवन करते हैं। जो ऐसा है तो अवश्य उनको विद्या का स्मरण न रहा होगा। जो मादक द्रव्य होते हैं, वे सब बुद्धिनाशक होते हैं।[3] इससे सबको योग्य है कि उनका सेवन कभी न करें॥

+ उनको अवश्य योग्य है कि सत्य के आचरण और असत्य के छोड़ने में अति दृढ़ोत्साहयुक्त होके निन्दा-स्तुति हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में शोक और हर्ष कभी न करे॥

१. अर्थात् बख्तावर सिंह के।

२. पं० बालशास्त्री और स्वा० विशुद्धानन्द आदि के पास।

३. बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अयोग्यता प्रसिद्ध कराई, वैसे जो वे मुझ से शास्त्रार्थ करेंगे तो प्रशंसित भी हो सकते हैं। ऐसा किये बिना क्या वे लोग बुद्धिमान्, धार्मिक विद्वानों के सामने अमाननीय और अप्रतिष्ठित न होंगे ?

जो इसमें एक बात न्यून रही है कि बालशास्त्री जी भी इसपर अपनी सम्मति लिखते तो उनको भी राजा शिवप्रसाद और स्वामी विशुद्धानन्दजी के साथ दक्षिणा मिल जाती। कहिये राजाजी ! आप अपनी रक्षा के लिए स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंचकर पत्र दिखा सम्मति लिखा पुस्तक छपाकर इधर उधर भेजने से भी न बच सके, आपके जाट, खाट और कोल्हू लौटकर आपही के शिर पर चढ़े वा नहीं ? अब इस बोझ के उतारने के लिए आपको योग्य है कि बालशास्त्रीजी के चरणों में भी गिरकर बचने का उपाय कीजिए और आप अपने विजय के लिए स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्री जी को प्राड्विवाक् अर्थात् बारिस्टर करना भी मत छोड़िए।

अथवा उत्तम तो यह है कि वे दोनों आपको ढाल बनाकर न लड़ें, किन्तु सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें। इसी में उनकी शोभा है, अन्यथा नहीं, परन्तु मैं आप और उनको निश्चित कहता हूं कि सब मिलकर कितना ही करो, जब तक कोई मनुष्य झूठ छोड़, सत्यमत का ग्रहण नहीं करता, तब तक अपना और दूसरे का विजय कभी नहीं कर सकता और न करा सकता है। क्या दूसरे की वृथा प्रशंसा से हर्षित होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी का बहुत हंसना बालकों का खेल नहीं है ? और जो कोई अपनी योग्यता के सदृश वर्त्तमान न करे, वह संशय में मग्न होकर विनष्ट क्योंकर न होवे ?

अब मैं सूचना करता हूं कि बुद्धिमान् आर्यलोग पक्षी राजाजी और साक्षी विशुद्धानन्दजी के हास्यास्पद लेख को देख उसपर विश्वास कर इस **'क्वास्ताः क्व निपतिताः'**[1] महाभाष्योक्त वचनार्थ के सदृश होकर प्रेमफल आनन्द से छूटकर दुर्गन्ध गढ़े और दुःखसागर में जा न गिरें।

रा०—हम केवल वेद की संहितामात्र मानते हैं। एक ईशावास्य उपनिषद् संहिता है और सब उपनिषद् ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते, सिवाय संहिता के हम और कुछ नहीं मानते हैं।

स्वा०—जैसा यह राजाजी का लेख है, वैसा मैंने नहीं कहा था किन्तु जैसा नीचे लिखा है वैसा कहा गया था। तद्यथा—

"रा०—आपका मत क्या है ?

स्वा०- वैदिक।

रा०—आप वेद किसको मानते हैं ?

स्वा०—संहिताओं को।

रा०—क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते ?

स्वा० - मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता[2] किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।

---

१. महाभाष्य १।२।१

२. यह लेख माध्यन्दिन ईशोपनिषद् के लिए है। काण्व पाठानुसारी ईशोपनिषद् को स्वामीजी शाखान्तर्गत मानते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रा०—क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते ?

स्वा० —नहीं, क्योंकि जो ईश्वरोक्त है, वही वेद होता है, जीवोक्त को वेद नहीं कहते। जितने ब्राह्मणग्रन्थ हैं वे सब ऋषि-मुनिप्रणीत और संहिता ईश्वरप्रणीत हैं। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्ति सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है, वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं परन्तु जो-जो वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वतः प्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण है इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सबको माननीय ही हैं।"

यह मेरे पत्र[1] का लेख उनके भ्रमजाल-निवारण का हेतु विद्यमान ही था, परन्तु मेरा लेख क्या कर सकता है, जो राजाजी मेरे लेख को समझने की विद्या ही नहीं रखते तो क्या इसमें राजाजी का दोष नहीं है ?

रा०--वादी कहता है* जो संहिता ईश्वर प्रणीत है तो ब्राह्मण भी ईश्वर प्रणीत हैं।

स्वा०—देखिए राजाजी की मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात को, जैसे कोई कहे कि जो पृथिवी और सूर्य ईश्वर के बनाये हैं तो घड़ा और दीप भी ईश्वर ने रचे हैं।

रा०--और जो ब्राह्मणग्रन्थ सब ऋषि-मुनिप्रणीत हैं, तो संहिता भी ऋषि-मुनिप्रणीत हैं।

स्वा०—यह भी ऐसी बात है कि जो कोई कहे कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत है, तो ऋग्यजुः साम और अथर्व चारों वेद भी उन्हीं के प्रणीत हैं।

रा०—वादी को आप अपना प्रतिध्वनि समझिए ×।

स्वा०—देखिये, राजाजी की अविद्या के प्रकाश को। क्या प्रतिवादी का प्रतिध्वनि वादी कभी हो सकता है? क्योंकि जैसा शब्द और उसमें जैसे पद अक्षर और मात्रा होती हैं, वैसा[2] ही प्रतिध्वनि सुनने में आता[2] है, विपरीत नहीं। कोई बालबुद्धि भी नहीं कह सकता कि वादी अपने मुख से प्रतिवादी ही के शब्दों को निकाले, विरुद्ध नहीं। जब तक प्रतिवादी के पक्ष से विरुद्ध पक्ष प्रतिपादन नहीं करता, तबतक वह उसका वादी कभी नहीं हो सकता। जैसे कुआँ में से प्रतिध्वनि सुना जाता है, क्या वह वक्ता के शब्द से विरुद्ध होता है ?

---

* क्या विद्या और सुशिक्षारहित मनुष्य प्रश्न और उत्तर करना कभी जान सकता है ? जब राजाजी वाद के लक्षणयुक्त ही नहीं हैं, तो वादी क्यों कर बन सकते हैं ?

× जो मैं राजाजी के सदृश होता तो वादी को अपना प्रतिध्वनि समझता, क्योंकि प्रतिध्वनि ध्वनि से विरुद्ध कभी नहीं हो सकता और वादी प्रतिवादी से अविरुद्ध कभी नहीं हो सकता॥

१. पूर्व मुद्रित पत्र पृ० १०२१-२२ पत्र में तथा इस लेख में नाममात्र का भेद है।

२. सप्तम संस्करण के पश्चात् ध्वनि को स्त्रीलिङ्ग मानकर 'वैसी, आती, सुनी जाती, होती' ऐसे परिवर्तन किये गये हैं। ग्रंथकार भाषा में भी संस्कृत शब्दों के लिङ्ग संस्कृत के समान ही प्रयुक्त करते हैं, अतः ध्वनि के पुंलिंग होने से पूर्व संस्करणों के पाठ ही ठीक हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रा०—आपने लिखा वेद संहिता स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। वादी कहता है कि जो ऐसा है तो ब्राह्मण ही स्वतःप्रमाण हैं, आपका संहिता भाग परतःप्रमाण होगा।

स्वा०—क्या यह उपहास की बात नहीं है। जैसे कोई कहे कि सूर्य्य और दीप स्वतः प्रकाशमान हैं तो घटपटादि भी स्वतः प्रकाशमान हैं।

रा०—आप ने लिखा कि मेरी बनाई हुई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नव ९ पृष्ठ से लेके ८८ अठासी[1] के पृष्ठ तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व और वेदसंज्ञा विचार विषयों को देख लीजिए, निश्चय होगा। सो महाराज ! निश्चय के पलटे में तो और भी भ्रांति में पड़ गया। मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिए कि आप ने संहिता को माननीय मानकर ब्राह्मण का क्यों परित्याग किया ? और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान, जो आपने वेद के अनुकूल लिखा अपने अनुकूल और जो ब्राह्मण के प्रतिकूल लिखा, उसे संहिता के भी प्रतिकूल समझता है।

स्वा०—यह सच है कि जो अविद्वान होकर विद्वत्ता का अभिमान करे, वह अपनी अयोग्यता से सुख छोड़कर दुःख क्यों न पावे। मैंने वेदों को स्वतःप्रमाण मानने और ब्राह्मणों को परतः-प्रमाण मानने में कारण इस भ्रमोछेदन[2] के इसी पृष्ठ में आगे लिख दिये हैं। क्या उन्हें बाँचते समय अकस्मात् बुद्धि और आंख अन्धकारावृत हो गये थे ?

'परन्तु जो-जो वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूँ। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सबको माननीय हैं।'[3]

रा०—'तस्माद्यज्ञात्...अजायत' अर्थात् उस यज्ञ से वेद उत्पन्न हुए। पृष्ठ १० पंक्ति २९[4] में आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि यज्ञ और विष्णु परमेश्वर।

स्वा०—जो राजाजी कुछ भी संस्कृत पढ़े होते तो सन्निपाती के सदृश चेष्टा करके भ्रमजाल में न पड़ते। क्योंकि 'तच्छब्द' सर्वत्र पूर्वपरामर्शक होता है। इसी से मैंने 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' यहां से

---

१. रा. ल. क. द्रृ. सं० में पृष्ठ १०-१०१ तक।

२. प्रथम सं० में 'इसी पृष्ठ' के आगे '१४' संख्या छपी है वह मुद्रण काल में डाली गई है। कारण भ्रमोच्छेदन ग्रन्थ के ही पृष्ठ के बाँचते समय 'अन्धकारावृत हो गये थे' यह अगला भूतकाल का वर्णन सम्भव नहीं। शताब्दी सं०में १४ के स्थान पर २१ पाठ बनाया है और टिप्पणी में 'यह निर्देश हस्तलिखित कापी का है' ऐसा लिखा है। यह भी पूर्ववत् असम्भव है। वस्तुतः यहाँ भ्रमोच्छेदन शब्द से यह पुस्तक अभिप्रेत नहीं है अपितु ऋषि का वह पत्र है जिसकी चर्चा चल रही है वह राजाजी के पत्र के उत्तर में उनके भ्रम का उच्छेदन करने वाला होने से भ्रमोच्छेदन नाम से यहां लिखा गया है उसमें आगे ये प्रकरण हैं। उसके पढ़ते समय 'अंधकारावृत हो गये थे' यह भूतकाल का निर्देश ठीक बनता है। अगला पाठ उक्त पत्र का ही यहां लिखा है इससे भी स्पष्ट है कि उक्त 'भ्रमोच्छेदन' शब्द से इस पुस्तक का ग्रहण इष्ट नहीं है अपितु उक्त पत्र की ओर ही संकेत है।

३. यह पूर्व मुद्रित प्रथम पत्र के अन्त का भाग यहाँ उद्धृत है।

४. रा. ल. क. द्रृ. सं० पृ० १०, पं० १५। मूल पाठ में पृष्ठ संख्या ९ होनी चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेके 'ग्राम्याश्च' यहाँ तक जो छह मन्त्रों[1] से प्रतिपादित निमित्तकारण परमात्मा पूर्वोक्त है, उसका आमर्ष अर्थात् अनुकर्षण करके अन्वित किया है।

देखो इसी के आगे भूमिका के पृष्ठ ६ पंक्ति ११-[2] "(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्।"

यह 'सर्वहुत' और 'यज्ञ' विशेषण पूर्णपुरुष के हैं। (तस्मात्) अर्थात् जो सबका पूज्य, सर्वोपास्य, सर्वशक्तिमान् पुरुष परमात्मा है, उससे चारों वेद प्रकाशित हुए हैं। इत्यादि से यहाँ वेदों ही के प्रमाण से चार वेदों को स्वतःप्रमाण से सिद्ध किया है। यद्यपि यहाँ यज्ञ शब्द भी पूर्ण परमात्मा का विशेषण है, तथापि जैसा मैंने अर्थ किया है, वैसा ब्राह्मण में भी है। इस साक्षी के लिए 'यज्ञो वै विष्णुः'[3] यह वचन लिखा है और जो ब्राह्मण में मूल से विरुद्ध अर्थ होता तो मैं उसका वचन साक्षी के अर्थ कभी न लिखता।

जो इस प्रकार से पद, वाक्य, प्रकरण और ग्रन्थ की साक्षी, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ को पक्षी राजाजी और स्वामी विशुद्धानन्दजी जानते वा किसी पूर्ण विद्वान् की सेवा करके वाक्य और प्रकरण के शब्दार्थ सम्बन्धों के जानने में तन, मन धन लगाके अत्यन्त पुरुषार्थ से बढ़ते तो यथावत् क्यों न जान लेते*।

रा०—पृष्ठों को कुछ उलट-पलटकिया तो विचित्र लीला दिखाई देती है। आप पृष्ठ ६१ पंक्ति ३ में लिखते हैं[4]—कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है। पृष्ठ ५२ में लिखते हैं प्रमाण ८ हैं[5] और फिर ५३ में लिखते हैं[6] चौथा शब्दप्रमाण आप्तों के उपदेश, पाँचवाँ ऐतिह्य सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश। तो आपके निकट कात्यायन ऋषि आप्त और सत्यवादी विद्वान नहीं थे×।

स्वा०—इसका प्रत्युत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ८० पंक्ति २४ से लेके पृष्ठ ८८ अट्ठासी[7] तक में लिख रहा है, जो चाहे सो देख लेवे। और जो वहाँ 'एवं तेनानुक्तत्वात्'[8] इस वचन का यही अभिप्राय है कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'[9] यह वचन कात्यायन ऋषि का नहीं है

* प्रसिद्ध है कि जो कोदों देके पढ़ते हैं, वे पदार्थों को यथावत् कभी नहीं जान सकते॥

× वे तो आप्त विद्वान् थे, परन्तु जिसने उनके नाम से वचन रचकर प्रसिद्ध किया, वह तो अनाप्त—अविद्वान् ही था॥

१. ये यजु० अ० ३१ के मन्त्र हैं।

२. द्र. रा. ला. क. द्रु. सं. पृ. १० पं० ६।

३. शत. १।१।२।१३॥

४. रा. ला. क. द्रु. सं. पृ० ६२ पं० ३, ४।

५. रा. ला. क. द्रु. सं० पृ० ६०।

६. रा. ला. क. द्रु. सं० पृ० ६०, ६१।

७. रा. ला. क. द्रु. सं० पृ० ६१--१०१ तक।

८. रा. ला. क. द्रु. सं० पृ० १०० पं० ६॥

९. इस वचन के विषय में जो विस्तार से जानना चाहें वे हमारा 'वेदसंज्ञामीमांसा' ग्रन्थ देखें।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु किसी धूर्तराट् ने कात्यायन ऋषि के नाम से बनाकर प्रसिद्ध कर दिया है[1]। जो कात्यायन ऋषि का कहा होता तो सब ऋषियों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध न होता*? क्या आप जैसा कात्यायन को आप्त मानते हैं, वैसा पाणिनि आदि ऋषियों को आप्त नहीं मानते? जो कभी आप्त मानते हो तो पाणिनि आदि आप्तों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध कात्यायन ऋषि क्यों लिखते?

और जो कहो कि हम इस वचन को कात्यायन का ही मानेंगे, तो ऐसा नहीं हो सकता। क्यों? आप पाणिनि आदि अनेक ऋषियों के लेख का तिरस्कार कर एक को आप्त कैसे मान सकते हो? और जो उनको भी आप्त मानते हो, तो मन्त्रसंहिता ही वेद हैं उनके इस वचन को मानकर तद्विरुद्ध ब्राह्मण को वेदसंज्ञा के प्रतिपादक वचन को क्यों नहीं छोड़ देते? क्योंकि एक विषय में परस्पर विरोधी दो वचन सत्य कभी नहीं हो सकते और जो सैकड़ों आप्त ऋषियों को छोड़कर एक ही को आप्त मानकर सन्तुष्ट रहता है, वह कभी विद्वान् नहीं कहा जा सकता।

रा०—आप लिखते हैं कि—ब्राह्मण में जमदग्नि कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं, सो देहधारी हैं, अतएव वह वेद नहीं और संहिता में शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जमदग्नि का अर्थ चक्षु और कश्यप का अर्थ प्राण है, अतएव वह वेद है।

स्वा०—ब्राह्मणों में जमदग्नि आदि देहधारियों का नाम यों है कि जहाँ-जहाँ ब्राह्मणग्रन्थों में उनकी कथा लिखी है, वहाँ-वहाँ जैसे देहधारी मनुष्यों का परस्पर व्यवहार होता है, वैसा उनका भी लिखा है। इसलिए वहाँ देहधारी का ग्रहण करना योग्य है और जहाँ मनुष्यों के इतिहास लिखने की योग्यता नहीं हो सकती, वहाँ इतिहास लिखने का भी सम्भव नहीं हो सकता। जो वेदों में इतिहास होते तो वेद अनादि और सबसे प्राचीन नहीं हो सकते? क्योंकि जिसका इतिहास जिस ग्रन्थ में लिखा होता है, वह ग्रन्थ उस मनुष्य के पश्चात् होता है।

जबकि वेदों में 'त्र्यायुषं जमदग्नेः०'[2] इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या पदार्थविद्यायुक्त होनी ही उचित है, इससे उनमें इतिहास का होना सर्वथा असम्भव है। जिसलिए जैसा मूलार्थ प्रतीत होने के कारण जमदग्नि आदि शब्दों से चक्षु आदि ही अर्थों का ग्रहण करना योग्य है, वैसा ही ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त आदि में लिखा है। इसलिये यह मैंने अपने किये अर्थों के सत्य होने के लिए साक्ष्यर्थमात्र लिखा है। राजाजी जो इस बात को जानते और इन ग्रन्थों को पढ़े होते, तो भ्रमजाल में फंसकर दुःखित न होते।

रा०—उसमें भी क्या उपनिषद् संज्ञी और इतिहासपुराणादि संज्ञा है? अथवा ऋग्वेदादि क्रमानुसार उनका संज्ञी वा संज्ञा है?

स्वा०—इसका उत्तर यह है कि एक 'ईशावास्य' उपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय होने से वेद है, और 'केन' से लेके 'बृहदारण्यक' पर्यन्त नव उपनिषद् ब्राह्मणान्तर्गत होने से उनकी भी इतिहासादि संज्ञा 'ब्राह्मणानीतिहासान्०'[3] इस पूर्वोक्त वचन से है। इससे 'एवं वा अरे०'[4] इस वचन में

---

*. हजारह आप्तों का एक अविरुद्ध मत होता है, दो मूर्खों का भी एकमत होना कठिन है॥

१. यह कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध प्रतिज्ञापरिशिष्ट में है। इस नाम के भी दो परिशिष्ट मिलते हैं एक का सम्बन्ध श्रौतसूत्र से है, दूसरे का प्रातिशाख्य से। परिशिष्ट में होने से ही स्पष्ट है कि यह कात्यायन ऋषि का वचन नहीं है।

२. यजुः० ३।६२। द्र० रा. ला. क. ट्र. सं० पृ० ६२-६३।

३. तै० आ० २।९।। तुलना कार्या—आश्व० गृ० ३।३।१।।

४. शत० १४।५।४।१०।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निमित्तकारण कार्यसम्बन्ध होने से संज्ञासंज्ञी सम्बन्ध नहीं घट सकता, परन्तु राजासाहब के सदृश अविद्वान् तो 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' ऐसा लिखने वा कहने में कुछ भी भययुक्त वा लज्जावान् नहीं होते* ।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं । यदि आप इतना और मान लें कि सम्पूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है ।

स्वा०—अविद्वान् को कभी विद्यारहस्य के समझने की योग्यता नहीं हो सकती । क्या ऐसा कोई भी विद्वान् सिद्ध कर सकता है कि व्याख्या के अनुकूल होने से मूल का प्रमाण और प्रतिकूल [होने] से अप्रमाण और व्याख्या के मूल से प्रतिकूल होने से प्रमाण और अनुकूल होने से अप्रमाण होवे ।

इसलिए मन्त्रभाग मूल होने से ब्राह्मणग्रन्थों से अनुकूल वा प्रतिकूल हो, तथापि सर्वथा माननीय होने के कारण स्वतःप्रमाण, और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या होने से मूलार्थ से विरुद्ध हो तो अप्रमाण, और अनुकूल हो तो प्रमाण होकर माननीय होने के कारण परतःप्रमाण हैं, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र संहिताओं के मन्त्रों की प्रतीक धर-धरके पद, वाक्य और प्रकरणानुसार व्याख्या की है । इसलिए मन्त्र-भाग मूल व्याख्येय और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या है ।

रा०—आप लिखते हैं—'**तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।**'[1] इसका अर्थ सीधा-सीधा यह मान लेवें कि आपके चारों वेद और उनके छओं अङ्ग अपरा हैं, जो परा उससे अक्षर में अधिगमन होता है । अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें । किमधिकमित्यलम् ।

स्वा० यहां तक आपका जो ऊटपटाँग लेख है, उसको कौन शुद्ध कर सकता है, क्योंकि इसी भूमिका के पृष्ठ ४२[2] पंक्ति ३ में '**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**'[3] इस उपनिषद् के वचन ने आपके सीधे-सीधे अर्थ को टेढ़ा-टेढ़ा कर दिया । देखो यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता ! जिसका अभ्यास सब वेद करते हैं, उस ब्रह्म का उपदेश मैं तुझसे करता हूं, तू सुनकर धारण कर । जब ऐसा है तो वेदों अर्थात् मन्त्र-भाग में परा विद्या क्यों नहीं ?

देखो—'**तमीशानं०**'[4] इत्यादि मन्त्र ऋग्वेद । '**परीत्य भूतानि**'[5] इत्यादि और '**ईशावास्य**' इत्यारभ्य '**ओ३म् खं ब्रह्म**'[6] पर्यन्त मन्त्रयुक्त ४० चालीसवाँ अध्यायस्थ मन्त्र यजुर्वेद । '**दधन्वे वा यदीमनु-वोचद् ब्रह्मेति वेरु तत्**'[7] इत्यादि मन्त्र सामवेद । '**महद्यक्षं**'[8] इत्यादि मन्त्र अथर्ववेद में हैं । जब वेदों में

---

* विद्यावृद्धों ही को अन्यथा कहने और लिखने में शर्म वा भ्रम होता है, अविद्यायुक्त बालकों को नहीं ।।

१. मुण्डकोप० १।५।। रा. ला. क. द्र० सं० पृ० ४७ ।

२. रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ४७ पं० ६ ।

३. कठोप० २। १५।।

४. ऋ० १। ८९। ५।।

५. यजुः० ३२। ११।।

६. यजुः० ४०। १-१७।।

७. साम० पू० १। १। १०। ४।।

८. अथर्व० १०। ७। ३८।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हजारों मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, जिनमें से थोड़े-से मन्त्रों का अर्थ भी मैंने भूमिका पृष्ठ ४३ पंक्ति २६ से लेके ३० पंक्ति की समाप्ति तक लिख रक्खा है[1]। जिसको देखना हो देख लेवें।

भला इतना भी राजाजी को बोध नहीं है कि वेदों में परा विद्या न होती, तो 'केन' आदि उपनिषदों में कहाँ से आती ? 'मूलं नास्ति कुतः शाखाः ?' क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूपविद्या का प्रकाश न करता, तो किसी ऋषि मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था ? क्योंकि कारण के विना कार्य होना सर्वथा असम्भव है।

जो 'केन' आदि नव उपनिषदों को पराविद्या में मानेंगे, तो उनसे भिन्न आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थवेद और मीमांसादि छह शास्त्र आदि पराविद्या में क्यों नहीं ? जब न इस वचन में उपनिषद् और न किसी अन्य ग्रन्थ का नाम लिखा है, तो कोई उनका ग्रहण कैसे कर सकता है ? भला कोई राजाजी से पूछेगा कि आपने 'यया तदक्षरमधिगम्यते सा परा विद्याऽस्ति'[2] इस वाक्य से कौन से ग्रन्थों का नाम निश्चित किया है ? क्या 'यया' इस पद से कोई विशेष ग्रन्थ भी आ सकता है ? और जो मैंने वेदों में परा और अपरा विद्या लिखी है, उसको कोई विपरीत भी कर सकता है ? कभी नहीं।

इसीलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि जैसे राजाजी संस्कृतविद्या के वेदादि ग्रन्थों को न पढ़कर उन्हों में प्रश्नोत्तर किया चाहते और जैसी स्वामी विशुद्धानन्दजी ने विना सोचे-समझे सम्मति कर दी है, वैसे साहस न करना चाहिए, किन्तु उस विद्या में योग्य होके किसी से विचारार्थ प्रवृत्त होना चाहिए।

प्रश्न—आपने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिखकर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जानकर लिखके उत्तर देना चाहा न था, फिर अब क्यों लिखके उत्तर देते हो ?

उत्तर—जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न लिखाते तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता, क्योंकि उसको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूं, वैसा ही निश्चित जानता हूं।

प्रश्न—इस संवाद में आप प्रतिपक्षी राजाजी को समझते हो वा स्वामी विशुद्धानन्दजी को ?

उत्तर—स्वामी विशुद्धानन्दजी को, क्योंकि राजाजी तो विचारे संस्कृतविद्या पढ़े ही नहीं। उनके सामने मेरा लेख ऐसा होवे कि जैसा बधिर के सामने अत्यन्त निपुण गानेवाले का वीणा आदि बजाना और षड्जादि स्वरों का यथायोग्य आलाप करना होता है।

प्रश्न—जो तुम पक्षी राजाजी को छोड़कर स्वामी विशुद्धानन्दजी को आगे करते हो, सो यह न्याय की बात नहीं है ?

उत्तर—यह मुझ वा किसी को योग्य नहीं है कि संस्कृत में कुछ योग्य विद्वान को छोड़कर अयोग्य के साथ संवाद चलावें। न राजाजी को योग्य है कि अपने साक्षी को छोड़ें और स्वामी विशुद्धानन्दजी को भी योग्य है कि अपने शरणागत आये राजाजी की रक्षा से विमुख न हो बैठें*।

---

* यह धार्मिक विद्वानों का काम नहीं है कि जिसको शरणागत लेवें, उसे छोड़कर विश्वासघात कर बैठें।।

१- यहाँ प्रथम सं० और अगले संस्करणों में पृष्ठ पंक्ति संख्या अशुद्ध है। उक्त स्थल पर भूमिका (प्र० सं०) में इन मंत्रों का अर्थ नहीं मिलता है। उक्त पृष्ठ पंक्ति में 'तत्रापरा' वचन का अर्थ है। यह रा. ला. क. ट्र. सं० पृष्ठ ४९ पर छपा है।

२- उपनिषत् का पाठ 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' है। यहां अर्थतः अनुवाद किया है ऐसा जानना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न—स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी आदि काशी के सब विद्वान् और बुद्धिमान् मिलकर राजाजी का पक्ष लेकर आपसे शास्त्रार्थ वा लेख करेंगे तो आपको बड़ा कठिन पड़ेगा ?

उत्तर—मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूं कि जो ऐसा वे करें तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सबको विदित करता हूं कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे जो ऐसी इच्छा मेरी न होती तो मैं काशी में विज्ञापनपत्र क्यों लगवाता और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी को प्रतिपक्षी स्वीकार क्यों करता ?

प्रश्न—वे हैं बहुत और आप अकेले हो, कैसे संवाद कर सकोगे ?

उत्तर—इसके होने में कुछ असम्भव नहीं, क्योंकि जब सब काशी और अन्यत्र के विद्वान् और बुद्धिमान् लोग अपना अभिप्राय पत्रस्थ कर वा सन्मुख जाके स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी को विदित कराते जायेंगे और वे उन लेख वा वचनों को देख-सुन उनमें से इष्ट को ले मुझसे सन्मुख वा पत्र द्वारा इन दो बातों में से जिसमें उनकी प्रसन्नता हो ग्रहण करके शास्त्रार्थ करें, उसी बात में मैं भी उनसे शास्त्रार्थ करने में उद्यत हूं, परन्तु जैसे मैं इस पुस्तक पर अपना हस्ताक्षर प्रसिद्ध करता हूं, वैसे वे भी करें तो ठीक है, अन्यथा नहीं।

प्रश्न—सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करने में अच्छा होगा वा पत्र द्वारा ?

उत्तर—सर्वोत्तम तो यह है जो मैं और वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें, तो शीघ्र सत्य वा झूठ का सिद्धान्त[1] हो सकता है अर्थात् एक महीने से लेके छह महीने तक सब बातों का निर्णय हो सकता है और दूर-दूर रहकर पत्र द्वारा शास्त्रार्थ करने में ३६ छत्तीस वर्षों में भी पूरा होना कठिन है परन्तु जिस पक्ष में वे प्रसन्न हों, उसी में मैं भी प्रसन्न हूं।

प्रश्न—इस शास्त्रार्थ के होने और न होने का क्या फल होगा ?

उत्तर—जो अविरोध होने से एक मत होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सबको परमानन्द होना और न होने पर जो परस्पर विरुद्ध मिथ्या मत में वर्तमान मनुष्यों के अधर्म, अनर्थ, कुकाम और बन्ध के न छूटने से उनके दुःखों का न छूटना फल है।

प्रश्न—शास्त्रार्थ हुए पर भी हठ से आप वा वे विरुद्ध मत न छोड़ें तो छुड़ाने का क्या उपाय है ?

उत्तर—शास्त्रार्थ से पूर्व मैं और वे जिसका पक्ष झूठा हो उसके छोड़ने और जिसका सत्य हो उसके स्वीकार करने के लिए प्रतिज्ञा का पक्के काग़ज़ पर लेख होकर रजिस्ट्री कराकर एक दूसरे को अपने-अपने पत्र को देने से सम्भव है कि आप अपना-अपना हठ छोड़ देवें, क्योंकि जो न छोड़ेगा तो राजा अपनी व्यवस्था से हठ को छुड़ा सकता है।

प्रश्न—जब आप काशी में सब दिन निवास नहीं करते और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी वहीं बसते हैं तो सन्मुख में शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है ?

उत्तर—मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि जब वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार करेंगे और इसको सत्य समझ लूंगा, तब जहां हूंगा वहां से चलके काशी में उचित समय पर पहुंचूंगा कि

---

१. यहां 'निर्णय' पद होना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिससे उनको परदेश यात्रा का क्लेश और धनव्यय भी न करना पड़ेगा। पुनः वहां यथावत् शास्त्रार्थ होकर सत्यासत्य निर्णय के पश्चात् सबका उपकार भी सिद्ध होगा, क्या यह छोटा लाभ है?

प्रश्न—जब आप उनसे शास्त्रार्थ करके अपना मत सिद्ध किया चाहते और वे नहीं किया चाहते हैं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—विदित होता है कि वे अपने मन में जानते हैं कि शास्त्रार्थ करने से हम अपने मत को सिद्ध न कर सकेंगे वा सं० १९२६ के शास्त्रार्थ को देख घबराहट होगी कि दूर ही दूर से ढोल बजाना अच्छा है। जो उनको यह निश्चय होता कि हमारा वेदानुसार और स्वामीजी का मत वेदविरुद्ध है तो शास्त्रार्थ किये बिना कभी नहीं रहते अथवा जो और कुछ कारण हो तो शास्त्रार्थ करने में क्यों विलम्ब करते हैं?

आज से पीछे जो कोई पुराण वा तन्त्र आदि मत वाले मुझसे विरुद्ध पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ किया चाहें वा लिखके प्रश्नोत्तर की इच्छा करें, वे स्वामी विशुद्धानन्दजी के और बालशास्त्रीजी के द्वारा ही करें। इससे अन्यथा जो करेंगे तो मैं उनका मान्य कभी न करूंगा। हाँ, सन्मुख आके तो वे स्वयं भी पूछ सकते हैं।

इससे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्री जी ऐसा न समझें कि हम वेदों में विद्वान् वा सर्वोत्तम पण्डित हैं और कोई अन्य मनुष्य भी ऐसा निश्चय न कर लेवे कि इनसे अधिक पण्डित आर्यावर्त्त में दूसरा कोई भी नहीं है। हाँ ऐसा निश्चय करना ठीक है कि काशी में इस समय आधुनिक ग्रन्थाभ्यासकर्त्ता संन्यासियों में स्वामी विशुद्धानन्दजी और गृहस्थों में बालशास्त्रीजी कुछ विशिष्ट विद्वान् हैं। मैंने तो संवाद में केवल अनवस्था दोष परिहारार्थ इन दोनों को सन्मुख[1] आर्यावर्त्तीय पण्डितों में माने हैं। अनुमान है कि उनको अन्य भी मनुष्य ऐसे मानते होंगे। इससे अन्य प्रयोजन भी कुछ नहीं।

सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कृपा करके स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को निर्भय, निःशङ्क करे कि जिससे वे मुझसे सन्मुख वा पत्र द्वारा पाषाणादि मूर्त्तिपूजादिमण्डन विषयों में शास्त्रार्थ करने में दृढ़ोत्साहित हों जैसेकि मैं उनके खंडन में दृढ़ोत्साहित हूं।

मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुक्रे मासेऽसिते दले[2]।
द्वितीयायाङ् गुरौ वारे भ्रमोच्छेदो ह्यलङ्कृतः॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वती निर्मित
आर्यभाषाविभूषितो भ्रमोच्छेदनोऽयं ग्रन्थः पूर्त्तिमगमत्॥

---

१. यहाँ 'प्रमुख' पद चाहिए।

२. अर्थात् वि० सं० १९३७ ज्येष्ठमास कृष्णपक्ष द्वितीया २ गुरुवार। हमारे विचार में यहां शुक्रे के स्थान में 'शुचौ' (—आषाढ़) पाठ होना चाहिए, क्योंकि आषाढ़ कृष्ण २ गुरुवार १९३७ को यह प्रेस में भेजा गया है। द्र० पत्र व्यवहार पृष्ठ १९१ (द्वि० सं०)। इसी पत्र के अन्त से यह भी प्रतीत होता है कि सम्भवतः यह ग्रन्थ आषाढ़ कृष्ण २ को ही पूरा हुआ था। विशेष द्र० हमारा ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास पृष्ठ १२९-१३२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ओ३म्॥

अनुभ्रमोच्छेदन ॥

यस्या नरो विभ्यति वेदबाह्यास्तया हि युक्तं जनसेनया यत् ।
तन्नाम यस्यास्ति महोत्सवं स त्वनुभ्रमोच्छेदनमातनोति ॥१॥

भूमिका

मैंने विचारा था कि राजाजी और स्वामी ने एक-एक बार लिखा है, आगे इसका प्रपञ्च न बढ़ेगा, परन्तु वैसा न हुआ और उनके अनुगामी लोगों ने समाचारपत्रों को भी गर्जाया और बहुत याग्यायोग्य वाच्यावाच्य भो लिखना न छोड़ा और मैंने यह जान भी लिया कि स्वामीजी अपने नाम से इसपर कुछ भी न लिखें और न छपवायेंगे क्योंकि इसपर[1] श्रीयुत स्वामो विशुद्धानन्द सरस्वती और बालशास्त्रीजी की सम्मति नहीं लिखी ।[2] तथा अन्य किसी आर्य्य ने भी इसके प्रत्युत्तर में न लिखा। यह बात ठीक है कि स्वामीजी को तो इसपर लिखना योग्य ही नहीं, क्योंकि वे अपनी पूर्व प्रतिज्ञा से विरुद्ध[2] क्यों करें। जब ऐसा हुआ तब मैं यथामति इसपर लिखने में प्रवृत्त हुआ। यद्यपि इन महाशयों के सन्मुख मेरा लेख न्यूनास्पद है। तथापि अन्तःकरण से पक्षपात छोड़कर देखने से कुछ इससे भी तत्त्व निकलेगा और जो कुछ इसमें भूल-चूक रहेगी उसको सज्जन महात्मा लोग सुधार लेंगे। अब जो राजा शिवप्रसाद जी की यह प्रतिज्ञा है कि अब आगे इस विषय में कुछ न लिखा जाएगा तो मुझ को भी आगे लिखना अवश्य न होगा। जो राजाजी ने भ्रमोच्छेदन पर दूसरा भाग छपवाया है उसमें स्वामीजी के लेख पर निरर्थक आदि दोष दिये हैं उन और इन दोनों पुस्तकों के लेख को जब बुद्धिमान लोग पक्षपात रहित होकर देखेंगे तब अवश्य निश्चय कर लेंगे कि कौन सत्य और कौन असत्य है ॥

इति भूमिका ॥

---

१. अर्थात् राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द द्वारा प्रकाशित द्वितीय निवेदन पर।

२. श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भ्रमोच्छेदन के अन्त में लिखा है कि जब तक स्वा० विशुद्धानन्दजी और पं० बालशास्त्री के हस्ताक्षर न होंगे, वे राजाजी के पत्रों वा पुस्तिकाओं के उत्तर न देंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभ्रमोच्छेदन

देखिये राजाजी के प्रिय और सुन्दर लेख को—

निवेदन पहिला, पृष्ठ १ पंक्ति ११—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मँगाके पृष्ठ ६ से ८८ तक देखा। विचित्र लीला दिखाई दी, आधे-आधे वचन जो अपने अनुकूल पाये, ग्रहण किये हैं और शेषार्द्ध का, जो प्रतिकूल पाये, परित्याग, उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे उनके अर्थ पलट दिये।

पृष्ठ ४, पंक्ति ७—ऐसा न हो कि (**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**) के सदृश केवल दयानन्दजी के भाष्य और भूमिका ही की लाठी थामे किसी अथाह गढ़े वा घोर नरककुण्ड में जा गिरें।

निवेदन २, पृष्ठ २, पंक्ति २४—खेद की बात है, क्यों वृथा इतना काग़ज़ बिगाड़ा।

पृष्ठ ५ पंक्ति २५—निदान जब मैंने गौतम और कणाद के तर्क और न्याय से न अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर पाया और न स्वामीजी महाराज की वाक्यरचना का उससे कुछ सम्बन्ध देखा डरा कि कहीं स्वामीजी महाराज ने किसी मेम अथवा साहब से कोई नया तर्क और न्याय रूस, अमरीका अथवा और किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो।

इत्यादि वचन जो ये राजा शिवप्रसादजी ने अपने दोनों निवेदनों में लिखे हैं, क्या इनको सुवचन, गालीप्रदान, काग़ज़ बिगाड़ना, आदि कोई भी मनुष्य न समझेगा ? मैंने राजाशिवप्रसादजी के दोनों निवेदनों और स्वामीजी के भ्रमोच्छेन को भी देखा। प्रथम निवेदन में जो-जो प्रश्न राजाजी के थे उस-उसका उत्तर भ्रमोच्छेदन में यथायोग्य है ऐसा मैं अपनी छोटी विद्या और बुद्धि से निश्चित जानता हूं। राजाजी और उनके साक्षियों की विशालबुद्धि है इसलिये उनके योग्य ठीक-ठीक उत्तर न हुए होंगे। इसमें क्या अद्भुत है। अब मैं अपनी अल्प विद्या और बुद्धि के अनुसार द्वितीय निवेदन के उत्तर में थोड़ा-सा लिखता हूं।

निवेदन दूसरा, पृष्ठ ४ पंक्ति १६—भला सूर्य्य और घड़े की उपमा संहिता और ब्राह्मण में क्योंकर घट सकेगी। उधर सूर्य्य के सामने कोई आधा घण्टा भी आँख खोलके देखता रहे अन्धा नहीं तो चक्षुरोग से अवश्य पीड़ित होवे। इस दृष्टान्त से राजाजी का यह अभिप्राय झलकता है कि वेद को दिन-भर भी आँख खोलके देखा करे तो न अन्धा और न नेत्ररोग से युक्त होता है।

यहाँ उनका ऐसा अभिप्राय विदित होता है कि यह दृष्टान्त स्वामीजी का यहाँ घट नहीं सकता। जहाँ तक विचारके देखते हैं तो यही निश्चय होता है कि दृष्टान्त का साधर्म्य गुण ही दार्ष्टन्ति में घटता है, सब गुण-कर्म-स्वभाव कभी नहीं। जैसे **साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्**। न्या० अ०। आ० १। सू० ३६। **तद्विपर्य्ययाद्वा विपरीतम्**। न्या० अ० १। सू० ३७। **शब्दोऽनित्य इति प्रतिज्ञा, उत्पत्तिधर्मकत्वादिति हेतुः, उत्पत्तिधर्मकस्थाल्यादिद्रव्यमनित्यमिति दृष्टान्त उदाहरणम्**। यह शान्तवृत्ति से देखने की बात है कि शब्द में अनित्यत्व धर्मसाध्य है, क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाला होने से जो-जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे-वे सब अनित्य हैं। जैसे स्थाल्यादि द्रव्य उत्पत्ति धर्म-वाले होने से अनित्य हैं, वैसे कार्य शब्द भी अनित्य हैं। यहाँ केवल स्थाल्यादि पदार्थों का उत्पत्ति धर्म

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही कार्य शब्द में दृष्टान्त के लिए घटाके कार्य शब्दों को अनित्य ठहराया है यह तो कोई भी नहीं कह सकता कि घट-पटादि पदार्थों में चक्षु से दीखना स्थूल कठोर और अन्धेरे में दीपक की अपेक्षा रहना आदि विरुद्ध हैं इसलिये उनका दृष्टान्त शब्द में नहीं घटेगा वा शब्द में भी वे धर्म हों कि दीपक जलाके शब्द देखा जावे, राजाजी को अँधेरे में दीपक से शब्द देखना, उससे पानी आदि लाना चाहिये वा इस दृष्टान्त ही को न माने तो ऐसा दृष्टान्त कोई नहीं मिलेगा कि जिसमें दार्ष्टान्ति के सब धर्म बराबर मिल जावें, और जो कोई पदार्थ ऐसे भी हों कि जिनके सब धर्म बराबर मिलें तो उनका परस्पर अभेदान्वय होने से उनमें दृष्टान्त दार्ष्टान्ति तथा उपमान उपमेयभाव कुछ भी न बन सकेगा। अब यहाँ प्रकृत में यह आया कि वेद को सूर्य का दृष्टान्त दिया है तो सूर्य अपने प्रकाश में किसी की अपेक्षा नहीं रखता वैसे वेदों से भी जो अर्थ प्रकाशित होते हैं उनमें ग्रन्थान्तर की अपेक्षा नहीं है स्वयं प्रकाशत्व धर्म दोनों का समान है, और जैसे उत्पत्ति धर्मवाले न होने से आत्मादि द्रव्य नित्य हैं वैसा शब्द नहीं, क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाला है यहाँ केवल वैधर्म्य अर्थात् कार्य शब्द के अनित्यत्व धर्म से विरुद्ध आत्मा का नित्यत्व धर्म ही दृष्टान्त के लिये घटाया है किन्तु जो आत्मा और शब्द के प्रमेयत्व आदि साधर्म्य हैं वे विवक्षित नहीं। जैसा राजाजी का दृष्टान्त विषयक मत है वैसा किसी विद्वान् का नहीं कि दार्ष्टान्ति के सब धर्म दृष्टान्त में घट सकते हों।

निवे० २, पृष्ठ ५, पं० १६—राजाजी स्वामीजी से पूछते हैं कि स्वामीजी महाराज यह बतलावें कि पाणिनि आदि ऋषियों ने कहाँ ऐसा लिखा है कि मन्त्रसंहिता ही वेद हैं ब्राह्मण वेद नहीं है।

इसका उत्तर—अब यह ब्राह्मण शब्द लौकिक है वा वैदिक, इसके वैदिक होने में तो कोई प्रमाण नहीं मिलता, लौकिक होने में प्रमाण देखो ॥

तत्र लौकिकास्तावत्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति, वैदिकाः खल्वपि—शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्, अग्न आयाहि वीतय इति।

अब यहाँ अन्तःस्थ नेत्रों से देखना चाहिये कि वैदिक शब्द में केवल ४ मन्त्र संहिताओं के उदाहरण दिये हैं। जो ब्राह्मण भी वेद होते तो वैदिक शब्दों में उनका उदाहरण क्यों न देते ? अब कोई यह कहे कि लौकिक शब्दों में जिस ब्राह्मण शब्द का उदाहरण दिया है वह नपुंसकलिङ्ग न होने से ग्रन्थ-वाची शब्द नहीं है, किन्तु पुल्लिङ्ग होने से मनुष्यों में जातिविशेष का नाम है तो उससे पूछना चाहिये कि नपुंसकलिङ्ग ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द का वैदिक शब्दों में पाठ क्यों न किया ? हाँ, प्रकरण से अर्थ की संगति होती है सो यहाँ किसी का प्रकरण नहीं है। यहाँ पतञ्जलिजी महाराज के प्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि मन्त्रसंहिता ही वेद हैं ब्राह्मण नहीं। अब स्वामीजी पर जो प्रश्न था उसका तो यह उत्तर पतञ्जलि ऋषि के प्रमाण से हुआ, परन्तु वही प्रश्न राजाजी के ऊपर गिरता है कि राजाजी यह बतलायें कि पाणिनि आदि महर्षियों ने ऐसा कहाँ लिखा है कि मन्त्र और ब्राह्मणभाग दोनों वेद हैं अस्तु तावत्।

निवे० २, पृष्ठ ५, पं० १८ पाणिनि ने तो जहाँ मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लेने का प्रयोजन देखा स्पष्ट 'छन्दसि' कहा अर्थात् वेद में अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में और जहाँ मन्त्र वा ब्राह्मण का प्रयोजन देखा 'मन्त्रे' वा 'ब्राह्मणे' कहा और जहाँ मन्त्र और ब्राह्मण अर्थात् वेद के सिवाय देखा वहाँ 'भाषायाम्' कहा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजाजी को यह लिखना तो सुगम हुआ, परन्तु निम्नलिखित प्रमाण पाणिनिसूत्र और वेदमन्त्र आदि का अर्थ करके अपने पक्ष में घटाना सुगम क्योंकर हो सकेगा। अब देखिये—छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि। अ० ४। पा० २। सू० ६६) इस सूत्र में प्रोक्त प्रत्यान्त छन्द और ब्राह्मण को अध्येतृ-वेदितृविषयता विधान की है अर्थात् प्रोक्तप्रत्ययान्त छन्द और ब्राह्मण का अध्येतृ वेदितृ अभिधेय में ही प्रयोग हो स्वतन्त्र न हो। अब राजाजी के इस लेखानुसार कि 'जहाँ मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लेने का प्रयोजन स्पष्ट "छन्दसि" कहा' इससे पाणिनि के इस सूत्र में ब्राह्मण ग्रहण व्यर्थ होता है, क्योंकि जो छन्द के कहने से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही ग्रहण हो जाता, तो फिर यहाँ ब्राह्मण का पृथक् ग्रहण क्यों किया। इससे स्पष्ट ज्ञापक होता है कि छन्द से ब्राह्मण पृथक् है।

निवे० २, पृष्ठ ५, पं० २२ से—भला जैमिनि महर्षि के पूर्वमीमांसा को तो स्वामीजी महाराज मानते हैं उसमें इन सूत्रों का अर्थ क्योंकर लगायेंगे। तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (अ० १। पा० २। सू० ३२) शेषे ब्राह्मणशब्दः (अ० २ पाद १। सू० ३३)।

इसका अर्थ बहुत स्पष्ट है वेद का मन्त्रों से अविशिष्ट जो भाग सो ब्राह्मण, यह अनुभवार्थ राजीजी ने शबर स्वामी की टीका में से सुना होगा, परन्तु यहां यह भी विचार करना उनको योग्य था कि इन सूत्रों के सम्बन्ध में कहीं **वेदसंज्ञा निर्वचनाधिकरण** है वा नहीं, किन्तु यहाँ तो केवल मन्त्रनिर्वचनाधिकरण और ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरण है। इससे फिर मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की वेदसंज्ञा है यह अभिप्राय कहाँ से सिद्ध हो सकता है। जो इस प्रकरण में ऐसा होता कि अथ **वेदनिर्वचनाधिकरणम्** तो राजाजी का अभिप्राय अवश्य सिद्ध हो जाता। परमात्मा ने वेदस्थ वाक्यों से सर्वविद्याभिधान कर दिया है अब इनमें शेष अर्थात् बाकी पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, व्याख्या करनी-करानी आदि है और थी भी। जो थी सो ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनिपर्यन्त महर्षि महाशय लोगों ने कर दी है जिससे ये ऐतरेय आदि ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् वेदों का व्याख्यान हैं इसी से इनका नाम ब्राह्मण रक्खा है अर्थात् **"ब्रह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि अर्थात् शेषभूतानि सन्तीति"**। परन्तु जहाँ से इन सूत्रों के अर्थ में राजाजी आदि को भ्रम हुआ है सो शबर स्वामीजी की इसी सूत्र पर यह व्याख्या है—**अथ किंलक्षणं ब्राह्मणम्** [1] **मन्त्राश्च ब्राह्मणञ्च वेदाः**। विचार योग्य बात है कि न जाने शबर स्वामी ने इन दो सूत्रों में वेद शब्द कहाँ से लिया और इनकी अद्भुत कथा को देखिये कि (प्रश्न) **ब्राह्मण का क्या लक्षण है?** (उत्तर) **मन्त्र और ब्राह्मण वेद है**। विद्वान् लोग विचार लेंगे कि जैसा प्रश्न किया था वैसा ही उत्तर शबर स्वामी ने दिया है वा नहीं ? यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। किन्तु **"आम्रान् पृष्ठः कोविदारानाचष्टे"** इस न्याय के तुल्य यह व्याख्या है।

ऐसा ही निवेदन २, पृष्ठ ५, पं० २५—निदान जब मैंने गोतम और कणाद के तर्क और न्याय से न अपने प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर पाया और न स्वामीजी महाराज की वाक्यरचना का उससे कुछ सम्बन्ध देखा, डरा कि कहीं स्वामीजी महाराज ने किसी मेम वा साहब से कोई नया तर्क और न्याय, रूस, अमरीका अथवा और किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो।

स्वामीजी ने जो भूमिका में गौतमन्याय का प्रमाण वेद-ब्राह्मण विषय में लिखा है उसको वही पुरुष समझ सकता है कि जिसने उन ग्रन्थों की शैली देखी हो। बिना पढ़े सब विद्या किसी को नहीं

---

१. द्र० ऋ० भा० भू० रा. ला. क. ट्र. सं० पृ० ९६-९९।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आ जाती, और जिन्होंने उन शास्त्रों में अभ्यास ही नहीं किया वे ही ऐसा अनर्गल लिख सकते हैं कि 'गोतम और कणाद के तर्क न्याय से अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर न पाया' इत्यादि । अब राजाजी को शास्त्रों में अभ्यास करना अवश्य हुआ, क्योंकि उनके प्रश्नों का उत्तर कोई नहीं दे सकता। और स्वामीजी महाराज जो किसो दूसरी विलायत का तर्क न्याय सीख भी लेते तो क्या आश्चर्य और कौन-सा यह बुरा काम था और जो सीख लेते तो अपने ग्रन्थों में प्रमाण के लिए अवश्य लिखते वा लिखवा लेते । इससे स्पष्ट विदित होता है कि राजाजी ने हो उन विलायतियों से तर्क न्याय कुछ पढ़ा, नहीं तो इसका प्रसङ्ग ही क्या था । ठीक है, **"यादृशी भावना यस्य बुद्धिर्भवति तादृशो"** । इनके प्रश्नों का उत्तर जब ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों से भी न हुआ तो सब ऋषियों से बढ़के राजाजी हो गये । इससे स्पष्ट सब महात्मा ऋषि लोगों की निन्दा आ जाती है ।

निवे० २, पृष्ठ ६, पं० ४—फरिङ्गस्तान के विद्वज्जनमण्डलीभूषण काशीराजस्थापित पाठशालाध्यक्ष डाक्टर टीबो साहब बहादुर को दिखलाया । बहुत अचरज में आये और कहने लगे कि हम तो स्वामीजी महाराज को बड़ा पंडित जानते थे पर अब उनके मनुष्य होने में भी संदेह होता है । तब तो भ्रमोच्छेदन को भ्रमोत्पादन कहना चाहिए ।

बस अब तो राजाजी का पक्ष दृढ़तर सिद्ध हो गया होगा, क्योंकि जब उक्त महाशय साहब ने स्वामीजी के मनुष्य होने में संदेह और भ्रमोच्छेदन का भ्रमोत्पादन नाम होने की साक्षी दी है फिर क्या चाहिए, क्योंकि [विलायती] महाशयों की साक्षी भी गंभीर आशययुक्त होती है, क्या ऐसी साक्षी को कोई भी मनुष्य मानेगा कि स्वामीजी के मनुष्य होने में भी संदेह है ।

निवे० २, पृष्ठ ७, पं० २०-डाक्टर टीबो साहब की साक्षी का परामर्श यह देखिये चित्त धरके दयानन्द सरस्वती सिवाय एक उपनिषद् के ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों को छोड़ देते हैं और केवल संहिताओं को प्रमाण मानते हैं ।

इसका उत्तर तो भ्रमोच्छेदन के पृष्ठ ११, पं० २०[1] में यह स्पष्ट लिखा है (परन्तु जो-जो वेदाऽनुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं) जो उक्त साहब ध्यान देकर देखते तो सिवाय एक उपनिषद् के इत्यादि विरुद्ध साक्षी क्यों देते । निवे०२ । पृष्ठ ७ । इसी उत्तर और इसी विषय के आगे जो-जो उक्त साहब ने लिखा है उस-उसका उत्तर उसी-उसी उत्तर के आगे भ्रमोच्छेदन में लिखा है । निवे० २। पृ० १पं०१८ (निःसंदेह दयानन्द सरस्वतीजी को अधिकार नहीं कि कात्यायन के उस वचन को प्रक्षिप्त बतावें जिसके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद सिद्ध होता है ऐसे तो जो जिस किसी वचन को चाहे अपने अविवेक, कल्पित मत से विरुद्ध पाकर प्रक्षिप्त कह दें) मुझको अपनी अल्पबुद्धि से आज तक यह निश्चय था कि सत्याऽसत्य विचार करने का अधिकार सब विद्वानों को है जो यह राजाज्ञावत् डाक्टर टीबो साहब की सम्मति सत्य हो तो ऐसा हो जाए, किन्तु जो केवल एक डाक्टर टीबो साहब ने ही ठेका लिया हो कि अन्य सबको अधिकार है केवल स्वामीजी को नहीं, कि कौन प्रक्षिप्त और कौन नहीं ऐसा विचार करें जो ऐसा तो डाक्टर टीबो साहब को सम्मति देने और खंडन-मंडन का अधिकार किसने दिया है ? हम भी पूछ सकते हैं । अहो ! आश्चर्य्य इस सृष्टि में कैसी-कैसी अद्भुत लीला देखने में आती है ।

---

१. यह पृष्ठ संख्या प्रथम संस्करण की है । इस संग्रह में यह पाठ पृष्ठ १०३० पंक्ति २८ पर है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवे० २, पृ० ९, पं० ५ सो मेरा तो अभिप्राय इतना ही है कि यदि ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार जमदग्नि आदि का अर्थ यों ही माना जावे तो संहिता के समान ब्राह्मणों को भी वेदभाग अथवा मान-नीय मानने में उन्हीं ब्राह्मणग्रन्थों की युक्तियाँ क्यों न मानी जावें।

जो इस बात का प्रमाण किया जावे तो यास्कमुनिकृत निघण्टु, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी, पतञ्जलि महामुनिकृत महाभाष्य और पिङ्गलाचार्यकृत पिङ्गलसूत्र वेदों के भाष्य वा टीका आदि को भी वेद क्यों न माना जावे, क्योंकि जैसे शतपथादि ग्रन्थों से वेदस्थ जमदग्नि आदि शब्दों के अर्थ चक्षु आदि माने जाते हैं वैसे ही निघण्टु और निरुक्त आदि से भी वैदिक शब्दों के संज्ञा और निर्वचन व्याकरण से शब्द, अर्थ और सम्बन्ध और पिङ्गलसूत्रों से गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि स्वर आदि की व्याख्या वेदों से अविरुद्ध मानी जाती है. तो इनकी वेदसंज्ञा कौन कर सकेगा ?

निवे० २, पृष्ठ ९, पं० १०-सो यहाँ भी मेरा तो अभिप्राय इतना ही है कि वेद के नाम से मन्त्रभाग अर्थात् संहिता और ब्राह्मणों को मानकर जहाँ वेदों को अपरा कहा जाए वहाँ मन्त्र और ब्राह्मणों का कर्मकांड और जहां वेदों को परा कहा जाय वहाँ मन्त्र और ब्राह्मणों का ज्ञानकाण्ड मानना चाहिए।

निवे० १, पृष्ठ ११, पं० १०—इसका अर्थ सीधा-सीधा यह मान लेवें कि आपके चारों वेद और उनके छओं अङ्ग "अपरा" हैं जो "परा" उससे अक्षर में अधिगमन होता है अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें।

निवे० १, पृष्ठ १२, पं० २०—नोट—कि चारों वेदसंहिता और उनके छओं अङ्ग अपरा हैं परा उनके सिवाय अर्थात् उपनिषद् हैं।

मुझको बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहाँ क्यों राजाजी ने अपने पूर्व लेख से अपर लेख को विरुद्ध लिखा। देखो, पहिले निवेदन में चारों वेद और छओं अङ्गों को अपरा और उपनिषदों को परा विद्या मानी थी और दूसरे निवेदन में चारों वेदों के कर्मकाण्ड को अपरा और उनके ज्ञानकाण्ड को परा विद्या मानी और दोनों निवेदनों का अभिप्राय यही है कि मन्त्रभागसंहिता और ब्राह्मणभाग को वेदसंज्ञा मानें इसलिये इतना परिश्रम उठाया और नोट में चारों वेदसंहिता अर्थात् मन्त्रसंहिताओं ही को वेद मानकर ब्राह्मणों को वेदसंज्ञा में लिखना भूल गये, दृष्टि कीजिये – **तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, अथर्ववेदः**। राजाजी के इस लेख ने उन्हीं के अभिप्राय का निराकरण कर दिया। इसको न लिखते तो अच्छा था, क्योंकि इस लेख में ऋग्युजः साम और अथर्व चार शब्द वाच्य मन्त्रभागसंहिताओं ही के साथ चार बार वेद शब्द का पाठ है। ऐतरेय, शतपथ, छान्दोग्य, ताण्ड्य आदि और गोपथ ब्राह्मणग्रन्थों को उस वचन में न परा न अपरा में गणना और न ऐतरेय आदि शब्दों के साथ वेद नाम का पाठ है। इसलिये यह पूर्वापरविरुद्ध लेख है।

निवे० २, पृष्ठ ९, पं० १४—ऐसा ही आज तक वैदिक हिन्दू परम्परा से मानते चले आये हैं।

यहाँ भी मैं राजाजी से यह पूछता हूँ कि परम्परा और आज तक इस वाक्यावली का अभिप्राय सृष्टयुत्पत्ति से लेकर आज तक का समय लिया जाय वा जैसाकि चार पाँच पीढ़ियों में परम्परा हो जाती है वैसी ग्रहण की जाय। जो प्रथम पक्ष है तो वैदिक के साथ आर्य शब्द लिखना उचित था अर्थात् वैदिक आर्य और जो चार पाँच पीढ़ी की परम्परा अभिप्रेत है तो लोकाचार से भी वैदिक हिन्दू लिखना ठीक नहीं, क्योंकि भारतवर्षवासी मनुष्यों की हिन्दूसंज्ञा सिवाय यवनग्रन्थ और यवनाचार्यों की पाठशाला

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में पठनपाठनसंसर्ग के बिना राजाजी को कहीं न मिलेगी और ऋग्वेद से लेकर पूर्वमीमांसापर्यन्त संस्कृत-ग्रन्थों में तो एतद्देश का नाम आर्यावर्त्त और इसमें रहने वाले मनुष्यों का नाम आर्य वा ब्राह्मण आदि संज्ञा ही मिलेंगी। परन्तु यह राजाजी को स्वात्मानुभव वा इस देशियों पर द्वेष अथवा आर्यावर्त्त देश से भिन्न देशस्थ विलायतियों से शिक्षा पाकर बोध हुआ होगा। यह साधारण बात नहीं, किन्तु जो यह वैदिक शब्दों के साथ हिन्दू शब्द का परम्परा में आज तक पढ़ देना। सो राजाजी को विदेशियों की विद्या शिक्षा का अनुपम फल है।

निवे० २, पृ० १०, पं० ६—भला आपके (शिवप्रसाद के) एक सहज से प्रश्न का तो उत्तर श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती से बना ही नहीं उत्तर के बदले दुर्वचनों की वृष्टि की, यदि काशीजी के पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने को उद्यत भी हों तो उत्तर के स्थान में उन्हें वैसे ही दुर्वचन पुष्पाञ्जलि का लाभ होगा इससे अतिरिक्त उसमें से कुछ भी सार नहीं निकलेगा।

इस पर मैं अपनी बुद्धि के अनुसार इतना ही लिखता हूँ कि जो श्रीयुत बालशास्त्रीजी "श्रीमान् पण्डितवरधुरन्धर अज्ञानतिमिरनाशनैकभास्करविशेषणायुक्तः" ऐसा कहते हैं और ऐसा निश्चय हो तो स्वामीजी से उनके बड़े-बड़े गम्भीराशय प्रश्नों के उत्तर कभी न बन सकेंगे फिर इससे मेरी और अन्य लाखों किंवा करोड़ों मनुष्यों की यह इच्छा है कि जो कोई विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के पक्ष को वेदादि शास्त्रों द्वारा निरस्त कर दे तो उनको क्या ही लाभ न हो पुनः उक्त महाशय इसमें क्यों विलम्ब कर रहे हैं और दुर्वचन-पुष्पाञ्जलि विषय में इतना ही मैं लिखता हूँ कि काशीस्थ लोगों ने दूषणमालिका, दयानन्द-पराभूति, चर्मकार भी स्वामीजी से उत्तम, गाली-सहस्रनाम आदि पुस्तक और दण्डनीय, आदि विज्ञापन समाचारों में छपवाया तथा ताली शब्द आदि और जैसा असभ्य अनर्थ लेख स्वामीजी पर किया है और स्वामीजी ने संवत् १९२६ के शास्त्रार्थ में किसको गालीप्रदान वा दुर्वचन पुष्पाञ्जलि की थी? और जैसे पक्षपात क्रोधरहित होने के लिये स्वामीजी को लिखते हैं तो राजाजी ने पक्षपात और क्रोधयुक्त स्वामीजी को कब देखा था? भला क्या पूर्वोक्त तो सुवचन पुष्पाञ्जलि है और स्वामीजी का लेख दुर्वचन पुष्पाञ्जलि कहा जा सकता है? डाक्टर टीबोसाहब बहादुर स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के मनुष्य होने में भी सन्देह लिखते हैं। क्या डाक्टर टीबोसाहब को अपने सहीस आदि नौकरों के तो मनुष्य होने में कुछ भी सन्देह नहीं, किन्तु केवल स्वामीजी के मनुष्य होने में सन्देह करते हैं क्या यह बात अद्भुत गम्भीराशय और असङ्गत नहीं है? अहो! क्या ऐसे लेख को भी बुद्धिमान् लोग अच्छा समझेंगे। धन्य हैं! श्रीयुत शिवप्रसादजी वादी और धन्य हैं उनके साक्षी अर्थात् श्रीमज्जगत्-पूज्य स्वामी विशुद्धानन्दसरस्वतीजी, श्रीमत् पण्डितवरधुरन्धर अज्ञानतिमिरनाशनैकभास्कर बालशास्त्री जी महाराज आर्यंजन और विद्वज्जनमण्डलीभूषण काशीराजस्थापितपाठशालाध्यक्ष डाक्टर टीबोसाहब बहादुर यूरोपोयन् कि जिन्होंने परस्पर मिलकर अपना अभीष्ट मत प्रकाशित किया है। क्या भला ऐसे ऐसे महाशयों के सामने मेरा लेख हास्यास्पद न होगा और क्या ऐसे ऐसे महात्माओं की साक्षी होने पर राजाजी के विजय होने में किसी को सन्देह भी रहा होगा? वाह! वाह!! वाह!!! जो कोई परपक्षनिषेध और स्वपक्ष सिद्ध करे तो ऐसी ही बुद्धिमत्ता से करे क्या सहायक अनुमतिदायक भी ऐसे होने योग्य हैं जहाँ अर्थी ही साक्षी और न्यायाधीश हों वहां जीत क्यों न होवे, क्यों न हो। क्या यही सत्पुरुषों का काम है कि जहां तक बने दूसरे की निन्दा अपनी स्तुति करना अपना सुकर्म समझना। हां मैं भी तो राजा शिवप्रसादजी और स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वतीजी वा बालशास्त्रीजी और डाक्टर टीबोसाहब बहादुर साक्षी आदि महाशयों के सामने स्वामीजी की मनमानी निन्दा और अप्रतिष्ठा करने में तत्पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता, तो उनके प्रशंसनीय गुणकर्मस्वभाव न जानता होता, उनकी निन्दा और अपमान करने में कमती कभी करता। परन्तु वाल्मीकि मुनि ने कहा है कि **सहवासी विजानीयाच्चरित्रं सहवासिनाम्**। बिना किसी के सङ्ग किये उसके गुण दोष विदित नहीं हो सकते। संवत् १९२८ से १९३७ के वर्ष पर्यन्त मेरा और स्वामीजी का समागम रहा है जितने वर्ष वा महीने स्वामीजी का सत्सङ्ग मैंने किया है और यथा-बुद्धि थोड़े से वेद भी देखे हैं उतने दिन और उतने मुहूर्त्त भी उनका समागम राजाजी आदि ने न किया होगा। नहीं तो इतना अटाटूट विरोध कभी न करते। देखिये कई एक बड़े सेठ साहूकार रईस बुद्धिमान् पण्डित सज्जन लोग राजे महाराजे स्वामीजी को अत्यन्त मानते, श्रद्धा करते और उपदेश को भी स्वीकार करते हैं और बहुतेरे विरुद्ध भी हैं, तथापि कभी किसी का पक्षपात किसी से लोभ, किसी का भय, किसी की खुशामद, किसी से छल वा किसी से धन हरने का उपाय वा किसी से स्वप्रतिष्ठा की चेष्ठा आदि अशिष्ट पुरुषों के कर्म करते इनको मैंने कभी नहीं देखा। और क्या जैसी सबकी सत्य बात माननी और असत्य न माननी स्वामीजी की रीति है वैसी ही राजाजी को मानने योग्य नहीं है ! परन्तु इतने पर भी मैं बड़े आश्चर्य में हूँ कि राजाजी आदि महाशय निष्कारण ईर्ष्या और परोत्कर्षासहनरूप यानारूढ़ होकर स्वामीजी की बुराई करने में बढ़ते ही चले जाते हैं, न जाने कब और कहां तक बढ़ेंगे। क्या इसका फल आर्य्यवर्त्तादि देशों की अनुन्नति का कारण न होगा ? क्यों न यह घर की फूटरूपी रसास्वादन का प्रवाह दुर्योधनरूप हलाहल सागर से बहता चला आता हुआ आर्य्यावर्त्तस्थ मनुष्यों के अभाग्योदयकारक प्रलय को प्राप्त अब तक न हुआ। क्यों इसको परमेश्वर अपने कृपाकटाक्ष से अब भी नहीं रोक देता कि जिससे हम सब सर्वतन्त्र सिद्धान्तरूप प्रेमसागरामृतोदधि में स्नान कर त्रिविध ताप से छूटकर परमानन्द को प्राप्त हों जैसे द्वीपद्वीपान्तर के वासी मुसलमान, जैन, ईसाई आदि मनुष्य अपने स्वदेशी और स्वमतस्थों को आनन्दित कर रहे हैं। क्या ऐसे हम लोगों को न होना चाहिये, प्रत्युत सब देशस्थ समग्र मनुष्यादि प्राणिमात्र के लिये परस्पर उपकार विद्या शुभाचरण और पुरुषार्थ कर अपने पूर्वज कि जिन महाशय आर्यों के हम सन्तान हैं उनका दृष्टान्त अर्थात् उपमेय न हों। और जैसी उनकी कीर्ति और प्रतापरूप मार्त्तण्ड भूगोल में प्रकाशित हो रहा था उनका अनुकरण क्यों न करें। और इसमें आश्चर्य कोई क्यों मानें कि राजाजी और उनके अनुयायी साक्षी स्वामीजी को अविद्वान् पशु अन्धे आदि यथेष्ट शब्दों से निन्दा करते हैं।

मैं निश्चित कहता हूं कि स्वामीजी की [ऐसी] निन्दा अप्रतिष्ठा और विरोधता किसने नहीं की। काशी में संवत् १९२६वें वर्ष में उनपर हल्ला किया, संखिया मिलाकर पानबीड़ा दिया, बुरी बुरी निन्दा के पुस्तक और विज्ञापन दिये, कई ठिकाने मारने को आये, ऊपर पत्थर और धूल फेंकी, जिले बुलन्दशहर करणवास के समीप जहाँ स्वामीजी रहते थे, वहीं किसी ने रात के १ बजे के समय १० आदमी तलवार और लट्ठ लेकर मारने को भेजे, कई नास्तिक कहते, कई क्रश्चीन बतलाते, कई क्रोधी और कई पशुवत् नीच विशेषण देते, कई उनका मुख देखने में पाप बतलाते और पास जाने को अच्छा नहीं कहते, कोई कलि का अवतार, कोई कल मरते आज ही मर जाय तो अच्छा, कई मजिस्ट्रेटों के कान भर व्याख्यान बन्द करा देने में प्रयत्न कर चुके और कई इनके बनाये पुस्तक भी हाथ में न लेना न देखना, कई अपने बाग-बगीचों में उनका रहना भी स्वीकार नहीं करते, कई वेश्या का मुख देखने, सङ्ग करने और पुंसि मैथुनाचरण में भी अपना धन्य जन्म मानते और औरों को उत्साहित करते हैं और स्वामीजी के दर्शन और संग उससे भी बुरा बतलाते हैं, कई स्वामीजी और स्वामीजी के उपदेश मानने वालों को महानरक में गिरना चिल्लाते हैं, आप गौतम और कणादादि महाशयों से अपने को बुद्धिसागर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठहराते और स्वामी को निर्बुद्धि सहज प्रश्नों के उत्तर के अदाता कहते और कई चमार चाण्डाल आदि में विद्वत्ता और मनुष्य होने की शङ्का नहीं करते और स्वामीजी में विद्वत्ता के होने और मनुष्यपन में भी शङ्का बतलाते हैं, कोई रेल का भाड़ा भी नहीं लगता, ऐसा कहते हैं। अब कहाँ तक इस लम्बी गाथा को कहूँ। मैं ऐसी बातें सुनता और लिखता हुआ थकित हो गया, क्या ये पूर्वोक्त बातें आर्यावर्त्त के दौर्भाग्य के कारण नहीं हो रही हैं? तथापि धन्य है स्वामीजी को, इतने हुए पर भी सनातन वेदोक्त आर्योन्नति के यत्नों से विरक्त न होकर परोपकार से अपना जन्म सफल कर रहे हैं। भला जो धर्म और परमात्मा की कृपा न होती और परमत द्वेषी स्वमतानुरागी क्षुद्राशय लोगों का राज्य होता तो स्वामीजी का आज तक शरीर बचना भी दुस्तर हो जाता? क्या जो आर्य लोग भी मुसलमान आदि के तुल्य होते तो अब तक स्वामीजी का मुख और हस्त वेदभाष्यादि पुस्तक लिखने के लिये आज तक कुशल रह सकते? और जो स्वामीजी में पक्षपातराहित्य सत्यता विद्वत्ता शान्ति निन्दा स्तुति में हर्ष शोक रहितता न होती और विमलविद्याप्रगल्भता धार्मिकता आप्तत्वादि शुभ गुण न होते तो ऐसे ऐसे सनातन वेदोक्त सत्य धर्मोपदेशादि प्रशंसनीय आर्योन्नति के दृढ़ कारण प्रकाशित और सुस्थिर कभी न कर सकते क्योंकि देखो आर्यावर्त में प्रशंसनीय महाशय विद्वानों के विद्यमान रहते भी आर्यावर्त्तीय मनुष्यों की वेदोक्त धर्माढ्यता प्राचीन अभ्युदयोदय प्रच्छन्न क्यों रह जाता? क्या प्रत्यक्ष में भी भ्रम है कि देखिये जो हम आर्यों को बिना आसमानी किताब[1] वाले बुतपरस्त, नालायक, इनके मत का कुछ भी ठिकाना नहीं, आदि आक्षेपों से जैन मुसलमान और ईसाई लाखह् क्रोड़ह् बहका के अपने मत में मिलाते और कहते थे कि आओ हमसे वादविवाद करो हमारा मजहब सच्चा और तुम्हारा झूठा है वे ही अब स्वामीजी के सामने वेदादि शास्त्रों और तदुक्त आर्य्यधर्म का खण्डन तो दूर रहा, परन्तु वाद करना भी असह्य समझते और कहते हैं कि आप हम पर प्रश्न मत कीजिये डरते हैं। स्वामीजी के सन्मुख तो ऐसा है परन्तु जिन्होंने स्वामीजी के ग्रन्थ देखे और उनका समागम यथावत् किया है उनके भी सामने वे विजयवन्त नहीं हो सकते, इत्यादि। जो राजाजी आदि स्वामीजी के स्तुत्य गुणकर्म स्वभाव जानते तो उनके साथ ऐसा विरुद्ध वर्त्तमान कभी न करते। सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक सर्वनियन्ता जगदीश्वर सब आर्यों के आत्माओं में परस्पर प्रीति गुण स्वीकार दोषपरिहार वेदविद्योन्नतिरूप कल्पवृक्ष और चिन्तामणि को सुस्थिर करे, जिससे सब आर्य्य भाई उसको परस्पर प्रेम और उपकाररूप सुन्दर जल से सींचकर उसके आश्रय से प्राचीन आर्य्यपदवी को पाकर आनन्द में सदा रहें और सबको रक्खें॥

राजाजी का बनाया इतिहास मैंने देखा, तो अद्भुत बातें दिखाती हैं। इनसे यह भी प्रसिद्ध है कि जो स्वश्लाघा और अभिमान करेगा तो इतना ही करेगा निम्न लेख से यह बात सबको विदित हो जायगी, क्योंकि इङ्गित चेष्टित से मनुष्य का अभिप्राय गुप्त नहीं रह सकता। राजाजी का कुछ अभी ऐसा वर्त्तमान है सो नहीं, किन्तु **स्वभावो नान्यथा भवेत्** जैसा स्वभाव मनुष्य का होता है वह छूटना दुस्तर है। जो उन्होंने इतिहासतिमिरनाशक ग्रन्थ बनाया है उसको कोई विद्वान् पक्षपातरहित सज्जन पुरुष ध्यान देकर देखे तो राजाजी की मानसपरीक्षा और सौजन्य विदित अवश्य हो जावे कि इनका क्या अभीष्ट है। उसमें अप्रमाण वेदादिशास्त्राभिप्रायशून्य बहुत बात हैं और कुछ अच्छी भी है जो अच्छी हैं उनका स्वीकार और जो अन्यथा हैं उनके संक्षेप से दोष भी प्रकाशित करता हूँ, जैसे मुझको विदित होता है।

१. अर्थात् ईसाई और मुसलमान।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहासतिमिरनाशक पृष्ठ १ पंक्ति ११—बाप, दादा और पुरखा तो क्या हम इस ग्रन्थ में उस समय से लेकर जिससे आगे किसी को कुछ मालूम नहीं आज पर्य्यन्त अपने देश की अवस्था लिखने का मंसूबा रखते हैं।

राजाजी थोड़ा-सा भी सोचते तो इतना अपना गौरव अपने हाथ से लिखने में अवश्य कम्प जाकर रुकके यथार्थ बात को समझ सकते। क्या अपने पुरखों से स्वयं उत्तम और सब आर्य्यावर्त्त-वासियों को इतिहासज्ञान विषय में निकृष्ट अज्ञानी कर स्वश्लाघी स्वयं नहीं बने हैं? क्या कोई भी पूर्ण विद्वान् स्वमुख से अपनी कीर्ति को कह सकता है? यह सच है कि जितना जितना विद्याविनय मनुष्य को अधिक होता है उतना-उतना वह सुशील, निरभिमानी, महाशय होता और जितना-जितना वह कम विद्वान् होता है उतनी-उतनी उसको कुशीलता, अभिमान और स्वल्पाशयता होती है।

इतिहास पृष्ठ १, पं० १९—पुराना हाल जैसा इस देश का बेठौर ठिकाने देखने में आता है विरले किसी दूसरे देश का मिलेगा।

वाह! वाह!! वाह!!! न जाने किस देश की पाठशाला में इतिहासों को पढ़के राजाजी को अपूर्वविज्ञान हुआ क्या यूरोप अमेरिका एफ्रीका आदि देशों के पूर्व इतिहासों से भी आर्यावर्त्त देश का प्राचीन इतिहास बुरा है? यह भी इनका लेख आर्य लोगों को ध्यान में रखना चाहिये।

इतिहा० पृष्ठ ३, पंक्ति २—आगे संस्कृत श्लोक बनाते थे अब भाषा में छन्द और कवित्त बनाते हैं क्योंकि गद्य का कण्ठस्थ रखना सहज है निदान ये भाट इसी में बड़ाई समझते हैं।

क्या ही शोक की बात है कि मनु, वाल्मीकि, व्यास प्रभृति ऋषि महर्षि महात्मा महाशय ब्राह्मण लोगों को तो राजाजी भाट ठहराते हैं और आप महात्माओं के निन्दक और उपहासकर्त्ता होकर नकली पदवी को धारण करते हैं। विदित होता है कि आर्यावर्त्तीय धार्मिक आप्तपुरुषों की निन्दा और विदेशियों की अत्युक्ति सदृश स्तुति ही से ही राजाजी प्रसन्न बनते हैं।

इतिहा० पृष्ठ ४, पं० ३०—हाय हमारे देश में इतना भी कोई समझनेवाला नहीं है।

सिवाय आपके ऐसी-ऐसी गूढ़ बातों के मर्म को कौन समझ सकता है? तब ही तो आप सबसे बड़ा मंसूबा बांधकर इतिहास लिखने को प्रवृत्त हुए।

इतिहा० पृ० १०—बहुतेरे हिन्दू यह भी कहेंगे कि जो बात पोथो में लिखी गई और परम्परा से सब हिन्दू मानते हैं चले आये भला अब वह क्योंकर झूठ ठहर सकती हैं।

भला यहां तो हिन्दुओं की परम्परा का तिरस्कार राजाजी कर चुके और दोनों निवेदनों में ब्राह्मण पुस्तकों को वेद मानने के लिये स्वीकार किया है। ठीक है मतलब सिन्धु ऐसी ही चतुराई से पूरा करना होता है।

इतिहा० पृष्ट १२, पं० ६ से लेकर पृष्ठ १४, पं० ११ तक—बौद्ध जैन हिन्दुओं के मतविषयक बातें लिखी हैं इससे विदित होता है कि राजाजी का मत बौद्ध जैनी ही है। इसीलिये अपने मत की प्रशंसा वैदिकमत की निन्दा मनमानी की है। यह इनको अच्छा समय मिला की कोई जाने नहीं और वैदिक मत की जड़ उखाड़ने पर सदा इनकी चेष्टा है। पुनः स्वामीजी जो सनातन रीति से वेदों का निर्दोष सत्य अर्थ ठीक-ठीक प्रकाशित कर रहे हैं इनको अच्छा कब लग सकता है। इसीलिये निवेदनों[1] में भी अपनी सदा की चाल पर राजाजी चलते हैं इसमें क्या आश्चर्य है?

१. निवेदन नाम की पुस्तकों में।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहा० पृष्ठ १५, पं० १—हिन्दुओं की प्राचीन अवस्था…।

यह बड़ा अनर्थ राजाजी का है कि आर्यों को हिन्दू और पारस देश से आये हैं। पहली बात तो इनकी निर्मूल है, क्योंकि वेदों से ले-के महाभारत तक किसी ग्रन्थ में आर्यों को हिन्दू नहीं लिखा। कौन जाने राजाजी के पुरखे पारस देश से ही इस देश में आये हों और उनका परम्परा से स्वदेश पारस का संस्कार अब तक चला आया हो। क्या यह बात असम्भव है कि इस आर्य्यावर्त्त ही से कोई मनुष्य पारस देश में जा रहे हों, क्योंकि पारस देश में उत्पन्न हुई माद्री पाण्डु राजा से विवाही थी उसी समय वा आगे-पीछे वहाँ से यहाँ और यहाँ से वहाँ आ-जा रहने का सम्भव हो सकता है और क्या जो पारस देश से आकर ही बसे होते तो पारसी लोगों वा ईरानवालों के प्राचीन इतिहासों में स्पष्ट न लिखते ?

इतिहा० पृष्ठ १५, पं० ५—असुर को अहुर। नोट—पं० १३—यहाँ भी ऋग्वेद के आरम्भ में असुरः असुर का अर्थ सुर लिया है और उसे सूरज का नाम माना है। प्राणदाता असुरः सर्वेषां प्राणदः। असुर राक्षस के लिए तभी से ठहराया गया जब से सुर, देव, देवता के लिए ठहरा इत्यादि।

धन्य है—मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी, इसमें तो कुछ दोष नहीं कि असुर को वे पारसी लोग अहुर कहें, परन्तु जो बातें ऋग्वेद के नाम से राजाजी ने लिखी हैं सब निर्मूल हैं, क्योंकि ऋग्वेद के आरम्भ में तो 'असुरः प्राणदाता, असुरः सर्वेषां प्राणदः' ये नहीं हैं, किन्तु ऐसा पाठ ऋग्वेदभर में कहीं नहीं है। क्या आश्चर्य है कि ईरानवाले जिद्द से देव को राक्षस कहते हों।

इतिहा० पृष्ठ १५, पं० ७—हिन्दू अपने तईं दूसरी जाति के लोगों से जुदा रहने के निमित्त आर्य पुकारते थे और इन्हीं के बसने से यह देश हिमालय से विन्ध्य तक आर्य्यावर्त्त कहलाया। पारस देश-वाले भी आर्य थे, वरन् इसी कारण उसको अब भी ईरान कहते हैं।

क्या अद्भुत लीला है ईरानवाले तो अब तक ईरानी, पारसवाले पारसी ही बने रहे, आर्य नामवाले क्यों न हुए। कैसा झूँठ लिखा है कि अपने जुदा रहने के लिये आर्य पुकारते थे। जो ऋग्वेदकी कथा भी राजाजी ने सुनी होती तो—विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवः, उत शूद्र उतार्य्ये। इनका अर्थ यही है आर्य्य श्रेष्ठ और दस्यु दुष्ट, आर्य्य द्विज और शूद्र अनार्य को कहते हैं। इसको जानते तो ऐसा अनर्थ क्यों लिख मारते। जो ईरान से आर्य्य हो जाता है तो (आरा) और (अरि) आदि शब्दों से आर्य्य सिद्ध करने में किसी को राजाजी न अटका सकेंगे। ऐसे बहुत पुरुष अपनी प्रशंसा के लिये विदेशियों की झूँठी खुशामद किया ही करते हैं।

इतिहा० पृष्ठ १५, पं० २८—ईरान की पुरानी पारसी भाषा में एक प्रकार की संस्कृत थी अर्थात् उसी जड़ से निकली थी, जिससे संस्कृत निकली है।

भला पारसी पढ़े बिना ऐसी-ऐसी गुप्त जड़ों की खोज राजाजी न करते तो कौन करता ? जो थोड़ा-सा भी विचार करते तो श्रेष्ठ गुणों से आर्य्य और किसी एक मनुष्य का नाम है आर्य्य, उससे और इस देशवालों से क्या सम्बन्ध हो सकता है ? जितने दृष्टान्त संस्कृत पुरानी पारसी के उदाहरण दिये हैं ये सब संस्कृत से पुरानी पारसी बनी है, यह ठीक है, क्योंकि पारस देश का नाम-निशान भी न था, तबसे आर्य्य और आर्य्यावर्त्त देश है। जब पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया है तब यवन देश के सब राजा आये थे। उसी ईरान का राजा शल्य भी महाभारतयुद्ध में आया ही था। इसलिये राजाजी का ऐसा अनुभव केवल पारसी भाषा पढ़ने से हुआ है संस्कृत से नहीं।

इतिहास पृष्ठ १६, पं० २ से—ये आर्य्य उस समय सूर्य्य के उपासक थे, वेद में सूर्य्य की बड़ी महिमा गायी है। हिन्दुओं का मूलमन्त्र गायत्री इसी सूर्य्य की वन्दना है। विष्णु इसी सूर्य्य का नाम है।

राजाजी का स्वभाव सबसे विलक्षण है, कोई कहता हो दिन, तो वे रात कहें। यद्यपि वेदों में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्य्य शब्द से परमेश्वर आदि कई अर्थ प्रकरण से भिन्न-भिन्न कहे हैं परन्तु उपासना में सूर्य्य शब्द से जिसको गायत्री मन्त्र कहता और जो व्यापकता से विष्णु है वहाँ परमेश्वर ही लिया है, अन्यत्र भौतिक ।

इतिहा० पृष्ठ १८, पं० १—आकाश को इन्द्र ठहराया ।

वेदों में इन्द्र शब्द से आकाश का ग्रहण कहीं नहीं किया है । हाँ राजाजी ने अपनी कल्पना से समझा होगा ।

इतिहा० पृष्ठ १८, पं० ३—गाय, बैल, घोड़ा, भेड़ और बकरी इत्यादि का बलि देते थे और उनका मांस भून-भून और उबाल-उबालकर खाते थे । नोट—ऋग्वेद में एक अश्वमेध का हाल यों लिखा है घोड़े के आगे रङ्ग-विरङ्ग की बकरियाँ रखकर उससे अग्नि की परिक्रमा दिलाई और खम्भे से बाँधकर और फरसे से काटकर उसका गोस्त सींक पर भूना और उबाला और गोले बनाकर खा गये ।

हाय ! ऐसे अनर्थ लेख से वेद और आर्य्यों की निन्दा कर राजाजी ने सन्तुष्टि क्यों की ? क्योंकि गाय आदि पशुओं का मारना वेदों में कहीं नहीं लिखा, न शराब का पीना और अश्वमेध का ऐसा हाल कहीं भी नहीं लिखा । राजाजी ने वाममार्गियों के सङ्ग से ऐसी बात, कि जिससे वेदों की निन्दा, हँसी हो, लिखी होगी ।

इतिहा० पृष्ठ १६, पं० १२—वर्णभेद शुरू में दो ही रहा होगा अर्थात् गोरा और काला । वर्ण का अर्थ रङ्ग है ।

वाह क्या चतुराई की लटा झलक रही है ? क्या गोरे और काले के बीच में कोई भी रङ्ग नहीं होता और वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे, वर्ण नाम अक्षर, वर्ण नाम स्वीकार अर्थ क्या नहीं होते ? स्वार्थी दोषन्न पश्यति, हाँ, यह तो है कि बिना गोरों की प्रशंसा के स्वार्थसिद्ध क्योंकर होता ?

इतिहा० पृष्ठ २० से लेके अङ्गरेज़ के पैर पकरने अर्थात् ग्रन्थ की समाप्ति पर्य्यन्त राजाजी ऐसी चाल-चलन से चले हैं कि जिससे इस देश की बहुत बुराई और कुछ अन्य देशों की भी, वेदादिशास्त्रों की निन्दा और जैनमत की इङ्गित से प्रशंसा और अङ्गरेज़ों की प्रशंसा में जानों सब भाटों के प्रपितामह ही बन रहे हैं । क्या ही शोक की बात है कि इतिहासतिमिरनाशक के तीसरे खण्ड में कितने बड़े वेद आदि शास्त्रों और आर्य्य तथा आर्य्यावर्त्त देश की निन्दा लिखकर छपवाई है तो भी राजाजी के चरित्र पर किसी आर्य्य विद्वान् ने विचार कर प्रत्युत्तर नहीं किया । मैंने अल्पसामर्थ्य से "स्थालीपुलाकन्याय" के समान थोड़ा-सा नमूना राजाजी का दिखलाया है । इतने ही से सब बुद्धिमान् राजाजी के और मेरे गुण-दोषों का विचार यथावत् कर ही लेंगे । जिन्होंने वेद और आर्य्यावर्त्त की गर्हा करनी ही अपनी बड़ाई समझ ली है तो स्वामीजी की निन्दा करें इसमें क्या आश्चर्य है ? सर्वशक्तिमान् परमात्मा परमदयालु सबपर कृपा रक्खे कि कोई किसी की निन्दा न करे, सत्य को माने और झूठ को छोड़ दे । मेरा यहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि किसी की व्यर्थ निन्दा करूँ वा मिथ्या स्तुति । हाँ इतना कहता हूँ कि जितनी जिसकी समझ है उतना ही कह और लिख सकता है । मेरी धार्मिक विद्वानों से प्रार्थना है कि जो कुछ मुझसे अन्यथा लेख हुआ हो तो क्षमा करें और अपनी प्रशंसनीय विद्यायुक्त प्रज्ञा से उसको शुद्ध कर लेवें, इसपर सत्य-सत्य परामर्श का प्रकाश कर आर्यों को सुभूषित करें ।

ऋषिकालाङ्कभूवर्षे तपस्यस्याऽसिते दले ।
दिक्तिथौ वाक्पतौ ग्रन्थो भ्रमच्छेत्तुमकार्य्यलम् ॥

॥ इति भीमसेनशर्म्मकृतोऽनुभ्रमोच्छेदनो ग्रन्थः पूर्णः ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उर्दू ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की भूमिका

अनुवादक—डॉ० श्री भवानीलाल भारतीय, अध्यक्ष-दयानन्द पीठ, पं० वि० वि० चण्डीगढ़

[आज से ८५ वर्ष पूर्व महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रारम्भिक अंश का उर्दू अनुवाद प्रकाशित किया था। इसकी भूमिका जो उर्दू में थी, नागरी लिपि में लिखकर श्री ओम्प्रकाश जी (भूतपूर्व कार्यालयाध्यक्ष आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब) ने कुछ वर्ष पूर्व मेरे पास भेजी थी। मैंने इसका हिन्दी अनुवाद स्वाध्यायशील पाठकों के लाभार्थ किया है। पाठक देखेंगे कि किस प्रकार भूमिका के संस्कृत अंश का आर्य भाषानुवाद करने में अनुवादक पण्डितों ने असावधानी की है। सायंकालीन हवन में 'अग्निर्ज्योति' को दूसरी बार मौन होकर बोलने की जो प्रथा आजकल चल पड़ी है, उसके एक अन्य पहलू पर म० मुन्शीरामजी ने अच्छा प्रकाश डाला है। निश्चय ही हिन्दी भाषा का यदि मूल संस्कृत के साथ मिलान किया जाय, तो इस प्रकार की शतशः असावधानियाँ प्रकट होंगी। आशा है 'भूमिका' की यह उर्दू भूमिका पाठकों के लिये रोचक एवं ज्ञानवर्धक होगी।

—भवानीलाल भारतीय]

आर्यसमाज का विचार है कि वेदों के धर्म को शताब्दियों के पश्चात् अज्ञान के पर्दे से बाहर लाने का कार्य स्वामी दयानन्द ने किया है। हमारे हिन्दू भाइयों का विचार है कि यद्यपि स्वामी दयानन्द ने आर्यसन्तति का ध्यान वेदों और संस्कृतविद्या की ओर आकृष्ट किया है तथापि उन्होंने वेदों की नई व्याख्या लिखकर सनातन धर्म की काया ही पलट दी है। ईसाई और मुसलमान भाइयों का विचार है कि नूतन ज्ञान-विज्ञान से सहायता लेकर स्वामी दयानन्द ने वेदों के अर्थ ऐसे परिवर्तित कर दिये हैं कि उनकी असभ्यतापूर्ण शिक्षाएँ अब पर्दे की ओट में रह गई हैं, अन्यथा वस्तुतः वेदमन्त्र केवल जंगली लोगों के विचारों की अभिव्यक्ति से अधिक कुछ नहीं हैं। कहाँ तक लिखा जाये, हर सम्प्रदाय और मत वाले, यहाँ तक कि नास्तिक भी स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य के सम्बन्ध में अपनी पृथक् राय रखते हैं।

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य के सम्बन्ध में चाहे लोग भिन्न-भिन्न विचार क्यों न रखते हों, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि स्वामीजी ने धार्मिक जगत् में एक जबरदस्त हलचल पैदा कर दी है, और जिन कारणों से यह हलचल पैदा हुई, वे भी कम रोचक नहीं हैं। जिन कारणों से स्वामी दयानन्द ने सायण, महीधर और अन्य समस्त पौराणिक युग के भाष्यकारों तथा वर्तमान के यूरोपियन तथा अमेरिकन संस्कृतज्ञों से मत वैभिन्न्य प्रकट किया है, उनका जानना प्रत्येक न्यायप्रिय व्यक्ति के लिए आवश्यक है, चाहे उसके विचार स्वामी दयानन्द के विचारों के साथ मेल खाते हैं या नहीं खाते।

ये सब कारण स्वामी दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका नामक पुस्तक में अंकित कर दिये थे जिसका लगभग एक तिहाई अंश का उर्दू अनुवाद मैं सत्यप्रिय लोगों के लिए अब प्रस्तुत करता हूँ। यह पुस्तक स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य की भूमिका के रूप में है। इसमें आर्यसमाज के प्रवर्तक ने वेदभाष्य करने के लिए प्रामाणिक पुस्तकों का पता बताया है और उनकी सहायता से वेदों के अर्थ पर पड़े हुए उस आवरण को दूर कर दिया है जिसके कारण आर्यसन्तति दीर्घ अवधि तक उसकी विशेषताओं से अपरिचित रही। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस पुस्तक का अभिप्राय जानना आवश्यक है। यद्यपि लेखक के विचारों की सूक्ष्मता तथा उसके अन्वेषण की विशेषता मूल संस्कृत के ग्रन्थ को पढ़ने से ही ज्ञात

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकती है तथापि, जबकि स्वामी दयानन्द ने वेदों के प्रमाण से ही हर व्यक्ति को वैदिक ज्ञान का अधिकारी बताया है, तो मैंने भी वैदिक ज्ञान के इस भण्डार को उर्दू जाननेवाले लोगों तक पहुँचाना अपना कर्तव्य समझा, अत: वेदों की प्राचीनता, उनका ईश्वरोक्त होना से सम्बन्धित सब अध्याय पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करता हूँ। यदि लोगों ने इस भाग को खरीदकर यह सिद्ध कर दिया कि मैं उनकी सेवा करने में सफल हुआ हूँ तो अवशिष्ट ग्रन्थ का अनुवाद भी एक दो भागों में इसी ढंग से छपवाकर प्रकाशित कर दूंगा।

मूल पुस्तक में सर्वप्रथम वेद या किसी शास्त्र के प्रमाण तथा तथ्य उद्धृत किये गये हैं तत्पश्चात् स्वामीजी ने मूल का अनुवाद या अभिप्राय अपनी सम्मति और प्रमाणों के साथ संस्कृत में लिखा है। इसके पश्चात् उस संस्कृतभाग का हिन्दी अनुवाद दिया गया है, किन्तु मूल संस्कृतपाठ का इस हिन्दी अनुवाद के साथ मिलान करने से मालूम होता है कि इस हिन्दी रूप को संस्कृत का ठीक अनुवाद कदापि नहीं कह सकते, बल्कि कहीं-कहीं तो हिन्दी पाठ संस्कृत से भिन्न या अधिक दिखाई देता है। अनेक स्थानों में हिन्दी के पाठ में संस्कृत अंश के बिल्कुल विपरीत विचार प्रकट किये गये हैं। इन सब त्रुटियों को देखकर बड़ा भारी आश्चर्य हुआ करता था, किन्तु यह आश्चर्य १८९४ ई० के लगभग बिल्कुल दूर हो गया जब ज्ञात हुआ कि हिन्दी अनुवाद से स्वामीजी का कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि उसके लिए वैदिक यन्त्रालय के कर्मचारी पण्डितगण उत्तरदायी हैं। इस आश्चर्यजनक वास्तविकता के ज्ञात होने पर मैंने सद्धर्मप्रचारक (जालन्धर नगर) में (जिसका कि मैं सम्पादक हूँ) २८ जनवरी १८९४ को निम्न शीर्षक से एक लेख प्रकाशित किया था।

'स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य और उसकी रक्षा।' मैं इस स्थान पर उस लेख में से एक लम्बा उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ, जिससे इस लेख के पाठकों को ज्ञात हो जायेगा कि जिन नियमों के अनुसार मैंने इस पुस्तक का अनुवाद किया है उनकी क्या आवश्यकता थी।

"१८९१ की समाप्ति तक हमारा यही विचार रहा कि संस्कृतभाष्य और उसका सम्पूर्ण हिन्दी अनुवाद महर्षि का किया हुआ है। इसीलिए जब उसी प्रसंग में पं० लेखराम आर्यमुसाफिर ने हिन्दी अनुवाद की त्रुटियों की ओर आर्यजनता का ध्यान आकृष्ट किया तो इस प्रश्न का समाधान निकालना हमारे लिए कठिन हो गया कि क्या महर्षि दयानन्द के अनुवाद में किसी को न्यूनाधिक करने का अधिकार है वा नहीं, किन्तु हमें घोर आश्चर्य साथ ही अत्यन्त प्रसन्नता भी हुई जबकि हमने उसी वेदभाष्य के अंकों पर यह पंक्ति छपी देखी कि आर्यभाषा में अनुवाद यन्त्रालय के पण्डित करते रहे हैं, महर्षि दयानन्दकृत लेख केवल संस्कृत में है। पं० श्यामजी कृष्णवर्मा आर्यजनता के विशेष धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने कि परोपकारिणी सभा के अधिकारियों की आँखें इस विषय में खोलीं और बड़ा जोर देकर उपर्युक्त सूचना प्रकाशित करवाई।"

पण्डित लेखराम के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ कि परोपकारिणी सभा को भी हिलना पड़ा और यजुर्वेदभाष्य की जाँच-पड़ताल करने का काम आर्य प्रतिनिधिसभा पंजाब को दिया गया। पंजाब की सभा ने इस काम को कुछ आर्यपुरुषों में बाँट दिया जिनमें हम भी सम्मिलित थे, किन्तु खेद है कि फिर कभी न तो परोपकारिणी सभा की तरफ से प्रयत्न हुआ और न पंजाब के आर्यों ने ही अपना कर्तव्य पूरा किया, किन्तु पंजाब के आर्यों के आलस्य का एक दूसरा और कारण था परोपकारिणी सभा की तरफ से यजुर्वेदभाष्य की पड़ताल की प्रार्थना के साथ हमारी प्रतिनिधिसभा से यह भी पूछा गया था कि क्या हममें से कोई आर्यपुरुष वेदभाष्य के नये अंकों के प्रूफ देखने के लिए अपनी सेवाएँ दे सकता है या नहीं। इसके उत्तर में दो-तीन आर्यपुरुषों के नाम लिखे गये थे, जिन्होंने इस सेवा को स्वीकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया था और वे इस प्रतीक्षा में थे कि अब प्रूफ आते हैं, किन्तु प्रूफ कभी नहीं आये। इसलिए पंजाब की सभा ने यह सोचकर कि परोपकारिणी सभा को उनसे अधिक सहायता लेना स्वीकार नहीं है, पूर्ण शान्ति धारण कर ली।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हिन्दी अनुवाद की त्रुटियों से क्या कोई खास हानि हुई? अगर ये ग़ल्तियाँ केवल भाषा या व्याकरण की होतीं तो इनपर विचार करने की इस समय आवश्यकता न थी, क्योंकि दूसरी आवृत्ति में ऐसी त्रुटियाँ सावधानी के साथ छापने में सरलतापूर्वक दूर की जा सकती थीं। लेकिन भूमिका और वेदभाष्य की हिन्दी में स्थान-स्थान पर ऐसे अर्थ किये गये हैं जिनका संस्कृतभाष्य में नाममात्र भी संकेत नहीं है और अर्थों की इसी न्यूनाधिकता के कारण अनेक स्थानों पर सिद्धान्तों में भी भ्रम पैदा होने की सम्भावना हो गई है। पं० लेखराम ने जिन त्रुटियों का संकेत किया था उनमें एक स्थान पर तो मूल संस्कृत में केवल 'वामदेव' शब्द था, जिसका अर्थ करते हुए पण्डितों ने 'वामदेव ऋषि' लिख दिया और दूसरी जगह 'सरस्वती' शब्द था, जिसका अनुवाद करते समय 'सरस्वती नदी' किया, अर्थात् पण्डितों ने अपनी चालाकी या मूर्खता के कारण महर्षि के सिद्धान्त पर पानी फेरना चाहा कि मूल वेद में विशिष्ट पुरुषों या जल-स्थल आदि का इतिहास नहीं मिलता। इस लेख में इतना स्थान नहीं है कि वेदभाष्य में से छाँटकर इस प्रकार की अन्य त्रुटियों को प्रस्तुत किया जाये। लेकिन नमूने के लिए हम नीचे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में पण्डितों के द्वारा बढ़ाये गये कुछ ऐसे अंश प्रस्तुत करते हैं जिनपर विचार करने से हमारे पाठकों को स्पष्ट मालूम हो जायेगा कि इन भद्र पुरुषों ने जनता को स्वामीजी के सिद्धान्तों के बारे में कहाँ तक भ्रम में डाल रक्खा है।

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ १२२ पर यजुर्वेद अध्याय ३१ मन्त्र ४ की व्याख्या करते हुए महर्षि ने 'अनशन' शब्द की व्याख्या में लिखा है—

"द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिन् इति" जिसका अर्थ यह है कि "दूसरा अनशन यानी अभाव है अशन यानी भोजन का जिसमें" जिसका साफ मतलब यह निकला जो भोजन की चेष्टा नहीं करता। उदाहरण महर्षि ने 'पृथिवी' आदि का दिया है। लेकिन हमारे पण्डितों ने यों अनर्थ किया है—

"और दूसरा—अनशन अर्थात् जो जड़ और भोजन के लिए बना है।" पाठक ध्यान दें कि एक शब्द के परिवर्तन से अर्थ कैसा उल्टा हो गया। महर्षि का तात्पर्य स्पष्ट है कि भोजन की चेष्टा न करनेवाले जड़ और जीव सम्बन्ध से रहित उन वस्तुओं को बताया है जो कि भोजन के लिए बनी हैं, अर्थात् फल, वनस्पति आदि, पृथिवी का दृष्टान्त ही बतला रहा है कि यहाँ भोजन के योग्य पदार्थ से अभिप्राय नहीं है, क्योंकि पृथिवी को आज तक किसी मनुष्य ने भोजन की जगह प्रयुक्त नहीं किया।

प्रिय पाठक! यही मन्त्र है जिसको वनस्पति में जीव होने के समर्थन में अनेक आर्यपुरुष प्रस्तुत करते हैं और आपने यह भी देखा कि यह दावा केवल पण्डितों के हिन्दी अनुवाद पर निर्भर है, अन्यथा भाष्यकार की संस्कृत में इस विचार का कहीं पता भी नहीं मिलता।

२. भूमिका के पृष्ठ २०५ पर भाष्यकार ने पुनर्जन्म के लिए यजुः० के अध्याय १९ मन्त्र ४७ का प्रमाण दिया है और उसकी पुष्टि में निरुक्त आदि के प्रमाण दिये हैं। इस मन्त्र के संस्कृत भाष्य में दो प्रकार के जीवात्माओं का उल्लेख है—

"अस्मिन्संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः। एकः पितॄणां ज्ञानिनां देवानां विदुषाञ्च द्वितीयो विद्याविज्ञानरहितानां मनुष्याणाम्।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ—"इस संसार में पाप और पुण्य का फल भोगने के लिए दो रास्ते हैं। एक पितरों, ज्ञानियों, देवों और विद्वानों के लिए, दूसरा विद्या-विज्ञानरहित मनुष्यों का।" लेकिन पण्डित महाशयों ने यहाँ बहुत-सी मनघड़न्त बातें लिखकर ऐसे-ऐसे विचार प्रदर्शित किये हैं जिनका कि मूल भाष्य तथा वेदमन्त्र में नामोनिशान भी नहीं है। पण्डित महाशय इस भाष्य का हिन्दी में यों अर्थ करते हैं—"इस संसार में हम दो प्रकार के मनुष्यों को सुनते हैं, एक मनुष्य शरीर का धारण करना और दूसरा नीच गति से पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि का होना। इनमें मनुष्य शरीर के तीन भेद हैं—एक पितृ अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़कर विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारण मनुष्य शरीर का धारण करना आदि।"

अब विचार का स्थल यह है कि पशु से लेकर वृक्ष तक एक भी शब्द संस्कृत भाष्य में नहीं आया। इसलिए जो लोग यहाँ से वृक्षों में जीव का होना और यजुः० अध्याय ३१ मन्त्र ४ की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद से वृक्षों में जीव का अभाव देखकर महर्षि के कथन का परस्पर विरोध समझकर विस्मित हुआ करते हैं उनकी आत्मिक पीड़ा का पाप किसके माथे पड़ेगा? मनुष्य और नीच गति के भेद का संस्कृत भाष्य में पता भी नहीं है। फिर 'पितृ' और 'देव' जो दोनों शब्द एकार्थवाची संस्कृत में बताये गये हैं इनमें मनमाना भेद बताना वेदार्थ को ही उल्टा कर देता है, क्योंकि वेदमन्त्र में 'द्वौ' शब्द स्पष्ट पड़ा हुआ है।

आर्य बन्धुगण! विचारो तो सही कि ऐसे अनर्थों ने कितने जिज्ञासु पुरुषों को सत्पथ के ग्रहण करने से न रोका होगा?

३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ २४६ पर नित्य होम के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए महर्षि ने ८वीं पंक्ति में लिखा है—

"अग्निर्ज्योतिरित्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया तदर्थश्च पूर्ववत्।"

अर्थ—'अग्निर्ज्योतिः' आदि इस मन्त्र से फिर तीसरी आहुति देना। इसका अर्थ उपर्युक्त। परन्तु इसका अर्थ पण्डितों ने इस प्रकार किया है—"तीसरी मौन होके प्रथम मन्त्र से करनी।" ध्यान रहे कि प्रथम मन्त्र यह है—'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा।' ज्ञात होता है कि पञ्चमहायज्ञविधि लिखने समय भी उस समय के लेखकों ने 'भूमिका' के इस अनुवाद से धोखा खाकर ज्यों-की-त्यों मक्खी-पर-मक्खी मारी है। पण्डितों की इस भूल का परिणाम यह है कि प्रायः आर्यपुरुष इस मन्त्र से मौन होकर आहुति देने का कारण अपने पण्डितों से पूछते रहे हैं और समुचित उत्तर न पाकर भ्रम और संशय में पड़ते हैं।

इस भूल का मूल कारण ज्ञात करने के लिए कुछ और विचार करने की आवश्यकता है। वस्तुतः नित्य हवन के कुल मन्त्र यजुर्वेद अध्याय तीन मन्त्र ९ और १० में पाये जाते हैं जिनमें से प्रातः और सायं होम के अन्तिम दो मन्त्र जो सजूर्देवेन से प्रारम्भ होते हैं—मन्त्र १० है और अवशिष्ट मन्त्रों का क्रम मन्त्र ९ में इस प्रकार है कि पहले सायं के हवन का पहला मन्त्र इसके बाद प्रातःकाल के हवन का पहला मन्त्र इसी तरह दूसरा। फिर प्रातः का तीसरा मन्त्र और उस पर मन्त्र ९ की समाप्ति होती है। इस प्रकार सायंकाल का एक आहुतिमन्त्र कम रहता है, उसकी पूर्ति के लिए ऋषि ने लिख दिया है कि "अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रो मनसोच्चार्य तृतीयाहुतिर्देया।" अर्थः—अग्निर्ज्योति० इस मन्त्र का मन से उच्चारण कर तीसरी आहुति देनी। मन से उच्चारण करने का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि अपनी ओर से पहले मन्त्र का उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी चाहिए, परन्तु योग्य पण्डितों ने 'मन' का अर्थ 'मौन' करके महर्षि के संस्कृत भाष्य में कमी समझकर अपनी सम्मति तो दी और यह न समझे कि मौन होकर भी कहीं शब्दोच्चारण हुआ करते हैं?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रिय पाठक ! कहाँ तक इन त्रुटियों का उल्लेख करते जाएँ। न तो इस लेख में ही इतना स्थान है और न हमें इतना समय मिलता है कि हम एक पूरा अशुद्धि-पत्र अथवा भ्रान्ति-पत्र तैयार करके आपके समक्ष पेश कर सकें, परन्तु पण्डितों की खतरनाक कार्यवाही का किसी सीमा तक नक्शा खींचकर आपको दिखा दिया है। अब हम परोपकारिणी सभा के धार्मिक प्रधान महाशय से निवेदन करते हैं कि जिस दायित्व को उन्होंने बड़े साहस से अपने ऊपर लेने का गत वर्ष से प्रण किया है उसे निभाने के लिए बड़ी सावधानी से उद्यत हो जावें। अन्त में हम इस महत्त्वपूर्ण त्रुटि को दूर करने का जो एक ही उपाय है उसे प्रस्तुत करते हैं। हमारी सम्मति में सर्वप्रथम परोपकारिणी सभा का यह कर्तव्य है कि आर्यसमाज के दो-तीन विद्वानों को 'भूमिका' के हिन्दी अनुवाद को शोधने के काम पर नियुक्त करे। जो एक-एक शब्द की जाँच कर केवल महर्षि के संस्कृत भाष्य का शब्दार्थ कर देवे और इसके बाद कुल छपे हुए वेदभाष्य के अर्थ शोधित किये जावें और जब पूर्ण अशुद्धि-पत्र तैयार हो जावे तो प्रत्येक पुस्तक का अशुद्धि-पत्र कारणसहित पृथक् छपा दिया जावे, जोकि पुस्तक के साथ परिशिष्ट के रूप में प्रत्येक ग्राहक को दिया जावे और भविष्य के लिए एक विशेष उपसमिति बना देवें जोकि छपने से पूर्व संस्कृत भाष्य के हिन्दी अर्थों की जाँच कर लिया करे। न केवल यही, बल्कि भविष्य के लिए संस्कृत भाष्य के छापने में भी अधिक सावधानी वर्ती जावे। यहाँ पर प्रश्न उत्पन्न होगा कि अशुद्धि-पत्र छपवाने में बहुत-सा धन खर्च होगा जिससे वैदिक यन्त्रालय को आर्थिक क्षति पहुँचेगी। लेकिन स्मरण रहे कि वैदिक यन्त्रालय की स्थापना रुपया कमाने के लिए नहीं हुई थी, अपितु सच्चे वैदिक सिद्धान्तों को प्रसारित करने के लिए इसे महर्षि दयानन्द ने स्थापित किया था। यदि यह यन्त्रालय अन्धों को आँखें देने की अपेक्षा उन्हें सन्देहरूपी अन्धकार में ले-जाने का कारण बने तो उसके अस्तित्व से सर्वसाधारण को क्या लाभ हो सकता है ? हम प्रसंग को इस आशय के साथ समाप्त करते हैं कि परोपकारिणी सभा के सभासद् अपने कर्तव्य को समझेंगे और उसके पालन करने में सच्चा पुरुषार्थ दिखलाएँगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का इतिहास

—पं० श्री युधिष्ठिरजी मीमांसक

पं० देवेन्द्रनाथ संकलित जीवनचरित के अनुसार ऋषि ने सं० १९३१ वि० में ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का संस्कृतभाष्य हिन्दी, गुजराती और मराठी अनुवादसहित प्रकाशित किया था। तदनन्तर सं० १९३२ वि० के प्रारम्भ में १०८ वेदमन्त्रों की व्याख्यारूप आर्याभिविनय नामक ग्रन्थ रचा। इसे हम उनका वेदभाष्य-विषयक द्वितीय प्रयत्न कह सकते हैं। सं० १९३२ वि० के पश्चात् महर्षि ने वेदभाष्य के कार्य को इतना महत्त्व दिया कि अपने पारमार्थिक प्रयत्नों में भी शिथिलता करके इस कार्य में वे सर्वतोभावेन जुट गये। ऋषि ने अपने एक पत्र में स्वयं इस बात का निर्देश किया है। वे लिखते हैं—

"हमने केवल परमार्थ और स्वदेशोन्नति के कारण अपने **समाधि और ब्रह्मानन्द को छोड़कर** यह कार्य ग्रहण किया है।" —पत्र और विज्ञापन, पूर्णसंख्या ४३१, भाग १, पृष्ठ ४८०, पं० २१-२२

ऋषि ने निरन्तर महान् परिश्रम करके वेदभाष्यरूपी महाकार्य की भूमिका तैयार की। तत्पश्चात् भाद्र शुक्ला १ रविवार सं० १९३३ वि० तदनुसार २० अगस्त १८७६ से वेदभाष्य की रचना का कार्य नियमित रूप से प्रारम्भ किया। इस काल का निर्देश ऋषि ने स्वयं अपनी ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के प्रारम्भ में किया है—

"कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले। प्रतिपदादित्यवारे च भाष्यारम्भः कृतो मया॥"

वेदभाष्य के प्रारम्भ से पूर्व ऋषि ने चारों वेदों के विषय में ज्ञातव्य अनेक विषयों तथा स्वीय वेदभाष्य की प्रक्रिया का सामान्य ज्ञान कराने के लिए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ की रचना की। यह भूमिका उनके द्वारा करिष्यमाण चारों वेदों के भाष्यों की है, यह इसके नाम से ही प्रगट है। यजुर्वेदभाष्य में ऋषि ने लिखा—

"और सब विषय भूमिका में प्रकट कर दिया, वहाँ देख लेना, क्योंकि उक्त भूमिका चारों वेदों की एक ही है।"—यजुर्वेदभाष्य पृष्ठ ८

ऋषि ने जिस समय भूमिका का प्रारम्भ किया, उस समय वे अयोध्या नगरी में विराजमान थे। इस विषय में पं० देवेन्द्रनाथ संगृहीत जीवनचरित पृष्ठ ३७५ पर इस प्रकार लिखा है—

"भाद्र कृष्ण १४ सं० १९३३ वि० अर्थात् १८ अगस्त सन् १८७६ को स्वामीजी अयोध्या पहुँचकर सरयूबाग में चौधरी गुरुचरणलाल के मन्दिर में उतरे। अयोध्या में भाद्र शुक्ला प्रतिपदा सं० १९३३ विक्रम अर्थात् २० अगस्त १९७६ ई० को ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लिखना प्रारम्भ हुआ।"

वेदभाष्य के लिए पण्डितों तथा पुस्तकों का संग्रह

पं० देवेन्द्रनाथ संगृहीत जीवनचरित पृष्ठ ३७५ पर लिखा है—

"स्वामीजी ने वेदभाष्य के कार्य में योग देने के लिए फर्रुखाबाद से भीमसेन[1] को अपने पास

१. अनुभ्रोमोच्छेन से ज्ञात होता है कि भीमसेन का स्वामीजी के साथ सं० १९२८ वि० से सम्बन्ध था (द्र० दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह, पृष्ठ २८३, पं० ५)। ब्रह्म प्रेस इटावा से प्रकाशित पं० भीमसेन के जीवनचरित पृष्ठ ८ में लिखा है कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काशी बुलाया। एक मास तक ग्रन्थसंग्रह का प्रबन्ध होता रहा और फिर वेदभाष्य की रचना आरम्भ हुई।"

ऋ० भा० भूमिका के लेखन की समाप्ति

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लिखना कब समाप्त हुआ, इसका संकेत ग्रन्थ में कुछ नहीं मिलता। ऋषि ने मार्गशीर्ष शु० १५ सं० १९३३ वि० को स्वीय वेदभाष्य के प्रचारार्थ एक विज्ञापन प्रकाशित किया था। उसमें लिखा है—

"संवत् १९९३ वि० मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णमासी (१ दिसम्बर १८७६) पर्यन्त दश हज़ार श्लोकों[1] प्रमाण भाष्य बन गया है। और कम से कम ५० श्लोक और अधिक से अधिक १०० श्लोक पर्यन्त प्रतिदिन भाष्य के रचते जाते हैं।"

—पत्र और विज्ञापन, पूर्ण संख्या ३५, पृष्ठ ६६, पं० ११-१५

पुन: इसी विज्ञापन के अन्त में लिखा है—

"सो भूमिका के श्लोक न्यून से न्यून संस्कृत और आर्यभाषा के आठ हज़ार हुए हैं।"

—वही, भाग १, पृष्ठ ७६, पं० २५-२६।

इन दोनों उद्धरणों को मिलाकर पढ़ने से ज्ञात होता है कि ऋ० भा० भूमिका की रचना लगभग मार्गशीर्ष (सं० १९३३) के प्रथम सप्ताह[2] तक अर्थात् पौने तीन मास में पूर्ण हो गई थी।

यह पौने तीन मास का समय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की **पाण्डुलिपि** (रफ़ कापी) लिखने का है। इसके पश्चात् कई मास भूमिका के संशोधन और प्रेसकापी बनाने में व्यतीत हुए। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति विषय में लिखा है—

सं० १९२९ के आरम्भ में १७ वर्ष की आयु में पं० भीमसेन फर्रुखाबाद की पाठशाला में प्रविष्ट हुए थे। वहाँ सवा चार वर्ष तक पढ़ते रहे। तभी से इनका स्वामीजी के साथ परिचय था। काशी में ये स्वामीजी के पास १९३३ के आषाढ़ मास में पहुँचे थे। देखो पं० भीमसेन का जीवनचरित पृष्ठ १२, १३।

१. किसी भी ग्रन्थ के परिमाण को बताने की प्राचीन परिपाटी यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ के अक्षरों की गणना करके उसमें ३२ का भाग देने पर जो भागफल आता है, वह श्लोक प्रमाण माना जाता है, अर्थात् परिमाण-बोधक श्लोक ३२ अक्षरों का अनुष्टुप् छन्द का होता है। इस प्रकार १०००० × ३२ = ३२०००० तीन लाख बीस हजार अक्षर प्रमाण भाष्य ग्रन्थ।

विशेष—जिन व्यक्तियों ने (चाहे वे कितने ही विद्वान् क्यों न हों) प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों पर काम नहीं किया है अथवा ग्रन्थ-परिमाण बोधक परिपाटी से विज्ञ नहीं है वे ऐसे स्थानों पर भ्रान्त हो जाते हैं। इसका हम एक उदाहरण देते हैं—

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में पाठविधि-प्रकरण में लिखा है—'इसी प्रकार पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोकों के बीच में अखिल शब्द-अर्थ और सम्बन्धों की विद्या प्रतिपादित कर दी।' वैदिक मन्त्रालय में संशोधन कार्य करनेवाले एक वैयाकरण विद्वान् ने 'सहस्र श्लोकों' पर टिप्पणी दी है—'सम्भव है पहले अष्टाध्यायी श्लोकबद्ध हो'। स० प्र० वै० यं० सं० ३२, पृष्ठ ५०।

२. पूर्व उद्धरण के अनुसार सौ श्लोक प्रमाण प्रतिदिन के हिसाब से दस हज़ार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ बनने में लगभग १०० दिन लगे होंगे। भूमिका का आरम्भ भाद्र सुदि १ को हुआ था और इस उद्धरण के अनुसार मार्गशीर्ष पूर्णिमा तक ३ मास १५ दिन का काल होता है। इसमें से २००० श्लोक प्रमाण के रचने के २० दिन न्यून कर दें तो यह काल उपलब्ध होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जैसे विक्रम के सं० १९३३ फाल्गुन मास कृष्णपक्ष षष्ठी, शनीवार के दिन चतुर्थ प्रहर के प्रारम्भ में यह बात हमने लिखी।"—ऋ० भा० भूमिका, रा० ला० ट्र० सं० पृष्ठ २८, पं० १५-१६।

इस लेख से प्रतीत होता है कि भूमिका की अन्तिम प्रेसकापी के लेखन का कार्य माघ के अन्त या फाल्गुन के आरम्भ में प्रारम्भ हुआ होगा।

पं० देवेन्द्रनाथ संकलित जीवनचरित पृष्ठ ३८० में बरेली के वृत्तान्त में लिखा है—"ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका का प्रणयन करते रहे।"

महर्षि अगहन मास में दो बार बरेली पधारे थे। प्रथम बार अगहन कृष्णा ५ सं० १९३३[1] तदनुसार ६ नवम्बर सन् १८७६ को बरेली पधारे थे। इस बार की उनके बरेली से प्रस्थान की तिथि अज्ञात है। दूसरी बार अगहन के शुक्ल पक्ष में आये और पौष कृष्णा १ (१९३३) तदनुसार २ दिसम्बर १८७६ तक बरेली रहे (बीच में कुछ दिनों के लिए मुरादाबाद गये थे)। इससे इतना अवश्य प्रतीत होता है कि ऋ० भा० भूमिका के लेखन की समाप्ति बरेली में हुई थी।

ऋ० भा० भूमिका के मुद्रण का आरम्भ

भूमिका के छपने का आरम्भ कब हुआ, यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं। इसका जो प्रथम अंक लाजरस प्रेस काशी से प्रकाशित हुआ था, उसके मुख पृष्ठ पर निम्न सूचना छपी हुई मिलती है—

"विदित हो कि सं० १९३४ वैशाख महीने में देश पञ्जाब के लुधियाना वा अमृतसर में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी निवास करेंगे।

इस सूचना से अनुमान होता है कि ऋ० भा० भूमिका का **प्रथम अंक चैत्र सं० १९३४** में प्रकाशित हुआ होगा।

मुद्रण की समाप्ति

भूमिका का अन्तिम १५, १६वाँ सम्मिलित अंक वैशाख सं० १९३५ में छपकर प्रकाशित हुआ था। तदनुसार इस ग्रन्थ के छपने में लगभग १३ मास का समय लगा था।

ऋ० भा० भूमिका का मुद्रण लाजरस प्रेस काशी में प्रारम्भ हुआ था और १४वें अंक (पृष्ठ ३३६) तक उसी प्रेस में छपी। १५, १६ वाँ सम्मिलित अंक निर्णयसागर प्रेस बम्बई में छपा था।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का भाषानुवाद

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का जो भाषानुवाद वैदिक यन्त्रालय से प्रकाशित होता है, वह पण्डितों का किया हुआ है। इसका केवल संस्कृत भाग ही ऋषि का रचा हुआ है। इस भाषानुवाद में कहीं-कहीं मूल संस्कृत से अत्यन्त प्रतिकूलता है। कई स्थानों पर संस्कृत और भाषानुवाद का मेल ही नहीं मिलता, अर्थात् जो संस्कृत छपी है उसका भाषानुवाद उपलब्ध नहीं होता और जो भाषानुवाद है उसका संस्कृत-भाग ढूंढने पर भी नहीं मिलता। इसका मुख्य कारण यह है कि ऋषि संस्कृतभाग लिखाकर भाषानुवाद

---

१. पं० देवेन्द्रनाथ संकलित जीवनचरित में 'कार्त्तिक शु० १५ तदनुसार ६ नवम्बर को बरेली पहुँचना लिखा है। ६ नवम्बर को अगहन कृष्णा ५ थी, कार्त्तिक शु० १५ नहीं। इस प्रकरण में प्रायः अंग्रेजी तारीखें दी हैं, अतः हमने अंग्रेजी तारीख को ही प्रधानता देकर चान्द्र तिथि का परिशोध किया है। कार्त्तिक शुक्ला १५ को नवम्बर की पहली तारीख थी और उस दिन वे लखनऊ से शाहजहाँपुर पधारे थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए पण्डितों को दे देते थे। भाषानुवाद के अनन्तर ऋ० द० पुनः संस्कृत में संशोधन कर देते थे, परन्तु पण्डित लोग संस्कृत में किये गये संशोधन के अनुसार पुनः भाषा का पूरा-पूरा संशोधन नहीं करते थे। यह रहस्य की बात हमें तब ज्ञात हुई जब श्री पूज्य आचार्य पं० ब्रह्मदत्तजी ने ऋषि के यजुर्वेदभाष्य का सम्पादन करने के लिए उसके हस्तलेखों का परस्पर में मिलान किया (उस मिलान-कार्य में मैं भी उनके साथ था)। हस्तलेखों के मिलान-कार्य से हम इस निश्चय पर पहुँचे कि जहाँ-जहाँ मूल संस्कृत और उसके भाषानुवाद में भेद है, वहाँ-वहाँ निन्यानवें प्रतिशत यही कारण है। हम भूमिका के 'वेदविषय-विचार' प्रकरण का यहाँ एक उदाहरण उपस्थित करते हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ३४६ (वै० यं० मुद्रित शताब्दी संस्करण, भाग २) में लिखा है—

"ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ, और मन्त्र ये मूर्तिरहित देव हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बिजली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् भी है।"

यहाँ इन्द्रियों को मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् दो प्रकार का लिखा है और इसकी पुष्टि में नीचे **टिप्पणी** लिखी है—

"इन्द्रियों की शक्तिरूप द्रव्य अमूर्त्तिमान् और गोलक मूर्तिमान् तथा विद्युत् और विधियज्ञ में जो-जो शब्द तथा ज्ञान अमूर्त्तिमान् और दर्शन तथा सामग्री मूर्त्तिमान् जाननी चाहिए।"

संस्कृत भाग में इस प्रकरण में निम्न पाठ है—

"एवमेकादशरुद्रा द्वादशादित्या मनःषष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः…"

यहाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियों को अशरीरी स्पष्ट लिखा है। दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार भी ज्ञानेन्द्रियां अशरीरी हैं। बाह्य गोलक केवल इन्द्रियों के अधिष्ठानमात्र माने जाते हैं, इन्द्रियाँ नहीं।

इस भेद का कारण इस प्रकार है—

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की सात हस्तलिखित कापियाँ हैं। इनमें **उत्तरोत्तर क्रमशः संशोधन, परिवर्धन और परिवर्तन हुआ** है। उपर्युक्त संस्कृत पाठ का **जो भाषानुवाद सम्प्रति छपा हुआ मिलता है, उसकी मूल संस्कृत भूमिका की चौथी प्रति में उपलब्ध होती है, अगली पाँचवी प्रति में उस संस्कृत को काटकर वर्तमान संस्कृत के अनुरूप कर दिया, परन्तु पण्डितों ने ऋषि के द्वारा किये गये संस्कृत के संशोधन के अनुसार भाषा में कोई संशोधन नहीं किया और प्रेसकापी पर्यन्त** (अगली दो-तीन प्रतियों में भी) **उसी कटी हुई संस्कृत के अनुवाद की प्रतिलिपि करते रहे।** अतएव मुद्रित संस्करणों में भी वही अपरिवर्तित अशुद्ध पाठ आज तक उपलब्ध होता है।

ऋषि दयानन्द के सहयोगी पण्डित भीमसेन, ज्वालादत्त आदि कितने प्रमादी थे, इसका एक और उदाहरण हम उपस्थित करते हैं। ऋ० द० ने यजुर्वेदभाष्य के ८वें अध्याय के १४वें मन्त्र की प्रेस कापी पृष्ठ १०२ के मार्जन (हाशिये) पर अपने हाथ से एक आवश्यक टिप्पणी लिखी है। जो इस प्रकार है—

सर्वत्र त्वष्टा ही है। इसको मन्त्र और पद[1] में त्वष्ट्रा को ही शोधके त्वष्टा बना ही दिया। जिसको हम करते हैं वह तो ठीक होता है। जो दूसरों से कराते हैं वही गड़बड़ होता है। हमने मन्त्र और पद शोधवाया था सो शुद्ध है, बाकी पण्डितों से शोधवाया था वही अशुद्ध रहा।

इस टिप्पणी के लिखने पर भी सं० १९८० के द्वितीय संस्करण तक वेदभाष्य के संस्कृत पदार्थ

---

१. 'पद' शब्द से यहाँ 'पदपाठ' अभिप्रेत है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में **त्वष्टा** के तृतीयान्त विभक्ति का **'तनुकर्त्ता'** अर्थ छपता रहा। सं० २०१५ के तृतीय संस्करण में यह अशुद्धि दूर हुई।

हमारा विचार है, ऐसे स्थलों पर अन्तिमरूप से संशोधित मूल संस्कृत पाठ के अनुसार असंशोधित भाषा का संशोधन कर देना चाहिए, क्योंकि लेखक का मूल ग्रन्थ संस्कृत में लिखा गया है, अतः वही प्रामाणिक है।

साम्प्रतिक कई एक व्यक्ति जिन्होंने हस्तलेखों की तुलना का परिश्रम नहीं किया है, भूमिका की आर्यभाषा को भी ऋषि दयानन्दकृत सिद्ध करने का व्यर्थ परिश्रम करते हैं। यदि वस्तुतः भूमिका की आर्यभाषा ऋषिकृत होती तो संस्कृत और आर्यभाषा में वह विरोध उपलब्ध नहीं होता, जो इसमें पदे-पदे उपलब्ध होता है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के मुद्रण में प्रमाद

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के राजधर्म-प्रकरण में ८वें मन्त्र के आगे नवम मन्त्र, उसका संस्कृत-भाष्य तथा भाषानुवाद छूटा हुआ है। हस्तलेख में यह सम्पूर्ण पाठ विद्यमान है, परन्तु यह छूट प्रथम संस्करण से आज तक बराबर चली आ रही है। सं० २०२२ के नवम संस्करण में पृष्ठ २४१ के नीचे टिप्पणी में इसका निर्देशमात्र किया है। हमने सं० २०२४ में रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से जो संस्करण छापा है उसमें हस्तलेख के आधार पर छूटे हुए पाठ को यथास्थान जोड़ दिया है। द्रष्टव्य रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०, पृष्ठ २५३ की टि० १, तथा पृष्ठ २५४ की टि० १-४।

भाषानुवाद का संशोधन

पूर्वोक्त संस्कृत और भाषानुवाद के असामञ्जस्य दोष को दूर करने के लिए दो प्रयत्न किये गये। वे इस प्रकार हैं—

१. मेरठ निवासी स्वामी छुट्टनलालजी ने मूल संस्कृत के अनुसार भूमिका का नया भाषानुवाद प्रकाशित करने का उपक्रम किया था। उसका १-७-१९२६ ई० को छपा हुआ २०×३० सोलहपेजी आकार के ३४ पृष्ठों का एक खण्ड हमें देखने को मिला है, अन्य खण्ड हमें नहीं मिले। इसलिए कह नहीं सकते कि इसके अगले खण्ड प्रकाशित हुए थे वा नहीं।

२. दूसरा प्रयत्न गुरुकुल कांगड़ी के प्रतिष्ठित स्नातक पं० सुखदेवजी ने किया था। उन्होंने भाषा में यथासम्भव परिवर्तन करके उसे संस्कृतानुकूल करने का यत्न किया है। इसका प्रथम संस्करण श्री गोविन्दराम हासानन्द ने **"वेदतत्त्वप्रकाश"** के नाम से सन् १९३३ में प्रकाशित किया था। यद्यपि भूमिका का यह संस्करण पाठशुद्धि और भाषानुवाद की परिशुद्धि की दृष्टि से अन्य संस्करणों की अपेक्षा अच्छा है, तथापि इसमें अनेक संशोधनीय स्थल रह गये हैं।

इन दोनों के प्रयत्नों के अनन्तर हमने भी रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से सं० २०२४ (सन् १९६७) में प्रकाशित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में किया है, परन्तु अज्ञों के कोलाहल को ध्यान में रखकर आर्यभाषा को सर्वथा संस्कृत के अनुरूप नहीं बनाया। कभी अवसर मिला तो मैं संस्कृतपाठ के अनुरूप आर्यभाषानुवाद प्रस्तुत करूँगा।

हमारे संस्करण की विशेषता

हमने भूमिका का जो संस्करण प्रकाशित किया, उसकी सबसे बड़ी विशेषता संस्कृतपाठ का शोधन और ऋषि दयानन्द के लेख की पुष्टि में शतशः टिप्पणियों का लेखन है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उर्दू अनुवाद

उर्दू भाषा में भूमिका का प्रथम अनुवाद मियामीर (पंजाब) के महाशय मथुरादास ने ऋषि के जीवनकाल में ही प्रकाशित किया था। महाशय मथुरादास ने एक पत्र (तिथि अज्ञात) स्वामीजी के नाम लिखा था। उसमें इस अनुवाद के विषय में स्वयं इस प्रकार लिखा है—

"मैंने आपकी आज्ञा के बिना एक मूर्खता की है कि वेदभाष्यभूमिका का अति संक्षेप में खुलासा करके उर्दू अक्षरों में छपवाया है और उसमें विज्ञापन भी दे दिया है कि जो कोई मेरी लिखी हुई बात वेदभूमिका से विरुद्ध हो वह मेरी भूल है ग्रन्थ की भूल नहीं···।"

—पत्र और विज्ञापन, पूर्ण संख्या ५१५, भाग ४, पृष्ठ ५४८

दूसरा उर्दू अनुवाद म० मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने किया था। इसका सम्भवतः एक भाग ही छपा था। इस अनुवाद की भूमिका में म० मुन्शीराम ने अनेक स्थानों में मूल संस्कृतपाठ और भाषानुवाद की विषमता का उल्लेख किया है और इसका कारण पण्डितों द्वारा भाषानुवाद होना बताया है[1]। म० मुन्शीराम कृत उर्दू अनुवाद सन् १८९८ में प्रकाशित हुआ था।

अन्य भाषाओं में अनुवाद

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का अंग्रेजी, मराठी, तेलगु, उड़िया आदि अनेक भाषाओं में अनुवाद हो गया है, परन्तु वे ऋषि के निधन के अनन्तर हुए हैं, इसलिए हम उनका यहाँ निर्देश नहीं करते।

अंग्रेजी भाषा में भूमिका के दो अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। उनमें प्रथम अनुवाद पं० घासीरामजी एम० ए० कृत है। दूसरा अनुवाद डा० परमानन्द एम० ए० ने किया है। यह अनुवाद पूर्व अनुवाद की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसका प्रकाशन मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लीशर्स (१ अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली) ने दो वर्ष पूर्व किया है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पर आक्षेपात्मक ग्रन्थ

यों तो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ऊपर छोटी-मोटी आक्षेपात्मक पुस्तिकाएँ कई एक व्यक्तियों ने प्रकाशित की हैं। दो पुस्तिकाएँ ऋषि दयानन्द के जीवनकाल में पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न (कलकत्ता) तथा राजा शिवप्रसाद (बनारस) ने छपवाई थीं, उनका उत्तर ऋ० द० ने क्रमशः भ्रान्तिनिवारण और भ्रमोच्छन नामक पुस्तिकाओं द्वारा दिया था।

पौराणिक पण्डित घनश्यामजी ने ऋ० भा० भूमिका के खण्डन में संस्कृत भाषा में **भूमिका-धिक्कारापरपर्याय भूमिकाभास** ग्रन्थ छपवाया था। इसका संस्कृत भाषा में ही उत्तर गुरुकुल वृन्दावन के लब्धप्रतिष्ठ स्नातक पं० द्विजेन्द्रनाथ शर्मा ने दिया था। यह बम्बई से सं० १९८१ में छपा है।

अभी ३-४ वर्ष पूर्व स्वामी करपात्रीजी ने **वेदार्थपारिजात** के नाम से बृहत्काय एक ग्रन्थ दो भागों में संस्कृत तथा हिन्दी में प्रकाशित किया है।[2] इसमें जहाँ अन्य व्यक्तियों[3] के लेखों का खण्डन किया

१. म० मुंशीरामकृत उर्दू अनुवाद की भूमिका का भाषानुवाद 'वेदवाणी' पत्रिका के वर्ष ३५, अंक ९ (जुलाई १९८३) में देखें।

२. यह २३ × २६ अठपेजी बड़े आकार के लगभग २३०० पृष्ठों में पूरा हुआ है।

३. इन व्यक्तियों में वेदमतानुयायी स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्त, स्व० श्री भगवद्दत्तजी तथा मेरे लेखों का खण्डन विशेष रूप से किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, वहाँ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का खण्डन विस्तार से किया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर आर्यसमाज में कुछ उबाल उठा, आर्य पत्र-पत्रिकाओं में छुटपुट लेख छपे और सोडावाटर के उबाल के समान शीघ्र ही ठण्डा पड़ गया। आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा और परोपकारिणी सभा ने इसके खण्डन में ग्रन्थ लिखाने का कोई प्रयत्न नहीं किया।

ग्रन्थ को पढ़कर इसका उत्तर लिखने की मेरी उत्कृष्ट इच्छा हुई, परन्तु चिरकाल से विविध व्याधियों से ग्रस्त होने के कारण स्वास्थ्य सर्वथा गिर जाने से उत्तर लिखने में असमर्थ रहा। इच्छा थी कि कोई योग्य विद्वान् सहायक मिल जाता तो इसका उत्तर दिया जा सकता था, परन्तु प्रयत्न करने पर भी जिन व्यक्तियों में से एक-दो को मैं चाहता था, वे सभी अपने कार्य में व्यस्त होने के कारण सहयोग के लिए उद्यत नहीं हुए। उनके लिए आर्थिक प्रश्न नहीं था, उसकी उन्हें पूरी सुविधा देने की व्यवस्था भी हो गई थी।

मुझे मानसिक अनुताप इस बात का है कि उक्त पुस्तक १०-१२ वर्ष पूर्व छपी होती (जब मैं कार्यक्षम था) तो बिना किसी के सहयोग के ही इसका प्रौढ़ खण्डन लिख देता। अब तो सम्भव है अगले जन्म में ही यह कार्य कर सकूँगा। वैदिक-सिद्धान्त के अनुसार पूर्वजन्म के उत्कृष्ट, परन्तु अपूरित संकल्प की पूर्ति अगले जन्म में सम्भव मानी गई है—**सविज्ञानमेवान्ववक्रामति, तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च** (बृ० उप० ४।४।२)।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की महत्ता

ऋषि दयानन्द ने जिन मूलभूत—सिद्धान्तों को आधार बनाकर अपना वेदभाष्य लिखा, उनका प्रतिपादन उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में कर दिया है, अतः भूमिका को बिना पढ़े दयानन्द के वेदभाष्य को नहीं समझा जा सकता। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य के पाँचवे अंक पर के टाइटल पेज ३-४ पर वेदभाष्य के विषय में एक विज्ञापन छपवाया था। उसमें लिखते हैं—

जो कोई भूमिका के बिना केवल वेद ही लिया चाहें सो नहीं मिल सकते किन्तु भूमिका ५ रु० देने से पृथक् मिल सकती है।—पत्र और विज्ञापन, पूर्णसंख्या, २०४, भाग १, पृष्ठ २५६, पं० १०-११।

इस विज्ञापन के द्वारा बिना भूमिका के वेदभाष्य बेचने का निषेध कर देने पर भी आज तक परोपकारिणी सभा वेदभाष्य के आर्डर के साथ भूमिका नहीं देती। सन् १९७५ में आर्य सार्वदेशिक सभा तथा दयानन्द संस्थान देहली नें जो वेदभाष्य छापे, उनमें भी भूमिका साथ में नहीं जोड़ी गई। भूमिका सदा ग्रन्थ का भाग होती है, परन्तु ये तथाकथित दयानन्द के पुजारी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को स्वतन्त्र ग्रन्थ समझते हैं।

रा० ब० चौधरी नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट (करनाल) की ओर से हमने स्वसम्पादित ऋग्वेदभाष्य के तीन भाग छपवाये हैं। उसके प्रथम भाग में भूमिका भी इसीलिए छाप दी कि केवल भाष्य छापने से भाष्य का खरीददार भूमिका से वञ्चित न रह जाये।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—सन्दर्भग्रन्थ सूची

[प्रस्तोता—डा० भवानीलाल भारतीय, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
दयानन्द अनुसंधान पीठ, पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़]

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका विभिन्न संस्करण

क्रम सं०	नाम ग्रन्थ	लेखक—सम्पादक	प्रकाशक	प्रकाशन काल व संस्करण
१.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका	दयानन्द सरस्वती	प्रथम १४ खण्ड लाजरस प्रेस, काशी तथा अन्तिम २ खण्ड निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई में मुद्रित मासिक पत्र रूप में।	वैशाख १९३५ वि० १८७७ ई० प्र० सं०
२.	,,	,,	वैदिक यंत्रालय, अजमेर	
३.	,, (वेद तत्त्व-प्रकाश)	सं० सुखदेव विद्यावाचस्पति	गोविन्दराम हासानन्द, कलकत्ता	१९९२ वि०
४.	,,		आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर	१९९४ वि० १९३५ ई०
५.	,,		सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली	२०१५ वि०
६.	,,	सं० युधिष्ठिर मीमांसक	रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर बहालगढ़ (हरियाणा) रा० क० ट्रस्ट ग्रन्थमाला-३५	२०२४ वि० १९६७ ई०
७.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका	सं० सुदर्शनदेव आचार्य	आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली	२०२६ वि० प्रथम संस्करण की फोटो प्रति
८.	,,	सं० राजवीर शास्त्री	,,	द्वितीय संस्करण
९.	,,		दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली	२०३८ वि०
१०.	,,		सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली	२०३९ वि०

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—लघु संस्करण तथा प्रकरण विशेष का प्रकाशन

क्रम सं०	नाम ग्रन्थ	लेखक—सम्पादक	प्रकाशक	प्रकाशन काल व संस्करण
१.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका (सरल संस्कृत गद्यात्मिका)		वैदिक यंत्रालय, अजमेर	१९६० वि०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२.	वेदभाष्यभूमिका संग्रह :	सं० दलपतराय विद्यार्थी	डी. ए. वी. कॉलेज, पाठ्य-पुस्तक समिति लाहौर	१८९५ ई०
३.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका—ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका (एक सरल अध्ययन)	विश्वनाथ विद्यालंकार	गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली	१९७८ ई० द्वितीय संस्करण
४.	बाल ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका	श्रीनिवास शास्त्री	आर्य पुस्तकालय, मेरठ	
५.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका सार	रामदयालु शास्त्री	गुरुकुल गदपुरी	
६.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका (ग्रन्थ प्रामाण्या-प्रामाण्यप्रकरण) —गुजराती		आर्य प्रकाश प्रेस, बम्बई	१९२८ ई०
७.	वैदिक ईश्वर उपासना (उपासन प्रकरण)		रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर	१९५५ ई०
८.	Swamiji on the Vedas.	Tr. Chhaju Singh (Bawa)	Youngmen's Arya Samaj Lahore.	1912

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका—अन्य भाषाओं में अनुवाद

क्रम सं०	नाम ग्रन्थ	लेखक—सम्पादक	प्रकाशक	प्रकाशन काल व संस्करण
१.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका—उर्दू अनुवाद	अनु० मथुरादास (महाशय)		१८८२ ई०
२.	,, ,, (तृतीयांश मात्र)	अनु० मुन्शीराम जिज्ञासु	सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालंधर	१८९८ ई०
३.	,, उर्दू अनुवाद	अनु० निहालसिंह	आर्यन ट्रेडिंग कम्पनी, लाहौर	१९०२ ई०
४.	,, गुजराती अनुवाद	अनु० बालकृष्ण शर्मा	तोलाराम वर्मा, लाहौर	१९१४ ई०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका गुजराती अनुवाद	बालकृष्ण शर्मा—इच्छाशंकर प्रभाशंकर शर्मा	आर्य प्रतिनिधि सभा, मुम्बई प्रदेश	१९२९ ई०
६.	,, ,,	,,	आर्यसमाज, मुम्बई	२०३९ वि० (१९८३ ई०)
७.	,, मराठी अनुवाद	अनु० श्रीदास विद्यार्थी सं० लक्ष्मण जानोजी ओघले	श्रद्धानन्द स्मृति ग्रन्थमाला, बम्बई	१९३३ ई० द्वितीय संस्करण
८.	,, ,,	अनु० हरि सखाराम तुंगार		
९.	,, बंगला अनुवाद	अनु० शंकरनाथ पण्डित	आर्यावर्त प्रेस, कलकत्ता (मुद्रक)	१९०६ ई० प्रथम संस्करण (१३१२ बंगाब्द)
१०.	,, उड़िया अनुवाद	अनु० अखिलेश शर्मा	उत्कल साहित्य संस्थान	
११.	,, तेलुगु अनुवाद	अनु० गोपदेव शास्त्री		
१२.	,, मलयालम अनुवाद (वेद पर्यटनम्)	अनु० नरेन्द्र भूषण	वैदिक साहित्य परिषद् चेंगनूर (केरलम्)	१९७३ ई०
१३.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका—कन्नड़ अनुवाद		वैदिक धर्मप्रचार संघ मेंगलोर	१९३९ ई०
१४.	Introduction to the Commentary on the Vedas.	Tr. Ghasi Ram	Arya Pratinidhi Sabha, U. P. Lucknow.	1925
१५.	,,	,,	Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha. New Delhi.	1958, 1985
१६.	Introduction to the Commentary on the Vedas.	Tr. Ghasi Ram	Jangyan Prakashan, New Delhi.	1973
१७.	Rigvedadi Bhashyabhumika—Being an Introduction to the Commentary on the four Vedas.	Parmanand (Dr.)	Mehar Chand Lachhman Das, Delhi.	1981

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका विषयक आलोचनात्मक साहित्य

क्रम सं०	नाम ग्रन्थ	लेखक—सम्पादक	प्रकाशक	प्रकाशन काल व संस्करण
१.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकेन्दूपरागः प्रथम अंश (वेदोत्पत्ति सिद्धान्त का उत्तर)	देवदत्त शास्त्री	हिन्दी प्रभा प्रेस, लखीमपुर	१९५० वि०
२.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकेन्दूपरागः द्वितीय अंश	तुलसीराम स्वामी	स्वामी प्रेस, मेरठ	१९५० वि० प्र० सं० १९६४ वि० द्वि० सं०
३.	भूमिकाप्रकाश : पं० घनश्याम कृत भूमिकाभास का उत्तर)	द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री	राजेन्द्रनाथ शास्त्री, बम्बई आर्य सिद्धान्त ग्रन्थमाला–१	१९८१ वि०
४.	सनातन धर्म प्रकाशक (जैन विद्वान् पं० शिवचन्द्र लिखित प्रश्नमालिका का उत्तर)	जगन्नाथ भारतीय	इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली)	
५.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका परिशिष्ट		रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़	
६.	महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका का समालोचनात्मक अध्ययन (पी. एच. डी. का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध)	कृष्णपालसिंह (डा०)	जोधपुर विश्वविद्यालय द्वारा १९८३ ई० में स्वीकृत	
७.	वेदार्थ कल्पद्रुम	विशुद्धानन्द शास्त्री मिश्र	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली	१९८५ ई०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पर आक्षेपात्मक ग्रन्थ

क्रम सं०	नाम ग्रन्थ	लेखक—सम्पादक	प्रकाशक	प्रकाशन काल व संस्करण
१.	महामोहविद्रावण	पं० मोहनलाल उदासीन		
२.	महामोहविद्रावण प्रथमबोध (नाटक शैली में)	विजयानन्द त्रिपाठी		१८८४ ई०
३.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकेन्दु—प्रथम अंश (वेदोत्पत्ति विषय)	महन्त ब्रह्मकुशल उदासीन	आर्यदर्पण यंलालय, शाहजहांपुर	१९४७ वि०
४.	द्वितीय अंश (देवता विषय)	"	हिन्दी प्रभा यंत्रालय, लक्ष्मीपुर	१८९३ ई०
५.	तृतीय अंश (देवता सम्बन्ध विषय)	"	"	"
६.	चतुर्थ अंश (अवतार विषय)	"	"	२० दिसम्बर, १८९३ ई०
७.	प्रतिमापूजन, पुराण, पितर तथा नियोग विषयक अन्य ४ अंश)			(मार्गशीर्ष शु०–१२ सं० १९५० वि०)
८.	दयानन्दमतमर्दन	गोविन्दराम		१८७८ ई०
९.	पाखण्डमत खण्डन कुठार	महन्त रघुवीरदास (अध्यक्ष, सद्धर्म प्रचारिणी सभा पंजाब, हाजीपुर, जिला होशियारपुर	भारत जीवन प्रेस, काशी	१८८९ ई०
१०.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकायां प्रश्न-मालिका—आर्य-समाजस्थ महा-शयनां प्रति	शिवचन्द्र	इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली)	
११.	वेदार्थ पारिजात (२ खण्ड)	स्वामी हरिहरानन्द करपात्री	श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन, संस्थानम् कलकत्ता	२०३६ वि०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण-सूची

अ

अक्षण्वन्तः १२३
अक्षरं ब्रह्म ११९
अकारञ्चाप्यु १८७
अग्न आयाहि ८७५
अग्निं दूतम् २४१,६८७
अग्निः कस्मात् ६०
अग्निः पशुरासीत् ३९२
अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः ८७१
अग्निः पृथिवीस्थानो २४२
अग्निमीळे १५,५७, ६२, २४७, २६७, ८७६
अग्निः प्रजानां ६१
अग्निं जुहोति स्म ७९८
अग्निरस्मि ८५९
अग्निरु सर्वे ६१
अग्निरेव ब्रह्म ८१६
अग्निरेव सविता ६२
अग्निर्ज्योतिः ६९२
अग्निर्देवता २३९
अग्निर्मूर्त्वा ८६०
अग्निर्मूर्द्धा दिवः ७७९
अग्निर्वर्च्चो १५, ६९२
अग्निर्वा अन्नानां ६०
अग्निर्वा अहः ६१
अग्निर्वा आयुष्मान् ६१
अग्निर्वा उपद्रष्टा ६१
अग्निर्वा सर्वमाद्यम् ६०
अग्निर्वा-सुहृदयतमः ६०
अग्निर्वा योनिः ६०
अग्निर्वाव पुरोहितः ६१
अग्निर्वै गायत्री ६१
अग्निर्वै ज्योती ६१
अग्निर्वै देवयोनिः ६०
अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः ६१, ४३९
अग्निर्वै द्रष्टा ६१
अग्निर्वै धाता ६१
अग्निर्वै नभसस्पतिः ६२
अग्नवै पथिकृत ६२
अग्निर्वै ब्रह्मा ६२
अग्निर्वै भरतः ६१
अग्निर्वै मृत्युः ६१
अग्निर्वै यज्ञः ६०, ६२
अग्निर्वै रेतोधाः ६१
अग्निर्वै वनस्पतिः ६२
अग्निर्वै वरेण्यम् ६२
अग्निर्वै सर्वा ६१
अग्निर्वै सर्वेषां ६१, ८१६
अग्निर्वै स्वर्गस्य ६१
अग्निर्वै होता ६१
अग्निर्हि स्विष्टकृत् ६१
अग्निवायुरविभ्यः १२६, १४८, २८६
अग्निशब्दो ऽप्यग्रणी २६८
अग्निषोमाभ्यामादि ७१५
अग्निषोमीयं ३८
अग्निष्वात्तांश्च ७१०
अग्निष्वात्तानृतुमतो ७०९
अग्निष्वात्ताः पितर ७०७
अग्निष्वात्ताश्च देवानां ७१०
अग्निहोत्रं जुहुयात् २२८, ३०६
अग्निहोत्रं समादाय ६९२
अग्निहोत्रादि तु ७३५
अग्ने व्रतपते १५, ३३७, २२०
अग्नेः सोमस्य ७१४
अग्नेर्वै धूमो २१२
अगन आ याहि ४१९
अग्नेर्ज्योतिः ४५१
अग्नेर्वयं प्रथमस्य ५२८
अग्नौ प्रास्ताहुतिः २१२
अघ्न्या २१७
अग्ने नय सुपथा ४३५, ४३८
अग्नायी अग्नेः ३९९
अग्नेर्ऋग्वेदो २८६, २९१, ३१५
अग्नेर्ऋचो २८६
अघं स केवलं ६९४
अङ्गादङ्गात् संभवसि ६०८
अङ्गिरा अङ्गारा १०७
अज्येष्ठासो २४६
अजैर्यज्ञेषु ३९
अणुरात्मेति गम्यते ४५०
अणोरणीयान् २७३
अणुः पन्था ५३३
अत एव च नित्यत्वम् १७७, ७३५
अतद्भावेऽपि १४१
अतिमुच्य धीराः प्रेत्य ५३५
अतिरिक्तपदं ११६
अतिशयेन अनूचानो ६९५
अतिष्ठन्तीनाम ७५४
अतो देवा अवन्तु ३९१
अत्र पितरो ७०२
अथ कस्मादुच्यते १७८
अथ केन ब्रह्मत्वं ३१६
अथ तत्पूर्वकं २२३
अथ नवमेऽहनि २९६
अथ पञ्चदशसु ३१४
अथ य इच्छेद् ७९६
अथ यदेवानुब्रुयात ६९८
अथ येषामुह ८७२
अथ यदिदमस्मिन् ५०५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ यद्विषितो ७६३
अथ यो वेदेदं ५३२
अथ ह वाग् ३८
अथ हैते २४६
अथोन्तरेण तपसा ५०४
अथातो दैवतम् २४०
अथातो द्युस्थाना देवताः ५४२
अथातो धर्मं ७१३
अथापि स्तुतिरेव ४२८
अथाऽत्र यस्य ६७
अथार्षेयं प्रवृणीते ६६८
अथैष महानात्मा ६६
अथास्य ब्रह्मचारिणः ३८
अथर्वणां ११४
अथर्ववेदप्रवराः १४६
अथर्वशिरसि १४६
अथर्वा ब्रह्मा ५६७
अथर्वा ११४, १४६
अथर्वाङ्गिरोभिः ३१५
अथर्वाङ्गिरोभिः ५६७
अथातः संहिताया ६७
अथातो द्युस्थाना ५४१
अदितिर्द्यौ ५७
अद्भिर्गात्राणि ४६०
अद्भ्यः पृथिवी ४०४
अद्भ्यः संभृतः ३६३
अदर्शनं लोपः २२३
अदेङ् गुणः २८६
अदेवृघ्न्यपति ६३६
अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति ७०७
अद्वेष्टा सर्वभूतानां ३३७
अध पुनः इत् ६११
अधर्मचर्य्यया ७६७
अधा स वीरै ५४६
अधोऽधः पदम् १६४
अधिकारो भवेत्तस्य ८८६
अधीतिबोधाचरण ८६६
अधोरामः ५२
अध्यात्माधिदैवत ६७
अध्यापनशब्देन ६७७
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः ६८६
अध्यापयामास १४६
अध्वर इति ३७, २१७
अध्वरशब्दोऽयं ५७
अध्वरो वै यज्ञः २२२
अनन्ता वै वेदा १३६
अनन्तेषु हि ५८
अनन्याँश्चिन्तयन्तो ४३२
अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ३७६
अनश्वो जातो ५६०
अनर्थकोऽभ्यासः ८६
अनादिनिधना २३, १२०
अनाम्नातेष्वमन्त्रत्व
अनारम्भणे ५४७
अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः ५२४
अनित्याशुचि ५१७
अनुकम्पाद्यतिशयो ६१
अनुकूलवेदनीयं ५२१
अनुपक्षीण ५८
अनुपसीयमाण ६७
अनुभूतविषय ४६७
अनुवादे चरणानाम् ३११
अनुव्रतः पितुः ६७५
अनूचानो ४२
अनेकजन्मसंसिद्ध ३२०, ५२८, ५७७
अनेकार्थका हि ८७२
अनेकार्थत्वाद् ६०
अन्तःकरणं बुद्धिचित्त ३२७
अन्तकाय ४१
अन्तः शरीरे ज्योतिः ३५३
अन्तरिक्ष आसां ३२२
अन्तरिक्षप्रां ७८
अन्तरेऽपि शरीरे ४५०
अन्धं बलं ६२६
अन्धेनैव नीयमाना ७३६
अन्नं हि पृषदाज्यं ३८१
अन्नाद् भवन्ति २१२
अन्नात् परिस्रुतो ७७६, ७८२
अन्नादोऽग्निः ६०
अन्नेनातिरोहति ३७६
अन्यजातम् ६११
अन्योदर्यः ६११
अन्योऽन्यमभि १४४
अन्वविन्दन् १२२
अपः नः शोशुच ८४
अपक्रामन् पौरुषेयाद् ७३७
अपदे शंकितो १६४
अपपरीवर्जने ६१५
अपरिग्रहस्थैर्ये ४६१
अपत्यं धर्मफलदं ६११
अपश्यं युवतिं ६१५
अपां च ज्योति ७५
अपां ज्योतिषश्च ७५१, ७५४
अपां त्वा योनौ २१५
अपां त्वेमन् २१५
अपां फेनेन ७४८
अपां वा भस्मन्त्सा २१५
अपाणिपादो १२२
अपादहस्तो ७५२
अपामर्थं यतीनां ६७६
अपि च १२३
अपि च स्मर्यते ५०६
अप्सु मे सोमो ५७०
अप्स्वन्तरमृतमप्सु ५७०
अभयमजरममृत्युपदं ५२१
अभावं बादरि ५२६
अभावप्रत्यय ४६७
अभि त्वा २७१
अभिमानिव्यपदेशस्तु ७५०
अभिवादनशीलस्य ३०१
अभिक्रन्दन्ति २६७
असुक्ता चैव ६१६
अभ्यसतीवव्रतमसि ३३६
अभ्यासवैराग्य ४६७
अभ्यासे भूयांसमर्थं ६१, ११६
अमृतमुदकनाम ५७०
अम्बिकाम्बालिके ६१२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अम्भो अमो ४५६
अम्भो अरुणं ४५६
अयं यज्ञो भुवनस्य ३७०
अयं वा अग्निः ६१
अयज्ञो वा एष ५२५
अयुतसिद्धयोः १६३
अरित्रं वां दिवस्पृथूः ७६६
अरुणो मा ५३
अर्चन्ननु स्वराज्यं ८४
अर्त्तिस्तु सुहु ६२४
अर्थज्ञाने ऋषिज्ञानं ८६७
अर्थं वाचः ६७, २३४, ८०५
अर्थकामेष्वसक्तानां २०१
अयज्ञियो हतवर्चा २२२
अयज्वानः २२२
अर्थनित्यः परीक्षेत ५४, ५७१
अर्थवन्तो वर्णा ४५
अर्थवादकृतात्पर्यं ७७
अर्थसामान्येन १८७
अर्थात् प्रकरणात् ६३
अर्थोऽयमस्य ४३
अर्धमात्रालाघवेन ९२
अरित्रं वां दिवस्पृथु ५५२
अलं व्रतैरलं ७३५
अलब्धं चैव लिप्सेत ३४५
अवक्षेपः प्रतिमान ७७६
अव गिरेर्दासं ६६०
अव रक्षणगति ८८, १८७
अवरं हि राज्यं ६४७
अवश्यमेव भोक्तव्यं ५९५
अवाङ्मुखः ५८५
अवादहो दिव ६६०
अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे २८३
अविदित्वा ऋषिं ८६६
अविद्याक्षेत्र ५१६
अविद्यास्मिता ५१६, ५८५
अविलुप्तब्रह्मचर्यो ६७२
अव्यक्तकारणं ३६०
अव्यक्ताद् ११९
अशक्तास्तू ४३
अशब्दमस्पर्शं २७३
अश्लीलभाषणेन ३३
अश्वत्थामा हतो ४८६
अश्वत्थे ८८
अश्वाः कणा ४०
अश्विनोरसनं ५६०
अष्टचक्रा नवद्वारा ५१०
अष्टमे वर्षे ६६३
अष्टाविंशानि ४५६
अष्टौ स्थानानि ८००
असंशयं महाबाहो ४७०
असदेवेदमग्र ३६०
असावेव संवत्सरो १३३
असुनीते ५२७
असुरा वा आत्मन्य ६६१
असुरानभिभवेम ७५६
असुर्या नाम ६६०
अस्ति ह्यध्ययन २३४
अस्तेयप्रतिष्ठायां ४९०
अस्त्यात्मा जीवाख्यः ४५०
अस्मर्यमाणकर्त्तृं ७२५
अस्मिन् संसारे न पुनरागमनं ५२६
अस्य धर्मप्रवृत्तस्य ६३९
अस्य परमात्मनः ७२३
अस्य भुवनस्य ६४९
अस्य मन्त्रस्यार्थो २९३
अस्य यज्ञस्य ३९१
अस्य वामस्य पलितस्य ३६९
अहं परस्तादहम ४०५
अहं भुवं २४४
अहं सर्वाणि भूतानि ३३७
अहन् वृत्रं ७५२
अहन्नहि पर्वते ७४९
अहरहर्बलिमित्ते ७१३
अहश्च कृष्ण ८१
अहिं सन् सर्वं ७६३
अहिरितिमेघनाम ७५२
अहिंसयैव भूतानां ७३६
अहिंसाप्रतिष्ठायां ४९०
अहो पौराणिक ११७

आ

आ तु इन्द्र ८४
आ त्वाहार्षं ६३१
आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ४४०
आ यो धर्माणि ५७८
आ राष्ट्रे राजन्यः ६५५
आ वहेथे ५७, २९७
आ वां रथं पुरुमायं ५६१
आ विद्युन्मद्भिः ८१, ५५९
आकाशो वै नामरूपयो ५३३
आकाशाद्वायुः १५
आकृष्णेन रजसा ४१३ ७७७, ७७९
आङ्गिरसो नः ७०३
आचाराल्लभते ३०१
आचार्य आचारं ६६२
आचार्यो वै मृत्युः १९२
आचार्य उपनयमानो ६६२
आचार्यस्त्वस्य ६६६
आज्यपाश्च तथा ७००
आज्ञाकन्दौ नाम ५१०
आत्म-तत्त्व १३८
आत्मनाऽऽत्मानमभि १९४
आत्मा बुद्धया ३१
आत्मा वा इदम् ३०३
आत्मा वै ३६२, ६०८
आत्मापि देहैकदेशस्य ४५०
आत्मेत्येवोपासीत २५९
आत्मैवाग्निः ६०
आत्मैवाभूद् ६३२
आदानं हि ६५३, ४८८
आदाने करोति शब्दः ८७३
आदित्योऽत्र जार ७४७
आदित्यो ह ४६२
आदिसृष्टौ ब्रह्मणः १३३
आद्यन्तौ टकितौ १७०
आद्य एको १४७
आद्यो वेदः १४७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधत्त पितरो ६६५, ७०२, ७६५
आध्यात्मक्यश्च २४४
आनुपूर्वीभेदवन्तो १६४
आपः पृणीत भेषजं ५७०
आपः भिषजां ५७०
आपो ज्योती रसो ६६६
आपो विश्वस्य भिषजा ५७०
आपो ह वा ३०३
आपो हि ष्ठा ८५
आप्तः खलु १४३
आप्तोपदेशः १४३, २२३, ७२३
आभिर्वा अहमिदं ६०८
आमन्त्रितं पूर्वं ६२०
आयं गौः ४०३
आयन्तु नः पितरः ७००
आयुः शरीरेन्द्रिय ५६६
आयुर्दा अग्ने ३००
आयुर्वा अग्निः ६१
आयुरस्मिन् विद्यते ५६६
आयुर्यज्ञेन ४४६
आयुर्वेदो नाम ५०
आयुर्मे पाहि २६८
आयुश्च रूपं च ३००, ३४४
आयुश्चेतनानुवृत्ति २६८
आयुषोन्ते ५८२
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं ५८०
आवर्त्तयामसि ६१
आशाप्रतीक्षे ७१६
आशीर्वा अथर्वभिः ३१३
आशुगतित्वान्मनसः २२६
आसीदिदं तमोभूत ३६१
आहं पितॄन् ७०५
आहारा विविधा ५८५

इ

इडा वै मानवी ३२७
इत ऊर्ध्वान्मन्त्र ८७२
इतरेषु १५१
इतश्चन शूद्रस्याधिकारः ७६३
इतश्चानि त्रः ६६६
इति वा इति २४४
इति विज्ञायते २६७
इतिहासपुराणाभ्यां ७३
इतिहासवचनमिदं ७३
इत्यपि निगमो २८२
इदं जनासो १०७, ३१७, १८६
इदं त्रेधा ११७
इदं सर्वं सूर्यचन्द्रादि ३७७
इदं नम ऋषिभ्यः ८७२
इदं नातपस्काय ७६२
इदं पितृभ्यो ७०६
इदं प्रत्यक्षेण दृश्यमानं ३७५
इदं यत् वर्त्तमानकालीन ३७६
इदं वा अग्रे ३०३
इदं विष्णुर्विचक्रमे, ६८, ११७, ७६३, ८१५
इदं सर्वं शब्दवाच्यं ३७५
इदन्न मम २३१
इदमहमनृतात् ३३६
इन्द्र क्रतुं न आभर ८७५
इन्द्रं जातमुपासते ४३३
इन्द्रं मित्रं वरुणं ५७,३२४, ८१६,२६८
इन्दव इति ५५३
इन्द्रशत्रुरिन्द्रो ७५२
इन्द्रस्य नु वीर्याणि ७४६
इन्द्रागच्छेति ७४५
इन्द्राणीमिन्द्रस्य ३६६
इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग ७४६
इन्द्रियाणां प्रसंगेन ४८७
इन्द्रियाणि हयानाहुः ६५४
इन्द्रियेभ्यः परा ३६५
इन्द्रो जयाति ६३६
इन्द्राऽनिलयम ६३२
इन्द्रायेन्दो ८४
इन्द्रियार्थ २२३
इन्द्रो दिव इन्द्र २४३, ४५६
इन्द्रो राजा जगतः ४३२
इन्द्रो वै यज्ञस्य ७४६
इन्धे ह वा ३६०
इमं जीवेभ्यः २६६
इमं देवा असपत्नं ६३६, ७७६
इमं मन्त्रं पत्नी ७६८
इमं मा हिंसी २१७
इमं संग्रामं ६५३
इममिति विशेषणाद् ५२६
इममेवाग्निं २६८
इमा मे ऽग्न ४२१, ४२७
इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि ५०७
इमे त इन्द्र ६६
इमे वै लोकाः ३६१
इमां मा हिंसी ४१
इयं वा इदं न ७५८
इमं वीरमनु ६४१
इमा नारीरविधवा ६२१
इमां त्वमिन्द्र ६१७
इयं नारी ६१०
इयं विसृष्टि २७२
इयं वेदिः २३०, २३८, ४२१
इयं समित् पृथिवी ६६२
इळामग्ने पुरुदंसम् ८५
इमां मा हिंसी २१७
इषं च विश्व ६४६
इषवो वै दिद्यवः ६५७
इषे त्वोर्जे ६३, ३०३, ३०६
इषे पिन्वस्व ४४०
इह खल्वायुर्वेदो १७४, ५६८
इहैव स्तं ७०, ३००, ६०५, ६७६
इहैवान्तः शरीरे १६६
इहैवैधि ७०

ई

ईश्वरप्रणिधान ४६७
ईश्वरप्रणिधानं ४३१
ईश्वरः सर्वभूतानां ४३२

उ

उखः शाखामिमां ३१०
उच्चैर्ऋचा ११३
उच्चैर्निषाद ४६
उच्छादीनां च १५०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्छिष्टे नामरूपं ३२१, ४०१
उच्छीर्षके श्रियै ७१६
उणादयो बहुलं ८६६
उत त्वं सख्ये ८०५
उत त्वः पश्यन्न ४१ ८०४
उत्पद्यन्ते १३२, २३६
उत्पादकब्रह्म ६६६, ८७४
उत्पुनामि···सूर्यस्य ८४
उत शूद्रे उतार्ये ६६१
उत्तमाद्देवरात् ६११
उतासि मैत्रावरुणो ७७
उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्ति ४८४
उत्सक्थ्याऽव ८४६
उदि वृणातेरलचौ ६६६
उद्बुध्यस्वाग्ने ७७६
उदासीनवदासीनो गुणै ५३१
उदीरतामवर ७०३
उदीर्ष्व नार्यभि ६१३
उद्यन्तमस्तं ६८६
उन्देरिच्चादेः ५५३
उन्नमयति १८७
उप त्वाग्ने ८४, ६८८
उपद्रवांस्तथा रोगान् ४७७
उपनीतमात्रो ६६५
उपनीय तु ६६२
उप प्रयन्तोऽध्वरं २३५
उपस्थाय···अभिसंविवेश ४३३
उपहूताऽइह ६७२
उपहूताः पितरः ७०७
उपहूता पृथिवी ४३५
उपायव स्थेत्यु ३११
उपेयिवाननाश्व ६६५
उरुः पृथुः ४६०
उर्वशी विद्युत् ७८
उर्वी पृथिवी ५७
उवाच मे ५६
उशन्तस्त्वाः नि ७११

ऊ

ऊर्गिति देवा ७५७
ऊर्जं वहन्ती ७००
ऊर्ध्वमुन्नमयती १८७
ऊर्ध्वः सुप्तेषु २५३
ऊर्ध्वं षड्भ्यो ६२१
ऊर्ध्वमिनामु ८४४

ऋ

ऋक् साम १४७
ऋक्सामयोरेव ३१३
ऋगादि वेदाः ११२
ऋग्भिः प्रातः ११३
ऋग्भिः शंसन्ति २८८
ऋग्यजुःसाम २८७
ऋग्यजुः सामाथर्व ३१२
ऋग्विदमेव १४८
ऋग्वेदं भगवो २८६
ऋग्वेदः सामवेदश्च २८७
ऋग्वेदं विजानाति १४८
ऋग्वेदः सामवेदः १४८
ऋग्वेदस्त्वं २८८
ऋग्वेदादिविभागेन २८८
ऋग्वेदेन होता करोति ३१५
ऋचं वाचं १४७, ८६३
ऋचं सामानि २८८
ऋचः सामानि १४८, १७५, ५६७
ऋचां—गायत्रं २८८
ऋचां च वै २८७
ऋचो अक्षरे १२०, १६१, ३२२, ८०४
ऋचो नामास्मि १४७
ऋचो यजूंषि ११४, १४८
ऋतं च सत्यञ्चा २३, ३४८, २८७
ऋतं तपः ३५२
ऋतं च स्वाध्याय ३३१
ऋतये स्तेनहृदयं ६१७
ऋतुकाले तु ६४७
ऋते ज्ञानान्न १६०
ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् ६६०
ऋषिः अतीन्द्रियार्थ २४०
ऋषिः स यो ६६६
ऋषिर्दर्शनाद् १४१, ८६८
ऋषीन् तपस्वतो ६६६
ऋषेर्दृष्टार्थस्य ७४, ८७०
ऋषेर्मन्त्रकृतां ८७२
ऋष्यार्य ४२, २२८

ए

एकार्थमनेक ३५
एकः शब्दः २३
एकं द्वे त्रीणि १६
एक एव नमस्यो २६२
एकः शब्दः ८६
एकं दश शतं १५२
एकं सद्विप्रा ६, १०, २७७, ४४६
एकमेवाद्वितीयम् ३२२, ३२४, ५३५
एकवर्णमिदं पूर्वं ६५८
एकस्यात्मनो २५१
एका च मे ४१८, ४२०
एकैकवर्णवर्त्तिनी १६८
एको दशसहस्राणि ६५५
एको देवः ५१३
एकोऽपि वेदविद्धर्मं ६२७
एको वशी २७३, ४४६
एतं विदन्ति वेदेन ३२६
एतत् मन्त्रे २४१
एतद् बृहज्जाबाला ३१२
एतदालम्बनं १८८
एतद्वै जरामर्यं ६६२
एतन्मिथुनम् १८८
एतस्याक्षरस्य ३६८
एता देहे ६५
एतावदेव भैषज्यप्रयोगे ५६७
एतावन्तो वै ग्राम्यः ३८२
एतावानस्य ३७७
एता वै देवता २८२
एते च जगत्पतित्व ३२४
एतेर्णिच्च २६८
एते वै कवयो ४५४
एतेन प्रतिपद्यमान ५२४, ५२६
एतेषु हीदं २५२
एतैः प्रमाणैः ५४१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एनीर्धाना ४०
एवं गृहाश्रमे ६०६
एवं च पूरण: ९१
एवं नि: क्षत्रिये ६१४
एवं यत्र काण्ड १८४
एवं रेखागवयन्याय १६६
एवं वा अरे १४८, २८६, २९१
एवं व्याकरणे ५४
एवमणोरपि सतो ४५०
एवं तत्सर्वं ५०७
एवं य: सर्वभूतेषु ३४७
एवं व्यक्ताव्यक्त १८९
एवं सति अनियत ३०१
एवमाख्यानस्वरूपाणां ७३
एवमुक्ता तत: ६१३
एवमुच्चावचै: ६१४
एवमैतत् ५८
एष एवेन्द्रो ७४५
एष धर्मोनुशिष्टो ९७९
एष वा अतिथि: ७१८
एष वा अरेऽस्य ७२३
एष वै प्रभूर्नाम २३०
एष सर्वेश्वर ४२९
एष हि महान् २४५
एष हि खल्वात्मेशान ३२४
एषां वै भूतानां २१९, ५८१
एषो ह देव: ४२९
एष्वर्थेषु पशून ७३६

ओ

ओं खं ब्रह्म १८७ १८८
ओं तत्सत १५२, १५६, १५९, १८८
ओङ्कारश्च ९९
ओंकारं वेदेषु २९२
ओङ्कार: सर्वदेवत्य: ७०
ओ३म् क्रतो स्मर १८८
ओजश्च ३४२
ओजो एव क्षत्रं ६४५
ओजो वा इन्द्रियं ६४५
ओमभ्यादाने ९९
ओमिति १८८
ओमिति ब्रह्म १८८
ओमिति होवाच १८८
ओमित्येतत् १९७
ओमिति ह्यु १८८
ओमिति ह्येष १८८
ओमित्येवं १८८
ओमित्येतदक्षर १८८
ओषधय: फलपाकान्ता: २१८
ओषध्य: पशवो ७३६

औ

औपचारिकोऽयं ७३

क

क: स्विदेकाकी ४१५
कतमे षडित्यग्निश्च २५८
कतमे ते त्रयो २५८
कतमोऽध्यर्ध इति २५८
कतमौ देवविति २५८
कवि: क्रान्तदर्शनो ४५४
कवि: मेधावी नाम ४५४
कतम आत्मेति ५०७
कतमे रुद्रा २५३
कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो २४०
कतमे वसव २५१
कतमे ते त्रयो २५८
कतम इन्द्र: २५८
कतम आदित्या २५७
कश्यपो वै २९१
कतम: स्विदेव ११८
कतमानि तानि ९६
कथमसत: २१८
कथमसत: सज्जायेत ३१७
कया नश्चित्र ८५
कर्त्तारमीशं पुरुषं ३९६
क्लेशकर्मविपाक ३७४
कमुणो बंभणो ६५९
कया नश्चित्र ७७९, ७८४
कर्त्तास्मरण १२९
कर्मणाऽन्त:करण २४०
कर्मणां नामसु ४५८
कर्मणा बध्यते जन्तु: ५९५
कर्माध्यक्ष: सर्वभूत ५७४
कर्मैव देहारम्भ ५८५
करोति पुत्रिकां ७४३
कल्पादस्माच्च १५६
कवयामि ९२
कविमग्नि ७०
कश्चिद्धीरो १९४
कस्त्वाऽऽच्छ्यति ८२९
कस्त्वा युनक्ति ८१८
कस्मादायुर्वेद: ५९८
कस्मिन्नु भगवो १८९
कस्मै देवाय ८४, ८७
कस्य नूनं कतमस्य ५२८
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं ५२२
कस्त्वा युनक्ति ८४
काकुत्स्थकन्या: ८०
काम: सङ्कल्प ५३२
काम: संङ्कल्पो ३३३
कामस्तदग्रे ३५९
कामतोऽकामतो ४३१
कामतो देवता: कल्प्या: ८७९
कामान्मातापिता ६६६
कामतो देवता: २४५
कायेन्द्रिय ४९१
कायेन मनसा २०१
कारणं सन्निधानं ८६५
कालात्ययापदिष्ट: ८६५
कार्यं वा साधयेयम् ३३९
कालत्रयसत्तावन्नित्यम् ३७६
कालरामाङ्क १५९, ४२५
कासीत् प्रमा ४२१
किं तन्नि:श्वसितमिव २९५
किं ब्राह्मणस्य ७९१
किं स्विदासीद २७१
किञ्च वर्णानां १९३
किन्नु भगवन् नियतकाल ३०१
किमेते सर्व एवोपास्या ५८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

कियती योषा ६७३
कुक्कुटोऽसि ११५
कुमारं जातं ३८
कुमारिकापाद ६५
कुर्वन्नेवेह कर्माणि २९९, ३०२
कुवित सोमस्य ९०
कुह स्विद्दोषा ६०९
कुह्वै चैवानुमत्यै ७१४
कृकवाकुः सावित्रा ७३०
कृणुष्व पाजः ३१३
कृणोम्यस्मै भेषजं ५६७
कृत्स्नस्य नाभि ६२८
कृषिश्च मे २२१
कृष्णं नियानं ५५५
कृष्णायाः पुत्रो ८०
कृष्णो नोनाव १३३
केतुं कृण्वन्न ७७९, ७८४
केवलाघो भवति ६९४
केशी केशा २७५
केशी केशा रश्मयः ६२८
केषां शब्दानाम् ३०९
को अद्धा ३५९
को वै प्रजापतिः ६३२
को वोऽन्तर्मरुत् ८१
कोऽसि कतमोऽसि ६३२
कौसल्ये देवरस्ते ६२१
क्रत्वः समह ४३१
क्षत्रं वाश्वो ८३४
क्षत्रं वै राष्ट्रम् ६२८
क्षत्रं वै स्विष्ट ६५२
क्षत्रस्य योनि ६२८
क्षत्रस्य वाऽएतद्रूपं ६२८
क्षत्रं वै साम ६५२
क्षत्राय राजन्यं ८३१
क्रोधात्भवति संमोहः ४८७
क्रियाप्रधानं ५५
क्रियासु बह्वी ५५
क्रियाभिर्निवृत्ति ५५
क्रियावन्तः श्रोत्रिया ७९२
क्त्वापिच्छन्दसि ६९८
क्लेशकर्म १३०, ७२६, ४७१
क्षीयन्ते चास्य २४०
क्षुरस्य धारा निशिता ३३९
क्षेत्रभूता स्मृता ६०८

ग

गच्छतः स्खलनं ९७
गणानान्त्वा १४
गणानान्त्वा ८३३
गतेस्त्रयोऽअर्थाः २४०, ३२८
गद व्यक्तायां वाचि ८६४
गन्धस्येत्वे २०३
गां मा हिंसी ४१, २१७
गादि व्यक्तिभेदे १७३
गय इत्यपत्यनामसु ७६३
गाथिनो विश्वामित्रः ८७५
गायत्री त्रिष्टुब् ८२८
गृत्समदो द्वितीयं ८७५
गृभ्णामि ते ६०१
गृहस्थस्तु ६०६, ६७८
गृहा मा बिभीत ६७२
गावो न धेनवः ५७
गुरुस्तर्कतश्चैव ८८०
गोक्षीरं गोघृतं ७१३
गोमांसं ६४
गोशब्देनोदिता ६४
गौः ग्मा ४०४
गौरादित्यो ४०४
गौरिति पृथिव्या ४०४
गुणेषु गुणारोपणम् ४२९
गुणेषु दोषारोपणम् ४२९
गुप्त्यै वा अभितः ३९०

च

चंचल हि मनः ४७०
चक्षुर्वै जमदग्नि २९१, २९७
चतस्रश्च मे ४१८
चन्द्रमा मनसो ३८८
चतुर्थमायुषो ६७९
चतुर्णामृक्सामयजु ७२९
चतुर्भिः प्रकारैर्विद्या ८०६
चतुर्थ्यर्थे ३१०
चतुर्विधं मन्त्रजातम् २९१
चतुर्विध आहार ६७६
चतुर्ष्वपि १४८
चत्वारि वाक् परिमिता ३२, ४७, ६६, ८७, ३१४
चत्वारि शृङ्गा १४८, २४५, २८७, ८७९
चत्वारो वा इमे २८७
चत्वारो वा इमे २९१
चत्वारो वेदाः २८७
चत्वारो वेदाः १४८, ७३१
चत्वारो वा ११४
चत्वारो वै इमे वेदाः ५६७
चत्वार्याहुः १५१
चन्द्रमा मनो भूत्वा ३२७, ४४०, ५०९
चरणशब्दाऽध्ययन ३०९
चातुर्वर्ण्यं मया ६५९
चातुर्वर्ण्यं त्रयो २३६
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः ६५९
चिकित्सा चायुषो ५६८
चित्तन्तु चेतो ३२६, ५०९
चिदचिदात्मकमिदं ३७८
चेतनास्थानम् ३२७
चोदनालक्षणो ३२६, ३५६
चोदनेति क्रियायाः ३५४
च्यवनमच्युतानां २९७

छ

छन्दसि लुङ् ८४३
छन्दसि लुङ्लङ् ५४२
छन्दसि लुङ् ३८७
छन्दसि लुङ्लङ् २८४
छन्दसि विषये ८३
छन्दसीणः २९८
छन्दांसि वै देवानां ८८०
छन्दांसि वै देवाः २८२
छन्दोभूतमिदं सर्वं ८८०

ज

जगद्व्यापारवर्जं ६२५

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगद्व्यापारस्तु	३२४	तत् हि तपः	३४९	तत्सवितुर्वरेण्यं	८५
जगद्व्यापारे एतेषां	३६९	तत्प्रतिषेधार्थं	४७९	तथाश्विनौ	५४१
जग्राह पाठ्य	२८८	तत्तु समन्वयात्	२४१, ७२३	तदक्षरमकायमव्रण	४२९
जनतायै	२०२	तत्प्रामाण्यमाप्त	७२३	तदत्यन्त	५२१
जनिष्ठा उग्रः	६४४	तत आगतः	७५४	तददस्तद् दिवाकीर्त्यानां	२९४
जमदग्नयः प्रजमित	८३५	ततः क्षीयते	४९९	तदधीते	६२
जन्मना ब्राह्मणो	२८४	ततः परमा	४७	तदन्तरस्य सर्वस्य	१२२, ३९६, ४३२
जन्माद्यस्य	७२३	ततः प्रत्यक्	४७६	तदा द्रष्टुः	१९४, ४६५
जन्माद्यस्य यतः	६२५	ततस्तथोक्ता	६१३	तदभावात्	५१८
जन्माद्यस्य यतः	३६७	ततस्तेनैव	६१२	तदानीमस्य यज्ञस्य	३९१
जन्माद्यस्य यतः	१८७	ततोऽम्बिकायां	६१२	तदा विवेक	५१९
जन्माद्यस्य यतः	५२८	ततो द्वन्द्वानभि	४९६	तदाहुः	२५८, ७९५
जरां गच्छ	२९९	ततो धृतव्रतो	६५२	तदु हैके इत्यादि	२९४, २९५, ३११
जातस्य हि ध्रुवो	६७१	ततो विराड	३७९	तदु होवाच	२९५
जाम्बवन्ती	१७	ततो माद्री	६१३	तदेजति	२७०
जार आ भगम्	७४५	तत्त आ वर्तयाम	८४, ८६	तदेतत् अक्षरं	४५
ज्ञाते च वाचनं	७९८	तत्तु समन्वयात्	१९४	तदेनांस्तद	३८
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि	२३३	तत्ते पदं संग्रहेण	१८८	तदेवाग्निस्तदा	२९७, ३२४
ज्यायसा वा	१९३	तत्प्रकृति	२७९	तदेवार्थमात्र	५०२
ज्योतिः सूर्यः	६९२	तत्र कानिचिद्	४४९	तदेषां निहितं	१३८
ज्योतिषां ज्योतिः	१०३	तत्र को महः	३२२	तदैक्षत बहु	३९४
ज्योती रज उच्यते	४१४	तत्र चेत्प्रष्टारः	१४९	तद्दूरे तद्वन्तिके	४३२
ज्योतिरिन्द्राग्नी	२७५	तत्र जातः	७५४	तद्धावतोऽन्यान्	२४७
ज्योतिरेवायं	२७५	तत्र नामान्याः	५६	तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र	३६०
ज्योतिर्वै हिरण्यं	२७५	तत्र निरतिशयं	४७३	तद्यत्सत्यं त्रयी	३१६
ज्ञानस्य याथार्थ्यं	७२१	तत्र पिता दुहितु	७३८	तद्यथा तृणजलायुका	५८२
ण		तत्र प्रत्यक्ष	४६७	तद्यथाऽनः सुसमाहित	५८७
णश अदर्शने	१८०	तत्र प्रत्ययैक	५०२	तद्यानि चत्वारि	४७
त		तत्र भवः	७५४	तद्यदेनान् छन्दांसि	८८१
तं पत्नीभिरनु	२४६	तत्र भिषजा पृष्टेन	५६८	तद्यस्यैवं विद्वान्	७१८
तं प्रत्नथा पूर्वथा	८७७	तत्र यद् ब्रह्मजन्म	६६५	तद्येऽनादिष्टदेवता	२४२
तं यज्ञं	३८५, ६९८	तत्र रात्रिन्दिवयोः	६८८	तद्ये ह वै	५०४
तं विद्याकर्मणी	८३४	तत्र शतपथ	११८, २९४	तद्रूपकमभेदो	७४४
तं सूर्यं परितः	३९१	तत्र स्थिरसुख	४९५	तद्वचनादाम्नायस्य	१७३, ७२२
तं चेद् ब्रूयुः	५११	तत्रापरा	१४८, १८९, २८७	तद्विज्ञानार्थं	१८४
तच्चक्षुर्देवहितं	२९९	तत्रायोनिजम	३८५	तद्विष्णोः परमं	११६, १९३, ३१८
तं सभा च	६४१	तत्राहिंसा	४८४	तद्वै युगसहस्र	१५१
तच्चोदकेषु	२९३	तत्त्वतो न हि वेदशाखा	३०९	तद्वैराग्यादपि	५१९
तज्जपः	४७४	तत्सदृशमिति	१९३	तनूपाऽज्ने	३४६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्नास्ति न वेत्ति	७६६	तस्मिन् हिरण्यये	५१०	तृष्णा न जीर्णा	४६१
तन्माता पृथिवी	८४२	तस्मिंश्च वेदे	१८४	तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं	४६१
तन्मे मनः	८४, ६०, ४४२	तस्मै ज्येष्ठाय	८४, १८६	ते छन्दोभिरात्मानं	२७६
तपः तपो नित्यः	३४६	तस्य भासासर्वमिदं	४००, ४१७	ते तेषु ब्रह्मलोकेषु	५२६
तपत्यादित्य	६३२	तस्य योनिं	१६४	ते देवा एतद्	८७५
तपश्च स्वाध्याय	३४८	तस्य वाचकः	१६५, १८६, ४७३	ते पृथिवीं प्राप्यान्नं	५८०
तपसे शूद्रम्	८३१	तस्य वेदोऽनुकारश्च	३०	ते म आहुर्यः	२४६
तपो न परं	४६६	तस्य सर्वेषु लोकेषु	५३३	ते यज्ञेन	५३७
तपो वा अग्निः	६१	तस्य ह जनकस्य	६६५	ते यदन्तरा	५३३
तम आसीत्तमसा	३५६	तस्यात्मानुग्रहाभावे	२४१	तेजोऽसि	४३४
तम एव खल्विदं	३६५	तस्यापत्यम्	७५४	तेजो वा अग्निः	६१
तमश्चास्मिन्	३६५	तस्यायुषः	५०	तेन प्रोक्तम्	३१२
तमिदं निगतं	३२२, ४२२	तदस्यास्त्य	११४	तेन वाक्येन	२४५, ८७८
तमीशानं जगतः	२६८, ३१८	ता अस्मा इष्टाः	६३१	तेन व्याख्यातं	३१२
तमु ष्टुहि यो	४३०	ता उभौ चतुरः	८३८	तेभ्यो नमो	८६
तमृचः सामानि	५६७	ताः षोडशकला	१६७	तेभ्यस्तप्तेभ्यः	१३६, २३७, २६१
तमृचश्च	११४, २८७	तां योगमिति	५३१	तेषां न पुनरावृत्तिः	५२४
तस्य यजुरेव शिरः	२८८	तान् होवाच	८७२	तेषां स्वं स्वमभिप्राय	३३०
तमेतं वेदानुवचनेन	६८१	तानहमनु	६४६	तेषामिह न पुनरावृत्तिः	५२६
तमेव ऋषिं	६६६	तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्	२६०	तेषामृग्	५३, ३१५, ८६१
तमेव भान्तमनु	३६८	तानीमानि शुक्लानि	२६५	तेषामेव लोको	१८५
तमेव विदित्वा	१८६	तान्यतोऽनु	३१	तैरल्पसत्वस्य मलाः	५०८
तयोरन्यः पिप्पलं	५८०	तामुत्थापयेद्देवरः	६१७	त्यागाय संभृतार्थानां	४८८
तरणिकिरण	७४७	तारत्वादि	१६६	त्र्यम्बकं यजामहे	८४
तस्माज्जज्ञे	६१३	तावच्छास्त्राणि	७२७	त्र्यायुषं जमदग्ने	२६०
तस्माद् ब्राह्मणो	६८८	तासां क्रमेण	६८६	त्रयं ब्रह्मसनातनम्	३१५
तस्माद् यज्ञात्	११२, १४७, २३०, २८६, ३८१	तिरुन्ततं स्थाप्य	४६५	त्रयमेकत्र	५०३
		तिरश्चीनो	३५६	त्रयः पवयो	५४६
तस्मादश्वा	३८२	तिस्र एव देवता	७५४	त्रयः स्नातका	७६३
तस्माद्वा	२१८, ५८१	तिस्रः क्षपः	५३६	त्रयस्त्रिशता	२५०, २५१
तस्माद्वा एतेन	३०७	तिस्रो रात्रीर्यद	६६७, ७१६	त्र्यायुषं त्रिगुणमायुः	३००
तस्माद्वै	१०७, १८६, ३१७, ३८२	तीर्थमेव प्रायणीयो	७६३	त्रयीविद्या	१४८, २८७, ३१६
तस्माद् वैदिकमन्त्रेषु	२३६	तीर्थेन हि प्रतरन्ति	७६६	त्रयो धर्मस्कन्धा	२२२, ६७७
तस्मादस्मात्कल्पाद	५२६	तुग्रो ह भुज्यु	५३६	त्रयो लोकाः	४६, २५६
तस्माद्धान्यन्न	३१७	तुदादिभ्यः शः	८४३	त्रयो लोकाः संमिता	७७७
तस्माद्धितोपचारमूलं	३०१	तुल्यार्थैरतुलोपमा	३८८	त्रयो वेदस्य	३३
तस्मान्न पुनरावर्त्तते	५२४	तृणादपि लघुस्तूल	४३१	त्रयो वेदा	१४८
तस्मिञ्छुक्ल	५३३	तृणानि भूमिरुदकं	७१८	त्रिगुणं तज्जगद्योनिः	३६२
तस्मिन् सति श्वास	४६६	तृप्यन्ति येन	६६	त्रितः कूपेऽवहितो	४२४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रातारमिन्द्र ६३७
त्रिदिनपर्यन्त ६६७
त्रिधा खलु ३०५
त्रिपादूर्ध्व ३७८
त्रिपाद् ब्रह्म ३१७
त्रिर्नो अश्विना ५५१
त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्ति ५२१
त्रीणि राजाना ६२३
त्रीन् वरान् ६६८
त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत् ५०९
त्रेतायुगे विधिस्त्वेष ६८, ८१४
त्रेतायुगे विधि ६८
त्वं च सोम ३०१
त्वं पोता ६४९
त्वं वा अहमस्मि ४६५
त्वं सोम ४०७
त्वङ्मांसरुधिर ४९०
त्वमग्ने यज्ञानां ५४
त्वमग्ने राजा ६५२
त्वमिन्द्राधिराजः ६३९
त्वमिन्द्र बलादधि २४३
त्वमेको ह्यस्य २३६
त्वमेव प्रत्यक्षं ३०, २६३, २८७
त्वष्टा दुहित्रे ७५३
त्वां विशो वृणतां ६३०

द

दक्षिणत उदङ्मुखो ८७२
दक्षिणतस्तिष्ठन् ८७२
दक्षेदमृक्सहस्राणि ८५९
दण्डः शास्ति प्रजाः ६४४, ८३९
दशेदमृक् ६९
दमश्च स्वाध्याय ३४८
दशाङ्गुलमनन्तपारं ३७५
दस्युं वकुरेण ६६०
दह्यन्ते ध्मायमानानां ४९९
दहर उत्तरेभ्यः ५०६
दासपत्नीरहिगोपा ७५, ७५५
दिधिषोः पत्युः ६१५
दिव्ये ब्रह्मपुरे ५०५
दिव्यो ह्यमूर्त्तः २७३
दिशः परिधयः ३९१
दिशोऽग्निः ६१
दीर्घकालनैरन्तर्य ९४
दुःखजन्म ५२०
दुःखदौर्मनस्य ४७९
दुःखादुद्विजते लोकः ५१५
दुःखानुशयी ५१८
दुराचारी हि पुरुषो ३०१
दुर्बोधं तु भवेद् ४३, ८१०, ८६६
दुष्टः शब्दः स्वरतो ८००
दृग्दर्शन ५१७
दृते दृंह ३३६
दृश्यते त्वग्रचया १९४
दृष्ट्वा रूपे ३३५
देवतातत्त्वविज्ञानं ८७७
देवतायाश्च सायुज्यं ८८६
देवरः कस्माद् ६१३
देवराद्वा ६११
देवपितृकार्याभ्यां ३४८
देव सवितः ८७
देवस्य त्वा ६३०, ८२१
देवहितिं जुगुपुः २०
देवा न आयुः ३००
देवा व अब्रुवन्नेष ८७४
देवानां प्रियः ११७
देवानां स्तोतृ १४६
देवानामसुरत्वं ७५६
देवानृषीन्मनुष्यांश्च ६९४
देवार्पिविद्युत् ८१
देवा भागं ३७
देवाः पितरो ४०१
देवा वै मृत्यो ३१६
देवाश्च वा ७५७
देवासुराः संयत्ता ३०२, ९५६
देवेन चक्षुषा ५३२
देवो दानाद्वा २४४, ४५१
देवो वः सविता १०५
देशबन्धश्चित्त ५०१
देहि मे ददामि ६७२
दैवकर्मणि युक्तो २०२, ६९२
दैविकानां १५१
दैवतज्ञो हि ८७७
दैवेन चक्षुषा ५२९
दोषेषु गुणारोपणम् ४२९
द्यावापृथिवी सर्वे इमे ४४०
द्यावाभूमी जनयन् ४५६
द्योतनाद्वा देवः २३९
द्योतनाद्देवा १०३
द्यौर्मे पिता ३८४, ७३८
द्यौर्वः पिता ८४२
द्यौः शान्तिः १०९
द्यौष्पितः पृथिवी ४४०
द्वयं वा इदं ६९८
द्रव्याणां तु २०३
द्रव्यसंस्कार २०२
द्रष्टृप्रवक्तृ १७४
द्वया ह प्राजापत्या ७५७
द्वा सुपर्णा २१
द्वादशाङ्गुलमतिक्रम्य ३७५
द्वादश प्रधय ५५४
द्वादशाहः प्रभृतीनि ५३०
द्वादशाहः सत्रहीनश्च ५३१
द्वावात्मानौ ६८
द्वितीया ब्राह्मणे ३१०
द्विपादव ४१, २१७
द्विरात्रप्रभृतयोऽहीना ५३०
द्विवचनस्याकार ६२५
द्विविधा सृणि ४५५
द्विविधा स्त्रियो ७९७
द्विविधो हि भिषजो ३०१
द्विषतो वधाय ३०९
द्वे विद्ये वेदितव्ये १८९
द्वे सृती ५८४

ध

धनं यो बिभ्रयाद् ६११
धन्या नरा ३४२
धर्म एव हतो ६३७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

धर्मचर्यया जघन्यो ६५८, ७९७
धर्मजिज्ञासमानानां ३२६, ६११, ७९४
धर्मार्थकाममोक्ष ३०७
धर्मोपदेशाच्च ११३
धातूनामनेक ६०
धाना धेनु ४०
धामानि त्रयाणि २५९
धामानि वेद भुवनानि ४२९
धारणाद्धर्म ३२७, ६२४
धारणासु ५००
धियो यो नः ४३०
धीविभ्रमः ५०८
धूमज्योतिः २१२
धृतव्रतो वरुणः ६५२

न

न ऋते त्वदमृता ४६५
न ऋते श्रान्तस्य ३१८
नृणां जन्मसहस्रेण ७३५
न खल्वेवं वर्तयन् ५२४
न चक्षुषा गृह्यते २४७
न चतुष्ट्वमैतिह्य २२४, ३०७
न च पुनरावर्त्तन्त ५२६
न चत्वार्य्येव ३०७
न च पौरुषेयत्वे ७२२
न तं यक्ष्मा २०४
न तत्र चक्षुर्गच्छति २४६
न तत्र पशु ३९
न तत्र सूर्यो २४५
न तपोभिर्न ७३४
न तस्य रोगो ५६८
न तस्य प्रतिमा ७७२
न तिष्ठति ६९१
न तु पृथक्त्वेन १८४, ३८८
न त्वावाँ २७१
न थर्वतीति ८६४
नदीति नद्याः ७६
न देवा दण्डमादाय ४३७
न द्वितीयो ३२१
ननु वेदार्थं ११२
ननूक्तमसंवादो ७६
न पञ्चमो ३२१
नपुंसकमनपुंसकेन १९८
न पौरुषेयत्वं १२९, २६८, ७२५
नप्तृनेष्टृत्व ७४२
नम उच्चैर्घोषाय ८२५
न मनसा ६११
नम ऋषिभ्यो ८७२
नमः कपर्दिने ८२६
नमः कुलालेभ्यः ८२६
नमः सहस्राक्षाय ८२६
नमस्तक्षभ्यो ८२५
नमस्तीर्थ्याय ७६३
नमस्ते अस्तु ४५७
नमो गिरिशयाय ८२६
नमो वः पितरो ७०२
नमो ब्रह्मणे ६४६
नमो मन्त्रिणे ८२५
नमो हिरण्यबाहवे ८२५
न मृत्युरासीत् ३५८
नमो वञ्चते ८२५
नर्माय पुंश्चलूम् ८३१
न रसायनानामेतत् २९९
नराशंसो यज्ञ ३०३
नव च यन्नवति ४२१
न वेदशास्त्राद् १८३
न वै मनुष्यः ८३४
नष्टे मूले २७, २३४, ८०६
नष्टे मृते ६१८
न वेदशास्त्रादन्यत्तु २३६
न वै सशरीरस्य ५२९
न हि कश्चिदपरतन्त्रो ५७४
न हि निन्दा निन्दितुं ३६४, ५२५
नानृग्वेदविनीतस्य २८७
निर्विण्णोऽभयं १८४
न हि प्रयोजनम ८५, ५२७
न हि वेदः पुरुष ७२४
न हि वेदशास्त्राद ३२६
न हि सति ६८१
न हि सत्यात्परो ३३२, ३३६
न ह्ययमत्यन्तासत्त्व ३६२
न ह्युपाधियोगाद् ३९६
न ह्येतेषु ६६
नराः प्रशस्यन्ते २४५
नहो भश्च ६२८
नात्र तिरोहितमिव २९४
नात्मानमवमन्येत ५७७
नादत्ते कस्यचित्पापं ५९५
नाना इमे वै ३७४
नानृग्वेदविनीतस्य १५, १४८
नान्यः पन्था विद्यते ५२६, ५३६
न हि कश्चित् १९९
नान्तः प्रज्ञं २७४
नान्योऽतोस्ति ४५६
नाब्रह्म क्षत्रम् ६२९
नाभिर्मे चित्तं ६३५
नाभुक्तं क्षीयते कर्म ४२९
नाभेरुपरि दशाङ्गुलं ३७५
नाम्या आसीद् ३८९
नाम च धातुज ५६, ८६९
नामैकदेश ११३
नायमात्मा बलहीनेन ४७७
नारायणाद् १४०
नारी तु पत्यभावे ६२१
नाविरतो ५०४
नावेदविन्मनुते १९१
नाषडङ्गविद् ४४
नाष्टमो ३२१
नासदासीन्नो २७२, ३५८
नाशः कारणलयः २२३
नासतो विद्यते १७९, २२३, ३१७
नासत्यौ च अश्विनौ ५४५
नास्मै विद्युन्न ७५४
नाहो न रात्रिर्न ३६१
निगमनिरुक्त ५९
निकामे निकामे २१५
निजशक्त्यभिव्यक्तेः १७६, ७२४
नित्यदित्यादित्य ७६०

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्यशब्दोऽयं ३५३
नित्यः सर्वज्ञः ४४६
नित्याश्च शब्दाः १६८
नित्यवीप्सयोः ८६
नित्यस्तु स्यात् १७२
नित्याः शब्दा १६८
नित्यो नित्यानां २७३
निधिं तमद्य २६०
नियतकाला हि ७३६
नियतवाचो युक्तयो ३१३
निःसृत्तासतं ३६०
निःसृतं सर्वशास्त्रं २३६, ३२६, ८०६
नैतदब्राह्मणो ७६१
नैतदस्ति ७५
नैरुक्त्यं यस्य २६४
नैव वाचा न मनसा २४७
नैवेश्वरस्यैक ७०
नैव वेदाः प्रलीयन्ते १२०, १६५
नैवेश्वर आज्ञापयति ८८८
नैवेह किञ्चाग्र आसीत् ३०३
नोदकेन ६१८
न्याय्यात्पथः ३५४

प

पञ्च नद्यः ८२
पञ्च वेदान् निरमिमीत ५६८
पञ्च सूना गृहस्थस्य ६८६
पञ्चस्वन्तः पुरुष ३७३
पञ्चैतान्यो ६८६
पतन्ति खं ६७
पतिर्जायां प्रविशति ६०८
पतिर्भार्यां ६०८
पत्नी वाचयति ७६८
पत्यादिशब्देभ्यः ३६६
पदविभागो ५३
पदेषु पदैकदेशान् २०३, २१८
पयः पशूनां रसमोषधीनां ५७५
परमार्थे तु ७३
परा चिच्छीर्षा २२२
परा पुरावृतः प्रकृष्टाः ५२६
परा यया १६१
परित्यजेदर्थकामौ २०१
परार्थत्वात् २०२
परित्राणाय साधूनां ६३६, ६५३
परीत्य भूतानि २६६, ३१७
पर्जन्यो वा अग्निः ६१
परूंषि यस्य ११८
परोक्षकृताः २४३
परोपकारः पुण्याय ३४२
परोऽपेहि ७६
पवित्राय भिषजं ८३१
पश्चिमां तु समासीनो ६८६
पशुरेष यदग्निः ६०
पशूंस्त्रायेथाम् ४१, २१७
पशूनां पतये ८२५
पशून्पाहि २१७
पश्य देवस्य १३२, १३६, २३६
पाणिग्राहस्य ६१४
पाण्डित्यं गृहतन्त्र ७६६
पादोऽस्य विश्वा ३१७, ३७८, ४०१
पादोऽस्येहाभवत् ३१७
पारोवर्यवित्सु ४२
पारोवर्येण विजानन्ति २८४
पाषण्डिनो विकर्म ७१६
पाहि नो अग्न २८८
पितरं प्रणिपत्य ४३१
पिता पाता वा ५७
पिता वत्सानां ३६
पितृदेवमनुष्याणां ३२६
पितृभ्यः स्वधायिभ्यः ७११
पीत्वा पीत्वा ७३५
पुण्डरीकं नवद्वारं ५१०
पुण्डरीकेण सदृशं ५०७
पुत्रः पुरु ५७
पुत्रेषु भार्या ६७८
पुत्रैषणायाश्च ६७६
पुन्नाम नरकमनेक ४५२
पुनन्तु मा ६१, ६६८, ७१३
पुनन्तु मा पितरः ७११
पुनरेतं त्रिमात्रेण १८८
पुनर्नो असुं ५७२
पुनर्भूर्दिधिषू ६१७
पुनर्मनः ५७५
पुनर्मैत्विन्द्रिय ५७६
पुनरुत्पत्तिः ५८७
पुमान् पुमांसं ३३२
पुमान् स्त्रिया १६८, ७६७
पुराकल्पे तु नारीणां ७६७
पुराणप्रोक्तेषु ३१०
पुराभवं पुराभवा २६६
पुरुरवा मध्यमस्थानः ७८
पुरुष एवेदं सर्वं २४८, ३७५
पुरुषं पुरिशय ३७०
पुरुषः पुरिषादः ३७१
पुरुषार्थशून्य ५२०
पुरुषान्यतरख्याति ४५१
पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् ७२६
पुरुषोऽग्निः ६१
पुरुषो हि प्रथमः ३८२
पुष्टिर्वै पूषा ६३०
पूर्णमदः पूर्णमिदं ४२१
पूर्णात्पूर्णमुदचति ४२१
पूर्णाहुत्या सर्वान् १८६, ५२५, ६०७
पूर्वकल्पे ११६
पूर्वकल्पे ये वेदाः १६६
पूर्वमेव गतं २४६
पूर्वेषामपि गुरुः १६२
पूर्वो जातो ६६२
पूष्णो हस्ताभ्यां ६३०
पूर्वेषामपि गुरुः ७२६
पूर्वां सन्ध्यां ६८६
पूर्वीः षड् ७८
पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं २३६
पृथिव्याः ओषधयः २१६
पृष्ठवास्तुनि ७१७
पृष्टीर्मे राष्ट्र ६३५
पौर्विकीं संस्मरन् ५६१
प्रजननं ६१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्र तद् वोचेयम् ११६
प्रसिद्धसाधर्म्यात् २२३
प्रायोऽर्थो ५३
प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम् ७६७
प्र तद्वोचेद २६६
प्रजनार्थं स्त्रियः ६०८
प्रज़ाभ्यः ६०८
प्रज़ा हि तिस्रो ४०५
प्रजातन्तुं ३५०, ६०४, ६०८
प्रजापतये ३८
प्रजापतिर्यज्ञ ११२
प्रजापतिर्वा ११३
प्रजापतिर्वै जमदग्निः ८३४
प्रजापतिर्वै सविता ४५१
प्रजापतिर्वै सुपर्णो ७३८
प्रजापतिश्चरति ३६५
प्रजापतिस्तावत् ७७, ७४७
प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शनं ८३१
प्रति क्षत्रे ६३७
प्रतिपादमृचामर्थाः ८८२
प्रतिमानान्ययोमयानि ७७६
प्रतिष्ठार्थं हि ५०७
प्र ह षोडशं २६६
प्रकरणशः एव ३३५, ६५५, ६६१
प्रकरणसामर्थ्य ५४
प्रकृतिं दृष्ट्वा ५६
प्रच्छर्दन ४८३
प्रणवो धनुः १८८
प्रत्यक्षं चानुमानं २८४
प्रत्यक्षकृताः २४३
प्रत्यक्षतो हि ५०६
प्रत्यक्षानुमानो ७२३
प्रत्यक्षेणानुमित्या १८३, ३२६, ७२४
प्रत्युष्टं रक्ष ८४
प्रथो वरो ४६०
प्रज्ञानामसु ४५८
प्रधानाप्रधानयोः १६८
प्रधाने एव च १६६
प्रधाने कार्यसम्प्रत्यय १६८
प्रपद्येते १६
प्रमाकरणं प्रमाणं ७२१
प्रभ्राजमानां हरिणीं ५१०
प्रमाणं शब्दो ३०४
प्रमाणविपर्ययः ४६७
प्रयोजनशून्यत्वे ८६
प्रवृत्तं च निवृत्तं च ७८५
प्रवृत्ते भैरवीचक्रे ७३५
प्राङ्महाभिष ८१
प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या ३१०
प्राजापत्यामिष्टि ६८१
प्राण इति स ब्रह्म २५८
प्राण मा मत् २५७
प्राणस्य प्राणमुत ५३४
प्राणा ऋषयः २८५
प्राणा देवाः ७५७
प्राणा वा ऋषयो २८१
प्राणा वै गयाः ७६८
प्राणापानौ २५४
प्राणाय नमो २५३
प्राणाय स्वाहा २०४, ८२८
प्राणायामानुष्ठान ५००
प्राणो वा अग्निः ६१
प्राणो वा असुः ७५७
प्राणो वै कूर्मः २६१
प्राणो वै बलम् ७६३
प्रातः प्रातः ६८८
प्रा त्वेता निषीदते ८७६
प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय २०२
प्रियं मा कृणु ६०, ६६१
प्रियं मा दर्भं ६६१
प्रियं सर्वस्य ७६४
पुराणस्योपजीव्य ७२८
प्रेत्य चेह ४६०

ब

बृंहेर्नोऽच्च १८६
बृहत् पृष्ठं ६४४
बृहस्पते १४१
बृहस्पते अति ७७६, ७८२, ७८४
बर्हिषदः पितर ७०५
बलमसि बलं ४३०
बहुनामसु ४६०
बहुलं छन्दसि ६२
बहूनि मे व्यतीतानि ५६१
बह्वर्था अपि ५६
बाधनालक्षणं १०५
बाधनालक्षणं ५२०
बार्हस्पत्यो भरद्वाजः ८७५
बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां ६३०
बाहुर्वै बलं ६३०
बाहू मे बलम् ६३५
बाहू वै मित्रावरुणौ ६५७
बाह्याभ्यन्तर ४६६
बाह्याभ्यन्तरविषय ४६७
बिभर्त्ति सर्वभूतानि २३६
बीजान्यग्न्युपदग्धानि ५१७
बुद्धितः परं पुरुषं ५१७
बुद्धिपूर्वा वाक्यकृति ३४, ७२, ८३, ८५, ११४, १२६, २६३, ७२२
बुद्धिमालिन्यहेतुत्वाद् ३१४, ४३६
ब्रह्मगुहा ब्रह्मयोनिर्वा ५१०
ब्रह्म च क्षत्रं ३४४
ब्रह्मचर्यादिनियमेन २६६
ब्रह्म वा अग्निः ६१
ब्रह्म वक्त्रं ३८६
ब्रह्मरूपिणा यजमानेन ३६०
ब्रह्म वा अग्निः ८१६
ब्रह्म वै ६५३
ब्रह्म वै प्रजापति १६७
ब्रह्म वै बृहस्पतिः ८३४
ब्रह्म वै ब्राह्मणः ३१०, ६२६
ब्रह्म वै रथन्तरं ६४५
ब्रह्म हि ब्राह्मणः ६५७
ब्रह्मचर्यमहिंसा च ४६५
ब्रह्मचर्यं समाप्य ३५०
ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य ६०६, ६७२, ६७८
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां ४६१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मचर्यमायुष्याणां २९८
ब्रह्मचर्येण कन्या ६६९
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा ६६९
ब्रह्मचर्येण कन्या ६७३
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च ६७९
ब्रह्मचार्येति ६६८
ब्रह्मचर्येण तपसा ६६९
ब्रह्मचारी जनयन् ६६९
ब्रह्मणाऽथ कृतं ५६१
ब्रह्मणे ब्राह्मणम् ८३१
ब्रह्मण्याधाय २०१
ब्रह्मनामानि ५८
ब्रह्मवादिनो वदन्ति ६८९
ब्रह्मसंस्थोऽमृतं ६८१
ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतं ७९८
ब्रह्माक्षर ११९
ब्रह्मा त्वो १४६
ब्रह्मप्रजापति १४७
ब्रह्मविदो ब्रह्म २६०
ब्रह्माणो १४८
ब्रह्मादयो देवा ६९५
ब्रह्मा देवानां १४६
ब्रह्मैको जाते १४६
ब्राह्मणा भगवन्तो ७९८
ब्राह्मणं वेदेश्वरविदं ३४१, ६५३
ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः ३०७
ब्राह्मणान्येव ३०३
ब्राह्मणेन निष्कारणो २३, ४४, २३४
ब्राह्मणं चाष्टधाभिन्नं २९६
ब्राह्मणं नाम कर्मणः २९३
ब्राह्मणे संज्ञाकर्म २९३
ब्राह्मणोऽस्य ३८७, ६५७
ब्राह्मणो वृषभं ३६
ब्रह्मणानि कल्पान् २९५
ब्राह्मणानितिहासान् २९५
ब्राह्मणैर्महर्षिभिः २९५
ब्राह्मस्य तु १५१

भ

भगवत्या १९४
भद्रं कर्णेभिः ४२९
भद्रमिच्छन्तः ६९६
भद्रा उत ८५
भयशोकाभ्यास ९१
भयादग्निस्तपति ३९८
भरणाद् भारद्वाजः ६४५
भावं जैमिनि ५२९
भाषास्वरो ब्राह्मणे २९२
भ्रातुर्भार्यामपुत्रस्य ६१७
भ्रातुर्मृतस्य ६१७
भिक्षां नित्यं ६७९
भिद्यन्ते हृदयग्रन्थि ३२७, ५०९, ५१७, ५३२
भीमा जाया ७९८
भुवर्वायवे ६९६
भूतं भव्यं भविष्यं ८०९
भूतस्य जातः ६२५
भूताय त्वा ८१९
भूत्वा चिराय ६८१
भूमिशब्दः सर्वकारणीभूत ३७४
भूमिः सर्वप्राणिभि ३७४
भूमिं पृथिवीम् ५७
भूमिं ब्रह्माण्डलोकरूपाम् ३७४
भूम्यां मनुष्याः ३७४
भूमे मातर्निधेहि ३७४
भूयश्च शरदः शतात् २९९
भूयसी शरदः शतात् २९९
भूयानरात्याः ४५६
भूरग्नये ६९६
भूर्भुवः स्वरग्नि ६९६
भूरिदा भूरि ९१
भूवादयो धातवः २८९, ८७४
भेषजं वा १४९, ५६७
भेषजं वा १७४
भेषजकृतो ह २०४
भैक्षे प्रसक्तो ६७९
भैषज्ञयज्ञा २०४
भोगापवर्गार्थं १०६, १३६, ५२०
भोगायतनं शरीरं २०१, ३८१
भ्रातृव्यस्य वधाय ३०९

म

मखस्य त्वा ८४
मखाय त्वा ८४
मङ्गलाचरणं १००
मण्डूका इव ८४, ८७
मत्वा सीव्यन्ति २२१, ६६५
मद्यं मांसं च ७३५
मधुपर्के च ७३६
मधुमन्तं मधु ८४
मन एवाग्निः ६१
मनः एव मनुष्याणां ४४२
मनस्त आप्यायतां ८२३
मनस्येकं ६६७
मनो जूतिर्जुषतां ३०९
मनो यजुः प्रपद्ये ८६३
मन्म रेजति ८४
मन्वते ६०
मनुष्यनामसु ४६२
मनुष्याः कस्मात् ६६५
मनुष्यैर्द्वाभ्यां ६४७
मनुष्यैरवश्यं १५९
मन्त्रकृतां ऋषीणां ८७२
मन्त्रकृतो मन्त्रदृश ८७१
मन्त्रकृतो वृणीते ८७२
मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् २८८, २९५
मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्य ५६७
मन्त्रव्याख्यानरूपो २९३
मन्त्रभाष्यमेव २९४
मन्त्रा मननात् २४५, २८१
मन्त्राणामार्षेय ४८
मन्त्रायुर्वेद १७४, ५०६, ७२३
मन्त्राश्चतुर्विधा २८७
मन्त्रे घसह्वर २८३
मन्त्रो हीनः ४६
मन्वन्तरयुगान्त १२०
मन्वन्तरयुगान्त १६५
मन्वन्तराण्य १५१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनसैवानुद्रष्टव्यं १९४
मम योनिः १०७, १८९, २८१, ३१७, ३६३
मम व्रते ८९
मयि नीतिर्बलं ६२९
मयीदमिन्द्र ४३५
मयोभूर्वातो ५३
मर्त्यः स्विन् ५८६
मरुद्भ्य इति ७१६
मरुद्भ्यो वैश्यं ८३१
महच्चार्थश्च ५०९
महतः ऋग्वेदादेः ३०, ११९
महत् ब्रध्नं ४६२
महद्यक्षं ३२०
महान्तो रथा ६५५
महाभाग्याद्देवताया ६९, २४८
महायज्ञैश्च ६८७
महित्वैक इद्राजा ६२५
महीं गामिति ८७५
मही देवो मर्त्यां २४८
मा गामनागां ४१, २१८
मा गृधः ४८६
मा चिदन्यद् २६३, ४३०
मातरं पितरं ६४
मातरमपि न ७३५
माता च ते पिता ८४२
माता निर्माता ६६७
माता पृथिवी ८४२
माता भूमिः पुत्रोऽहं ३७४, ८४२
मातृदेवो भव २६३
मातृमान् १२३
मातृयोनिं परित्यज्य ७३५
मातुरग्रेऽधिजननं ६६५
मा न आयुः ३००
मा नो मध्या ३००
माप च्योष्ठा ६३१
मा मेर्मा ८२०
मा भ्राता भ्रातरं ६७५
मा मऽआयुः ३००
मायेत्येवमादयो १८५
मा सक्तु ५३
मा सर्वाणि भूतानि ३३७
मासानां मार्गशीर्षो २१
मित्रस्य भागोऽसि २१५
मित्रावरुणौ वृष्ट्या १८५
मुखनासिकाभ्यां २५४
मुखबाहूरुपज्जानां ६६१
मुख्यार्थबाधे १४१
मुनयो वातरशनाः ६७९
मुनिर्फल ६७९
मुन्यन्नं ६७९
मुन्यन्यै ६७९
मूर्द्धाहं रयीणां ४३५
मुहूर्त्तानां प्रतिमा ७७३
मृतश्चाहं ५८५
मृते भर्त्तरी ६१८
मृत्योः स मृत्यु ५३४
मेधा बुद्धिः मतौ ४३६
मेधृ हिंसासंगमनयोः ६५४
मैत्रीकरुणा ४८२

य

य आत्मदा १०९, ४३३
य इन्द्र यतय ६७९
य इमा विश्वा २७०
य उद्गीथः १८६
य ऋष्वा ८१
य एते ब्रह्मलोके ५३२
यः कश्चित् कस्यचिद् ३२७
यः कश्चिदाध्यात्मिक ७५३
यं यं लोकं ६८१
यं यमन्तमभिकामो ५२९
यं वदन्ति ६२७
यं कं च लोकं ४४५
यः पृथिवीं १३५
यः पुनरेतं १८८
यः पौरुषेयेण ४१, २१८
यः सर्वज्ञः २७४
यकासकौ शकुन्तिका ८४०
यच्च कामसुखं ४६१
यच्च किञ्चिज्जगद ३९७
यच्छूद्रे यदर्ये ६६१
यजमानोऽग्निः ६२
यज्जाग्रतो ४४१
यज्ञकर्मण्यजप ७९८
यज्ञदानतपः कर्म ७३५
यज्ञमध्वरम् ५७
यज्ञशिष्टाशिनः २२२
यज्ञा वेदाश्च १४८, २८७
यज्ञार्थं पशवः २१७, ७३६
यजुर्भी रायस्पोषे ३१३
यज्ञेन देवा २२२
यज्ञेन यज्ञमयजन्त २२०, ३९२, ८१४
यज्ञेन वाचं ६८, ८१४
यज्ञैर्यः दधते ४४५
यज्ञोऽपि तस्यै २०३
यज्ञोपवीतं ६६४
यज्ञो वा ऋतस्य २२२
यज्ञो वै २०२
यज्ञो वै नमः २२२
यज्ञो वै ब्रह्म ४४७
यज्ञो वै भगः २२२
यज्ञो वै भुज्युः २२२
यज्ञो वै भुवनस्य २२२
यज्ञो वै महिमा २२२
यज्ञो वै स्वः २२२
यज्ञो वै विशो २२२
यज्ञो वै विष्णुः ५६, ११४, ११५, २२२, ४४७,
यज्ञो वै श्रेष्ठतमं ८१४
यज्ञो वै सर्वाणि २२२
यज्ञो वै सुम्ना २२२
यत्कर्म क्रियमाण ८५३
यत्करोषि यदश्नासि ४३२
यत्काम ऋषिर्यस्यां ८७९
यत्किञ्चिद्वै ५६७
यत्तददृश्य १८९
यत्नेनानुमितो ६५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः ७२९
यतश्चोदेति ४१७
यत् त्वेषयामा ५६१
यत्परः शब्दः २८८
यत् परमवमं ४००
यत् पुरुषं ३८७
यत् पुरुषेण ३८९
यत्र ब्रह्म च ६२९
यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च ३४४, ४४०
यत्र ब्रह्मा ११४
यत्र योगेश्वरः ६२९
यत्र लोकांश्च ७८५
यत्र श्यामो २६७
यत्रानुकामं चरणं ५३०
यत्पत्नी पुरो ७९८
यत्परममवमं २७२
यत्प्राग्द्वादश १५१
यतयः ब्राह्मणासः ६७९
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस १७३, १७४, ३२६
यतो यतः १०९
यतो वा इमानि २१९
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस २०१
यतो वा इमानि १८७
यतोऽभ्युदय ३५६
यतो वा इमानि ३६७
यत्र ऋषय १४७
यद्धि किञ्चन १८८
यथा करोतिरयमभूत ८७४
यथा खररुचन्दन ८०५
यथा च स एवाक्षो ३०२
यथा त्रेतायुगमुखे ६८, ८१४
यथा नदीनदा ६६८
यथा प्राच्यो नद्यः २८९
यथा ब्रह्माण्डे ८६०
यथा वशं नयति ६६०
यथार्थंपरिच्छेदकत्वं ७२१
यथा शिखा मयूराणां ४२०
यथेमां वाचम् ५८४,७८८,७९४,८६१
यथेयं पृथिवी ५७
यद् गत्वा न ५२४
यद् ग्रामे यदरण्ये ६७२
यद् गृहीतमविज्ञातं २३३, ८०४, ८६५
यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे ५०९
यद् भूतं भव्यं १८३
यद्भूतयोनिं ३९६
यद् भूतहितमत्यन्तं ३३२
यद् भेषजं तदमृतं ५६७
यदक्षर ४८
यदक्षरं वेदविदो १८५
यदङ्ग दाशुषे ३४, ३३८, ४३२
यद् यद् विभूतिमत् ४००
यद्वाक्यं विधायकं ३०५
यद्वाचानभ्युदितं ७७३
यद्वा वक्तुरभावेन ७२४
यदधीतमविज्ञातं ८६४
यदहरेव विरजेत ६७८
यदरुदत्तद् रुद्रस्य ३१२
यदश्नासि २०८
यदस्मिन्निदं २५८
यदात्मतत्त्वेन ४७६
यदा ते मारुती ४११
यदा ते हर्यंता ४१०
यदा पञ्चाव ५३१
यदा पिष्टान्यथ ४०
यदा सर्वं इति ५३२
यदा सर्वे प्रभिद्यन्त ५३२
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते ३२७, ५०९, ५३२
यदा वा ऋचम् १८८
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते ५३२
यदा सूर्यम ४१२
यदि अकाले मृत्युः ३०१
यदि नो ४१, २१८
यदि वेतरथा ६८०
यदि हि नावर्त्तन्त ५२६
यस्याः पदकृदात्रेयो ३१०
यदि हि नियतकाल ३०१
यदिन्द्र चित्रं ५३
यदृग्वेदो यजुर्वेदः २९१
यदेतत् १५१
यदेतत्तत्सदृशमिति १९२
यदेतद् हृदयं मनः ५०६
यदेनं ऋग्भिः १८३, ८६३
यदेभिरात्मानमा २७९
यदेव विद्यया ९४
यदेवेह तदमुत्र २७३
यद्धरिणो यवमत्ति ८४८
यद्देवा यतयो ६७९
यद्देवासो ललामगुं ८४७
यन्न दुःखेन १९३
यन्मनसा मनुते ३२७
यन्मां भवन्तो ६५२
यन्मे तन्वा ऊनं ३४६
यद्यदुत्तरोत्तरवाक्ये ३८७
यद्यपिमन्त्रब्राह्मणात्मको २९४
यद्यपि सत्यं ज्ञानं ३७७
यद्यात्मा मलिनो ५१५
यद्येकरिक्थिनौ ६११
यमनियम ४८४
यमश्विना ५४८
यमान् सेवेत सततं ४९४
यमेवैष वृणुते ३२०, ४३३
यया तदक्षरं १८९
यवीयाञ्ज्येष्ठ ६११
यशो वै २७५
यस्तन्न वेद ५६९
यस्तु जानाति तत्त्वेन ८८६
यस्तु सर्वाणि भूतानि ३३४
यस्ते वष्टि ४३०
यस्विन्द्रो लोके ६५, ७३
यस्मात्परं नापरमस्ति ३७३
यस्मादृचो ११२, ११८, १४७, २८६
यस्माद् भूयो ५२४
यस्मान्न जातः १९५
यस्मिन् भूमि २७२
यस्मिन् वेदा १४७
यस्मिन्त्सर्वाणि ७१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यस्मिन्नृचः १०६, १४७, २८६
यस्मिन्यथा वर्त्तते ३३३, ६४४
यस्मै हस्ताभ्यां ४३२
यस्य उदकर्मिह्यते ५४३
यस्य ते ६४६
यस्य त्रयस्त्रिंशद् २५०
यस्य नास्ति ११७
यस्य भूमिः १०६, ३८०
यस्य म्रियेत ६१०
यस्य वाक्यं स ऋषिः ८७०
यस्य वातः १०७, ३८०
यस्य सूर्यः ३८०
यस्य सूर्यश्चक्षुः १०६
यस्याग्निरास्यं ३८०
यस्यां कृष्णमरुणं च ४०५
या ओषधीः १५८
या गौर्वर्तनी ४०५
या तेनोच्यते २४४, ६२४, ८३३, ८७८
या त्वसौ वर्णानुपूर्वी ३१२
या त्वसौ १६४
या दुस्त्यजा दुर्मति ४६१
या पूर्वं पतिं ६१७
या वेदबाह्याः १८६
यां मेधां ४३६
याच्ञा मोघा ४३१
याथातथ्यतोऽर्थान् २४१
यानि सर्वप्राणिनां १०८
यानीहागमशास्त्राणि १८३, ८०६
यान्त्येवं गृहिणीपदं १६४
यावज्जीवेत् ५७७
यावती द्यावा १३६
यावद् ब्रह्मलोकस्थितिः ५२५
यावद् भ्रियते जठरं ४८८
यावन्तो हि लोके ५८३
युक्त आसीत् ४६२
युक्त्वाय ४५१
युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं ४६२
युक्ताहारविहारस्य ४८७
युक्तेन मनसा ४५१
युगपद् ज्ञानानुत्पत्ति ५६०
युगानां सप्ततिः १५६
युगान्तेऽन्तर्हितान् ११६, १६७
युजे वां ४५२
युञ्जते मन ४५०
युञ्जते मन उत ८७६
युञ्जन्ति ब्रध्नं ४६१
युञ्जानः प्रथमं ४५१
युनक्त सीरा ४५४
युवं पेदवे ५६४
येऽग्निष्वात्ताः ७०७
येऽस्यमूर्ध्वमा २५४
ये के चास्मच्छ्रे ३४८
ये चेह पितरो ७०६
ये तत्र ब्राह्मणाः ३४८
ये ते के च ६४२
ये ते के सभासदस्ते ३२६
येन द्यौरुग्रा १३४, ३६८
ये त्रिंशति २५०
ये नः पूर्वे पितरः ७०५
येना यतिभ्यो ६७६
ये राजानो ६३१
येषामध्येति ६७२
ये समाना ७०३
योऽघ्न्याया २१८
योऽयं ध्वनिविशेष ८०२
योऽर्थज्ञ इत्सकलं २३३, ८६६
योऽसावर्थः स नित्यः ३१३
योऽसावादित्ये पुरुषः ८६४
योगः कर्मसु ४६६
योगः संनहनोपाय ४६३
योगश्चित्तवृत्ति ४६३, ५३१, ५६१
योगाङ्गानुष्ठान ४८३
योगाय योक्तारम् ८३१
योगेनान्ते तनूत्यजाम् ४८८
योगोऽपूर्वार्थसंप्राप्तौ ४६३
यो दासं वर्णमधरं ६६०
यो देवमुत्तरावन्तं ४३३
यो देवेभ्य ३६७
योनिशब्दश्च ३६६
योनिष्ट इन्द्र ५३
यो भूतं च १०६
यो विद्याच्चतुरो १४८, २८७
यो वै ज्ञातो ६६६
यो वै ज्ञातोऽनूचानः ८७५
यो वै धर्मः ३३६
यो वै ब्रह्माणं १४५
यो वै भूमा २७४
यो वै शतादूर्ध्वं २६६
योषा वा अग्निः ६१
यो ह वा ८८

र

रंजिताश्च प्रजा ६३१, ६५२
रक्षार्थं वेदानां ५०
रजस्वलमनित्यं ४६०
रथो रंहते ४१४
रसो वै सः ४३३
राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि ६२३
राजधर्मान् व्याख्यास्यामः ६२३
राजन्य एव ६५३
राजश्चाथर्वं १४६
राजा कालस्य ३४
राजा राष्ट्राणां ६४६
राजा वै प्रकृति ६५२
रात्रिरादित्यः ७४५
रामो राज्यं १४०
राष्ट्रमश्वमेधो ८३४
राष्ट्रं दा ८६
राष्ट्रं वा अश्वमेधः ३६, ५६, ६५३, ८३४
राष्ट्रमेव विश्याहन्ति ६२६
रुक्षाल्पशीतान् ५०८
रुचं नो धेहि ६०, ६६१
रुचं ब्राह्मं ३६८
रेतः कृत्वाज्यं ३८२
रेतः सोमः ७४५
रेतसो बीज १४२, ३६३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ल

लक्ष्मीर्लाभाद्वा ३६६
लिङ्गमशिष्यं २२६
लिङ्गाच्च ११३
लुङ्लङ्लृङ् ८४३
लोकानन्दन ७६
लोकव्यवस्थापन २६६
लोको रजांसि ४१४

व

वक्तुरिच्छा तु ८६५
वच्यन्ते वां ५५८
वत्सस्य समीप ३८
वधीर्हि दस्युं ६६०
वध्यतामभययाचना ४३१
वयं प्रजापतेः प्रजा ४४७
वयं प्रजापतेः ६२५, ६२७, ६३७
वयं स्याम ४३५
वयन्तु न भयाद् ६३६
वरो वध्वा ३८
वर्जयेन्मधु ३८
वर्णज्ञानं ४५
वर्णागमो ५१
वर्णाय हिरण्यकारं ८३१
वर्णो वृणोतेः ६५७
वर्त्तमानसामीप्ये ६१६
वर्षेण भूमिः ४०५
वसून् वदन्ति ७११, ७१३
वह वपां जातवेदः ८३२
वाक्यविभागस्य ३०४
वाक्यात् प्रकरणात् ६३
वागेवाग्निः ६१
वाग्वै गायत्री ४५
वाचं ते ३८
वाचं ते शुन्धामि ८२२
वाचं वदत भद्रया ४२६
वाचं शुश्रुवां ६७
वाचः फलमर्थः २६
वाचो नामसु ४५८
वाजश्च मे ४४३
वातस्याश्वो २०, ६७६
वायुकेशान् ६२८
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां ६८५
वा षपूर्वस्य निगमे २८४
वार्यं वा तस्य ६५८
वाहिताग्न्यादिषु ७०८
विजानीह्यार्यान् ६६०
विज्ञानं यज्ञं २२२
विज्ञानेन वा २८७
वि तिष्ठन्तां ६६५
विद्ययाऽमृतं १६१
विद्ययैव समं ७६१
विद्या ब्राह्मणं ७६२
विद्याविनयसंपन्ने ३४७
विद्या ह वै ब्राह्मणं ७६२
विद्युतो ज्योतिः ७८
विद्युदाख्योऽग्निः ६२
विद्वांसस्ते कवयः ४५४
विद्वांसो हि देवाः २६२, ३६२, ६६५, ६६८, ७५८
विधिविहित ३०६
विधिहीनमसृष्टान्नं २३५
विधिशब्दाच्च २६३
विधिर्विधायकः ३०५
विधेः फलवाद ३०५
विध्यर्थवाद ३०५
विध्यनुवचनं ३०६
विनियोक्तव्य १४८, २८७
विनियोक्तव्यरूपश्च ३१५
विनियोक्तव्यरूपो २६४
विपर्ययो मिथ्या ४६७
विद्युद्रथा मरुत ८२
विद्वद्भिः सेवितः ३२६
विभूः प्रभुः २६३
वि ये भ्राजन्ते ५५३
विरजः पर ५३४
विराड् वा इदमग्र ६४१
विराडग्निः ६०
विरोधे त्वनपेक्ष ३१३, ७२६, ८५३
विविधं राजन् वस्तूनि ३७६
विवृद्धया शरीरस्य ७५, ७५४
विशेषणं विशेष्येण ६२
विशां पतिरेकराड् ६४८
विशो मे अङ्गानि ६३३
विशोऽवतारी ६६०
विश्वकर्माऽयमग्निः ६१
विश्वतश्चक्षु २७१
विश्वतश्चक्षुः २६७
विश्वभोजसा ६४६
विश्वमनुषां ६४६
विश्वस्य दूतम् ८४, ६४६
विश्वानरस्य ४१४
विश्वानि देव १०३, ८७६
विश्वेभ्यश्चैव ७१७
विष्टभ्य विशेषतः ३७८
विष्टभ्याहमिदं ३७७
वीरुधः प्राणन्ति ५७६
वीर्यं वा अग्निः ६१
वीर्यमेव राजन्यः ६४५
वृत्तयः पञ्चतय्यः ४६७
वृत्तिसारूप्य ४६६
वृत्रो ह वाऽइदं ७५४
वृन्दः खर्वो १५२
वृद्धिरादैच २८६
वृषा ते वज्र ८८
वृषादीनां च १५०
वेदः स्मृतिः ३२८
वेदञ्चोपदिश्य १७५
वेदप्रणिहितो १८३, ३२६
वेदप्रमाणविहितं ३२६
वेदमनूच्य ३४८
वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं ८६८
वेदलिङ्गाच्च ३२६
वेदवेदाङ्ग ४४
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः २८४
वेदस्यापौरुषेयत्वेन ३१३, ७२७
वेदाः प्रमाणं ३२६
वेदानां निजी ७२४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदा यो वीनां ५६२
वेदा हि यज्ञार्थमभि ८१३
वेदादिशास्त्र ६७८
वेदाभ्यासात् ६६५
वेदाभ्यासात् विप्रो ३४१
वेदाभ्यासेन ५६१
वेदार्थोपनिबद्ध ७२७
वेदाश्चत्वार एव २८८
वेदास्तावद् ४९
वेदाहमेतं १९२, २७०, ३६५, ३९४
वेदेषु चाष्टगुणिनं ४८४
वेदैश्चतुर्भिः १४८, २८७
वेदैश्च सर्वैः ६९, ८५६
वेदोऽखिलो ३२६, ६२४
वेदो धर्ममूलम् ३२६
वेदो नारायणः साक्षात् ६८७
वेदो वा ११३
वेदा साङ्गाश्च १४९
वैदिकी हिंसा ६५३
वैरहत्याय पिशुनं ८३१
वैश्वदेवस्य सिद्धस्य ७१३
वैश्वानराय ६७९
व्यत्ययो बहुलं ५४१, ५७१
व्यत्ययेनंते ५४
व्यस्तम्नाद् ४१२
व्याकरणं तु ५०
व्याख्यानतो विशेष ८५
व्याजस्तुति २४७
व्याधिस्त्यान ४७७
व्रतेन दीक्षाम् ३३९

श

शकुनिर्मृगः २९५
शक्त्युद्गमो भूतवाहो ५६२
शग्मम् इति सुख ४५६
शतशब्दोऽसंख्यात २९९
शतं चैका च हृदयस्य ४५४
शतं तेऽयुतं ४२५
शतं समाः २९९
शतं बहुनाम २९९
शतञ्च जीवामि २९९
शतं हिमाः सूर्यस्य ३००
शतायु बहुनर्मैतत् २९९
शतायुर्वै पुरुषः २९९
शन्नो देवी २९५, ३३१, ७७९, ७८४
शब्द ऐतिह्य १४३
शब्द ऐतिह्यानर्थ २२५
शब्दज्ञाना ४६७
शब्दप्रधानं १६८
शब्दाभ्यासे ११६
शब्देनोच्चारित ५५
शमयतीति वा ५८
शरीरं द्विविधं ५९२
शरीरं ब्रह्म २८६
शरीरजैः कर्मदोषैः ५७९
शरीरमाद्यं खलु १९१, ३४६
शरीरमेव माता ६६७
शरीरेन्द्रियसत्त्व २९८
शश्वद्धैतदारुणि २९५
शरीरे प्रजापति १९७
शस्त्रेण रक्षिते ६४५
शासद्वह्निः ७३८
शास्त्रयोनित्वात् १७६, ७२३, ७३५
शास्त्राणि सर्वाणि ७९९
शिर एवाग्निः ६०
शिरो मे श्रीर्यशो ६३२
शिरो वै देवानां ५०७
शिवं सुखनाम ४५६
शिशुर्वा अङ्गिरसां ८७२
शिशुर्वा अङ्गिरसो ८७४
शिष्टपरिज्ञानार्थां २८५
शुक्लयजूंषि शुद्धानि ३१४, ४३५
शुक्लानि यजूंषि २९०
शुचीनां श्रीमतां गेहे ५७७
शुनं हुवेम ८८
शुनां च पतितानां ७१७
शूद्रस्य वेदाधिकारे ७८९
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ६५८, ७९०, ७९६
शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त ७९५
शेषे ब्राह्मणशब्दः २९३
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां ६८०
शौचसन्तोष ४८९
शौचात् स्वाङ्ग ४९१
श्येतमदत्कमदत्कं ५३३
श्रद्धया दुहिता ८७२
श्रमेण तपसा ३४०
श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् ७९२, ७९३
श्रीर्वै राष्ट्रं ३९९, ६५५
श्रीर्वै सोमः ३९९
श्रीर्हि पशवः ३९९
श्रीश्च ते ३९८
श्रुतत्वाच्च ३२६
श्रुतिप्रामाण्याच्च ३२६
श्रुतिप्रामाण्यतो ३२६
श्रुतिर्हि नः प्रमाण ७२९
श्रुतिस्तु वेदो २८०, २८२
श्रुतिस्मृतिविरोधे ७२८
श्रुतेर्जाता ११२
श्रुतेश्च ३२६
श्रुष्टीति ४५५
शुश्रुवांसोऽनूचाना २४६
श्रूयतामग्निवेश ३०२
श्रूयते हि ४०
श्रेष्ठं नो द्रविणं ४३८
श्रेष्ठो हि वेदः १३८
श्रोणियोन्यूर्मयः ६२८
श्रोत्रं विश्वामित्र ५७, २९७
श्रोत्रोपलब्धिः १६८

ष

षडङ्गमङ्गं विज्ञान ५०७
षोऽन्तकर्मणि ६०, ६५२
षोडशकलः १९७

स

स इतः प्रयन्नेव ५८२
स उत्तमां १४७
स ऋचैव ११२, २३६, २९१
स एकधा भवति ५२९
स एतेनैन्द्रेण ५६०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स एवार्थः केवलं ३१३
स एष पूर्वेषां १२८, १७५, ४७२
स दुद्रवत्स्व ८४
स पूषा एतं ८७५
स एष वाव ३०६
स ऐक्षत ३१६
स ओ३म् इति १८८
स खल्वयं ब्राह्मणो ४८४
स जनास ८४
स तपोऽतप्यत २१८
स तथा वाचा २८६
स तु दीर्घकालनैरन्तर्य ४७४, ५९१
स त्वं केसरिणः ६१२
स दाधार पृथिवीं ३२८, ४२९
स द्विविधोदृष्टा २२८
स देवेभ्य आत्मानं ७७६
स नो बन्धु २६६, ५३७
स नो वसून्या भर ४३०
स पर्यगाच्छुक्र १७८, २७०, ७७३
स पिता स पुत्रः ५७
स प्रजापतिका ६५०
स प्राचीनान् १३४
स वृहती ३०३
स ब्रह्मा स विष्णुः ३२४
स ब्रूयाद्यावान्वा ५११
स ब्रूयान्नस्य ५१२
स यत्कूर्मो नाम ७६२
स राजा पुरुषो ६४४
स लब्ध्वा कामगं ५६२
स वज्रमथ फेनं ७४८
स वा आत्मा हृदि ५०५
स वा एष पुरुषो २०३
स वामदेवः एतं ८७५
स विशोऽनु व्यचलत् ६४१
स वै यज्ञादजायत ४२२
स षोडशधा १९७
स हि विद्यातस्तं ६६५
स होवाच याज्ञवल्क्य ६७८
सतां हि सन्देह १९४
सन्तानं नरकद्वारम् २२९
सर्वं वेदात् १८६
स सर्वोभिहितो वेदे १३६, १८३, ३२७
स होवाच २५१, ५३७
संकल्पादेव तच्छ्रुतेः ५३०
सं गच्छध्वं ३२८
सं श्रुतेन गमेमहि ३२८
संकरात् सर्ववर्णानां ६५९
संग्रामाद् बभ्रुशुः ४३१
संग्रामे असुराः ७५
संत्यज्य ६०६
संन्यासयोगाद्यतयः ६७९
संप्राप्ताय त्वतिथये ७१८
संभृतं पृषदाज्यं १५२
संयुक्ता सा ६१२
संवत्सरोऽग्निः ६१
संवत्सरस्य प्रतिमा ७७३
सं वः पृच्यन्तां ३७
सं समिद्युवसे ३२६
संसिचो नाम ३८२
संस्कारसाक्षात्करणात् ५९३
संहतपरार्थत्वात् ३७८
सजूर्देवेन ६९२
सतः परमदर्शनं १६७
सति मूले तद्विपाको ५७८
सत्यं इति सत्यवचा ३४९
सत्यं ज्ञानमनन्तं २७४
सत्यं परं ३५२
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ३४३
सत्यं वद ६०४
सत्यप्रतिष्ठायां ४९०
सत्यमेतानि प्रमाणानि २२४
सत्यमेव जयते ३५३
सत्यमेव देवाः ३३८
सत्यस्य वचनं श्रेयः ३३२
सत्यान्न ६०४
सत्येनोत्तभिता भूमिः ३३६, ४१५
सत्येन लभ्यः ३५३, ३५५, ४८७
सत्त्वपुरुषयोः ५१९
सत्त्वशुद्धि ४९१
सन्तोषामृततृप्तानां ४९१
सदकारणवत् १८०
सदेव सोम्येदम ३०३
सत्यमेव जयते ३५६
सत्याय मितभाषिणाम् ४८५
सत्सु भवम् सत्सु साधु ४३६
सद्भावे साधुभावे ४३६
सदकारणवत् १८०
सनादग्ने मृणसि ८७
स नो बन्धुर्जनिता २५८
सन्तानोत्पत्त्यादि ६०४
सन्तोषादनुत्तम ४९१
सप्त धामानि ३९१
सप्त मर्यादा ३९१
सप्तमं मण्डलं वसिष्ठो ८७५
सप्तास्यासन् ३९०
सभा च मा ३३१, ६४१
सभाया यः ६४३
सभ्य सभां मे ६४१
समः शब्देन प्रधानं ३६५
समाधिनिर्धूतमलस्य ४३३
समानशीलव्यसनेषु ४३२, ४३३
समानार्थवितौ ३१०
समाम्नायः ५१
समिधाग्निं ६८७
समे शुचौ ४६१
समेत्य राजकर्त्तारः ६३१
सम्प्रतिपत्ति १७६
सम्भूत्याऽमृत १०६
सम्राजं साम्राज्य ६५०
सर्वं खल्विदं ब्रह्म ३७६
सर्वं वै सहस्रं १५२, ३७२
सर्वंत्वमाधिकारिकम् ५२५
समाधिसिद्धि ४९२
समाधिसुषुप्ति ५०३, ५३१
समानी व ३३३
समानो मन्त्रः ३२९
समुद्रवन्त्यस्मादापः ५०८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्यक् ज्ञानेन ३५३
सर्गान्तरे १२०
सर्गान्तरेष्वापि १६५
सर्वज्ञानमयो हि सः ७२, ५६७
सर्वत्र यौगपद्यात् १६७
सर्वत्र सम्पदस्तस्य ४६१
सर्वपदार्थच्छेदकोऽग्निः ६२
सर्ववेदपारिषदं ५०
सर्वास्ता हि चतुष्पादाः ३०६
सर्वं परवशं दुःखं ५२१
सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ६५, ५६७
सर्वं वै अन्नं २२०
सर्वजिता वै देवाः ३०६
सर्वे वेदा यत्पद ८५३
सर्वे वेदाः ८५६
समानतीर्थे वासी ७६३
सर्वत्वमाधिकारिकम् १८६, ६०७, ६८०, ७६३
स सर्वस्मै ३२२
सर्वदर्शनेषु ६७
सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ७१६
सर्वधातुभ्यो मनिन् ६५२
सर्वयोनिषु कौन्तेय २८१
सर्ववृत्तिनिरोधे ४६४
सर्वागमाम्नाय १८६
सर्वाणि नामान्या १८६
सर्वाण्येतानि ३२४
सर्वास्त्वा राजन् ६३०
सर्वे अस्मिन् ३२२
सर्वे भवन्तु सुखिनः ३३२
सर्वे वेदा ६६, १६८
सर्वे सर्वपदादेशा १६८
सर्वेषां तु नामानि ८३
सर्वेषां वा एष २३१
सर्वेषु हि वेदान्तेषु १६५
सलिलं सलिलमिति ३६५
सविता प्रथमेऽहन् ५८३
सविता वै ३०३
ससन्धयस्ते १५६
सस्यमिव जायते ५८६
सह नाववतु ६६
सहस्रशीर्षा ३७०
सहस्रस्य प्रमासि १५२
सह ह्येतावस्मिञ्छ २५६
सहोऽसि सहो ४५६
सा प्रयोक्तुरिच्छा २४०
सा वै इडा ३२६
साख्यं योगं च ५८५
साक्षात्कृत ४२, ४३
साक्षात्कृतधर्मता २२८
साक्षात्कृतधर्माण ६६६, ८१०, ८६८
साक्षी चेतो ४५६
साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां ६८७
सातिभ्यां मनिन् ६५२
साधर्म्यमुपमा १६३
सानुगायेन्द्राय आदि ७१६
सान्त्वमेकपदं ३४३
सामान्ये नपुंसकम् २२६
सायंसायं ६८८
सायंप्रातः ६६१
साम प्राणं प्रपद्ये ८६४
साम हि राष्ट्रानां ६५३
साम्राज्यं वै ६५२
सा विश्ववारा १२
सीरा युञ्जन्ति ४५४
सुकर्मपापमन्त्र ८७२
सुखदुःखे समे कृत्वा ३४२
सुखानुशयी ५१८
सुगन्धः आपणिकः २०३
सुरा मत्स्याः ४०
सुप्-तिङ्-उपग्रह ५४६
सुपर्णोऽसि १४७
सुप्तिङ्प ५४२
सुमित्रिया न ५६६
सुम्नम् इति सुख ४५४
सुरा मत्स्या ४०
सुषुम्णाः सूर्यरश्मि ७४६
सुसूक्ष्मा ते ६५२
सूर्यद्वारेण ५०५
सूर्यरश्मिश्च ४०४
सूर्यश्चक्षुर्वातः ३८२
सूर्याचन्द्रमसौ ११६
सूर्यं आत्मा २५२
सूर्य आत्मा जगतः २५२
सूर्यो गन्धर्वं ७८
सूर्यो ज्योतिः ६६२
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य ४७२
सूर्यो वर्चो ६६२
सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा ७४५
सेयं विद्या २८४
सैषा क्षत्रस्य योनि ६२६
सोऽकामयत ३६३
सोऽग्निर्भवति ६३२
सोऽन्यद् वृत्तं ६८३
सोऽयं क १७३
सोऽयमक्षर ७३०
सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्च ७५७
सोऽरज्यत ६३१
सोऽहं भगवो १६१
सोऽयमेक ११७
सोदक्रामत् सा ६४१
सोम ओषधीनामधिपतिः २५१, ४१५
सोमः प्रथमो ६१८
सोमसदः पितरः ७००
सोमसदोऽग्निऽग्निष्वात्त ६६८
सोमो वधूयुः ६१६
स्कम्भं तं ब्रूहि २६०
स्तनयित्नुरेव २५७
स्तायूनां पतये ८२५
स्तुता मया वरदा ३४५, ७६५
स्तुतिर्निन्दा ३०५
स्तुत्यर्थमिह २४१
स्तोमश्च ऋक् १४७
स्तोमश्च यजुश्च ३१६
स्त्रीशूद्रौ नाधीयातां ७६४, ७६६
स्थाणुरयं भारवाहः ८०४, ८६५
स्थानशब्दश्च १७०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिरा वः	४३९, ६४१	स्वविषय	५००	हृदयं चेतनास्थानं	५०६
स्पन्दयत्यधरं	२५५	स्वसराणि अहानि	५५२	हृदये चित्तसंवित्	५०६
स्पष्टा चेयं	१९९	स्वस्ति गोभ्यो	७१	हृदयं हि आत्मनिवास	५०५
स्मरणं कीर्त्तनं	४८७	स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां	६८८	हृदा तष्टेषु	३५
स्वः पृश्निः	४०४	स्वाध्यायाद् योगमासीत	४७४, ४९३	हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं	५१०
स्वधया परिहिता	३४१	स्वाध्यायप्रवचने	३४९	हृदि प्राणो	२५४
स्वयं तदन्तः	१४१	स्वाध्यायादिष्ट	४९२	हृदि श्लेष्मानुपश्लिष्ट	५१०
स्वयमेनमभ्युदेत्य	७१८	**ह**		हृदि ह्येष आत्मा	२५६
स्वरसवाही	५१८, ५८६	हत्वी दस्यून्	६६०	हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः	५०५
स्वरादित्यो	४०४	हनिकुषिनी	६५५	हृद्यपेक्षया तु	७९३, ८०९
स्वरो नियत	१६४, ३१३	हरयः सुपर्णा	२५७	हे अग्ने सर्वाणि कर्माणि	२८३
स्वरादित्याय	६९६	हरेत्तत्र नियुक्तायां	६११	हेतुनिर्वचनं	३०४
स्वर्गकामो यजेत	३०६	हिरण्यगर्भः	२९९, ३१७, ३९३, ३९८	हैडाम्बिका राजमाषा	७१३
स्वर्गशब्देन	१९३	हिरण्यरूपः	६०	होता य इति पाठ	३११
स्वर्यस्य च केवलं	८३९	हुत्वा वपामेवाग्रे	३०६	होतारं विश्ववेदसम्	३११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-निर्देशिका

अ

अंक और संख्या ४२०
अंकगणित ४२०
अंगमेजयत्व ४७९
अग्नि आदि ईश्वरवाचक ८१६
'अग्नि' का अर्थ ४५१
अग्नि, इन्द्र वरुणादि का वाच्य २६८
अग्निदग्धबीज न्याय ५१७
अग्नि का अर्थ ६०, ६२
अग्निवाय्वादि का क्रम ८८७
अग्निष्वात्ताः ७०१, ७०७-१०
'अग्नि' परमेश्वर का बोधक ४३८-३९
अग्निषोमीय ८२०
अग्निहोत्र का समय ६९२
अग्निहोत्र ६९१
अगस्त्य-लोपामुद्रा ७८-७९
अघ्न्या ३९, ५९
अचेतन में चेतन का प्रयोग ७५-७६
अजमेध ३९
अतिथि का लक्षण ७१९
अतिथियज्ञ और कठोपनिषद् ७१९
'अथ' ९९
अथर्ववेद ज्ञाता-ब्रह्मा ११४
अतिथियज्ञ ७१८
अत्यन्त का अर्थ ५२२
अद्वितीय ब्रह्म ३२१-३२४
अधिकारानधिकार ७८२
अध्यात्म का अर्थ ६८-७०
अध्वर का अर्थ २१७
अध्वर (यज्ञवाची) ३६-३७
'अनन्त' का अर्थ २०१
'अन्न' का तात्पर्य ३७६
अनवस्थितत्व का अर्थ ४७८
अन्तराय और विघ्न ४७८
अनन्ता वै वेदाः १३६
अनार्ष ग्रन्थ ७३३
'अन्नम्' का अर्थ ४५७
अनुवाद के भेद ३०७
उपनय ३०८
अनुज्ञा-विधिवाक्य ३०६
अपरा विद्या १९०-१९१
अनूचान २८४
अपवर्ग का अर्थ ५२१
अपौरुषेय ७२५-२७
अभ्यास और वैराग्य ४७०
अभ्युदय और निःश्रेयस १०५
अमीबा १
अमूर्तिमानदेवता २६३
'अमृत' का अर्थ ४५२
अम्बा अम्बिका अम्बालिका ८१
'अयन' शब्द का अर्थ ३९५
अरविन्द १३४, २३४
अर्जुन का अर्थ ८०
अर्थज्ञानपूर्वक अध्ययन ८०५, ८०८
अर्थबोध का महत्त्व ४१
अलब्ध भूमिकत्व ४७८
'अवदान' का प्रयोग एवं अर्थ ३८
अविद्या का लक्षण ५१७
अविद्या के चार प्रकार ५२२-५२३
अविरति ४७८
अश्विनौ का अर्थ ५४२-५४४
अश्वमेध ३९, ६५३
अश्वमेध की कर्मकाण्डपरक व्याख्या ८२६
अष्टाविंशति नक्षत्र ४५८
'असूया' का तात्पर्य ४२९
अस्यवामीय सूक्त ३६९-३७०
अहल्या-इन्द्र कथा ७४५

आ

आकर्षणानुकर्षण विषय ४१०-४१४
आकाश की उत्पत्ति १६३
आकांक्षा ८६४
आकाशगंगा ४०९
आकृति परिवर्तन २
आख्यात ५५
आठ चक्र नौ द्वार ८२
आचार्य ६६२
'आत्मा' का अर्थ ३२०
आचार्य का उपदेश ३४९-३५२
आचार्य का महत्त्व ६६६
आचार्य द्वारा गर्भधारण ६६६
आत्मा और मन में भेद ५७५
आदिगुरु परमेश्वर १२८
आदित्य २५७
'आपः' का अर्थ ५७०
आप्त शब्द का अर्थ ४२
'आयु' अनिश्चित ३००-३०१
'आयु' शब्द का अर्थ २९८
आयुर्वेद ७२६
आयुर्वेद-ऋग्वेद का उपवेद ७२९
आयुर्वेद का मूल ५६९-५७१
आयुर्यज्ञेनकल्पताम् ४४७-४४८
आयुर्वेद-अथर्ववेद का उपवेद १७४-५
आयुर्वेद किसका उपवेद ? ५६८-५६९
आर्यभट्ट ४०६
आयुर्वेद की वृद्धत्रयी ५६७-५६८
आर्यसमाज और वेद ९३
आलम्भ का प्रयोग एवं अर्थ ३८
आलंकारिक वर्णन २६७
आलस्य ४७७
आश्रमव्यवस्था ६६२
आसत्ति ८६५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आहार-चतुर्विध ६७६

इ

इडा पिंगलादि ७७१
इतिहास ३०२-३०४
इतिहास का लक्षण—दुर्ग द्वारा ७४
इतिहास पद का अर्थ १४५
इदन्न मम २३१
'इन्द्र' की निरुक्ति ४५६
इन्द्र वृत्र युद्ध ७५
इन्द्र अहल्या ७७
इन्द्र-वृत्रासुर कथा ७४८, ७५६

ई

ईश्वर-इन्द्रियातीत २४६-२४७
ईश्वर का लक्षण ४७५
ईश्वर के अनेक नाम २६७-२६८
ईश्वर के गुण ३२०
ईश्वर सभी का गुरु ४७३
ईश्वरीय काव्य १३०
ईश्वरीय ज्ञान की कसौटी १३२

उ

उच्छिष्ट ब्रह्म ४०१
उत्पत्ति और नाश का तात्पर्य २१८-२१९
उत्पत्ति-स्थिति प्रलय ३६७
उपनिषद् ७३०
उपवेद ७२६
उपाङ्ग ७२९
उपासना और उपनिषद् ५०४-५१४
उपासना का अर्थ ४२८
उपासना का स्वरूप ४४९
उपासना की रीति ४६७
उपासनायोग ५३२
उपासना विषय ४४९-५१४
उपासना वेदों में ४५३-४६३
उदरिणी ११३
उत्पत्ति शब्द का अर्थ १६२
ऊह मन्त्र ७१४

ऋ

ऋग्वेदभाष्यारम्भकाल १०३
ऋचः से ऋग्वेद ग्रहण ११२
ऋत और सत्य १३५
ऋषि शब्द का अर्थ १४१
ऋषिदेवतादि का ज्ञान ८६६
ऋषि-मन्त्रकर्त्ता नहीं १४६, ८७२
ऋषि-मन्त्रार्थद्रष्टा ८७५
ऋषियों को वेद ज्ञान प्राप्त होने की प्रक्रिया १२१
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के हस्तलेख २६४-२६७
ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त ३२६-३३५
'ऋषि' शब्द का अर्थ २४०

ए

एकतत्त्व का तात्पर्य ४७९-४८१
एकपाद-त्रिपाद ३७७-३७८
ऐतरेय-शतपथ में राजधर्म ६४४

ओ

ओ३म् ९९
'ओषधि' का अर्थ ५६९

क

कठोपनिषद् २७३
कन्याओं को विद्याधिकार ६७०
कर्मकाण्ड के दो भेद २०१
कर्मफल व्यवस्था ५७२-५७३
कर्मफलप्रदाता ईश्वर ५७४
कल्प ३०३, ७२८
कश्यप कथा ७६१
'कवि' ४५४
'काण्ड' पद का अर्थ १८३-१८४
कात्यायन २८९
काम संकल्पादि का अर्थ ३३४
कार्बनडाइ आक्साइड २११-२१२
काल-अकाल मृत्यु ३०१-३०२
कुमारिका पादाघात ६५
कृञ् धातु के अर्थ ८७३
कृतघ्नता ४३३-४३४
कृष्ण और अर्जुन ८१
कृत्रिम वर्षा ५५६
कैवल्य ५१८-५१९
क्षत्रिय के कर्म ४४०
क्लेश ५१६
'क्षेमम्' ४५६

ख

'खम्' का अर्थ १८८
गणितविद्या ४१८-४२७
गयादितीर्थ कथा ७६३
गाथा ३०३-३०४
गान्धर्ववेद ७२७
गायत्री का अर्थ ४५
गुण-गुणी का सम्बन्ध १८५
गुणन फल ४२३
गुरुत्वाकर्षण ४१०-४११
गृहस्थाश्रम की अवधि ६०६
गृहस्थाश्रम-समुद्भवत् ६६८
गैलिलियो ४०९
गोमांस का अर्थ ६४
गोमेध ३९
गौ के २१ नाम ५९
'गौ' शब्द के अर्थ ४०४-४०५
गोतमधर्मसूत्र ७९४
ग्रन्थकारकृत भाष्य की विशेषताएँ ८५६
ग्रन्थप्रामाण्यविषय ७२१
ग्रह-उपग्रहों की नियमित गति ४१८
ग्रह और उपग्रह ४०९
ग्रहपूजा ७७८
ग्राम्य पशु ३८२-३८३

च

चतुर्युगियों का सामंजस्य १५६-१५७
चतुष्पाद यज्ञ
चन्द्रमा के प्रकाश के गुण ४१७
चन्द्रमा शीतल ४१५
चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित ४१७
चरण और शाखा ३०९-३१०
चित्तका अर्थ ३२७,३३२
चित्त की दशा ५१९
चित्त की वृत्तियाँ ४६७
चित्तवृत्तिनिरोध ५३१
'चित्त' की व्युत्पति ४६२, ४६३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छ

छन्द ४३५, ७२९, ८८०
छन्द-मन्त्र-श्रुति आदि पर्यायवाची २७९-२८०, २८३
छन्दादि भेद से अर्थभेद ८८
छन्दोवेद ११४
छन्दांसि का अर्थ ११३-११४
छन्दोग्योपनिषद् २७४

ज

जमदग्नि आदि का अर्थ २९१-२९२
जड़पूजा २६१
जल्प ३२८
जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति ४४२
जाति-आयु-भोग का कारण कर्म ५७८-५७९
जीन ३८१-३८२
जीवात्मा ३१९
जेम्स हेस्टिंज १३०
जगत् का अर्थ ४५
जीव का शरीर में प्रवेशक्रम ५८०, ५८१
जीव का सामर्थ्य ५९४
जीव की दो गतियाँ ५८४-५८५
जीवन का ध्येय ६८४
जीवनमुक्ति ५३२
ज्योतिष ७२९,७३३
ज्ञान-कर्म-सहयोगी १९९
ज्ञान का आदिमूल ६५
ज्ञान व भाषा ईश्वरीय देन १४३
ज्ञानेन्द्रिय को बाह्य सहायता १२७
ज्येष्ठ ब्रह्म १०७
ज्योतिष ४०३, ४२०

ड

डार्विन का विकासवाद १, १३३

त

'तत्त्व' कितने हैं ४५१
तन्त्रग्रन्थ ७३६
तप क्या है ३४९
तमस् का अर्थ ३६४-३६५
तर्पण व श्राद्ध ६९९,७१३
त्रिकाल सन्ध्या ६९०
तात्पर्य ८६५
तात्स्थ्योपाधि ३७६
तारविद्या ५६४-५६६
'तीर्थ' का सत्यार्थ ७६६, ७६९
तैत्तिरीय आरण्यक में धर्म का स्वरूप ३५२
तैत्तिरीय शाखा में धर्म का स्वरूप ३४७-३५५
तैत्तिरीयोपनिषद् २७४
त्र्यायुषं की व्याख्या ३००-३०१
त्रयी विद्या ११३
तीन लोक ४०३
त्रित और त्रिभुज ४२४
त्रिविध दुःख १०३
त्रिविध प्रक्रिया व स्वा० दयानन्द ६७
त्रिविधयान ५४५-५४६
त्रेधा पद का अर्थ ११६

द

दयानन्द और वेद ९२
दयानन्द—वेद भाष्य ३५-३६
दर्शन ७२९
दर्शपूर्णमास ८१८
दशमलव ४२४
'दशांगुलम्' का अर्थ ३७४-३७५
दस्यु ६६०
दास, अविनाशचन्द्र २०
दिधिषु ६१७
दीपक और पतंगा १२७
'दुःख' ४७९
दुःख का लक्षण १०५, ५१८
देव और मनुष्य ६९९
देवयज्ञ ६९१
देवता २३९, २४१, ८७६
देवता और बृहदारण्यकोपनिषद् २५८
देवयान और पितृयान ५०४-५०५
देवर ६०८-११, ६२१
देवादि का लक्षण ६९५
देवासुर संग्राम ७५, ७५६, ६१
देवृकामा ६२०
द्वा सुपर्णा ३७०
धर्म का कार्य ३२८
दौर्मनस्य ४७९
'द्रष्टृ' पद से जीवात्मा वा परमात्मा ४६५, ४६६

ध

धनुर्वेद ७२६
धर्म और राजनीति ६२४
धर्म के लक्षण ३२९
'धर्म' शब्द का अर्थ ३२७
धर्म शब्द का पर्याय ६२३
धर्मान्तिरण और वेदार्थ ६
धातुओं की अनेकार्थता ५९
घृतपृष्ठ का अर्थ ३७०

न

नक्षत्रों का प्रभाव ७७९
नवग्रहपूजा ७७९
नामस्मरण ७७३
नारद-सनत्कुमार संवाद ४१९
'नाश' का अर्थ २२३
नासदीयसूक्त १४२, २७२, ३५८
निगमन ३०८
निघण्टु ७२८
निघण्टु, यास्ककृत ७३०
नित्य शब्द का अर्थ ३५५
निद्रावृत्ति ४६९
निन्दा-अर्थवाद ३०६-३०७
नियोग और दुर्ग ६०९
नियोग और सायण ६०९, ६१६
नियोग का प्रयोजन ६०८
नियोग की परम्परा ६११-१४
नियोग व विवाह में अन्तर
नियोग—विधिवाक्य ३०६
नियोग-पश्चिम में ६२२
नियोग शास्त्रसम्मत ६११, ६१७
निराकार से वेदज्ञान कैसे? १२०
निरुक्त ७२८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाड़ियाँ २५६-२५७
निरुक्त-सिद्धेश्वर वर्मा ३१
निर्गुण प्रार्थना ४३०
निर्गुण स्तुति ४२६
निष्काम कर्म २०२
नीति शब्द का पर्याय ६२३
'नूतनै' पद से भ्रम २८१-२८३
नैमित्तिक ज्ञान के बिना विकास असम्भव १२५
नौविमानादिविद्याविषय ५३९-५६३
न्यूटन ३६८, ४१०-४११

प

पंच महायज्ञ ६८६
पठनपाठन ८००
'पति' शब्द का अर्थ ३६६
पति संज्ञा ६१८
पदविभाग ५२-५३
परकृति अर्थवाद ३०६-३०७
परतःप्रमाण ७२६
परमात्मा एक, नाम अनेक ३२४
परमात्मा कवि १३०
परमात्मा का आशीर्वाद ४३९
परमात्मा का सामर्थ्य २१९
परमात्मा निर्वैर है ४४०
परमात्मा पुरुषविशेष ४७१-४७३
परमेश्वर के गुण २६८, ५३७
परमेश्वर राजा ४४८
परमेश्वर लोकों का धारणकर्ता ४०५
परा-पश्यन्ति-मध्यमा-वैखरी ३१-३२
परा वाक् १२२
पराविद्या १८९
पराशरस्मृति ६१८
'पशु' का अर्थ ३८२
पशु रक्षण ४०-४१
पशु-शब्द का अर्थ ३९-४०
पश्यन्ती वाक् १२२
पाइथागोरस ४२६
पाणिग्रहण ६०१
पाद व्यवस्था ५४
पारिभाषिक संज्ञाओं का क्षेत्र २८९
पारोवर्यवित् २८४
पावगी, नारायण भवानीराव १३४
पितर, जीवितों की संज्ञा ७०४, ७११
पितरों के भेद ७०१
पितरों से प्राप्त लाभ ७०२, ७०६
पितृमेध ८३१
पितृयज्ञ ६६४
पितृयज्ञ में प्रमाण ७००
'पुर' का अर्थ ३८०-३८१
पुराण ३०३-३०४
पुराण शब्द का अर्थ २९६-२९७
पुरुष की व्याख्या ३७५-३७६
पुरुष शब्द अर्थ १३०
पुरुष शब्द की व्याख्या ३७३-३७४
पुरुषसूक्त ३७०-४०२
प्राण २५३-२५४
पुण्य-पाप से योनियों में भिन्नता ५७९-५८०
'पुत्र' की व्युत्पत्ति ४५२-४५३
पुत्रैषणादि ६८१
पुनर्जन्म ५७२-६००
पुनर्जन्मऔर उपनिषद् ५८७-५८९
पुनर्जन्म और कर्मफल ५७४-५७५
पुनर्जन्म और गीता ५८७
पुनर्जन्म और दर्शन ५८६-५८७
पुनर्जन्म और दार्शनिक विद्वान् ५९६-५९७
पुनर्जन्म और निरुक्त ५८५-५८६
पुनर्जन्म और पाश्चात्य विद्वान् ५९८-६००
पुनर्जन्म और मृतक श्राद्ध ७१०
पुनर्जन्म और योनियाँ ५७६
पुनर्जन्म और सूक्ष्मशरीर ५८२
पुनर्जन्म का प्रयोजन ५७७
पुनर्जन्म की स्मृतियों की जाँच ५७२
पुनर्जन्म न मानने से हानि ५७७
पुनर्जन्म में कितना समय लगता है ५८२-५८४
पुनरुक्ति और अष्टाध्यायी ९२
पुनरुक्ति और काव्य शास्त्र ९१
पुनरुक्ति के प्रकार ८४-८५
पुरुरवा और उर्वशी ७७-७८
पुरुषमेध ३९, ८३०
पुरुषार्थ और प्रार्थना ३३९
पुरुषार्थ का तात्पर्य ५२०
पूजा शब्द अर्थ २६२
'पूर्ण' शब्द का अर्थ ४२१
पूर्वजन्म की स्मृति क्यों नहीं ५८९-५९१
पूर्वजन्म की स्मृति १२४
पृषदाज्य का अर्थ ३८१
प्रकरण-पद का अर्थ १८४
पृथिवी का आकार ४०३
पृथिवी का घूमना प्रत्यक्ष ४०७
पृथिवी की गतियाँ ४०३
पृथिवी-भ्रमण ४०५
पृथिवी भ्रमण और ईसाई धर्म ४०९
पृथिवी की परिक्रमा ४१५
पृथिवी की धुरी ४१६
पृथिवीसूक्त ४०७
प्रमाण २२४
प्रलयावस्था और रामानुज ३६७
प्रार्थना और याचना में भेद ४३१
प्रार्थना और पुरुषार्थ ४३०
प्रार्थना सत्कर्म के लिए ४३०-४३१
प्रार्थना से लाभ ४३०
प्राणायाम ४६६-४६७
प्रकरण भेद से अर्थ भेद ६४
प्रकाश्यप्रकाशकविषय ४१५-४१७
प्रकृति व परमात्मा माता-पिता ३६३
प्रकृति से ज्ञान प्राप्ति १२७
प्रच्छर्दन और विधारण ४८३
'प्रणव' पद की व्याख्या ४७३-४७४
प्रणिधान का अर्थ ४३१
प्रतिज्ञा ३०७-३०८
प्रतिज्ञाविषय ८५२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिमा पूजन ७७३
प्रत्यक् चेतन का अर्थ ४७६
प्रधान अप्रधान १९९
प्रभु-सत्ता ६३७
'प्रमाण' वृत्ति ४६८
प्रमाद का अर्थ ४७७
प्रलयावस्था ३६०-३६३
प्रवाह से अनादि १४८
प्रश्नोत्तरविषय ८६०
प्राचीन, आचार्य ८११
प्रामाण्य ७२१

फ

फलित ज्योतिष ७७८

ब

बन्धन और मुक्ति नैमित्तिक ५२३
बलिवैश्वदेव यज्ञ ७१३
बहुदेवतावाद २४९-२५१
बीजांकुरवत् १२०
बीजगणित ४२०
बुद्धि और ज्ञान में भेद १२३
बुद्धि को बाह्य सहायता १२७
बौद्धों का क्षणिकवाद ४८१-४८२
ब्रघ्न और अरुष का अर्थ ४६१
ब्रह्म और ईश्वर में अर्थ भेद
साम्प्रदायिकों द्वारा ३९७
ब्रह्म और ब्राह्मण २९३-२९४
'ब्रह्म' का अर्थ १८९
ब्रह्म का आलंकारिक वर्णन ३८०
ब्रह्म का प्रत्यक्ष १९४
ब्रह्म के तीन अर्थ २६०
ब्रह्मगवी ३४१
ब्रह्मचर्य का अर्थ ४८७-४८८
ब्रह्म-सत्र ६२९
ब्रह्मचारी ६६४
ब्रह्मयज्ञ ६८७
ब्रह्मविद्या ३१७-३२५
ब्रह्मसूत्र ७३२
ब्रह्मा का पुत्री से समागम ७३८-७४४
ब्रह्मविद्या का मार्ग ५३३
ब्रह्मवेद ११४
ब्रह्मा वेदों का ज्ञाता १४६
ब्राह्मणादि वर्णों के कर्त्तव्य ३४४ ३४७
ब्राह्मण के कर्म ४४०
ब्राह्मण—व्याख्याग्रन्थ अन्तःसाक्षी २९४
ब्राह्मणादि का लक्षण ६९५

भ

भद्र का धात्वर्थं १०५
भक्ति ४२८
भट्ट मोक्षमूलर ४६३
भागवत पुराण ७३४
भाष्यकरणशंकासमाधान ८१०
भाप से चलनेवाला यान ५४९
भाषा और ज्ञान अपौरुषेय १४२
भाषा का विकास ५
भाषा व ज्ञान दूसरों से प्राप्त १२४
भाषाविज्ञान ४२, १२६
भूतपूजा २६६-२६७
भ्रातृव्य ३०९
भ्रान्तिदर्शन ४७८

म

मंगलाचरण ९९
मध्यमावाक् १२२
मन और चन्द्रमा ४४२
'मन' का कार्य ४४१
'मन' का लक्षण ४५०
मन की गति ४४२
मन की चंचलता ४७०-४७१
मनुष्य की परिभाषा ३३७
मनुष्य के भार में भिन्नता ४१२
मन्त्र अनेकार्थक ६२-६३
मन्त्र और छन्द २३९
मन्त्र और ब्राह्मण में भेद २९०
मन्त्र का विनियोग ७०
मन्त्रपाठ की अनिवार्यता २३५
मन्त्रपाठ के लाभ २३३-२३४
मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् २८९-२९०
मन्त्र संहिता वेद है २८६-२८८
मन्त्रार्थ की सीमा ६६
मन्त्रों की संख्या २९१
मन्त्र तीन प्रकार के अर्थ के बोधक २४२-२४४
मन्त्रों के यज्ञपरक अर्थ ४२८
मन्यु का तात्पर्य ४३४
मन्वन्तर व्याख्या १५१
महद् ब्रह्म १०७, ३६३
महादेव २४८-२४९
महाप्रलय अवान्तर प्रलय में भेद १६१
महीधर वेदभाष्य ३३
महाभाष्य में मन्त्र ब्राह्मण भेद २९५
महाभाष्य और शाखा ३१३-३१६
मृतक श्राद्ध और पुनर्जन्म ७१०
मनुष्यकृत परतःप्रमाण ७२९
मनुस्मृति में प्रक्षेप ७३६
मन्त्रकृत का अर्थ ८७४
मन्त्रार्थ जाने बिना पाठ ८६५
महीधर व दयानन्दभाष्य की तुलना ८२१
महीधर भाष्य में दोष ८३१-५१
मानव द्वारा शुद्धि २२०-२२१
मानवधर्म १९९
मारले ३३०
मीमांसा में धर्म का स्वरूप ३५४
मुक्तावस्था में मुक्तात्मा की स्थिति ५३३
मुक्ति और उपनिषद् ५३४-५३५
मुक्त और बद्ध जीवों में भेद ५९२
मुक्ति और वेदान्त ५३४
मुक्ति के लिए प्रार्थना ५३३
मुक्ति नित्य नहीं ५२२
मुक्ति में आत्मा की स्वाभाविक शक्ति ५२९
मुक्ति में जीव की संकल्पशक्ति ५३६
मुक्तिविषय ५१५-५३८
मुण्डकोपनिषद् २७४
मुक्ति से पुनरावृत्ति ५०४-५२९
मूर्तिपूजा ७७३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूर्तिमान् देवता २६३
'दिवु' धातु के अर्थ २६२
मेध शब्द का अर्थ ३९
'मेधा' का अर्थ ४३६
मैत्री करुणादि ४८२-४८३
मैथुनी या अमैथुनी सृष्टि ५८२
मैथुनी और अमैथुनी सृष्टि ३८३-३८५
मैस्मेरिज़्म १२१
मोक्षावस्था में शरीर ५३२
मोक्षकाल की अवधि ३९२
मोक्षमूलर २७५

य

यक्ष ३२०
यजुः प्रातिशाख्य २९२
यजुर्वेदभाष्यारम्भकाल १०३
यजुर्वेदभाष्य समाप्तिकाल १६१
यज्ञ २०२-२३९
यज्ञ का अर्थ परमेश्वर ११५
यज्ञ का अर्थ प्रजापति ११५
यज्ञ के विविधार्थ २२२
यज्ञपुरुष ३८२
यज्ञमय जीवन २३२
यज्ञ में मानुष पाठ ३३८
यज्ञवेदि २११
यज्ञ में पशुबलि ८२०
यज्ञ में पशुहिंसा ३६-४१
यज्ञवेदी ४२७
यज्ञवेदियों के आकार ४२३
यज्ञ शब्द का अर्थ ४४७
यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म २०२
यज्ञ से चिकित्सा २०४-२०७
यज्ञ में हिंसा का अभाव २१७-२१८
यज्ञ से वर्षा २१२-२१५
यज्ञोपवीत ६६३
यज्ञोपवीत—अन्य मतों में ६६३
यम-नचिकेता का अर्थ १९२
यम-नियम ४८४
यमलोक ५८४
याचना का अर्थ ४३१
यास्क से अतिरिक्त निरुक्तकार ७३०
याज्ञिक सिद्धान्त २४०
याज्ञदैवत २४५
यास्क और तर्क २८३-२८४
युग्म संख्या ४२३
योग का अर्थ ४५६
योगी और अयोगी में अन्तर ४६८
योग और वियोग ४६८
'योग' की व्युत्पत्ति ४६३
योग के अंग ४८३-४८४
योनिज और अयोनिज शरीर ३८५
यौगिकवाद ५६, २९७
योग्यता ८६५
योनि ६२८

र

'रथ' शब्द का अर्थ ४१४
राजकर्म ७८३
राजतन्त्र ६२७
राजवाड़े, काशीनाथ ३१
राजा का अभिभाषण ३२६-३२७
राजा द्वारा शपथग्रहण ६५२
राजा-निर्वाचित ६३०
राजा के गुण ६३२,६३९
राजार्यसभादि ६२५
राज्य के स्तर ६५०
राज्याभिषेक ६३७
राधाकुमुद मुकर्जी ३२६
रामानुज ३२४
राशिचक्र और रविमार्ग ४०३-४०४
राष्ट्रसंघ ६४८
रुद्र २५३
रुद्राध्याय ८२५
रेखागणित ४२०
'रज' शब्द का अर्थ ४१४

ल

लोम चर्म मांस का अर्थ ४०
लुङ् लङादि लकार प्रयोग ८३
लक्षण के प्रकार ३४०
लुई जैकालिट १३१
लुडविग का मत पृथिवी और सूर्य के बारे में ४०३

व

वर-वधू का चुनाव ६०३
वर्णपरिवर्तन ७९६
वर्णव्यवस्था ६५७-६१
वर्णव्यवस्था गुणकर्मस्वभावाश्रित ६५८
वर्णोच्चारणशिक्षा ८००
वसिष्ठस्मृति ६२१
वसु २५१, २६४
वाक्यपदीय ७२९
वानप्रस्थ-संन्यास वेदसम्मत ६७७-८०
वाच्यार्थ का निर्णय ६४
वाज और प्रसव का अर्थ ४४५
वाजसनेय संहिता और शुक्ल शब्द ४४५
वामनावतार ११७, ७६४
विकल्पवृत्ति ४६८-४६९
विकास द्वारा ज्ञानोत्पत्ति नहीं १२६
विकासवाद ३८३
'विज्ञान' शब्द का अर्थ १८४-१८५
वितण्डा ३२८
विद्युत् के प्रकार ५६५
विधवा ६१०
विधवा विवाह ६०९, ६१६
विधि ३०५-३०६
विनियोग व ग्रन्थकार ८५४
विपर्ययवृत्ति ४६८
विपश्चितः का अर्थ ४५०
विप्र का अर्थ ४५०
विमान—अग्नि और बिजली से चलने वाले ५५९-५६०
विमान और भागवत ५६२
विमान विषयक सूत्र ५६२-५६३
विमान विद्या ५३९
विमान शास्त्र ५३९
'विराट्' शब्द का अर्थ ३७९
विवाह का प्रयोजन ६०४
विवाह-बन्धन मृत्युपर्यन्त ६०५
विवेकख्याति ५१९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वानि देव…अर्थ १०३
विष्णु की व्यापकता १६६
विष्णुपद ७६४, ७६८
वृत्तिनिरोध ४६४
वेद अपौरुषेय १२८
वेद और लोकतन्त्र ६२५-२८
वेद और राजनीति ६२४
वेद, कर्मकाण्डपरक ८१८
वेद का नित्यत्व १६३
वेद की नित्यता १२०
वेदत्रयी ३१५-३१६
वेदभाष्य का प्रारम्भकाल १००
वेदचतुष्टय ३१६
वेद मन्त्रवाचक २६०-२६१
वेदमन्त्रों का व्यावहारिक अर्थ ८५६
वेद में आयु ४२५
वेद में इतिहास ७२, ७५३
वेद में पुनरुक्ति ८३
वेद में यौगिक शब्द १४१
वेद में सृष्टि विद्या ४१८
वेद रक्षा के उपाय २६२
वेद रचना बुद्धिपूर्वक १२६
वेद शब्द के वाच्यार्थ १४६-१५०
वेदव्याख्याग्रन्थ ३२
वेदसंहिता ३२, ७२५
वेद—सर्वज्ञानमय २३६-२३८
वेद से वेदार्थ २७७
वेदाङ्ग ७२६
वेदांग-उपांग ४४
वेदांग ज्योतिष ४१६-४२०
वेदाध्ययन में सबका अधिकार ७६०
वेदार्थ की कसौटी ७१-७२
वेदार्थ की परम्परा २६
वेदार्थ प्रक्रिया ४१
वेदों का नामकरण ८६१
वेदों का मण्डलादि में विभाग ८६१
वेदों का संहिताकरण ८६१
वेदों के ऋषि ८७०
वेदों में ऋषिनाम ८६८
वेदोक्तधर्म का सार ३४१
वेदोक्त धर्मविषय ३२६-३५७
वेदोत्पत्ति और सृष्टिसंवत् १५३
वेदोत्पत्ति विषय ११२
वेदोत्पत्ति काल १५१
वेदों में सत्यविद्या ३१६
वैखरी वाक् १२२
वैज्ञानिकों पर अत्याचार १३१
वैदिक गणित ४२५
वैदिक भावना ३३१-३३२
वैदिकभाषा की विशेषता १४३
वैदिक सम्पत्ति ५६२
वैद्यकशास्त्र ५६७-५७१
वैश्य के कर्म ४४०
व्यत्यय ५४
व्यत्यय से परिवर्तन ५७१
व्याकरण ७२८
व्याधि का अर्थ ४७७
व्युत्थान दशा ४६६
'व्रत' शब्द का अर्थ ३३७-३३८
व्रत-सत्य ३३६-३४०

श

शंकराचार्य ३२४
शंकराचार्य और ब्राह्मणग्रन्थ २६५
शंकराचार्य और वेदाधिकार ७६३
शंकराचार्य भारतीकृष्ण तीर्थ ४२५
शब्द और अर्थ काव्य के दो रूप १३०
शब्द की अभिव्यक्ति १६७
शब्द की परिभाषा १६३
शब्द-नित्यत्व-मीमांसा १६७,१७०, १७३
शब्दार्थ सम्बन्ध १४४
शरीर का महत्त्व ३४६
शरीर में 'हृदय' का स्थान ५०६-५१०
शाखा वेद नहीं ३०८
शाखाएँ ७३१
शाखादि परतः प्रमाण ७२७
शिक्षा ७२८
'शिव' की व्युत्पति ४५६
शिवसंकल्प ४४२-४४३
शीत का औषध ४१७
शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद ४३६
शुनःशेप ८१
शूद्र ६६१
शूद्रादि का वेदाधिकार ७६२
शूद्रों पर अत्याचार ७६३
'शेष' शब्द का अर्थ २६३
श्राद्ध व तर्पण ६६७, ७१३
श्रुतिविरोधी अप्रमाण ७२८
श्रौतसूत्रोक्त कर्मकाण्ड का प्रामाण्य ८५२
श्रौतसूत्रों का प्रामाण्य ८५२

ष

षड् ऋतुएँ ४१५
षोडशी १६५-१६८

स

सतीप्रथा निषिद्ध ६२१
सत्यार्थप्रकाश १०२
सन्ध्या दो बार ६८८
सन्ध्या न करनेवाला शूद्र ६६१
सप्तसिन्धु ८२
सभा-समिति ६४१
सामित्पाणि ६६८
सरस्वती ८२
सर्ववेदस होम ६८३
सहनाववतु-व्याख्या १०१
संन्यास और पंचयज्ञ ६८४
संवत्सर का अर्थ १३४
संस्कारबिधि १०३
संहिताओं का संख्याक्रम ८६१
सामश्रमी, सत्यव्रत ८१५
सायणभाष्य में दोष ८१३
सार्वभौम चक्रवर्त्तीराज्य ६४८
सृष्टि प्रत्येक सर्ग में समान ११६
सोमसदादि पितर ७०१
सौरमण्डल ४०६
स्कम्भ का अर्थ परमेश्वर ११७
स्त्रियों का यज्ञोपवीत ७६७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्रियों का वेदाधिकार ७६०
स्वतःप्रमाण परतःप्रमाण ७२७
स्वतः प्रामाण्य ७२१-२६
स्वयंवर विवाह ६०२, ६७३
स्वरभेद से अर्थभेद ८०३
स्वरविज्ञान ८०१
स्वाभाविक के विना नैमित्तिक ज्ञान नहीं १२८
स्वाभाविक ज्ञान द्वारा वेद रचना असंभव १८०-१८१
स्वाभाविक ज्ञान, नैमित्तिक का सहयोगी १२४
संख्या (अंकों) का वर्णन ३२४
संख्या अंकों में लिखने का प्रकार ४२५
संख्याओं का जोड़ ४२३
'संज्ञपन' का प्रयोग तथा अर्थ ३७-३८
संवत्सर यज्ञ ३८९-३९०
संवाद ३२८
संशय का अर्थ ४७७-
सकाम कर्म २०१
सगुण-निर्गुण का अर्थ ५१३-५१४
समाज व राष्ट्र के शत्रु ४४०
'शग्म' की निरुक्ति ४५६
सगुण प्रार्थना ४३०
समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष ५३१
सगुण-स्तुति ४२९
सजातीय-विजातीय स्वगत भेद ३२३
सत् और असत् का विवेचन ३६०-३६३
सत्य-अनृत ३३५-३३६
'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ३७७
सत्यव्रत सामश्रमी मन्त्र-ब्राह्मण भेद २९४
सभी विद्याओं का मूल गणित ४१९
समर्पण और ईश्वरप्रणिधान ४३१
समिति ३३१
समुद्र का अर्थ ४५
सर्गरचना की प्रक्रिया ३६६-३६७
सलिल का अर्थ ३२०-३२१, ३६५
'सविता' शब्द की व्युत्पति ४५१
साध्य-साधन की भिन्नता २९४
सहस्र का अर्थ ३७२-३७३
सायण और कृष्णयजुर्वेद ४३६
सायण और ब्राह्मणग्रन्थ २९६
सायण के पूर्ववर्ती भाष्यकार ३२
सायण द्वारा मन्त्र एवं ब्राह्मण भेद २९४
सायण-वेदभाष्य ३३-३५
सायण-महीधर २८०
सिजविक ३३१-३३२
'सीराः' का अर्थ ४५४
सुगन्ध-सुगन्धि २०३
सुषुप्ति की तुलना ४६९
सूर्यग्रहण ४०८
सूर्य ऊर्जा का स्रोत ४१५
सूर्य एकाकी ४१७
सूर्य की गति ४०९
सूर्य में ऊर्जा ४०८
सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण ४१७
सूर्य द्वारा लोकों का आकर्षण ३६८-३६९
सूर्य में धब्बे ४०९
सृष्टि-उत्पत्ति में निमित्तकारण की प्रधानता ३६४
सृष्टि—तीन प्रकार की ४००
सृष्टिरचना और तैत्तिरीय उपनिषद् ३९३
सृष्टिरचना का प्रयोजन ५७२
सृष्टि विषयक विचारधारा ३६९
सेना और शस्त्र ४३९
सोलह कलाएँ २००
स्तनयित्नु इन्द्र २५७
स्तुति-अर्थवाद ३०६-३०७
स्तुति का अर्थ २४७, ४२९
स्तुति, प्रार्थना आदि विषय ४२८-४४८
स्तुति से पाप नहीं छूटते ४२९
स्तुति से लाभ ४२९
'स्त्यान' का अर्थ ४७७
स्मृति ४७०
स्वधा का अर्थ ३४१
स्वधा और रेतोधा ३६२-३६३
स्वरभेद से मन्त्र व ब्राह्मणभेद २९२
स्वरविज्ञान ४५-४६
'स्वर्ग' का अर्थ ४५१
'स्वाहा' का अर्थ ४३८-४३९

ह

हवन गैस का कार्य २१०-२११
हवाई जहाज का आविष्कार ५३९
हिप्नोटिज्म १४२
हिरण्यगर्भ का अर्थ २८०, ३६८
हिरण्यगर्भ व पाश्चात्य विद्वान् २७७-२७८
हृदय का अर्थ ४५, ३२७
हेतु ३०८
हैलीकॉप्टर ५३९
होम के चतुर्विध द्रव्य २०२

●●●

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओ३म्

भूमिका भास्कर

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती